लेखक की अन्य पुस्तकें—

भारतीय अर्थशास्त्र–१९५७	१०)
सुबोध अर्थशास्त्र-सिद्धात	६)
सुबोध भारतीय अर्थशास्त्र	६।)

इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ अंग्रेजी में भी उपलब्ध हैं।

एस० चंद एंड कंपनी

आसफ अली रोड	—	नई दिल्ली
फव्वारा	—	दिल्ली
माई हीरा गेट	—	जलधर
लालबाग	—	लखनऊ

मूल्य १०॥)

प्रकाशक —गौरीशंकर शर्मा, प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी, फव्वारा—दिल्ली।
मुद्रक —सुरेन्द्र प्रिंटर्स प्राइवेट लि०, टिप्टीगज, दिल्ली।

तृतीय संस्करण की प्रस्तावना
(अंग्रेजी का छठा संस्करण)

अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त के आधुनिकीकरण के कार्य को द्वितीय सस्करण मे शुरू किया था। प्रस्तुत सस्करण में उन परम्पराओ को और आगे बढाया है। यद्यपि पुस्तक का ढाचा वही है जिससे प्रोफेसरो तथा छात्रो को कोई असुविधा न हो, लेकिन पुरानी धारणाओ तथा सिद्धातो के साथ-साथ नई धारणाओ का समावेश भी किया गया है। इस कार्य सम्पादन में लेखक को विश्वविद्यालयो में प्रचलित नवीन धाराओ, लोक-सेवा परीक्षाओ तथा इस विषय की नवीन पुस्तको से बडी सहायता मिली है। स्टोनियर तथा हेग की "टक्स्ट बुक आफ इकनामिक थ्योरी" नामक पुस्तक से लेखक को विशेष सहायता मिली है। जरूरत के मुताबिक कई पुराने रेखा चित्रो, तालिकाओ तथा सारिणियो आदि को जोड कर नए रेखा-चित्रो को जोडा गया है, जिससे विषय का सही ज्ञान हो सके। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए पुस्तक के आकार को भी थोडा घटाया गया है परन्तु ऐसा करने मे सभी आवश्यक विषयो के मूल तत्त्वो को सही रूप में रखा गया है। पुराने और फालतू विषयो के स्थान पर नए और जरूरी विषयो को लिया गया है। इस कारण प्रस्तुत पाठ मे काफी परिवर्तन तथा परिवर्धन की आवश्यकता पडी। लेखक को पूरा विश्वास है कि यह सशोधित सस्करण यूनिवर्सिटी तथा लोक-सेवा परीक्षाओ के लिए सर्वोपयोगी पुस्तक का काम देगा।

लेखक अपने साथी और परम मित्र प्रो० जी० माथुर, एम० ए० (कैन्टब) का बडा आभारी है जिन्होने प्रस्तुत पुस्तक में अनेको रेखा-चित्रो तथा पुस्तक के गूढ स्थलो को बडी बारीकी से देखा है तथा जहा सम्भव हुआ है, अपनी अमूल्य राय भी दी है।

अन्त में हम **श्री रा० ना० गुप्त** के आभारी है जिन्होने अग्रेजी के सशोधित तथा परिवर्धित सस्करण के पुनरीक्षण करने तथा यथास्थान अनुवाद आदि जोडने में हमारी सहायता की है।

होशियारपुर

केवल कृष्ण ड्यूवेट

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

(अंग्रेजी का पंचम संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम सस्करण का हाथो हाथ विक जाना इसकी लोकप्रियता का और हिन्दी-भापा-भाषी विद्यार्थी-समाज द्वारा इसके हार्दिक स्वागत का प्रमाण है। ऐसी सर्वप्रिय पाठ्य पुस्तक के लेखक पर निस्सन्देह वडा भारी उत्तरदायित्व है। उसे पुस्तक को सर्वथा समयानुकूल वनाना ही चाहिए। यह अर्थशास्त्र की पुस्तक के लिए तो विशेषतया आवश्यक है, जहा हाल ही के वर्षों में अर्थशास्त्र की विपय-वस्तु तथा व्याख्याओ में नवीन विकास हुए हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि हमारे वहुत से भारतीय विश्वविद्यालयो में अर्थशास्त्र की पढाई का तरीका वही है, जो आज से पचास वर्ष पहले था और यही कारण है कि उच्च श्रेणी के विद्यार्थी भी आधुनिक अर्थशास्त्र के व्याख्यानो को अच्छी तरह नही समझ सकते। मैंने इस सन्करण में पुस्तक का पूर्णत सशोधन एव परिवर्द्धन करके और इसे आधुनिकतम वनाकर इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया है। लगभग प्रत्येक अध्याय में नए विभाग जोडे गये हैं और हरेक विभाग को फिर से अच्छी प्रकार दोहरा लिया गया है, जिससे कि इसमे पिछले सस्करण से अधिक सुधार दृष्टिगोचर होगा। पुस्तक के आकार से और प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई पुस्तको की सूची से इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी। मैंने पुस्तक के विषय को अत्यन्त व्यापक वनाने का प्रयत्न किया है और इसमे मैं कहा तक सफल हुआ हू, इसका निर्णय मैं पाठको पर छोडता हू।

इस पर भी मैं अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्तो के विस्तृत ज्ञान-भडार को पाने के इच्छुक विद्यार्थियो को यह सलाह दूगा कि वे मेयर की Elements of Modern Economics, समुअलसन की Economics, टारशिस की Elements of Economics और स्टिगलर की Theory of Price सरीखी पुस्तको का अवश्य अध्ययन करें। प्रस्तुत पुस्तक उनका स्थान नही ले सकती।

मैं भारतवर्ष के उन अनेको अर्थशास्त्र के शिक्षको का धन्यवाद दिए विना नही रह सकता जिन्होने समय-समय पर प्रस्तुत पुस्तक में सुधार के लिए अपने अमूल्य सुझाव मुझे भेजे हैं। मैं अपने मित्र और सहकारी डा० एस० वी० रगनेकर, जो पजाव यूनिवर्सिटी में अर्थशास्त्र के रीडर हैं, का विशेपतया हृदय से आभारी हू, जिन्होंने प्रस्तुत सस्करण में अनेको अमूल्य सुझाव दिये हैं।

होशियारपुर,
जनवरी, १९५३

केवल कृष्ण ड्यूवेट

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ संख्या

१ अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र १-२१

१ परिभाषा की समस्या–१; २ क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है ?–१, ३ क्या अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण का विज्ञान है ?–२, ४ रॉबिन्स की परिभाषा–४, ५ अर्थशास्त्र का क्षेत्र–७, ६ अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध–११, ७ अर्थशास्त्र के नियम–१३, ८ आर्थिक धारणाए–१५, ९ क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है ?–१६, १० क्या अर्थशास्त्र कला भी है ?–१७; ११ अर्थशास्त्र विज्ञान की रीतिया–१८, १२ अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता–२० ।

२. आर्थिक शब्द तथा मूल धारणाए २२-३१

१ भूमिका–२२, २ उपयोगिता–२३, मूल्य–२४, ४ धन–२५, ५ धन का वर्गीकरण–२८, ६ धन और आय–२८, ७ धन तथा कल्याण–२९।

३ उपभोग ३२-३७

१ उपभोग और उसका महत्त्व–३२, २ उपभोग करने की प्रवृत्ति–३३, ३ मानवीय आवश्यकताए–३४, ४ अनिवार्यताए, सुविधाए तथा विलासिताए–३५, ५ जीवन स्तर–३६ ।

४ उपभोग (क्रमश) घटती हुई उपयोगिता का नियम ३८-५०

१ भूमिका–३८, २ घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम–३८; ३ घटती हुई उपयोगिता के नियम की सीमाए–४०, ४ घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापनीयता का नियम–४२, ५ नियम के कुछ आशय–४३, ६ सीमान्त उपयोगिता अथवा महत्त्व–४३, ७ जब एक वस्तु कई प्रयोगो मे लाई जा सकती है–४४, ८ द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता–४५; ९ सीमान्त उपयोगिता और कीमत–४६, १० घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम का व्यावहारिक महत्त्व–४७, ११ सीमान्त विश्लेपण–४८, १२ क्या उपयोगिता मापी जा सकती ?–४८ ।

५ उपभोग (क्रमशः) प्रतिस्थापन का नियम ५१-७४

१ भूमिका–५१, २ नियम की व्याख्या–५१, ३ तटस्थता वक्र–५४; ४ तटस्थता वक्र का व्यावहारिक महत्त्व–५९, ५ प्रतिस्थापन की सीमान्त दर–५९, ६ प्रतिस्थापन नियम का व्यावहारिक महत्त्व–६१, ७ प्रतिस्थापन नियम की सीमाए–६२, ८ उपभोक्ता की बचत-अर्थ–६३, ९ उपभोक्ता की बचत तथा घटती हुई उपयोगिता का नियम–६४, १० क्या उपभोक्ता की बचत मापी जा सकती है ?–६५; ११ उपभोक्ता की बचत की समालोचना–६७;

१२ उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का महत्त्व–६८, १३ उपभोक्ताओ के अविमान–७०, १४ उपभोक्ता का प्रभुत्व–७१, १५ उपभोक्ता के प्रभुत्व की सीमाए–७१ ।

६. माग ७५-९७

१ माँग–७५, २ माँग-अनुसूचि–७५, ३ माँग-वक्र–७७, ४ माँग-वक्र नीचे क्यो झुकता है ?–७८, ५ माँग-वक्र का नियम–८०, ६ माँग में परिवर्तन–८१, ७ माँग की लोच–८५, ८ आय लोच तथा कीमत लोच–८६, ९ माँग की लोच का घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध–८७, १० माँग की लोच तथा उपभोक्ता की बचत–८८, ११ माँग की लोच कैसे निर्धारित होती है–८८, १२ लोच की माप–९०, १३ माँग की लोच का रेखाचित्र द्वारा वर्णन–९३, १४ माँग की लोच के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग–९५ ।

७ उत्पादन (सामान्य रूप मे) ९८-१०५

१ उत्पादन का अर्थ–९८, २ उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने वाले कारण–९९, ३ उत्पादन के साधन–१००, ४ भूमि, अर्थ तथा महत्त्व–१०२, ५ भूमि की विशेषताएँ–१०३, ६ भूमि की उत्पादकता–१०३, ७ विस्तृत तथा गहन कृषि–१०४ ।

८ श्रम १०६-१२०

१ श्रम का अर्थ–१०६, २ श्रम की विशेषताए–१०७, ३ मालथस का जन-सख्या सिद्धान्त–१०९, ४ मालथस के सिद्धान्त की आलोचना–११०, ५ आधुनिक जन-सख्या सिद्धान्त अनुकूलतम सिद्धान्त–१११, ६ मालथस के सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त की आलोचना–११३, ७ अधिक आबादी की कसौटी–११४, ८ क्या जन-सख्या की वृद्धि अभिशाप है ?–११४, ९ शुद्ध प्रजनन दर–११५, १० श्रम कार्य पटुता के साधन–११८ ।

९ मशीन तथा श्रम-विभाजन १२१-१२९

१ मशीन का उपयोग–१२१, २ श्रम-विभाजन–१२२, ३ श्रम-विभाजन के लाभ–१२३, ४ श्रम-विभाजन से हानियाँ–१२४, ५ श्रम-विभाजन बाजार द्वारा सीमित होता है–१२६, ६ केन्द्रीकरण के अन्य कारण–१२७, ७ स्थानीकरण के परिणाम–१२८, ८ उद्योगो का विकेन्द्रीकरण–१२८ ।

१० पूजी १३०-१३७

१ पूजी का स्वरूप तथा महत्त्व–१३०, २ पूजी के कार्य–१३३, ३ पूजी का निर्माण–१३४ ।

११ उद्यमी तथा उसकी समस्याए १३८-१४७

१ उद्यमी का कार्य–१३८, २ उद्यमी के कृत्यो का प्रत्यायोजन–१३९, ३ उत्पादन का पैमाना–१४०, ४ आन्तरिक तथा वाह्य वचत–१४२, ५ छोटे पैमाने के उत्पादन मे लाभ–१४४ ।

१२. विभिन्न साधनों का परस्पर सहयोग १४८-१६१

१ साधनो का सयोग–१४८, २ माधनो की व्यवस्थापना–१४९, ३ प्राप्ति के नियम–१५०; ४ घटती हुई प्राप्ति का नियम–१५१, ५ सामान्य रूप में घटती हुई प्राप्ति का नियम–१५५, ६ आर्थिक सिद्धात मे घटती हुई प्राप्ति के नियम का महत्त्व–१५६, ७ घटती हुई प्राप्ति का नियम–१५७, ८. स्थिर प्राप्ति का नियम–१५८, ९ अभिनवीकरण–१५९।

१३. उत्पादन के साधनो की गतिशीलता १६२-१६७

१ गतिशीलता के भेद–१६२, २ भूमि की गतिशीलता–१६२; ३ श्रम की गतिशीलता–१६३; ४ पूजी की गतिशीलता–१६५, ५ क्या आधुनिक आर्थिक प्रणाली परिवर्तनशील है ?–१६६।

१४. व्यवसाय सगठन के रूप १६८-१७८

१. व्यक्तिगत उद्यमी–१६८, २ भागिता–१६९, ३ सयुक्त समवाय कम्पनी–१७०; ४. ज्वाइट स्टॉक कम्पनी के लाभ व हानिया–१७३; ५ सूत्र-धारी कम्पनी–१७४, ६ सहकारी सगठन उत्पादक सहकारिता–१७५, ७ सरकारी उद्यम–१७७।

१५ एकाधिकार १७९-१८९

१ एकाधिकार का क्या अर्थ है ?–१७९, २ गुटवन्दी के भेद–१८०; ३ संघ के लिए अनुकूल कारण–१८१, ४ सघ के लिए प्रतिकूल परिस्थितिया–१८२, ५. एकाधिकारो के गुण तथा दोप–१८४, ६ एकाधिकार के प्रति मौजूदा प्रवृत्तिया–१८५, ७ एकाधिकारी-पर रोक–१८६, ८ एकाधिकार पर सार्व-जनिक नियन्त्रण तथा स्वामित्व–१८७, ९ क्रयाधिकार–१८८।

१६. विनिमय-बाजार १९०-२०३

१ वाजार का अर्थ–१९०, २ वाजारो का विकास–१९०, ३. वाजार का विस्तार–१९१, ४ पूर्ण प्रतियोगिता–१९२, ५ पूर्ण तथा अपूण वाजार–१९४, ६. स्टॉक विनिमय सगठन–१९६, ७ स्टॉक विनिमय के लाभ–१९७, ८ उत्पाद एक्सचेज–१९७, ९ सट्टा–१९८, १० सट्टे के लाभ और खतरे–२०१।

१७ पूर्ति तथा पूर्ति का नियम २०४-२१५

१ भूमिका–२०४; २ पूर्ति तथा स्टॉक–२०४, ३ पूर्ति-नियम–२०४, ४ पूर्ति की लोच–२०६, ५ पूर्ति में वृद्धि व कमी–२०७, ६ पूर्ति में परि-वर्तन के कारण–२०८, ७ माग और पूर्ति के नियम–२१०, ८ एक व्यक्तिगत विक्रेता माग को किस प्रकार देखता है–२१३, ९ एक विचित्र पूर्ति वक्र–२१४।

१८. माग और पूर्ति की मार्केट साम्यावस्था २१६-२२८

दार पूर्ति–२२१, ६ निश्चित सप्लाई–२२३, ७ उत्पादक कार्यों का मूल्याकन–२२४, ८ कीमत नियन्त्रण तथा राशनिग–२२५, ९ नवीन उत्पादन का मूल्याकन–२२७।

१६ लागत और पैदावार २२६-२४५

१ उत्पादन की लागत–२२९, २ प्रमुख और पूरक लागत–२३०, ३ विक्रय मूल्य या लागत–२३२, ४ विक्रय लागत तथा अनुकूलतम पैदावार–२३४, ५ उत्पादन की सीमान्त लागत–२३५, ६ सीमान्त का महत्त्व–२३६, ७ अनुकूलतम फर्म–२३८, ८ अनुकूलतम फर्म बनाम मार्शल फर्म–२४०, ९ अनुकूलतम फर्म मे औसत लागत सीमान्त लागत के समान होती है–२४२, १० प्राप्ति के नियमो से अनुकूलतम फर्म का सम्बन्ध–२४३।

२० सामान्य कीमत का सिद्धान्त २४६-२६२

१ सामान्य कीमत तथा बाजार कीमत–२४६, २ कीमत का सीमान्त लागत से सम्बन्ध–२४७, ३ मार्शल का मूल्य सिद्धात–२५०, ४ समय का महत्त्व–२५०, ५ सामान्य कीमत का सिद्धात–२५१, ६ सामान्य कीमत पर मार्शल के विचार–२५७, ७ आधुनिक दृष्टिकोण–२५८, ८ साधारण साम्य का सिद्धात–२५९।

२१. मूल्य से सम्बन्धित वास्तविक लागत २६३-२७८

१ भूमिका–२६३, २ विकल्प, अवसर तथा हस्तातरण लागत–२६४, ३ श्रम सिद्धात–२६७, ४ समाजवादी व श्रम सिद्धात–२६८, ५ मार्क्स का शोपण व अतिरेक मूल्य का सिद्धात–२६९; ६ मूल्य के श्रम सिद्धात की आलोचना–२७०, ७ मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धात–२७१, ८ पुनरुत्पादन लागत का सिद्धात–२७३, ९ मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धात का विकास–२७४, १० मूल्य का सीमान्त-उपयोगिता सिद्धात–२७६, ११ प्राप्ति के नियमो का मूल्य पर प्रभाव–२७८।

२२ परस्पर निर्भर मूल्य २७९-२८४

१ सयुक्त पूर्ति–२७९, २ सयुक्त माग–२८०, ३ सामासिक पूर्ति–२८३, ४ सामासिक माग–२८४।

२३. एकाधिकार में मूल्य २८५-३०४

एकाधिकार कीमत निश्चित करता है–२८५, २ सीमान्त राजस्व व सीमान्त लागत की समस्या–२८६, ३ सीमान्त राजस्व तथा औसत राजस्व–२८७, ४ एकाधिकार में अनुकूलतम उत्पादन–२८९, ५ प्राप्ति नियम, माग की लोच तथा एकाधिकार कीमत–२९२, ६ एकाधिकार मूल्य के सिद्धात का साराश–२९३, ७ एकाधिकार कीमत निर्धारण का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण–२९४, ८ कीमत विभेद–२९६, ९ राशिपातन द्वारा कीमत विभेद–२९९, १० क्या एकाधिकार कीमत सदैव ऊँची कीमत होती है?–३०१, ११ क्याधिकार

मे कीमत ३०२, १२ उभयपक्षीय एकाधिकार–२०३ ।

२४ अपूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य ३०५—३१४

१ अपूर्ण अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता–३०४, २ अपूर्ण प्रतियोगिता किस प्रकार प्रकट हो सकती है–३०६, ३ अपूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य–३०७, ४ अपूर्ण प्रतियोगिता मे व्यावसायिक सस्थाओ की सख्या तथा आकार–३०९, ५ अपूर्ण प्रतियोगिता से हानिया–३१० ।

२५ वितरण सामान्य सिद्धात ३१५—३२४

१ भूमिका–३१५, २ एक अलग सिद्धात की आवश्यकता–३१५, ३ राष्ट्रीय लाभाश–३१७; ४ राष्ट्रीय आय का माप–३१९, ५ राष्ट्रीय आय को मापने में कठिनाइया–३२०, ६. राष्ट्रीय आय का सिद्धात–३२०, ७ सीमान्त उत्पादन सिद्धात की आलोचना–३२२ ।

२६. लगान ३२५—३४०

१ लगान का अभिप्राय–३२५, २ रिकार्डो का लगान सिद्धात–३२६, ३ रिकार्डो के सिद्धात की आलोचना–३३०, ४ लगान का आधुनिक सिद्धात–३३२, ५ लगान और कीमत–३३३, ६ भूमि तथा बिल्डिंग लगान–३३५, ७ खानो, खदानो तथा मीन-क्षेत्रो का लगान–३३५, ८ अर्द्ध-लगान–३३६, ९ लगान और आर्थिक उन्नति–३३७, १० दूसरे साधनो में लगान का तत्व–३३८, ११ हस्तातरण-आय–३३९ ।

२७ मजदूरी ३४१—३५४

१ परिभाषा–३४१, ३ नाममात्र तथा वास्तविक मजदूरी की तुलना ३४२, ३ मजदूरी का जीविका सिद्धात–३४३; ४ मजदूरी का निधि सिद्धात–३४४, ५ अवशिष्ट दावा सिद्धात–३४५, ६ मजदूरी का सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धात–३४५, ७ सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धात की परिमितताए–३४७, ७ (अ) टाजिग का मजदूरी सिद्धात–३४९, ८ मजदूरी में उतार-चढाव–३५०, ९ मजदूरी व रहन-सहन का स्तर–३५१, १० मजदूरी और कार्य-क्षमता–३५१, ११ मजदूरी तथा आविष्कार–३५२, १२ सापेक्षित मजदूरी–३५२; १३ स्त्रियो की कम मजदूरी–३५४ ।

२८ श्रम की कुछ समस्याएँ ३५५—३७४

१ ट्रेड यूनियन (कार्मिक सघ)–३५५, २ कार्मिक सघ और मजदूरी –३५६, ३ कार्मिक सघो के गुण और दोष–३५७, ४ औद्योगिक झगडे–३५८, ५ लाभाश वितरण-प्रणाली–३५९, ६ स्लाइडिंग प्रणाली–३६०, ७ लाभ में शेयर–३६०, ८ श्रम-सहभागिता–३६१, ९ श्रम-परिषदे या कर्मशाला समिति –३६१, १० न्यूनतम मजूरी–३६२, ११ राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी–३६३; १२ औद्योगिक झगडो का निपटारा–३६६, १३ बेकारी–३६७, १४ बेरोजगारी के कारण–३६७, १५ बेकारी दूर करने के उपाय–३६९, १६ सामाजिक

वीमा–३७१, १७ सामाजिक सुरक्षा–३७१ ।

२९ ब्याज ३७५—४०२

१ सकल तथा शुद्ध ब्याज–३७५, २ ब्याज की दरो में अन्तर–३७६, ३ ब्याज का उत्पादन सिद्धात–३७८, ४ ब्याज का त्याग अथवा प्रतीक्षा सिद्धात ३७९, ५ ब्याज का आस्ट्रियन या एगियो सिद्धात–३८०, ६ फिशर द्वारा प्रतिपादन–३८०, ७ नव-शास्त्रीय सिद्धात–३८१, ८ कीस का ब्याज सिद्धात–तरल अधिमान–३८२, ९ कीस के सिद्धात की आलोचना–३८७, १० ब्याज का नियोजक निधि सिद्धात–३८८, ११ सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धात–३९०, १२ अनिवार्य एव ऐच्छिक बचत–३९३, १३ ब्याज का निर्धारण–३९४, १४ अल्पावधि और दीर्घावधि की दरें–३९५ १५ आर्थिक प्रगति और ब्याज की दर–३९७, १६ समाजवादी राज्य और ब्याज–३९९, १७ ब्याज और लगान–३९९, १८ ब्याज लगान और अर्द्ध-लगान–४००, १९ ब्याज पर द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होने का प्रभाव– ४०१, १९ ब्याज की दर में परिवर्तन के परिणाम–४०१ ।

३० लाभ ४०३—४१५

१ लाभ का स्वरूप–४०३, २ सकल लाभ का विश्लेपण–४०३, ३ लाभ जोखिम उठाने का एक पुरस्कार–४०५, ४ लाभ का गतिशील सिद्धात–४०६, ५ लाभ, अनिश्चितता का भार उठाने का पुरस्कार–४०७, ६ एकाधिकार और लाभ–४०८, ७ लाभ और मजदूरी–४०९, ८ क्या लाभ लगान का एक रूप है ?–४१०, ९ सामान्य या साधारण लाभ–४११, १० क्या लाभ में समानता की ओर प्रवृत्ति होनी है ?–४१२, १२ लाभ तथा सीमान्त उत्पादन-शक्ति–४१२, १२ लाभ के कार्य–४१४।

१ विनिमय की कार्यविधि ४१६—४३०

१ द्र य का अर्थ–४१६, २ वस्तु विनिमय की कठिनाइया–४१७, ३ द्रव्य का विकास–४१८, ४ द्रव्य के कार्य–४२०, ५ अच्छे द्रव्य पदार्थ के गुण–४२२, ६ सिक्के और टकण–४२३, ७ कागजी द्रव्य–४२५, ८ वैंक द्रव्य–४२६, ९ लेखा या हिसाव की मुद्रा–४२६, १० द्रव्य के कुछ अन्य रूप –४२७, ११ ग्रेशम का सिद्धात–४२८, १२ भारतीय द्रव्य प्रणाली–४२९ ।

३२. मुद्रा प्रणालिया ४३१—४४६

१ द्विधातुमान–४३१, २ रजत मान–४३३, ३ स्वर्ण परिचलन मान –४३४, ४ स्वर्णवातु मान–४३४, ५ स्वर्ण विनिमय मान–४३५, ६ स्वर्ण समहिता मान–४३८, ७ स्वर्ण मान के लाभ तथा हानिया–४३८, ८ व्यावहारिक रूप मे स्वर्ण मान–४४०, ९ स्वर्ण मान के नियम–४४०, १० स्वर्ण मान क्यो समाप्त हो गया ?–४४१, ११ स्वर्ण मान का भविष्य–४४२, १२ स्वर्ण मान के कार्य–४४३, १३ स्वर्ण की गतियो के कारण–४४४, १४ कागजी मान या

प्रवर्धित कागजी मान अथवा चलमुद्रा विनिमय मान–४४५, १५ सर्वोत्तम मुद्रा प्रणाली–४४६ ।

३३ द्रव्य का मूल्य ४४७—४६१

१ भूमिका–४४७; २ द्रव्य का परिमाण सिद्धात–४४७, ३ प्रोफेसर इरविंग फिशर के विनिमय का समीकरण–४४८, ४ परिमाण सिद्धात की आलोचना–४४९, ५ द्रव्य की माग व पूर्ति का सिद्धात–४५२, ६ कैम्ब्रिज मुद्रा समीकरण–४५६, ७ द्रव्य की माग की लोच–४५९ ।

३४. मुद्रा और कीमते ४६२—४८१

१ मुद्रास्फीति, मुद्रा ह्रास आदि–४६२, २. कीमतो मे परिवर्तन होने के परिणाम–४६४, ३ सूचक अक–४६६, ४ सूचक अको के लाभ तथा सीमाएँ –४६९, ५ कीमत का स्थार्यीकरण–४७०, ६ कीमत नियन्त्रण की कठिनाइया –४७२, ७ कीमत का कार्य–४७४; ८ महगी मुद्रा बनाम सस्ती मुद्रा–४७५, ९ तटस्थ मुद्रा नीति–४७७, १० मुद्रा नीति के उद्देश्य–४८० ।

३५. साख ४८२-४८८

१ साख क्या है–४८२, २ साख-पत्र–४८२; ३ क्लियरिंग हाउस–४८४, ४ साख के विस्तार के कारण–४८५; ५ साख के अर्थ तथा उसकी उपयोगिता–४८६; ६ साख की बुराइयाँ–४८६; ७ साख तथा कीमत–४८७; ८ साख तथा पूजी–४८८ ।

३६ बैंक ४८९-५००

१. बैंको का विकास–४८९, २ बैंको के भेद–४९०, ३. साधारण बैंकिंग कार्य–४९१, ४ साख का उत्पादन और उसकी सीमाए–४९३, ५ परिमितताए–४९५, ६ तरलता का महत्व–४९८, ७ बैंको की उपयोगिता–४९९ ।

३७. द्रव्य-बाजार तथा केन्द्रीय बैंक ५०१-५२७

१ द्रव्य-बाजार–५०१, २ द्रव्य बाजार के अग अथवा सदस्य–५०१, ३ केन्द्रीय बैंक–५०२, ४ रिजर्व बैंक का सतुलन पत्र–५०३, ५ केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्त–५०५, ६ केन्द्रीय बैंक के कार्य–५०६, ७ केन्द्रीय बैंक नोट निकालने वाले अभिकरण के रूप में–५०७, ८ नोटो की निकासी के सिद्धान्त–५०७, ७ विभिन्न देशो में नोटो की निकासी की पद्धति–५०८, १० केन्द्रीय बैंक राज्य के बैंकर के रूप में–५१०, ११ केन्द्रीय बैंक बैंको के लिए बैंक के रूप मे–५११; १२ साख का नियत्रण–५१३, १३ साख के नियत्रण में कठिनाइया–५१५, १४ बैंक-दर की नीति–५१६, १५ बैंक-दर नीति के सम्बन्ध मे कीन्स का दृष्टिकोण–५१९, १६–खुले बाजार की नीति–५२०, १७ साख सम्बन्धी राशनिंग–५२२, १८ अन्य रीतिया–५२२; १९ अन्तिम ऋणदाता–५२३, २० केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण–५२३, २१ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक–५२५ ।

४८ घाटे की वित्त-व्यवस्था ६९५-६९७

१ प्रस्तावना–६९५, २ घाटे की वित्त-व्यवस्था क्या है ?–६९५, ३. घाटे की वित्त-व्यवस्था का मुद्रास्फीति सम्भाव्य–६९६, २ मुद्रास्फीति की सीमा और विस्तार–६९७।

४९ आर्थिक व्यवस्था ६९८ ७२१

१ पूजीवाद क्या है ?–६९८, २ पूजीवाद के प्रमुख लक्षण–६९८, ३ पूजीवाद की सफलताएँ–७००, ४ पूजीवाद की आलोचना–७०१, ५ आयोजित अर्थ-व्यवस्था–७०२, ६ समाजवाद–७०४, ७ मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद–७०५, ८ सामूहिकवाद अथवा राजकीय समाजवाद–७०६, ९ कारीगर या श्रेणी समाजवादी–७०६, १० श्रमिक सघवाद–७०७, ११ साम्यवाद–७०७, १२ अराजकतावाद–७०८, १३ फेबियन समाजवादी–७०९, १४ समाजवादी योजना के आवश्यक अग–७०९, १५ समाजवाद की आलोचना–७१०, १६ आलोचकों को समाजवाद की ओर से दिया गया उत्तर–७१३, १७ समाजवाद की प्रगति–७१५, १८ रूस का प्रयोग–७१७, १९ समाजवादी राज्य में आर्थिक समस्याएँ–७१९।

५० नियोजन-सिद्धान्त ७२२-७३१

१ कुल पैदावार और नियोजन–७२२, से का बाजार सम्बन्धी नियम–७२२, ३ से के नियम की कमजोरिया–७४३, ४ नियोजन का आधुनिक सिद्धान्त–७२४, ५ सामाजिक आय और पैदावार–७२५, ६ बचत और विनियोग–७२६, ७ आय कैसे उत्पन्न की जाती है ?–७२६, ८ नियोजन के निर्णायक–७२८, ९ पूर्ण-नियोजन का विचार–७२९, १० अर्द्ध-विकसित देशो की विशिष्ट समस्याएँ–७३०।

परिशिष्ट ७३२-७३४

कुछ प्रश्न ७३५-७५०

पारिभाषिक शब्दावली ७५१

अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त

अध्याय १

अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र

(THE NATURE AND SCOPE OF ECONOMICS)

१. परिभाषा की समस्या (The Problem of Definition)—डा० जे० एम० कीन्स (Dr. J M. Keynes) का यह कथन अनुचित नही है कि "राज्य अर्थशास्त्र"अर्थ-व्यवस्था अपनी परि-भाषाओ में फसा हुआ कहा जाता है।"[1] अतएव कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री है जैसे रिचर्ड जोन्स (Richard Jones) और कॉम्टे (Comte) जो किसी प्रकार की परिभाषा की आवश्यकता ही नही समझते। परन्तु एक विद्यार्थी को अपने अध्ययन के आधार के लिए किसी न किसी परिभाषा की बहुत जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त, परिभाषा की ओर ले जानेवाली चर्चा विषय की मूल धारणा के स्पष्टीकरण के लिये बहुत लाभदायक है। इसलिए हमको समय-समय पर दी गई परिभाषाओ पर विचार करना चाहिए।

२ क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है? (Is Economics a Science of Wealth ?)—एडम स्मिथ के कथनानुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध "राष्ट्रो के धन के स्वरूप तथा कारणो की जाच" से था। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान (science of wealth) कहा था। ऐसे समय में जबकि धार्मिक भावनायें दृढ थी और आध्यात्मिक मूल्यो का मनुष्य के विचारो पर अधिकार था, प्रगतिशील मनुष्य को धन का विचार धनी पुरुषो के विलासी तथा ह्रासी पथ के कारण घृणा की ओर उत्तेजित करता था। इसी कारण कार्लायल तथा रस्किन जैसे साहित्यिक लेखक इसकी उचित निन्दा के लिए अग्रसर हुए। प्राचीन अर्थशास्त्री जो कि 'कुबेर पूजा' (Mammon-Worship) की नई विचारधारा के अनुयायी थे, घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे। अर्थशास्त्र स्वार्थता का पाठ पढानेवाला शास्त्र समझा जाने लगा और 'निकृष्ट विज्ञान' (dismal science) कहा जाने लगा।

सौभाग्य से अर्थशास्त्र को अब ऐसी शोचनीय दशा से छुटकारा मिल गया है। धन का अत्यधिक महत्त्व कम हो गया है। अब धन को अनुचित महत्त्व नही दिया जाता। यह अब सर्वमान्य है कि धन केवल लक्ष्य का एक साधन है, लक्ष्य तो मानवीय कल्याण (human welfare) है। धन न तो मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य तथा उसके प्रयत्नो का अन्त है और न यह आशा की जा सकती है कि केवल यह ही मनुष्य के सुख का एकमात्र

---

1. Keynes, J N—Scope and Method of Political Economy 1930, p. 153

कारण हो सकता है । अब धन के स्थान पर मनुष्य का महत्त्व अधिक हो गया है । मनुष्य का स्थान प्राथमिक और धन का द्वितीय है। मार्शल का कथन उचित है कि अर्थशास्त्र "एक ओर धन का अध्ययन है, और दूसरी ओर, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"[1] इस प्रकार अर्थशास्त्र धन का विज्ञान नही है परन्तु प्राथमिक रूप से मनुष्य का अध्ययन है। इसको मनुष्य के कल्याण का विज्ञान कहा जा सकता है।

वर्तमान समय म रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को उसके निन्दा करनेवालो के द्वारा उसे नीच अथवा तुच्छ कहे जाने से बचा लिया है। रॉबिन्स के अनुसार 'अर्थशास्त्र लक्ष्य से सम्बधित नही है। लक्ष्य ऊँचे अथवा नीचे हो सकते हैं। यदि उनकी प्राप्ति में दुर्लभ साधनो का उपयोग किया जाता है तो वे आर्थिक रूप रखते हैं । इस प्रकार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वह सब अच्छा व बुरा व्यवहार जिस पर न्यूनता का प्रभाव पडता है सम्मिलित है। अतएव हम अर्थशास्त्र को ऊँचे अथवा नीचे लक्ष्यो पर आश्रित होने का दोष नही दे सकते ।'

३ क्या अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण का विज्ञान है ? (Is Economics a Science of Material Welfare ?)—बहुत समय से यह एक मान्यता है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन मानवीय चेष्टाओ से है जो कि धन की ओर केन्द्रित होती है, अपने लिए नही वरन् भौतिक कल्याण के विकास के लिए। निम्नलिखित परिभाषाएँ इस प्रचलित दष्टिकोण को स्पष्ट करती है—

"अर्थशास्त्र उन सामान्य रीतियो का, जिनके हेतु मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए महयोग करते है, अध्ययन है।" —बेवरिज "Economics is the study of the general methods by which men co-operate to meet their *material needs*"—(Beveridge)

"राजनीतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणो की व्याख्या है जिन पर मनुष्य का भौतिक कल्याण निर्भर है।"—कैनन "The aim of Political Economy is the explanation of the general causes on which the material welfare of human beings depends"—(Cannan)

"हमारी जाच का क्षेत्र सामाजिक कल्याण के उस भाग तक सीमित हो जाता है जो कि द्रव्य के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मापदण्ड से सम्बद्ध किया जा सकता हो।"— पीगू "The range of our inquiry becomes restricted to that part of social welfare that can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money." —(Pigou)

"राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या में मनुष्य के कार्यों का अध्ययन है, यह व्यक्ति तथा समाज के उस भाग की परीक्षा करता है जो

1 Marshall, A —Principles of Economics (Eighth Edition p 1)

कि भौतिक सुख की आवश्यकताओ के साधनो की प्राप्ति और उनके उपयोग से गहरे रूप में जुड़े हुए है।"—मार्शल "Political Economy or Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the *material requisites of well-being.*" (Marshall)[1]

इन सब परिभाषाओ मे एक ही सूत्र व्यापक है अर्थात् भौतिक कल्याण। बेवरिज "भौतिक आवश्यकताओ का", कैनन भौतिक कल्याण के कारणो का और मार्शल भौतिक सुख के साधनो का वर्णन करते हैं। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य की उन चेष्टाओ का अध्ययन है जो कि मनुष्य के भौतिक रूप मे मानव कल्याण मे सहायक है।

अर्थशास्त्रियो ने अपना सम्बन्ध भौतिक कल्याण से क्यो रखा है? मानवीय कल्याण प्रत्येक प्रकार से ही असमाप्य है। परन्तु अर्थशास्त्रियो के पास एक ऐसा उपकरण है जिससे भौतिक दृष्टिकोण से मनुष्य का कल्याण नापा जा सकता है। यह उपकरण धन है। यह मानव जाति को उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के भौतिक साधन प्राप्त कराता है और उसके कल्याण को बढाता है। जो अर्थशास्त्री धन का अध्ययन करते है, उनका भौतिक कल्याण के कारणो का अध्ययन उचित ही माना जा सकता है।

परतु लियोनेल रॉबिन्स ने इस धारणा पर सीधा वार किया है। वह अर्थशास्त्रियो के लिये यह उचित नही समझते कि वे अपने विचार भौतिक कल्याण तक ही सीमित रक्खें। अर्थशास्त्र के वास्तविक अध्ययन में "भौतिक" तथा "अभौतिक" दोनो मिश्रित है। "मजदूरी का वह सिद्धान्त असहनीय होगा जिसके अनुसार उस राशि को जो या तो 'अभौतिक' सेवाओ के चुकाने में या 'अभौतिक' लक्ष्यो के लिए व्यय किया गया हो।"[2] अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन की 'अभौतिक' परिभाषा को भी एकमत से ग्रहण किया है। रॉबिन्स ने अपनी पुस्तक "Nature and Significance of Economic Science" में उन पदार्थों के अनेक उदाहरण दिये है जो मानवीय कल्याण के लिए अत्यन्त सहायक है परतु जिनमें कोई भी भौतिकत्व नही है। उदाहरणार्थ डाक्टरो, वकीलो इत्यादि की सेवायें। इन सेवाओ का आर्थिक महत्त्व है। वे दुर्लभ है और उनका मूल्य है। रॉबिन्स का कथन है "यह तृप्ति के साधनो का भौतिकत्व नही है वरन् उनसे मूल्य निर्णय का सम्बन्ध है जो उनको आर्थिक माल की प्रतिष्ठा देता है।" यह 'भौतिक' परिभाषा निन्दित निर्बाधावादी (Physiocratic) विचारो पर आधारित है। इस प्रकार अर्थशास्त्र भौतिक तथा अभौतिक दोनो वस्तुओ से सम्बद्ध है।

रॉबिन्स (Robbins) का विरोध केवल 'भौतिक' शब्द से ही नही है। वे अर्थशास्त्र का कल्याण से कोई भी सम्बन्ध नही रखना चाहेंगे। जो अर्थशास्त्र का कल्याण की दृष्टि से अध्ययन करते है उनकी अव्यवस्था स्पष्ट है। मादक वस्तुए धन समझी जाती है

---

1 Marshall, A—Principles of Economics, 1948, p. 1
2 Robbins—Nature and Significance of Economic Science, p 6.

परन्तु किसी भी दृष्टिकोण से वे मनुष्य के कल्याण में सहायक नही मानी जा सकती। दुर्लभ होने के कारण वे 'मूल्य निर्णय विधि' (Pricing Process) के अधीन हैं। सक्षेप म उनका आर्थिक महत्त्व है, यद्यपि वे मानवीय कल्याण के लिये उपयोगी नही है। रॉविन्स यह कहेंगे, "कल्याण की बात क्यो की जाय ? इस परदे को बिल्कुल हटा क्यो न दिया जाय ?"

इन अनियमिताओ के अतिरिक्त जिनमे कल्याण में विश्वास करने वाले अर्थशास्त्री फस जाते है कुछ अन्य कारण भी है, जो केवल आर्थिक विमर्शो से कल्याण के विचार को हटा देते है। कल्याण के विचार समय-समय पर देश-देश में और व्यक्ति-व्यक्ति से भिन्न होते है। एक सम्मानित विज्ञान के लिए कल्याण पर्याप्त आधार प्रदान करने में अत्यन्त अस्थिर और अनिश्चित सुझाव है।

एक एतराज यह भी है कि मानवीय कल्याण के निर्धारण मे हमको यह निर्णय देना होगा कि हम मानवीय कल्याण के लिए क्या सहायक समझते हे और क्या इतना नही समझते। हम लोग नीतिशास्त्र (Ethics) के क्षेत्र में पहुँच जायेंगे जब कि रॉबिन्स के मतानुसार अर्थशास्त्र लक्ष्य के सम्बन्ध में तटस्थ है। इसका कार्य नैतिकता का पाठ पढाना और बुरे-भले का अन्तर बताना नही समझा जाता।

इस प्रकार अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण के कारणो का अध्ययन नही समझा जा सकता। "अर्थशास्त्र चाहे जिससे भी सम्बद्ध हो, यह भौतिक कल्याण के इस प्रकार के कारणो से सम्बद्ध नही है।"—(रॉबिन्स)

४ रॉबिन्स की परिभाषा (Robbins' Definition)—मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा की समस्या हल की हुई प्रतीत होती है और अनेको निपुण अनुकूल मत उनके विचारो पर निर्धारित है। परन्तु रॉबिन्स की पुस्तक "*Nature and Significance of Economic Science*" के सन् १९३१ में प्रकाशन से वादविवाद का चक्कर फिर से चलने लगा। लियोनेल रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र विज्ञान के स्वरूप के प्रचलित दृष्टिकोण को चुनौती दी। हमने ऊपर दिये हुए विभाग में कुछ उनके विरोधो का उल्लेख किया है। वह अब तक की स्वीकृत और विख्यात अर्थशास्त्र की परिभाषाओ को वर्गीकृत तथा अवैज्ञानिक कहता है। "भौतिक" शब्द ने अनावश्यक सीमा बना दी है। अर्थशास्त्र की कल्याण की धारणा में व्यापकता और वैज्ञानिक सूक्ष्मता नही है। रॉबिन्स का दृढ कथन है कि उनकी परिभाषा म इनमें से कोई भी त्रुटि नही है।

रॉबिन्स के अनसार "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमे मानव-व्यवहार का साध्य और न्यून और अनेक उपयोग वाले साधनो के बीच सम्बन्ध के रूप में अध्ययन किया जाता है।" "Economics is the Science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses" विश्लेषण द्वारा हमको ज्ञात होगा कि यह परिभाषा उन तीन मूल प्रस्तावनाओ को स्पष्ट करती है जो अर्थशास्त्र-विज्ञान के आकार के आधार का निर्माण करती हैं।

(क) 'लक्ष्यो' का सम्बन्ध आवश्यकताओ से है। मनुष्यमात्र की आवश्यकता।

अनेक है। आवश्यकताओ की वृद्धि अपनी सतुष्टि के लिये निरन्तर प्रयत्न चाहती है और आर्थिक चेष्टाओ का अनन्तर चक्र चलता ही रहता है। यदि आवश्यकताएँ सीमित होती तो उनकी सतुष्टि पर्याप्त मात्रा मे हो सकती और आर्थिक प्रयत्न के लिये उद्दीपन नष्ट हो जाता। क्योकि मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित है अतएव ज्यादा जरूरी और कम जरूरी आवश्यकताओ मे निर्णय करना पड़ता है।

(ख) यद्यपि आवश्यकताएँ असीमित है तो भी उनकी तृप्ति के लिये साधन बहुत सीमित है। नि सन्देह कुछ प्राकृतिक वस्तुएँ है जो मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। तो भी अनेक वस्तुएँ जिनकी हमे आवश्यकता है न्यून है। यदि साधन असीमित होते तो कोई भी आर्थिक समस्या न उठती। परन्तु जैसी हालत के अनुसार समाज के पास स्रोत (resources) सीमित है और उनका किफायत से उपयोग करना चाहिए।

'दुर्लभ' शब्द यहा पर एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस दुर्लभता का सम्बन्ध जरूरियातो से है। दुर्लभता का अर्थ निरपेक्ष भाव में नही लेना चाहिए। एक वस्तु थोडी मात्रा में हो सकती है, किन्तु यदि इसका किसी के लिए कोई उपयोग नही है तो हम इसको आर्थिक दृष्टिकोण से दुर्लभ नही कहेंगे। इस प्रकार, यद्यपि सडे हुए अण्डे ताजो की अपेक्षा कम पाए जाते है, परन्तु आर्थिक रूप में उन्हें दुर्लभ नही माना जाता। दूसरी ओर गेहूँ अथवा कोयला जैसी कोई वस्तु ससार मे यदि भारी मात्रा में हो तो भी वह दुर्लभ कही जायेगी, क्योकि माग वस्तु की पूर्ति से भी अधिक है। केवल मात्रा ही नही वरन् वस्तु की सप्लाई की तुलना में माग यह निश्चय करेगी कि अमुक वस्तु दुर्लभ है अथवा नही।

(ग) रॉबिन्स की परिभाषा के अन्तर्गत तीसरी प्रस्तावना यह है कि दुर्लभ साधनो के अनेक उपयोग हो सकते है। यदि एक वस्तु का एक ही उपयोग हो सकता हो और अन्य कोई नही तो उसके सम्बन्ध में बहुत कम आर्थिक समस्याएँ उठेंगी। जब इसका वह उपयोग हो चुकेगा तो यह स्वामित्वहीन वस्तु हो जायेगी और इसका कोई आर्थिक महत्त्व नही होगा। तो भी, वास्तव में, जिन उपयोगो में कोई वस्तु लाई जा सकती है वह अनेक अथवा लगभग असीमित है। अतएव उस वस्तु की कुल माग लगभग अतृप्य है। यह वैकल्पिक उपयोग नाना महत्त्व वाले है जिससे हम उस उपयोग को छाट सके जो एक वस्तु से उठाया जा सके।

जब तक ये सब परिस्थितिया नही है तब तक कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होगी। केवल साध्यो का वर्द्धन अथवा केवल साधनो की दुर्लभता न तो एक आर्थिक समस्या, और न केवल दुर्लभ साधनो की वैकल्पिक प्रयोजनीयता उत्पन्न कर सकती है। "परन्तु जब साध्य की प्राप्ति के लिये समय और साधन सीमित तथा वैकल्पिक प्रयोग के योग्य होते है और साध्य महत्त्व की दृष्टि से विभेद योग्य, तब व्यवहार अवश्य ही सवरण (selection) का रूप धारण कर लेता है।"[1] अर्थात् इसका एक आर्थिक रूप होता है।

रॉबिन्स के मतानुसार आर्थिक चेष्टा अनेक साध्यो को पूरा करने के लिये मनुष्य

---

1 Robbins—Nature and Significance of Economic Science, p. 14.

के दुर्लभ साधनो का उपयोग है। 'साधनो' का अभिप्राय समय, द्रव्य अथवा किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति से है। वे सब सीमित हैं। प्रत्येक दशा में हम अपने सीमित स्रोतो का अधिक उपयोग करने की कोशिश करते हैं। सरकार के दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र "उन नियमो का अध्ययन है जिन पर एक समाज के स्रोत इस प्रकार नियमित तथा प्रशासित हो जिनसे सामाजिक लक्ष्य बिना क्षय के प्राप्त हो सकें।"—विकस्टीड "Study of those principles on which the resources of a community should be so regulated and administered as to secure communal ends without waste"—(Wicksteed)[1]

स्टिगलर के शब्दो मे, "अर्थशास्त्र उन सिद्धान्तो का अध्ययन है जो प्रतिस्पर्धी लक्ष्यो में न्यून साधनो के बँटवारे को नियत करता है जबकि बँटवारे का उद्देश्य लक्ष्यो की प्राप्ति को परम सख्या तक बढाना है।

"Economics is the study of the principles governing the allocation of scarce means among competing ends when the objective of allocation is to maximise the attainment of the ends."

रॉबिन्स ने इस प्रकार अर्थशास्त्र के भौतिक कल्याण पर आधारित पुराने ढाँचे को तोड दिया है और एक नया स्वरूप दिया है जिसके दो आधार हैं, आवश्यकताओ की वृद्धि तथा साधनो की दुर्लभता।

रॉबिन्स का यह दृढ विश्वास है कि उनकी परिभाषा दूसरी परिभाषाओ से श्रेष्ठ है। यह अधिक वैज्ञानिक है। यह उस क्षेत्र को बढाती है जिसमें कि भौतिक परिभाषा अर्थशास्त्र को सकुचित करती है। यह कुछ ऐसे सिद्धान्त सामने रखती है जो हर समय प्रत्येक स्थान पर सही हैं। जैसा कि विकस्टीड का कथन है "इसके नियम जीवन के नियमो की भाति हैं और उन क्षेत्रो के अनुकूल हैं जिनका कारबार तथा धन के उत्पादन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है।"

जब अर्थशास्त्र की यह परिभाषा की जाती है तब इस पर मलिनता अथवा कुबेर की गाथा का कोई आरोप नही लगाया जा सकता। इसको अब एक 'निकृष्ट' (dismal) विज्ञान नही कहा जा सकता। इस पर साध्यो के चुनाव का कोई उत्तरदायित्व नही है। जहा कही साध्य अनेक हैं तथा साधन न्यून हैं वही अर्थशास्त्र का उससे सीधा सम्बन्ध है।

परन्तु रॉबिन्स के भी समालोचक हैं। मार्शल की विचारधारा का अभी अन्त नही हुआ है। डरबिन, फ्रेजर, वूटन तथा बेवरिज जैसे अर्थशास्त्रियो ने मार्शल के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो की बडी रक्षा की हैं। वूटन का कथन है "अर्थशास्त्रियो के लिए यह बहुत ही कठिन है कि वे अपने विवेचन से अर्थशास्त्र के आदर्श के महत्व का पूर्ण अपहरण करें।" फ्रेजर के अनुसार "अर्थशास्त्र का मूल्य सिद्धान्त अथवा साम्य-विश्लेपण से कहीं अधिक

1 Stigler, G J—Theory of Price (1947), p 12

है। यद्यपि रॉबिन्स की अर्थशास्त्र की धारणा अधिक वैज्ञानिक है फिर भी साध्यो के प्रति वह निष्पक्ष, व्यक्तिगत और तटस्थ है। उनका कहना है "साम्य का अर्थ केवल साम्य ही है।"

कहा जाता है कि रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त ही बना दिया। अर्थशास्त्र के अध्ययन के अन्य रूपो की उपेक्षा की गई है। रॉबिन्स की परिभाषा उस एकत्रित ज्ञान को जो विद्यमान है परिमित नही करती, परन्तु यह अर्थशास्त्र के क्षेत्र से उसके उस भाग को जो पहले से मौजूद था, अलग कर देती है।[1]

रॉबिन्स की परिभाषा मे मानवीय स्पर्श नही के समान है। ऐली के अनुसार यह दृढ कथन उचित होगा कि "अर्थशास्त्र विज्ञान से कही बढकर है, एक ऐसा विज्ञान है जो मानव जीवन के अनेक प्रकार के रूपो मे व्याप्त है, जिसके लिए केवल क्रमानुसार विचार ही नही वरन् मानवीय सहानुभूति, कल्पना तथा असाधारण मात्रा मे व्यावहारिक ज्ञान का सञ्चित अनुग्रह भी आवश्यक है।"[2]

रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को अधिक निराकार तथा गूढ और इसलिए कठिन बना दिया है। यह साधारण मनुष्य के लिये उसकी उपयोगिता घटा देती है। अर्थशास्त्र की उपयोगिता अधिक मात्रा मे ठोस और वास्तविक अध्ययन में है।

५ अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)—प्रतिवाद केवल अर्थशास्त्र की परिभाषा पर ही नही वरन् उसके क्षेत्र के सम्बन्ध में भी है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र की चर्चा में हमारा सम्बन्ध विशेषकर उसके विषय से सम्बद्ध प्रश्नो से होता है। क्या यह व्यक्ति का पृथक् अध्ययन करता है अथवा समाज के एक सदस्य के रूप में? क्या यह व्यावहारिक समस्याओ को हल कर सकता है? क्या यह वास्तविक विज्ञान (positive science) है अथवा आदर्श विज्ञान (normative science) है?

विषय (Subject-matter)—हम पहले परिभाषा मे ही इसके विषय का उल्लेख कर चुके है। हम फिर दोहरा सकते है कि मनुष्य की वे सब चेष्टाएँ जिनका सम्बन्ध धन से है अथवा वे सब घटनाएँ जो "प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से द्रव्य के मापदड से सम्बद्ध की जा सकती है" अर्थशास्त्र से सम्बद्ध है। रॉबिन्स का अभिप्राय है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन मानव-व्यवहारो से है जो असीमित साध्यो को तृप्त करने वाले वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनो के प्रयोग से जुडे है। अवश्य ही इसमे चुनाव और मूल्य निर्णय (valuation) की आवश्यकता है। अतएव यह कहा जाता है कि मूल्य निर्णय प्रत्येक दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है।

वास्तव में अर्थशास्त्र का विषय बहुत विस्तृत है। यह मनुष्य की आवश्यकताओ का विश्लेषण करता है और उनकी तृप्ति के नियमो को स्पष्ट करता है। यह उत्पादन के उन चार साधनो के प्रयत्नो का जो धन के उत्पादन में लगे है और उनकी कार्यपटुता की

---

1 A paper read by M H Gopal in the Indian Economic Conference held in 1940.

2 Ely and others—Outlines of Economics, 1930, p 4.

हालतो का अध्ययन करता है। इसके बाद वह यह चर्चा करता है कि माग और पूर्ति की शक्तिया कैसे परस्पर प्रतिक्रिया करती है और धन का वितरण समाज के विभिन्न उत्पादको में कैसे होता है। विनिमय (exchange) की रचना द्रव्य तथा बैंकिंग प्रथाओ पर आधारित है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें, वैदेशिक विनिमय और सार्वजनिक वित्त भी इसके अध्ययन का एक मुख्य भाग है।

✓ **एक सामाजिक विज्ञान** (A Social Science)—अर्थशास्त्र प्राथमिक रूप से मनुष्य का अध्ययन है न कि धन का। किन्तु **यह एक ऐसे व्यक्ति का,** जिसने ससार को तज दिया हो, **अध्ययन नहीं करता।** दूसरी ओर यह उन व्यक्तियो का अध्ययन करता है जो समाज में रहते है, अपने कार्यों से समाज को प्रभावित करते है और जिन पर समाज का प्रभाव पडता है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध "आर्थिक मनुष्य" से इतना अधिक नही है—जो निराकार है, जितना उस मनुष्य से है जो वास्तविक है और जो साधारण प्रेरणाओ से, चाहे वह शिष्ट हो अथवा अशिष्ट, प्रभावित है और जिसमें साधारण मानवीय गुण तथा अवगुण का अश है। परन्तु अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान इस रूप में नही है कि वह सामाजिक कार्यों का व्यक्तिगत कार्यों से जुदा अध्ययन करता है।

क्या यह व्यावहारिक समस्याओ को हल कर सकता है ? (Can it solve practical problems ?)—अग्रेज अर्थशास्त्रियो का प्राय यह विश्वास है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह नही है कि वह व्यावहारिक समस्याओ को हल करे। यद्यपि इन समस्याओ का आर्थिक स्वरूप बहुत महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक हो सकता है तब भी केवल आर्थिक आधारो पर ही कोई समस्या हल नही की जा सकती क्योकि वह राजनीतिक तथा शील के विचारो में भी ग्रस्त हो सकती है। **"अर्थशास्त्र के सिद्धांत में ऐसे निश्चित निष्कर्ष प्राप्त नहीं है जिनका नीति के लिए तत्काल प्रयोग हो सकता हो। यह एक रीति नहीं वरन् एक सिद्धांत है, मस्तिष्क का एक यन्त्र तथा विचार की एक कला है जो इसके अधिकारी को सही हल प्राप्त करने में सहायता करती है।"**—कीन्स "The theory of Economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy It is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind, a technique of thinking which helps its possessor to draw correct conclusions"—(Keynes)

हम इस कथन से पूरे तौर पर सहमत नही है। कोई अर्थशास्त्री इस आदर्श का प्रतिपादन नहीं कर सकता है। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस तथा इस युग के स्वर्गीय लार्ड कीन्स स्वय ने भी अपने-अपने समय की समस्याओ में अपनी तीव्र रुचि रक्खी है। फ्रेजर के शब्दो मे **"वह अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री ही है, वह एक शोचनीय दशा वाली सुन्दर मछली के समान है।"** टगवेल के अनुसार यह अर्थशास्त्र का अधूरा विकास है जो उसको व्यावहारिक जीवन से अलग करने का उत्तरदायित्त्व रखता है। वूटन् यह असतोष प्रकट करते है कि "हम सैद्धान्तिक साधनो के गढने में अधिक समय और उनके व्यावहारिक प्रयोग करने मे कम समय व्यतीत करते हैं।" अतएव इसका अधिकाधिक

अनुभव किया जाता है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओ को अवश्य ही हल करना चाहिए। जब हम अर्थशास्त्र का अध्ययन करते है तो "हमारी प्रवृत्ति एक दार्शनिक की प्रवृत्ति अर्थात् ज्ञान के हेतु ज्ञान नहीं है वरन् ऐसा ज्ञान है जो शरीर विज्ञान-शास्त्री के व्याधिमुक्त ज्ञान के समान पीड़ाओ को दूर करने में सहायता दे।"—पीगू

"Our impulse is not the philosopher's impulse, knowledge for the sake of knowledge, but rather the physiologist's knowledge for the healing that knowledge may help to bring"—Pigou

अतएव हमारा मत यह है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओ को हल करने में सहायक होना चाहिए। वह ऐसा करने मे आर्थिक ज्ञान से रहित एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कही अच्छी स्थिति में है। अर्थशास्त्रियो से प्रतिदिन की व्यावहारिक समस्याओ पर सहायता ली जाती है। पीगू के शब्दो मे "अर्थशास्त्र का मूल्य न तो बुद्धि सम्बन्धी व्यायाम होने मे है और न अपने लिये सच्चाई स्थापित करने के साधन में, परन्तु नीति-शास्त्र की दासी तथा व्यवहार का एक दास होने में है।"

"Economics is chiefly valuable neither as an intellectual gymnastic, nor as a means of winning truth for its own sake, but as a hand maid of Ethics and a servant of practice."

क्या यह वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान ? (It is a Positive or a Normative Science ?)—हम अब यह विचार करेगे कि अर्थशास्त्र शील का निर्णय कर सकता है या सिर्फ वस्तुओ का 'कारण' स्पष्ट कर सकता है। अंग्रेजी प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (English Classical School) के मतानुसार अर्थशास्त्री का आर्थिक स्थिति की सत्यता या असत्यता की व्याख्या करने का कोई कार्य नही था। सीनियर का विचार था कि अर्थशास्त्री सलाह का एक शब्द भी नही जोड सकता। कैरनेस के अनुसार राजनीतिक अर्थशास्त्र साध्यो के सम्बन्ध मे पूर्णतया इस प्रकार तटस्थ था जैसे शिल्पकार रेलो के निर्माण की नाना योजनाओ मे निष्पक्ष रहते है। हाल ही मे रॉबिन्स ने इस तटस्थता को फिर से पुष्ट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध 'साध्यो' (ends) के उचित तथा अनुचित होने से नही है। "अर्थशास्त्री का कार्य अधिकाधिक रूप में एक ऐसे विशेषज्ञ जैसा दिखाई देता है जो यह बता सके कि अमुक कार्यों से कैसे नतीजे निकलने वाले है, किन्तु अर्थशास्त्री के नाते वह उन कार्यों की वाछनीयता के बारे में निर्णय नही दे सकता।" यह कहा जाता है कि **अर्थशास्त्री का कार्य खोज करना और व्याख्या करना है न कि समर्थन करना तथा निन्दा करना।** हमारे विचार मे यह उचित मत नही है।

हम हाट्रे से सहमत है कि अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र से पृथक् नही किया जा सकता है। आर्थिक यथार्थता" (economic ought) पर भी विचार करना पडता है। उदाहरणार्थ धन के अनुचित वितरण के कारणो का विश्लेषण करके अर्थशास्त्री यह कहने

में क्यो सकोच करें कि इसका उचित रूप से वितरण होना चाहिए ? "अतएव मनोविज्ञान से रहित अर्थशास्त्र को अवश्य ही या तो एक दिखावटी कल्पना या स्पष्ट रूप से अवैज्ञानिक शास्त्र समझना चाहिए। यह हैमलेट का ड्रामा बिना हैमलेट के है।"[1] अतएव अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान दोनो है। हम रॉबिन्स के इस कथन से सहमत नही हैं कि वास्तविक अर्थशास्त्र और आदर्श अर्थशास्त्र में इतना अधिक अन्तर है कि मनुष्य की कोई उक्ति उसकी पूर्ति नही कर सकती। जब साध्य भी दिये हुए हो तो अर्थशास्त्र उन साधनो पर निर्णय कर सकता है जो उन साध्यो की प्राप्ति के लिये प्रयोग में लाये जाने चाहिए।

कैरनक्रास (Cairncross) ने इस अवस्था को भलीभाति एकत्र किया है "अर्थशास्त्री अपने विश्लेषण में नीतिशास्त्र के महीन सूत्र (जिसमें प्राय विरोधी मत अन्तर्गत हैं) का विश्लेषण करने में चाहे जितने अनिच्छुक हो, वे वह मार्गप्रदर्शन, जो उनके लिए इतना आवश्यक है, नही कर सकते जब तक वे ऐसा न करें। वे यह व्याख्या कर सकते हैं कि आर्थिक पद्धति, अर्थशास्त्र विज्ञान को उसके दूषित कपडो पर बिना दर्शनशास्त्र का जामा पहनाए हुए, कैसे कार्य कर सकती है। परन्तु वे यह नही कह सकते कि यह पद्धति किस प्रकार और भलीभाति कार्य कर सकती है। वे प्रकाश दे सकते हैं परन्तु व्यावहारिक लाभ नही, परन्तु बहुत से लोग अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक लाभ ही के लिए करते हैं। जैसे अर्थशास्त्री सलाह देने का साहस करता है, जैसा कि उससे आशा की जाती है, वैसे ही वह भेडिये के रूप में भेड का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् अर्थशास्त्री दर्शनशास्त्री में परिवर्तित हो जाता है। यदि उसके नतीजो को आकर्षण तथा सम्मान प्राप्त करना है तो उसे यह निर्धारित कार्य सचेत रूप से करना चाहिए न कि भेड के सदृश धोखे का जामा पहन कर।"[2]

साध्य और साधन (Ends and Means)—यह उल्लेख किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध साधनो से है और साध्य उसके क्षेत्र से बाहर हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि साध्यो या उद्देश्यो के स्थिर करने में अर्थशास्त्र का कोई हाथ नही है। यह निश्चित करना सरकार अथवा व्यक्तियो का कार्य है कि वे क्या पाना चाहते हैं अथवा क्या करना चाहते हैं। जब वे यह निश्चित कर लेते हैं तब अर्थशास्त्री यह अनुमति देते हैं कि स्रोतो के कम-से-कम खर्च से उन साध्यो को कैसे भलीभाति प्राप्त किया जा सकता है। अर्थशास्त्री केवल विशिष्ट साध्यो की पूर्ति के लिए साधनो के न्यूनतम उपयोग का समर्थन करते हैं। अर्थशास्त्र साध्यो का सापेक्ष मूल्य निर्णय (valuation) के परिमाणो में दिये गये रूप में लेता है। यह केवल इन साध्यो की पूर्ति के लिए साधनो के उपयोग की व्याख्या कर सकता है। इस विचार से साध्य इसके क्षेत्र से बाहर हैं।

अतएव यह नतीजा निकलता है कि अर्थशास्त्री पर साध्यो के स्वरूप की कोई जिम्मेदारी नही है। साध्य चाहे श्रेष्ठ अथवा अप्रतिष्ठित हो, अर्थशास्त्री उनमे सम्बन्ध नही

---

1 Wolfe in Tugwell's Trends of Economics, (1935), p 466

2 Cairncross, A.—Introduction to Economics, (1944), p 9

रखता। अतएव आर्थिक साध्य (economic ends) जैसी कोई वस्तु नही है। "जहा तक दुर्लभ साधनो पर किसी साध्य की प्राप्ति आश्रित है वह अर्थशास्त्री की धारणाओं को आकर्षित करने के लिए युक्त है।"[1] तव भी हमने पिछले परिच्छेद मे यह स्पष्ट कर दिया कि अर्थशास्त्री नीति निर्णय को पूरी तौर पर नही छोड सकता।

यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र की चर्चा हमे अनेक विवादास्पद प्रश्नो को, जिनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र विज्ञान के स्वरूप से है, यह कहकर, हल करना पडता है कि यह क्या है और क्या नही, यह क्या करता है और क्या नही करता।

६ अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध (Relation of Economics to other Sciences)—अर्थशास्त्र के स्वरूप का अध्ययन करके अव हम इसके अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध पर विचार कर सकते हैं। मानव स्वभाव एक समान है। मनुष्यो की समस्याओ का आर्थिक दृष्टिकोण दूसरे—कानून-सम्बन्धी, राजनीतिक इत्यादि—दृष्टिकोणो से जुदा नही किया जा सकता। अतएव अर्थशास्त्र का उन अन्य विज्ञानो से गहरा सम्बन्ध है। यह प्रत्येक विज्ञान मुख्यत इतिहास, गणित, सांख्यिकी (statistics), भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि से बहुधा सहायता लेता है। तव भी अर्थशास्त्र न तो भौतिक विज्ञानो के नियमो को निश्चित करने का और न उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। यह उनका प्रयोग केवल अपने विवेक के आधारो के लिए करता है। अर्थशास्त्र में मनोविज्ञान का अधिक उपयोग हुआ है। वरण के सिद्धान्त (law of choice) का, जो अर्थशास्त्र का अधिक मूल सिद्धात है, एक मनोवैज्ञानिक आधार है। मिल (Mill) की व्याख्या के अनुसार राजनीतिक अर्थशास्त्र "एक शीलाचार सम्बन्धी अथवा मनोवैज्ञानिक विज्ञान है।" जैवन्स ने इसको और अधिक मनोवैज्ञानिक वना दिया है। उनके लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, "उपयोगिता तथा आत्महित की रचना" और "केवल सुख और दुख की गणना के आधार" है।

वास्तव में अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानो से गहरा सम्बन्ध है। काम्टे जैसे दार्शनिक अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र के अधीन मानेंगे और इसे उसका एक अग समझेगे। परन्तु समाजशास्त्र का विकास होना अभी वाकी है जवकि अर्थशास्त्र उन्नत अवस्था पर पहुँच गया है। इसलिए इसका जुदा अध्ययन हो सकता है। यह विशेषीकरण वैज्ञानिक पूर्णता के लिए अत्यधिक सहायक है, यद्यपि इस को पूरे तौर से स्वतत्र विज्ञान मानना अनुचित है। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र को पूरी तौर से जुदा करने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का गहरा सम्वन्ध है क्योकि समस्त आर्थिक चेष्टाएँ नैतिक विचारो से अवश्य ही प्रभावित होनी चाहिए। उत्पादन तथा वितरण की चर्चा करने मे हमें नैतिक विचार सदैव ध्यान में रखना चाहिए। आर्थिक चेष्टाओ का सचालन आचार के क्षेत्र में होना चाहिए। प्राचीन अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र के अधीन मानते थे। वह केवल "नीतिशास्त्र की दासी ही नही थी वरन् उसके इस पुष्ट

1 Robbins—Nature and Significance of Economic Science, p 24



तथा समृद्धिशाली सहविज्ञान ने उसे कुचलकर नष्ट कर दिया।"

हम अर्थशास्त्र पर नीतिशास्त्र के प्रभाव की पहले ही चर्चा कर चुके है। तब हमने यह विचार किया था कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान। (देखिए विभाग ५)। नीतिशास्त्र मान्यताओ (values) का अध्ययन है, यह उन साध्यो के उचित तथा अनुचित होने का विवेचन करती है जिनकी प्राप्ति के लिए दुर्लभ साधनो का बटवारा किया जाता है। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्री इस मत के है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उचित-अनुचित अथवा अच्छे-बुरे के प्रश्न से नही है। ऐसा करना एक दार्शनिक का काम है। अधिकतर एक अर्थशास्त्री यह कह सकता है कि कुछ स्रोतो का उपयोग लक्ष्य के अनुसार उचित नही है।

अर्थशास्त्र को न्यायशास्त्र अथवा विधि विज्ञान का सहारा लेना चाहिए। आर्थिक क्रियाओ का सचालन कानूनी ढाचे के अन्दर होना चाहिए। अर्थशास्त्री गैरकानूनी कामो का, वे चाहे कितने भी आकर्षक क्यो न हो, समर्थन नही कर सकता। कानून-व्यवस्था हमारी आर्थिक क्रियाओ को सीमित तथा निर्धारित करती है।

अर्थशास्त्र और इतिहास का भी एक दूसरे से गहरा सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र साध्यो और साधनो के सम्बन्ध में तथा उनके अन्तर्गत अनेक तात्पर्यों का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र का इतिहास समय-समय पर इन सम्बन्धो के रूप का अध्ययन करता है। आर्थिक इतिहास एक पृष्ठभूमि बनाता है जिसके सम्मुख आर्थिक सिद्धान्त तथा समस्याओ का भली-भाति अध्ययन किया जा सकता है। इतिहास के द्वारा हम पुराने सिद्धान्तो की पुष्टि तथा खडन और नये सिद्धान्तो की खोज कर सकते है। सोने की खानो की खोज से मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त (quantity theory of money) और प्लेग की घटना ने श्रम की माग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को पुष्ट कर दिया। इसी प्रकार इतिहास व्यापार-चक्र (trade cycles) के सिद्धान्तो के बनाने में अत्यन्त सहायक हुआ है।

परन्तु जब कि अर्थशास्त्र इतिहास का ऋणी है आर्थिक सिद्धान्त का ज्ञान भी इतिहास-कारो के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में वह इतिहास जो आर्थिक दशाओ का विश्लेपण त्याग देता है, यदि भ्रम उत्पादक नही तो अधूरा तो है ही। यह कथन सत्य है कि—

"Economics without History has no root,
History without Economics has no fruit."

अर्थात् बिना इतिहास के अर्थशास्त्र जडरहित है और इतिहास बिना अर्थशास्त्र के फलहीन है।

सब विज्ञानो में अर्थशास्त्र का राजनीति-शास्त्र से सबसे गहरा सम्बन्ध है। यह अब अधिकाधिक माना जाता है कि अर्थशास्त्र अधिक-से-अधिक राजनीतिक अर्थशास्त्र होता जा रहा है। इसका अर्थ है कि यह राजनीति-शास्त्र से मिश्रित होता जा रहा है। राजनेता के लिए आर्थिक विचारो का बडा महत्त्व है। एक राजनीतिज्ञ को राजनीतिक नीति ग्रहण करने से पूर्व आर्थिक व्यवस्था तथा मस्याओ का विचार अवश्य करना चाहिए। राजनीतिक नीतियो को निश्चित करने में आर्थिक विचार मुख्य है।

इसी प्रकार राजनीतिक हालात और सस्थाए एक देश के आर्थिक हालातो पर गहरा प्रभाव डालती है। इस बात को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता कि भारतवर्ष में आर्थिक विकास पर राजनीतिक कारणो का प्रभाव पडा है। राजनीति-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र एक-दूसरे पर अपना-अपना प्रभाव डालते है।

सभी प्रचलित राजनीतिक समस्याओ का स्वरूप मुख्यत आर्थिक है। मडियो तथा माल के प्रति उत्कट प्रयत्नो के कारण आधुनिक काल मे समस्त युद्ध हुए है। हमारे देश की साम्प्रदायिक समस्या वास्तव में एक आर्थिक समस्या रही है। यह सम्प्रदाय के आर्थिक हितो को बढाने की इच्छा से उत्पन्न होती है। सरकारो को सलाह देने के लिए आर्थिक सलाहकार परिषदो (Economic Advisory Councils) अथवा "ब्रेन ट्रस्ट" की स्थापना यह स्पष्ट करती है कि अर्थशास्त्र राजनीति-शास्त्र का दास होता जा रहा है। इसी कारण यह कहा जाता है कि अर्थशास्त्र अधिकाधिक राजनीतिक-अर्थशास्त्र होता जा रहा है।

अर्थशास्त्र तथा गणित की सीमा पर एक नया विज्ञान साख्यिकी (statistics) है। अर्थशास्त्र साख्यिकी का, जिसको तथ्यो तथा अको का शास्त्र कहते है अधिकाधिक उपयोग कर रहा है। कोई भी आर्थिक चर्चा पूर्ण नही होनी जब तक कि उसको सबन्धित अको का सहारा न मिले। तथा कोई भी आर्थिक समस्या का हल सतोषजनक नही हो सकता जब तक कि सम्बन्धित सही तथा अद्यावधिक (up-to date) अक प्राप्त न हो। उदाहरणार्थ भारत की खाद्य समस्या। बिना सही अको को सामने रखे कोई भी आर्थिक नीति अपनाना केवल अधेरे में छलाग लगाना मात्र होगा।

अक आर्थिक सिद्धातो को दृढ कर सकते है अथवा उनकी फिर से परीक्षा के लिए मजबूर कर सकते है यदि वे तथ्य अथवा अको के विपरीत है। ऐसा भी हो सकता है कि अको की सूचना अपूर्ण अथवा अशुद्ध हो यदि वह एक स्थापित सिद्धान्त की पुष्टि न करे। इस प्रकार साख्यिकी अर्थशास्त्र सिद्धान्त बनाने वालो के लिए अमूल्य है।

जैसा कि कोलिन क्लार्क (Colin Clark) का कहना है कि "तमाम किताबो तथा लेखो में आधुनिक पेचीदा आर्थिक समस्याओ को बिना तथ्यो की ओर सकेत किये हुए व्याख्या करना, यदि दुखद नही तो, हसने के योग्य अवश्य होगा।" फिर "अर्थशास्त्र विज्ञान के विकास में सिद्धान्त का एक बहुत बडा महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। परन्तु सिद्धान्त को तथ्यो का आदर करना चाहिये न कि उल्लघन।"[1]

७. अर्थशास्त्र के नियम (Law of Economics)—अन्य विज्ञानो की भाति अर्थशास्त्र मे उसके भी कुछ साधारण सिद्धान्त है जो अर्थशास्त्र के नियम कहलाते है। उन नियमो से यह आशा की जाती है कि वे समस्त आर्थिक चेष्टाओ की व्याख्या तथा उनका सचालन करेंगे। मार्शल के शब्दो मे आर्थिक नियमो की परिभाषा इस प्रकार है—

"आर्थिक नियम या आर्थिक प्रवृत्तियो के विवरण आचरण की उन शाखाओ से संबंधित सामाजिक नियमो को कहते है जिनमें मोटे तौर पर सम्बन्धित मनोवृत्तियो की शक्ति मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।" "Economic laws or statements

1. Quoted by Stigler in his *Theory of Price*, (1947), p. 18.

of economic tendencies are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by money price." रॉबिन्स की आर्थिक क्रियाओ की परिभाषा के अनुसार हम यह कह सकते है कि आर्थिक नियम एकरूपता के कथन है जो उस मानव व्यवहार का सचालन करते है जो असीमित साध्यो की पूर्ति के प्रति सीमित स्रोतो की उपयोगिता से सम्बद्ध है। सक्षेप में ये वे सिद्धान्त है जिनके अनुसार हम दैनिक जीवन में काम करते है।

किन्तु इन नियमो का क्या स्वरूप है? वे कैसे है? क्या वे सरकारी कानूनो अथवा शीलाचार के नियमो या प्राकृतिक विज्ञान के नियमो के समान है? सरकार के कानून बल द्वारा वाध्य है, उनका उल्लघन करने से दण्ड मिलता है। शीलाचार के नियम इतने अनिवार्य नही है, वे केवल यह स्पष्ट करते है कि हम किस प्रकार जनमत की अथवा अपनी आत्मा की सतुष्टि के लिये कार्य करें। प्राकृतिक विज्ञान के नियम निश्चित रूप से वर्णित किये जाते है और व्यापक है। आर्थिक नियम इन सबसे जुदा है। आर्थिक नियमो का स्वरूप न तो "अवश्य" शब्द से जैसा कि परिनियमो (statute laws) के सम्बन्ध में है और न 'उचित' शब्द से जैसा कि शीलाचार के नियमो के सम्बन्ध में है, स्पष्ट होता है, परन्तु उनका स्वरूप "अन्य बातें समान रहें" (Other things being equal) वाक्यखड से स्पष्ट होता है।

कुछ आर्थिक नियम स्वय में स्वयसिद्ध है, उदाहरणार्थ अधिक लाभ को कम लाभ से श्रेष्ठ समझा जाता है। कुछ अन्य ऐसे आर्थिक नियम है जिनका स्वभाव भौतिक नियमो जैसा है उदाहरणार्थ घटती हुई उपज का नियम (Law of Diminishing Returns) परन्तु अधिकतर आर्थिक नियम कल्पित (hypothetical) होते है। वे कुछ ही हालतो मे ठीक होते है। अमुक परिस्थितियो में अमुक परिणाम होगे। अर्थशास्त्र की सामग्री जटिल और अस्थिर है। रीतियो के कारण अनेक आर्थिक सघर्ष उत्पन्न हो जाते है। सामाजिक त्रुटिया तथा कानूनी बाधाएँ आर्थिक नियम के कार्य मे बाधा डालती है। इनमें मानवीय अग का भी बहुतायत है। इन्ही कारणो से आर्थिक नियम अनिश्चित है। इनमें निश्चितता तथा यथार्थता इतनी नही है जितनी भौतिक विज्ञान जैसे विज्ञानो के नियमो में है। यही कारण है कि मार्शल ने **आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण (Law of gravitation) जैसे साधारण नियमो को अपेक्षा ज्वारभाटा (Law of tides) के नियमों से की है।**

तो भी, यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र के नियम किसी अन्य सामाजिक शास्त्र से अधिक ठीक है क्योकि आर्थिक घटनाओ का द्रव्य द्वारा माप किया जा सकता है। किसी अन्य सामाजिक शास्त्र में ऐसा कोई द्रव्य का मापदण्ड नही है।

यदि प्रारम्भिक कल्पनाओ (assumptions) की पूर्ति हो जाए तो आर्थिक नियम अनिवार्य तथा अटल है। परन्तु इन कल्पनाओ की सदा पूर्ति नही होती। अतएव आर्थिक नियम भविष्य नही बता सकते। "ऐसा कोई सरल मापदण्ड नहीं है जिससे व्यवसाय के कार्यों के प्रवाह को मापा जा सके, क्योकि ये भय की उमगो अथवा भूडोल जैसे

अनिश्चित आश्चर्यजनक आशावाद के अधीन है।"[1]

अतएव हम यह नही कह सकते कि आगे क्या होगा क्योकि यह अनक स्थितियो की पूर्ति पर निर्भर है। हम केवल यह कह सकते है कि क्या हो सकने की सम्भावना है। अतएव अर्थशास्त्र के नियम केवल प्रवृत्तियो का अथवा सारूयकीय अनुमानो का विवरण है।

आर्थिक नियमो के प्रयोग मे एक प्रतिवाद है। प्रतिष्ठित (classical) अर्थशास्त्रियो का मत था कि आर्थिक नियम विना किसी अर्हता के अचल, अनन्त, दृढ और विना किसी अडचन के सव जगह लागू है। ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) ने दूसरी ओर इनके सापेक्षवाद को महत्त्व दिया और आग्रह किया कि एक निश्चित वातावरण मे ही इनका प्रयोग सीमित है। उदाहरणार्थ वेगहाट ने यह घोषित किया कि इगलैड में प्रतिपादन किये हुए आर्थिक नियम "स्पर्धी वाणिज्य के उन्नत समाज" मे लागू किये जा सकते थे।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि जहा तक आर्थिक नियम मनुष्य के वास्तविक स्वभाव पर आधारित है वे लगभग सव सम्प्रदायो के अनुकूल है। लेकिन वास्तविक आर्थिक नीतियो के वनाने मे स्थिर स्थानीय स्थितियो का भी ध्यान रखना चाहिए। इसमे कौन सदेह कर सकता है कि ग्रेशम का नियम (Gresham's Law), मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त (Quantity Theory of Money), घटती हुई उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Utility), वरण का नियम (Law of Choice) और दूसरे अनेक आर्थिक नियम सामाजिक और आर्थिक स्थितियो पर आश्रित नही है। जव ऐमी परिस्थितिया जिनमे वे ठीक है, दी होती है, तो उनसे निकलने वाले परिणाम अटल होते है। "यदि यह सामग्री जिसे वे उपधारण (postulate) करते है, मौजूद हो, तो उनके द्वारा वताये गए परिणाम वैसे ही निकलेगे।"[2] यह कहना अनुचित है कि आर्थिक नियम इतिहास के सापेक्ष (historico-relative) है और कुछ ऐतिहासिक स्थितियो के वाहर उनका कोई महत्त्व नही है। वास्तव मे वे मनुष्य के अत्यन्त विस्तृत अनुभव पर आधारित है और सब जगह लागू है।

८ आर्थिक धारणाए (Economic Assumptions)—यह तो हम देख ही चुके है कि आर्थिक नियम 'अन्य वातें समान रहें' वाक्यखण्ड से स्पष्ट होती है। इसका अर्थ यह है कि, आर्थिक घटनाओ के विवेचन के समय हम कुछ वातें आधारभूत मान लेते है। आर्थिक विवेचन के अन्तर्गत आनेवाली विभिन्न धारणाएँ इस प्रकार है—

इन धारणाओ की तीन मुख्य किस्में है पहले वर्ग मे का सम्वन्ध व्यक्ति का व्यवहार से है अर्थात्, उपभोक्ता (consumers), उत्पादक (producers), श्रमिक (workers) आदि। उदाहरण के लिए, हम यह मान लेते है कि उपभोक्ता समझ-बूझ से काम लेते है। आर्थिक मजदूरी के लिए मजदूरो मे गतिशीलता (mobility)

---

1 Moore and others—Modern Economics, (1940), p 3

2 Robbins, L—Nature and Significance of Economic Science, (1945), p 121

है तथा उद्यमी अधिकतम लाभ चाहता है। वास्तव मे स्थिति ऐसी नही है। लेकिन, इन बातो को सरल बनाने के लिए इन सब बातो को मानना (assume) पडता है। दूसरे वर्ग का सम्बन्ध सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सस्थाओ से है।

उदाहरण के लिए, हम निजी सम्पत्ति तथा समाज के पूजीवादी क्रम को मानते है। हम विधि और व्यवस्था तथा स्थायी राजनीतिक पद्धति को मानते है। मडियो के स्थायित्व को भी माना जाता है। अन्त में, धारणाओ का एक ऐसा वर्ग भी है जिसका सम्बन्ध भूगोल तथा जीवशास्त्र से है। हमें अपने परिणामो को भौतिक अयवा जलवायु की सम्भावनाओ पर आधारित करना होता है। इन सब धारणाओ में सब से मूल यह है कि माल दुर्लभ है।

९ क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है ? (Is Economics a Science ?)–वूटन का कथन है कि "जहा कही छ अर्थशास्त्री इकट्ठे होते है वहा सात मत होते ह।"[1] अर्थशास्त्रियो में इतनी मात्रा में मतभेद होने से अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने में आपत्ति की गयी है। वूटन फिर कहते हं "अर्थशास्त्रियो ही पर छली होने का सदेह किया जाता है और वे अपने लिए सम्मानित पदविया स्वय ही नही ग्रहण कर सकते सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियो का अपने अध्ययन को बहुधा विज्ञान शब्द से पुकारना भ्रम पूर्ण है।" फिर "अर्थशास्त्र के उत्साही विद्यार्थी को समय-समय पर यह याद रखना चाहिए कि सब माग तथा पूर्ति की अनुसूची (demand and supply schedules), लागत वक्र (cost curves) अथवा तटस्थता वक्र (indifference curves) जो उसकी पाठ्यपुस्तको को इतना गहन रूप देते है, कोई भी (कुछ को छोडकर) किसी तथ्य पर आधारित नही ह। पाठक को एक ऐसी भविष्यवाणी पाने के लिए, जो उन घटनाओ की प्रगति के प्रभुत्वशाली मत के प्रभाव से दृढ की गई है और जिसका पूर्वज्ञान किसी साकार ऐतिहासिक अवस्था में किया जा सकता है, विश्लेषक अर्थशास्त्रियो के साहित्य में अधिक छानवीन करनी पडेगी।"[2] फिर अर्थशास्त्र को विज्ञान कैसे कहा जा सकता है ?

फिर यह कहा जाता है कि आर्थिक घटनाए अत्यन्त जटिल, बहुरूपी तथा अस्थिर ह क्योकि मनुष्य में इच्छा की स्वतन्त्रता है। एक विज्ञान को इतने क्षीण आधार पर निर्धारित करना न केवल कठिन है वरन् असम्भव है। अतएव अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक रूप पूर्णतया नष्ट किया गया प्रतीत होता है। परन्तु यह ऐसा नही है।

अमुक ज्ञान की शाखा को हम विज्ञान कहें अथवा नही यह इस बात पर निर्भर है कि हम विज्ञान किसे मानते है। यदि हम विज्ञान से यह आशा करते है कि वह ऐसे सिद्धातो को रूप देगा जो प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक समय में लागू हो या वह भविष्य की घटनाओ को घोषित करेगा, तब तो, वास्तव में अर्थशास्त्र एक विज्ञान नही है। परन्तु विज्ञान में होने वाली यह आवश्यक बातें विज्ञान की परिभाषा के आधुनिक मत के अनुकूल नही है। विज्ञान से हमारा अभिप्राय ज्ञान के एक क्रमबद्ध रूप (systematized body of knowledge) से है। यह केवल तथ्यो का सचय नही है। परन्तु तथ्य इस प्रकार

---

1 Wootton—Lament for Economics, (1938), p 14

2 *Ibid*, pp 112—18

क्रमबद्ध है कि वे स्वय ही स्पष्ट है। जब नियम बना दिये जाते है तो ज्ञान की एक शाखा विज्ञान हो जाती है। प्वाइनकेयर (Poincare) के शब्दो मे, "विज्ञान तथ्यो से इस प्रकार बना है जिस प्रकार पत्थरो से एक मकान बनाया जाता है। परन्तु केवल तथ्यो का एकीकरण इस प्रकार विज्ञान नही कहा जा सकता जैसे पत्थरो के ढेर को मकान नही कह सकते।

इस प्रमाण के अनुसार अर्थशास्त्र अवश्य ही एक विज्ञान है। अर्थशास्त्री ने पहले तो तथ्यो को जमा किया है। फिर तथ्यो का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया है तथा उनका उचित वर्गीकरण किया है और तब इन तथ्यो को निश्चित करने वाले साधारण सिद्धान्तो की खोज तथा उसका वर्णन किया है। अर्थशास्त्र विज्ञान बनाने के लिए इससे अधिक क्या आवश्यकता हो सकती है?

यह अब पूरी तौर से मान लिया गया है कि अर्थशास्त्र एक परिपूर्ण विज्ञान है। वास्तव में यह दूसरे विज्ञानो से किसी भी प्रकार कम नही है। "आर्थिक नियम दूसरे विज्ञानो के नियमो से समता रखते है।"[1]

परन्तु अर्थशास्त्र के वास्तविक रूप को समझना आवश्यक है। अर्थशास्त्र का विरोधाभास यह है कि एक विज्ञान होते हुए भी यह भौतिक तथा रसायन-शास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञान की भाति घटनाओ की भविष्यवाणी नही कर सकता। व्यक्ति में इच्छा की स्वतन्त्रता है। अतएव मानव-व्यवहार मे भविष्यवाणी करना असम्भव है। डरबिन (Durbin) के कथनानुसार "निश्चितता हमसे जुदा रहेगी और भविष्यवाणी गलत हो जायगी—जिस प्रकार मनुष्य अनुभव से सीख सकते है उसी प्रकार वे अर्थशास्त्र से भी सीख सकते है। इस प्रकार विषय अपनी ही खोज से अपने परिणामो की काट करता है।"[2] इस प्रकार अर्थशास्त्र "निरन्तर बदलने वाले सिद्धातो" को प्रस्तुत करता है।

१०. क्या अर्थशास्त्र कला भी है? (Is Economics also an art?)–यह निश्चित हो चुका है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। परन्तु क्या इसे कला भी माना जा सकता है? अग्रेज अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि अर्थशास्त्र सिर्फ विज्ञान है और कला नही। "विज्ञान का रूप, जिसके विकास करने का अर्थशास्त्री प्रयास करेगा, कला के आधार के अनुकूल होना चाहिये। वास्तव मे यह स्वय कला न होगा। यह एक शुद्ध तथा व्यावहारिक विज्ञान है, न कि विज्ञान तथा कला।" —मार्शल "The type of Science that the economist will endeavour to develop must be one adopted to form the basis of an art It will not indeed itself be an art. It is a science pure and applied, rather than a science and an art" (Marshall)

इस मनोवृत्ति को प्रस्तुत करने का एकमात्र तर्क यही है कि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र

---

1. Robbins, Op Cit., p. 104

2 Economics, Man and His Material Resources (New Education Library) pp 333-34

वैज्ञानिक पूर्णता की एक मात्रा केवल इसी एक विधि से प्राप्त कर सकता है। इसको एक कला बनाने के असम्बद्ध विचार उसके कार्य मे बाधा डालेगे और उसको बिलकुल अपूर्ण कला बना देंगे। अर्थशास्त्र का कार्य केवल खोज तथा व्याख्या करना है और विशेष लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए सूत्र तथा धारणाए प्रस्तुत करना नही।

फिर भी हम इस मत से सहमत नही है। प्रत्येक "कला" का सैद्धान्तिक अथवा वैज्ञानिक पक्ष है और इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान मे "कला" अथवा उसका व्यावहारिक पक्ष है। हमारे मतानसार अर्थशास्त्र मे "कला" का भाग अधिक महत्त्व रखता है। यदि अर्थशास्त्र एक निराकार विज्ञान हो जाये, जैसा कि अधिकाधिक हो रहा है, तो साधारण जनता के लिए यह अधिक गूढ हो जायेगा। वह अपनी व्यावहारिक उपयोगिता से अलग हो जायेगा। हमारे अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो प्रकाश डालने वाला तथा फलदायक भी है। वे भी, जो इसे शुद्ध विज्ञान मानते है, व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) जैसी शाखा को स्थान देते है।

११ अर्थशास्त्र-विज्ञान की रीतियाँ (Methods of Economic Science)—अर्थशास्त्र के विज्ञान माने जाने का एक कारण यह है कि दूसरे विज्ञानो की भाति यह वैज्ञानिक रीतियो का उपयोग करता है। अब हमें यह देखना चाहिए कि यह रीतिया क्या है ?

प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियो न, जिन्होने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बनाया, अर्थशास्त्र को कुछ थोडे से साधारण सामान्य अनुमानो से विज्ञान निर्माण करने का प्रयत्न किया। जो रीति उन्होने प्रयोग की उसे **निगमन, विश्लेषक, निराकार अथवा कारण से कार्य के तर्क की रीति** कहते है। उनमें से सीनियर, मिल, कैरनेस तथा मुख्यत रिकार्डो के नाम उल्लेखनीय है। इस रीति के समर्थक मानवीय स्वभाव के कुछ निर्विवाद तथ्यो से शुरू करते है और साकार व्यक्तिगत स्थितियो के विषय में अनुमान निकालते है, उदाहरणार्थ, वे विश्वास करते है कि केवल निजी स्वार्थ ही मनुष्य के दैनिक जीवन का मार्गदर्शक है और वे अनेक मानवीय व्यवहारो की निजी स्वार्थ के रूप मे व्याख्या करते है तथा उनकी भविष्यवाणी करने का प्रयत्न करते है—जो स्पष्ट रूप से अनुचित है।

यदि धारणाए ठीक हो तो इस रीति की श्रेष्ठता यह है कि वह सरल, प्रभावशाली तथा निश्चित होगी। वास्तव में यह "यदि" बडा महत्त्वपूर्ण है। बहुधा यह धारणाए असत्य या थोडी मात्रा मे सत्य होती है। यह अर्थशास्त्र विज्ञान को सिद्धान्तवादी (dogmatic) बना देता है क्योकि वे अपने अन्तर्गत अपने पूर्ववाक्य (premise) में कोई त्रुटि नही मानते। जब अपूर्ण अथवा गलत धारणाओ पर आधारित सामान्य अनुमान सर्वत्र ठीक समझे जाते ह और इन सामान्य अनमानो के आधार पर देश की व्यावहारिक रीतियो की व्यवस्था करने का प्रयास किया जाता है, निगमन रीति विशेषकर हानिकारक सिद्ध होती है।

ऐतिहासिक स्कूल (Historical School) इस मनोवृत्ति के विरुद्ध है। यह विरोध विशेषकर जर्मनी मे अनुभव किया गया था और इसे रासचर (Roscher), हिल्डब्रैंड (Hildebrand) तथा फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) जैसे

अर्थशास्त्रियो ने प्रस्तुत किया था। इस नये आन्दोलन के अनुयायी इग्लैंड में क्लिफ लैसले (Cliffe Leslie) जैसे भी थे। उन्होने एक रीति का समर्थन किया जिसे ऐतिहासिक, आगमन (inductive) अथवा वास्तविक (realistic) रीति कहते है। यह रीति तथ्यो की जाच पर जोर देती है और तब सामान्य नियम प्रस्तुत करती है। यहा हम "विशिष्ट" से "सामान्य" की ओर जाते है जब कि निगमन रीति (deductive method) में हम "सामान्य" से "विशिष्ट" की ओर आते है।

अवलोकन तथा अनुभव आगमन अर्थशास्त्री के मुख्य शस्त्र है। इस रीति का यही गुण है कि यह यथार्यता पर निर्भर है और इसलिए एक निश्चित आधार रखती है। परन्तु अपूर्ण तथ्यो से तात्कालिक परिणाम निकाले जाने का भय है। यह हो सकता है कि कुछ मुख्य तथ्य छोड दिये गये हो और परिणाम अनुचित हो। इसके अतिरिक्त, उस विज्ञान में, जो मानवीय क्रियाओ से सम्बद्ध है, अवलोकन तथा अनुभव का वहुत ही सीमित प्रयोग होता है।

इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सचेत अनुभव (conscious exprimentation) अर्थशास्त्र विज्ञान से परे है तो भी इतिहास समय-समय पर प्रयोग में लाये गये आर्थिक साधनो के रूप में अनेक अनुभव प्रदान करता है। भारत मे विभेद सरक्षण (discriminating protection) का प्रदान करना एक महत्वपूर्ण अनुभव था। आधुनिक काल मे आगमन रीति (inductive method) का प्रयोग अत्यन्त वढा दिया गया है। प्रत्येक देश में साख्यकीय प्रकाशनो (statistical publications) की अधिकता है। "सरकारी पुस्तकें" तथ्यो तथा अको से भरी है और अर्थशास्त्री के पास अपने परिणामो को प्राप्त करने के लिए अधिक तथा विश्वसनीय सामग्री है। आधुनिक युग को आगमन युग (inductive era) कहा गया है।

फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री एक रीति पर दूसरी का निषेध करके आश्रय नही लेता। वह दोनो का प्रयोग करता है। मार्शल के प्राय दोहराये हुए शब्दो मे, "वैज्ञानिक विचारधारा के लिए आगमन तथा निगमन दोनो रीतियो की आवश्यकता होती है, जैसे चलने मे दाहिने तथा वाये दोनो पैरो की आवश्यकता होती है।" सर्वप्रथम अर्थशास्त्री निगमन विचार पर आधारित एक निश्चित कल्पना (hypothesis) से आरम्भ करता है और तब तथ्यो की कसौटी से उसकी जाच करता है और तब कल्पना सिद्धान्त के क्षेत्र तक उठा दी जाती है। सिद्धान्त के नियम मे परिवर्तित होने से पूर्व उपस्थित दशा के आधार पर और जाच करनी पडती है। इस प्रकार एरिक राल (Eric Rall) के अनुसार "निगमन तथा आगमन का अन्तर-प्रवेश" "interpenetration of deduction and induction" होता है।

इस प्रकार "रीति के इस प्रतिवाद का वास्तविक हल निगमन अथवा आगमन के निर्वाचन में नही वरन् निगमन तथा आगमन की स्वीकृति में है।"—वैगनर (Wagner)। अवसर विशेष पर इन दो रीतियो में से कौन-सी काम में लाई जाये, यह जाच के स्वरूप, उपलब्ध सामग्री तथा जाच की अवस्था पर निर्भर है। वास्तविक वैज्ञानिक रीति की भिन्न-भिन्न तीन अवस्थाएँ है, अर्थात् अवलोकन, कल्पना तथा तर्क (observation,

वैज्ञानिक पूर्णता की एक मात्रा केवल इसी एक विधि से प्राप्त कर सकता है। इसको एक कला बनाने के असम्बद्ध विचार उसके कार्य में बाधा डालेंगे और उसको बिलकुल अपूर्ण कला बना देंगे। अर्थशास्त्र का कार्य केवल खोज तथा व्याख्या करना है और विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सूत्र तथा धारणाए प्रस्तुत करना नही।

फिर भी हम इस मत से सहमत नही है। प्रत्येक "कला" का सैद्धान्तिक अथवा वैज्ञानिक पक्ष है और इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान मे "कला" अथवा उसका व्यावहारिक पक्ष है। हमारे मतानसार अर्थशास्त्र मे "कला" का भाग अधिक महत्त्व रखता है। यदि अर्थशास्त्र एक निराकार विज्ञान हो जाये, जैसा कि अधिकाधिक हो रहा है, तो साधारण जनता के लिए यह अधिक गूढ हो जायेगा। वह अपनी व्यावहारिक उपयोगिता से अलग हो जायेगा। हमारे अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो प्रकाश डालने वाला तथा फलदायक भी है। वे भी, जो इसे शुद्ध विज्ञान मानते हैं, व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) जैसी शाखा को स्थान देते हैं।

११ अर्थशास्त्र-विज्ञान की रीतियाँ (Methods of Economic Science)—अर्थशास्त्र के विज्ञान माने जाने का एक कारण यह है कि दूसरे विज्ञानो की भाति यह वैज्ञानिक रीतियो का उपयोग करता है। अब हमें यह देखना चाहिए कि यह रीतिया क्या है?

प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियो न, जिन्होने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बनाया, अर्थशास्त्र को कुछ थोडे से साधारण सामान्य अनुमानो से विज्ञान निर्माण करने का प्रयत्न किया। जो रीति उन्होने प्रयोग की उसे **निगमन, विश्लेषक, निराकार अथवा कारण से कार्य के तर्क की रीति** कहते हैं। उनमें से सीनियर, मिल, कैरनेस तथा मुख्यत रिकार्डो के नाम उल्लेखनीय हैं। इस रीति के समर्थक मानवीय स्वभाव के कुछ निर्विवाद तथ्यो से शुरू करते हैं और साकार व्यक्तिगत स्थितियो के विषय में अनुमान निकालते हैं, उदाहरणार्थ, वे विश्वास करते हैं कि केवल निजी स्वार्थ ही मनुष्य के दैनिक जीवन का मार्गदर्शक है और वे अनेक मानवीय व्यवहारो की निजी स्वार्थ के रूप में व्याख्या करते हैं तथा उनकी भविष्यवाणी करने का प्रयत्न करते हैं—जो स्पष्ट रूप से अनुचित है।

यदि धारणाए ठीक हो तो इस रीति की श्रेष्ठता यह है कि वह सरल, प्रभावशाली तथा निश्चित होगी। वास्तव में यह "यदि" बडा महत्त्वपूर्ण है। बहुधा यह धारणाए असत्य या थोडी मात्रा में सत्य होती हैं। यह अर्थशास्त्र विज्ञान को सिद्धान्तवादी (dogmatic) बना देता है क्योकि वे अपने अन्तर्गत अपने पूर्ववाक्य (premise) में कोई त्रुटि नहीं मानते। जब अपूर्ण अथवा गलत धारणाओ पर आधारित सामान्य अनुमान सर्वत्र ठीक समझे जाते ह और इन सामान्य अनमानो के आधार पर देश की व्यावहारिक रीतियो की व्यवस्था करने का प्रयास किया जाता है, निगमन रीति विशेषकर हानिकारक सिद्ध होती है।

ऐतिहासिक स्कूल (Historical School) इस मनोवृत्ति के विरुद्ध है। यह विरोध विशेषकर जर्मनी में अनुभव किया गया था और इसे रासचर (Roscher), हिल्डब्रैंड (Hildebrand) तथा फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) जैसे

अर्थशास्त्रियो ने प्रस्तुत किया था। इस नये आन्दोलन के अनुयायी इग्लैड मे क्लिफ लैसले (Cliffe Leslie) जैसे भी थे । उन्होने एक रीति का समर्थन किया जिसे ऐतिहासिक, आगमन (inductive) अथवा वास्तविक (realistic) रीति कहते है। यह रीति तथ्यो की जाच पर जोर देती है और तव सामान्य नियम प्रस्तुत करती है। यहा हम "विशिष्ट" से "सामान्य" की ओर जाते है जव कि निगमन रीति (deductive method) मे हम "सामान्य" से "विशिष्ट" की ओर आते है।

अवलोकन तथा अनुभव आगमन अर्थशास्त्री के मुख्य शस्त्र है। इस रीति का यही गुण है कि यह यथार्थता पर निर्भर है और इसलिए एक निश्चित आधार रखती है। परन्तु अपूर्ण तथ्यो से तात्कालिक परिणाम निकाले जाने का भय है। यह हो सकता है कि कुछ मुख्य तथ्य छोड दिये गये हो और परिणाम अनुचित हो। इसके अतिरिक्त, उस विज्ञान में, जो मानवीय क्रियाओ से सम्वद्ध है, अवलोकन तथा अनुभव का वहुत ही सीमित प्रयोग होता है।

इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सचेत अनुभव (conscious exprimentation) अर्थशास्त्र विज्ञान से परे है तो भी इतिहास समय-समय पर प्रयोग में लाये गये आर्थिक साधनो के रूप में अनेक अनुभव प्रदान करता है। भारत मे विभेद सरक्षण (discriminating protection) का प्रदान करना एक महत्त्वपूर्ण अनुभव था। आधुनिक काल मे आगमन रीति (inductive method) का प्रयोग अत्यन्त वढा दिया गया है। प्रत्येक देश में साख्यकीय प्रकाशनो (statistical publications) की अधिकता है। "सरकारी पुस्तकें" तथ्यो तथा अको से भरी है और अर्थशास्त्री के पास अपने परिणामो को प्राप्त करने के लिए अधिक तथा विश्वसनीय सामग्री है। आधुनिक युग को आगमन युग (inductive era) कहा गया है।

फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री एक रीति पर दूसरी का निषेध करके आश्रय नही लेता। वह दोनो का प्रयोग करता है। मार्शल के प्राय दोहराये हुए शब्दो मे, "वैज्ञानिक विचारधारा के लिए आगमन तथा निगमन दोनो रीतियो की आवश्यकता होती है, जैसे चलने में दाहिने तथा वायें दोनो पैरो की आवश्यकता होती है।" सर्वप्रथम अर्थशास्त्री निगमन विचार पर आधारित एक निश्चित कल्पना (hypothesis) से आरम्भ करता है और तव तथ्यो की कसौटी से उसकी जाच करता है और तव कल्पना सिद्धान्त के क्षेत्र तक उठा दी जाती है। सिद्धान्त के नियम मे परिवर्तित होने से पूर्व उपस्थित दशा के आधार पर और जाच करनी पड़ती है। इस प्रकार एरिक राल (Eric Rall) के अनुसार "निगमन तथा आगमन का अन्तर-प्रवेश" "interpenetration of deduction and induction" होता है।

इस प्रकार "रीति के इस प्रतिवाद का वास्तविक हल निगमन अथवा आगमन के निर्वाचन में नही वरन् निगमन तथा आगमन की स्वीकृति में है।"—वैगनर (Wagner)। अवसर विशेष पर इन दो रीतियो में से कौन-सी काम में लाई जाये, यह जाच के स्वरूप, उपलब्ध सामग्री तथा जाच की अवस्था पर निर्भर है। वास्तविक वैज्ञानिक रीति की भिन्न-भिन्न तीन अवस्थाएँ है, अर्थात् अवलोकन, कल्पना तथा तर्क (observation,

the use of imagination and reason) का प्रयोग और अन्त में सिद्धान्तों की पडताल।

१२ अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता (Value of the Study of Economics)—अर्थशास्त्री का यह अभिमान उचित ही होगा कि उसका विज्ञान निश्चित ही अन्य ज्ञान की शाखाओ से अधिक लाभदायक है। किसी अन्य विज्ञान में मानवीय कल्याण से इतना प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक सम्बन्ध नही होता। अर्थशास्त्री अपने नम्र भाव से मानवीय कल्याण को बढाने का भरसक प्रयत्न करता है।

अर्थशास्त्र की **ज्ञानसम्बन्धी उपयोगिता** (intellectual value) अधिक है। जो आर्थिक समस्याओ के समझने और विश्लेषण मे अपना समय व्यतीत करते हैं, उन्हें बुद्धि की तीव्रता के स्वरूप में उचित पुरस्कार मिल जाता है। मूल्य के अनेको सिद्धान्त, मजदूरी तथा व्याज आदि का अध्ययन, वैदेशिक विनिमय (foreign exchange) की गूढ समस्याओ को सुलझाना और जटिल मुद्रा तथा आर्थिक समस्याओ के समझने का प्रयत्न उत्तम मानसिक शिक्षा का अभ्यास प्रदान करते हैं। दृढ विचारो द्वारा यह जनता के विचारो का परिष्कार करता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का **सास्कृतिक महत्त्व** (cultural value) भी है। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी आर्थिक यन्त्र (economic machine) की कार्यप्रणाली की गूढ समस्याओ में प्रवेश करता है। वह समझ लेता है कि वह स्वय ही किस प्रकार बिना प्रत्यक्ष झटके के और बिना किसी कुशल सचालक के कार्य करती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विस्तृत तथा पेचीदा उत्पादन की प्रणाली में कार्यकर्त्ता है। सचयी (cumulative) परिणाम प्राप्त करने में उसका स्वय भी एक भाग है। यह उसको पारस्परिक आर्थिक आश्रित होने की शिक्षा देता है। यह उसे अभिमान, उत्तरदायित्व की चेतना और वस्तुओ की व्यवस्था का भली प्रकार मूल्याकन करने का बल देता है। यह कोई कम प्राप्ति नही है। मानसिक सुधार की किसी भी योजना में अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अश अवश्य ही रहेगा।

अर्थशास्त्र का **व्यावहारिक महत्त्व अथवा व्यवसायी उपयोगिता** भी बहुत है। राजनीतिज्ञ को अर्थशास्त्र का ज्ञान उसके सन्मुख आने वाली राजनीतिक समस्याओ को ग्रहण करने में बहुत सहायता देता है। वित्त प्रबन्धक के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। यह श्रमनेता को औद्योगिक स्थिति समझने में सहायता देता है। यह उसको पूजी (capital) के विरुद्ध श्रम की लडाई लडने में प्रभावशाली शक्ति प्रदान करता है। वह यह जान जायेगा कि कब अपनी माग पर जोर डालना चाहिये और कब शिष्टतापूर्वक झुक जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र व्यवसायी मनुष्य का सब से बडा सहायक है। वह व्यापार के सगठन के सिद्धान्तो को सीख सकता है। वह अपने व्यापार की उचित रूप से योजना बना सकता है और उत्पादन तथा क्रय-विक्रय की समस्याओ को भली भाति हल कर सकता है। इस प्रकार यह व्यापारी को प्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन द्वारा बना हुआ विस्तृत दृष्टिकोण उसको सकट के समय में लाभदायक सिद्ध होता है। वास्तव में अनेक क्रियाओ से परिपूर्ण मानवीय जीवन के किसी भी स्वरूप को सोचना कठिन है जिसमें

अर्थशास्त्र के ज्ञान का प्रवेश न हो। वूटन का कथन है कि "आप तब तक सच्चे अर्थों में किसी भी देश के निवासी नही हो सकते जब तक कि आप किसी न किसी रूप में अर्थशास्त्री नही है।"

यह देख कर कि आर्थिक विज्ञान के अनुयायी बढते जा रहे है तथा इस ओर विद्यार्थी अत्यधिक सख्या मे आकर्षित होते जा रहे है, हम डरविन के शब्दो में यह कह सकते है कि "अर्थशास्त्र आज के युग का मानसिक धर्म है।"

आर्थिक विकास की कोई भी अवस्था (stage) क्यो न हो मनुष्य के लिए आर्थिक विचार अधिक महत्त्व रखते है। रॉबिन्सन क्रूसो के सामने भी साधनो की दुर्लभता तथा आवश्यकताओ की वृद्धि की समस्याए उठी। समाजवादी राज्य (Socialist State) भी बिना अर्थशास्त्र के कुछ नही कर सकता। चाहे शान्ति हो अथवा चाहे युद्धकाल हो अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण को बढाने में एक सशक्त मित्र है।

अतएव, अर्थशास्त्र प्रत्येक दृष्टिकोण से अत्यन्त लाभदायक तथा महत्त्वपूर्ण विषय है। इसकी महत्ता अन्य विषयो की महत्ता को ढक लेती है। दूसरे विज्ञानो से प्राप्त किये हुए परिणामो को अन्त मे वाणिज्य के प्रयोगो मे लाना पडता है। यही अर्थशास्त्र की महत्ता है। अन्त मे यह आर्थिक सगठन ही है जो मनुष्य की सेवा मे अन्य विज्ञानो के परिणामो के तत्वो को एकत्रित करता है।

निर्देश पुस्तके

Marshall—Principles of Economics

Robbins—Nature and Significance of Economic Science

Keynes, J. N —Scope and Method of Political Economy

Wicksteed—Commonsense of Political Economy.

Ely and others—Outlines of Economics

Wootton—Lament for Economics

Tugwell—Trends of Economics.

Moore and others—Modern Economics

Cairncross, A —Introduction to Economics, Chapter 1.

Benham—Economics

Pigou—Economics of Welfare.

Economics, Man and his Material Resources (New Education Library) Ch XII

Indian Journal of Economics (Allahabad), Vol XX, 1939-40.

अध्याय २

आर्थिक शब्द तथा मूल धारणायें

(ECONOMIC TERMS AND BASIC CONCEPTS)

१ भूमिका (Introduction)—पहले अध्याय में हम अर्थशास्त्र के का प्राथमिक तथा तीव्र सर्वेक्षण कर चुके है। इसके पूर्व कि हम, विषय का विस्तृत न प्रारम्भ करें यह आवश्यक है कि हम कुछ उन शब्दो तथा धारणाओ का जिनका योग करेगे यथार्थ अर्थ भलीभाति समझ ले।

वस्तु' अथवा 'वस्तुओ' ('Good' or Goods') के प्रयोग का अर्थशास्त्र में विशेष ाय होता है। **कोई वस्तु जो मानवीय आवश्यकता की तृप्ति करने योग्य हो कोई कही जाती है।** वस्तुओ का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है।

(१) **निर्मूल्य माल** (Free Goods)—उदाहरणार्थ वायु, धूप आदि। ये क्रृति की निर्मूल्य देन (Free Gifts of Nature) है। ये बहुतायत में पाई है। (२) **आर्थिक माल** (Economic Goods)—ये वस्तुए दुर्लभ है। प्राप्त करने के लिए कीमत चुकानी पडती है तथा बलिदान करना पडता है। अर्थ- आर्थिक वस्तुओ से ही सम्बद्ध है क्योकि मानवीय आवश्यकताओ की सतुष्टि के दुर्लभ वस्तुओ के उपयोग से ही आर्थिक क्रिया होती है।

इस पर जोर दिया जा सकता है कि आर्थिक वस्तुओ की दुर्लभता सापेक्ष है, निरपेक्ष (is relative and not absolute), यह जरूरियातो से सम्बद्ध है। एक बहुत थोडी मात्रा में हो सकती है, किन्तु मनुष्य ने यदि इसके किसी उपयोग की नही कि तो वह दुर्लभ नही कही जावेगी। दूसरी ओर कोई अन्य वस्तु हो सकती अधिक मात्रा में हो किन्तु यदि वह मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये कम हो ह दुर्लभ समझी जावेगी।

आर्थिक वस्तुओं तथा निर्मूल्य वस्तुओं में एक अस्थायी अन्तर नहीं है। एक आज निर्मूल्य वस्तु है कल वही आर्थिक वस्तु हो सकती है अथवा वह एक स्थान र्मूल्य वस्तु हो सकती है *और दूसरे स्थान पर आर्थिक वस्तु हो सकती है।* प्राकृतिक के निकट जल एक निर्मूल्य वस्तु है परन्तु एक नगर में नही। रॉबिन्स (Robbins) ब्दो में हम यह निर्णय दे सकते है कि "वस्तुओ में उनके मनुष्य के सम्बन्ध से पृथक् लक्षण नही है जो उन्हें आर्थिक वस्तु बना सके एक विशेष वस्तु या विशेष सेवा आर्थिक वस्तु है या नही यह पूर्णतया मूल्य पर निर्भर है।"

एक देश की समृद्धि निर्मूल्य वस्तुओ की मात्रा से मापी जाय अथवा आर्थिक वस्तुओं ात्रा से ? "यह कथन विरोधाभास-सा प्रतीत होगा कि एक सम्प्रदाय धन के रूप तनी आर्थिक वस्तुए रखता है उतना ही वह कम समृद्धिशाली है" (ट्राज़िग)। यह

इसलिए है कि सम्प्रदाय का कल्याण केवल धन अर्थात् दुर्लभ अथवा आर्थिक वस्तुओ पर ही निर्भर नही है। निर्मूल्य वस्तुए मानवीय कल्याण के लिए स्वय सहायक है। यदि इस वर्ग मे अधिक वस्तुएँ हैं तो मानवीय कल्याण और विस्तारपूर्वक फैलेगा। यदि दूसरी ओर आर्थिक वस्तुओ का घेरा और विस्तृत होता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वे वस्तुएँ जो पहले विना मूल्य मिल सकती थी अव भुगतान द्वारा ही मिल सकेंगी। स्पष्ट रूप से इसका अर्थ यह है कि मानवीय कल्याण कम होगा।

२ उपयोगिता (Utility)—हमने ऊपर देखा है कि प्रत्येक 'वस्तु' अथवा माल का एक गुण है जिससे मनुष्य की आवश्यकता की सतुष्टि होती है। अर्थशास्त्र में यह आवश्यकता—सतुष्टि करने की शक्ति, उपयोगिता कहलाती है। **प्रत्येक वस्तु जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकता की संतुष्टि करती है, उपयोगिता रखती है।** उपयोगिता किसी वस्तु का प्रयोग मूल्य (value-in-use) है।

जव हम यह कहते हैं कि आम की उपयोगिता १० इकाई (units) है और एक पेस्ट्री के टुकडे की ७ इकाई तो हम केवल अपना अधिमानमाप (scale of preference) घोषित करना चाहते है और इन दो वस्तुओ के उपभोग से अपनी सतुष्टि की सापेक्ष मात्राए प्रकट करना चाहते हैं। अतएव उपयोगिता केवल एक रूढिगत प्रतिनिधित्व (conventional representation) अथवा किसी आत्मपरक (subjective) वस्तु का वस्तुपरक (objective) भाव अर्थात् अपने अधिमान (preference) की मात्रा है।

प्रत्येक वस्तु मे कुछ स्वाभाविक गुण होते है जिसके कारण वह मनुष्य की एक आवश्यकता की तृप्ति करती है। परन्तु जव हम उपयोगिता का वर्णन करते हैं तो हमारा सम्वन्ध वस्तु के इस प्रकार के आन्तरिक गुणो से नही है। दूसरी ओर हम वस्तु का एक व्यक्ति की आवश्यकता के सम्वन्ध में विचार करते है। उदाहरणार्थ एक सिगरेट मे स्वय ही में कुछ गुण होते है जिनके कारण वह एक मानवीय आवश्यकता की तृप्ति के योग्य है। परन्तु एक न पीने वाले के लिये यह वेकार है। **अतएव उपयोगिता आत्मपरक और सापेक्ष (relative) है।** आत्मपरक होने के कारण यह व्यक्ति-व्यक्ति मे भिन्न होती है। एक घोडे की उस मनुष्य के लिये जो उस पर सवार नही हो सकता और एक चित्र की उसके लिये जो उसे देख नही सकता कोई उपयोगिता नही है। एक मनुष्य जिसको न सगीत के प्रति रुचि है और न कला के प्रति प्रेम, व किसी की भी प्रशसा नही कर सकता। चैपमैन (Chapman) के शब्दो में, "वाह्य वस्तुएँ (external goods) केवल आन्तरिक वस्तुओ (internal goods) के सम्वन्ध मे ही वस्तुएँ हैं।"

उपयोगिता केवल व्यक्ति व्यक्ति ही से भिन्न नही होती। यह एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न समय पर भिन्न हो सकती है। रुचि, ऋतु अथवा फैशन मे परिवर्तन और विज्ञापन अथवा प्रचार किसी वस्तु अथवा किसी सेवा की उपयोगिता पर प्रभाव डाल सकते हैं।

उपयोगिता और सन्तुष्टि (satisfaction) **में अन्तर किया जा सकता है।** उपयोगिता वस्तु की सतुष्टि देने वाली शक्ति को कहते है। सतुष्टि वह है जो हमें प्राप्त

होती है, यह उपयोगिता का परिणाम है। यदि किसी वस्तु मे उपयोगिता है तो यह हमें सतुष्टि प्रदान करती है।

उपयोगिता और हित (usefulness) में और अधिक महत्वपूर्ण अन्तर है। साधारण बोलचाल मे दोनो शब्दो के अर्थ में प्राय गडबडी हो जाती है और वे पर्यायवाची शब्द की भाति प्रयोग किये जाते हैं। यदि कोई वस्तु उपयोगी है तो यह आवश्यक नही कि वह हितकर भी है। धूम्रपान करना हितकर नही है, शराव पीना अथवा अन्य मादक वस्तुओ का प्रयोग अहितकर है परन्तु अर्थशास्त्री की दृष्टि मे सिगरेट, शराव तथा अन्य एमी वस्तुओ मे केवल इस कारण उपयोगिता है कि मनुष्य इनके लिये भुगतान करने को तयार रहते हैं। क्योंकि ये उनकी आवश्यकताओ की तृप्ति करती हैं। अर्थशास्त्री वस्तुओ को एक नीतिज्ञ के दृष्टिकोण से नही देखता। जव वह यह देखना चाहता है कि कोई वस्तु उपयोगिता रखती है अथवा नही, वह नीति के विचारो से प्रभावित नही होता। उसकी कसौटी यह है कि "क्या यह मनुष्य की आवश्यकता-तृप्ति करती है? कोई मनुष्य इसको अपने उपभोग में लाने के लिये भुगतान करने को तैयार है अथवा नही?" यदि है तो इसका उपभोग चाहे जितना भी हानिकारक हो उस वस्तु में उपयोगिता होगी। **अतएव उपयोगिता शब्द का कोई नैतिक अभिप्राय नही है।**

यह भी कहा जा सकता है कि "उपयोगिता" **शब्द का सम्वन्ध केवल उपभोक्ता की वस्तुओ से है उत्पादक की वस्तुओं से नहीं।** साइकिल की उपयोगिता उसके लिये है जो उसका प्रयोग करता है। यह उसे सतुष्टि प्रदान करती है। परन्तु यत्र जिनका प्रयोग साइकिलें वनाने में हुआ है निर्माता (manufacturer) को कोई सतुष्टि नही देते। वह केवल लाभ से ही प्रेरित होता है और यत्र से उसे कोई आत्मिक सतुष्टि नही मिलती। उपयोगिता का सम्वन्ध आत्मिक सतुष्टि से है और किसी अन्य भाव में सतुष्टि से नही।

३ मूल्य (Value)—'मूल्य' दूसरा शब्द है जो अर्थशास्त्र के अध्ययन में प्राय गडबडी डालता है। एडम स्मिथ के शब्दो में "मूल्य शब्द के दो भिन्न अर्थ हैं और कभी-कभी यह विशिष्ट पदार्थ की उपयोगिता तथा कभी-कभी अन्य वस्तुओ की वह क्रय-शक्ति जो उस पदार्थ के अधिकार से प्रकट है, स्पष्ट करता है।" किन्तु मूल्य शब्द का आधुनिक प्रयोग एडम स्मिथ के प्रयोग से भिन्न है।

अव अर्थशास्त्री 'मूल्य' शब्द का प्रयोग केवल एक ही विचार से करते हैं। एडम स्मिथ द्वारा वताये हुए शब्द के पहले प्रयोग अर्थात् प्रयोग-मूल्य (value-in-use) के लिए वे 'उपयोगिता' शब्द प्रयोग करते हैं। **मूल्य शब्द केवल दूसरे विचार में ही अर्थात् विनिमय मूल्य** (value-in-exchange)—**वास्तविक अथवा सभावित** (actual or potential) **भाव में प्रयोग किया जाता है।**

किसी वस्तु के मूल्य का अर्थ केवल यह है कि कितनी अन्य वस्तु अथवा वस्तुए इसके विनिमय (exchange) से प्राप्त हो सकती हैं। किसी वस्तु के अपने विनिमय से दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करने की शक्ति को मूल्य कहते हैं। यदि एक फाउन्टेनपैन का आपकी दो पुस्तको से विनिमय हो सकता है तो उसका मूल्य दो पुस्तको के वरावर होगा। जव मूल्य द्रव्य के रूप में व्यक्त किया जाता है तो कीमत कहलाता है।

क्या मूल्यों अथवा कीमतो में सामान्य वृद्धि हो सकती है ? (Can there be a general rise in values or prices ?)—मूल्य सापेक्ष है। हम किसी वस्तु के मूल्य को निरपेक्ष (absolute) रूप मे नही कह सकते। उदाहरणार्थ हम यह नही कह सकते कि किसी विशिष्ट वस्तु का मूल्य अधिक है जब तक साथ ही यह न जानें कि कितनी वस्तुएँ यह अपने विनिमय से प्राप्त कर सकती है। सैमुएल बेले के शब्दो मे, "एक वस्तु स्वय बिना किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध के उसी प्रकार मूल्य नही रख सकती जिस प्रकार एक वस्तु बिना अन्य वस्तु के सम्बन्ध से उससे दूर नही हो सकती।" अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि **मूल्यो में सामान्य वृद्धि नही हो सकती, जबकि कीमतो में सामान्य वृद्धि हो सकती है।**

हमे यह समझ लेना चाहिए कि मूल्यो में सामान्य वृद्धि क्यो नही हो सकती ? उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार एक फाउन्टेनपैन दो पुस्तको के बराबर है। यदि फाउन्टेनपैन के मूल्य में वृद्धि होती है तो यह पहले की अपेक्षा अधिक पुस्तकें विनिमय मे प्राप्त करेगा। दूसरे शब्दो में पुस्तको का मूल्य कम हो जायगा। दोनो वस्तुओ के मूल्यो में साथ-साथ वृद्धि नही हो सकती। इस प्रकार चूकि मूल्य सापेक्ष है, अतएव समस्त वस्तुओ के मूल्यो में एक ही समय मे वृद्धि नही हो सकती अर्थात् मूल्य मे सामान्य वृद्धि नही हो सकती।

परन्तु कीमतो में सामान्य वृद्धि हो सकती है जैसा कि युद्धकाल मे हुआ। प्रत्येक वस्तु की कीमते चढ गई। यहा समीकरण (equation) के दो पक्ष हैं, वस्तुओ का पक्ष (Money side) तथा द्रव्य का पक्ष (Goods side)। इस दशा में वस्तुओ के पक्ष मे वृद्धि हो गई है जब कि द्रव्य के पक्ष अर्थात् (द्रव्य के मूल्य) में कमी हो गई है। अतएव जब कीमतो में वृद्धि हो जाती है तो इसका अर्थ यह है कि वस्तुओ के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। किन्तु द्रव्य का मूल्य घट जाता है। इस प्रकार कीमतो में सामान्य वृद्धि हो सकती है परन्तु मूल्यो में नही।

४ धन (Wealth)—इस विषय मे अत्यधिक मतभेद है कि धन क्या है और क्या नही। भाग्यवश इस मौलिक विचार के स्वरूप के विषय मे अब एक सामान्य मत है। जब भी 'धन' शब्द हमारे सन्मुख आता है तो हम फौरन नकदी, भूमि, इमारतो, यन्त्र, लकडी के सामान, बधकाधिकारो (mortgage rights), सरकारी प्रतिभूतियो (Government Securities), स्टॉक तथा शेयर्स (Stocks and Shares) आदि का विचार करते है ?

अब यदि हम इन 'वस्तुओ' के स्वरूप को सामान्य रूप देने का प्रयत्न करें तो हमें ज्ञात होगा कि वे सब ऐसे पदार्थ हैं जिनकी मनुष्य इच्छा करता है। उनकी आवश्यकता इसलिये होती है कि वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे मानवीय आवश्यकताओ की तृप्ति कर सकते हैं। सक्षेप मे उनमे उपयोगिता है। अतएव किसी वस्तु को 'धन' कहने से पूर्व हम एक गुण जो वस्तुओ मे अवश्य होना चाहिए निश्चित कर सकते हैं।

परन्तु इस विषय पर और विचार करने पर हम यह देखेंगे कि धन की निश्चित कसौटी केवल उपयोगिता होना ही नही है। वायु में अत्यधिक उपयोगिता होती है। किन्तु क्या यह धन है ? क्या कोई मनुष्य इसके लिये भुगतान करता है ? नही। यह धन नही

है। हम इस प्रकार की अनेक 'वस्तुओं' को स्मरण कर सकते हैं जैसे धूप, सागर के किनारे की रेत, प्राकृतिक स्रोतो से निकला हुआ जल आदि। वे धन नही हैं क्योंकि वे असीमित मात्रा में है। अतएव **सीमित होना अथवा दुर्लभता धन का दूसरा आवश्यक गुण है।**

एक और भी गुण आवश्यक है अर्थात् हस्तातरित साध्यता (transferability) अथवा विक्रय-शक्ति (marketability)। जब तक हम वस्तुओं पर अधिकार न कर सकेंगे उनका कोई मूल्य न होगा। बिना हस्तातरित साध्यता के अधिकार असभव है। जब तक किसी वस्तु का विनिमय न हो सके तब तक वह अधिकारी के लिए धन नही हो सकती। वस्तु का स्वय हस्तातरण होना आवश्यक नही है केवल अधिकार का हस्तातरण होना यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नही है कि वस्तुओ का वास्तव में विक्रय हो। उदाहरण के लिये सार्वजनिक पार्क, पुस्तकालय, स्कूल, अस्पताल आदि धन है यद्यपि उनका क्रय-विक्रय नही होता।

साराश यह है कि धन के तीन आवश्यक गुण हैं—(i) **उपयोगिता,** (ii) **पूर्ति में दुर्लभता अथवा सीमित होना,** तथा (iii) **हस्तातरित साध्यता अथवा विक्रय शक्ति।**

धन की उपर्युक्त परिभाषा आर्थिक वस्तुओं के समानार्थ है क्योंकि वे उपयोगिता रखती है, सीमित है तथा हस्तातरणीय (transferable) हैं। जे० एन० कीन्स के शब्दो में "**धन के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति के समस्त प्रभावयुक्त विनिमयशील साधन है।**" **प्रत्येक वस्तु जिसमें विनिमय-मूल्य** (value-in-exchange) **(सक्षेप में मूल्य) है वह धन है।**

हमको एक प्रश्न पर बल देना चाहिये। धन एक सापेक्ष शब्द है। यह वस्तुओ का मनुष्य से सम्बन्ध है जो उन्हें धन बनाता है। ऐसी अनेक वस्तुए हैं जिनका मनुष्य जाति के लिए कभी कोई उपयोग न था। वे निर्मूल्य वस्तुएँ थी और धन नही। उद्योग के अनेको उपोत्पाद (bye-products) कूडे की भाति फेंक दिये जाते थे। अभी हाल ही में भारत में शक्कर के कारखानो में शीरा इतना एकत्रित हो गया था कि वे इस बेकार पदार्थ से छुटकारा पाने के लिये कुछ भुगतान करने को तत्पर थे। शराब खीचने के कारखानो के स्थापित होने से वह धन बन गया। कालिदास के नाटक एक जगली मनुष्य के लिए धन नही है। रॉबिन्स के शब्दो में "धन अपने सारपूर्ण गुणो के कारण धन नही है। यह दुर्लभ होने के कारण धन है।"

धन के इस अभिप्राय में समस्त भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ और उनके प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अधिकार तथा लाभ और साथ ही सब प्रकार की सेवायें, यदि उनमें विनिमय मूल्य है, उसके अन्तर्गत होती है। प्रेम, मित्रता तथा चरित्र जैसी अत्यन्त प्रशसनीय वस्तुएँ धन की परिभाषा के बाहर केवल इस कारण है कि उनका क्रय-विक्रय नही हो सकता।

अब हमें कुछ प्रकार की वस्तुओ को इन कसौटियो पर रखना चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या वे धन हो सकती हैं। हमें एक बार फिर सावधानी से विचार करना चाहिये। हम अन्धविश्वास से यह नही कह सकते कि यह धन है और वह धन नही। एक वस्तु कुछ दशाओ में, किसी निश्चित स्थान पर अथवा किसी निश्चित समय में धन हो

सकती है और अन्य प्रकार की दशाओ में पूर्णतया धन नही होती। उदाहरणार्थ साधारणतया वायु धन नही है, किन्तु भूमि के नीचे के कमरो में जहा उसकी प्राप्ति के लिए द्रव्य व्यय करना पडता है वह धन हो जाती है।

निम्नलिखित पर विचार कीजिये —

वैयक्तिक गुण (Personal Qualities)—क्या शल्यचिकित्सक (सर्जन) की कुशलता, वकील की तर्क चतुराई, मनुष्य की वृद्धि तथा योग्यता धन है ? यह वैयक्तिक योग्यताए धन का स्रोत है। हम सर्जन को उसकी कुशलता के लिये अदा करते है। उसने कदाचित् इसकी प्राप्ति के लिये काफी पैसा तथा मेहनत की होगी। किन्तु वैयक्तिक गुण धन नही माने जाते। वे हस्तातरणीय नही है अतएव विनिमयशील नही है। जब हम सर्जन को उसकी सेवा के लिये अदा करते है तो हम उसकी कुशलता को नही खरीदते। उसकी कुशलता उसके शरीर से अलग नही की जा सकती। धन में हम यह नही देखते कि एक मनुष्य के अन्तर्गत क्या है। उसमे हम यह देखते है कि वह अपने से बाहर क्या रखता है ? किन्तु ऐसे गुण शिष्टाचार के नाते वैयक्तिक धन (personal wealth) कहे गये है।

वैयक्तिक सेवायें (Personal Service)—क्या डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर इत्यादि की सेवाएँ धन है ? हा, वे धन है। वे मानवीय आवश्यकता की सतुष्टि कर सकती है तथा इसलिये उपयोगिता रखती है, वे दुर्लभ है और विनिमयशील है। वे पैसे के एवज की जाती है।

द्रव्य (Money)—द्रव्य स्वय क्या है ? यह कहा जाता है कि द्रव्य केवल एक विनिमय का माध्यम है। स्वय इसका कोई मूल्य नही होता। अब यह विचार गलत है। धात्वीय द्रव्य (metallic money) आसानी से धन माना जा सकता है। इसमे आन्तरिक (intrinsic) मूल्य है और यह दुर्लभ तथा विनिमयशील है। परन्तु कागजी द्रव्य (paper money) भी धन है। यह क्रय-शक्ति (purchasing power) रखता है तथा यह उन वस्तुओ तथा सेवाओ का सग्रह प्रस्तुत करता है जिसे द्रव्य रखने वाला खरीद सकता है। निस्सदेह द्रव्य का विनिमय-मूल्य (value-in-exchange) है और प्रत्येक वस्तु जिसका विनिमय मूल्य है वह धन है ।

प्रतिष्ठा (Goodwill)—यह अस्पृश्य है। किन्तु यह अवश्य ही धन है। बाजार में इसकी कीमत होती है। एक फर्म (firm) जिसने अधिक परिश्रम करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली है अवश्य ही इसे व्यवसाय के स्वामित्व को किसी अन्य को सौंपते समय द्रव्य मे बदल सकती है।

उपाधियो के प्रलेख (Documents of Title)—ऐसे अनेक प्रकार के प्रलेख है जिन्हें उनके स्वामी धन मानते है, उदाहरणार्थ, चेक, विनिमय-पत्र (Bills of Exchange), प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes), वहन-पत्र (Bills of Lading), राज्य बध (Govt Bonds), परम प्रतिभूतिया (Gilt-edged Securities), स्टॉक तथा शेयर प्रमाण-पत्र, (Stock and Share Certificates) इश्योरेंस पॉलीसिया (Insurance Policies), भूमि तथा

और फिर एक धनवान समाज अवश्य ही एक उन्नतिशील समाज का वास्तविक रूप नही है। इसके विपरीत घोर भौतिकवाद के इस युग में धनी वर्ग सपूर्ण समाज में पाई जाने वाली समस्त भ्रष्टता पर सर्वाधिकार करता हुआ प्रतीत होता है। धन मनुष्य की आत्मा मे विष घोलता है, कुमार्ग पर ले जाता है तथा भ्रष्ट करता है। गोल्डस्मिथ के उचित कथनानुसार,

"डूब ही जायेगा वह देश हो न जिसमे आचार विचार
जहा धन सचय ही हो मुख्य और मानव गौरव निस्सार"
"Ill faces the land, to hastening ills a prey
Where wealth accumulates and men decay"

व्यक्ति के दृष्टिकोण से जो धन है, यह हो सकता है कि वह समाज के दृष्टिकोण से धन न हो। उदाहरणार्थ एक ठग समाज का हित किये बिना ही द्रव्य प्राप्त कर सकता है। बहुधा निजी धन (private wealth) और सार्वजनिक कल्याण (public welfare) में भिन्नता होती है। कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो गम्भीरतापूर्वक विश्वास करते है कि एक धनी पुरुष के स्वर्ग में प्रवेश करने की अपेक्षा एक ऊँट के लिए सूई के नोक से निकलना सरल है। अतएव यह कहा जा सकता है कि धन और कल्याण में कोई सासारिक सम्बन्ध नही हो सकता।

परन्तु ऐसा नही है। कदाचित् हम ने धन का अनचित निराशावादी रूप में चित्रण किया है। जहा हम ने इसके भ्रष्ट करने वाले प्रभावो का वर्णन किया है, हमे इसकी हितकारी प्रबलता को भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये। सब इसके उपयोग के ढग पर निर्भर है। एक धनी पुरुष निस्सदेह अपना कुटुम्ब का अच्छा जीवन स्तर (standard of living) स्थापित रखने के लिए सहायक हो सकता है तथा इस प्रकार अपना भौतिक कल्याण बढा सकता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वह अपने से कम भाग्यशाली भाइयो की सहायता कर सकता है।

आधुनिक काल मे उत्पादन के स्थान पर वितरण पर अधिक जोर दिया जाता है क्योकि यह विश्वास किया जाता है कि सम्प्रदाय का कल्याण केवल कुल धन पर ही निर्भर नही है किन्तु उसके समान वितरण पर भी है। न्यूनतम मजदूरी (minimum wage) प्रणालिया प्रचलित कर दी गयी हैं, कुसीद (usury) के विरुद्ध कानून पास किये गये हैं, लाभ सीमित करने के प्रयत्न किये गये है।—यह सब इसको निश्चित करने के लिये किया गया है कि धन से मानवीय कल्याण के प्रति अधिकाधिक लाभाश (dividends) प्राप्त किये जावें।

सार्वजनिक वित्त (public finance) में आधुनिक प्रवृत्तिया देखिये—धनिको पर तीव्र उत्तरोत्तर कर (steeply progressive tax), श्रेष्ठ चिकित्सा सहायता, अच्छी शिक्षा, अच्छी सडकें तथा सार्वजनिक पार्क, अजायबघर, पुस्तकालय आदि जैसे अन्य सामाजिक वस्तुओ के साधन आदि के रूप में गरीबो के लिए अधिकतम सुविधाओं का प्रबन्ध। ऐसे सब प्रयत्न स्पष्ट रूप मे यह बताते है कि धन मानवीय कल्याण को बढाने का एक प्रबल तथा कुछ के अनुसार एकमात्र प्रभावी साधन है। धन और कल्याण

मे अति निकट सम्बन्ध है ।

निर्देश पुस्तके

Robbins, L —Nature and Significance of Economic Science.
Marshall, A —Principles of Economics
Wootton, B —Lament of Economics
Pigou, A.C —Economics of Welfare
Fraser, L M —Economic Thought and Language (1937), Ch. IV & V
Stigler, G J.—Theory of Price (1949), Ch. II

है। चूकि गरीब लोग अमीरो की अपेक्षा अपनी आय का अधिक भाग उपभोग करते है, इसलिये यदि हम उपभोग बढाना चाहते है तो हमे अमीरो पर कर लगाना चाहिए और यदि घटाना चाहते है तो गरीबो पर कर लगाना चाहिए।

३ मानवीय आवश्यकताए (Human Wants)—उपभोग का अध्ययन मानवीय आवश्यकताओ से जुडा है। यह कहा जाता है कि मनुष्य इच्छाओं की एक गठरी है। "एक सामान्य मनुष्य के जीवन का इतिहास अपूर्णता के निरतर भाव का अभिलेख है।" यह एक स्वर्णपूर्ण काल्पनिक प्रदेश की ओर दौड है तथा मृगतृष्णा है। कुछ मनुष्य इसको "दैवी असतुष्टि" मानते है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धिमान् परमेश्वर ने असतुष्टि निर्दिष्ट कर दी है ताकि मानवीय आनन्द तथा उत्साह के स्रोत सूख न जायें। स्टीवेन्सन का यह कथन हैं कि "लालसा सर्वदा ही आनन्द है।" "Aspiration", says Stevenson "is a joy for ever" लेकिन यह तो एक स्पष्ट प्रश्न है कि व्यक्तिगत प्रसन्नता के लिए इच्छाओ में वृद्धि वाछनीय है अथवा नही। इच्छाओ का अपना महत्त्वपूर्ण लक्षण है। आवश्यकतायें असीम है। हमारी कुछ आवश्यकताये सचेत रूप से प्रतीत होती है। परन्तु उनकी अधिक सख्या हमारे अन्दर प्राय अचेत रूप से पाई जाती है। यद्यपि प्रत्येक मानवीय इच्छा को पूरा करना सम्भव नही है, परन्तु किसी इच्छा विशेष को पूरा किया जा सकता है। जब हम किसी आवश्यकता की तृप्ति कर लेते है तो दूसरी प्रत्यक्ष हो जाती है और उसका स्थान ले लेती है।

मानवीय आवश्यकताओ का यह लक्षण सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम (diminishing marginal utility) का आधार है। क्योकि प्रत्येक आवश्यकता तृप्य है, इसलिये जैसे-जैसे उपभोग प्रगतिशील होता जाता है, वैसे ही हमारी सतुष्टि क्रम से घटती जाती है।

आवश्यकताए पूरक होती है (Wants are Complementary) इसका अर्थ यह है कि एक आवश्यकता की पूर्ण तृप्ति करने में हमे अनेक वस्तुओ की एक-साथ आवश्यकता होती है। घोडा और गाडी, चश्मे का शीशा और उसका फ्रेम, फाउन्टेन-पेन तथा स्याही आदि की साथ-साथ आवश्यकता होती है। वास्तव में केवल अकेले माग बहुत कम होती है। प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता माग की प्रणाली का एक भाग है। हमें वस्तुओ की सामूहिक (group) रूप में आवश्यकता होती है।

आवश्यकताओं में आपस में प्रतिस्पर्धा होती है (Wants are Competitive) उपलब्ध साधनो के अनुसार ही हमारी इच्छाएँ सीमित होती है। इसलिए हमको वरण (choice) करना ही पडता है। हम कॉफी हाउस, सिनेमा देखने, खेल-कूद अथवा दगल देखने, किताब खरीदने आदि जाना चाहते हैं। इससे एक सिद्धान्त निकलता है जिसको प्रतिस्थापना नियम कहते है (law of substitution)।

कुछ आवश्यकताए वैकल्पिक होती है (Some Wants are Alternative)-कभी-कभी एक विशिष्ट आवश्यकता की तृप्ति के लिए हमारे सामने भिन्न-भिन्न वैकल्पिक साधन होते है। जब हम कुछ पीना चाहते है तो हम चाय, कॉफी अथवा कोको पी सकते है।

आवश्यकतायें दुबारा उत्पन्न हो जाती है (Wants Recur). बार-बार की सतुष्टि उसको स्वभाव मे परिणत कर देती है ।

४ अनिवार्यताए, सुविधाए तथा विलासिताएं (Necessaries, Comforts and Luxuries)—आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिए जो वस्तुएं काम मे लाई जाती है उनका वर्गीकरण अनिवार्यताओ, सुविधाओ तथा विलासिताओ मे किया जा सकता है। "अनिवार्यताओ" से हमारा अभिप्राय उन वस्तुओ और सेवाओं से है जिनकी आवश्यकताओ की तृप्ति अवश्य होनी चाहिये। अनिवार्यताओ का वर्गीकरण इस प्रकार है (१) जीवनरक्षक अनिवार्यतायें (necessaries for life)—जिनका अभिप्राय उन वस्तुओ से है जो जीने के लिए नितान्त आवश्यक है, (२) कार्य-कुशलता के लिये अनिवार्यताएं (necessaries for efficiency)—वे है जो हमारी कार्यकुशलता मे वृद्धि करती है, उदाहरणार्थ मेज, कुर्सी तथा एक विद्यार्थी क लिये टेवल लैम्प आदि । उनके प्रयोग से होने वाला लाभ लागत से अधिक है; (३) रूढ़िगत अनिवार्यताएं (conventional necessaries)—कोई व्यक्ति मादक वस्तु तम्बाकू अथवा शराव के वशीभूत हो गया हो; अथवा उसको एक ऐसा व्यय करना हो जिसकी समाज उससे आशा करता है, उदाहरणार्थ, विवाह और अन्य सामाजिक सस्कारो पर व्यय, उसको प्रचलित पोशाक पहननी पडती है।

सुविधाएं (comforts). वे वस्तुए तथा सेवाए है जिनका एक व्यक्ति अपने आपको सुखी वनाने के लिए अनिवार्यताओ के अतिरिक्त उपभोग करता है, उदा-हरणार्थ, गर्मी में विजली का पखा तथा जाडो में हीटर, मोटी गद्देदार कुर्सिया अथवा पलग, कई नौकर आदि। निस्सदेह ये वस्तुएं भी निजी कार्यक्षमता को तो वढाती हैं परन्तु व्यय के अनुपात मे नही ।

विलासिताएं (luxuries) एक विशिष्ट साधनो के उपयोग अथवा जीवन स्तर के वाहर मनुष्य जो व्यय करता है उस पर विलासितायें प्रकाश डालती है। यह व्यर्थ व्यय है। ऐली (Ely) के अनुसार विलासिताओ की परिभाषा अत्यधिक निजी उपभोग है। उनका कथन है कि "साधारण भाव मे विलासिता का अर्थ कोई भी वह वस्तु है जो व्यर्थ की आवश्यकताओ की सतुष्टि करे।"

हम "विलासिता' को अनुचित उपभोग से सम्वद्ध करते है। परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे भी है जो विलासिताओ के उपभोग का समर्थन करते हैं। यह कहा जाता है कि विलासितायें सकटकाल के लिये व्यवस्था करती हैं। उदाहरणार्थ, आपत्तिकाल में आभूषण तथा हीरे-जवाहरात ही उनके एकमात्र सहायक होते है। इसके अलावा, विलासिताओ के उपभोग की इच्छा मानवीय प्रयास को प्रोत्साहन देती है। विलासिताओ का प्रयोग मनुष्य की रुचि वढाता है, यह मनुष्य को शिष्ट तथा सभ्य वनाता है। यह जीवन मे परिवर्तन करके उसे आनन्ददायक तथा परिपूर्ण वना देता है। विलासिताओ के कारण रोजगार मिलता है।

परन्तु यह तर्क ठीक नही है। मनुष्यो को अपनी आय का अपनी इच्छानुसार व्यय

करने का अधिकार हो सकता है, परन्तु वह अपने को असामाजिक तथा चरित्रहीन व्यवहार के लिये सामाजिक घृणा मे नही बचा सकता। जहा तक काम प्रदान करने का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि उसी व्यय से अधिक तथा अच्छे काम की व्यवस्था की जा सकती है, और इससे समाज को भी लाभ हो सकता है। यह सब होते हुए भी विलासिताओ पर व्यय करना प्रशसनीय नही है।

परन्तु 'विलासितायें' 'अनिवार्यताए' तथा 'सुविधाए' सापेक्ष शब्द हैं। वही वस्तु किसी मनुष्य के लिये विलासिता हो सकती है और दूसरे के लिये अनिवार्यता। एक रईस के लिये जो निकट स्थान पर रहता हो, मोटर विलासिता है, परन्तु एक लीन व्यवसायी, मन्त्री अथवा उच्च अधिकारी के लिए ऐसा नही है।

५ जीवन-स्तर (Standard of Living)—अनिवार्यताए, सुविधाए तथा विलासिताए जिनके उपयोग का कोई व्यक्ति अभ्यस्त हो जाता है, जीवन-स्तर बनाती है। यह स्तर विभिन्न प्रभावो का परिणाम है। कुछ अशो में हम अपना जीवन-स्तर अपने माता-पिता से ग्रहण करते है और तब हम उसे अपनी रुचि, शिक्षा, अनुभव, सामाजिक वातावरण तथा अनुकरण की प्रेरणा के अनुसार बना लेते है।

एक समुदाय का जीवन-स्तर ऊचा रक्खा जा सकता है तथा उसकी उन्नति हो सकती है, यदि—

(क) उपयोग के लिए प्राप्त कोई भी आर्थिक स्रोत बेकार न रहे,

(ख) उपलब्ध आर्थिक स्रोतो को उन पदार्थो के उत्पादन में लगाया जाय जिनकी उपभोक्ता को अधिक जरूरत है,

(ग) समुदाय की आय व्यक्तियो में इस तरह विभाजित की जाय जिससे राष्ट्रीय आय (national income) से अधिकाधिक सतुष्टि प्राप्त हो, तथा

(घ) समस्त जनसख्या तथा पूजी का कुल सग्रह उचित मात्रा में पर्याप्त हो।

ऐंजिल के उपभोग नियम को परिवारो के जीवन-निर्वाह-स्तर अथवा पारिवारिक आय-व्यय के आधार पर रचा गया है। अर्नेस्ट ऐंजिल प्रशा (Prussia) के साख्यकीय कार्यालय का अध्यक्ष था। उसने निम्नलिखित मुख्य परिणाम इस बारे में निकाले

(१) जैसे-जैसे आय बढती है भोजन तथा जीवन की अन्य अनिवार्यताओ पर प्रतिशत व्यय घटता जाता है और इसके विपरीत भी सच है।

(२) आय के बढने पर विलासिताओ पर तथा अन्य सास्कृतिक और मनोरजक आवश्यकताओ पर प्रतिशत व्यय बढता जाता है और आय घटने पर घटता है। कम आय में प्राय लुप्त हो जाता है।

(३) निवास-स्थान का किराया, ईंधन तथा प्रकाश पर प्रतिशत व्यय सब आयो मे लगभग समान रहता है।

(४) कितनी भी आय हो कपडो पर प्रतिशत व्यय प्राय एक-सा रहता है।

यह सावधानी से ध्यान में रखना होगा कि प्रतिशत व्यय बढता-घटता है न कि कुल व्यय।

हमारे देश में पारिवारिक व्यय के सबध में गहन खोज की गई है। डा हेराल्ड मन (Dr. Herald Mann) ने दक्षिण में कुछ खोज की तथा पजाब की आर्थिक-जाच समिति ने भी इस प्रकार की विस्तृत खोज की है। इन सब खोजो ने ऐंजिल के पिछली मध्य शताब्दी के बनाये हुए नियमो की सत्यता को निश्चित किया है, यद्यपि प्रतिशत में थोडा-सा अन्तर है।

अध्याय ४

उपभोग (क्रमशः)

घटती हुई उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Utility)

१ भूमिका (Introduction)—हमने पिछले अध्याय में 'उपयोगिता' शब्द के अर्थ का अध्ययन किया है। उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु की आवश्यकता-तृप्ति की शक्ति से है। हमने यह भी देखा है कि उपयोगिता आत्मपरक है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न है। उपयोगिता का अभिप्राय न तो सतुष्टि मे है और न "उपयोगिता" शब्द "हितकर" के समानार्थ है। इसका कोई नैतिक महत्त्व नही है। अब हम उपभोग में एक महत्त्वपूर्ण नियम जिस पर उपयोगिता आधारित है अर्थात् घटती हुई सीमान्त उपयोगिता नियम का अध्ययन करेगे।

२ घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Marginal Utility)—यह नियम प्रत्येक उपभोक्ता के साधारण अनुभव से सम्बन्ध रखता है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति एक-एक करके सेव खाना आरम्भ करता है। पहला उसको अधिक आनन्द देता है। दूसरा सेव खाने के पूर्व उसकी भूख कम हो जाती है और वह सेव, कम तीव्र आवश्यकता होने के कारण, कम सतुष्टि प्रदान करता है। तीसरे की सतुष्टि दूसरे से और चौथे की तीसरे से कम होगी और इसी प्रकार घटती जायगी। प्रत्येक क्रमिक सेव की सतुष्टि घटती जायगी यहा तक कि वही शून्य हो जायगी, और यदि उपभोक्ता को और सेव खाना पडे तो सतुष्टि या तो निषेधात्मक (negative) हो सकती है या उपयोगिता अनुपयोगिता मे परिवर्तित हो सकती है।

निम्नलिखित तालिका से यह विचार स्पष्ट हो जायगा —

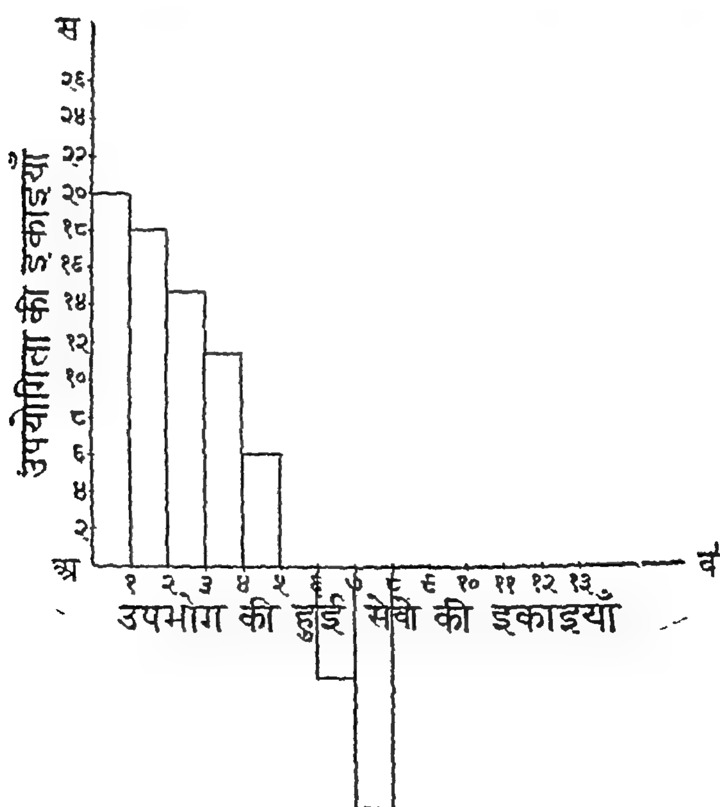
(१) इकाइया (सेव)	(२) कुल उपयोगिता (सतुष्टि की इकाइया)	(३) सीमान्त उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइया)
१	२०	२०
२	३८	१८
३	५३	१५
४	६४	११
५	७०	६
६	७०	०
७	६२	–८
८	४६	–१६

नोट—यह आकडे उपयोगिता की मात्रा की व्याख्या करते है। यदि उपयोगिता की मात्रा में ऊपर दी हुई तालिका की भाति परिवर्तन हो तो कोई दूसरे अक

लिये जा सकते हैं।

जब हमारा कल्पित उपभोक्ता सेब खाता जाता है, प्रत्येक क्रमिक सेब के उपभोग से प्राप्त अतिरिक्त सन्तुष्टि घटती जाती है, यहा तक कि छठी इकाई पर शून्य हो जाती है और तब निषेधात्मक हो जाती है (देखो पक्ति ३)। कुल उपयोगिता पाचवी इकाई के उपभोग तक बढती जाती है परन्तु यह ध्यान देने योग्य ह कि यह ह्रास (decreasing) गति से बढती है। चैपमैन का कथन है कि हम किसी वस्तु का जितना अधिक उपभोग करते है उतनी ही उसकी इच्छा कम होती जाती है। मार्शल ने इस नियम को इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

"किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की दी हुई मात्रा मे वृद्धि होने से उससे प्राप्त अतिरिक्त लाभ की मात्रा प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ घटती जाती है।" हम यह भी कह सकते है कि उसकी मात्रा की प्रत्येक घटौती पर सीमान्त उपयोगिता बढती जायगी। दूसरे शब्दो में उपयोगिता राशि के विपरीत बदलती है, यद्यपि उसी अनुपात में नही। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के दो महत्त्वपूर्ण कारण है (क) प्रत्येक विशेष आवश्यकता सतुष्ट



रेखा चित्र न० १

होने योग्य है और (ख) वस्तुए एक दूसरे के लिए पूरे तौर पर एक दूसरे के स्थान पर नही रखी जा सकती और वे उचित अनुपात में उपभोग की जाती है।

का फैशन हो जाता है उस पोशाक की उपयोगिता बढ जाती है। दूसरी ओर यदि उसका फैशन चला जाता है तो उसकी उपयोगिता कम हो जाती है।

घटती हुई उपयोगिता का नियम दूसरे आर्थिक नियमो की भाति केवल एक प्रवृत्ति (tendency) का विवरण है। यह अनेक स्थितियो पर निर्भर है। इन स्थितियो के न होने पर यह नियम लागू नही होता जैसा कि ऊपर लिखे हुए अपवादो में बताया गया है।

४. घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापनीयता का नियम (The Law of Diminishing Marginal Substitutability)—घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम के विरुद्ध बहुत से आक्षेप लगाये गये है। इस तथ्य के अतिरिक्त कि उपयोगिता आत्मपरक (subjective) होने मे अनुमान योग्य है। उपभोक्ता अमुक वस्तु खरीदते समय जिस सतुष्टि की आशा करता है वह वास्तविक अथवा पाई गई सतुष्टि से भिन्न हो सकती है।

और एक विशिष्ट इकाई पर जिसको सीमान्त इकाई भी कहते है, खरीदना बन्द कर देना, विचार-शक्ति तथा सुन्दर गणना को सूचित करता है जो एक औसत उपभोक्ता मे नही पाई जाती।

इसके अतिरिक्त उपयोगिता के मापन के हर प्रयत्न में यह मान लिया जाता है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है, परन्तु यथार्थ में हर एक नई खरीद क साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है क्योकि मुद्रा का सग्रह घट जाता है।

घटती हुई उपयोगिता के नियम में एक मुख्य दोष यह है कि ध्यान दूसरी वस्तुओ से हटकर एक ही वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। वास्तव में उपभोक्ता मुद्रा को व्यय करते समय केवल एक जुदा चीज, को ही नही परन्तु बहुत-सी वस्तुओ को, जिनको कि वह उससे खरीद सकता है, सोचता है। अतएव यह अधिक उचित होगा कि उपभोक्ता की माग उसके अधिमान मापो (scales of preferences) में प्रस्तुत की जाय।[1] यह मान लिया गया है कि हम एक वस्तु को **अधिक मात्रा** मे तभी खरीद सकते है जबकि हम दूसरी का बलिदान करें। एक उपभोक्ता बहुत-सी वस्तुओ की थोडी-सी वृद्धि की सापेक्ष उपयोगिता (relative utility) का विचार करता है और एक को दूसरे के हेतु के स्थान पर मानता है। इसलिये यह सकेत किया गया है कि घटती हुई उपयोगिता के नियम के बजाय घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापनीयता के नियम का उल्लेख करना ही अच्छा होगा। एक वस्तु की सीमान्त प्रतिस्थापनीयता को किसी दूसरी ऐसी वस्तु की इकाइयो की मात्रा से प्रस्तुत किया जाता है जो पहली वस्तु की कुछ इकाइयो से प्रतिस्थापन की जा सकती हो और जो उपभोक्ता को न उससे बुरी और न अच्छी दशा में छोडती है[2]।

यदि एक उपभोक्ता एक विशिष्ट वस्तु की एक इकाई का बलिदान केवल दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा के प्रस्ताव से ही कर देने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है

---

१ अध्याय ५ के ३ तथा १३ विभाग देखिए।

2 *See* marginal rate of substitution Sec 4, Ch V

तो यह अधिक सीमान्त प्रतिस्थापनीयता प्रकट करती है। तो भी, आमतौर पर एक उपभोक्ता अपने पास की वस्तु की एक अधिक इकाई का बलिदान करने के लिये दूसरी वस्तु की कम इकाइयो से ही सतुष्ट हो जावेगा, अतएव सीमान्त प्रतिस्थापनीयता घट जावेगी। इस प्रकार घटती हुई उपयोगिता के नियम का दूसरा नाम सीमान्त प्रतिस्थापनीय नियम भी हो सकता है, और यह एक सुधार होगा, क्योकि यह मार्शल के मुद्रा के स्थिर सीमान्त उपयोगिता (constant marginal utility of money) की धारणा तथा जेवन्स के उपयोगिता के मात्रिक सीमान्त उपयोगिता (quantitative marginal utility) से दूर हट जाता है।

५ नियम के कुछ आशय (Some Implications of the Law)—घटती हुई उपयोगिता का नियम इसलिये लागू नही होता क्योकि एक वस्तु की क्रमिक (successive) इकाइया हीन समझी जाती है। यद्यपि यह सही है कि एक इकाई हीन लक्षण की है तो इसी से तो उसकी उपयोगिता कम होगी, तो भी नियम कही अधिक मूल गुण वाला है। **यह गुण से अलग है।** सेव एक से ही हो सकते है तो भी जैसे उपभोग अधिक होगा, वैसे ही उनकी अतिरिक्त उपयोगिता घटती जायगी।

यह नियम निर्वाचन से भी अलग है। प्रत्येक क्रमिक सेव की अतिरिक्त उपयोगिता इसलिये नही गिरती क्योकि हमारी इच्छा उसके स्वाद पर केन्द्रित होती है। नियम तो पूरी तौर पर लागू होगाही, चाहे सेव के अतिरिक्त और कोई वस्तु हमारे सामने हो ही नही। हम कभी-न-कभी एक वस्तु से तृप्त हो जायेंगे चाहे हमारे सम्मुख कोई दूसरी वस्तु हो या न हो।

इस नियम से सिद्ध होता है कि अधिक आवश्यक इच्छाओ की सन्तुष्टि पहले की जाती है। जैसे-जैसे राशि बढती जाती है, वह कम आवश्यक प्रयोगो में लगाई जाती है और उनके घटने से विधि उलटी हो जाती है।

यह नियम हर प्रकार की सन्तुष्टि में चाहे वह अच्छी हो अथवा बुरी लागू होगा। **हम यह धारणा नहीं करते कि उपभोक्ता सदैव विवेकशील होता है।** हम यह धारणा भी नही बनाते कि प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आवश्यकताए एक दृढ स्थिर क्रम में रखता है, यद्यपि मोटे तौर पर यह क्रम एक श्रेणी के मनुष्यो में लगभग एक-सा ही होगा।

६ सीमान्त उपयोगिता अथवा महत्व (Marginal Utility or Significance)—एक मनुष्य के क्रय का अन्त अथवा सीमा कहा है? जब एक मनुष्य कोई वस्तु खरीदता है वह सचेत अथवा अचेत रूप से यह सोच लेता है कि उसको कितनी कीमत देनी है और उसको प्रत्येक इकाई से कितनी उपयोगिता मिलती है। जब तक कि उपयोगिता और कीमत समान न हो जाय वह खरीदता ही चला जायगा। अब उपभोक्ता के माग के सिद्धान्त की मूल प्रस्तावना हमारे सामने आती है : "उपभोक्ता किसी भी वस्तु की इकाइयो के बदले में द्रव्य व्यय, 'क', उस सीमा तक करेगा जहा तक 'क' की अन्तिम इकाई (सीमान्त) जो वह खरीदता है, द्रव्य के रूप में उसका सीमान्त महत्व द्रव्य-मूल्य (money price) के बिलकुल समान रहता

एक भाग खो देता है तो वह उसकी बहुत कम चिन्ता करता है । एक मनुष्य के द्रव्य की मात्रा में हर एक वृद्धि से उसको कम-से-कम अधिकृत आनन्द प्राप्त होता है । अतएव घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम द्रव्य में भी लागू होता है ।

९ सीमान्त उपयोगिता और कीमत (Marginal Utility and Price)—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता और कीमत समान होते हैं अथवा कीमत से सीमात उपयोगिता मापी जाती है । उपभोक्ता उस समय उपभोग करना बन्द कर दता है जब कीमत और उपयोगिता समान हो जाते हैं । और यह स्तर सीमान्त उपयोगिता का स्तर है । वस्तु की समस्त इकाइया परस्पर बदलने योग्य होने से जो कुछ सीमान्त इकाई के लिए भुगतान किया जाता है वही हर एक इकाई के लिए दिया जाता है । अतएव हम कह सकते है कि सीमान्त उपयोगिता कीमत **निर्धारित** (determines) करती है । यह सीमान्त उपयोगिता है, कुल उपयोगिता नही, जो कीमत निर्धारित करती है, अन्यथा जल की कीमत अधिक होती और सोने की कम । वास्तव में सीमात उपयोगिता कीमत निर्धारित नही करती, यह केवल उसको प्रकट करती है । निर्धारण करने वाले साधन माग और पूर्ति है । यदि कीमत में परिवर्तन होता है तो सीमान्त उपयोगिता भी बदल जाती है । इस प्रकार कीमत तथा सीमान्त उपयोगिता साथ-साथ चलते है ।

सामाजिक सीमान्त उपयोगिता (Social Marginal Utility)—परन्तु सीमान्त उपयोगिता किसकी कीमत निर्धारित करती है ? सीमान्त उपयोगिता आत्मपरक (subjective) है और प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है, जबकि बाज़ार में एक ही कीमत प्रचलित रहती है । सीमान्त उपयोगिता जिससे बाज़ार में कीमत निर्धारित होती है, किसी व्यक्ति विशेष की उपयोगिता नही है वरन् समुदाय में **समस्त व्यक्तियों का एक प्रकार का औसत** (average) है, और सामाजिक सीमान्त उपयोगिता कहा जा सकता है । यह समस्त समाज की सीमान्त उपयोगिता है । अतएव खरीदारो की भिन्न-भिन्न आय तथा स्थितिया होने के कारण बाज़ार कीमत (market price) उन सबकी सीमान्त उपयोगिताओ को नही बताती । **प्रत्येक उपभोक्ता की अलग-अलग स्थितियों का प्रभाव भिन्न-भिन्न कीमतों के भुगतान करने पर नहीं वरन् भिन्न-भिन्न मात्राओ में खरीदे जाने पर पडता है ।** इसी प्रकार सबकी सीमान्त उपयोगिताए समान हो जाती हैं ।

सीमान्त उपयोगिता तथा पूर्ति (Marginal Utility and Supply)—सीमान्त उपयोगिता बनाना पूर्ति का काम है अर्थात् यह पूर्ति के साथ बदलती है । एक निर्मूल्य वस्तु जिसकी पूर्ति असीमित है, उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य है । केवल दुर्लभ पदार्थ की ही सीमान्त उपयोगिता वास्तविक होती है । यह पूर्ति के घटने पर बढती है और उसके बढने पर घटती है । जब पूर्ति अत्यधिक हो जाती है तो यह शून्य हो जाती है । अतएव सीमान्त उपयोगिता पूर्ति के विपरीत बदलती है ।

सापेक्ष सीमान्त उपयोगिता (Relative Marginal Utility)—एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता से अलग नही है । जब हम

यह निर्णय कर रहे हो कि कौनसी वस्तु अधिक मात्रा मे खरीदें और कौनसी वस्तु कम मात्रा में तो हम अन्य दूसरी वस्तुओ की, जोकि हम खरीद सकते हैं, सचेत अथवा अचेत रूप से तुलना करते हैं। इसी प्रकार एक निर्माता सदैव एक अतिरिक्त श्रमिक की सीमान्त उपयोगिता को एक यत्र की सीमान्त उपयोगिता से तुलना करता है। ऐसी तुलनाए निरन्तर हमारे मस्तिष्क में हुआ करती है और इसी प्रकार एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता से सदैव सम्वद्ध है। अतएव सीमान्त उपयोगिता निरपेक्ष (absolute) रूप मे विचार नही की जा सकती।

यद्यपि घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम केवल एक ही वस्तु के होने पर तथा गु जाइश (choice) न होने पर भी लागू होता है, तो भी हमको व्यवहार में कुछ-न-कुछ वरण करना ही पडता है। वहुत-सी अन्य वस्तुएँ है, जिन्हे हम खरीद सकते हैं। हम आम खरीदना रोक देते है क्योकि हम कुछ बेर भी खरीदना चाहते हैं और हम बेर खरीदना भी वन्द कर देते है ताकि हम कुछ नागपाती भी ले सके। इस प्रकार इन तीनो वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताएँ एक-दूसरे पर आश्रित हो जाती हैं। सक्षेप मे सीमान्त उपयोगिता सापेक्ष (relative) है।

१० घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Diminishing Marginal Utility)—घटती हुई उपयोगिता के नियम का व्यावहारिक महत्त्व वहुत है (१) हमने देखा है कि घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम द्रव्य पर भी लागू होता है। यह करारोपण (taxation) प्रणाली के सिद्धान्त तथा व्यवहार का आधार है। इस नियम का उत्तरोत्तर कर (progressive taxation) पद्धति मे जो धनी पुरुषो पर अधिक भार डालती है, सार्वजनिक वित्त (public finance) के क्षेत्र में व्यावहारिक प्रयोग है।

(२) नियम यह स्पष्ट करता है कि पूर्ति मे वृद्धि होने से वस्तु का मूल्य अवश्य ही क्यो गिर जाना चाहिये। इस प्रकार यह मूल्य सिद्धान्त (theory of value) का आधार वनता है। इस भाति सामान्य उपभोक्ता तया व्यवसायी के हेतु उसका व्यावहारिक महत्त्व अत्यधिक है।

(३) नियम यह व्याख्या करता है कि माग वक्र नीचे की ओर क्यो गिरती है। इस नियम के कारण ही छोटी उपयोगिता की रेखाये वस्तु की रेखा अर्थात् कक्ष रेखा को वडे भागो में काटती है (विभाग २ मे उपयोगिता वक्र देखिये)।

(४) यह उपयोग-मूल्य (value-in-use) तथा विनिमय-मूल्य (exchange-value) की भिन्नता की भी व्याख्या करता है। वायु की अधिक उपयोगिता (उपयोग-मूल्य) है परन्तु विनिमय-मूल्य कम है, क्योकि इसकी कोई सीमान्त उपयोगिता नही है।

(५) समाजवादी जव गरीवो मे धन के पुनर्वितरण का समर्थन करते हैं तो इस नियम का ही आश्रय लेते हैं। धनी पुरुषो को उनके खोए हुए धन की सीमान्त उपयोगिता इतनी अधिक नही है जितनी कि उस धन की सीमान्त उपयोगिता गरीवो को है।

११ सीमान्त विश्लेषण (Marginal Analysis)—सीमान्त विश्लेपग का प्रयोग मूल्य तथा वितरण के सिद्धान्तो के स्पष्ट करने में किया गया है। वास्तविक जीवन में हमारा ध्यान सदैव सीमा पर केन्द्रित रहता है। यह कहावत है कि 'पेन्सो की बचत करो और पौण्ड अपनी रक्षा स्वयं कर लेंगे।' सीमान्त ग्राहक (marginal purchaser) ही कीमत पर प्रभाव डालता है। हम सदैव किमी वस्तु की कुछ अधिक अथवा कुछ कम मात्रा में खरीदने से प्राप्त किए हुए वस्तु लाभ की तुलना किया करते है। सीमा के द्वारा ही प्रतिस्थापन नियम कार्य करता है और हम अपना व्यय इस प्रकार ठीक कर लेते है कि हमको उससे अधिकतम सन्तुष्टि मिले। सीमा एक स्थिर विन्दु नही है। यह कीमत परिवर्तन होने से ऊपर-नीचे स्थान बदलती है।

सीमान्त विश्लेषण कुछ धारणाओ पर आधारित है जो सदा ठीक नही होती (१) यह कल्पना की गई है कि माग तथा पूर्ति कीमत में वहुत कम परिवर्तन होने से घटती-वढती रही है। (२) एक वस्तु की इकाइया एक ही प्रकार की मान ली जाती है जवकि वास्तविक व्यवहार में वे भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। (३) हम मान लेते है कि मनुष्य अपने व्यवहार में विचार से काम लेता है हालाकि मनुष्य के सारे कार्य रीति, स्वभाव, भाव अथवा पूर्वगृह से निश्चित होते है। तो भी मनुष्य साधारणतया विवेक से काम लेता है। (४) सीमान्त विश्लेषण माग तथा पूर्ति के वक्र में निरन्तर होने की परिस्थिति मान लेता है। परन्तु यथार्थ में हम वस्तुओ को लगातार उपभोग नही करते। टिकाउ वस्तुए जैसे साइकिलें, रेडियो आदि एक साथ खरीदी जाती है। लेकिन ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि ऐसी वस्तुओ के प्रयोग से हुए लाभ को समय की इकाई के अनुसार प्रतिदिन या प्रति सप्ताह मापा जाय। (५) यह कहा जाता है कि उपभोक्ता की माग में परिवर्तन नही होता। (६) यह धारणा भी रहती है कि उपभोक्ता के पास द्रव्य की एक निश्चित मात्रा होती है। (७) हम यह भी धारणा करते है कि वहुत-से खरीदारो में से वह सिर्फ एक है।

इन विरोधो के होते हुए भी सीमान्त विश्लेषण, आर्थिक समस्याओ के विवेचन तथा सुलझाने में हितकर सावित हो रहा है। आधुनिक अर्थशास्त्री अपना ध्यान व्यक्तिगत व्यवहार से हटाकर सामूहिक अथवा बडे पैमाने के व्यवहार की तरफ ला रहे है, इसे सूक्ष्म-आर्थिक (micro-economic) धारणा से भिन्न वृहत्-आर्थिक (macro economic) दृष्टिकोण कहते है। इस भाति सीमान्त विश्लेषण की उपयोगिता घट गई है।

१२. क्या उपयोगिता मापी जा सकती है (Can Utility be Measured ?)—हम देख चुके है कि उपयोगिता किसी वस्तु की आवश्यकता की सन्तुष्टि करने की शक्ति है। यह स्वय वस्तु के आन्तरिक गुण पर निर्भर नही वरन् उपभोक्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। एक आम में किसी उपभोक्ता की सन्तुष्टि के लिए स्वाभाविक गुण होता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य डाक्टरी राय से उसे खाने से वचित है, तो उसकी उसके लिए कोई उपयोगिता नही है। दूसरे शब्दो में उपयोगिता आत्मपरक (subjective) है।

उपयोगिता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में और एक ही व्यक्ति के लिए समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न स्थितियो मे भिन्न होती है। एक व्यक्ति अपने आप अपने मन में भिन्न-भिन्न वस्तुओ की उपयोगिता की तुलना कर सकता है, परन्तु उसके पास कोई बाहरी माप नही जिससे कि वह एक वस्तु की उपयोगिता पूर्ण रूप से नाप सके। उपयोगिता एक ऐसी परिमाण (magnitude) नही है जो जोडी या घटाई जा सके। इसकी तुलना की जा सकती है तथा इसका वर्गीकरण किया जा सकता है। हम इसकी "कमी या अधिकता" के बारे में कह सकते है परन्तु यह नही कह सकते कि **कितनी अधिक या कितनी कम**[1]। उपयोगिता उपभोक्ता की मानसिक स्थिति प्रगट करती है।

क्या हम किसी मनुष्य की मानसिक स्थिति को माप सकते है? स्पष्ट रूप से नही। हमारे पास किसी मनुष्य की सन्तुष्टि की तीव्रता (intensity) को मापने के लिए कोई मापदण्ड नही है। तो भी भाग्यवश हमारे पास द्रव्य के रूप में एक सरल तथा कारगर (rough and ready) माप है। यद्यपि द्रव्य सन्तुष्टि की उचित प्रकार से माप नही कर सकता, फिर भी यह कम-से-कम हमको दोनो सतुष्टियो की तीव्रता की तुल्ना करने में सहायक होता है। मान लीजिए कि मेरे पास १००) है। मैं एक साइकिल खरीदना चाहता हूँ। यदि मैं दुविधा की सीमा पर हूँ कि मैं उसे खरीदूँ अथवा नही, और यदि मैं अपना द्रव्य बचाये रखने अथवा साइकिल के खरीदने में तटस्थ हूँ तो यह स्पष्ट है कि मैं १००) तथा साइकिल को समान महत्त्व देता हूँ। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि मेरे लिए साइकिल की उपयोगिता १००) के बराबर है। इसी प्रकार एक कैमरे की उपयोगिता भी १००) के बराबर हो सकती है। इस तरह यह १००) की रकम साइकिल तथा कैमरे की अथवा उस धन से प्राप्त की जाने वाली अन्य वस्तुओ अथवा दूसरी वस्तुओ की उपयोगिताओ को बराबर कर देती है जिनके लिए मैं समान धनराशि व्यय करने को तैयार हूँ। **द्रव्य उपयोगिताओ को नापता है। दो वस्तुओ की उपयोगिताओ में वही अनुपात होता है जो उनकी तत्सम्बन्धी बाजार की कीमतो में होता है।** वास्तव में, हमारा कुछ वस्तुओ के उपभोग करने का अनुभव तथा पुरानी आदत हमको दो वस्तुओ की उपयोगिताओ को द्रव्य से जुदा तुलना करने के योग्य बना देता है।

हम इच्छा (desire) को माप सकते हैं, संतुष्टि (satisfaction) को नहीं। यह एक और विषय है। जब मै इस दुविधा में हूँ कि कैमरा खरीदू या साइकिल, तो वास्तव में, मै, **आशा की जाने वाली** सतुष्टि की तुलना, **प्राप्त** की जाने वाली सन्तुष्टि से करता हूँ। परन्तु हम जानते हैं कि आशा किया जाने वाला आनन्द उस आनन्द से कही अधिक है जो वास्तव मे प्राप्त होता है। कुछ भी हो, दोनो समान नही होते। यहाँ भी हमारा पुराना अनुभव तथा पुरानी आदत हमारी सहायता करते हैं, और हम स्पष्ट रूप से निश्चित कर सकते हैं कि आशा की जाने वाली सन्तुष्टि कितनी होगी। परन्तु यह याद रखने योग्य है कि वह तीव्रता intensity जिससे किसी वस्तु की इच्छा होती है, उस सन्तुष्टि

1. Knight. F. H —Risk, Uncertainty and Profit (1940) pp 6-69

से जोकि वास्तव में प्राप्त होती है, भिन्न है। सन्तुष्टि के मापने का कोई साधन नहीं है, परन्तु इच्छा की तीव्रता द्रव्य से मापी जा सकती है। अर्थशास्त्री साधारणतया यह मानते हैं कि दोनों समान हैं।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A —Principles of Economics

Devenport, H J —Economics of Enterprise

Benham, F —Economics

Viner, J —"The Utility Concept in Economic Theory" in the Journal of Political Economy, 1925

Knight, F H —Risk, Uncertainty and Profit (1940), Ch III

Stigler, G J —Theory of Price, Ch I

अध्याय ५

उपभोग (क्रमशः)

प्रतिस्थापन का नियम

(LAW OF SUBSTITUTION)

१ भूमिका (Introduction)—हम यह देख चुके हैं कि आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्धी हैं। अतएव हमको अधिक आवश्यक और कम आवश्यक आवश्यकताओं में निरन्तर चुनाव करना होता है। जब हम अपने मन में यह निर्णय कर रहे हो कि किसी वस्तु को कुछ अधिक अथवा कम मात्रा में खरीदें, तो हम वस्तु तथा द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता का सन्तुलन करने लगते हैं। परन्तु हम वास्तव में उस विशिष्ट वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसी द्रव्य से खरीदी जा सकने वाली अन्य बहुत-सी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का सन्तुलन करते हैं। द्रव्य इस प्रकार हमारे लिए एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक जाने के हेतु एक पुल का कार्य करता है। इसी प्रकार प्रतिस्थापन (substitution) कार्य करता है। यह केवल एक वस्तु के लिए उसी आवश्यकता की सन्तुष्टि करने वाली दूसरी वस्तु का प्रतिस्थापन नहीं है, जैसे काफी के लिए चाय। परन्तु यह बिलकुल भिन्न वस्तुओं का एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापन है।

२. नियम की व्याख्या (Statement of the Law)—प्रत्येक समझदार व्यक्ति अपने स्रोतों का अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहता है। यह इस कारण आवश्यक है कि आवश्यकताओं को देखते हुए स्रोत दुर्लभ हैं—यह वह मूल प्रस्तावना है जिससे कि हमने अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया था। प्रत्येक उपभोक्ता चाहता है अधिक-से-अधिक सन्तुष्टि मिले। इस कारण वह कम उपयोगी वस्तु के बजाय अधिक उपयोगी वस्तु का प्रतिस्थापन करेगा। जब वह ऐसा कर चुकता है तो यह उसको ज्ञात होगा कि क्रय की प्रत्येक दशा में सीमान्त उपयोगिताएँ समान हो गई हैं।

कल्पित उपभोक्ता सचेत अथवा अचेत रूप से उस सिद्धान्त पर कार्य करता है जिसको भिन्न नामों से पुकारा गया है, जैसे प्रतिस्थापन का नियम, तटस्थता नियम (Law of Indifference), सम सीमान्त उत्पत्ति नियम (Law of Equi-marginal Returns), व्यय मितव्ययिता नियम अथवा अत्यधिक सन्तुष्टि नियम। इसको प्रतिस्थापन नियम इसलिए कहते हैं क्योंकि हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी को खरीदते हैं। अत्यधिक सन्तुष्टि नियम (Law of Maximum Satisfaction) इस कारण कहलाता है कि इसके द्वारा हम अपनी सन्तुष्टि चरमसीमा तक पहुँचा सकते हैं। यह सम सीमान्त उपयोगिता नियम इस कारण कहलाता है कि हम अत्यधिक सन्तुष्टि तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि प्रतिस्थापन की विधि द्वारा सीमान्त उपयोगिताएँ समान कर दी जाती हैं।

यह इस प्रकार होता है जबकि उपभोक्ता किसी विशिष्ट वस्तु पर कुछ द्रव्य व्यय कर चुकता है तो उसके पश्चात् उसके लिए उस वस्तु की उपयोगिता गिरने लगती है, और वह गिरती जाती है, जब तक कि वह यह नही सोच लेता कि उसको अन्य वस्तु पर व्यय करने से अधिक सतुष्टि मिलेगी । वह एक स्थिति के बाद एक वस्तु के बदले में दूसरी का प्रतिस्थापन करता रहता है, यहाँ तक कि कुल द्रव्य जो वह व्यय करना चाहता था समाप्त हो जाता है । ऐसा हो जाने के पश्चात् वह सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त कर लेता है । वह अब किसी वस्तु पर अधिक और किसी पर कम व्यय करके कुल उपयोगिता की वृद्धि नही कर सकता । यदि वह ऐसा कर सकता होता तो पहले ही कर लेता । कोई भी हेर-फेर उपयोगिता में लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक होगा । सबसे उत्तम स्थिति वह होगी जबकि प्रत्येक व्यय की मद में उसकी सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय ।

जब किसी उपभोक्ता का खर्च इस प्रकार व्यवस्थापित हो जाता है, अर्थात् जब प्रत्येक दिशा में सीमान्त उपयोगिता तथा खरीद (purchases) समान होती है तो इसे **उपभोक्ता की साम्यावस्था** (consumers' equilibrium) कहते है । इस तरह उसे और माल खरीदने की इच्छा नही रहती । बाजार की कीमतें, उसकी इच्छाएँ (wants) तथा उसकी आय (income) आदि दिए होने पर, उपभोक्ता को साम्यावस्था में उस समय माना जाएगा जब सीमान्त उपयोगिताएँ समान हो चुकी है तथा अधिकतम तसल्ली मिल चुकी है । इसके बाद फिर उसे अपने खर्च की योजना को पुनरीक्षण (revise) करने की जरूरत नही पडेगी । वह उन्ही वस्तुओ को खरीदता रहेगा तथा उतनी ही मात्रा में जबतक कि या तो उसकी आय अथवा इच्छाओ में परिवर्तन नही हो जाता । इच्छाओ का अपने वातावरण (environments) से परस्पर व्यवस्थापन (adjustment) उपभोक्ता की साम्यावस्था का चिह्न है । उपभोक्ता के लिए "तमाम माल (goods) को साम्यावस्था में होने के लिए, **तमाम** माल का द्रव्य (money) के अर्थो में सीमान्त महत्त्व उनकी द्रव्य कीमतो के साथ अवश्य ही समान होना चाहिये ।" ("To be in equilibrium with respect to all goods the marginal significance of all goods in terms of money must equal their money price")

एक उपभोक्ता के पास जितना द्रव्य है उससे अधिकतम सतुष्टि पाने के लिए वह अपना खर्च इस प्रकार बाँटेगा कि खरीदी हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता उनकी कीमतो के अनुपात में होगी । इस प्रकार—

$$\frac{\text{क की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \frac{\text{ग की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{ग की कीमत}}$$

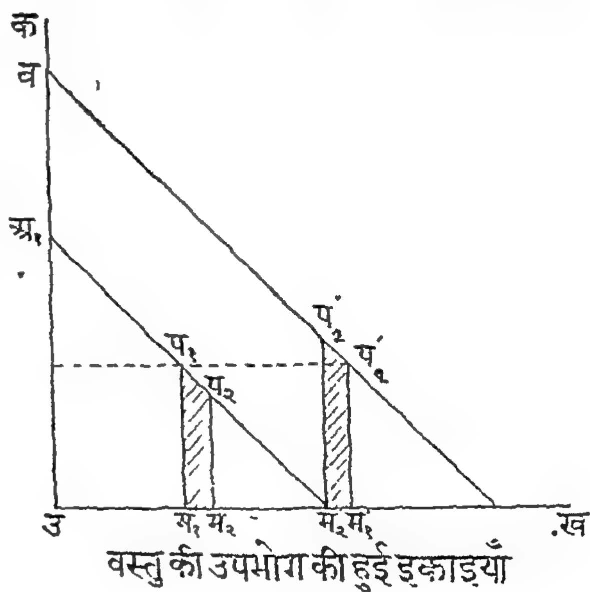
और यह क्रम इसी प्रकार चलता है ।

इसी प्रकार, यदि एक वस्तु की कीमत बढ जाती है, तो इस वस्तु की कम मात्रा तथा दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायगी, ताकि अनुपात वही रहे । टिकाऊ वस्तुओ में यह अनुपात रहना सम्भव नही हो सकता है । ऊपर का समीकरण (equa-

tion) केवल तभी सही होगा जबकि उपभोक्ता की रुचि तथा अन्य स्थितियो मे परिवर्तन न हो।

परन्तु यह स्थिति अवास्तविक है। वास्तविक जीवन मे कोई उपभोक्ता भी मामूली सीमान्त व्यवस्थापन करने का कष्ट नही करता। मानव गणना करने की मशीन मात्र नही है। इसी प्रकार, कोई भी इस बात पर पहले से विचार नही करता कि अपने वातावरण में किसी बडे परिवर्तन होने पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अन्त मे, उपभोक्ता लोगो को खरीदारी की सूची रखने की आदत होती है। और इसमे सिर्फ उसी समय परिवर्तन होगा जबकि उसके हालात (condition) मे परिवर्तन होता है।

यह नियम नीचे दिये हुए चित्र द्वारा स्पष्ट हो सकता है। माना दो वस्तुएँ दूध तथा रोटी ह, जिन पर उ $म_1$ + उ $म'_1$ द्रव्य व्यय किया जाता है। माना कि $अ_1$ तथा ब रोटी तथा दूध के तत्सम्बन्धी उपयोगिता वक्र हैं। यदि उ $म_1$ रोटी पर और उ $म'_1$ दूध पर व्यय होता है तो वस्तुओ (या उन पर व्यय किया हुआ द्रव्य) की सीमात उपयोगिता समान होती है, $प_1 म_1 = प'_1 + म'_1$। प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम यह दृढतापूर्वक बताता है कि द्रव्य का यह वितरण अत्यधिक कुल उपयोगिता प्राप्त करता है अर्थात् उ $म_1$ $प_1$ $अ_1$ + उ $म_1'$ $प_1'$ ब अत्यधिक है। यदि यह ऐसा है तो किसी भी अन्य प्रकार के वितरण को उससे कम कुल उपयोगिता प्रदान करनी चाहिये। देखे ऐसा है कि नही।



चित्र न० ७

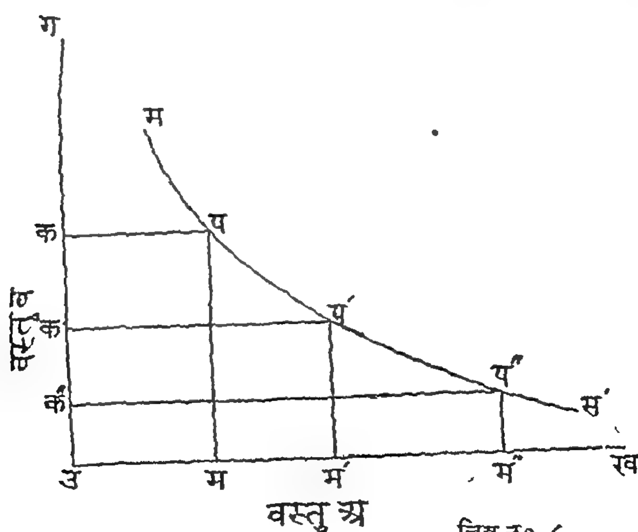
मान लिया कि ($अ_2$) का अभिप्राय द्रव्य की छोटी मात्रा से है। फिर यह मान लीजिये कि $अ_2$ रोटी पर अधिक और $अ_2$ दूध पर कम व्यय किया जाता है। दूध की सीमान्त उपयोगिता $प_2'$ $म_2'$ तक बढ जायेगी और रोटी की $प_2$ $म_2$ तक गिर जायेगी। जैसा कि गहरे रंग के क्षेत्र द्वारा दिखाया गया है। इस नये क्रम से उपयोगिता की हानि लाभ की अपेक्षा अधिक होगी। कुल उपयोगिता पहले से कम होगी। इस प्रकार योग अधिकतम होगा, जब सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होगी।

यह बहुत दुर्लभ है कि इस प्रति स्थापन की प्रवृत्ति में एक वस्तु दूसरी से पूर्णत बदल जाय, उदाहरणार्थ, रोटी के बदले में बिस्कुट और तरकारी के बदले में दही। हम वस्तुओ की एक व्यवस्था चाहते है और सबसे उपयोगी व्यवस्था की खोज मे हम

वस्तुओं की मात्रा अर्थात् किसी वस्तु की कुछ अधिक तथा दूसरी की थोड़ी कम मात्रा में कुछ अदल-बदल करने का प्रयत्न करते है । प्रतिस्थापन सीमा (margin) पर होता है ।

३. तटस्थता वक्र (Indifference Curves)*—चूंकि उपयोगिता मापी नही जा सकती, इसलिए उपयोगिता विश्लेषण से माँग के सही स्वभाव की व्याख्या नही हो सकती । यह अब मान लिया गया है कि एक उपभोक्ता एक विशेष वस्तु की पृथक् माग की बजाय एक निश्चित अधिमान माप (scale of preference) रखता है। आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोक्ता के अधिमानो की श्रेणी के वर्णन करने के लिए तटस्थता वक्र का प्रयोग करते हैं ।

जब हम केवल एक वस्तु का विचार करते हैं तो एक उपयोगिता वक्र उसकी ह्रास सीमात उपयोगिता बतलाती है । परन्तु जब दो वस्तुओं का प्रश्न उठता है तो हम तटस्थता वक्र का ही उपाय प्रयोग में लाते हैं । अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए हम अपने मस्तिष्क में एक वस्तु की कुछ अधिक क्रय करने की उपयोगिता को दूसरी वस्तु की कुछ कम उपयोगिता से तुलना करते हैं । अर्थात् यह कहिये कि एक वस्तु का दूसरी से विनिमय करते हैं। यदि दोनो वस्तुओं का मूल्य-अनुपात (price-ratio) ऐसा है कि एक का मूल्य दूसरे में निषिद्धात्मक (prohibitive) है तो कोई विनिमय नही हो सकता। परन्तु कुछ सीमाओं के अन्तर्गत विनिमय सर्वथा



चित्र न० ८

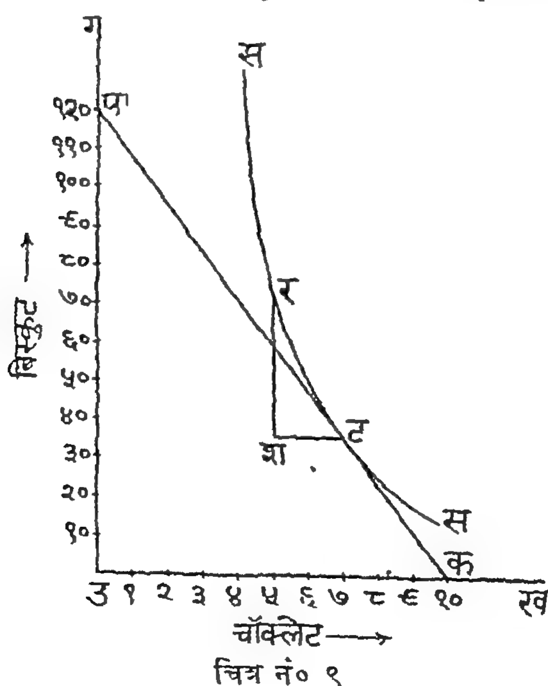
लाभदायक होगा। परिणाम यह होता है कि दोनो वस्तुओं के कई सयोग हो जाते है,

* See Stigler, G J—Theory of Price (1949), pp 67-85 There is a lucid treatment of Indifference Curves in Meyer's Elements of Modern Economics (1951), ch VII

जोकि एक उपभोक्ता को स्वीकृत हो सकते हैं। वे उसके लिए एक समान महत्त्व रखते है और इस कारण वे एक दूसरे की अभिरुचि मे तटस्थ हैं। ऐसे सयोग एक तटस्थता वक्र द्वारा दिखाये जा सकते है। जैसा कि रेखाचित्र ८ मे दिखाया गया है। तटस्थ वक्र दो वस्तुओ के उस सयोग (combination) को बताता है जो उपभोक्ता के अधिमान माप में समान स्थान रखते हैं, अर्थात् उनसे उसे समान मात्रा में सतुष्टि प्राप्त होती है।

प, प' तथा प'' तटस्थता वक्र स स' पर विन्दु है। इसका अर्थ है कि इस विशेष उपभोक्ता के लिए अधिमानो (preferences) की श्रेणी यह प्रस्तुत करता है वस्तु व के उ क प =(म) + वस्तु अ के उ म, वस्तु व के उ क' (=प' म') + वस्तु अ के उ म' तथा वस्तु व के उ क'' (=प'' म'') + उ वस्तुओ के उ म'' का सयोग वरावर है, अर्थात् उनकी उपयोगिता एक-सी है।

परन्तु इन सयोगो मे से कौन-सा वह वास्तव मे चुनेगा यह मूल्य-अनुपात (price-ratio) पर निर्भर है। मूल्य-अनुपात को चित्र मे दिखाने के लिए हम दोनो अक्ष रेखाओ के वीच मे एक रेखा खीचेगे जिसका ढाल (slope) मूल्य-अनुपात को प्रस्तुत करेगा। नीचे दिये हुए चित्र मे प क रेखा की ढाल विस्कुट तथा चॉकलेट के वीच मूल्य-अनुपात प्रस्तुत करती है। अनुपात १ १२ का है।



चित्र नं० ९

एक वच्चे का उदाहरण लीजिये। माना कि केवल दो वस्तुएँ विस्कुट तथा चॉकलेट है जिन पर उसको अपना द्रव्य व्यय करना है। वह कुल द्रव्य चॉकलेट पर व्यय करके १० चॉकलेट खरीद सकता है अथवा विस्कुटो पर व्यय करके १२० विस्कुट खरीद सकता है। इसका अनुपात १ १२ है अर्थात् १० चॉकलेट वरावर है १२० विस्कुट

के। वास्तव में एक समझदार उपभोक्ता मिश्रित सयोग रखना चाहेगा। इस मूल्य रेखा (price line) प क पर कोई बिन्दु उस विस्कुट तथा चॉकलेट के सयोग को प्रस्तुत करेगा जोकि वह इस मूल्य-अनुपात पर खरीद सकता है। इस रेखा प क पर कोई भी गति एक वस्तु का दूसरी के लिए त्याग सूचित करती है। उस बच्चे की अभिमानो की श्रेणी नीचे दी हुई उस तालिका से सूचित की जा सकती है जोकि विस्कुट तथा चॉकलेट के उन अनेको सयोगो को प्रकट करती है जिनमें वह सर्वथा तटस्थ है।

	चॉकलेट	और	विस्कुट
	२	,,	११४
या	३	,,	९३
या	४	,,	७५
या	५	,,	६६
या	६		४५
या	७	,,	३६
या	८	,,	२८
या	९	,,	२१

यह तालिका उसके अभिमानो की पूरी श्रेणी (scale) को नही वरन् उसके एक भाग को प्रकट करती है। ये आकड़े अकगणित की श्रेणियो को प्रस्तुत नही करते। कोई भी सख्या उन सख्याओ के अतिरिक्त ठीक होगी जोकि यह प्रस्तुत करती है कि जितने अधिक चॉकलेट बच्चा विनिमय में प्राप्त करेगा उतने ही कम विस्कुट वह चॉकलेट पाने के लिए देने को तैयार होगा। मान लीजिये कि बच्चा ५ चॉकलेट और ६६ विस्कुटो मे प्रारम्भ करता है। एक और चॉकलेट पाने के लिए २१ (६६—४५) विस्कुट देने को तैयार है, परन्तु सातवाँ पाने के लिए केवल ९ (४५—३६) ही देने को तैयार है। ऊपर दिये हुए सयोगो को प्रस्तुत करने वाले बिन्दुओ को स्थापित करके और उनका क्रम मानकर हम स स' तटस्थता वक्र प्राप्त करते है।

प्रारम्भ मे बच्चा ५ चॉकलेट और ६६ बिस्कुट रखता है। यह बिन्दु र से प्रस्तुत होता है। अधिकतम लाभ के सयोग को चुनने के लिए बच्चे को वक्र पर उ से सबसे दूर बिन्दु तक जाना होगा। यह बिन्दु र है जहाँ पर प क मूल्य रेखा तटस्थता वक्र स स' पर स्पर्श रेखा है। वह बिन्दु पर अपनी ५ चॉकलेट तथा ६६ बिस्कुट की प्रथम व्यवस्था की अपेक्षा र स विस्कुट देकर और श ट चॉकलेट पाकर पहुँचता है। ट ७ चॉकलेट तथा ३६ विस्कुट का सयोग प्रस्तुत करता है। इस बिन्दु पर कुल उपयोगिता अधिकतम है। यदि वह इस बिन्दु से किसी ओर भी चलता है, तो वह एक नीचे वक्र तक उतर जायगा "मूल्य रेखा तथा एक तटस्थता वक्र में सम्पर्क, तटस्थता वक्र के द्वारा सीमान्त उपयोगिताओ तथा मूल्यो के अनुपातो का वर्णन है।"[1] इस प्रकार ही

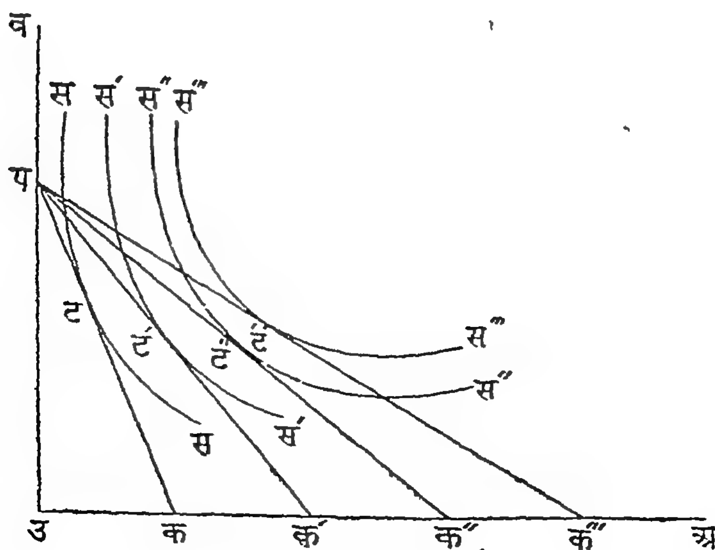
---

1 Hicks, J R —Value and Capital, (1948), p 17

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त को तटस्थता वक्र के द्वारा दिखाया जा सकता है।

इस तटस्थता वक्र के आकार के विषय मे भी कुछ कहना है। वक्र को नीचे दाई ओर गिरना चाहिये। यह सीमान्त उपयोगिता घटती हुई नियम के अनुरूप है। एक वस्तु की कमी दूसरे की वृद्धि से पूरी हो जाती है। यदि एक वस्तु में वृद्धि दूसरी वस्तु मे विना कमी किये हो जाती है, तो हम उसी वक्र पर न रहेंगे वरन् एक ऊँचे पर पहुँच जायेंगे। जब बच्चा अधिक चॉकलेट तथा कम बिस्कुट पाने के लिए इस तटस्थता वक्र पर चलता है तो पहले की सीमान्त उपयोगिता घट जाती है और दूसरे की बढ जाती है। इससे ढाल कम हो जाएगी। ऐसा वक्र मूल रूप में उन्नतोदर (Convex) होना चाहिए। साक्षेप वस्तुओ के विषय में जहां एक वस्तु की मात्रा में परिवर्तन दूसरे की उपयोगिता पर प्रभाव डाल सकता है, वक्र की ढाल भिन्न हो सकती है, वस्तुओं की पूर्ण स्थानापन्नता की दशा मे अर्थात् जहाँ प्रतिस्थापन की सीमात दर १:१ है, तटस्थता वक्र एक सीधा कर्ण (diagonal) वक्र है जो ४५ डिगरी का कोण बनाता है। यदि वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक हैं (उदाहरणार्थ घोडा तथा गाडी अथवा दायाँ तथा बायाँ जूता) तो तटस्थता वक्र हर अक्ष रेखा के समानान्तर होगे और ९० डिगरी का कोण बनायेंगे।

तटस्थता मान-चित्र (Indifference Curve)—पिछले पृष्ठ पर दी हुई तालिका एक अधिमानो के अनुमाप को प्रस्तुत करती है जो तटस्थता वक्र में दिखलाये गये है। पर ऊँचे-नीचे बहुत-से अनुमाप हो सकते हैं और फिर प्रत्येक नई श्रेणी की सगत में एक दूसरा तटस्थता वक्र हो जायगा। उदाहरणार्थ इस बच्चे का प्रथम सयोग ५ चॉकलेट और ६६ बिस्कुट था। परन्तु वह दोनो अधिक मात्रा में ले सकता है, अर्थात् ६ चॉकलेट और ७० बिस्कुट अथवा ८ चॉकलेट और ८० बिस्कुट इत्यादि। यह बिन्दु



चित्र न. १०

उपभोक्ता को एक से दूसरे ऊँचे तटस्थता वक्र पर ले जाते है, जिनमे से प्रत्येक प्रथम वक्र की अपेक्षा अधिक लाभदायक स्थिति प्रस्तुत करते है । उसको उन कम लाभदायक सयोगो से ही सतुष्ट होना पडेगा जो कि नीचे वाले तटस्थता वक्र से प्रस्तुत होगे । तटस्थता वक्रो के सयोगो को तटस्थता चित्र (Indifference Map) कहते है जैसा कि चित्र न. १० में दिखाया गया है।

प क, प क', प क" तथा प क'' के झुकाव वदलते हुए मूल्य के अनुपातो को प्रस्तुत करते है। स स, स' स', स'' स'', तथा स''' स''' वक्र अभिमानो के अनुमापो की भिन्न-भिन्न श्रेणियो की सगति के तटस्थता वक्र है। जितने ऊँचे वक्र होगे उतने ही अच्छे समान तटस्थ सयोगो की श्रेणियाँ होगी। विन्दु ट, ट', ट'', ट''' हर क्रम मे दो वस्तुओ के वीच मे विनिमय के वाजारू दर पर अधिकतम लाभ के विन्दु है, जिनको झुकी रेखाए प क इत्यादि के द्वारा दिखाया गया है ।

इ स स वक्र जो ट ट' ट" ट''' को मिलाता है इसे **आय-उपभोग वक्र** (income-consumption curve) कहते है। इससे यह वात स्पष्ट होती है कि आय में परिवर्तन होने से इन दो वस्तुओ के उपभोग पर प्रभाव पडता है जवकि इन दोनो वस्तुओ की कीमतें दी हुई है और स्थिर (constant) रहती है सापेक्षिक कीमतो के प्रत्येक भिन्न सेट (set) के लिए जुदा आय-उपभोग वक्र है। जव उपभोक्ता की आय में परिवर्तन हो जाता है तो इस वक्र से आय के प्रभाव का पता चलता है।

प क कीमत वाली रेखा है। इसे **कीमत-अवसर** (price-opportunity) रेखा कहते है। यह रेखा उन अवसरो को वताती है जो उपभोक्ता के लिए है, जिसमें कीमतें तथा उसकी आय दी है। तटस्थता वक्र (indifference curve), मार्केट के हालतो से अलग उपभोक्ता का स्वाद (taste) अथवा अभिमान (preferences) वताता है

धारणाएँ तीन प्रकार की है जिन पर तटस्थता वक्र खीचे गए है (i) तटस्थता वक्र वाएँ से दाएँ को है जो सदैव नीचे की ओर झुके है । यदि वे क्षैतिज (horizontal) अथवा ऊपर की ओर मुडे होते तो उनसे वहुत अवास्तविक अथवा अयुक्तियुक्त स्थिति का पता चलता। क्षैतिज शक्ल (shape) यह वताती है कि उपभोक्ता को एक वस्तु की निश्चित मात्रा के मेल (combination) से समान सतुष्टि होगी और दूसरे से कम या ज्यादा। यदि यह ऊपर की ओर मुडता तो इसका अर्थ यह होता कि दोनो वस्तुओ की वडी राशि का मेल वही सतुष्टि देता जितना की वह जिसमें दोनो से कम था। (ii) दूसरी धारणा यह है कि तटस्थता वक्र मूल रूप से उ तक उत्तल (convex) है। जव कोई वक्र मूल तक उत्तल होता है और जव ऊपर की ओर अधिक मुडा (steep) होता है और दाएँ को अधिक फ्लेट (flat) तो यह पता चलता है कि किसी माल की सीमान्त उपयोगिता दूसरे की तुलना में क्रमवर्धमान रूप से (progressively) घटती जाती है, जवकि पहले माल से अधिक की आशा हो। अन्य स्थिति अवास्तविक होगी। वक्र अवतल (concave) कहलाएँगे, यदि सीमान्त उपयोगिता अनिश्चित वढे, जोकि असम्भव है। (iii) तीसरी धारणा यह है कि दो

तटस्थता वक्र कभी भी परस्पर काट नही सकते (intersect)। यदि वे काटें तो यह मानना होगा कि दो सतुष्टियाँ जो परिभाषा के अनुसार असमान है काटने वाले बिन्दु (intersection point) पर समान हो गई है। ऐसा किस प्रकार सम्भव है ?

४ तटस्थता वक्र का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of Indifference Curves)—तटस्थता वक्र एक व्यक्ति के अधिमानो के अनुमाप का मात्रिक (quantitative) प्रदर्शन करने मे, जबकि दो वस्तुएँ खरीदनी हो, बहुत लाभदायक हुए है। तटस्थता वक्र का यन्त्र विस्तृत रूप से लागू हो सकता है। बेन्हम तटस्थता वक्रो के उपयोगो को इस प्रकार लिखते हैं . "तटस्थता वक्रो का उपयोग दो विकल्पो (alternatives) के बीच (परन्तु वे केवल दो ही हो) किसी व्यक्ति का अधिमान माप चित्रित करने के लिए हो सकता है। इस प्रकार के आय और अवकाश के बीच उसका अधिमान माप चित्रित कर सकते है, जिससे यह प्रकट हो सकता है कि वह दिन-रात के २४ घटो को, किसी निश्चित दर प्रति घटे पर, काम और अवकाश के बीच किस प्रकार बाँटेगा। इसके अतिरिक्त, उनका उपयोग उसके वर्तमान और भावी उपभोग के बीच द्रव आस्तियाँ (liquid assets) और आय प्राप्ति आस्तियो (income-yielding assets) के बीच, तथा इस प्रकार के अन्य कार्यों में उसका अधिमान माप प्रकट करने के लिए भी हो सकता है।"[1]

स्टीगलर तटस्थता वक्र उपकरण (apparatus) के तीन उपयोग बताते है —

(१) **दो व्यक्तियो के बीच अदला-बदली**—एजवर्थ (Edgeworth) ने जिन्होंने यह उपकरण मालूम किया, तटस्थता वक्र द्वारा यह दिखाया कि अदला-बदली की हुई वस्तुओ के बीच की विनिमय दर निर्धारित नही की जा सकती, केवल वह सीमाएँ बताई जा सकती है, जिनके बीच विनिमय होगा।

(२) **करारोपण** (Taxation)—तटस्थता वक्र द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि यदि एक मनुष्य दर वस्तु पर कर लगाने की अपेक्षा व्यक्तिगत आयकर लगाया जाता है, तो वह ऊँचे तटस्थता वक्र को चला जायगा।

(३) **सूचक अंक की समस्या**(Index Number Problem)—तटस्थता वक्र यह बताते हैं कि एक व्यक्ति का जीवन-स्तर बढ गया है या गिर गया है।

(रेखाचित्र के लिए स्टीगलर की पुस्तक 'Theory of Price' के पृष्ठ ८०-२ देखिए)

५ प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution)—एक वस्तु की कितनी मात्रा दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा से प्रतिस्थापन की जाती है अथवा किस दर पर हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापन करते हैं ? इसका उत्तर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर से मिलता है—इस विचार को डा० हिक्स और प्रो० आर० जी० एलन ने प्रस्तुत किया।[2] मान लीजिए कि अ के पास मिठाई है और ब के पास फल और दोनो ही तबादला करना चाहते है। विनिमय-अनुपात

---

1 Benham—Economics, (1947) p. 96—7
2 Hicks—Value and Capital, 1946, Ch 1

एक वस्तु की वह मात्रा होगी जोकि दूसरी वस्तु के लिए विनिमय में दी जायगी जैसे मिठाई की जगह फल ।

परन्तु विनिमय तभी होगा जबकि अ, ब दो वस्तुओ का अनुपात अथवा सीमान्त उपयोगिताएँ भिन्न हो । जब तक कि सीमान्त उपयोगिता के अनुपात भिन्न न होगे, विनिमय नही हो सकता । इस अनुपात को प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) कहते है। हिक्स के शब्दो में "हम अ को ब मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की परिभाषा ब की उस मात्रा से कर सकते हैं जो उपभोक्ता को अ की सीमान्त इकाई की हानि के लिए सन्तुलित करती है।" वास्तव मे यह अ की ब से सम्बन्धित सीमान्त उपयोगिता है । विभाग ३ में दी हुई तटस्थता अनुसूची में बच्चा १ अधिक चॉकलेट (२ के बजाय ३) लेने के लिए तथा २१ बिस्कुट (११४ के बजाय ९३) देने के लिए तैयार है । प्रतिस्थापन की सीमान्त दर १ २१ है । इसके बाद वह १ चॉकलेट के लिए १८ (९३–७५) बिस्कुटो का त्याग करने को तैयार है और इसलिए प्रतिस्थापन दर १ १८ है और इसी तरह आगे भी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर सदैव गिरती रहती है ।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर एक उपभोक्ता को किसी वस्तु की कुछ इकाइयो को दूसरी की कुछ इकाइयो से प्रतिस्थापन करने योग्य बनाती है। जिससे कि वह साम्य (equilibrium) अर्थात् अधिकतम लाभ की स्थिति तक पहुँच सके । यह बतलाया जाता है "कि एक व्यक्ति का किसी समय पर लागू मूल्यो की पद्धति के प्रति तभी साम्य हो सकता है जब कि किन्ही दो वस्तुओ के मूल्यो का अनुपात उन दोनो के बीच की सीमान्त प्रतिस्थापन दर को बराबर कर देता है, अन्यथा, उस विशिष्ट मडी की दर पर, उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह किसी वस्तु के एक भाग को दूसरे की सामान्य मूल्य के लिए प्रतिस्थापन करे।"[1]

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर इस प्रकार निश्चित की जा सकती है—अध्याय ४, विभाग २, में दी हुई तालिका पर विचार करो। यह मान लिया गया है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर है। मान लिया कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक रुपए की सतुष्टि की ३० इकाइयो के बराबर है। यदि हमारा उपकल्पित उपभोक्ता दो के बजाय तीन सेवो का उपभोग करता है, तो कुल उपयोगिता ३८ से बढकर ५३ इकाइयाँ हो जाती है अर्थात् १५ इकाइयो की वृद्धि होती है । यह आठ आने के व्यय के बराबर है (३० इकाइयाँ = १ रुपया , १५ इकाइयाँ = ८ आने के)। यह प्रतिस्थापन की सीमान्त दर है। "प्रतिस्थापन की सीमान्त दर द्रव्य की वह मात्रा है जो कि उस वस्तु की एक इकाई के बराबर की सतुष्टि देगी ।"[2] हम यह भी कह सकते है कि किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के द्रव्य के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के बराबर है जब तक कि प्रचलित मूल्य इस सीमान्त दर से कम है तब तक उस वस्तु के उपभोग को बढाना उपभोक्ता के लिए स्पष्ट रूप से लाभदायक है ।

---

1 Briggs and Jordon—Text Book of Economics (1935), p 94
2 Boulding, K —Economic Analysis, (1949), p 618

हमको मार्शल के उपयोगिता के विचार को परेटो के विचार से विभेद करना चाहिए। मार्शल ने वस्तु के आन्तरिक गुणो को सोचा जिसके कारण यह सतुष्टि देती है। इसका कोई भी सम्बन्ध किसी अन्य दूसरी वस्तु से नही है। यह निरपेक्ष (absolute) उपयोगिता का विचार है जबकि परेटो का विचार सापेक्ष (relative) है। वह किसी वस्तु की उपयोगिता को किसी दूसरी वस्तु की उन इकाइयो के सम्बन्ध में मानता है जो वस्तु की हानि को पूरा करती है। इस प्रकार प्रतिस्थापन की सीमान्त दर परेटो के उपयोगिता के विचार पर आधारित है। यह अधिक वैज्ञानिक है क्योकि यह उपयोगिता के मात्रिक (quantitative) माप की आवश्यकता अथवा सम्भावना को त्याग देता है। इस ओर तटस्थता वक्र की धारणा उपयोगिता धारण (concept) से उत्तम है।

६ प्रतिस्थापन नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Substitution)—प्रतिस्थापन के नियम का विस्तृत उपयोग है समय की उपयोगिता। विभिन्न रूपो मे आस्तियो के वितरण तथा विभिन्न कामो के लिए स्रोतो के बटन में इसको लागू किया जाता है । इस नियम को द्रव्य के मौजूदा और भविष्य के उपभोग में भी लागू कर सकते है, अर्थात्, वर्तमान में व्यय करना तथा भविष्य के लिए बचाना यह नियम अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की प्रत्येक शाखा मे लागू होता है ।

यह उपभोग में लागू होता है—प्रत्येक उपभोक्ता, यदि वह बुद्धिमान् है, तो वह अपने सीमित साधनो से अधिकतम सतुष्टि लेना चाहता है। उस लक्ष्य के अनुसार अपने व्यय की व्यवस्था करते समय उसको कम उपयोगिता रखने वाली वस्तु के लिये अधिक उपयोगिता रखने वाली वस्तु का प्रतिस्थापन करना चाहिये, जब तक कि सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर न हो जायें। इस प्रकार उपभोक्ता की सतुष्टि अधिकतम हो जायगी।

उत्पादन में इसका प्रयोग—व्यापारी तथा निर्माताओ के लिए यह नियम अधिक महत्त्व रखता है। वह लगाये हुए उत्पादन के साधनो का अति उत्तम मितव्ययी सयोग प्राप्त करना चाहता है। इस अभिप्राय से वह एक साधन दूसरे के लिए प्रतिस्थापन करेगा जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादिता (marginal productivity) समान हो जाये। यदि उसे ज्ञात होता है कि एक साधन, जैसे श्रम की सीमान्त उत्पादिता पूजी की सीमान्त उत्पादिता मे अधिक है, तो उसको एक का दूसरे के अतिरिक्त प्रतिस्थापन करना अधिक लाभदायक होगा। इस भाँति वह अपने लाभ को अधिकतम करने के योग्य हो जायगा।

विनिमय में इसका प्रयोग—हमारे सभी प्रकार के विनियम मे यह सिद्धान्त लागू होता है क्योकि विनिमय एक वस्तु का दूसरे के लिए केवल प्रतिस्थापन ही है । हमारे विनिमय की प्रतिस्थापन होने वाली प्रकृति इस आर्थिक सिद्धान्त की महत्ता को प्रतीत करने के लिए पर्याप्त है।

इस सिद्धान्त का **मूल्य के निर्धारण से महत्त्वपूर्ण** सम्बन्ध है। जब किसी वस्तु की

कमी होनी है, तो प्रतिस्थापन नियम हमारी सहायता करता है । हम अधिक दुर्लभ (scarce) वस्तु के बदले कम दुर्लभ वस्तु का प्रतिस्थापन करने लगते हैं । इस प्रकार दूसरे की दुर्लभता कम हो जाती है और उसका मूल्य घट जाता है ।

इसका वितरण (distribution) में प्रयोग—वितरण मे हमारा सम्बन्ध उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो के तत्सम्बन्धी अशो अर्थात् लगान, मजदूरी, व्याज, तथा लाभ के निर्धारण से है । ये हिस्से सीमान्त उत्पादिता के सिद्धात के अनुसार निर्धारित होते है । उत्पादन के प्रत्येक साधन का प्रयोग उद्यमी (entrepreneur) द्वारा लाभ की सीमा तक पहुँचाया जाता है और प्रत्येक स्थिति में सीमान्त उत्पादन बराबर होता है । यदि यह बराबर नही हो तो प्रतिस्थापन नियम उसकी सीमान्त उत्पादिता बराबर कर देता है। प्रतिस्थापन नियम इसी भाँति राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) को उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो में वितरण करने के क्षेत्र में लाभदायक सिद्ध होता है ।

इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम का प्रयोग सार्वलौकिक है । यह आर्थिक सिद्धात की प्रत्येक शाखा में मौलिक महत्त्व रखता है ।

७ प्रतिस्थापन नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law of Substitution)—अन्य आर्थिक नियमो की भाँति यह नियम भी एक प्रवृत्ति (tendency) का विवरण है । लोगो का वास्तविक व्यय इस नियम के विरुद्ध हो सकता है। ऐसा नीचे दी हुई सीमाओ के कारण हो सकता है —

(१) प्रतिस्थापन नियम में पाने वाली सतुष्टि की गणना सावधानी से करनी पडनी है और इस सतुष्टि की तुलना व्यय किये हुए द्रव्य तथा उस सतुष्टि से करनी होनी है, जोकि इसी द्रव्य को किसी दूसरी ओर व्यय करने से हो सकती है । परन्तु हममें से कितने ऐसी उत्तम गणना करने योग्य है और कितने ऐसा करने के हेतु धैर्य तथा योग्यता रखते है ? क्या हम सब ऐसे बुद्धिमान् तथा गणना करने में दक्ष है ? वास्तव में हमारा अधिकाश व्यय स्वभाव पर निर्भर है। हम न तो इसकी गणना सचेत रूप से करते है और न सावधानी से उपयोगिताओ की तुलना करते है ।

सिर्फ अधिक व्यय करने मे एक समझदार आदमी कुछ सोच विचार करता है और उसका व्यय अधिकतम सतुष्टि के नियम के अनुसार होता है ।

अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते है कि समस्त विचारयुक्त तथा विवेकशील पुरुष सचेत या अचेत रूप से इस नियम का पालन करते है । जैसा कि चैपमैन ने कहा है "हम प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय को वितरण करने में उस प्रकार विवश नही होते, जिस प्रकार कि पत्थर का टुकडा वायु मे फेंके जाने पर भूमि पर गिरने के लिए एक प्रकार से विवश हो जाता है, परन्तु हम वास्तव मे ऐसा एक बेढगे रूप से करते है क्योकि हम समझबूझ से काम लेते है ।"[1]

(२) उपभोक्ता के अज्ञान से एक ओर सीमा लग जाती है। हो सकता है कि वे

---

1 Chapman—Outlines of Political Economy, p 48

विकल्पो के दूसरे उपयोगों को जानते ही नही।

(३) मनुष्य कभी-कभी रीति-रिवाजो अथवा फैशन के अधीन हो जाते हैं और सही उपभोग करने योग्य नही रहते।

(४) एक और सीमा इसलिए लागू हो जाती है क्योकि वस्तुओ का छोटे-छोटे टुकडो में विभाजन नही हो सकता, जिससे कि उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिताओ को समान कर सके।

(५) व्यक्तियो का कोई निश्चित आय-व्यय (Budget) काल नही है। यदि एक निश्चित समय भी है तो भी इस सिद्धान्त का लागू होना व उपभोग की हुई वस्तुओ की स्थिरता की भिन्न-भिन्न मात्राओ के कारण कठिन है। एक स्थायी वस्तु कई क्रमिक लेखा किये हुए काल में उपभोग की जा सकती है। यह सरल नही है कि उसको एक लेखा किये हुए समय के आय और व्यय के हिसाब में यह देखने के लिए लाया जाये कि इस काल में सन्तुष्टि सबसे अधिक हुई है।

(६) अन्त मे सम सीमान्त उपयोगिता नियम (law of equi-marginal utility) की सन्तुष्टि तभी होगी जबकि उपभोग की हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमतो के बीच मे अनुपात हो। इस प्रकार

$$\frac{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \text{ग}$$

जब तक ग=१ नही होगा, नियम की सन्तुष्टि न होगी। लेकिन यह आवश्यक नही है कि उपभोक्ता एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत बराबर करें।

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

८ अर्थ (Meaning)—मार्शल ने उपभोक्ता की बचत का विचार सबसे प्रथम प्रस्तुत किया। उनका विचार उस बात के उचित वर्णन करने का था जिससे सब उपभोक्ता परिचित है।

हमारी साधारण खरीद बेच में भी, कुछ-न-कुछ उपभोक्ता की बचत होती है चूँकि जो हम वास्तव मे अदा करते है उससे ज्यादा अदा करने के लिए तैयार रहते है। उन वस्तुओ के खरीदने मे जो विशेषत लाभदायक तथा सस्ती होती है, उदाहरणार्थ पोस्ट कार्ड, अखबार, दियासलाई, नमक आदि। यदि कोई विकल्प ही न हो, तो उनके लिए हम जो कुछ देते हैं उससे कही अधिक देने को तैयार हो जावेंगे। जो अतिरिक्त सतुष्टि हम पाते है, उसी को उपभोक्ता की बचत कहते हैं।

मार्शल के शब्दो मे, "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार है और जो कि वह वास्तव में देता है उसका अन्तर ही इस

कमी होती है, तो प्रतिस्थापन नियम हमारी सहायता करता है। हम अधिक दुर्लभ (scarce) वस्तु के बदले कम दुर्लभ वस्तु का प्रतिस्थापन करने लगते हैं। इस प्रकार दूसरे की दुर्लभता कम हो जाती है और उसका मूल्य घट जाता है।

इसका वितरण (distribution) में प्रयोग—वितरण में हमारा सम्बन्ध उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो के तत्सम्बन्धी अशो अर्थात् लगान, मजदूरी, व्याज, तथा लाभ के निर्धारण से है। ये हिस्से सीमान्त उत्पादिता के सिद्धात के अनुसार निर्धारित होते हैं। उत्पादन के प्रत्येक साधन का प्रयोग उद्यमी (entrepreneur) द्वारा लाभ की सीमा तक पहुँचाया जाता है और प्रत्येक स्थिति में सीमान्त उत्पादन बराबर होता है। यदि यह बराबर नही हो तो प्रतिस्थापन नियम उसकी सीमान्त उत्पादिता बराबर कर देता है। प्रतिस्थापन नियम इसी भाँति राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) को उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो में वितरण करने के क्षेत्र में लाभ-दायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम का प्रयोग सार्वलौकिक है। यह आर्थिक सिद्धात की प्रत्येक शाखा में मौलिक महत्त्व रखता है।

७ प्रतिस्थापन नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law of Substitution)—अन्य आर्थिक नियमो की भाँति यह नियम भी एक प्रवृत्ति (tendency) का विवरण है। लोगो का वास्तविक व्यय इस नियम के विरुद्ध हो सकता है। ऐसा नीचे दी हुई सीमाओ के कारण हो सकता है —

(१) प्रतिस्थापन नियम में पाने वाली सतुष्टि की गणना सावधानी से करनी पडती है और इस सतुष्टि की तुलना व्यय किये हुए द्रव्य तथा उस सतुष्टि से करनी होती है, जोकि इसी द्रव्य को किसी दूसरी ओर व्यय करने से हो सकती है। परन्तु हममें से कितने ऐसी उत्तम गणना करने योग्य हैं और कितने ऐसा करने के हेतु धैर्य तथा योग्यता रखते हैं? क्या हम सब ऐसे बुद्धिमान् तथा गणना करने में दक्ष हैं? वास्तव में हमारा अधिकाश व्यय स्वभाव पर निर्भर है। हम न तो इसकी गणना सचेत रूप से करते हैं और न सावधानी से उपयोगिताओ की तुलना करते हैं।

सिर्फ अधिक व्यय करने में एक समझदार आदमी कुछ सोच विचार करता है और उसका व्यय अधिकतम सतुष्टि के नियम के अनुसार होता है।

अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि समस्त विचारयुक्त तथा विवेकशील पुरुष सचेत या अचेत रूप से इस नियम का पालन करते हैं। जैसा कि चैपमैन ने कहा है "हम प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय को वितरण करने में उस प्रकार विवश नही होते, जिस प्रकार कि पत्थर का टुकडा वायु में फेंके जाने पर भूमि पर गिरने के लिए एक प्रकार से विवश हो जाता है, परन्तु हम वास्तव में ऐसा एक बेढगे रूप से करते हैं क्योंकि हम समझबूझ से काम लेते हैं।"[1]

(२) उपभोक्ता के अज्ञान से एक और सीमा लग जाती है। हो सकता है कि वे

---

1 Chapman—Outlines of Political Economy, p 48

विकल्पो के दूसरे उपयोगो को जानते ही नही।

(३) मनुष्य कभी-कभी रीति-रिवाजो अथवा फैशन के अधीन हो जाते है और सही उपभोग करने योग्य नही रहते।

(४) एक और सीमा इसलिए लागू हो जाती है क्योकि वस्तुओ का छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजन नही हो सकता, जिससे कि उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिताओ को समान कर सके।

(५) व्यक्तियो का कोई निश्चित आय-व्ययक (Budget) काल नही है। यदि एक निश्चित समय भी है तो भी इस सिद्धान्त का लागू होना व उपभोग की हुई वस्तुओ की स्थिरता की भिन्न-भिन्न मात्राओ के कारण कठिन है। एक स्थायी वस्तु कई क्रमिक लेखा किये हुए काल में उपभोग की जा सकती है। यह सरल नही है कि उसको एक लेखा किये हुए समय के आय और व्यय के हिसाब में यह देखने के लिए लाया जाये कि इस काल में सन्तुष्टि सबसे अधिक हुई है।

(६) अन्त मे सम सीमान्त उपयोगिता नियम (law of equi-marginal utility) की सन्तुष्टि तभी होगी जबकि उपभोग की हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमतो के बीच मे अनुपात हो। इस प्रकार

$$\frac{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \text{ग}$$

जब तक ग=१ नही होगा, नियम की सन्तुष्टि न होगी। लेकिन यह आवश्यक नही है कि उपभोक्ता एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत बराबर करें।

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

८. अर्थ (Meaning)—मार्शल ने उपभोक्ता की बचत का विचार सबसे प्रथम प्रस्तुत किया। उनका विचार उस बात के उचित वर्णन करने का था जिससे सब उपभोक्ता परिचित है।

हमारी साधारण खरीद बेच में भी, कुछ-न-कुछ उपभोक्ता की बचत होती है चूँकि जो हम वास्तव में अदा करते है उससे ज्यादा अदा करने के लिए तैयार रहते हैं। उन वस्तुओ के खरीदने मे जो विशेषत लाभदायक तथा सस्ती होती है, उदाहरणार्थ पोस्ट कार्ड, अखबार, दियासलाई, नमक आदि। यदि कोई विकल्प ही न हो, तो उनके लिए हम जो कुछ देते है उससे कही अधिक देने को तैयार हो जावेंगे। जो अतिरिक्त सतुष्टि हम पाते है, उसी को उपभोक्ता की बचत कहते है।

मार्शल के शब्दो मे, "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार है और जो कि वह वास्तव में देता है उसका अन्तर ही इस

कमी होनी है, तो प्रतिस्थापन नियम हमारी सहायता करता है। हम अधिक दुर्लभ (scarce) वस्तु के बदले कम दुर्लभ वस्तु का प्रतिस्थापन करने लगते हैं। इस प्रकार दूसरे की दुर्लभता कम हो जाती है और उसका मूल्य घट जाता है।

इसका वितरण (distribution) में प्रयोग—वितरण मे हमारा सम्बन्ध उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो के तत्सम्बन्धी अशो अर्थात् लगान, मजदूरी, व्याज, तथा लाभ के निर्धारण से है। ये हिस्से सीमान्त उत्पादिता के सिद्धात के अनुसार निर्धारित होते है। उत्पादन के पत्येक साधन का प्रयोग उद्यमी (entrepreneur) द्वारा लाभ की सीमा तक पहुँचाया जाता है और प्रत्येक स्थिति में सीमान्त उत्पादन वरावर होता है। यदि यह वरावर नही हो तो प्रतिस्थापन नियम उसकी सीमान्त उत्पादिता वरावर कर देता है। प्रतिस्थापन नियम इसी भाँति राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) को उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो मे वितरण करने के क्षेत्र में लाभ-दायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम का प्रयोग सार्वलौकिक है। यह आर्थिक सिद्धात की प्रत्येक शाखा में मौलिक महत्त्व रखता है।

७ प्रतिस्थापन नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law of Substitution)—अन्य आर्थिक नियमो की भाँति यह नियम भी एक प्रवृत्ति (tendency) का विवरण है। लोगो का वास्तविक व्यय इस नियम के विरुद्ध हो मकता है। ऐसा नीचे दी हुई मीमाओ के कारण हो सकता है —

(१) प्रतिस्थापन नियम में पाने वाली मतुष्टि की गणना सावधानी से करनी पडनी है और इस मतुष्टि की तुलना व्यय किये हुए द्रव्य तथा उस सतुष्टि से करनी होती है, जोकि इसी द्रव्य को किसी दूसरी ओर व्यय करने से हो सकती है। परन्तु हममें से कितने ऐमी उत्तम गणना करने योग्य है और कितने ऐसा करने के हेतु धैर्य तथा योग्यता रखते है? क्या हम सब ऐसे बुद्धिमान् तथा गणना करने में दक्ष हैं? वास्तव में हमारा अधिकाश व्यय स्वभाव पर निर्भर है। हम न तो इसकी गणना सचेत रूप से करते है और न सावधानी से उपयोगिताओ की तुलना करते है।

सिर्फ अधिक व्यय करने में एक समझदार आदमी कुछ सोच विचार करता है और उसका व्यय अधिकतम सतुष्टि के नियम के अनुसार होता है।

अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि समस्त विचारयुक्त तथा विवेकशील पुरुप सचेत या अचेत रूप से इस नियम का पालन करते है। जैसा कि चैपमैन ने कहा है "हम प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय को वितरण करने में उस प्रकार विवश नही होते, जिस प्रकार कि पत्थर का टुकडा वायु में फेंके जाने पर भूमि पर गिरने के लिए एक प्रकार मे विवश हो जाता है, परन्तु हम वास्तव में ऐसा एक वेढगे रूप से करते हैं क्योंकि हम समझबूझ से काम लेते हैं।"[1]

(२) उपभोक्ता के अज्ञान से एक और सीमा लग जाती है। हो सकता है कि वे

1 Chapman—Outlines of Political Economy, p 48

विकल्पो के दूसरे उपयोगो को जानते ही नही।

(३) मनुष्य कभी-कभी रीति-रिवाजो अथवा फैशन के अधीन हो जाते हैं और सही उपभोग करने योग्य नही रहते।

(४) एक और सीमा इसलिए लागू हो जाती है क्योकि वस्तुओ का छोटे-छोटे टुकडो में विभाजन नही हो सकता, जिससे कि उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिताओ को समान कर सके।

(५) व्यक्तियो का कोई निश्चित आय-व्ययक (Budget) काल नही है। यदि एक निश्चित समय भी है तो भी इस सिद्धान्त का लागू होना व उपभोग की हुई वस्तुओ की स्थिरता की भिन्न-भिन्न मात्राओ के कारण कठिन है। एक स्थायी वस्तु कई क्रमिक लेखा किये हुए काल में उपभोग की जा सकती है। यह सरल नही है कि उसको एक लेखा किये हुए समय के आय और व्यय के हिसाव में यह देखने के लिए लाया जाये कि इस काल में सन्तुष्टि सवसे अधिक हुई है।

(६) अन्त में सम सीमान्त उपयोगिता नियम (law of equi-marginal utility) की सन्तुष्टि तभी होगी जवकि उपभोग की हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमतो के वीच मे अनुपात हो। इस प्रकार

$$\frac{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \text{ग}$$

जव तक ग=१ नही होगा, नियम की सन्तुष्टि न होगी। लेकिन यह आवश्यक नही है कि उपभोक्ता एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत वरावर करें।

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

८ अर्थ (Meaning)—मार्शल ने उपभोक्ता की वचत का विचार सवसे प्रथम प्रस्तुत किया। उनका विचार उस वात के उचित वर्णन करने का था जिससे सव उपभोक्ता परिचित है।

हमारी साधारण खरीद बेच में भी, कुछ-न-कुछ उपभोक्ता की वचत होती है चूँकि जो हम वास्तव मे अदा करते हे उससे ज्यादा अदा करने के लिए तैयार रहते हे। उन वस्तुओ के खरीदने में जो विशेषत लाभदायक तथा सस्ती होती है, उदाहरणार्थ पोस्ट कार्ड, अखवार, दियासलाई, नमक आदि। यदि कोई विकल्प ही न हो, तो उनके लिए हम जो कुछ देते हैं उससे कही अधिक देने को तैयार हो जावेंगे। जो अतिरिक्त सतुष्टि हम पाते हैं, उसी को उपभोक्ता की वचत कहते हे।

मार्शल के शव्दो में, "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार है और जो कि वह वास्तव में देता है उसका अन्तर ही इस

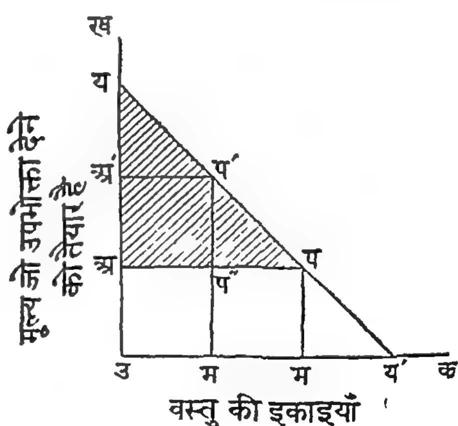
अधिक सतुष्टि की आर्थिक माप है। इसको उपभोक्ता की बचत कह सकते है।"[1]

"The excess of the price which he (i e, consumer) would be willing to pay rather than go without the thing over that which he actually does pay is the economic measure of this surplus satisfaction It may be called Consumer's Surplus" —*Marshall*

सक्षेप में, उपभोक्ता की बचत=जो कुछ हम देने को तैयार है—जो कुछ हम वास्तव मे देते है।

६ उपभोक्ता की बचत तथा घटती हुई उपयोगिता का नियम (Consumer's Surplus and the Law of Diminishing Utility)–उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त घटती हुई उपयोगिता के नियम से निकलता है। अध्याय ४, विभाग २ में तालिका को देखिये।

मान लीजिये कि प्रत्येक सेब का मूल्य बाजार में ६ पैसा है। उपभोक्ता उस सीमा तक सेब खरीदता जायेगा जहा तक कि उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर हो जाये। इस भाति वह ५ सेब खरीदेगा और प्रत्येक के लिए ६ पैसे देगा। (उपयोगिता की एक इकाई एक पैसे के बराबर मान ली गई है)। इस प्रकार वह कुल ३० पैसे व्यय करेगा परन्तु ५ सेबो से उसकी कुल उपयोगिता ७० पैसो से मापी जाती है। इस भाँति वह ४० पैसो के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त करता है। यह प्रवृत्ति इस कारण है कि उसने उसके उपभोग से वचित रहने की अपेक्षा ७० पैसे दे दिये होते परन्तु वह वास्तव में ३० पैसे ही देता है। यदि मूल्य ११ पैसे हो जाता है तो वह ४ सेब खरीदेगा और ४४ पैसे देगा जबकि कुल उपयोगिता ६४ पैसे के बराबर है। इसमे उसको २० पैसे के बराबर उपभोक्ता की बचत मिलेगी और इसी प्रकार आगे होगा।



चित्र न० ११

नीचे उपभोक्ता की बचत का रेखाचित्र द्वारा निरूपण किया गया है —

उ क पर वस्तु की खरीदी जाने वाली इकाइयाँ मापी गई है और उ ख पर द्रव्य

1 For later refinements in the concept of Consumer's Surplus, reference may be made to Hick's article on "The Generalized Theory of Consumer's Surplus" in the "Review of Economic Studies" (1945—46) Vol. XIII (2), No 34

में उपयोगिता मापी गई है, जिसका अर्थ उस मूल्य से है जो उपभोक्ता, वस्तु की किसी विशिष्ट इकाई के उपभोग की अपेक्षा देने को तैयार है।

यदि प्रचलित कीमत प म है, तो उपभोक्ता म इकाई तक खरीदेगा। वह उ म मात्रा खरीदेगा। ऐसा इस कारण है कि इस राशि पर उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर है। परन्तु उसकी पहली इकाइयो की सीमान्त उपयोगिता प म से अधिक है। उदाहरणार्थ म′ इकाई की सीमान्त उपयोगिता प′ म′ है, परन्तु वह इस इकाई के लिए दूसरी इकाइयो की भाँति केवल प म (=प″ म′) प्रचलित मूल्य ही देता है। इस प्रकार म′ इकाई के लिए प′ प″ के बराबर अधिक उपयोगिता प्राप्त करता है। यह उस इकाई की उपभोक्ता की बचत है। इस प्रकार जब उ म इकाई प म मूल्य पर खरीदी जाती है, तो जो उपभोक्ता की कुल बचत उसको मिलती है वह रगे हुए क्षेत्र य अ प से दिखाई गई है। यदि प्रचलित कीमत प′ म′ तक बढ जाती है तो वह केवल उ म′ मात्रा ही खरीदेगा और उपभोक्ता की बचत एक छोटे त्रिभुज य अ′ प′ तक गिर जायेगी।

उपभोक्ता की बचत इसलिए होती है कि कुछ खरीदार सीमान्त होते हैं तथा दूसरे नही। वह खरीदार जो सीमान्त खरीदार के ऊपर हैं, बचत प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार एक उपभोक्ता सीमा के भीतर के क्रय मे अर्थात् वह क्रय जो सीमान्त नही है, बचत प्राप्त करता है।

उपभोक्ता की बचत की गणना करने में हम परिपूर्ण बाजार (perfect market) की अर्थात् प्रत्येक इकाई के लिए समान कीमत की कल्पना कर लेते है। यदि किसी उपभोक्ता के लिए कीमत में अन्तर हो, अर्थात् पहिले की इकाइयो के लिए अधिक कीमत तथा क्रमिक इकाइयो के लिए कम कीमत ली जाए तो परिपूर्ण बाजार की अपेक्षा वस्तु की उसी ही मात्रा के लिए उसको अधिक देना होगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कीमत वाले बाजार की अपेक्षा पूर्ण बाजार मे क्रय करने से बचत प्राप्त होगी।

१० क्या उपभोक्ता की बचत मापी जा सकती है ? (Can Consumer's Surplus be Measured ?)—ऐसा मालूम होता है कि यह मापी जा सकती है। हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया था कि उपभोक्ता की बचत, जो कुछ हम उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार है, तथा जो कुछ वास्तव में देते हैं, दोनो का अन्तर है, अथवा यह नीचे दिये हुए सूत्र से निश्चय किया जा सकता है —

उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—मूल्य × क्रय की हुई इकाइयो की सख्या।

यह कितना साधारण प्रतीत होता है।

किन्तु उपभोक्ता की बचत की माप इतनी साधारण नही है। उपभोक्ता की बचत की ठीक-ठीक माप के लिए बहुत कठिनाइयो का सामाना करना पडना है।

(१) **माँग की कीमतो की पूर्ण सूची प्राप्य नही है**—हम केवल माँग अनुसूची (demand schedule) के एक भाग को ही जानते है। क्योकि हम यह नही जानते कि प्रत्येक इकाई के लिए हम कितना देने को तैयार होगे, उपभोक्ता की बचत निश्चय नही की जा सकती। तो भी वास्तविक जीवन में हमें माँग अनुसूची के उस भाग से

सम्बन्ध रखते हैं, जिस से हम भली भाति परिचित हैं। कीमतो के छोटे-छोटे परिवर्तनो की प्रतिक्रियाओ का ज्ञान भली भाँति रहता है। वास्तविक जीवन में हम कल्पित दुर्लभता की कीमतो मे या बहुत सस्ती कीमतो को ध्यान मे नही रखते।

(२) उपभोक्ता की बचत आवश्यकताओ तथा लौकिक अनिवार्यताओं में असीमित और अमापनीय है। आवश्यक तथा लौकिक अनिवार्यताओ मे से कोई निश्चित सतुष्टि नही मिलती। उनकी सतुष्टि से केवल दु ख दूर होता है और कोई आनन्द नही मिलता। पैटेन (Patten) इसको 'दु खमय' अर्थव्यवस्था (pain economy) कहते हैं। जब आवश्यक (necessary) अनिवार्यताओ की सतुष्टि हो जाती है तभी उपभोक्ता की बचत का प्रश्न उठ सकता है। इस अवस्था को जिसको पैटेन 'आनन्दमय' अर्थव्यवस्था (pleasure economy) कहते हैं, उपभोक्ता की बचत होती है।

(३) **उपभोक्ता की स्थिति भिन्न होती है** (Consumers' Circumstances vary)—कुछ उपभोक्ता धनी तथा कुछ निर्धन होते हैं। एक धनी पुरुप किसी वस्तु के लिए उसके उपभोग से वचित रहने की अपेक्षा कही अधिक देने को तैयार रहता है। उपभोक्ता की स्थिति में इस भिन्नता से उपभोक्ता की बचत मापने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को औसत निकालने से दूर किया जा सकता है। जब धनी तथा निर्धन, अधिक खरीदार होते हैं, तब व्यक्तिगत स्थितियो के अन्तर पर ध्यान देने की आवश्यकता नही है।

(४) **उपभोक्ताओ की चैतन्यता भिन्न है** (Consumers differ in sensibilities)—प्रत्येक उपभोक्ता की भिन्न-भिन्न रुचि तथा चैतन्यता (sensibility) होती है। कुछ दूसरो की अपेक्षा एक वस्तु को पाने के बहुत उत्सुक होते हैं तथा उसके लिए अधिक देने को तैयार रहते हैं। यह कठिनाई भी पहले की भाँति औसत निकालने से दूर हो सकती है। जब हम तमाम उपभोक्ताओ के व्यवहार का विचार करते हैं तो व्यक्तिगत रुचि तथा चैतन्यता का ध्यान हटा देते हैं।

(५) **द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होता रहता है** (Marginal Utility of Money Changes)—जैसे-जैसे हम किसी वस्तु को खरीदते जाते हैं, हमारे पास द्रव्य की मात्रा कम होती जाती है। इसलिए द्रव्य की प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है। परन्तु जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो हम द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में इस परिवर्तन का ध्यान नही रखते। इस आक्षेप के उत्तर मे हम कह सकते हैं कि वास्तविक व्यवहार मे हम अकेली वस्तु के खरीदने में केवल थोडी मात्रा में ही द्रव्य व्यय करते हैं। अतएव द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताओ में परिवर्तन बहुत ही कम होता है।

(६) एक और कठिनाई यह है कि एक वस्तु की क्रय में प्रत्येक वृद्धि के साथ पहली क्रय की हुई इकाइयो की आवश्यकता घट जाती है तथा उपयोगिता कम हो जाती है। जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो पहली इकाइयो की उपयोगिता की इस कमी का ध्यान नही रखते। उपभोक्ता की बचत ठीक ठीक मापने के लिए यह सकेत किया जाता है कि पहली इकाइयो की माँग के मूल्य की सूची को लगातार बदलना चाहिये। यह

आक्षेप सही होता यदि प्रत्येक इकाई के सामने की लिखी हुई उपयोगिता औ
कि अतिरिक्त उपयोगिता। केवल औसत हर पग पर वदलता है न कि अतिरिक्त
(अध्याय ४ विभाग २ में तालिका को देखो)। यदि उपभोक्ता दो सेव खर
औसत १९ है, तीन सेवो पर वह ५३/३ है और चार पर १६ है और
जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु की चाहे जितनी भी इकाइयाँ खरीदी
निस्सदेह ही वदलेगा, परन्तु सीमान्त अथवा अतिरिक्त उपयोगिता नही वदले

(७) फिर प्रतिस्थापन वस्तुओ की उपस्थिति के कारण भी कुछ कठिन
होती हैं। यह पहले ही वता दिया गया है कि उनकी उपयोगिता की माप
नाई उपस्थित हो जाती है।[1] इस कठिनाई को दूर करने के लिए चाय और
दो प्रतिस्थापन वस्तुओ को एक मान लेना चाहिये जैसा कि मार्शल ने बताय

(८) विशिष्टता (Distinction) के लिए उपयोग की जाने वा
हीरा जैसी वस्तुओ की कीमत में कमी से माँग में वृद्धि न होगी। जब ऐसी
हो जाती है, तो वे उपभोक्ता के लिए कोई श्रेष्ठता नही रखती। अतएव
गिर सकती है। इसलिए ऐसी स्थितियो मे कीमत में कमी होने से उपभोक्
नही वढ़ेगी।

इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उपभोक्ता की वचत क
मापना असम्भव है। परन्तु इस कारण उपभोक्ता की वचत की धारणा
व्यावहारिक जीवन में, चाहे वह व्यवसाय से या सार्वजनिक वित्त से सम्बद्ध ह
की वचत की माप के वारे में एक मोटा तथा कार्ययुक्त विचार सदैव ही वना

११. उपभोक्ता की वचत की समालोचना (Criticism sumer's Surplus)—केनन निकलसन रॉविन्सन तथा डैविनपोर्ट
शास्त्रियो ने उपभोक्ता की वचत के सिद्धान्त की कडी समालोचना की
वैज्ञानिक लक्षण पर यह आक्षेप लगाया गया है कि यह ऐसी कल्पनाओ पर
जो अनुचित है। इसका माप करने में हम यह कल्पना कर लेते है कि उपयो
ठीक मापी जा सकती है और द्रव्य में वदली जा सकती है। यह भी मान
है कि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयो की भिन्न-भिन्न उपयोगिताएँ हो
अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता निरपेक्ष (absolute) समझ ली
कि वह वास्तव मे नही है। यह भी मान लिया जाता है कि द्रव्य की सीमान्त
स्थिर रहती है। जब हम द्रव्य व्यय करते जाते है, तो हमारे पास वची हुई द्रव
इकाई की उपयोगिता वढती जाती है। जबकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता
है। इससे उपभोक्ता की वचत को मापने में अधिक कठिनाई होने
हिक्स ने तटस्थता वक्र द्वारा उपभोक्ता की वचत को प्रस्तुत किया है जिससे
सिद्धान्त इस कल्पना से स्वतन्त्र हो जाता है।[2]

सम्बन्ध रखते हैं, जिस से हम भली भाँति परिचित हैं। कीमतों के छोटे-छोटे परिवर्तनों की प्रतिक्रियाओं का ज्ञान भली भाँति रहता है। वास्तविक जीवन में हम कल्पित दुर्लभता की कीमतों से या बहुत सस्ती कीमतों को ध्यान में नहीं रखते।

(२) उपभोक्ता की बचत आवश्यकताओं तथा लौकिक अनिवार्यताओं में असीमित और अमापनीय है। आवश्यक तथा लौकिक अनिवार्यताओं में से कोई निश्चित सतुष्टि नहीं मिलती। उनकी सतुष्टि से केवल दुःख दूर होता है और कोई आनन्द नहीं मिलता। पैटेन (Patten) इसको 'दुःखमय' अर्थव्यवस्था (pain economy) कहते हैं। जब आवश्यक (necessary) अनिवार्यताओं की सतुष्टि हो जाती है तभी उपभोक्ता की बचत का प्रश्न उठ सकता है। इस अवस्था को जिसको पैटेन 'आनन्दमय' अर्थव्यवस्था (pleasure economy) कहते हैं, उपभोक्ता की बचत होती है।

(३) **उपभोक्ता की स्थिति भिन्न होती है** (Consumers' Circumstances vary)—कुछ उपभोक्ता धनी तथा कुछ निर्धन होते हैं। एक धनी पुरुष किसी वस्तु के लिए उसके उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा कहीं अधिक देने को तैयार रहता है। उपभोक्ता की स्थिति में इस भिन्नता से उपभोक्ता की बचत मापने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को औसत निकालने से दूर किया जा सकता है। जब धनी तथा निर्धन, अधिक खरीदार होते हैं, तब व्यक्तिगत स्थितियों के अन्तर पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

(४) **उपभोक्ताओं की चैतन्यता भिन्न है** (Consumers differ in sensibilities)—प्रत्येक उपभोक्ता की भिन्न-भिन्न रुचि तथा चैतन्यता (sensibility) होती है। कुछ दूसरों की अपेक्षा एक वस्तु को पाने के बहुत उत्सुक होते हैं तथा उसके लिए अधिक देने को तैयार रहते हैं। यह कठिनाई भी पहले की भाँति औसत निकालने से दूर हो सकती है। जब हम तमाम उपभोक्ताओं के व्यवहार का विचार करते हैं तो व्यक्तिगत रुचि तथा चैतन्यता का ध्यान हटा देते हैं।

(५) **द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होता रहता है** (Marginal Utility of Money Changes)—जैसे-जैसे हम किसी वस्तु को खरीदते जाते हैं, हमारे पास द्रव्य की मात्रा कम होती जाती है। इसलिए द्रव्य की प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है। परन्तु जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो हम द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में इस परिवर्तन का ध्यान नहीं रखते। इस आक्षेप के उत्तर में हम कह सकते हैं कि वास्तविक व्यवहार में हम अकेली वस्तु के खरीदने में केवल थोड़ी मात्रा में ही द्रव्य व्यय करते हैं। अतएव द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताओं में परिवर्तन बहुत ही कम होता है।

(६) एक और कठिनाई यह है कि एक वस्तु की क्रय में प्रत्येक वृद्धि के साथ पहली क्रय की हुई इकाइयों की आवश्यकता घट जाती है तथा उपयोगिता कम हो जाती है। जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो पहली इकाइयों की उपयोगिता की इस कमी का ध्यान नहीं रखते। उपभोक्ता की बचत ठीक-ठीक मापने के लिए यह संकेत किया जाता है कि पहली इकाइयों की माँग के मूल्य की सूची को लगातार बदलना चाहिये। यह

आक्षेप सही होता यदि प्रत्येक इकाई के सामने की लिखी हुई उपयोगिता औसत होती न कि अतिरिक्त उपयोगिता। केवल औसत हर पग पर वदलता है न कि अतिरिक्त उपयोगिता (अध्याय ४ विभाग २ में तालिका को देखो)। यदि उपभोक्ता दो सेव खरीदता है, तो औसत १९ है, तीन सेवो पर वह ५३/३ है और चार पर १६ है और ऐसे ही होता जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु की चाहे जितनी भी इकाइयाँ खरीदी जाये औसत निस्सदेह ही वदलेगा, परन्तु सीमान्त अथवा अतिरिक्त उपयोगिता नही वदली जायगी।

(७) फिर प्रतिस्थापन वस्तुओ की उपस्थिति के कारण भी कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। यह पहले ही वता दिया गया है कि उनकी उपयोगिता की माप में कैसे कठिनाई उपस्थित हो जाती है।[1] इस कठिनाई को दूर करने के लिए चाय और काफी जैसी दो प्रतिस्थापन वस्तुओ को एक मान लेना चाहिये जैसा कि मार्शल ने वताया है।

(८) **विशिष्टता (Distinction) के लिए उपयोग की जाने वाली वस्तुएँ**—हीरा जैसी वस्तुओ की कीमत में कमी से माँग में वृद्धि न होगी। जव ऐसी वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं, तो वे उपभोक्ता के लिए कोई श्रेष्ठता नही रखती। अतएव उनकी माँग गिर सकती है। इसलिए ऐसी स्थितियो मे कीमत मे कमी होने मे उपभोक्ता की वचत नही वढेगी।

इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उपभोक्ता की वचत का ठीक-ठीक मापन असम्भव है। परन्तु इस कारण उपभोक्ता की वचत की धारणा व्यर्थ नही है। व्यावहारिक जीवन में, चाहे वह व्यवसाय से या सार्वजनिक वित्त से सम्वद्ध हो, उपभोक्ता की वचत की माप के वारे में एक मोटा तथा कार्ययुक्त विचार सदैव ही वना सकते है।

११. उपभोक्ता की बचत की समालोचना (Criticism of Consumer's Surplus)—केनन निकलसन रॉविन्सन तथा डैविनपोर्ट जैसे अर्थशास्त्रियो ने उपभोक्ता की वचत के सिद्धान्त की कडी समालोचना की है। इसके वैज्ञानिक लक्षण पर यह आक्षेप लगाया गया है कि यह ऐसी कल्पनाओ पर आधारित है जो अनुचित है। इसका माप करने मे हम यह कल्पना कर लेते है कि उपयोगिताएँ ठीक-ठीक मापी जा सकती है और द्रव्य में वदली जा सकती है। यह भी मान लिया जाता है कि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयो की भिन्न-भिन्न उपयोगिताएँ होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता निरपेक्ष (absolute) समझ ली गई है जो कि वह वास्तव में नही है। यह भी मान लिया जाता है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। जव हम द्रव्य व्यय करते जाते है, तो हमारे पास वची हुई द्रव्य की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता वढ़ती जाती है। जवकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता गिरती जाती है। इससे उपभोक्ता की वचत को मापने मे अधिक कठिनाई होने लगती है। हिक्स ने तटस्थता वक्र द्वारा उपभोक्ता की वचत को प्रस्तुत किया है जिसके कारण यह सिद्धान्त इस कल्पना से स्वतन्त्र हो जाता है।[2]

---

1. अध्याय ४, विभाग १२।
2. Hicks, J K —Value and Capital, (1948) p p 38-40.

देश से व्यापार करने से हम कुछ वस्तुएँ जो सस्ती होती है बाहर से मँगाते है। बाहर से मँगाने से पहले हम उसी प्रकार की वस्तुओ के लिए अधिक देते थे। वे हमको अतिरिक्त सतुष्टि देनी है जिसकी हम इस प्रकार माप कर सकते है—वह मूल्य जो हम देने के लिए तैयार थे, तथा वह मूल्य जो हम वास्तव मे देते है, उसका अन्तर ही उस सतुष्टि का माप होगा। जितनी अधिक यह बचत होगी उतना ही लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा।

१३ उपभोक्ताओ के अधिमान (Consumers' Preferences)—वह अध्याय समाप्त करने के पहले उपभोक्ता के चुनावो के बारे में कुछ कहा जा सकता है। जिस ससार में हम रहते हैं चुनाव जरूरी हैं। इसका कारण समय, शक्ति तथा द्रव्य में हमारे साधनो का सीमित होना और उनके उपयोगो का असीमित होना है। हमको उन वस्तुओ मे जिनको हम खरीद सकते है अथवा जिनको खरीदते है, निरतर चुनाव करना पडता है। ऐसे निर्णय हमारे अधिमानो (preferences) को प्रकट करते है। अपने स्रोतो से अधिकाधिक सतुष्टि पाने के लिए, उपभोक्ता को खरीदने वाले माल के बारे में अपनी छाँट (अधिमान) बना लेना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, उसकी 'अधिमानो की माप' (scale of preferences) होनी चाहिए।

अर्थशास्त्र में हम मान लेते ह कि उपभोक्ता अपनी अभिरुचि, लाभ तथा त्याग का उचित विचार और सचेत गणना करके करता है। अतएव हम मान लेते है कि उपभोक्ता प्रेरणा, स्वभाव, रीति-रिवाज तथा आलस्य से प्रभावित नही होता। हम यह भी मान लेते है कि प्रत्येक उपभोक्ता पर्याप्त समय यह सोचने में लगाता है कि वह एक वस्तु खरीदे या नही और खरीदे तो कितनी ? वह सबसे सस्ती दुकान खोजने तथा अच्छा सौदा करने की मेहनत से पीछे नही हटता। हम यह सब इस कारण मानते है कि अन्यथा आर्थिक सामान्य अनुमान (economic generalisations) असभव हो जायेंगे। तब अर्थशास्त्री भिन्न-भिन्न आर्थिक क्षेत्रो की प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने के योग्य नही रहेगा।

परन्तु हमको यह न भूल जाना चाहिये कि उपभोक्ताओ की अभिरुचि वास्तव में विवेकपूर्ण नही होती। अधिक मनुष्य वस्तुओ को स्वभाव तथा केवल अनुकरण से ही खरीदते है। वह आकर्षित विज्ञापनो द्वारा प्रलोभित हो जाते है। कुछ ही व्यक्ति ऐसे है जो कीमत के सम्बन्ध मे पूछताछ करने का कष्ट उठाते है। बहुत-से व्यक्ति तो यो ही विना सोचे समझे खरीदते है। व्यय के लिए पहले से प्रबन्ध नही किया जाता। हम कभी यह नही सोचते कि वास्तव में हमको एक वस्तु खरीदनी चाहिये या नही। इसके सिर्फ कुछ ही अपवाद है यह मानना भी वास्तविकता से परे हटना होगा कि उपभोक्ता अपने 'अधिमानो की माप' (scales of preferences) के बारे में पूर्ण रूपसे सचेत होते है या यह कि ये माप (scale) पूर्ण तथा स्थिर है।

उपभोक्ताओ की अभिरुचि की कुछ भी प्रकृति हो तो भी वह हमारी आर्थिक पद्धति में निश्चित करने वाला साधन है। उपभोक्ता के प्रभुत्व का नीचे के विभाग में विवेचन किया गया है।

१४ उपभोक्ता का प्रभुत्व (Sovereignty of the Consumer)[1]—पूजीवाद अथवा अवाध प्रतियोगिता (free competition) में उपभोक्ता की तुलना एक सम्राट् से की गई है। समस्त उत्पादक यत्र उसकी प्रभुता के अन्दर कार्य करते माने गये हैं। उसके मन की लहरें, उसका पक्षपात तथा उसकी इच्छाएँ (production) के ससार पर शासन करती है। आधुनिक उद्योग के उद्यमी उसके गुलाम है और उसकी आज्ञा पालन करने वाले एजेंट है। यदि उपभोक्ता प्रसन्न है तो उद्यमी भी प्रसन्न तथा सौभाग्यशाली होंगे और यदि उपभोक्ता असतुष्ट है तो उद्यमी के भी भाग्य पर ताला लग जायगा।

पहले जमाने में उपभोक्ता का अधिकार स्पष्ट था। उपभोक्ता जूतो, कपडो इत्यादि का आर्डर करता था और बनाने वाला केवल आज्ञा का पालन सच्चाई से करता था। उपभोक्ता को जो वह चाहता था, मिलता था। वह नि सदेह सम्राट् था।

परन्तु आधुनिक उत्पादक आज्ञानुसार कार्य नही करता। वह कार्य का पहले से अनुमान करता है। उद्यमी का यह कार्य है कि वह चतुराई से यह अनुमान लगाये कि कौन-सी वस्तुओ से उपभोक्ता अधिक सतुष्ट होगा। परन्तु यहाँ भी उपभोक्ता के अधिमानो (preference) का पूरा प्रभाव पडता है। यदि उद्यमी उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ का ठीक-ठीक चतुरतापूर्वक अनुमान नही लगा सकता अथवा उसकी स्थिर की हुई कीमते उपभोक्ता के अनुकूल नही है तो उसकी वस्तुओ की बिक्री नही होगी।

पूजीवादी अर्थव्यवस्था में ऐसे उद्यमी ही सफल होगे जो उपभोक्ताओ को सबसे अधिक सतुष्ट रखते हैं। "व्यापक उपभोग सर्वमताधिकार की भाति है। यह नियत्रण का एक लोकप्रिय साधन है। उपभोग के लिए केवल इस गुण की आवश्यकता होगी कि उसकी आय पर अधिकार हो जिससे कि वाछनीय वस्तुएँ प्राप्त होगी। आर्थिक चुनाव मे एक उपभोक्ता उतने वोट डालता है जितने कि उसके पास खर्च करने के लिए हो। यदि आर्थिक नियोजकगण (economic electorates) अपना रुपया आवश्यकताओ की अपेक्षा खिलौनो पर तथा शुद्ध अथवा सुन्दर वस्तुओ की अपेक्षा बनावटी अथवा भद्दी वस्तुओ पर व्यय करना चाहते है तो उन वस्तुओ का उत्पादन किया जायगा। हमारी उद्योग सम्बन्धी क्रियाएँ उपभोक्ता के चुनाव पर चाहे वह चतुर हो अथवा मूढ, व्यवसाय की क्रियाओ का सचालन होता है। यह एक बिजली के सरकट को रोकने (close the electric circuit) के समान है, जोकि ऐसी धारा पैदा करे जिससे कि उत्पादन का यत्र तीव्र गति से चालू हो सके।"[2] प्रत्येक आर्थिक क्रिया का मौलिक कारण उपभोक्ता की आवश्यकताओ की सतुष्टि है।

१५. उपभोक्ता के प्रभुत्व की सीमाएँ (Limitations on Consumer's Sovereignty)—उपभोक्ता इतना निरकुश सम्राट् नही है जैसा कि वह माना गया है। अधिक-से-अधिक हम उसको एक वैधानिक अथवा सीमित सम्राट् कह सकते है।

1 See Benham, F —Economics
2 Kiekhofer, W H.—Economic Principles, Problems and Policies, (1936) p 652.

वैधानिक सम्राट् प्रजा पर शासन करता है, किन्तु उसे अधीन नही करता। हमारे उपभोक्ता सम्राट् के प्रभुत्व पर कुछ कडे प्रतिबन्ध है।

(क) उसके प्रभुत्व पर सबसे आवश्यक रोक उसकी आय का विस्तार है। वस्तुएँ उसकी आज्ञानुसार नही चलती जब तक कि वह द्रव्य के कोडे का प्रयोग नही करता। उपभोक्ता असली घी चाहता है पर भुगतान के साधन न होने के कारण उस को डालडा से ही सतुष्ट रहना पडता है। उपभोक्ताओ की वास्तविक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि आधुनिक आर्थिक पद्धति में नही होती और केवल उन्ही आवश्यकताओ की सतुष्टि होती है जोकि द्रव्य में स्पष्ट की जाती है।

फिर व्यक्तिगत उपभोक्ता की क्या गणना? यह तो केवल सबकी सम्मिलित माग है, जो शासन करती है।

(ख) उपभोक्ता की सतुष्टि उन वस्तुओ पर निर्भर है जो बाजार मे मिलती है। कुछ भौतिक सीमाये भी है। वास्तविक उत्पादन उस समय के औद्योगिक ज्ञान पर निर्भर है और यत्रकला का विकास उपभोक्ता की इच्छाओ से पीछे रहता है। हम ध्वनि-रहित रेलगाडियाँ चाहते है, परन्तु हमें उस समय तक ठहरना होगा जब तक कि यत्रकला का विकास न हो ले। उपभोक्ता के अभिमान, जो कुछ किसी समय पर प्रस्तुत है उससे आगे ही रहते है।

(ग) सेल्समैनी (बिक्री कला) तथा बराबर विज्ञापन होने से उपभोक्ता की वास्तविक इच्छाओ में सुधार होता है। प्रचार का यन्त्र उपभोक्ता की रुचि का नियन्त्रण करने तथा बनाने में लगाया जाता है। अतएव उनको जो कुछ वह खरीदते उससे कुछ भिन्न खरीदने का प्रोत्साहन मिलता है। हमारा उपभोक्ता सम्राट् निर्बल तथा असहाय है। वही व्यवसायी सफल होता है जो केवल उपभोक्ता की उभरी हुई आवश्यकताओ की सन्तुष्टि ही नही करता वरन् जो उपभोक्ता की रुचि अपनी विशेष प्रकार की वस्तुओ की ओर आकर्षित करता है। प्रत्येक देश में ज्यादा पैसा विज्ञापन पर व्यय किया जाता है। उपभोक्ता को सडक के दोनो ओर, रेल के प्लेटफार्मो, पेडो के तनो, टेलीग्राफ के खभों, घरो तथा ट्राम पर लम्बे और आकर्षक विज्ञापन दीख पडते है। एली के मतानुसार "सयुक्त राज्य अमरीका में केवल राष्ट्रीय विज्ञापन पर ही प्रत्येक मर्द, औरत तथा बच्चे का लगभग १० डालर खर्च होता है। सैटरडे ईवनिग पोस्ट के प्रत्येक अक में विज्ञापन की लागत लगभग १० लाख डालर है।"[1] एक दूसरी गणना यह भी है कि "केवल सयुक्त राज्य अमरीका में ही, लगभग ५ लाख मनुष्य विज्ञापन के कार्य मे लगे रहते है और राष्ट्र का वार्षिक विज्ञापन खर्च १५० से २०० करोड डालर तक होता है।"[2] यह सब द्रव्य उपभोक्ता को प्रसन्न करने के हेतु नही, वरन् उत्पादक को मालदार बनाने के लिए खर्च किये जाते है। विज्ञापन तथा सेल्समैनी (विक्रीकला) पर खर्च किया हुआ प्रत्येक रुपया उपभोक्ता के प्रभुत्व के शव के बक्स में एक कील के समान है। हम बेन्हम से सहमत नही है जब वह कहते है कि एक सम्राट् अपने कुछ कार्यों में अपने गुलामो से

---

1 Ely—Outlines of Economics, (1930), p 145
2 Kiehhofer, op cit, p 154

सलाह ले सकता है, पर तो भी वह एक सम्राट् ही रहता है। यह प्रभुत्व नाममात्र का है और राजतन्त्र का एक बहुत तुच्छ प्रतिरूप है।

उपभोक्ता की लाचारी का एक प्रमाण भी देखिये। "नि सन्देह अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो प्रतिवर्ष अत्यधिक व्यय करते है यद्यपि वे ऐसा करने में असमर्थ है। लैम्प भी खरीदते है जो कि एक ओर तो प्रकाश देता है और दूसरी ओर स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। कुछ अन्य बिजली के यन्त्र (जैसे टोस्ट सेंकने की मशीन तथा बिजली की इस्त्री आदि) भी खरीदते है जो कि कुछ सीमाओ तक तो मानव जाति के लिए अधिक लाभदायक हैं पर उससे परे भयकर हानिकारक सिद्ध हुए है। कुछ उपभोक्ताओ की लाचारी उनकी अनभिज्ञता के कारण होती है, क्योकि वह यह नही जानते कि कितनी शक्ति की बिजली से कौन-सा कार्य लिया जा सकता है और तार खुले होने के कारण बिजली के यत्र मनुष्य के लिए कितने घातक होते हैं।[1] यह बहुत-से उत्पादन के सम्बन्ध में भी लागू है।

(घ) एकाधिकारी भी उपभोक्ता पर नियत्रण रखता है। आधुनिक काल में संघ अथवा गुटबन्दी की ओर प्रवृत्ति है। कुछ फर्मो का व्यवसाय अथवा उत्पादन पर अधिकार हो जाता है। फिर वे उपभोक्ताओ से, जिनकी कीमत तय करने में तथा उत्पादन पर कोई प्रभाव नही होता, मनमाने दाम लेती है।

(च) साथ ही सरकारी नियत्रण भी है जिनसे हम भली भाँति परिचित है। साधारण समय में भी सरकार कुछ मादक वस्तुओ का या तो निषेध कर देती है या उनके उपभोग पर रोकटोक लगा देती है। सरकार उत्पादन की प्रगति पर प्रभाव डाल सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार स्वय ही सबसे बडा उपभोक्ता है और इसलिए कीमत तय करने पर और वस्तुओ के उत्पादन की श्रेणी पर प्रभाव डाल सकती है।

(छ) उपभोक्ता का स्वभाव भी उसको जकड देता है और वह अपने बँधे हुए उपभोग की श्रेणियो से हटना नही चाहता। अतएव चुनाव की स्वतन्त्रता का प्रयोग नही किया जा सकता।

(ज) उपभोक्ता के चुनाव पर समाज के वातावरण तथा रूढियो का भी निषेधक प्रभाव पडता है। अतएव उपभोक्ता की असीमित स्वतन्त्रता केवल एक कल्पना है।

(झ) उपभोक्ता साधारणतया अज्ञानी होते है और वे यह नही जानते कि उनके लिए क्या उत्तम है। उनका अन्ध-चुनाव उनके स्वार्थ के अनुसार नही होता। अतएव अज्ञानी उपभोक्ता की प्रभुत्व प्रगति में एक और बाधा है। यदि उपभोक्ता को देव कहें, तो वह अवश्य ही एक अन्धा देव होगा।

(ट) प्रमाणीकृत वस्तुओ की उत्पत्ति बिना व्यक्तियो की रुचि का ध्यान रक्खे हुए यह सिद्ध करती है कि आधुनिक आर्थिक पद्धति इस बात का पूरा ध्यान नही रखती कि उपभोक्ता क्या लेना चाहेगा। उपभोक्ताओ को एक में मिला दिया जाता है और वह समुदाय की भाँति माने जाते है, सम्राट् के समान नही, वरन् भेड़ो के झुण्ड

---

1 Moore and others—Modern Economics.

के समान।

वास्तव मे, एक गरीब देहाती अथवा एक मिल मजदूर को यह विश्वास दिलाना बहुत कठिन है, कि वह जो निरीक्षण करता है उसका वह सम्राट् है, और सारे कारखाने जो काम कर रहे है, रेल तथा जहाज जो चल रहे है, तथा व्यवसायी जो अपनी दूकानो पर बैठे है, अथवा बाजार मे इधर-उधर दौड रहे है, वे सब अपनी जेब भरने की अपेक्षा, उसकी सेवा करने तथा उसको सतुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे है। वास्तव मे न सिर्फ उपभोक्ता और न उत्पादक सम्राट् है। किसी देश की आर्थिक सफलता उपभोग तथा उत्पादन के उचित सन्तुलन पर निर्भर है। ऐली के शब्दों में "उन्नति चुस्त तथा उत्तरदायी उपभोक्ताओ और समझदार और कुशल उत्पादकों पर निर्भर है। यदि उपभोक्ता आलसी है, तो उत्पादक आलसी ही होंगे।"

निर्देश पुस्तकें

Wicksteed—Commonsense of Political Economy, Vol 1.
Wicksell, K —Lectures on Political Economy, Vol 1
Erich Roll —Elements of Economic Theory
Hicks, J R —Value and Capital
Marshall, A —Principles of Economics
Boulding, K E —Economic Analysis (1949), ch 29
Cairncross, A —Introduction to Economics
Benham, F —Economics
Review of Economic Studies 1941 43 (Symposium on Consumer's Surplus)
Meyers, A L —Elements of Modern Economics, (1951) ch 7 (for Indifference Curves)
Stigler, G J —Theory of Price, (1949), pp 67-85
Fraser, L M—Economic Thought and Language, (1947), ch X
Stonier and Hague—A Text-book of Economic Theory (1953) ch III

अध्याय ६

माँग

(DEMAND)

१ माँग (Demand)—माँग तथा इच्छा (desire) अथवा आवश्यकता (need) मे भेद करना जरूरी है। एक बीमार बच्चे को टॉनिक (बलवर्धक औषध) की आवश्यकता (need) होती है तथा एक चपरासी को एक रेडियो रखने की इच्छा (desire) होती है। परन्तु एसी आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ माँग नही होती। उस समय जब कि इच्छा करने वाला मनुष्य जो कुछ चाहता है उसके लिए **भुगतान करने के योग्य और तैयार है** (willing and able to pay), तो इच्छा माँग मे परिवर्तित हो जाती है। चैपमैन के शब्दो मे **"माँग अधिमानो की मात्रिक अभिव्यक्ति है।"** (Demands are the quantitive expressions of prefernces)"

माँग सदैव किसी कीमत (price) पर होती है। **"किसी वस्तु की एक दी हुई कीमत पर माँग उसकी वह मात्रा है जो समय की प्रति इकाई से उस कीमत पर खरीदी जायगी।"**[1] ('The demand for anything at a given price is the amount of it which will be bought per unit of time at that price.") इसका अभिप्राय केवल यह है कि एक व्यक्ति किसी दी हुई कीमत पर एक वस्तु की जितनी मात्रा को खरीदने के लिए तैयार हो जायेगा किसी दूसरी कीमत पर वह भिन्न मात्रा खरीदेगा, कम कीमत पर अधिक और अधिक कीमत पर कम खरीदेगा। माँग के बारे में बिना कीमत के निर्देश दिये हुए कुछ भी कहना निरर्थक है। इसके अतिरिक्त माँग सदैव **समय की प्रति इकाई में ही नापी जाती है** चाहे वह प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति माह अथवा प्रति वर्ष हो।

विक्रेता के दृष्टिकोण से माँग-कीमत (demand price) वह औसत आय है जो वह उस इकाई की बिक्री से कमाता है। अत माँग-कीमत तथा औसत आमदनी एक-सी है।

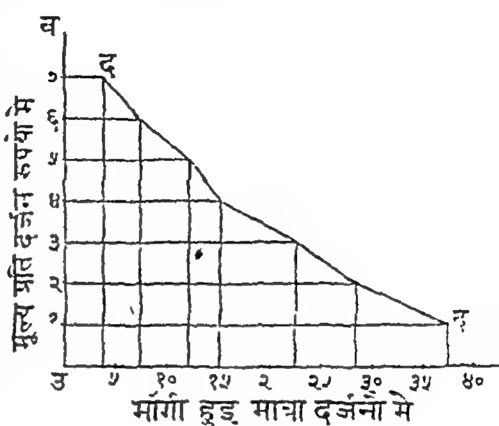
यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कोई भी माँग पृथक् (isolated) नही होती। चीजो की माँग एक व्यवस्था (system) के अन्तर्गत होती है। उदाहरणार्थ विद्यार्थी को अकेले पुस्तक की जरूरत नही होती, उसे किताबें तथा स्टेशनरी आदि का सामान भी चाहिए। हमे चीजें ग्रुप (group) मे चाहिएँ। व्यक्ति के रहन-सहन (standard of living) से माँग की व्यवस्था चलती है।

२. माँग-अनुसूची (Demand Schedule)—भिन्न-भिन्न कीमतो पर

---

1 Benham—Economics, (1943), p 36

के मिलने के बिन्दु एक वक्र रेखा पर होंगे। माँग अनुसूची से प्रस्तुत की हुई दशाओ मे सेवो की माँग का वक्र इसमे प्रतीत होगा।



चित्र न० १२

वक्र बायें से दाहिने को उपयोगिता-वक्र की भाँति तिरछा है और यह दिखाता है कि जब कीमत गिरती है तो माँग की मात्रा बढती है और विपरीत रूप से जब कीमत बढती है तो माँग की मात्रा घटती है। माँग वक्र एक स्थिर स्थिति प्रस्तुत करता है। यह किसी समय के दौरान में परिवर्तन नही बतला सकता। आप किसी एक दी हुई कीमत पर माँग मालूम कर सकते है। दूसरे आवश्यक तथ्यो को भी शामिल किया गया है।

ऊपर खीची हुई माँग-वक्र की कुछ धारणाओ (assumptions) को समझ लेना आवश्यक है —

(i) यह कल्पना की गई है कि उपभोक्ता के स्वभाव में, किसी भी फैशन अथवा मौसम के कारण, कोई परिवर्तन नही होता।

(ii) यह भी कल्पना की गई है कि उपभोक्ता की आय समान बनी रहती है।

(iii) यह भी मान लिया गया है कि उन वस्तुओ की कीमतो में, जिनमें उपभोक्ता का स्वार्थ होता है, कोई परिवर्तन नही होता।

(iv) कीमत-माँग के सम्बन्ध में क्रम अथवा लघु अन्तर (continuity and infinitesimal variations) मान लिया गया है, यद्यपि कभी-कभी माँग एकदम बदल सकती है जबकि कीमत में बहुत थोडा-सा परिवर्तन होता है। माँग वक्र इन 'अविरल' (discontinuous) अथवा अलग परिवर्तनो को स्वीकार नही करता।

(v) यह कल्पना की गई है कि माँग अति लघु इकाइयो में बदली जा सकती है। परन्तु यह कल्पना वास्तविक नही है। अविभाज्य (indivisible) वस्तुओ का माँग-वक्र बराबर तथा सतत (निरन्तर) नहीं होगा। वह अविरल होगा।

(vi) यह भी मान लिया गया है कि कोई अकेला खरीदार कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नही होता। उसको कीमत को स्थिर मा[illegible] खरीदारी को व्यवस्थित करना पडेगा। दूसरे शब्दो में, हम पूर्ण प्रतियोगि[illegible] [illegible]। एकाधिकार (monopoly) को मौजूद नही मानते।

४. माँग-वक्र नीचे क्यो झुकता है? (Why [illegible] slope downwards ?)—साधारणतया माँग का

हुई उपयोगिता के नियम के अनुकूल है। हमारे बहुत से क्रय इस नियम से निश्चित होते हैं। जब कीमत गिरती है तो नये खरीदने वाले बाजार में खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं। और सम्भव है पुराने खरीदार अधिक खरीदें। चूंकि यह वस्तु सस्ती रही है, इसलिए कुछ लोग दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा इसे ही खरीदेंगे। केवल ऐसे ही झुकाव वाले वक्र मे हम को कीमत की छोटी रेखाएँ मात्रा की कक्ष रेखा लम्बे टुकडो को काटती हुई मिलती हैं। यदि घटती हुई उपयोगिता का नियम सच है और यह साधारणत सच ही होता है, तो वक्र रेखा को नीचे की ओर झुकना चाहिये। क्योकि तभी गिरती हुई कीमतो के साथ बढती हुई माँग की घटना प्रस्तुत की जा सकती है।

कीमत के गिरने पर लोगो के अधिक खरीदने के तीन स्पष्ट कारण हैं :—

(i) द्रव्य की इकाई बढ जाती है, जिससे एक व्यक्ति अधिक खरीद सकता है।

(ii) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो लोगों का अधिक खरीदना स्वाभाविक होता है।

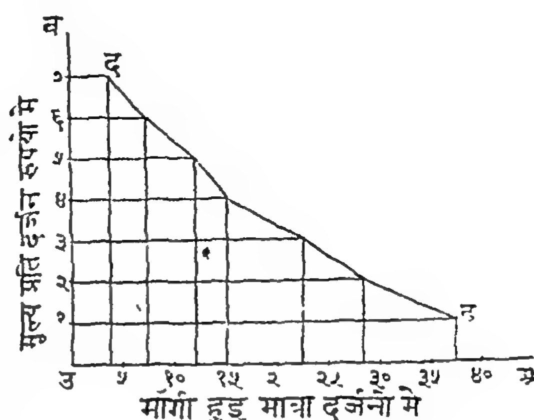
(iii) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो उसका उपयोग दूसरी वस्तुओ के स्थान में किया जा सकता है। अत उस वस्तु के पुराने क्रेता पहले से अधिक खरीदते हैं और उसके नये क्रेता बन जाते हैं। इन सबका प्रभाव यह होता है कि जब कीमत गिरती है तो माँग बढ जाती है।

परन्तु हमको थोडा गहराई में जाकर यह मालूम करना चाहिये कि अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर जब कीमत गिरती है तो माँग क्यो बढती है।[1] बेन्हम ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सीमित द्रव्य की मात्रा से अधिक-से-अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। अपने अधिमान माप को जानते हुए वह प्रतिस्थापन नियम तथा सम सीमांत प्राप्ति नियम (law of substitution and equi-marginal returns) के अनुसार अपने व्यय की इस प्रकार व्यवस्था करेगा कि आखरी इकन्नी से जिसे वह भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर व्यय करता है, बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। यदि कीमते समान रहती हैं तो वह इस व्यवस्था को चालू रखेगा। परन्तु यदि उस वस्तु की कीमत गिरती है जोकि उसकी वस्तुओ और सेवाओ के चुनावो में है तो उसको अपने व्यय मे उसके अनुरूप परिवर्तन करना पडेगा। कीमत के गिरने से सीमांत उपयोगिता तथा कीमत के बीच भिन्नता उत्पन्न हो जाती है जिसे दूर करना होगा। यह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने से हो सकता है ताकि उसकी सीमांत उपयोगिता कीमत के बराबर हो जाय। यही कारण है कि मनुष्य कीमत गिरने पर अधिक खरीदते हैं।

अपवादस्वरूप माँग-वक्र (Exceptional Demand Curves)—कभी-कभी माँग-वक्र नीचे झुकने की अपेक्षा ऊपर को उठेगा। दूसरे शब्दो में, मूल्य बढने पर कभी-कभी लोग अधिक भी खरीदेंगे। यह केवल ऊपर बढते हुए वक्र से प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी घटनायें बहुत कम होती हैं परन्तु हम कुछ का अनुमान कर सकते हैं।

---

1 See Benham, F—Economics, (1943), pp 42-43



चित्र न० १२

के मिलने के विन्दु एक वक्र रेखा पर होंगे। माँग अनुसूची से प्रस्तुत की हुई दशाओ में सेवो की माँग का वक्र इससे प्रतीत होगा।

वक्र बायें से दाहिने को उपयोगिता-वक्र की भाँति तिरछा है और यह दिखाता है कि जब कीमत गिरती है तो माँग की मात्रा बढती है और विपरीत रूप से जब कीमत बढती है तो माँग की मात्रा घटती है। माँग वक्र एक स्थिर स्थिति प्रस्तुत करता है। यह किसी समय के दौरान मे परिवर्तन नही बतला सकता। आप किसी एक दी हुई कीमत पर माँग मालूम कर सकते हैं। दूसरे आवश्यक तथ्यो को भी शामिल किया गया है।

ऊपर खीची हुई माँग-वक्र की कुछ धारणाओ (assumptions) को समझ लेना आवश्यक है —

(i) यह कल्पना की गई है कि उपभोक्ता के स्वभाव मे, किसी भी फैशन अथवा मौसम के कारण, कोई परिवर्तन नही होता।

(ii) यह भी कल्पना की गई है कि उपभोक्ता की आय समान बनी रहती है।

(iii) यह भी मान लिया गया है कि उन वस्तुओ की कीमतो में, जिनमें उपभोक्ता का स्वार्थ होता है, कोई परिवर्तन नही होता।

(iv) कीमत-माँग के सम्बन्ध में क्रम अथवा लघु अन्तर (continuity and infinitesimal variations) मान लिया गया है, यद्यपि कभी-कभी माँग एकदम बदल सकती है जबकि कीमत में बहुत थोडा-सा परिवर्तन होता है। माँग वक्र इन 'अविरल' (discontinuous) अथवा अलग परिवर्तनो को स्वीकार नही करता।

(v) यह कल्पना की गई है कि माँग अति लघु इकाइयो मे बदली जा सकती है। परन्तु यह कल्पना वास्तविक नही है। अविभाज्य (indivisible) वस्तुओ का माँग-वक्र बराबर तथा सतत (निरन्तर) नही होगा। वह अविरल होगा।

(vi) यह भी मान लिया गया है कि कोई अकेला खरीदार कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नही होता। उसको कीमत को स्थिर मानकर अपनी खरीदारी को व्यवस्थित करना पडेगा। दूसरे शब्दो में, हम पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना करते है तथा एकाधिकार (monopoly) को मौजूद नही मानते।

४ माँग-वक्र नीचे क्यो झुकता है? (Why does Demand Curve slope downwards?)—साधारणतया माँग का वक्र नीचे झुकता है। यह घटती

हुई उपयोगिता के नियम के अनुकूल है। हमारे बहुत से क्रय इस नियम से निश्चित होते हैं। जब कीमत गिरती है तो नये खरीदने वाले बाजार में खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं। और सम्भव है पुराने खरीदार अधिक खरीदे। चूंकि यह वस्तु सस्ती रही है, इसलिए कुछ लोग दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा इसे ही खरीदेगे। केवल ऐसे ही झुकाव वाले वक्र में हम को कीमत की छोटी रेखाएँ मात्रा की कक्ष रेखा लम्बे टुकडो को काटती हुई मिलती है। यदि घटती हुई उपयोगिता का नियम सच है और यह साधारणत सच ही होता है, तो वक्र रेखा को नीचे की ओर झुकना चाहिये। क्योकि तभी गिरती हुई कीमतो के साथ बढती हुई माँग की घटना प्रस्तुत की जा सकती है।

कीमत के गिरने पर लोगो के अधिक खरीदने के तीन स्पष्ट कारण है —

(i) द्रव्य की इकाई बढ जाती है, जिससे एक व्यक्ति अधिक खरीद सकता है।

(ii) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो लोगो का अधिक खरीदना स्वाभाविक होता है।

(iii) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो उसका उपयोग दूसरी वस्तुओ के स्थान मे किया जा सकता है। अत उस वस्तु के पुराने क्रेता पहले से अधिक खरीदते है और उसके नये क्रेता बन जाते है। इन सबका प्रभाव यह होता है कि जब कीमत गिरती है तो माँग बढ जाती है।

परन्तु हमको थोडा गहराई मे जाकर यह मालूम करना चाहिये कि अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर **जब कीमत गिरती है तो माँग क्यो बढती है।**[1] बेन्हम ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सीमित द्रव्य की मात्रा से अधिक-से-अधिक सतुष्टि प्राप्त करना चाहता है। अपने अधिमान माप को जानते हुए वह प्रतिस्थापन नियम तथा सम सीमात प्राप्ति नियम (law of substitution and equi-marginal returns) के अनुसार अपने व्यय की इस प्रकार व्यवस्था करेगा कि आखरी इकन्नी से जिसे वह भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर व्यय करता है, बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। यदि कीमते समान रहती है तो वह इस व्यवस्था को चालू रखेगा। परन्तु यदि उस वस्तु की कीमत गिरती है जोकि उसकी वस्तुओ और सेवाओ के चुनावो में है तो उसको अपने व्यय में उसके अनुरूप परिवर्तन करना पडेगा। कीमत के गिरने से सीमात उपयोगिता तथा कीमत के बीच भिन्नता उत्पन्न हो जाती है जिसे दूर करना होगा। यह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने से हो सकता है ताकि उसकी सीमात उपयोगिता कीमत के बराबर हो जाय। यही कारण है कि मनुष्य कीमत गिरने पर अधिक खरीदते है।

अपवादस्वरूप माँग-वक्र (Exceptional Demand Curves)—कभी-कभी माँग-वक्र नीचे झुकने की अपेक्षा ऊपर को उठेगा। दूसरे शब्दो मे, मूल्य बढने पर कभी-कभी लोग अधिक भी खरीदेंगे। यह केवल ऊपर बढते हुए वक्र से प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी घटनायें बहुत कम होती है परन्तु हम कुछ का अनुमान कर सकते है।

---

1 See Benham, F—Economics, (1943)., pp 42-43

इनका सबसे पहले सर राबर्ट ग्रिफेन द्वारा जाँचा गया था। उनके अनुसार माँग कीमत के बढने से दृढ होती है तथा उसके गिरने से कमजोर होती है। बेन्हम ने चार स्थितियाँ बतलाई है[1] (१) यदि अधिक कमी (serious shortage) की सम्भावना है तो मनुष्य भयभीत होकर बढती हुई कीमत पर भी खरीदेगा। (२) यदि किसी वस्तु के उपयोग करने से उसकी सम्पत्ति का प्रदर्शन होता है तो धनी मनुष्य इस कारण कीमत बढने पर भी अधिक खरीदेंगे ताकि वे कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियो में गिने जा सकें। इसके विपरीत, यदि माल रद्दी किस्म का हो तो लोग खरीदना बन्द कर देते हैं। (३) कभी-कभी कुछ उपभोक्ता अज्ञान के कारण बढे हुए मूल्य पर अधिक मात्रा में खरीदते हैं। (४) यदि एक जीवन-रक्षक पदार्थ का मूल्य बढ जाता है तो उपभोक्ता को अपना सारा व्यय फिर से व्यवस्थित करना पडेगा। वह दूसरे खाने की वस्तुओ पर अपना व्यय कम करके उसको पूरा करने के लिए उस विशेष खाद्य पदार्थ पर अधिक व्यय करेगा। अतएव उसकी कीमत ऊँची होने पर भी अधिक मात्रा खरीदी जायगी।

५ माँग का नियम (The Law of Demand)—अब हम इस अवस्था में हैं कि माँग का नियम प्रस्तुत कर सकें। यह केवल माँग की मात्रा तथा कीमत के सबंध को बताता है। यह बताता है कि **माँग कीमत के विपरीत परिवर्तन होती है पर यह आवश्यक नहीं है कि वह उसी अनुपात से बदले। यदि मूल्य गिरता है तो माँग बढ़ेगी तथा इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा।** इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं **"किसी वस्तु अथवा सेवा की कीमत में वृद्धि होने से माँग में कमी हो जाती है और कीमत में कमी होने से माँग में वृद्धि हो जाती है बशर्ते माँग की स्थितियाँ एक-सी रहें"**। या "किसी निश्चित समय में किसी वस्तु अथवा सेवा की माँग प्रचलित कीमत पर ऊँची कीमत की अपेक्षा अधिक है और नीची कीमत की अपेक्षा कम है।[2]

"किसी निश्चित समय में" अथवा यदि "माँग की स्थितियाँ एक-सी रहें" जैसे वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि माँग पर उन बहुत-सी बातो का प्रभाव पडता है जिनका अभी विवेचन किया जायेगा और इनमें से कोई भी प्रभाव नियम को निष्फल बना सकता है।

यह भी कहा जा सकता है कि परिवर्तन एक अनुपात में नही होता। यदि कीमत १०% घटती है, तो यह आवश्यक नही कि माँग १०% ही बढेगी। हम केवल यह कह सकते हैं कि जब कीमत घटती है तो माँग बढ जायगी लेकिन यह नही कह सकते कि कीमत कितनी बढ जायगी। यह माँग की लोच (elasticity) पर निर्भर है जिसका कि हम अभी विवेचन करेंगे।

नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law)—फिर भी माँग के नियम के कुछ अपवाद है। दूसरे शब्दो मे ऐसी भी स्थितियाँ है जब कि कीमत के बढने-घटने से माँग नही घटती-बढती। ये स्थितियाँ अपवादस्वरूप (ऊपर बढ़ते हुए) माँग वक्रो द्वारा बतलाई गई है। यह नियम तभी तक सच होगा जब तक कि माँग की

1 See Benham, F—Economics, (1943), pp 47-48
2 Thomas S E—Elements of Economics, pp 52-53

स्थिति उसी प्रकार रहती है। नियम के सच होने के लिए निम्नलिखित स्थितियो का होना आवश्यक है[1] —

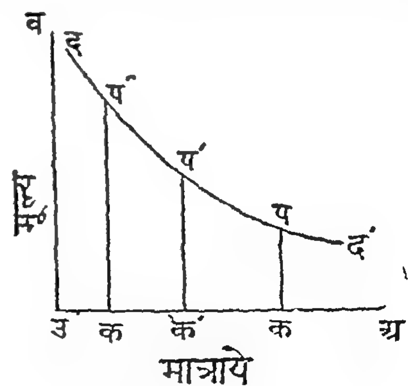
(i) उपभोक्ता का स्वभाव न वदलना चाहिये।
(ii) उपभोक्ता की आय वही होनी चाहिये।
(iii) दूसरी वस्तुओ की कीमते न वदलनी चाहियें।
(iv) उसकी वजाए कोई नई वस्तु न होनी चाहिये।
(v) कीमत में कोई परिवर्तन की आशा न होनी चाहिये।
(vi) वह भेद का प्रतिपादन करने वाली वस्तु न होनी चाहिये।

हो सकता है ये स्थितियाँ एक-सी न वनी रहें।

६. माँग मे परिवर्तन (Changes in Demand)–माँग का नियम माँग तथा कीमत में संवध वताता है। यदि कीमत वढती है तो माँग घटती है। तथा इसके विपरीत भी ऐसा ही होता है। परन्तु जब कीमत घटती और वढती है तो माँग के साथ प्रयोग किये हुए वृद्धि और कमी (Increase and Decrease) शब्द पूर्णतया ठीक नही समझे जाते। इसे माँग का विस्तार तथा सकुचन (Extension and Contraction) कहना चाहिये। हमको एक ओर विस्तार तथा वृद्धि (Extension and Increase) और दूसरी ओर सकुचन तथा कमी (Contraction and Decrease) के अन्तर को समझना चाहिये।

हम माँग के विस्तार तथा सकुचन शब्दो का प्रयोग तभी करते है जबकि केवल कीमत मे परिवर्तन होने पर माँग में परिवर्तन होता है। उपभोक्ता निष्क्रिय-सा (Passive) है। वह विशेषकर कीमत से ही प्रभावित होता है। उसकी माँग अनुसूची स्थायी है और उसके अनुरूप एक वक्र भी है और जैसा आगे के रेखाचित्र में दिखाया गया है, वह केवल उसी वक्र के ऊपर-नीचे चलता है।

उपभोक्ता द द′ वक्र रेखा पर चलता है। यह उसका वह रास्ता है जो उसकी अधिमान माप (scale of preferences) से वनता है। प क कीमत पर वह उ क मात्रा खरीदेगा। यदि कीमत प′ क″ हो जाता है तो वह उ क′ मात्रा क्रय करेगा तथा यदि वह प″ क″ तक वढ जाता है तो उसकी माँग घट कर उ क″ हो जाती है और यह क्रम ऐसे ही चलता है। यदि कीमतें घटती है तो उपभोक्ता पीछे हटने लगता है। उसने अपने स्वय अधिमान वना रखे है और अव वह पूर्णतया कीमत द्वारा सचालित है। यह माँग का



चित्र न० १३

१ उपर्युक्त विभाग ३ को देखिए।

डालता है। भारतवर्ष जैसे जन-सख्या वृद्धि वाले देश में जहाँ बडे-बडे शहरो मे प्रतिदिन सैकडो बच्चे पैदा होते है वहाँ खिलौनो, दूध पिलाने वाली बोतलो, निपिल, बच्चो की गाडियो इत्यादि की माँग स्वाभाविक ही होगी।

(iv) **द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन** (Changes in the quantity of money stock)—जहाँ मुद्रा प्रसार (inflation) है, अतिरिक्त द्रव्य समुदाय की क्रय-शक्ति को बढा देगा और कीमत बढ जायेगी। परन्तु कीमतो मे वृद्धि प्रत्येक वस्तु में एक सी नही होगी। लोगो को अपने व्यय की फिर से व्यवस्था करनी पडेगी। कुछ वस्तुओ की माँग घट जायगी और कुछ की बढ जायगी। उदाहरणार्थ शक्कर की कमी से देशी-शक्कर और गुड की माँग बढ गई और बिजली की कमी से मिट्टी के तेल के चिरागो की माँग बढ गई।

(v) **वास्तविक आय में परिवर्तन**—यहाँ ऊपर दी हुई घटना के विपरीत अर्थात् कीमत के गिरने की घटना है। यहाँ द्रव्य आय (money-income) अर्थात् मुद्रा की वह मात्रा जो एक व्यक्ति पैदा करता है, तथा वास्तविक आय जिसका अभिप्राय पदार्थ और सेवाओ की उस मात्रा से है जो वह द्रव्य की मात्रा से खरीद सकता है, अन्तर किया जाता है। औद्योगिक उन्नति के समय सस्ते पदार्थों का उत्पादन बढ जाता है। मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ जाती है, या यो कहिये कि वास्तविक आय बढ जाती है। पदार्थों की वही मात्रा खरीदने के लिए कम द्रव्य की आवश्यकता होगी। और इस भाँति जो द्रव्य बचेगा उससे दूसरी वस्तुएँ खरीदी जायेंगी। माँग अनुसूचियाँ फिर से बनानी होगी। कुछ पदार्थों को हटा दिया जा सकता है और पूर्णतया नये पदार्थ खरीदे जा सकते है। कुछ पदार्थो की माँग घट जायगी और कुछ की बढ जायगी।

(vi) **आय वितरण में परिवर्तन**—सार्वजनिक-वित्त के द्वारा, उदाहरणार्थ धनियों पर कर लगा कर तथा निर्धनो पर द्रव्य व्यय करके धन का वितरण होता है। व्यय-शक्ति में परिवर्तन होता है। इससे माँग पर अवश्य ही प्रभाव पडेगा। उस माल की कीमत बढ जाएगी, जिसे उस वर्ग के लोग खरीदते है जिनकी क्रय-शक्ति (purchasing power) बढी हुई है, और इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा।

(vii) **सचय में परिवर्तन**—पदार्थो की माँग उपभोक्ता की सचय करने की शक्ति (propensity to save) मे परिवर्तन होने से प्रभावित होती है। अधिक सचय होने से पदार्थो के खरीदने के लिए कम द्रव्य रह जाता है।

(viii) **सम्पत्ति अधिमानो में परिवर्तन** (Changes in Asset Preferences)—यह पूर्णतया स्पष्ट है कि यदि एक उपभोक्ता का द्रव अधिमान (liquid preference) अधिक बढ जाता है तो उसके पदार्थो की माँग में परिवर्तन हो जायगा।

(ix) **एक-दूसरे से सम्बद्ध मूल्य वाले पदार्थ**—चाय तथा कॉफी जैसे प्रति-स्थापन वस्तुओं में एक के उपभोग मे वृद्धि से दूसरे की माँग में कमी हो जायगी। घोडा और गाडी जैसे पूरक वस्तुओ में एक की माँग में वृद्धि दूसरे की माँग को बढा देगी।

गेहूँ और भूसा जैसी सयुक्त पूर्ति (joint supply) में एक की माँग में वृद्धि

से दूसरे की कीमत कम हो जायेगी और इस प्रकार उसकी माँग भी कुछ समय पश्चात् बढ़ जायेगी।

सामासिक माँग (composite demand) मे मकान जैसी अन्तिम वस्तु की माँग की वृद्धि से उसके बनाने की आवश्यक वस्तुओं की माँग भी बढ़ जायेगी।

सामासिक पूर्ति (composite supply)—उदाहरणार्थ बिजली, गैस अथवा मिट्टी के तेल से प्राप्त किए हुए प्रकाश मे से किसी एक के सस्ते होने पर दूसरो की माँग घट जायेगी।

सामासिक माँग, उदाहरणार्थ, पीने, धोने, नहाने इत्यादि के लिए जल के प्रयोग मे से किसी एक के विस्तार अथवा सकुचन मे जल की माँग मे यथायोग्य परिवर्तन हो जायेगा।

अस्तु, एक वस्तु की माँग केवल उसकी कीमत पर ही नही वरन् दूसरी बातो पर भी निर्भर है।

(x) व्यापार की व्यवस्थाएँ (Conditions of Trade)—व्यापार की उन्नति के समय प्रत्येक वस्तु की माँग कीमतो मे वृद्धि होते हुए भी अधिक होती है। दूसरी ओर मदी के समय में माँग मे सामान्य शिथिलता होती है।

७ माँग की लोच (Elasticity of Demand)—हमने माँग के नियम का अध्ययन किया है और यह देखा है कि माँग और कीमत में विपरीत सम्बन्ध है। कीमत मे परिवर्तन (घटाव या बढाव) से माँग मे भी परिवर्तन (विस्तार, बढाव या सकोच, घटाव) हो जाता है। माँग का यह गुण जिससे कीमत मे परिवर्तन होने से यह बढती घटती है माँग की लोच कही जाती है। "लोच शब्द माँग और कीमत के बीच परस्पर सम्बन्ध प्रकट करता है।" यह वह दर (rate) है जिस पर कीमत मे परिवर्तन होने से माँग की मात्रा बदलती है। माँग की लोच यह सकेत करती है कि कीमत के परिवर्तन मे माँग की प्रतिकारिता (responsiveness) बताती है।

वास्तविकता यह है कि "माँग की लोच सापेक्ष (relative) परिवर्तन का वह माप है, जो किसी निर्दिष्ट माँग वक्र में होने वाले सापेक्ष कीमत परिवर्तन के प्रतिकार मे माल खरीदा जाता है।"[1] ("The elasticity of demand is a measure of the relative change in amount purchased in response to a relative change in price on a given demand curve") श्रीमती जोन राबिनसन ने यथार्थ रूप में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "माँग की लोच, किसी कीमत अथवा पैदावार पर खरीदी गई मात्रा का वह अनुपाती परिवर्तन है जो कीमत मे थोडे हेरफेर को कीमत में अनुपाती परिवर्तन से भाग देने पर होता है।"[2]

परन्तु माँग में परिवर्तन सदैव कीमत के परिवर्तन के अनुपात में नही होता। कीमत में थोडे परिवर्तन से माँग मे अधिक परिवर्तन हो सकता है। इस स्थिति में हम कहेंगे कि माँग लोचदार या सचेत अथवा प्रतिकारी (responsive) है। दूसरी ओर यदि कीमत

---

1 Meyers, A L—Elements of Modern Economics (1951), p 67
2 Robinson (Mrs), J—The Economics of Perfect Competition (1945), p 18.

मे अधिक परिवर्तन होने से भी माँग में केवल थोडा परिवर्तन होता है तो उसको वेलोचदार माँग कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि नमक की कीमत में अधिक परिवर्तन भी हो जाता है तो भी हम उसकी लगभग वही मात्रा खरीदते रहते हैं। ऐसी माँग वेलोचदार (inelastic demand) है। परन्तु यदि रेडियो की कीमत गिर जाती है, तो बहुत से व्यक्ति जो पहले उसको नही खरीद सकते थे, अब उसको खरीदने के लिए प्रोत्साहित हो जायेंगे। इस दशा में माँग वढ जायेगी, अथवा विस्तृत हो जायेगी अर्थात् वह लोचदार माँग होगी। मार्शल के शब्दो में "माँग की लोच (elasticity) या प्रतिकारकता (responsiveness) वाजार में उतनी ही कम या ज्यादा कही जाएगी जितनी कि माँगी हुई मात्रा कीमत के एक निर्दिष्ट उतार पर, कम या ज्यादा वढती है, और कीमत के एक निर्दिष्ट चढाव पर, ज्यादा या कम घटती है।"

तो भी शायद ही कोई वस्तुएँ हो जिनकी माँग विल्कुल वेलोचदार (inelastic) हो। माँग कीमत के परिवर्तनो से पूर्णतया अचेतन (insensitive) नही हो सकती। वेलोचदार कहने की अपेक्षा हम को कम लोचदार (less elastic) कहना चाहिए। लोच तो केवल डिग्रीमात्र ही है।

लोच में वृद्धि इन कारणो से ही हो सकती है, जव कि कीमत गिरने पर वर्त्तमान खरीदार अधिक खरीदने लगें या नये खरीदार खरीदना आरम्भ कर दें। आमतौर पर शक्तिशाली (potential) खरीदार ही माँग को लोचदार वनाते हैं। उदाहरणार्थ जव गेहूँ की कीमत गिर जाती है तो वर्तमान खरीदारो की अधिक खरीद से नही वरन् नये खरीदारो की वढी हुई खरीद के कारण ही गेहूँ की अधिक विक्री होती है।

यह प्रभाव उपभोक्ता की सतुष्टि मे होने वाले परिवर्तनो से सम्वन्धित है, जो उसकी आय में परिवर्तन के फलस्वरूप होते हैं, लेकिन कीमत वैसी ही वनी रहती है। परन्तु यदि कीमतें इस प्रकार वदलें कि आय में होने वाले परिवर्तन से उस पर कोई भी अच्छा बुरा प्रभाव नही पडता, तो यह **प्रतिस्थापन प्रभाव** (substitution effect) कहलाएगा।

८ आय लोच तथा कीमत लोच (Income Elasticity and Price Elasticity)—आय लोच (income elasticity) की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है (आ० लो० e^1) —

$$\text{आ० लो०} = \frac{\text{माल की खरीद में अनुपाती परिवर्तन}}{\text{आय में अनुपाती परिवर्तन}}$$

चूंकि आय प्रभाव (income effect) प्राय क्रियात्मक (positive) होता है, इसी तरह आय लोच (income elasticity) भी क्रियात्मक होती है। जव आय में परिवर्तन से खरीद (purchases) में कोई परिवर्तन नही होता तो यह शून्य (zero) होता है और जव आय में वृद्धि के साथ उपभोक्ता खरीद कम कर देता है तो यह अक्रियात्मक (negative) होता है, अर्थात् रद्दी माल के सम्वन्ध में माँग की कीमत लोच (price elasticity of demand) तथा माँग की आय लोच (income elasticity of demand) के अन्तर को ध्यान से समझ लेना चाहिए। कीमत लोच

(price elasticity) माँग की प्रतिकारकता अथवा सचेतता (responsiveness or sensitiveness) मे कीमत मे होने वाले (कम) परिवर्तनो को मापती है, आय लोच (income elasticity) खरीदार की आय में होने वाली प्रतिकारकता (responsiveness) की ओर निर्देश करती है। पहले का सकेत खर्च प्रभाव (expenditure effect) की ओर है, दूसरे का सकेत आय प्रभाव (income effect) की ओर है। वह अपेक्षाकृत मँहगे माल की जगह अपेक्षाकृत सस्ता माल लेगा। यह विषय उपभोक्ता की आय में क्षतिपूर्त्ति अन्तर (compensating variation) कहलाता है।

जव कि कीमते वदलती हैं और द्रव्य आय स्थिर रहती है, तो भी उपभोक्ता पर अच्छा बुरा असर होता है, ऐसे प्रभाव को **कीमत प्रभाव** (price effect) कहते हैं। इससे खरीदारी तथा वास्तविक आय को फिर से ठीक करना पडेगा और उपभोक्ता पर अच्छे वुरे प्रभाव को वदलना होगा। इस प्रकार आय प्रभाव (income effect) भी होगा। यह आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) का मेल (combination) कहलाता हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ तक अकेले दुकानदार तथा दुकान का सवाल है उत्पाद (product) के लिए माँग वहुत लोचदार होती है यद्यपि कुल मिलाकर उत्पाद के लिए माँग वेलोचदार (inelastic) हो। दूसरो की निस्वत अपनी कीमत कम करके वह अपने उत्पाद की माँग में वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार माँग वक्र क्षैतिज (horizontal line) होगा।[1] विभिन्न माल की माँग के माप में ये दोनो लोच (elasticities) पर्याप्त रूप से सहायक हैं। इस प्रकार यह करावान (taxation) के माप में भी सहायक होता है।

हमें एक दूसरे पद (term) से भी अवगत कर लेना चाहिए अर्थात् सकरण-लोच (cross-elasticity)। यहाँ एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने से दूसरे की माँग में परिवर्तन हो जाता हैं। माँग की सकरण-लोच (cross-elasticity)

$$= \frac{\text{क की खरीद में अनुपाती परिवर्तन}}{\text{ख की कीमत में अनुपाती परिवर्तन}}$$

९ माँग की लोच का घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity with the Law of Diminishing Utility)—माँग की लोच का सिद्धान्त घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्वद्ध है। सीमान्त उपयोगिता पूर्त्ति (supply) के अनुसार वदलती है। जव पूर्त्ति वढती है यह गिरती है और जव पूर्त्ति घटती है यह वढती है। परन्तु प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता में कमी एक-सी नही होती। नमक जैसी कुछ वस्तुओ में हम तुरन्त ही सतुष्ट हो जाते हैं और सीमान्त उपयोगिता तुरन्त गिर जाती है। इन स्थितियो में माँग

१ रेखाचित्र के लिए हमारी पुस्तक "Refresher Course in Economic Theory" के अध्याय ६ को देखिए।

बेलोचदार होती है और मूल्य मे कोई भी कमी हमको अधिक क्रय करने को प्रोत्साहित नही कर सकती। कुछ दूसरी स्थितियो में सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे गिरती है, उदाहरणार्थ विलासिताएँ। ऐसी वस्तुओ की कीमतो मे कमी से माग अवश्य बढेगी। अतएव माँग लोचदार होगी। सक्षेप मे, **माँग बेलोचदार होती है जब कि सीमान्त उपयोगिता शीघ्रता से गिरती है और लोचदार होती है जब कि वह धीरे-धीरे गिरती है।**

१० माँग की लोच तथा उपभोक्ता की बचत (Elasticity of Demand and Consumer's Surplus)—माँग के स्वरूप का प्रभाव उपभोक्ता की बचत की मात्रा पर भी पडता है। अनिवार्यताओ तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताओ की माँग बेलोचदार होती है। उनकी कीमत बाजार मे बहुत कम होती है। परन्तु उपभोक्ता उनके लिए, जो वास्तव में भुगतान करते है, उससे अधिक देने को तैयार रहते है। जो कुछ वे देने को तैयार है और जो कुछ वे वास्तव में देते है, उनका अन्तर उपभोक्ता की बचत बताता है। अतएव हम कह सकते है कि **जब माँग बेलोचदार है तो उपभोक्ता की बचत अधिक होती है और जब लोचदार तो कम।**

११ माँग की लोच कैसे निर्धारित होती है (What determines Elasticity of Demand)—पदार्थो का वर्गीकरण उनकी माँग के स्वभाव के अनुसार, तथा यह निर्धारित करने लिए दृढ नियम बनाना कि माँग लोचदार या बेलोचदार है, सभव नही है। परन्तु हम इस सम्बन्ध म साधारण नियम बना सकते है। लोच एक सापेक्षिक (relative) शब्द है। किसी व्यक्ति के लिए अथवा एक स्थान पर माँग लोचदार हो सकती है तथा दूसरे के लिए दूसरे स्थान पर यह बेलोचदार हो सकती है। इस महत्वपूर्ण आधार के आधीन हम निम्नलिखित नियम प्रस्तुत कर सकते है।

(1) **अनिवार्यताओ तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताओं के लिए माँग बेलोचदार अथवा कम लोचदार होती है**—हम ऐसी वस्तुओ को चाहे जो कुछ कीमत हो अवश्य एक बँधी मात्रा में खरीदते है। भारत जैसे निर्धन देश में तो, नमक जैसी वस्तु की माँग भी कुछ लोचदार होती है। १९२३ में नमक-कर को दूना करने से नमक का उपभोग कम हो गया था। गेहूँ के मूल्य में परिवर्तन उच्च तथा मध्यम वर्ग के लिए सारहीन हो सकता है, परन्तु निर्धन में उसका उपभोग मूल्य गिरने पर अवश्य ही बढेगा।

(11) **विलासिताओं की माँग लोचदार होती है**—यह ठीक प्रतीत होता है कि रेडियो, रेफरीजरेटर तथा सुन्दर लकडी के सामान के मूल्य मे कमी से उनकी बिक्री में वृद्धि हो जायेगी। परन्तु वृद्धि कौन करेगा ? वास्तव में धनी नही। उनके लिए ये वस्तुए प्रतिष्ठारक्षक आवश्यकताएँ है। वे उसको अवश्य ही खरीदेंगे और एक बार खरीदने के बाद वे दुबारा नही खरीदेंगे चाहे जितनी भी कीमत क्यो न हो। अतएव इनकी माँग लोचदार नही है।

यहाँ भी हम साधारणीकरण नही कर सकते। विलासिता एक सापेक्ष शब्द है। निर्धन की कीमती विलासिता धनी के लिए कम कीमत वाली आवश्यकता होती है। एक वस्तु एक देश में विलासिता हो सकती है और दूसरे में अनिवार्यता, प्राचीनकाल

की विलासिताएँ आधुनिक काल की अनिवार्यताएँ वन गई है। इस भाँति एक ही वस्तु के लिए कुछ मनुष्यो की माँग लोचदार तथा दूसरो की वेलोचदार हो सकती है।

(iii) **प्रतिस्थापन वस्तुओ की माँग लोचदार होती है** (For substitutes the demand is elastic)—"माल की कीमतो में परिवर्तन होने पर भी उनकी माँग मे अन्तर इस कारण रहता है कि कुछ वस्तुओ के लिए, दूसरी वस्तुओ की वजाए, स्पर्द्धी वस्तुएँ (competitive substitute) मिल जाती है।" जब चाय की कीमत वढ जाती है, हम उसकी खरीद को घटा सकते है और काफी को खरीद सकते है तथा इसके विपरीत भी ऐसा कर सकते है। कीमत मे परिवर्तन होने से माँग मे विस्तार या सकुचन हो जायेगा।

तो भी वहुत कम ऐसी वस्तुएँ है जो ठीक प्रतिस्थापन कर सकती है, कॉफी चाय के पूर्णतया समान नही ह। इटली, अमरीका तथा अर्जेटाइना में जूट के प्रतिस्थापन (substitute) करने के प्रयत्न किये गये है परन्तु वे अधिकतर निष्फल रहे है। यह माना जा सकता है कि शृगार की वस्तुओ में वहुत से विकल्प है। आप पोंड क्रीम या वाम्वे क्रीम, लिस्टरीन या मैक्लीन्स दत मजन, हमाम सावुन या प्रीफैक्ट सावुन, कीवी पालिस या चेरी ब्लासम पालिस इत्यादि प्रयोग कर सकते है। परन्तु क्या वास्तव में आप इनमें से किसी का प्रयोग कर सकते है? व्यवसायी यह नही चाहता कि उसकी वस्तुएँ ऐसी हो जिनकी माँग लोचदार हो। इसी लिए वह उस पर एक विशेष लेविल लगाता है और चतुर तथा सतत प्रचार से वह आपको उसे खरीदने के लिए प्रोत्साहित करेगा। आपको उसके प्रयोग की आदत पड जाती है। आप सतुष्ट नही होते जव तक की वह विशिष्ट मार्के की वस्तु नही पाते। इस प्रकार उस ने इसकी माग को लोचदार से वेलोचदार वना दिया है। अतएव प्रतिस्थापन वस्तुएँ वास्तव में प्रतिस्थापन नही कर पाती।

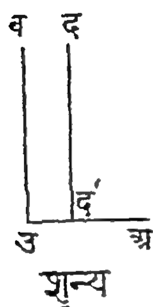
(iv) **विभिन्न उपयोगो वाले पदार्थो की माँग**—ऐसे पदार्थों की माँग लोचदार होती है। कोयला एक ऐसी वस्तु है। जब सस्ता हो जाता है तो यह खाना पकाने, गरम करने और व्यवसाय सम्वन्धी कार्यों मे प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार उसकी माँग वढ जाती है। परन्तु जव कीमत वढ जाती है तो वह केवल आवश्यक उपयोगो मे ही लाया जायगा और कम खरीदा जायगा। अतएव माँग घट जायगी।

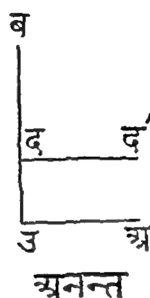
(v) **संयुक्त माँग वाली वस्तुएँ**—सयुक्त माँग में लोच वहुत कम होती है। यदि गाडी के दाम गिर जायें और घोडे के दाम ऊँचे रहें तो गाडी की माँग मे कोई विशेष वृद्धि न होगी।

(vi) **उन पदार्थों की माँग जिनका उपयोग टाला जा सकता है लोचदार होती है**—हममें से अधिक मनुष्यो ने लडाई के समय अपने क्रय को जहाँ तक हो सका टाला। उदाहरणार्थ मकान वनाना, फरनीचर खरीदना अथवा कई गर्म सूट रखना। जव यह सस्ते होते है हम इनकी अधिक मात्रा खरीदते है। अतएव उनकी माँग लोचदार होती है।

(vii) **लोच कीमतो के स्तर पर भी निर्भर है** (Elasticity also depends on the level of prices)—यदि कोई वस्तु वहुत मँहगी अथवा वहुत सस्ती है

१३. माँग की लोच का रेखाचित्र द्वारा वर्णन (Diagrammatic Representation of Elasticity of Demand)[1]—इन दो रेखाचित्रों में द द' माँग वक्र हैं। शून्य तथा अनन्त के समान लोच केवल सैद्धान्तिक ही है। पहले में द द' उ व के और दूसरे मे उ अ के समानान्तर है। लोच जितनी ही कम होती है,



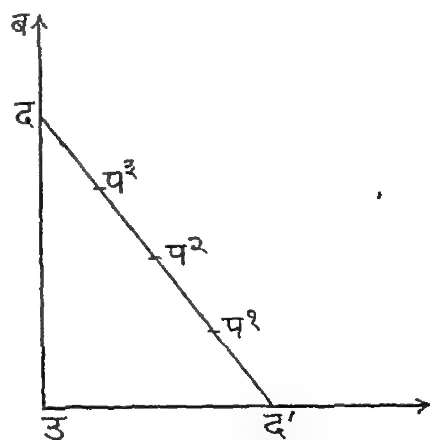


चित्र नं० १६

माँग वक्र शून्य वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है और लोच जितनी ही अधिक होती है माँग अक्र अनन्त वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है। सिर्फ इन्ही दो वक्रो में लोच सभी विन्दुओ (points) पर समान होगा। दूसरे वक्रो में, भिन्न विन्दुओ पर लोच भिन्न है जैसा कि रेखाचित्र १७ मे दिखाया गया है। चूँकि लोच सदैव विन्दु पर होती है न कि वक्र में।

माँग की लोच के नापने की एक और रीति भी है। नीचे द द' एक सीधी माँग वक्र है लोच भिन्न अक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है वक्र पर किसी विन्दु से द' तक की दूरी —उसी विन्दु से द तक की दूरी। अतएव विन्दु $प_1, प_2, प_3$ पर माँग की लोच—

$$\frac{द' प_1}{द प_1}, \quad \frac{द' प_2}{प प_2} \quad तथा \frac{द' प_3}{द प_3}$$



रेखा-चित्र नं० १७

क्योकि $प_2$ वक्र के वीच में है, $\frac{द' प_2}{द प_2} = १$, इसलिए, लोच एकता (unity) है। यह भी दीख पडता है कि लोच वक्र के निचले विन्दु पर ऊँचे विन्दु की अपेक्षा एकता से कम है।[2]

वक्र के ढाल को माँग की लोच से भ्राति नही होनी चाहिये। वक्र का ढाल माँग की लोच नही वताता। ऊपर के चित्र में वक्र द द' का ढाल सव जगह एक सा है,

1 For an advanced version see Stigler, pp 51-54

2. हमारी पुस्तक "Refreshes Course" के अध्याय ६ को देखिये।

any fall in price will cause a proportionate increase in the amount bought, and therefore will make no change in the total outlay which purchasers make for the commodity ")[1] एक वक्र जो सब कीमतों पर स्थिर कुल व्यय (constant total outlay) बताता है और जहाँ सब मे लोच एकता (unity) है तो इसे आयत आकार का हाइपरबोला (rectangular hyperbola) कहते हैं । ऐसे मामलों को छोड़कर कोई भी वक्र सारी लम्बाई में लोच नही दिखाता । प्राय वक्र भिन्न बिन्दुओं पर भिन्न लोच प्रदर्शित करता है ।

दूसरी रीति—इसमें हम कीमत में प्रतिशत परिवर्तन की माँग की प्रतिशत परिवर्तन से तुलना करते हैं । माना कीमत ५० प्रतिशत बढ जाती है । यदि माँग ५० प्रतिशत घट जाती है तो लोच एकता (unity) रहती है, यदि यह ५० प्रतिशत से अधिक घट जाती तो वह एकता से अधिक होती है, और यदि यह ५० प्रतिशत से कम घटती है तो लोच एकता से कम है ।

सूत्र इस प्रकार है—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँगी गई मात्रा में अनुपाती परिवर्तन}}{\text{कीमत में अनुपाती परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\text{माँगी गई मात्रा में परिवर्तन}}{\text{माँगी गई मात्रा}} \div \frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{कीमत}}$$

प्रतीक (symbols) के अनुसार,[2]

$$\text{लो } (\eta) = \frac{\frac{\triangle \text{म}}{\text{म}}}{\frac{\triangle \text{क}}{\text{मा}}} = \frac{\triangle \text{म}}{\triangle \text{मा}} \quad \frac{\text{मा}}{\text{म}}$$

जिसमें—लो (η) = लोच

म = मात्रा

क = कीमत

△ = मात्रा मे लघु (infinitesimal) परिवर्तन अथवा कीमत में लघु परिवर्तन

(मा = माँग)

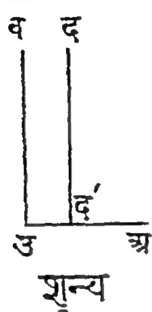
माँग की लोच सदैव नकारात्मक (negative) होती है, यद्यपि पद्धति के अनुसार उसे सकारात्मक (positive) में समझा जाता है। इसलिए लो (η) सदैव शून्य से कम होगी यदि माँग वक्र रीति-विरुद्ध, अर्थात् दाएँ से बाएँ को ऊपर की ओर झुकती हुई नही है ।

---

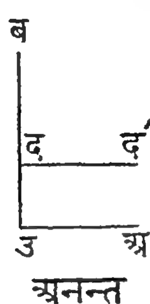
1 Marshall, A —Priciples, p 839,

2 Stigler, G J —Theory of Price (1949), p 52

१३. माँग की लोच का रेखाचित्र द्वारा वर्णन (Diagrammatic Representation of Elasticity of Demand)[1]—इन दो रेखाचित्रों मे द द' माँग वक्र है। शून्य तथा अनन्त के समान लोच केवल सैद्धान्तिक ही है। पहले में द द' उ ब के और दूसरे में उ अ के समानान्तर है। लोच जितनी ही कम होती है,



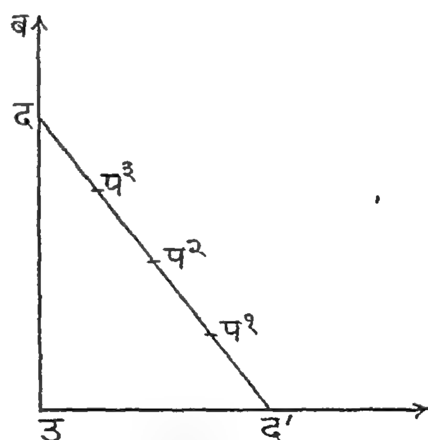
शून्य



अनन्त

चित्र न० १६

माँग वक्र शून्य वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है और लोच जितनी ही अधिक होती है माँग अक्र अनन्त वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है। सिर्फ इन्ही दो वक्रो मे लोच सभी विन्दुओ (points) पर समान होगा। दूसरे वक्रो में, भिन्न विन्दुओ पर लोच भिन्न है जैसा कि रेखाचित्र १७ में दिखाया गया है। चूँकि लोच सदैव विन्दु पर होती है न कि वक्र में।



रेखा-चित्र न० १७

माँग की लोच के नापने की एक और रीति भी है। नीचे द द' एक सीधी माँग वक्र है लोच भिन्न अक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है वक्र पर किसी विन्दु से द' तक की दूरी —उसी विन्दु से द तक की दूरी। अतएव विन्दु $प_1, प_2, प_3$ पर माँग की लोच—

$$\frac{द' प_1}{द प_1}, \quad \frac{द' प_2}{प प_2} \quad तथा \frac{द' प_3}{द प_3}$$

क्योकि $प_2$ वक्र के बीच में है, $\frac{द' प_2}{द प_2} = १$, इसलिए, लोच एकता (unity) है। यह भी दीख पडता है कि लोच वक्र के निचले विन्दु पर ऊँचे विन्दु की अपेक्षा एकता से कम है।[2]

वक्र के ढाल को माँग की लोच से भ्राति नही होनी चाहिये। वक्र का ढाल माँग की लोच नही बताता। ऊपर के चित्र में वक्र द द' का ढाल सब जगह एक सा है,

1 For an advanced version see Stigler, pp 51-54

2. हमारी पुस्तक "Refreshes Course" के अध्याय ६ को देखिये।

सरकार की वार्षिक आय के लिए अधिक निश्चित हो सकता है। नि सन्देह, कर से कीमत बढ जायगी परन्तु माँग बेलोचदार होने के कारण लोगो को वह वस्तु खरीदना ही पड़ेगी। माँग घटेगी नही। परन्तु मानवता के नाते ऐसे कर नही लगाये जाते क्योंकि ऐसी वस्तुयें जीवन-रक्षक अनिवार्यताएँ है और उन पर कर लगाने से जनता के हित पर बुरा प्रभाव पडता है।

इसी भाँति व्यापारी को यदि वह एकाधिकारी (monopolist) है तो अपनी कीमत निर्धारित करते समय माँग के स्वरूप का ध्यान रखना पडेगा। यदि माँग बेलोचदार है तो उसको लाभ इसमें होगा कि वह ऊँची कीमत ले और उसकी कुछ कम मात्रा बेचे। दूसरी ओर यदि माँग लोचदार है तो वह कीमत कम करके माँग बढा देगा और इस प्रकार एकाधिकारी लाभ को अधिकतम कर सकेगा। लेकिन स्पर्द्धा उद्योगो में स्थिति में प्रत्येक फर्म के द्वारा उत्पादित माल की माँग लोचदार होती है। इसलिए कोई एक फर्म कीमत निर्धारित नही कर सकती।

लोच का सिद्धान्त सयुक्त उत्पादन पर भी लागू होता है। उनकी पृथक् लागत (cost) नही मालूम की जा सकती। उत्पादक कीमत निर्धारित करते समय माँग और उसके स्वभाव से ही प्रभावित होगा। परिवहन (transport) अधिकारी इस सिद्धान्त के अनुसार दर निर्धारित करते है—उतना ही दर हो जितना कि यात्री भार सह सकें। जब किसी उद्योग में बढती हुई प्राप्ति (increasing returns) का नियम लागू होता है, तो उत्पादक बाजार का विकास करने के लिए कीमत कम कर देते है जिससे कि वे बडे पैमाने के उत्पादन से लाभ उठा सकें। अतएव हम देखते है कि लोच का विषय सैद्धान्तिक चर्चा मात्र नही है।

औद्योगिक उत्पादन माँग की लोच से प्रभावित होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक व्यक्ति की लोच में तथा समस्त बाजार की लोच में भेद करना पडेगा। कीमत में कोई भी कमी होने के कारण एक व्यक्ति एक ही समाचार-पत्र या पत्रिका दूसरी बार लेने को प्रोत्साहित न होगा। व्यक्तिगत माँग बेलोचदार है, परन्तु बाजार की माँग बेलोचदार नही है और उत्पादक के लिए यह बाजार की माँग ही है जो अधिक महत्व रखती है। कीमत में कमी से समस्त बाजार में अवश्य ही बिक्री बढ जायेगी।

लोच का सिद्धान्त बहुतायत के बीच में निर्धनता के विरोधाभास की व्याख्या करता है। यदि माँग बेलोचदार है तो खूब अच्छी फसल सफलता का एक कारण होने की अपेक्षा विपत्ति पैदा कर सकती है। यह विशेषत तब होती है जब कि उत्पादन शीघ्र नष्ट होने वाला (perishable) हो। एक बुरी फसल की अपेक्षा अच्छी फसल से कम द्रव्य प्राप्त होगा। कुछ समय तक रखी जाने वाली वस्तुओ की माँग कम बेलोचदार अथवा लोचदार होती है। कीमत के घट जाने से वह अधिक खरीदी जायेगी तथा स्टोर की जायेगी। ऐसा किसी एक वर्ष में हो सकता है, परन्तु ५ वर्ष या अधिक समय में ऐसी वस्तुओ की भी माँग कम लोचदार होती है, उदाहरणार्थ गेहू की माँग। यदि गेहूँ की माँग की लोच सम या एकता (unity) के बराबर है तो उत्पादको की आय एक-सी रहेगी चाहे फसल की कैसी भी स्थिति क्यो न हो। (अतएव कीमत की प्रत्येक स्थिति में

यह समान रहेगी।) बुरी फसल होने वाले वर्ष में कीमत की वृद्धि उत्पादन की कमी को पूरा कर देगी। अतएव किसानो की एक निश्चित आय स्थायी बनाने के लिए सरकार को एक विशिष्ट फसल की माँग की लोच की श्रेणी का ध्यान रखना चाहिए और उत्पादन तथा कमी को रोकने के लिए यथायोग्य कार्य करना चाहिये।

माँग की लोच का प्रभाव मजदूरी (wages) पर भी पडता है। यदि श्रम की माँग अपेक्षाकृत बेलोचदार है तो मजदूरी बढाना सरल है अन्यथा नही।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A —Principles of Economics —1.

Robinson, Joan—Economics of Imperfect Competition, 1942 Chs 1 and 2

Meyers, A L —Elements of Modern Economics Ch. 6 and 7.

Stigler, G J —Theory of Price, Ch. 4 and 5

Samuelson, P. A —Economics, 1948 pp. 447-454

Moore and Others—Modern Economics —

Benham, F.—Economics

Erich Roll—Elements of Economics Theory —4

Boulding—Economics Analysis, Ch 29

अध्याय ७

उत्पादन---(सामान्य रूप मे)

(PRODUCTION—GENERAL)

१ उत्पादन का अर्थ (Meaning of Production)—कभी-कभी उत्पादन की परिभापा उपयोगिता का निर्माण (creation of utility) अथवा आवश्यकता की सतुप्टि करने वाली वस्तुओ तथा मेवाओ का निर्माण किया जाता है। यह कहा जाता है कि ठीक जिस प्रकार मनुप्य पदार्थ नप्ट नही कर सकता, उसी प्रकार वह पदार्थ का निर्माण भी नही कर सकता, वह उसे केवल उपयोगिता प्रदान कर सकता है। फ्रेजर के शब्दो में "यदि प्रयोग का अर्थ उपयोगिता निकाल लेना है तो उत्पादन का अर्थ उपयोगिता पुन देना है।"

परन्तु वैज्ञानिक रूप से यह परिभापा उचित नही है। ऐसी वस्तु का उत्पादन करना जिसमें उपयोगिता (utility) हो किन्तु मूल्य (value) न हो आर्थिक दृष्टि से उत्पादन नही है। मै योग की विचारधारा फैला सकता हूँ तथा अपने मित्रो का शारीरिक और आध्यात्मिक कल्याण कर सकता हूँ जिसकी उपयोगिता अधिक है। परन्तु जब तक मै इसे अपना व्यवसाय न बना लूँ, मेरी क्रिया उत्पादन के अन्तर्गत नहीं होगी। **अतएव उत्पादन को उपयोगिता का निर्माण कहकर नहीं किन्तु मूल्य का निर्माण अथवा उसकी वृद्धि कहकर परिभाषित करना चाहिए।** उपयोगिताएँ तीन रूप में पैदा की जाती है (i) स्वरूप उपयोगिता (form utility), (ii) समय उपयोगिता (time utility), और (iii) स्थान उपयोगिता (place utility)।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उत्पादन के अध्ययन में हमारा सम्बन्ध उत्पादन की तकनीक (technique) से नही है। हम तो सिर्फ आर्थिक रूप से ही सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, बढ़िया कपडा तैयार करना एक तकनीक है। लेकिन फाइन, मीडियम तथा कोर्स कपडे के सापेक्ष अनुपात को बताना अर्थशास्त्र का विपय है।[1]

इस भाव में, उत्पादन के अन्तर्गत नीचे दिये हुए उद्योगो के अनेक उत्पादक समावेशित है—(१) निकालने वाले उद्योग (Extractive Industries), खनन (Mining), मछली पकडना, कृषि करना आदि जिनका अधिकतर सम्बन्ध कच्चे माल के उत्पादन से है, (२) निर्माण उद्योग (Manufacturing Industries) जो कच्चे माल को तैयार माल में बदलते है। आदि (३) वाणिज्य सम्बन्धी सेवाएँ (Commer-

---

1 For distinction between Economics and Technology read Robbin's Nature and Significance of Economic Science, Ch II Sec. 3

cial Services) जैसे क्रय-विक्रय, परिवहन, बैंकिंग तथा बीमा आदि, तथा (४) उपभोक्ताओ के लिए प्रत्यक्ष सेवाएँ (Direct Services) जैसे घरेलू नौकरो, डाक्टरो, वकीलो, अध्यापको आदि की सेवाएँ।

उत्पादन के विस्तार (volume) का सामाजिक महत्व बहुत है। वास्तव मे जाति के जीवन-स्तर को उत्पादन के विस्तार तथा विभिन्नता पर निर्भर रहना पडता है। यह सच है कि कोई देश अपनी कठिनाई और आपत्ति के समय का निवारण करने के लिए विदेश से रुपया उधार अथवा दान के रूप में ले सकता है। परतु उधार लिया हुआ रुपया वापस करना होता है और दान निरन्तर नही मिलता। जीवन-स्तर का कोई विश्वसनीय आधार ऐसे विदेशी अथवा आकस्मिक साधनो पर नही बनाया जा सकता। यदि जीवन-स्तर को स्थायी रूप से बढाना है, तो देश के उत्पादन को बढाना होगा।

भारत की बढती हुई करोडो की जनसख्या को देखते हुए उसके उत्पादन की कुल मात्रा बहुत कम है तथा ससार मे इसका जीवन-स्तर सब से नीचा है। 'उत्पादन करो या मरो'—हमारा नारा होना चाहिए। यह भी बात ध्यान रखनी जरूरी है कि आर्थिक कल्याण सिर्फ राष्ट्रीय आय (national income) पर ही आधारित नही है, बल्कि इस बात पर कि इसका वितरण कैसे होता है।

२ उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने वाले कारण (Factors determining the Volume of Production)—उत्पादन की मात्रा को बढाने के लिए, हमें उन कारणो का जिन पर की यह निर्भर है, निरीक्षण करना होगा। उन कारणो का अध्ययन तथा उनकी सापेक्ष महत्ता का उचित ज्ञान हमें उत्पादन मे वृद्धि करने वाले प्रधान और सही रास्ते पर डाल देगे।

(१) किसी देश का उत्पादन सर्वप्रथम मनुष्य, द्रव्य तथा पदार्थ पर निर्भर है। यदि हमारे लोग परिश्रमी तथा साधन-सम्पन्न है, यदि पूँजी (capital) बहुतायत से है और यदि भूमि हमे अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करती है, तो उत्पादन का विशाल प्रसार निश्चित है। किसी देश का उत्पादन वहाँ प्राप्त होने वाले उत्पादक स्रोतो की मात्रा तथा कोटि से सीमित होता है।

(२) उत्पादन में वृद्धि कृषि और उद्योग में विज्ञान के प्रयोगो पर और विकास की तकनीक पर भी निर्भर है। बिना वैज्ञानिक तथा टेक्नीकल मालूमात के अधिक सफलता नही हो सकती। शक्तिचालित करघो की तुलना में एक जुलाहा क्या कर सकता है?

(३) इसके अतिरिक्त उत्पादन साख, बैंकिग तथा परिवहन की सुविधाओ पर निर्भर होता है। यदि कारीगरो को वित्तीय सहायता देने वाली सस्थाएँ नही है तो उन्हें बडी असुविधा होगी। आर्थिक सहायता उत्पादन का सुचारु रूप से सचालन करती है। वस्तुओ के उत्पादन से भी कोई अधिक लाभ नही होगा यदि वे बाजार में कम व्यय पर तथा शीघ्र ही न पहुँच सकती हो।

(४) राजनीतिक कारण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि राज्य सहानुभूति रखता है और उत्पादन में ज्ञान, शिक्षा तथा आर्थिक और अन्य सहायतायें प्रदान करके

क्रियाशील रूप से सहायक होता है तो उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। रूस का प्रयोग इस बात का एक यथेष्ट चिन्ह है कि इस प्रकार से क्या प्राप्ति हो सकती है।

(५) अन्त में, कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। जलवायु, मिट्टी, पर्वत तथा नदियाँ सब ही प्राकृतिक प्रसाद हैं। उत्पादन के प्रति उनके सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं। बाढ, भूडोल तथा अन्य प्राकृतिक सकट मनुष्य के काम को बिगाड देते हैं। यदि उत्पादन में वृद्धि करनी है तथा उनकी रक्षा करनी है तो हमें मनुष्य की सेवा के लिए प्राकृतिक शक्तियो का प्रयोग करना सीखना होगा।

३ **उत्पादन के साधन (Agents of Production)**[1]—'उत्पादन के साधन' वाक्यांश से हमारा तात्पर्य मालिक (स्वामी) तथा उत्पादक तत्वो के सप्लायर्स से होता है। इसे सही अर्थो में उत्पादन का साधन कह सकते हैं। फ्रेजर की परिभाषा के अनुसार "उत्पादन का साधन ग्रुप अथवा मूल उत्पादक स्रोतो के वर्ग के रूप में" ("factor of production as a group or class of original productive resources"—Fraser) 'साधन' (factor) वाक्यांश उत्पादक तत्वो के वर्ग (class of productive elements) के लिए काम आता है, व्यक्तिगत रूप से जिसके सदस्य साधन की 'इकाइयाँ' (units) माने जाते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के प्रतिष्ठित साधनो[2] (classical factors of production) की बजाए गुमनाम उत्पादक सेवाओ (anonymous productive services) की लय में बात करना पसन्द करते हैं। इनको 'इनपुट्स' (inputs) भी कहा गया है, और जो वह पैदा करते हैं उसे 'आउटपुट्स' (outputs) कहा गया है।

उत्पादन के साधनो का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है भूमि, श्रम, पूजी तथा व्यवस्था अथवा उद्यम (enterprize)। अर्थशास्त्र में भूमि (land) का अर्थ केवल मिट्टी से ही नहीं होता जैसा कि साधारण बोलचाल में होता है। यह वायु, जल, भूमि के धरातल के ऊपर तथा इसके नीचे से प्राप्त होने वाले सब साधनो के, जिनसे आय प्राप्त होती है, समानार्थ है। इसी प्रकार श्रम (labour) का अभिप्राय केवल शारीरिक अथवा मशक्कत (manual labour) से ही नहीं, किन्तु द्रव्य सम्बन्धी पुरस्कार के लिए मनुष्य द्वारा किये हुए सब प्रकार के कार्य से है। यह व्यक्ति के समानार्थ है। पूँजी (capital) से अभिप्राय उस तमाम धन-राशि से है जिसमें यन्त्र, औजार कच्चा माल आदि शामिल हैं और जोकि धन के उत्पादन के लिए काम में लाये जाते हैं।

व्यवस्था में उपर्युक्त तीन साधनो को सगठित करना और प्रत्येक को कार्य निर्दिष्ट करना शामिल है। उद्यमी जो कि इस साधन की पूर्ति करता है उत्पादन का कार्य-स्वरूप बनाता है, उसको प्रारम्भ करता है और उसका सचालन करता है तथा जोखिम सहन करता है।

---

1 *See* Fraser, L M —Economic Thought and Language (1947), Ch 12
2 *See* Stigler, G J —Theory of Price (1947) I pp 114—15

कुछ अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण को चार से दो, भूमि तथा श्रम अथवा मनुष्य तथा प्रकृति, में इस कारण घटाते है कि केवल वे ही मौलिक अथवा प्रारम्भिक साधन हैं। यह कहा जाता है कि पूजी का कोई स्वतन्त्र आदि कारण नही है और वह केवल भूमि तथा श्रम के प्रयत्नो का परिणाम है, और व्यवस्था केवल श्रम का एक रूप है। परन्तु आदि कारण जो भी हो पूजी उत्पादन के एक पृथक् साधन के रूप में एक वहुत आवश्यक कार्य करती है तथा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी प्रकार उद्यमी का कार्य एक भिन्न प्रकार का है और उसे एक भिन्न आधार पर पुरस्कार मिलता है। अतएव चार विभाग वाला वर्गीकरण आधुनिक आर्थिक ससार मे प्रचलित दशाओ का अच्छी प्रकार से प्रतिनिधित्व करेगा।

हाल मे ही वेन्हम, विकस्टीड, डेवनपोर्ट जैसे अर्थशास्त्रियो द्वारा इस वर्गीकरण का यह कहकर निषेध किया गया है कि यह टेक्नेलॉजिकल, अवैज्ञानिक तथा विना किसी विशेष महत्त्व के है। वर्गीकरण पर दोष इस कारण लगाया जाता है कि श्रम के विभिन्न प्रकारो में वहुत अधिक भेद हैं, स्वय भूमि में अन्तर है, और न पूजी तथा उद्यम ही एक सी प्रकृति के है। इसलिए उनको इस आधार पर कि वे मौलिक रूप से एक दूसरे से भिन्न है, पृथक् रखने का कोई कारण नही है जवकि वे स्वयं ही एक दूसरे के समान हैं।

पृथक् तथा भिन्न दोनो के वजाय उत्पादन के साधन एक दूसरे के लिए प्राय प्रतिस्थापित किये जा सकते हैं। श्रम यन्त्रो का स्थान ले सकता है तथा इसके विपरीत भी यही ठीक है। उद्यमी अपनी योग्यता से पूजी तथा श्रम दोनो को वचा सकता है जिसका अर्थ उनके लिए उसकी प्रवीणता का प्रतिस्थापन (substitution) है। इसके अतिरिक्त पूजी से भूमि की पृथक्ता के विचार के पीछे कोई तर्क नही। एक व्यक्ति के लिए भूमि पूजी है क्योकि यह धन के उत्पादन में सहायता देती है। इसी प्रकार श्रम के विशेष लक्षणो को वढा कर कहा गया है। यह चार विभाग वाला वर्गीकरण कुछ सार्थक होता यदि यह दिखाया जा सकता कि उत्पादन के साधनो के यह वर्ग उत्पादन अथवा वितरण के विभिन्न नियमो की क्रिया के आधीन है। किन्तु यह वात नही है।

फ्रेजर के शब्दो में "साधन वर्ग जरूरी तौर पर परस्पर प्रतिस्थापनीय इकाइयो का ग्रुप होना चाहिये।" ("a factor class must be a group of mutually substitutable units"—Fraser)। इस परीक्षा (test) के निर्णय से रूढिगत चार भाग वाला वर्गीकरण सही नही उतरता। फ्रेजर आगे कहते हैं "रूढिगत वर्गों में से एक भी (सिर्फ पूजी को अपवाद रूप में छोड कर) कठिनाई से परस्पर प्रतिस्थापनीय इकाइयो के ग्रुप जैसा है। इसके सदस्य, न सिर्फ प्रकृति मे विभिन्न तत्वो (heterogeneous) तथा मूल्य में जुदा (divergent in value) है, वल्कि यह भी असामान्य नही है कि एक वर्ग की इकाइयाँ अपने साथियो को छोड कर, दूसरे वर्ग की इकाइयो से सुगमता से अदला-वदली के योग्य रहती है। 'आन्तरिक' (internal) प्रतिस्थापन तथा 'वाह्य' (external) प्रतिस्थापन की दिशा मे समान (alike) होते हुए, उत्पादक स्रोतो का भमि (land), श्रम (labour), पूजी (capital)

तथा उद्यम (enterprise) में विश्लेषण असंतोषजनक तथा गुमराह करने वाला है।[1]

यद्यपि हमें साधनों का परम्परा-प्राप्त वर्गीकरण वैज्ञानिक कारणों से अवश्य अस्वीकार करना चाहिये, तो भी एक विद्यार्थी के प्रारम्भिक अध्ययन के लिए यह वर्गीकरण साधारण तथा सरलता के साथ समझे जाने के कारण स्थायी रखा जा सकता है। हम इस रूढिगत वर्गीकरण पर सिर्फ इसीलिए नही टिकने कि इसमे भटा फोडने की सुविधा है, वरन् इसलिए भी कि इसके परित्याग से अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मौजूदा काल में आने वाले विशाल काय विषय को मूल रूप से पुनंगठन करना पडेगा। इसके अलावा परम्परा वाले वर्गीकरण का वितरण के आधार (distributional grounds) पर बचाव किया गया है, अर्थात् यह आय के वर्गीकरण मे सहायक होता है। इसके अनुसार चार प्रकार की आय का निर्देश मिलता है, अर्थात् किराया (rent), मजदूरी (wages), व्याज (interest), तथा लाभ (profit)।

भूमि (Land)

४. अर्थ तथा महत्त्व (Meaning and Importance)—'भूमि' शब्द को अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ दिया जाता है। इसका अर्थ मिट्टी नही है जैसा कि साधारण बोल-चाल में समझा जाता है वरन् यह बहुत विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाता है। मार्शल के शब्दो में भूमि का अर्थ है "वह पदार्थ तथा शक्तियाँ जिन्हें प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिए भूमि तथा जल में, वायु और रोशनी तथा गर्मी में स्वतन्त्रता से देती है।"[2] भूमि उन सभी प्राकृतिक स्रोतो से सम्बन्धित हैं जिनसे आय होती है अथवा जिनका विनिमय मूल्य (exchange value) है। इनसे उन प्राकृतिक स्रोतों का भाव व्यक्त होता है जो वास्तव में अथवा सम्भाव्य रूप से लाभदायक तथा दुर्लभ है।[3]

आर्थिक विकास के प्रत्येक चरण (stage) म प्रकृति मनुष्य की सब से लाभदायक सहचरी रही है। शिकारी जीवन तथा मछली पकडने की अवस्था (hunting and the fishing stage) में प्रकृति भोजन की यथेच्छ स्वतन्त्रता से पूर्ति करती थी तथा मानवीय जीवन को पालती थी। पशु-पालन की अवस्था (pastoral stage) में यदि भूमि का धरातल तथा चरागाह और घास वाली भूमि न होती तो पशुओ तथा भेडो के समुदाय पाले तथा रक्खे नही जा सकते थे। कृषि की अवस्था (agricultural stage) में जो भूमि की उपयोगिता स्पष्ट है। मिट्टी, वायु तथा धूप के बिना मनुष्य किस प्रकार फसलो की उपज कर सकता है? जब कृषि की अवस्था दस्तकारी तथा औद्योगिक अवस्था को स्थान देती है तब भूमि और भी अनिवार्य हो जाती है। प्रत्येक वस्तु जिसका हम प्रयोग करते है, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से

---

1 Fraser, L M —Economic Thought and Language (1947), p 204
2 Marshall A.—Principles of Economics, (1936), p 138
3 Freser, L M —*Ibid*, p 222

अन्त में भूमि से सम्बद्ध है। चाहे जिस ओर भी हम दृष्टि डाले प्रकृति के प्रति हमारा ऋण स्पष्ट रूप से बहुत अधिक है। बिना इसके हमारा जीवन ही असम्भव हो जायेगा। मार्शल के शब्दो में, "पृथ्वी का धरातल प्रत्येक कार्य की जो मनुष्य कर सकता है, प्रारम्भिक अवस्था है, यह उसे उसके कार्यो के लिए स्थान देता है।"

५ भूमि की विशेषताएँ (Peculiarities of Land)—उत्पादन के दूसरे साधनो से भेद करने में भूमि मे कुछ स्पष्ट विशेषताएँ पाई जाती ह।

(i) भूमि प्राकृतिक उपहार है (Land is Nature's Gift)—भूमि मनुष्य को प्रकृति द्वारा मिलती है। लेकिन यह कहा जाता है कि मनुष्य ने स्वय अपने प्रयत्न से वन, भूमि तथा दलदलो को सुधारा है और मनुष्य ने भूमि मे खाद डाला है। इस प्रकार भूमि उतनी ही 'मनुष्य द्वारा बनाई हुई' तथा एक 'उत्पन्न किया हुआ' साधन है जितना कि कोई ओर दूसरा हो सकता है।

परन्तु भूमि के बनाने मे प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य का भाग लगभग शून्य है। जहाँ तक वायु, धूप तथा भूमि के एक क्षेत्र की स्थिति का सम्बन्ध है, मनुष्य ने वास्तव में उनके लिए कुछ नही किया है और वे प्रकृति के वैसे ही अंग है जैसे स्वयं पृथ्वी का धरातल।

(ii) भूमि मात्रा में निश्चित है—भूमि का क्षेत्र बढाया नही जा सकता। यह कहा जाता है कि भूमि की कोई सप्लाई कीमत नहीं है। बाजार मे भूमि की प्रचलित कीमत इसकी पूर्त्ति को प्रभावित नही कर सकता। इसकी पूर्त्ति न तो अधिक कीमत होने के कारण बढ सकती है और न कम कीमत होने के कारण घट सकती है। भूमि निश्चित होने से जैसे जनसख्या में वृद्धि होती है यह दुर्लभ लगान (Scarcity Rent) प्राप्त करने लगती है।

(iii) भूमि स्थायी है—युद्ध में बमो के द्वारा विध्वस किये जाने पर भी भूमि थोडे और साधारण सुधार से अपनी उत्पादकता पुन प्राप्त कर लेगी। भूमि में स्वाभाविक गुण होते है जिन्हें रिकार्डो ने 'मौलिक तथा अविनाशी' (original and indestructible) कहा है।

(iv) भौगोलिक विचार से भूमि में गतिशीलता (mobility) का अभाव है। यद्यपि अगूर उगाने वाली मिट्टी फ्रास से कैलीफोर्निया ले जाई गई है तो भी भूमि स्वय एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाई जा सकती। यह कारण भिन्न स्थानो में लगानो की असमानता के लिए उत्तरदायी है।

(v) अन्त में, भूमि उपजाऊपन तथा स्थिति की मात्राओ के अनन्त भेद (infinite variations) प्रदान करती है, जिसके कारण भूमि के कोई दो टुकडे ठीक एक-से नही होते। यह विशेषता कृषि की सीमा के सिद्धान्त को स्पष्ट करती है।

६ भूमि की उत्पादकता (Productivity of Land)—उत्पादन में भूमि की सहायता का महत्त्व उसकी उत्पादकता पर निर्भर है। विभिन्न कारण है जिन पर यह उत्पादकता निर्भर है।

(1) प्राकृतिक कारण (Natural Factors)—सब से अधिक महत्त्वपूर्ण

कारण जिस पर भूमि की उत्पादकता निर्भर है, प्राकृतिक कारण है। भारत के कुछ भाग गगा के मैदान की भांति बहुत उपजाऊ हैं, कुछ ऊसर तथा बजर हैं। वे वैसे ही हैं जैसा प्रकृति ने उन्हें बनाया है।

(ii) **मानवीय कारण** (Human Factors)—उत्पादकता मानवीय कारण पर भी निर्भर है। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। जगल साफ किये हैं, दलदले सुखाई गई हैं और सिंचाई की सुविधाओ द्वारा बजर भूमि हरे-भरे लहलहाते-उपवनो में परिणत की गई हैं।

(iii) **स्थिति का प्रभाव** (The Situational Factor)—दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण जिस पर भूमि की उत्पादकता निर्भर है, वह है स्थिति का। नगर के पास स्थित भूमि का एक क्षेत्र, चाहे वह दूर बसे हुए भाग की अपेक्षा कम उपजाऊ क्यो न हो, अत्यधिक उत्पादक समझा जाता है। स्थिति ही यह सब अन्तर कर देती है।

७ विस्तृत तथा गहन कृषि (Extensive and Intensive Cultivation)—हमने अनुभव किया है कि मनुष्य सदैव यह प्रयत्न करता रहता है कि कम-से-कम व्यय करके अधिक से अधिक पुरस्कार प्राप्त करे। उसने कृषि में दो रीतियो का प्रयोग किया है (१) विस्तृत कृषि, (२) गहन कृषि।

विस्तृत कृषि (extensive cultivation) में मनुष्य साधारण रूप से जितनी भूमि जोत सकता है उससे अधिक जोतता है। वह भूमि में प्रयोग होने वाले श्रम और धन में कोई अनुरूप वृद्धि नही करता। नये देशो में जहाँ भूमि काफी और आवश्यकता से अधिक है, वहाँ मनुष्य विस्तृत कृषि की रीति प्रयोग करता है। उसका उद्देश्य अपने प्रयासो और पूजी (capital) का अधिक-से-अधिक लाभ उठाना है चाहे उसमें भूमि का उपयोग अत्यधिक क्यो न हो। ऐसी परिस्थितियो में प्रत्येक किसान के पास विस्तृत भूमि होती है। परन्तु वह भूमि के उचित उपयोग के लिए प्रयत्न नही करता क्योकि भूमि बहुत अधिक और सस्ती होती है।

दूसरी रीति **गहन-कृषि** (intensive cultivation) की रीति कहलाती है। इस अवस्था में भूमि बहुत सीमित होती है। अस्तु, प्रत्येक किसान के पास बहुत थोडी भूमि होती है। निश्चय ही वह उससे अधिक-से-अधिक काम लेना चाहेगा। वह अधिक पूजी लगाने को तैयार रहता है। उसको सर्वोत्तम औजार तथा सामग्री खरीदनी चाहिए और जमीन को अच्छी तरह से जोतना चाहिए। उसे अपने बीजो का चुनाव सोच-समझकर करना चाहिए और उचित फासला देकर उन्हें बो देना चाहिए। उसके खेत मे सिंचाई की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। उसे यथाक्रम हेरफेर (rotation) की विधि अपनानी चाहिए—सक्षेप में उसकी रीति वैज्ञानिक होनी चाहिए।

क्या विस्तृत रीति का अभिप्राय बडे खेत और गहन रीति का छोटे खेत से है? यह कोई आवश्यक नहीं है। साधारणतया हम देखते है कि जहाँ भूमि का क्षेत्रफल विस्तृत है और खेत बडे हैं, वहाँ किसान कृषि में विस्तृत रीति का प्रयोग करता है और दूसरी ओर जहाँ भूमि सापेक्ष रूप में दुर्लभ (scarce) होती है, वहाँ उसी भूमि को अधिक गहन रीति से जोतना पडता है। परन्तु सदैव ऐसा नही होता। अमेरिका और

कनाडा में बडे खेत है, परन्तु किसान कृषि की नई और वैज्ञानिक रीतियो का प्रयोग, जिसको हम गहन रीति कहते है, करते हैं। दूसरी तरफ भारत मे जहाँ जोतें (holdings) छोटी है, कृषि पुरानी रीतियो से होती है जोकि विस्तृत रीति कही जा सकती है। इस प्रकार विस्तृत रीति और बडे खेत तथा गहन रीति और छोटे खेत हमेशा साथ-साथ नही दीखते।

निर्देश पुस्तकें

Pigou, A c —Economics of Welfare. Part I, Ch 6.
Hicks, J R —Social Frame-work.
Indian National Income Committee Report, 1951.
Census of Manufactures
Robbins, L —Article in Encyclopaedia of Social Sciences
Fraser, L M —Economic Thought and Language, Chs 11 and 12
Stigler, G J —Theory of Price (1949), Ch 7.
Knight, H F —Risk, Uncertainty and Profit, Ch 6, pp 123-40
Wicksteed—Commonsense of Political Economy, Book I, Ch 9, pp 365-67
Devenport, H J —Economics of Enterprise, Ch 22 (for cricitism of traditional classification of factors)

जिस वातावरण मे श्रमिक को काम करना होता है उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

तीसरे, श्रम टिकाऊ नहीं है । यह नाशवान् है। बिना कार्य किया हुआ दिन सदैव के लिए चला जाता है। चूंकि वह वस्तु जिसे उसे बेचना होता है नाशवान् होती है अतएव उसको उसे बिना कीमत का ध्यान किये बेचना पड़ता है। जैसा कि एरिक रॉल का कथन है "उसकी कोई सुरक्षित कीमत नही है।"

चौथे, श्रम में सौदा करने की शक्ति कम होती है। मालिक श्रमिक की असमर्थता का लाभ उठाता है और बहुधा उसको जितना उचित है उससे कम देता है।

पांचवें, श्रम की कीमत मे परिवर्तन उसकी पूर्ति पर विलक्षणता से प्रभाव डालता है। साधारण वस्तुओ की पूर्ति (supply) कीमत के सीधे अनुपात में होती है। अर्थात् जितनी ही कीमत अधिक होगी उतनी ही अधिक पूर्ति होगी तथा इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा। परन्तु श्रम की कीमत अर्थात् मजदूरी (wages) मे, एक सीमा के नीचे, कमी पूर्ति को बढा सकती है। ऐसी परिस्थिति में कुछ न काम करने वाले लोग भी काम करने को कर सकते है ताकि वे अपने कम-से-कम जीवन-स्तर को स्थिर रखने के लिए परिवार की आय को पर्याप्त बना सकें। यदि कीमत अर्थात् मजदूरी किसी सीमा से आगे बढ जाती है तो पूर्ति घट सकती है। यह भली भाँति विदित है कि भारतीय मजदूर की कमाई में वृद्धि होने से बहुधा कारखानो में अनुपस्थिति (absenteeism) बढ जाती है।

अन्त में, माँग और पूर्ति का शीघ्र व्यवस्थापन (adjustment) नहीं हो सकता। मंदी (depression) के समय यदि माँग गिर जाती है तो पूर्ति कम नही की जा सकती तथा मजदूरी (wages) गिरेगी। परन्तु लड़ाई के समय श्रम की माँग बढ जाने से मजदूरी अवश्य ही बढेगी।

जब हम मजदूरी के निर्धारण का विवेचन करेंगे तो इन विशेषताओ का प्रभाव स्पष्ट हो जायेगा। यदि श्रम भी एक साधारण वस्तु होता तो मजदूरी का सिद्धान्त भिन्न होता।

श्रम की विशेषताएँ बढा कर कही गई हैं—परन्तु ये विशेषतायें अक्सर बढा-चढाकर कही जाती हैं। कुछ सीमा तक यह विशेषताएँ दूसरे साधनो में भी पाई जाती है। यदि किसी दूसरे साधन का प्रयोग नही होता, तो वह भी खराब होने लगता है। उद्यमी व्यवसायी की दृष्टि में व्यक्ति एक मशीन के समान है और वह मानवीय गुणो का महान् तिरस्कार करके एक का दूसरे के लिए प्रतिस्थापन करता है। या यो कहिये कि वही माँग और पूर्ति का सूत्र श्रम की कीमत को निर्धारित करता है। यह एक आर्थिक प्रश्न की अपेक्षा सामाजिक प्रश्न है कि श्रम को एक वस्तु से भिन्न माना जाय। एक अर्थशास्त्री को अर्थशास्त्री के नाते सामाजिक विचार असम्बद्ध तथा अप्रासंगिक है। यदि दूसरी वस्तुओ के बेचने वाले अज्ञानी है और बहुत कम माल रोकने की शक्ति रखते है, तो साहसी उनकी इस असमर्थता का भी लाभ उठाता है। अन्य दूसरे और आवश्यक पदार्थों की पूर्ति भी बहुधा बेलोचदार (inelastic) होती है। अतएव इन विशेषताओ से हम को यह न सोच लेना चाहिये कि श्रम के नियम दूसरे

साधनो से भिन्न है।

३. मालथस का जनसंख्या सिद्धान्त (Malthusian Theory of Population)—श्रम के दो रूप हैं अर्थात् मात्रिक तथा गुणात्मक (quantitative and qualitative)। किसी देश के श्रम की स्थिति का अनुमान करने के लिए इन दोनो रूपो पर विचार करना चाहिये। मात्रिक रूप हम को जनसंख्या के सिद्धान्त का अध्ययन कराता है। सब से प्रसिद्ध सिद्धान्त मालथस का जनसख्या सिद्धान्त है। टामस राबर्ट मालथस ने "जनसख्या के सिद्धान्त" पर अपना निबन्ध सन् १७९८ में लिखा था, और अपने कुछ परिणामो को १८०३ के दूसरे प्रकाशन में सुधारा था। इग्लैंड की शीघ्रता से बढती हुई तथा मार्ग भ्रष्ट पूअर ला (Poor Law) से प्रोत्साहित जनसख्या ने इसको अधिक प्रभावित किया। इसको यह डर था कि इग्लैंड एक विपत्ति की ओर जा रहा था और उसने अपने देशवासियों को सावधान करना अपना परम कर्त्तव्य समझा। "इसन आदमियो की अपेक्षा जानवरो की वृद्धि मे अधिक सावधानी दिखाई जाने पर" शोक प्रगट किया।

उनका सिद्धान्त बहुत ही साधारण है। उन्ही के शब्दानुसार "प्रकृति से, मानवीय खाद्य मद अकगणितीय अनुपात (arithmetical ratio) में बढता है; मनुष्य स्वय तीव्र गुणोत्तर या रेखागणितीय अनुपात (geometrical ratio) में बढता है, जब तक कि आवश्यकताएँ तथा दोष उसको न रोकें।"

"जनसख्या में वृद्धि विशेषतया निर्वाह के साधनो से सीमित होती है।" "जब निर्वाह के साधन बढते हैं तो जनसख्या यदि शक्तिशाली और स्पष्ट अवरोध से रोकी न जाय तो स्थायी रूप से बढेगी।"

उन्होंने अपना कथन जीवन-विद्या (biological) सम्बन्धी तर्क पर आधारित किया कि हर एक जीव (organism) न अनुमान किये जाने वाली सीमा तक बढते है। सारिका का एक जोडा अपने जीवन भर में १९,५००,००० तक बढ जायेगा और २० साल तक १,२००,०००,०००,०००,०००,०००,००० और यदि कन्धे से कन्धा मिला कर खडे हो तो १५०,००० की सख्या मे से केवल एक ही इस ससार मे बैठने की जगह पा सकेगा। हक्सले (Huxley) के मतानुसार, केवल एक हरेटिड्डे (greenfly) का वश यदि उसमे से कोई नष्ट न हो और बढते ही जायें तो ग्रीष्म ऋतु के अन्त में चीन की जनसख्या से भी अधिक हो जायेगा। मानवजाति का, प्रत्येक २५ साल में, दुगुना होने का अनुमान किया जाता है और, एक जोडा १,७५० वर्ष में वर्तमान जनसख्या के बराबर हो जायगा।

हर स्पीशीज के पैदा करने की शक्ति की ऐसी ही प्रकृति है। उत्पत्ति (procreation) की शक्ति स्वाभाविक अन्तर्वर्ती तथा सतत होती है और उसको बढने का मार्ग मिलना ही चाहिए। कैन्टिलन कहते हैं "कि मनुष्य खलिहान में चूहो की भाँति बढते है।" दूसरी ओर खाद्य के उत्पादन पर घटती हुई प्राप्ति के नियम का प्रभाव पडता है। इन दोनो के आधार पर मालथस ने यह निर्णय किया कि जनसंख्या भोजन की पूर्त्ति से कही आगे निकल जाती है। यदि निवारक अवरोध (preventive

checks) जैसे कि विवाह-त्याग, विवाह-विलम्ब (late marriage) अथवा विवाह से कम बच्चो का होना लागू नही किया जाता तो युद्ध, अकाल तथा बीमारी जैसे प्राकृतिक अवरोध (positive checks) होने लगते है।

४ मालथस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Malthusian Theory)—अर्थशास्त्रियो ने मालथस के जनसख्या सिद्धात का मिश्रित स्वागत किया —

(१) आलोचक यह बतलाते है कि मालथस का निराशावाद पश्चिमी देशो के इतिहास से स्पष्ट नही होता। जनसख्या में वृद्धि हुई है। परन्तु यह जीवन निर्वाह के साधनो से अधिक नही बढी है। वास्तव मे अब लोगो का जीवन-स्तर इतना ऊँचा है कि मालथस कदाचित् सोच ही न सकते थे।

(२) मालथस ने यह अनुमान नही किया कि मनुष्य पर जीवन-स्तर का ऐस प्रभाव पडेगा कि परिवारो के वर्ग को जान-बूझ कर सीमित रक्खा जायगा।

(३) मालथस ने यह सोचा कि निर्वाह के साधनो मे वृद्धि से जनसख्या बढ जायेगी इसकी अपेक्षा भौतिक उन्नति के कारण मनुष्य की उत्पत्ति शक्ति (fecundity) के घटने से जनसख्या बढने से रुक गई।

(४) मालथस ने खाद्य के उत्पादन पर अधिक जोर दिया, जब कि दूसरे रूपो में धन का उत्पादन जनसख्या की वृद्धि के कारण नीचे जीवन-स्तर की प्रवृत्ति का सामना करने के लिए एक उच्च साधन पाया गया है। एक देश दूसरे देश से खाद्य का आयात कर सकता है।

(५) मालथस का अन्धकारमय अनुमान उच्च तथा मध्यम श्रेणी के मनुष्यो के गर्भ विरोधी (contraceptives) प्रयोग से भी असत्य हो गया है। पश्चिमी यूरोप के देशो, विशेषकर फ्रास की जनसख्या प्रत्यक्ष रूप से स्थिर रही है।

तो भी यह अत्यन्त दु ख की बात है कि **जनसख्या अनुचित दिशा पर बढ़ रही है।** निर्धन जो अपने बच्चो के पालन-पोषण तथा शिक्षा देने में असमर्थ है, बढ रहे है। दूसरी ओर धनी जो कि अधिक अच्छे गुण वाले बच्चे उत्पन्न कर सकते है, अपनी उत्पत्ति-प्रवृत्ति को रोक रहे है। इसका परिणाम राष्ट्र की दरिद्रता और गिरावट है।

(६) मालथस इस बात को पूरी तरह समझ न सके कि घटती हुई प्राप्ति के नियम का लागू होना लगभग असीमित समय तक रोका जा सकता है। उस प्रवृत्ति को कृषि, कला, सचार (communication) तथा विनिमय के साधन आदि से भली-भाँति रोका जा सकता है। इस तरह "जनसख्या की समस्या केवल एक सख्या की समस्या नही वरन् कुशल उत्पादन तथा समान वितरण की समस्या है।" (सैलिगमैन)

मालथस के दिए हुए गणितीय अनुपातो पर भी आपत्ति की गयी है। परन्तु यह स्पष्ट रूप से जोर देने के लिए प्रयोग में लाये गये थे और उसके सिद्धान्त के कोई आवश्यक भाग न थे।

मालथस का सिद्धान्त भारत मे लागू होता है—उपर्युक्त विवरण के पश्चात् भी मालथस के सिद्धान्त में कुछ सचाई पाई जाती है। यदि जनसख्या प्राकृतिक अव-

रोध अथवा निवारक अवरोध से रोकी नही जाती, तो यह निर्वाह के साधनो से आगे बढ जाएगी। अधिक गर्भ-विरोधी प्रयोग उसके सिद्धान्त का प्रमाण है। यह प्रगट करता है कि माल्थस के उपदेश माननीय है। हम भारत में अपने आपको उसी स्थिति मे पाते है जिससे माल्थस डरता था। हमारे यहाँ ससार मे सबसे अधिक जन्म-दर तथा मृत्यु-दर है। हमारी वृद्धि लगभग १ प्रतिशत प्रतिवर्ष हो रही है और इसका परिणाम निर्धनता, बराबर होने वाले व्यापक रोग, अकाल, साम्प्रदायिक दगे, शिशु-वध (जो कि कभी होते थे) तथा ससार मे सबसे नीचा जीवन-स्तर है। जहाँ तक भारत, चीन तथा अन्य पिछडे देशो का सम्बन्ध है, माल्थस के उपदेश की सचाई पर आपत्ति करना कठिन है।

५. आधुनिक जनसख्या सिद्धात अनुकूलतम सिद्धान्त (Modern Theory of Population . The Optimum Theory)—आधुनिक अर्थ-शास्त्रियो ने माल्थस के अधिकतम जनसख्या के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया है जो यदि बढ जाय तो देश मे आपत्ति फैला दे। अधिकतम जनसख्या (maximum population) के स्थान पर आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने अनुकूलतम (optimum) जन-सख्या के विचार का प्रतिस्थापन किया है।

अनुकूलतम का क्या अर्थ होता है? (What does the optimum mean)?—अनुकूलतम जनसख्या का अर्थ किसी देश के साधनो को विचार मे रखते हुए आदर्श जनसख्या से होता है। अनुकूलतम सख्या एक देश की सर्वश्रेष्ठ, आदर्श तथा इष्ट जन-सख्या है, यह ठीक सख्या है। जब किसी देश की जनसख्या न तो अधिक है और न कम है परन्तु, बस इतनी है जितनी कि उस देश में होनी चाहिए तो वह अनुकूलतम जनसख्या कहलाती है। साधनो की मात्रा, औद्योगिक ज्ञान तथा पूजी की कुछ राशियो पर जन-सख्या का एक निश्चित आकार होगा जिस पर वस्तुओ तथा सेवाओ की वास्तविक आय प्रति व्यक्ति सब से अधिक होगी। यही अनुकूलतम सख्या है। अतएव नुकूलतम सख्या वह कही जा सकती है जिस पर प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक है।

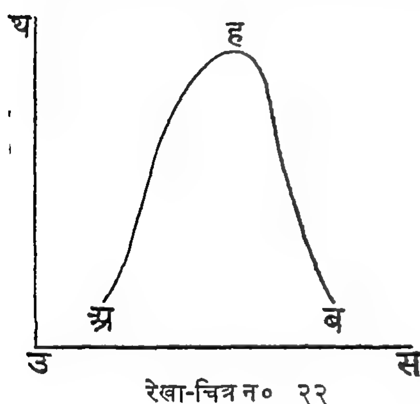
कम जनसख्या तथा अधिक जनसख्या (Under-population and Over-population)—यदि किसी देश की जनसख्या अनुकूलतम से नीचे अर्थात् जो कुछ होना चाहिये उससे नीचे है, तो वह देश कम जनसंख्या वाला कहलाता है। मनुष्यो की सख्या देश के प्राकृतिक तथा पूजी के साधनो के श्रेष्ठ प्रयोग के लिए पर्याप्त न होगी। एक नवीन देश में ऐसा होता है। साधन विस्तृत है। अधिक उत्पादन किया जा सकता है परन्तु कुशलतापूर्वक उत्पादन करने के लिए पर्याप्त मनुष्य नही है। ऐसी अवस्था मे जनसख्या की वृद्धि से प्रति व्यक्ति की आय मे वृद्धि होगी। परन्तु यह वृद्धि अनिश्चित मात्रा में नही हो सकती। जब जन-शक्ति (man power) की कमी पूरी हो जायेगी तो प्रति व्यक्ति आय अधिक हो जायेगी और हम कहेगे कि जनसख्या अनुकूलतम या आदर्श हो गई है।

यदि जनसख्या फिर भी बढती जाती है, तथा अनुकूलतम से बढ जाती है तो अधिक जनसख्या की दशा हो जायगी। देश में अत्यधिक मनुष्य हो जायेगे। साधन कम

होने से सबको लाभजनक काम देने सम्भव न होगे। वे करोडो व्यक्तियो में बटे होगे। प्रति व्यक्ति आय घट जायेगी, जीवन स्तर गिर जायेगा, लडाई, अकाल और रोग ऐसे मनुष्यो के स्थायी साथी हो जायेंगे। यह अधिक जनसख्या के लक्षण हैं।

भारत मे हम इस समय अपने आपको इस स्थिति मे पाते हैं। अब हम अनुकूलतम तक कैसे वापस जा सकते हैं ? हमें समस्याओ को दोनो ओर से सुलझाना चाहिये (1) हम जिस गति से बढ रहे हैं उसको हमें मन्द करना चाहिये तथा (11) हमें अपने साधनो का विकास करना चाहिये। हमारा देश साधनो का अनुपयोग (unutilized) अथवा कम-उपयोग (under-utilized) करने वाला है। बहुधंधी योजनाएँ (multi-purpose projects) कृषि, उद्योग, बीमा, बैंकिंग तथा परिवहन (transport) के साधनो का विकास इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले कुछ साधन हैं। जब हम अपनी सख्या को सीमित रखने तथा अपनी उत्पादक शक्ति को अधिकतम करने का प्रयत्न करते है तो हम अनुकूलतम के रास्ते पर होते हैं।

निम्नलिखित रेखा-चित्र तीन स्थितियो को प्रस्तुत करता है (१) कम जनसख्या, (२) अनुकूलतम जनसख्या तथा (३) अधिक जनसख्या।



रेखा-चित्र न० २२

हम अ बिन्दु से (कम जनसख्या) से चलते है और ऊपर को बढते हैं। जनसख्या बढती है और जब हम ह पर पहुँचते है तो यह अनुकूलतम है। अ से ह तक कम जनसख्या की स्थिति थी और उसमें वृद्धि से हम अनुकूलतम ह तक पहुँचे। जब तक हम ह तक पहुँचे, प्रतिव्यक्ति आय बढ रही थी तथा ह पर यह अधिकतम थी। जब हम ह पार कर जाते है, तो प्रतिव्यक्ति आय गिरने लगती है। हम अनुकूलतम से भी अधिक बढ गये है और हम अब अधिक सख्या में है। यदि अब हम सख्या घटा दें तो प्रति व्यक्ति आय बढ जायेगी।

कम जनसख्या और अधिक जनसख्या सापेक्षिक (relative) शब्द है। वे साधनो के सापेक्ष है। एक देश कम जनसख्या वाला है क्योकि उसके साधन अधिक है। यदि साधन थोडे होते तो उसे अधिक जनसख्या वाला कहते। इसी भाँति एक देश को हम अधिक जनसख्या वाला कहते है यदि उसके साधनो का विकास कम है। साधनो के पूर्ण विकास से अधिक जनसख्या लुप्त हो सकती है यद्यपि जनसख्या में कोई कमी न हुई हो।

अनुकूलतम स्थिर नहीं वरन् अस्थिर है (Optimum is movable and not fixed)—यह अनुकूलतम दृढरूप से स्थिर नही है। यह देश के उत्पादक स्रोतो (productive resources) में वृद्धि तथा कमी के अनुसार घटता-बढता रहता

है। यह अनुकूलतम निरपेक्ष (absolute) नही है। यह उपलब्ध साधनो के सापेक्ष है। परन्तु यदि विकास की योजनाएँ सफलतापूर्वक समाप्त हो रही हो तो प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि होगी और हमारा अनुकूलतम पहले की अपेक्षा एक नये उच्च स्तर पर पहुँच जायगा। यदि दूसरी ओर कुछ साधन युद्ध अथवा राजनीतिक झगडो के कारण नष्ट हो जाते हैं या उनको हानि पहुँचती है, तो यह अनुकूलतम जनसख्या अधिक जन-सख्या हो जाती है तथा नये अनुकूलतम नीचे स्तर पर होगा।

प्रत्येक देश की अवस्था गतिशील (Dynamic) होती है, स्थिर नही। उत्पादन-पद्धति में परिवर्तन होता रहता है, अधिक नये उपाय आरम्भ किये जा रहे हैं, नई क्रियाओ तथा नये पदार्थों का आविष्कार किया जा रहा है, पूजी की वृद्धि हो रही है, प्राकृतिक साधनो का प्रयोग किया जा रहा है। इन स्थितियो मे प्रतिव्यक्ति आय बढनी चाहिये, परन्तु जनसख्या भी थोडी बहुत बढती है। अतएव वह जनसख्या जिसको हम आज ठीक परिमाण में समझते है, कल कम अथवा अधिक जनसख्या हो सकती है। इस प्रकार अनुकूलतम (optimum) निरन्तर बदलता रहता है।

अनुकूलतम सिद्धान्त हमे सख्या (जन सख्या) की वृद्धि के बारे मे नही बताता। यह जनसख्या का सिद्धान्त नही है। यह तो अनुकूलतम के सिद्धान्त को किसी देश की जन सख्या पर लागू करना मात्र है।

डा० डाल्टन (Dalton) ने अनुकूलतम जनसख्या के सिद्धान्त को इस सूत्र में व्यक्त किया है —

$$म = \frac{अ - ओ}{ओ}$$

जिसमें म = मात्रा की कुव्यवस्था

अ = वास्तविक सख्या

ओ = अनुकूलतम सख्या

यदि "म" सकारात्मक (positive) है तो यह अधिक जनसख्या होगी और यदि यह नकारात्मक (Negative) तो वह कम जनसख्या कहलायेगी। तथा जब वह शून्य हो तो जनसख्या अनुकूलतम होगी।

६. मालथस के सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त की तुलना — इन सिद्धान्तो के अध्ययन से हम उन लोगो के दृष्टिकोणो के महत्त्वपूर्ण अतर पर ध्यान दे सकते हैं जिन्होने उनको प्रस्तुत किया।

१ मालथस ने अपना ध्यान खाद्य उत्पादन की ओर रखा जबकि अनुकूलतम सिद्धात आर्थिक उन्नति के सब पहलुओ पर ध्यान रखता है।

२ ऐसा मालूम होता है कि मालथस के विचार से किसी देश के लिए एक अधिक-तम जनसख्या होती है जिससे अधिक होने पर दुःख में वृद्धि होती है। अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार ऐसी कोई अधिकतम सख्या नही होती है।

३ मालथस के अनुसार अकाल, युद्ध तथा बीमारी अधिक जनसख्या के चिह्न थे। परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त से हमें पता चलता है कि इन दुःखद घटनाओ के न होने पर

करने की अवस्था अर्थात् ५० वर्ष को पार कर जाती है[1] मक्षेप में हमें यह मालूम करना है कि पहली १,००० लडकियो की कितनी लडकियाँ पैदा होती हैं। यदि १,००० पैदा हुई लडकियो में से १,००० लडकियाँ वच्चे पैदा करने की अवस्था तक जीवित रहती हैं तो जनसख्या समान (stationary) है, यदि १,००० से अधिक वचती हैं तो वढती है अन्यथा घटती है। "वह दर जिस पर कि स्त्री-जनसख्या अपने आपको प्रतिस्थापित कर रही है (net) पुनरुत्पादन दर है।"

डाक्टर एरिड चार्ल्स के शब्दो में "मुख्य वात यह है कि एक वर्ष में जन्मसख्या स्वय जनसख्या की प्रजनन शक्ति का चिह्न नही है, क्योकि मानव जाति अपने जीवन के काल में ही माता-पिता हो सकते हैं।" इस प्रकार केवल जन्मदर तथा मृत्युदर पर आधारित अकगणितात्मक गणना काफी नहीं है। हमें प्रत्येक वच्चा पैदा करने वाली आयु के समुदाय में जन्म की आवृत्ति (frequency) का अथवा मृत्युदर का ध्यान रख कर हर समुदाय मे जीवित रहने के अवसरो का विचार करना पडता है। केवल तभी हम वास्तविक पुनरुत्पादन (reproduction) दर मालूम कर मकते है।

हम अपने वास्तविक प्रजनन दर की गणना के लिए मिस्टर ईट्स (Mr. Yeats) के जो कि सन् १९४१ में भारत के जनगणना के कमिश्नर थे, ऋणी हैं। निम्न तालिका रीति स्पष्ट करती है[2] —

भारतवर्ष में सकल तथा शुद्ध प्रजनन दर

(Gross and Net Reproduction Rate in India)

आयु वर्ग	प्रत्येक ग्रुप की १,००० स्त्रियो में पैदा हुए वच्चो की कुल सख्या	प्रत्येक ग्रुप की १,००० स्त्रियो मे पैदा की हुई लड-कियो की कुल सख्या	प्रत्येक १,००० पैदा की हुई लड-कियो में से जीवित रहने वालो की सख्या	वर्तमान स्त्रियो का प्रतिस्थापन करने वाली जीवित स्त्रियोकी सख्या
१	२	३	४	५
१५-२०	६९१ २	३३२	५४८ ९४	१८२
२१-२५	१६७० २	८०३	४९९ ३७	४०१

1 Kuczynski—Balance of Births and Deaths, pp 41-44, Quoted in Economic Problems of Modern India edited by Prof Radha Kamal Mukerjee, pp 90—91

2 Brij Narain—Indian Economic Problems Pre war and Post War, p 16

१	२	३	४	५
२६-३०	१५५६ ५	७४८	४४७ ९५	३३५
३१-३५	९०२ २	६३४	३९४ ३८	१७१
३६-४०	४३०·५	२०७	३३९ ७७	७०
४१-४५	१८८ ८	९१	३८५·३२	२६
४६-५०	७९ ९	३८	२३४·०१	९
	५५१९ ३	२८५३	२७४९ ७४	११९४

सकल (gross) प्रजनन दर पक्ति ३ मे दी गई है जो कि १,००० स्त्रियो मे लडकियो की पैदा होने की सख्या वताती है।

$$\text{यह } \frac{२८५३}{१०००} = २ ८५३ \text{ है।}$$

शुद्ध (net) प्रजनन दर जो कि पक्ति (column) ५ में है वर्त्तमान स्त्रियो का प्रतिस्थापन करने वाली जीवित जनसंख्या वताती है। यह $\frac{११९४}{१,०००}$ =१·१९४ है। इसका अर्थ यह है कि एक स्त्री १ १९४ से प्रतिस्थापित होती है। १,००० स्त्रियो की अपेक्षा १,१९४ स्त्रिया हो जाती हैं। यह जनसख्या की वृद्धि वताती है।

सकल तथा शुद्ध प्रजनन पर प्रति इकाई में दिया हुआ है, न कि प्रति १,००० अथवा १०० मे।

कुछ अन्य देशो का सकल तथा शुद्ध प्रजनन पर निम्नलिखित हैं:—[1]

देश (country)	वर्ष (year)	शुद्ध उत्पादन (net reproduction)
यू० एस० ए०	१९३९-४१	१ ०१
जापान	१९३७	१ ४४
फ्रास	१९३९	० ९
जर्मनी	१९३६	० ९३
इटली	१९३५-३७	१ १३
इग्लिस्तान	१९४४	० ९९
सोवियत यूनियन	१९३५	१ ४
स्वीडन	१९४१	० ८४

इस तालिका मे यू० एम० ए०, फ्रास, इग्लैण्ड जर्मनी तथा स्वीडन की शुद्ध प्रजनन दर १ ० से कम है। गिरती हुई जनसख्या प्रस्तुत करते हैं, उदाहरणार्थ इग्लैण्ड में १०० स्त्रियो में ९९० जीवित रहती हैं। इटली, सोवियत रूस तथा जापान में शुद्ध पुनः

1. Samuelson, P A —Economics, (1948), p 29

एकता (unity) से अधिक है, जिसका अर्थ है बढती हुई आबादी । यू०एम०ए० में शुद्ध पुन उत्पादन दर एकता (unity) के इर्द-गिर्द सतुलित हो गई, जिसका अर्थ यह है स्थायी आबादी ।

१० श्रम कार्यपटुता के साधन (Factors of Labour Efficiency)—ऊपर हमने श्रम का मात्रिक (quantitative) रूप, अर्थात् जनसख्या की समस्या का वर्णन किया है । अब हमको गुणात्मक (qualitative) रूप अर्थात् कार्य-पटुता की समस्या के विषय में ध्यान देना चाहिये । यह तो निर्विवाद है कि श्रम की कार्यपटुता राष्ट्रीय हित की बात है । यह आर्थिक पुनर्जीवन का शक्ति-सम्पन्न पुर्जा है । जापान की आर्थिक सम्पन्नता अधिकतर जापानियो की देशभक्ति तथा कार्यपटुता के कारण है । कार्यपटु श्रमिक समय अथवा माल का दुरुपयोग नही करता । वह मशीन का होशियारी से उपयोग करता है । उस पर निगाह रखने की बहुत कम जरूरत पडती है । वह बुद्धि से काम लेता है और उसमें अगुआई (initiative) और जिम्मेदारी की प्रबल भावना होती है । कम लागत (cost) पर ज्यादा पैदावार होती है जिससे उद्योग की स्पर्धी शक्ति (competitive power) बढ जाती है । ऐसे बहुत से साधन है जो कि ससार अथवा किसी भी देश के श्रमिको की सापेक्ष कार्यकुशलता का विवरण करते है । निम्नलिखित कुछ विशेष ऐसे साधन है जो श्रम की कुशलता पर प्रभाव डालते है —

(१) **जातीय गुण** (Racial qualities)—श्रम की कुशलता जातीय तथा पैतृक नस्ल पर जिससे कि श्रमिक सम्बद्ध होता है, निर्भर है । पजाब के सीमा वाले प्रदेशो का जाट बहुत ही हृष्ट-पुष्ट तथा उद्यमी होता है । एक बगाली अथवा एक उत्तर प्रदेश का श्रमिक शारीरिक सहनशीलता मे उसके समान नही है ।

(२) **प्राकृतिक तथा जलवायु के कारण**—एक ठडी, शक्ति देने वाली जलवायु कठिन परिश्रम के लिए प्रोत्साहित करती है जब कि शीतोष्ण (tropical) जलवायु श्रमिक को दुर्बल बना देती है । जहाँ जीविका निरतर सघर्ष से प्राप्त करनी पडती है, वहाँ मानवीय नस्ल, उस स्थान से जहाँ प्रकृति उदार है उत्तम है । ठडे तथा सम-शीतोष्ण (temperate) भागो में रहने वाले मनुष्य, शीतोष्ण अथवा उप-शीतोष्ण भागो में रहने वालो की अपेक्षा अधिक कार्यपटु होते है ।

(३) **शिक्षा**—टेक्नीकल तथा साधारण शिक्षा उचित प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करती है तथा चरित्र को दृढ बनाती है । इसमें तनिक सदेह नही है कि एक शिक्षित श्रमिक अधिक साधनसम्पन्न तथा जिम्मेदार होता है । एक टेक्नीकल ट्रेनिंग प्राप्त व्यक्ति अवश्य ही अधिक कार्यपटु होगा ।

(४) **व्यक्तिगत गुण**—श्रमिक की कुशलता उसके व्यक्तिगत गुणो पर भी निर्भर है । यदि श्रमिक मजबूत डील-डौल, मानसिक चौकसी, बुद्धि, साधनसम्पन्नता तथा अगुआई की भावना रखता है तथा यदि वह गम्भीर और अधिक उत्तरदायित्व रखने वाला है तो वह अधिक उत्पादन करने वाला होगा ।

(५) **औद्योगिक सगठन तथा उपकरण** (Industrial Organisation

and Equipment)—सगठन तथा श्रमिकों को दी हुई सामग्री से भी उनकी कार्य-पटुता निश्चित होती है। एक दूसरे दर्जे का उद्यमी जो कि पुरानी मशीन तथा घटिया माल इस्तेमाल करता है बढ़िया सामान तैयार नही कर सकता।

(६) कारखाने की स्थितियाँ (Factory Environments)—यदि वातावरण खराब है तो श्रम कम कुशल होगा। सकुचित तथा कम हवादार कारखानो मे जो कि घने तथा अस्वस्थ स्थितियो मे बने है, श्रमिक भली-भाँति कार्य नही कर सकता। इसके विपरीत हवादार तथा प्रफुल्ल वातावरण अच्छा और अधिक काम करने को प्रोत्साहित करता है।

(७) काम के घंटे (Working Hours)—जितने घंटे श्रमिक को काम करना पडता है, उनका भी कार्यकुशलता पर प्रभाव पडता है। लम्बे घंटे जिनमें विश्राम का ठीक प्रबन्ध न हो तथा जिनमे आराम अथवा मनोरजन के हेतु कोई समय न मिलता हो, श्रमिको की कार्यक्षमता को गिराने के सिवा और कुछ नही करते।

(८) संतोषजनक तथा शीघ्र भुगतान (Fair and Prompt Payment)—अच्छी मजदूरी पाने वाला श्रमिक साधारणत सतुष्ट रहता है और काम में मन लगाता है। यह मुख्यत तभी होता है जबकि मजदूरी शीघ्र और समय पर दी जाती है। सही मजदूरी से खाना, कपडा और स्वास्थ्यप्रद मकान आदि प्राप्त हो जाता है जिससे पटुता बढ जाती है।

(९) श्रम-संगठन (Labour Organization)—सगठित प्रयत्न सदैव प्रभावपूर्ण होता है। यदि श्रमिक श्रम-कारखाने के अन्दर श्रम-विभाजन के द्वारा तथा कारखाने के बाहर एक मजदूर सभा के रूप मे ठीक प्रकार मे सगठित किया गया है, तो श्रमिको की कुशलता अवश्य बढ जायेगी।

(१०) सामाजिक तथा राजनीतिक कारण—सामाजिक सुरक्षा (security) की योजनाएँ जो श्रमिको को आवश्यकता तथा भय से और बेकारी की भयकरता से मुक्त करती है, श्रम के गौरव और मर्यादा को बढाएगी। वे मेहनत से काम करके समाज की सेवा के लिए तैयार रहेगी।

भारतीय श्रमिको की कार्य-पटुता क्यों कम है? यह स्मरण रहे कि उत्पादन एक सहकारी प्रयत्न (co-operative effort) है तथा श्रम की कार्यकुशलता केवल श्रमिक के व्यक्तिगत गुणो पर निर्भर नही है भारतीय मजदूर स्वाभाविक अयोग्यता के कारण नही वरन् प्राकृतिक तथा वातावरण के कारण अपेक्षाकृत कम कार्यपटु है। वह मलीन जलवायु में रहता है। जिससे उसका शरीर दुर्बल होता है। तेज गर्मी और जाडा कारखाने के काम को कठिन परीक्षा-सा बना देता है। पारिश्रमिक जो कुछ वह पाता केवल उसके दुखद जीवन गुजारने भर को होता है। कारखाने की हालत बहुत घुटनेवाली है और उसकी रुचि के विपरीत है। उद्यमी की कुशलता तथा कारखाने की सामग्री रद्दी किस्म की है। वह ज्यादा समय तक काम करने को बाध्य किया जाता है। वह अशिक्षित तथा रूढिवादी है। वास्तव मे यह आश्चर्य की बात है कि वह इन हालत मे इतना काम भी कर रहा है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A —Principles of Economics

Adam Smith—Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations

Benham, F —Economics

Pearl—The Biology of Population Growth

Yule—"The Growth of Population and the Factors that control it"—F R S S Jan 1925

Hicks, J R —Theory of Wages

Robertson, E A G —Structure of Competitive Industry

FraserL M —Economic Thought and Language (1947), Ch 11 and 13

Robbins, L —Article on "Optimum Theory of Population" in Essays in Honour of Edwin Cannan

अध्याय ९

मशीन तथा श्रम-विभाजन

MACHINERY AND DIVISON OF LABOUR

१ मशीन का उपयोग (Use of Machinery)—आधुनिक युग यन्त्र-युग है। यन्त्र ने मनुष्य पर भी प्रभुत्व जमा रक्खा है। भीमकाय शक्ति आश्चर्यजनक सुकुमारता तथा विस्मयकारी जटिलता से युक्त मशीनो ने प्राय समस्त उत्पादन व्यवस्था पर अधिकार कर रक्खा है।

इसके उपयोग (Its Uses)—यन्त्र-व्यवस्था द्वारा हुए हित को दो शब्दो में वर्णन किया गया है, शक्ति (Power) और सूक्ष्मता (Precision)।[1] मशीनो के प्रयोग से अनेक बडे लाभ होते है, जैसे उत्पादन मे उन्नति, श्रमिक के लिए सुविधा और समाज-कल्याण आदि।

मशीन के सहारे ही मनुष्य ने प्रकृति पर अपना प्रभुत्व बढाया है और फलस्वरूप प्रकृति की विशाल शक्तियाँ मानवता की सेवा के लिए काम ली गई है।

समय, स्थल तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की भौतिक सीमाए (physical limitations) तीव्र गति से समाप्त होती जा रही है। चन्द्रलोक की यात्रा भी अब बिलकुल असम्भव नही कही जा सकती। मनुष्य के हाथो कार्य इतने शीघ्र नहीं हो सकते। सिगरेट का कारखाना एक मिनट में २५ हजार सिगरेट बना सकता है। यन्त्र इस आश्चर्यजनक सूक्ष्मता (precision) से कार्य करता है कि प्रत्येक निर्मित सामग्री दूसरे के ठीक अनुरूप होती है। ऐसी एक समान उत्पादन-व्यवस्था बिना, आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था कुछ काम न कर पाती। विभिन्न उद्योगो मे प्रणाली की समता के कारण श्रम की गतिशीलता (mobility) और बढ गई है। सस्ती तथा उपयोगी सामग्री के उत्पादन द्वारा तथा परिवहन (transport) की सुविधा में वृद्धि के कारण समाज को बहुत लाभ हुआ है। श्रमिक को अरुचिकर तथा कष्टसाध्य कार्य से छूट मिल गयी है। दिन भर के परिश्रम की अवधि को घटाकर अब वह अधिक अवकाश प्राप्त करता है। उसकी प्रतिभा, कौशल, श्रम निपुणता का स्तर ऊँचा हो गया है। आलसी श्रमिक मशीनो का समुचित सचालन नही कर सकता।

इसके दुरुपयोग (Its Abuses)—किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। घने बसे हुए, दुर्गन्ध युक्त, गन्दे नगर, आवश्यकता से अधिक श्रमिको से युक्त करखाने, मनुष्य की नैतिकता के लिए अपनी सम्पूर्ण विपत्तियो सहित, औरतो तथा बालको से अनुचित लाभ, कारीगरो के स्वावलम्बन का अभाव आदि यन्त्र-व्यवस्था के कुछ दोष है।

---

1 Craincross —Introduction to Economics (1944) p 46

कारीगर बेचारा "कल चलाने वाले" की स्थिति को पहुँच गया है। हम जानते है कि विदेश से होने वाली, यन्त्र-स्पर्द्धा ने किस प्रकार हमारे उद्योगो को नष्ट कर दिया है तथा ढाका की मलमल के बनाने वाले कारीगर अब बडी सख्या में कौशल विहीन बन गये हैं। मनुष्य मशीन के भीतर का एक पुर्जा मात्र रह गया है। कलात्मक निर्माण समाप्त हो गया है। लाभ के लिए निर्मित अविश्वसनीय तथा कम टिकाऊ वस्तुओ से बाजार भरे पडे है। पूजीवाद तथा फक्टरी व्यवस्था की समस्त बुराइयाँ यन्त्र प्रणाली के साथ प्रारम्भ हो जाती है।

क्या मशीनो से बेकारी पैदा होती है ? (Does Machinery Create Unemployment ?) श्रम की बेकारी के लिए मशीन कहाँ तक उत्तरदायी है ? नि सन्देह कलों का तात्कालिक प्रभाव श्रमिकों को कार्य से जुदा करना होता है। वह जो बेकार हो जाते है, विशेषकर वृद्ध श्रमिक, सम्भव है उन्हें भविष्य में फिर कोई अच्छा काम न मिले।

लेकिन कुछ समय तो यह व्यवस्थापन (adjustment) ग्रहण करनी ही होगी और लम्बे अर्से में कभी न कभी व्यवसाय या काम में वृद्धि होगी। इसमें किसको सदेह होगा कि औद्योगिक व्यवस्था के पूर्व की अपेक्षा आज इग्लैण्ड कही अधिक लोगो के लिए नौकरी का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार अधिक कार्य-नियोजन (employment) होता है। मशीन की बनी वस्तुएँ सस्ती होती है। उनकी माँग बढ जाती है तथा उत्पादन की सम्भावना की ओर अधिक वृद्धि से और अधिक मनुष्यों को कार्य मिलेगा। अथवा कई नई वस्तुओ की आवश्यकता बढेगी तथा उनको बनाने के लिए मनुष्यो की आवश्यकता होगी। यदि मनुष्य अधिक वस्तुएँ नही खरीदता तो वह धन जोडेगा। इस प्रकार सचित पूजी से नए उद्योग चालू होंगे। मशीनो के निर्माण के लिए मनुष्यो की आवश्यकता होगी। उनकी मरम्मत तथा इस सम्बन्ध के अनेक कार्यो के लिये मनुष्यो की आवश्यकता होगी। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मशीन से तत्काल तो चाहे बेकारी उत्पन्न हो, किन्तु आगे जाकर इससे अधिक कार्य-नियोजन होगा।

२ *श्रम-विभाजन (Division of Labour)*—मशीन के विस्तृत उपयोग के अतिरिक्त, वर्तमान उत्पादन की प्रधान विशेषता श्रम-विभाजन है। वास्तव में, श्रम-विभाजन तथा मशीनो का उपयोग साथ-साथ चलता है। आज हम यह देखते है कि एक वस्तु का निर्माण अनेक प्रणालियो (processes) में विभक्त होता है और प्रत्येक प्रणाली श्रमिको के जुदा ग्रुप द्वारा पूरी होती है। इसे श्रम-विभाजन कहते है। अधिक उपयुक्त शब्दो में इसे विशेषीकरण (specialisation) कहते है। यह (क) साधारण श्रम-विभाजन (Simple Division of Labour) हो सकता है जबकि कार्य सयुक्त नीति से होता है, और यह कहना सम्भव नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति ने कितना कार्य किया है—जैसे किसी भारी बोझ के उठाने में। (ख) जटिल श्रम-विभाजन Complex Division of Labour)—जब प्रत्येक प्रणाली जुदा ग्रुप द्वारा की जाती है और (ग) प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour)—जब किसी स्थान के व्यक्ति किसी विशेष सामग्री के उत्पादन की विशेष

योग्यता प्राप्त कर लेते है। इसे हम उद्योगो का स्थानीयकरण (Localisation of Industries) कह सकते है।

३. श्रम विभाजन के लाभ (Advantages of Division of Labour)—श्रम-विभाजन व्यवस्था के अनेक लाभ माने गए है। अर्थ सिद्धान्त के इस अश के प्रति ऐडम स्मिथ की देन आज भी प्रतिष्ठित समझी जाती है। श्रम-विभाजन निम्नलिखित रूपो में लाभदायी सिद्ध हुआ है —

(१) उत्पादन शक्ति में वृद्धि (Increase in Productivity)—एडम स्मिथ इसके लिए पिन निर्माण उद्योग का उदाहरण देते हैं। पिन निर्माण को वह १८ विभिन्न क्रियाओ में विभक्त करते हैं। दस व्यक्ति एक दिन मे ४८,००० पिन वना सकते है। अस्तु, एक दिन मे एक मजदूर ४,८०० पिन वना लेता है। श्रम-विभाजन तथा मशीन के अभाव में एक व्यक्ति एक दिन में कठिनाई से एक 'पिन' वना पाता और वीस पिन तो कदापि न वना सकता।

क्या उत्पादन-शक्ति की यह वृद्धि केवल श्रम-विभाजन ही के कारण है (Is Increase in Productivity due simply to Division of Labour)—किन्तु अन्य कारणो की उपेक्षा करके केवल इसी को इस वृद्धि का कारण मान लेना अनुचित होगा। टेक्नीकल ज्ञान की प्रगति, अनेक अन्वेषण और खोज विज्ञान के कारण तथा पूजीका सचय भी अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है जिनसे उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि हुई है। इन सभी कारण भूमि की उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि हुई है। विज्ञान के कारण भूमि की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हुई है।इन सभी कारणो का सामूहिक फल उत्पादन-सामर्थ्य की सवृद्धि है।

(२) श्रम-कौशल तथा निपुणता में वृद्धि (Increase in dexterity and skill)—अभ्यासमे ही मनुष्य मे पूर्ण निपुणता आती है। बार-बार एक ही कार्य करते रहने से मजदूर कुशल हो जाता है।

(३) आविष्कारो की अधिक सम्भावना (Inventions are facilitated)—आन्दोलन सहज हो जाता है। श्रमिक की वौद्धिक एव मानसिक वृत्तियाँ उस ओर अधिक निपुणता से सोचा करती है। प्राय नये विचार आते रहते है। जिससे आविष्कार सम्भव होते है।

(४) यंत्रो को उपयोग में लाने की सुविधा (Introduction of Machinery Facilitated)—जब मनुष्य को वार-वार एक ही कार्य करना पडता है तो अपनी सुविधा एव वचत के लिये वह कोई सरल मशीनी उपयोग सोच निकालता है। इस साधारण काम को मशीन द्वारा करना सम्भव हो जाता है।

(५) समय की वचत (Saving in Time)—श्रम-विभाजन व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक को एक ही कार्य विधि में लगे रहना होता है। किसी विशेष व्यापार को समझने के लिए समस्त व्यापार की अपेक्षा कम समय लगता है।

(६) औजारो तथा उपकरणो की बचत (Saving in Tools and Implements)—जव श्रमिक को कुल कार्य का एक भाग ही करना पडता है, जैसे कुर्सी के पाँव वनाना, तो उसे सव तरह के औजार देने की आवश्यकता नही रह जाती।

औजारो के एक सेट (set) से कई कारीगर एक समय मे काम कर सकते हैं।

(७) **कार्य-नियोजन की अनेकरूपता** (Diversity of employment) — श्रम-विभाजन से कार्य की सख्या तथा विभिन्नता में वृद्धि होती है तथा कर्म-नियोजन (employment) में अनेकरूपता आ जाती है।

(८) **बड़े पैमाने का उत्पादन** (Large-scale Production) —श्रम-विभाजन से उत्पादन बड़े पैमाने में होने लगता है। प्रचुर मात्रा में हुए उत्पादन का लाभ सभी प्रकार की बचत के रूप में समाज को होता है। तैयार माल की मात्रा में ही वृद्धि नही होती वरन् उसकी क्वालिटी में भी, चूँकि माल कुशल कारीगरो द्वारा तैयार किया जाता है।

(९) **उपयुक्त कार्य केलिए उपयुक्त व्यक्ति** (Right Man in the Right Place) —श्रम-विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक इस प्रकार बट जाते हैं कि प्रत्येक श्रमिक अपने कौशल का कार्य करता है। इस प्रकार कार्य की अनुपयुक्ता तथा असगति नही रहती।

४. *श्रम-विभाजन से हानियाँ (Disadvantages of Division* Labour) हमने देखा है कि श्रम-विभाजन पद्धति से समाज की उत्पादन-सामर्थ्य के अवसरो की वृद्धि होती है। किन्तु चैपमैन का कथन है कि "किसी उत्पादन प्रणाली का उत्पादन सामर्थ्य ही उसके महत्त्वकी एक मात्र कसौटी नही है। जीवन का उद्देश्य केवल सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर लेना ही नही होता।" हमें यह देखना होगा कि मनुष्य जिसके लिए ही उत्पादन किया जाता है, श्रम-विभाजन के कारण किस प्रकार प्रभावित हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर यह सिद्ध नही होता कि श्रम-विभाग से केवल लाभ ही होते हैं। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप निम्नलिखित दोष भी होते है —

(१) **नीरसता** (Monotony)—श्रमिक बार-बार एक ही कार्य करने के कारण एक प्रकार की नीरसता का अनुभव करने लगता है तथा कार्य साधारण कोटि का तथा कौशलहीन हो जाता है।

(२) **मनुष्य के विकास में बाधक** (Retards Human Development) मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक विकास उसके कार्य से बहुत प्रभावित होता है। श्रमिक को एक ही प्रकार का कार्य बार-बार करने से शरीर तथा मन की गति एक ही दिशा में रहती है। एक प्रकार की बार-बार क्रियाशीलता व्यक्ति के मन को कुठित तथा दृष्टिकोण को सीमित कर देती है। नीरसता से आत्मा हनन होता है।

(३) **मानवीय प्रेरणा-रहित उद्योग** (Industry de-humanised) श्रम-विभाजन के अन्तर्गत कई लोग मिल कर एक चीज तैयार करते हैं। "सब लोगो के द्वारा किया गया कार्य किसी भी व्यक्ति का नही होता।" कारीगर में उत्तरदायित्व और स्वाभिमान की भावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उद्योग के भीतर से मानवोचित स्फूर्ति निकल जाती है।

(४) **कौशल की हानि** (Loss of skill)—कुशल शिल्पकार अपना कौशल खो

देता है । उसे या तो केवल कातना आता है अथवा बुनना । या तो वह कुर्सी का पाया वना पाता है अथवा फिर कुर्सी पर वैठने का स्थान । सपूर्ण कुर्सी वनाने की सामर्थ्य उसमे नही रह जाती

(५) **बेकारी की आशंका** (Risk of Unemployment)—कार्य के केवल एक अग के निर्माण का ज्ञान रखने वाले श्रमिक को वेकारी का सदा डर रहता है। यदि उसका प्रस्तुत कार्य छूट जाय तो सम्भव है दूसरे स्थान पर उसे कार्य न मिल पाये ।

(६) **श्रम विभाजन से पारिवारिक जीवन में गड़वड होती है।** (Disrupts family life)—औरतो तथा वच्चो को भी उनके अनुकूल कार्य मिलने का अवसर रहता है। कारखानो में औरतो का अधिक सख्या मे कार्य करना गृहस्थ जीवन मे गडवड उत्पन्न कर देता है तथा वच्चो को काम में लगाने से राष्ट्र की मूल्यवान मानवीय स्रोत का व्यर्थ ही क्षय होता है ।

(७) **श्रम-विभाजन तथा फैक्टरी व्यवस्था से हानियाँ** (Division of Labour and Evils of Factory System)—फैक्टरी व्यवस्था से सम्वद्ध होने से श्रम-विभाजन मे अनेक दोष उत्पन्न हो गये है। कारखाने का वातावरण दुर्गन्ध-युक्त वना रहता है। आवादी की अधिकता से चरित्र का पतन होता है । आस-पास की गन्दगी से रोग फैलते है। मनुष्य मशीन तथा उद्योगपति का दास हो जाता है ।

(८) **प्रादेशिक श्रम-विभाजन से हानियाँ** (Evils of Territorial Division of Labour)—स्थानीय श्रम-विभाजन से अनेक हानियाँ उत्पन्न होती है । इससे उद्योग एक ही स्थान तक सीमित होकर रह जाते है। इस का फल यह है कि स्थान-विशेष के व्यक्ति किसी प्रकार के उद्योग पर ही निर्भर रहते है । इसमे कार्य नियोजन का क्षेत्र कम हो जाता है, और परिवार की आय भी घट जाती है ।

फिर भी श्रम-विभाजन पद्धति स्थायी रूप से चल रही है । दिन भर के कार्यो की अवधि का घट जाना तथा अवकाश की वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, मजदूरी में वृद्धि आदि कुछ रीतियाँ है जिनका प्रयोग किया जा सकता है जिससे श्रमिक के जीवन पर श्रम विभाजन का हानिकारक प्रभाव न पडे ।

श्रम-विभाजन व्यस्वया के अन्तर्गत क्या श्रमिक अपनी योग्यता के विल्कुल ही उप-युक्त कार्य में नियोजित किया जाता है ? यह आवश्यक नही है कि सदैव ऐसा ही हो । किन्तु नियोजक की यह चेप्टा अवश्य रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुकूल ही कार्य प्राप्त हो। परन्तु सर्वदा यह सभव नही होता । यह सव 'माँग' पर निर्भर होता है । अनेक विकल्पो (alternatives) मे उसे वह कार्य मिलेगा जिसके लिए माग है और इस प्रकार मिला कार्य उसके सर्वथा उपयुक्त नही हो सकता।

श्रम-विभाजन आवश्यक तत्त्व (Requisites of Division of Labour) श्रम-विभाजन का लागू होना कई वातो पर निर्भर है । इसके लिए वड़े पैमाने पर उत्पादन होना चाहिए ।

उत्पादन निरन्तर होना चाहिये (production must be continuous)

अन्यथा विभिन्न श्रमिक वर्गो के बीच समन्वय (coordination) नही हो सकता।

इसके अलावा श्रमिको में प्रतिभा तथा सहयोग की भावना का प्रदर्शन करना चाहिए।

उद्योगपति मे आवश्यक सगठन की योग्यता होनी चाहिए अन्यथा श्रम-विभाजन की व्यवस्था तथा सगठन उचित नही होगा। अन्त में बाजार का विस्तार भी सीमित करने वाले कारणो में से एक कारण है।

५. श्रम-विभाजन बाजार द्वारा सीमित होता है (Division of Labour is limited by the Market)—यह बात बहुत स्पष्ट है। यदि जूते बनाने वाला एक जूता छ महीने मे बेच पाता है तो उसका आधे दर्जन श्रमिको को तले बनाने मे लगाना तथा आधे दर्जन व्यक्तियो को ऊपरी भाग बनाने में लगाना, अन्य छ व्यक्तियो को इस प्रकार तले तथा ऊपरी भाग को जोडने में लगाना मूर्खता होगी। इस प्रकार की विधि अपनाने के पूर्व उस वस्तु की माँग होनी चाहिये। श्रम-विभाजन मे बडी मात्रा में सामग्री बनेगी और जब तक बाजार में वस्तु की यथेष्ट खपत न हो, अधिक मात्रा में किसी वस्तु का निर्माण निरर्थक होगा। अस्तु, विस्तृत बिक्री का बाजार ही किसी वस्तु के निर्माण तथा विस्तार को निर्धारित करने वाला कारण होता है।

परन्तु कोई भी उद्योगपति व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार इस विषय को नही देखता। अपने कारखाने का आकार स्थिर करते समय वह बाजार का विचार रखता है और इस प्रकार विचार के बाद श्रम-विभाजन की सीमा लगाई गई मशीनो तथा कारीगरो के अनुरूप होगी।

बाजार श्रम-विभाजन पर भी निर्भर होता है—श्रम-विभाजन के कारण अधिक मात्रा में उत्पादन होने के कारण उत्पादन सस्ता होता है। जब वस्तुएँ सस्ती होती हैं तो अधिक मनुष्य उन्हें खरीदते हैं। इस प्रकार बाजार में बिक्री बढ जाती है। अस्तु, श्रम-विभाजन तथा बिक्री एक दूसरे पर निर्भर है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बाजार की सीमा-श्रम-विभाजन का निर्धारण करती है।

श्रम का प्रादेशिक विभाजन (Territorial Divisivn of Labour)

६ स्थानीयकरण (Localisation)—उद्योगो के स्थानीयकरण को प्रादेशिक श्रम-विभाजन भी कहते है। उद्योगो के श्रम का भी स्थानीयकरण से हमारा अर्थ किसी एक स्थान या भाग में किसी एक उद्योग का स्थापन है। नगर या प्रदेश किसी उद्योग के लिए विशेष स्थान बना लेता है। हमारा जूट उद्योग बगाल में, लोहे का बिहार में, शक्कर का उत्तर प्रदेश व बिहार में, तथा सूती उद्योग बम्बई मे केन्द्रित है। राज्यो के नगरो नें स्थानीकरण के उदाहरणो में हम लुधियाना (पजाब) का होजरी उद्योग, फिरोजाबाद (यू पी) में चूडिया, हजारी बाग (बिहार) में रेशम का निर्माण आदि का जिक्र करते है।

स्थानीयकरण को निश्चित करने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित हो सकते है—

(१) **कच्चे माल की निकटता** (Nearness to Raw Materials) —कच्चे माल का निकट होना बडा लाभदायक है। इससे परिवहन (transport) की

लागत कम हो जायगी। उत्पादन अधिक किफायती होगा। यह आश्चर्य की बात नही है कि कई उद्योगो की स्थापना उन भागो मे हुई है जहा कि कच्चा माल अधिक मात्रा मे प्राप्त है, उदाहरणार्थ, जूट के कारखाने बगाल मे तथा शक्कर के उत्तरप्रदेश में।

(२) **शक्ति के स्रोतो की निकटता** (Nearness to Sources of Power)—उद्योग के लिये दूसरा आकर्षण शक्ति के साधनो का उपलब्ध होना है। यदि कोयले की खाने समीप है तो बहुत से उद्योग शीघ्र ही वहाँ केन्द्रित हो जावेंगे, उदाहरणार्थ, लोहे के कारखाने कोयले के भागो मे।

(३) **बाजार से समीपता** (Proximity to Markets)—किसी उद्योग के लिए विस्तृत बाजार का समीप होना लाभदायक है। परिवहन की लागत में बचत होगी। उपभोग के केन्द्रो के समीप वाले कारखाने दूर वाले कारखानो से अधिक प्रभाव रखते है। भारतीय सूती कारखानो का उत्तर भारत तथा बगाल मे विस्तार बाजार के समीप होने के कारण हुआ।

(४) **श्रम का उपलब्ध होना** (Availability of Labour)—यदि शिक्षित श्रम उपलब्ध है तो यह एक बडी सुविधा मानी जाती है। यही कारण है कि उद्योगपति एक पुराने स्थापित केन्द्र पर ही जमा होते है। यदि कोई होजरी का कारखाना स्थापित करना चाहता है तो वह लुधियाना मे स्थापित करने में अपना लाभ समझेगा।

(५) **पूजी का उपलब्ध होना** (Availability of Capital)—वित्त-व्यवस्था उद्योग का प्राण है। जहाँ बैंक तथा अन्य वित्तीय सस्थाएँ उद्योगो की सहायता करने को तैयार तथा तत्पर रहती है, यह एक बडा आकर्षण है। बम्बई, कलकत्ता जैसे शहर उद्योगो के केन्द्र है क्योकि वहाँ अच्छी साख सुविधाएँ उपलब्ध है।

(६) कभी-कभी **राजनीतिक कारण** (Political Factors) भी उद्योग के स्थापित होने के कारण बने है। हैदराबाद जैसे भारतीय राज्यो ने उद्योगपतियो को आकर्षित करने के लिए उनको विशेष सुविधायें प्रदान की।

(७) कुछ स्थितियो मे **धार्मिक कारण** (Religious Causes) अधिक मनुष्यो को एक स्थान पर केन्द्रित करके कुछ उद्योगो की स्थापना करते है।

(८) कभी-कभी केवल **पहले किसी उद्योग-धधे का चल निकलने** के अतिरिक्त अन्य कारण बताना असम्भव-सा हो जाता है। जैसे कोई उद्योग किसी स्थान पर चालू हो गया।

केन्द्रीकरण के अन्य कारण (Causes of Further Concentration)—जब उद्योग किसी एक स्थान मे स्थापित हो जाता है तो उसमे और उस स्थान की ओर आकर्षण की प्रवृत्ति होती है। जब कोई नया उद्यमी उस उद्योग को चलाना चाहता है तो वह किसी अन्य स्थान के बजाय उसी स्थान पर जायगा। इस प्रवृत्ति के बहुत से कारण है। शिक्षित श्रम वहाँ तुरन्त मिलता है। मशीन और उसके पुर्जे तथा कच्चा माल वहाँ आसानी से मिल सकता है। उस स्थान पर वित्तीय सस्थाएँ भी विकसित अवस्था में होती है। कुछ समय मे वहाँ पर पूरक (supplementary)

तथा सहायक उद्योग स्थापित हो जाते हैं और वे मुख्य उद्योग को विभिन्न प्रकार से लाभ पहुँचाते हैं।

टेक्नीकल पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं जो कि उद्योग के लिए लाभदायक होती हैं। सामूहिक हितों की उन्नति तथा रक्षा के लिए उद्यमी-सघ स्थापित होते हैं। परिवहन तथा सचार के साधन, उद्योग की आवश्यकतानुसार विशिष्ट तथा अनुकूल कर लिये जाते हैं। ये सभी साधन उद्यमी व्यवसायी को अधिक सहायता देते हैं। किसी नये स्थान पर साधारण तथा आसान समस्याओ का हल भी उनके लिए अधिक कठिन मालूम होगा। सब से बढकर वहाँ पर औद्योगिक आलस्य (inertia) होता है। एक बार एक स्थान पर स्थापित होने के पश्चात् वे कही और जाना नही चाहते। यह मानव प्रवृत्ति है कि लोग अनजानी कठिनाइयो के बीच में रहने की अपेक्षा जानी हुई कठिनाइयो मे रहना पसन्द करते हैं।

७ स्थानीकरण के परिणाम (Consquences of Localisation)—उद्योगी करण के फायदे भी हैं और नुकसान भी। ऊपर दिए हुए उद्योगो के जमकर चलने की प्रवृत्ति के कारण स्थानीयकरण के विभिन्न लाभ हैं अर्थात् श्रम, पूजी, पदार्थों आदि का उपलब्ध होना और विशेष परिवहन, सहायक उद्योग, औद्योगिक पत्रिकायें, सघ आदि के लाभ हैं। इसके अतिरिक्त विचारो के विनिमय के लिये पर्याप्त सुविधायें हैं, क्वालिटी मे सुधार हो सकता है, लागत कम की जा सकती है तथा साधारण समस्याएँ सफलतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। उस स्थान पर उस वर्ग के श्रमिक को काम अवश्य मिलेगा।

कुछ भी हो स्थानीयकरण एक अमिश्रित प्रसाद नही है। उद्योग का एक स्थान पर निर्भर रहना हानिकारक है। यदि उद्योग गिरी हुई दशा में है तो समस्त श्रमिक जो कि उस पर तथा उसके सहायक उद्योगो पर निर्भर हैं, नुकसान में रहेंगे। यह किसी चीज को एक जगह ठूसने के समान है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के श्रम को काम मिलने की कम सम्भावना होती है।

विशेष श्रम गतिशील (mobile) नही रहता तथा अन्य उद्योगो में नौकरी पाने का कम अवसर रहता है।

इसका स्पष्ट उपचार एक ही है जो प्राय काम में लाया जाता है अर्थात् पूरक तथा सहायक उद्योगो का चलाना।

८ उद्योगो का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation of Industry)—आधुनिक काल में अनेको विकास हुए हैं जिन्होने पुराने उद्योगो को उनके स्थानो से हटाकर दूसरे स्थानो पर स्थापित कर दिया है —

(१) **परिवहन के साधनों का विकास** एक ऐसा कारण है। यह विकास वास्तव में एक दुधारा शस्त्र है। एक ओर तो यह केन्द्रित उद्योगो को अपने स्थान में बनाए रखने के लिए सहायक हुआ है। यदि कच्चे माल की पूर्ति जिसके आधार पर उनका विकास हुआ है, क्षीण हो गई है, तो वह वहाँ लाया जा सकता है। यदि बाजार जो कि पहले

विस्तृत था, अब काफी नही रह गया तो परिवहन के विकास से दूर स्थानो तक फैलाया जा सकता है । परन्तु दूसरी ओर यह भारी यन्त्रो को उन दूर देशो को भेजने में सहायक हुआ है जिनमें बाजार अच्छा है, उदाहरणार्थ स्वीडन की दियासलाई के कारखाने भारत में खोले गये है। श्रम तथा शिल्पकला में निपुण मनुष्य भी गतिशील हो सकते है।

(२) इसके अतिरिक्त औद्योगिक केन्द्रो मे किराया तथा भीडभाड़ की वृद्धि, जमीन की अधिक कीमत तथा म्यूनिसिपल करों के अधिक बोझ से, उद्योग हटा लिये गये है, उदाहरणार्थ, सूती मिलें बम्बई से अहमदाबाद, शोलापुर तथा अन्य स्थानो को हटाई जा रही है।

(३) अन्त में, बिजली के आने से जिसे दूर तक ले जाया जा सकता है, उद्योगो को अधिक सुविधा वाले स्थानो पर स्थापित होने के योग्य बना दिया है । उनको कोयले की खानो जैसी शक्ति के साधनो के समीप रहने तथा दूसरी कठिनाइयो का सामना करने की आवश्यकता नही रही।

उपर्युक्त कारणो से स्थानीकरण की बहुत सी बातें बेकार हो गई है और उद्योगो का विकेन्द्रीकरण हो रहा है।

निर्देश पुस्तके

Marshall, A —Principles of Economics

Adam Smith—An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations, pp 93-3 and 26

Cannan, E —A Review of Economic Theory

Benham, F —Economics

अध्याय १०

पूंजी

(CAPITAL)

१ पूंजी का स्वरूप तथा महत्त्व (Capital, its Nature and Importance)—अब तक हमने उत्पादन के केवल दो साधनो, भूमि तथा श्रम, का ही विचार किया है। अब हम तीसरे साधन पूजी पर विचार करेंगे। आधुनिक उत्पादन प्रणाली में पूजी का बडा महत्त्व है। मनुष्य के आदिम जीवनकाल में भी उत्पादन के लिए कुछ औजारो की आवश्यकता पडती है। वर्तमान उत्पादन की विभिन्नता व वृहत् परिमाण केवल इस कारण सभव हो सके है कि उत्पादनकार्यो के लिए पूजी उपलब्ध है। यदि किसी राष्ट्र के पास समुचित पूजी हो तो देश के जीवन-स्तर को स्थिर रक्खा तथा उठाया जा सकता है। हर प्रकार के आर्थिक विकास के लिए पूजीगत वस्तुओ (capital goods) की आवश्यकता होती है। सिंचाई की योजनाओ को पूरा करने के लिए मशीनो तथा खेती केकाम के लिए ट्रेक्टरो की जरूरत पडती है। औद्योगिक उन्नति के लिए भी मशीनो की आवश्यकता होती है। सडकें बनाने में भी इसकी जरूरत होती है। अस्तु, पूजी के बिना किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति असभव है।

पूजी के अभाव में भूमि बजर पडी रहेगी, श्रमिक खाली बैठा रहेगा तथा सगठन-कर्त्ता अपने उत्पादक उद्यमो में भारी रुकावट का अनुभव करेंगे। पूजी उत्पादन-व्यवस्था का सचालन करती है। इस प्रकार उत्पादन में पूजी का बडा महत्त्व है।

पूजी शब्द के अर्थो और धारणा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियो में परस्पर बडा मतभेद है। पूजी का स्वरूप तथा उसका तत्त्व बहुत स्पष्ट है। इसका सबध आय से होता है। **मनुष्य के धन का कुछ भाग इस प्रकार बचता है अथवा उपभोग में आता है जिससे उसे आय की प्राप्ति हो, अथवा उसे उत्पादक कार्य में सहायता मिले।** धन के इस भाग को पूजी कहते हैं। चैपमेन[1] के शब्दो में, पूजी वह धन है जिससे आय होती है, अथवा आय में सहायक होता है, अथवा ऐसा करने के लिए काम में लाया जाता है। इस प्रकार इसमें रेलें, जहाज, कारखाने, नहरें, औजार तथा स्टॉक, शेयर, सिक्योरिटियो तथा बैंक डिपॉजिट्स के रूप में नियोजन भी शामिल है। पीगू (Pigou) ने पूजी की तुलना एक ऐसी झील से की है,जिसमें ऐसी विभिन्न वस्तुए जो बचत (savings) का परिणाम है, सदैव शामिल होती रहती हैं। पर वे सब वस्तुए जो झील में प्रवेश करती है कुछ समय पश्चात् फिर इसमे से निकल जाती है।[2]

---

1 Chapman—Outlines of Political Economy (1920), p 73

2. Pigou—Economics of Welfare, p 43

अब हमें कुछ वस्तुओ की जाच करके यह मालूम करना है कि वे पूजी हैं अथवा नही। जहा तक उत्पादक वस्तुओ जैसे मशीन, परिवहन के उपकरण (transport equipment) और उत्पादन की सहायता के लिए उत्पादको के हाथ में उपभोक्ताओ के माल का सबध है, सदेह का कोई कारण नही है। ये तो पूजी है ही, पर प्रश्न यह है कि उपभोक्ता के हाथ में उपयोग की वस्तुए पूजी है या नही। इस विषय मे अर्थशास्त्रियो के दो मत है। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि ये वस्तुए पूजी नही होती, क्योकि जहा तक इनका सबध है उत्पादन पूर्ण हो चुका है और इसके आगे सौदा नही हो सकता। बेनहम का कहना है कि यद्यपि ये वस्तुएं उपभोक्ताओ तक पहुच चुकती है पर बात यही समाप्त नही हो जाती। ये वस्तुए वर्षो तक काम में आती रहती है। इसके सबसे अच्छे उदाहरण मकान, फरनीचर, रेडियो सेट, मोटर आदि है। यही नही कभी-कभी इन वस्तुओ से आगे के सौदे भी हो जाते है, उदाहरणार्थ, कभी-कभी मकान वाले अपने मकान को किराये पर उठा देते है या मोटर को किराये पर चलाते है। बेनहम को यह बात अजीब लगती है कि डाक्टर जब कोई मरीज देखने कार पर जाय तो उसे पूजी माना जाय और जब उसके घर वाले उसी पर घूमने जायें तो उसे पूजी न माना जाय। अतएव वह इस प्रकार की सभी वस्तुओ को पूजी मानेंगे।

क्या भूमि पूजी है ? (Is Land Capital) ?—भूमि को पूजी के वर्ग में पाच कारणो से नही रक्खा जाता :—

(क) भूमि प्रकृति की ओर से उपहार स्वरूप मिलती है, पर पूजी मनुष्य स्वय पैदा करता है।

(ख) पूजी नाशवान (perishable) होती है, इसके विपरीत भूमि स्थायी व नष्ट न होने वाली होती है।

(ग) भूमि स्थिर होती है पर पूजी गतिशील (mobile) होती है।

(घ) पूजी के परिमाण में वृद्धि हो सकती है पर भूमि निश्चित तथा सीमित होती है।

(ङ) पूजी की आय समान होती है लेकिन भूमि का लगान (rent) भिन्न-भिन्न होता है।

पर इन भिन्नताओ को कुछ बढा-चढा दिया गया है। वास्तव में भूमि का भी बड़ा तत्त्व (element) मनुष्य-कृत होता है। मनुष्य ने अपने प्रयत्नो से बडे-बडे रेगिस्तानो को उपजाऊ मैदानो मे परिवर्तित कर दिया है। पूजी की भाति भूमि भी कुछ सीमा तक नश्वर है क्योकि बहुत अधिक खेती इसकी उर्वरता (productivity) को समाप्त कर देती है और फिर हम भूमि की सीमा को भले ही न बढा सकें पर उसकी उत्पादन शक्ति को तो अवश्य बढा सकते है। यह क्षेत्र वृद्धि के समान ही है। भूमि भी एक तरह से गतिशील (mobile) होती है क्योकि भूमि मे उत्पन्न की गई वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सकता है। इसलिए व्यक्तिगत रूप से भूमि को भी पूजी मान लेना अधिक उपयुक्त होगा। भूमि तथा पूजी का अन्तर किस्म (kind) का नही बल्कि मात्रा (degree) का अन्तर है। पर यह अवश्य है कि इन तमाम विशेषताओ

के उपरान्त भी भूमि पूजी के समान नही है। दोनो में कुछ ऐसे मूल भेद है जिससे पूजी उत्पादन का एक भिन्न साधन बन गई है।

क्या द्रव्य पूजी है (Is Money Capital ?)—द्रव्य और पूजी एक ही वस्तु नही है। सब पूजी तो द्रव्य हो सकती है, पर सब द्रव्य पूजी नही है। पूजी बनने के लिए यह आवश्यक है कि द्रव्य का प्रयोग उत्पादक कार्यों मे हो।

राष्ट्रीय ऋण (National Debt) का पूजीगत मूल्य (Capital Value) क्या है ? स्टॉक होल्डर (stock holder) के लिए तो यह पूजी ही होता है क्योकि इससे आय होती है। पर सरकार की दृष्टि से यह एक प्रकार का ऋण (debt) प्रकट करता है। जिस सीमा तक राष्ट्रीय पूजी का प्रयोग सडके, नहरें या दूसरे आमदनी वाले कार्यों में होता है, यह पूजी होती है। पर यदि राष्ट्र के ऋण का प्रयोग युद्ध आदि पर होगा तो इसे पूजी नही कहा जा सकता।

क्या सर्जन का कौशल अथवा टाइपिस्ट की कुशलता जैसे व्यक्तिगत गुण भी पूजी होते है (Are personal qualities like a surgeon's skill or a typist's dexterity capital)—नही। हस्तान्तरितसाध्य न होने (not transferable) के कारण ये गुण धन के वर्ग (category of wealth) से पहले ही जुदा कर दिये गए है। कुछ अर्थशास्त्री इस प्रकार के गुणो को व्यक्तिगत पूजी का नाम देने के लिए तैयार है।

प्राकृतिक उपहार, जैसे नदियां व पहाड आदि क्या है (What about the Rivers and Mountains)—यह असगत सा लगता है कि नहरो को तो पूजी मान लिया जाय पर नदियो को नही, पर ऐसी वस्तुए पूजी इसलिए नही मानी जाती है कि पूजी का सबध उत्पादन के 'तैयार' (produced) साधनो से है, प्रकृति के उपहारो से नही।

क्या सभी धन पूजी है ? (Is all Wealth Capital ?)—कुछ लोगो का मत है कि **सब प्रकार का धन पूजी होता है** क्योकि मनुष्य का सारा धन किसी न किसी रूप में धन के उत्पादन में सहायक होता है। कोई भी वस्तु जिसकी उपस्थिति से उत्पादन को सहायता मिले और जिसके अभाव से उत्पादन रुकने लगे पूजी होती है। इस विचार की पुष्टि करने के लिए एक तर्क और भी है। प्रत्येक वस्तु से सतुष्टि मिलती है अर्थात् आय होती है, इसलिए हर वस्तु को पूजी मानना चाहिये। पर आम तौर से **केवल धन का वह भाग पूजी माना जाता है जिसका उपयोग धन के अधिक उत्पादन में हो सके। सब पूंजी धन है पर हर प्रकार का धन पूजी नहीं होता।**

पूजी और पूजीवाद में अन्तर किया जा सकता है। जैसा कि हम पहले भी विचार कर चुके है, पूजी का निर्देश (तात्पर्य) सिर्फ उत्पादन के साधनो से है। इसके विपरीत पूजीवाद समाज की उस दशा को कहते है जिसमें इस साधन का अधिकार व उपयोग कुछ व्यक्ति केवल निजी स्वार्थ के लिए करते है। वे इस स्थिति में है कि समस्त जनता पर अत्याचार कर सके। धनवानो की प्रवृत्ति अधिक धनवान होने की होती है, जबकि निर्धन पिसते जाते है। इस तरह इने गिने भाग्यशाली लोगो और बहुत से अभागे लोगो

के बीच की खाई बढती जाती है। लेकिन पूजीवाद की निन्दा का अर्थ पूजी की निन्दा से नही है।

पूजी के विभिन्न वर्ग किये गये हैं—निजी (private) अथवा व्यक्तिगत (individual) व सामाजिक पूजी। राष्ट्रीय पूजी और वैयक्तिक पूजी (personal capital) का अन्तर वैसा ही अन्तर है जैसा कि धन के विभिन्न वर्गों में था (अध्याय २, विभाग ६)। कार्यवहन पूजी (working capital) का अर्थ उस द्रव्य से होता है जो व्यापारी अपने व्यवसाय को चलाने में उपयोग करता है।

अचल पूजी (Fixed Capital) के अन्तर्गत उत्पादकों का टिकाऊ सामान (durable goods) जैसे कारखानो की इमारतें, मशीने जो स्थायी रूप से कई वर्षों तक काम मे आ सकती है, सम्मिलित हैं।

परिचल पूजी (Circulating Capital) का स्वरूप स्थायी नही होता। यह एक बार के प्रयोग मे ही समाप्त हो जाती है। इसमें उत्पादन के प्रयोग मे आने वाले वह कच्चे माल सम्मिलित है जैसे जूतो के बनाने में चमडा अथवा बीज आदि। कृषि के औजार अचल पूजी होते है और श्रम के ऊपर व्यय किया गया रुपया परिचल पूजी होता है। कृषि में प्रयुक्त पशु अचल पूजी होते है पर उनके पालन का व्यय परिचल पूजी है। विक्रय के लिए जमा किया गया पशुओ का समूह परिचल पूजी होता है पर दूध आदि के लिए पाले गये जानवर अचल पूजी हैं। एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए अचल पूजी हो सकती है और दूसरे के लिए परिचल। कम्पनी के लिए सिलाई की मशीन जिसे बेचकर कम्पनी को लाभ होता है, परिचल पूजी है पर वही मशीन दर्जी के लिए अचल पूजी है।

उपयोजित पूंजी (Sunk Capital)—जिस पूजी का प्रयोग केवल किसी विशेष कार्य में हो सकता है, और जिसे वैकल्पिक कामो (alternative uses) मे नही लगाया जा सकता, वह उपयोजित पूजी कहलाती है, जैसे बर्फ के कारखाने मे लगी पूजी का प्रयोग होजरी के लिए नही किया जा सकता।

प्लवमान पूंजी (Floating Capital)—इस रूप मे होती है कि विभिन्न प्रयोगो मे काम मे लाई जा सकती है जैसे द्रव्य, ईंधन, कच्चा माल आदि।

२. पूजी के कार्य (Functions of Capital)—पूजी के उपर्युक्त वर्गीकरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्तमान उत्पादन में पूजी क्या कार्य करती है। पूजी सदैव उद्यमी व्यवसायी की सहायता करती है। प्रथम तो वह इसको उत्पादन के लिए आवश्यक उपकरण जैसे मशीन तथा पुर्जे खरीदने में प्रयोग करता है।

दूसरे, उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल को खरीदने में पूजी सहायता देती है।

अन्तिम कार्य पूजी का यह है कि इसके द्वारा उत्पादन में लगे हुए मनुष्यो के जीवन निर्वाह की वस्तुओ अर्थात् उपभोक्ताओ की वस्तुओ की प्राप्ति होती है। यह स्पष्ट है कि ये सब कार्य इतने महत्त्वपूर्ण है कि वर्तमान काल मे बिना पूजी के किसी प्रकार का उत्पादन कार्य सभव नही है। जिस देश के पास पूजी नही होती वह देश सदैव दरिद्र व पिछडा हुआ रहता है।

कुटिल या परोक्ष उत्पत्ति (Roundabout Production)—कभी-कभी घर का सबसे लम्बा रास्ता सबसे छोटा सिद्ध होता है। वर्तमान पूजीवादी उत्पादन को कुटिल कहा जाता है। जिन वस्तुओ से उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन होता है उनके उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनो का अधिक उपभोग होता है। उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन में बहुत कम मनुष्य व्यस्त होते है। प्राचीन काल का शिकारी एक पत्थर या एक छडी से भी शिकार कर लेता था जैसा कि चैपमैन का कथन है "पर आज कल का शिकारी पहले खान खोदता है और तब लोहे को गलाकर शिकार के हथियार बनाता है" और तब उसका शिकार प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार की लम्बी रीतियो के प्रयोग में कोई विशेष आकर्षण नही है। पर तब भी आधुनिक उत्पादन इतना कुटिल क्यो है? इनका उपयोग इसलिए होता है जिससे अधिक उत्पादन हो और समाज की इच्छाओ की सन्तुष्टि में अधिक सहायता मिले। चैपमैन (Chapman) के शब्दो में "केवल इसलिए कि कोई प्रणाली अधिक परोक्ष है वह अधिक मितव्ययी नही हो जाती। परन्तु ऐसा होता है कि अधिक मितव्ययी रीतिया प्राय परोक्ष हो जाती है।" डाक्टर हेयक (Hayek) ने पूजीवादी उत्पादन की तुलना एक ऐसे पखे से की है जो पूजीवादी तरीको की अधिकता अथवा न्यूनता से खुलता व बन्द होता है। यह पखा जितना ही अधिक तेज चलता है उतना ही अधिक अन्तर कच्चे माल की प्राप्ति और अन्तिम वस्तु के निर्माण में लगने वाले समय के मध्य होता है।"

३ पूजी का निर्माण (Capital Formation)—यदि राबिन्सन क्रूसो शिकार के लिए बन्दूक का निर्माण करना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह खाने की सामग्री बडी मात्रा मे एकत्रित कर ले। चीन की एक पुरानी कहावत है (सेमएलसन Samuelson ने उद्धृत की है) कि "जो मनुष्य प्रात काल के बाद के समय को नही विचार सकता, उसको मध्याह्न में अच्छी से अच्छी शराब पीने को मिलेगी, साय-काल में उसके सर के दर्द को ठीक करने के लिए अधिक हरी शराब मिलेगी, और अन्य दिनो के लिए उसको केवल वर्षा का जल ही पीने को मिलेगा।" **सयम अथवा प्रतीक्षा** (abstinence and waiting) ही **पूजी का जन्मदाता कहा जाता है।** परन्तु धनवानो के लिए, जो विलासिता में रहने के उपरान्त भी बचत कर लेते है, इसमें किसी प्रकार का कष्ट या त्याग नही होता किन्तु सयम शब्द में भावना शामिल है। इसलिए 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग अधिक उपयक्त होगा।

शताब्दियो की खोजो के फलस्वरूप प्रारम्भ के भद्दे औजारो से बढकर पूजी ने वर्तमान काल की दैत्याकार कलो का रूप ले लिया है।

यह सब बचत का ही परिणाम है। टाजिग के अनुसार "पूजी को बनाया तथा पैदा तो किया ही जा सकता है पर इसकी बचत और इसका सचय भी होता है।" दूसरे शब्दो में पूजी का सँचय **बचत करने की इच्छा व सामर्थ्य पर निर्भर रहता है।**

किसी व्यक्ति की **बचत करने की सामर्थ्य** उसकी आय और व्यय के अन्तर पर निर्भर रहती है। जहा तक राष्ट्र का सबध है यह सामर्थ्य उसके व्यापार और उद्योग के समुचित सगठन, परिवहन के साधनो के विकास और 'साख' व बैंकिंग प्रणाली की उन्नति पर

निर्भर रहती है। शिक्षा व स्वास्थ्य के उचित प्रवध से, मानव साधनो का अधिकतम विकास व प्राकृतिक साधनो के अधिकतम प्रयोग से भी पूजी का निर्माण होता है।

बचान की इच्छा—मनुष्य की वचत करने की प्रवृत्ति कई वातो पर निर्भर रहती है। इन बातो में सवसे महत्त्वपूर्ण ये है—घरेलू स्नेह, ऊचे उठने की इच्छा, मामाजिक अथवा राजनीतिक प्रभाव वढाने की लालसा अथवा केवल सफलता प्राप्ति की भावना।

स्थायी सरकार द्वारा मानव जीवन और धन की सुरक्षा का समुचित प्रवंध मनुष्य की वचत करने की इच्छा व शक्ति दोनो को वढा सकता है। ऐसी दशा में पूजी विनियोग (investment) के अन्य साधन भी जैसे वैंक, वीमा कम्पनी, व्यापारिक सस्थायें, सरकारी सिक्योरिटियो का चलन आदि वढ जायगा।

व्याज की ऊंची दर भी वचत को प्रेरणा देती है। यदि व्याज की दर ऊची हो तो अधिक लोग वचत करने लगते हैं। पर व्याज की दर का वचत पर वहुत अधिक प्रभाव नही पडता। वहुत कम लोग ऐसे है जो केवल व्याज की इच्छा से वचत करते है। धनवान लोग स्वाभाविक रूप से वचत करते है और निर्धनो को कुछ आनो का कोई आकर्षण नही होता। इसके विपरीत जो लोग अपनी वृद्धावस्था के लिए या अपने बच्चो के लिए एक निश्चित आय की कोई व्यवस्था करना चाहते है वह प्राय व्याज की कम दर पर अधिक और ऊची दर पर कम वचत करते है।

सामाजिक विधानों जैसे सामाजिक वीमा (social insurance) व वार्धक्य निवृत्ति वेतन (old-age pension) का वचत पर क्या प्रभाव पडता है ? वहुत सभव है कि यह हो कि श्रमिक अपने भविष्य से विलकुल निश्चित हो जाय और बचाने का विलकुल प्रयत्न न करे। पर हमारा यह विश्वास है कि वचाने की इच्छा अत्यन्त गहन होती है। मनुष्य सदैव वचाने का प्रयत्न करता है।

वचत वास्तव में पूजी का साधन है। एडम स्मिथ का कहना है कि "मितव्ययता से पूजी वढती है और अति व्यय से घटती है।" **पर वचत मात्र ही यथेष्ट नहीं होती।** वचत को पूजी का रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि उसका विनियोग (investment) हो।

लेकिन अधिक वचत हानिकारक है। इससे उपभोक्ता के माल की मांग कम हो जायगी और वाज़ार मे मन्दी फैलेगी। अधिक व्यय भी हानिकारक है, ऐसा करने से भविष्य के लिए कोई उपबन्ध (provision) नही होगा। इसलिए, दोनो में समुचित सतुलन होना चाहिए।

पूजी निर्माण (capital formation) के अन्तंगत तीन मुख्य स्टेज (broad stages) है (क) वचत (savings) इकट्ठा करना जो वचत करने की इच्छा तथा वचत करने की सामर्थ्य पर निर्भर है, (ख) वचत का गतिशीलन तथा विभक्तीकरण (mobilisation and canalization) और उसको विनियोजित निधि (investible fund) का रूप देना। यह वैंकिग प्रणाली की दक्षता पर निर्भर है, तथा (ग) पूजीगत माल का अर्जन (acquisition) जो उद्यमी के प्रयास पर निर्भर है। पूजी निर्माण के मार्ग मे कई वाधाए है। कुछ वचत को साठे-

वाजी से रक्खा गया हो (hoarded) लेकिन विनियोजन (investment) में न लगाया गया हो। कुछ वचत को स्वामियो द्वारा पुन व्यापार में ही लगा दिया गया हो। निधि (funds) के सचय होने तथा पूजीगत माल के अर्जन होने में बीच का समय होता है।

भारत मे पूजी निर्माण में कई कारणो (factors) ने बाधा डाली है। १९४७-४८ के लियाकत अली बजट ने उद्योगो पर अधिक कर लगाने की नीति अपनाई, राष्ट्रीयकरण का भय, स्टॉक एक्सचेंजो (श्रेष्ठि चत्वरें) में सट्टा (speculation), उद्यम (enterprise) का कदाचार, निर्गम पूजी (capital issues) पर नियन्त्रण आदि कुछ ऐसे कारण है। भारत में शुद्ध (net) घरेलू पूजी निर्माण (domestic capital formation) का अन्दाज १९५३-५४ मे लगाया गया था जो ७१९ करोड था। यह उस वर्ष की राष्ट्रीय आय (national income) का ६-८ प्रतिशत था।

पूजी को बनाए रखना बहुत जरूरी है। पूजी के उपभोग से किसी समुदाय (community) के जीवन-स्तर में वृद्धि तो हो सकती है, परन्तु यह मार्ग राष्ट्रीय (व्यापक रूप में) दीवाले (national bankruptcy) की ओर ले जाने वाला है। समुदाय की पूजी—शताब्दियो के प्रयास तथा बलि का सचित परिणाम —तिरोहित हो गई होती। पीगू के शब्दो में "बहता हुआ चश्मा घटते-घटते छोटा पड जायगा। और एक समय ऐसा आएगा कि सबसे भारी मद के ठिकाने लगने तक, यह (चश्मा) तथा जलाशय जिससे इसका जन्म हुआ था दोनो ही सूख जायेंगे।" इसलिए, मरम्मत करके, बदलकर तथा नया लगाकर कम से कम मौजूदा पूजी को अवश्य ही बनाए रखना चाहिए।

निर्देश पुस्तकें

Erich Roll—Elements of Economic Theory
Pigou, A C —Economics of Welfare, Part I, ch 4
Wickshell, K —Lectures on Political Economy, Vol I
Cannan, E —A Review of Economic Theory
Cower—The Distribution of Wealth
Benham—Economics
Fraser, L M —Economic Thought and Language (1947), ch 14
Stigler, G J —Theory of Price, (1947), ch 17
Kaldove, N —Article in Annual Survey of Economic Theory on "Recent Controversy on the Theory of Capital"
Econometric—Vol I, No 3 (1937)
Knight • Articles on
(i) Capital, Production, Time and the Rate of Return in Economic Essays in the honour of Gustav Cassel, (1933)
(ii) Capital, Time and Interest Rate in Economics (1934)

(iii) Prof Hayek and the Theory of Investment in Economic Journal (1935)

(iv) The Quantity of Capital and the Rate of Interest, Part I and II, Journal of Political Economy, August and October, 1936.

अध्याय ११

उद्यमी तथा उसकी समस्यायें

(THE ENTREPRENEUR AND HIS PROBLEMS)

१ उद्यमी का कार्य (Entrepreneur's Role)—आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में, स्वतन्त्र श्रमिक की अपनी भूमि अथवा कारखाना होता था। उसमें वह स्वय अपनी पूजी लगाता, अपने औजारो से काम करता, सचालन की योजना बनाता, और उसकी जोखिम सहता था। सक्षेप में वह जमीदार, श्रमिक, पूजीपति, तथा उद्यमी के कार्यो को स्वय निभाता था। लेकिन आज की जटिलता तथा उत्पादन के स्तर को ध्यान में रखते हुए और उससे पैदा होने वाली समस्याओ के स्वरूप तथा विस्तार को जो आधुनिक उत्पादन से सम्बद्ध है, यह प्राय असम्भव है कि एक व्यक्ति सारे दायित्व अपने ऊपर ले। इस तरह उद्यमी का उदय हुआ। आज उत्पादन के साधन एक दूसरे से जुदा है। उद्यमी उन्हें एक साथ मिलाता है तथा उत्पादन के कार्य में लगाता है। वह सगठन के कार्य में विशिष्ट होता है। उसकी अपनी कोई भी भूमि और प्रायः कोई भी पूजी नही होती तथा साधारणतया उससे परिश्रम भी नही कराया जा सकता। उसके पास केवल एक वस्तु अर्थात् सगठन की योग्यता होती है। वह लगान पर भूमि, उधार पूजी अथवा भाडे पर मजदूर पा सकेगा। वह प्रत्येक साधन को उचित अनुपात में उपयोग करेगा जिससे अच्छा परिणाम निकले।

उद्यमी का कार्य उत्पादन के अन्य साधनो का सहयोजित करना तथा परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना है। वह कार्य को आरम्भ करता है, उसका सगठन तथा निरीक्षण करता है और समस्या का सामना करता है। वह उत्पादन के प्रत्येक साधन को पारिश्रमिक देता है भूमि-स्वामी को लगान, पूजीपति को व्याज तथा श्रम को मजदूरी और उनको पदार्थों की बिक्री के पहले भुगतान करता है। यदि शेष बचता है तो उसका है। उसके आवश्यक भुगतान करने के बाद कुछ भी शेष न रह सकता है। इस अवस्था में उसका साहस विफल हो सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है वह पर्याप्त मात्रा में लाभ उठाये। परिणाम जो कुछ भी हो, उसे सब कुछ स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए।

यदि उसने उपभोक्ताओ की इच्छाओ का उचित अनुमान लगा लिया है और उसके अनुसार काम किया है तो उसको पर्याप्त फल मिलता है। इस प्रकार सगठन करना तथा जोखिम उठाना (organising and risk-taking) अथवा जैसा कि कहा जाता है, अनिश्चितता का सामना करना (uncertainty bearing) आधुनिक उद्यमी के दो मुख्य कार्य है।

एक सफल उद्यमी में युक्त विचार, सतोष, चतुराई, अवलोकन तथा विवेक-शक्ति होनी चाहिए। वह मानवीय स्वभाव को भली भाति जानने वाला तथा नेतृत्व (leader-

ship) के गुण वाला होना चाहिए। वास्तव में यह मस्तिष्क तथा हृदय के गुणो का अपूर्व सयोग है जो उसे एक सफल उद्योग नायक बनाता है। यही कारण है कि भारत में बिरला, टाटा, डालमिया तथा थापर जैसे अधिक उद्योगपति नही है।

२ उद्यमी के कृत्यों का प्रत्यायोजन (Delegation of Entrepreneurial Functions)—व्यापार जगत् में कुछ ऐसे विकास हुए हैं जिनके कारण उद्यमी सम्भवतया अपने कुछ कृत्यो का प्रत्यायोजन कर सकता है। एक समय था जबकि उद्यमी अपने व्यापार को आरम्भ करता, सगठन करता, उसको चलाता तया उसका वित्त-पोषण करता था। सारी जोखिम वह स्वय उठाता था। सगठन करने तथा जोखिम उठाने के दोनो कार्य एक दूसरे से मिश्रित तथा बधे हुए थे। परन्तु ज्वाइट-स्टॉक सिद्धान्त (joint-stock principle) के आ जाने से परिवर्तन हो गया है और कार्य अलग होते हुए दिखलाई देते है। "नियत्रण जोखिम के साथ-साथ रहता है"—यह सुनहला सिद्धान्त टूट गया है।[1] एक योग्य तथा चतुर उद्यमी के लिए दूसरो से सारी पूजी एकत्रित करने में कोई कठिनाई न होगी। इसके अतिरिक्त वह योजनाओ को आरम्भ कर सकता है। लेकिन योजनाओ को कार्यान्वित करने का काम वह वैतनिक मैनेजरो पर छोड सकता है। इस प्रकार शेयर होल्डर् जोखिम उठाते है परन्तु सगठन उद्यमी करते है और प्रबन्ध वेतन पाने वाले मैनेजर करते है।

बीमा व्यवसाय (insurance business) की उन्नति से भी साहसी की बहुत-सी चिन्तायें तथा जोखिम हट गये है। यदि खजाची रुपया लेकर भाग जाता है, यदि कारखाने में आग लग जाती है, और यदि बाहर से मगाया हुआ माल बीच समुद्र में डूब जाता है तो बीमा कम्पनिया हानि को पूरा करने के लिए है।

उद्यमी "द्वैधरक्षण" (hedging) के द्वारा कच्चे माल के मूल्य मे अचानक उतार-चढाव को हटाकर अपनी हानियो को पूरा कर सकता है।

इसके अतिरिक्त व्यापार ठप्प होने पर नुकसान उठाने वाला केवल वही नही है, एक बडी व्यवसाय-सस्था मे लगी हुई विशाल श्रम-शक्ति व्यवसाय में हानि-लाभ में भाग लेती तथा जोखिम उठाती है।

इस प्रकार यह कहा जाता है कि साहसी ने आर्थिक जोखिम को शेयर होल्डरो पर तथा अनेक दूसरे जोखिमो को बीमा कम्पनियो तथा सट्टेबाजो पर टाल दिया है। व्यवस्था का कार्य वेतन पाने वाले नौकर करते है। फिर साहसी के लिए क्या रह जाता है?

नि सन्देह साहसी बहुत से कार्यों तथा चिन्ताओ से छुटकारा पा गया है, परन्तु कार्यो का सौंपना ऐसा नही है जैसा कि दिखाई देता है। उसको कुछ अपनी पूजी लगानी पडती है। अतएव, हमारे माननीय सिद्धान्त अर्थात्, 'नियन्त्रण जोखिम के साथ है', में कोई उल्लघन नही होता।

फिर जोखिम जोकि बीमा कम्पनिया उठाती है, व्यवसाय के जोखिम नही है,

---

1 For further discussion, See Robertson—Control of Industry

तथा साहसी पर वाहरी जोखिमो का भार रखना अनुचित था। व्यवसाय के वास्तविक जोखिम उस पर ही रहते हैं। इसी भाति सट्टा उसको तमाम जोखिमो से मुक्त नही करता।

श्रमिको को, जव व्यवसाय असफल हो जाता है, निस्सन्देह हानि उठानी पडती है। परन्तु उनकी दशा की तुलना एक जहाज़ के यात्रियो से की गई है जोकि जहाज के डूबने के समय अपने को वहाँ से हटा सकते हैं। परन्तु उद्यमी एक नायक के समान है जोकि सवसे अन्त में यदि छोडने का अवसर मिला तो छोडेगा।

तो निष्कर्ष यह निकलता है कि कुछ सीमा तक काम दूसरो पर सौंपा जा सकता है परन्तु पूर्णत नही। **व्यवसाय के स्वामित्व तथा नियन्त्रण** (ownership and control) **एक-दूसरे से अलग हो गये हैं।** क्योकि हिस्सेदार स्वामी होते है और नियन्त्रण डायरेक्टरो पर निर्भर होता है। पुराने समय वाले पूजीपति-सचालक (capitalist-employer) उस व्यवस्था से हट गये हैं जिसका आज प्रचलन है।

फिर भी भारत में स्वामित्व तथा नियन्त्रण को काफी सीमा तक जुदा नही किया गया है। प्रवन्धक अभिकर्त्ता (managing agents) उद्योगपति ही हैं। वे कार्य प्रारम्भ करते हैं, योजना वनाते हैं, रचना तथा सचालन करते हैं। वे अधिकतर पूजी की पूर्ति भी करते हैं। यदि वे पूजी की पूर्ति करते हैं तो वे अपने हाथो में नियन्त्रण भी कम रखते हैं। इस प्रकार भारतीय कम्पनियो का स्वामित्व तथा नियन्त्रण साथ-साथ चलते हैं।

३ उत्पादन का पैमाना (Scale of Production)—उद्यमी को व्यापार के लिए उचित आकार का विकास करना होता है। आकार जितना वडा हो, उतना ही किफायती होगा। वडे पैमाने के उद्योग से कई लाभ है, जिनमें से निम्नलिखित इस प्रकार है —

(१) श्रम तथा यन्त्र के विशेषीकरण होने की अधिक सम्भावना रहती है। प्रत्येक मनुष्य को उस कार्य के करने में रखा जा सकता है जिसको वह भली भाति कर सकता है तथा प्रत्येक कार्य सवसे श्रेष्ठ मनुष्य को सौंपा जा सकता है।

(२) यह भली भाति स्पष्ट है कि एक वडा तथा कुशलतापूर्वक स्थापित कारखाना विशिष्ट मशीनो का प्रयोग कर सकता है। एक छोटी रूई की मिल में तैयार माल वनाने तथा साफ करने की सारी मशीनें नही हो सकती।

(३) एक वडा व्यवसायी सवसे आधुनिकतम मशीन लगा सकता है। वह अपना निजी मरम्मत विभाग भी खोल सकता है ताकि उसको विश्वास-हीन मिस्त्रियो पर आश्रित न होना पडे।

(४) क्रय-विक्रय के कुछ वाणिज्यिक लाभ भी हैं। उनके उत्पादक वडी व्यवसाय-सस्था के व्यापार को पाने के लिए स्पर्धा करते हैं। दूसरी ओर एक वडी व्यवसाय-सस्था का वाज़ार विस्तृत होता है। कारण, ग्राहक को शीघ्र तथा निश्चित वस्तु की पूर्ति होती रहती है। वडे आर्डरो की पूर्ति करना अधिक लाभदायक होता है। वे अपने काम में दक्ष खरीदार तथा दक्ष सेल्समेन रखते हैं। वस्तुओ की जाच तथा वर्गीकरण किया जा सकता है और एक-सी वस्तुओ का उत्पादन किया जा सकता है। इस प्रकार दोष-युक्त वस्तुओ से सम्वद्ध हानिया दूर की जा सकती हैं। उनका क्रय-विक्रय वाजार के

अनकूलतम समय पर होता है।

(५) उसके विस्तृत साधन उसको आपत्ति काल में भली भाति कार्य चालू रखने के योग्य वनाते है जबकि एक छोटी सस्था किसी भी भार से वरवाद हो सकती है।

(६) वह खोज तथा प्रयोग पर अधिक व्यय कर सकता है जोकि उसको अन्त में लागत से कही अधिक लाभ पहुचाता है।

(७) वह विज्ञापन तथा विक्री के कार्य पर अधिक व्यय कर सकता है और वाज़ार को अधिक विस्तृत कर सकता है।

(८) एक बडी सस्था के लिए ऊपर का खर्चा (overhead charges) तथा प्रति इकाई अनपूरक लागत (supplementary cost) बहुत कम आती है। इसके अन्तर्गत प्रवन्धक की लागत जिसमें व्यवस्थापक तथा क्लर्कों का वेतन, किराया, विज्ञापन तथा फिरने वाले सेल्समेन की लागत शामिल है।

(९) इसके अतिरिक्त वडी व्यवसाय-सस्था उपोत्पाद (bye-products) को भली भाति प्रयोग में ला सकती है। एक वडी शक्कर मिल शीरे को न फेंक कर उसको मदिरा के वनाने के काम ला सकती है।

अनुकूलतम पैदावार (What is the Optimum Output?)—वेन्हम के शब्दो मे उत्तर यह होगा कि "प्रत्येक व्यवसाय-सस्था **उस सीमा तक उत्पादन करेगी जिससे कि सीमान्त लागत कीमत के वरावर हो जाय।** व्यवसाय-संस्था की कुशलता मे भिन्नता होन से सीमान्त लागत मे नही वरन् पैदावार की मात्रा में भिन्नता होगी। अधिक कुशल व्यवसाय-सस्था की पैदावार अधिक होगी।"

अविभाज्यता का सिद्धान्त (Concept of Indivisibility)—एक वडी व्यवसाय-सस्था की कम खर्ची, अथवा वचत का एक महत्त्वपूर्ण मूल कारण उत्पादन के अविभाज्य सावनो का प्रयोग है। इस **अविभाज्यता के सिद्धात** को भली भाति समझना चाहिए। एक कालिज के छात्रावास के रसोई घर को लीजिये। इसमें कम से कम वर्तनो तथा सेवको की सामग्री होनी चाहिए, उदाहरणार्थ, एक महाराज तथा एक नौकर। यह अविभाज्य सावन है। यदि आप एक रसोई घर चलाना चाहते है तो कम से कम आप को इनको रखना होगा। अव यदि यह सामग्री १५ छात्रो के लिए काम दे सकती है तो रसोई मे १० छात्रो का रखना गैरकिफायती (uneconomical) न होगा। ऐसा होने पर प्रति छात्र लागत अधिक होगी, और रसोइये तथा नौकर कुछ समय के लिये वेकार रहेगे। छात्रो का एक वडा समूह उनको पूर्ण रूप से लगाये रहेगा और उनसे अधिक से अधिक काम लेगा। इसी प्रकार एक अध्यापक अविभाज्य है। मान लीजिये वह ५० छात्रो के क्लास को भली भाति पढा सकता है। एक छोटे कालिज में जहा कि कक्षा में छात्र कम हो तो वहा के अधिकारी उसका पूर्ण उपयोग नही कर सकेंगे। एक कारखाने की भी यही स्थिति है। एक शक्कर मिल का उदाहरण लीजिये। उसके पास कम से कम मकान, मशीन और दूसरे अनेक प्रकार के सामान होने चाहियें। परन्तु यदि कारखाना अपनी पूरी शक्ति से कम काम करता है तो यह सामग्री पूर्णत प्रयोग में नही लाई जा सकती, उसका कुछ भाग व्यर्थ पडा रहेगा।

सन् १९३०-३९ के पहले वर्षों में हमारे उद्योग विशेषत सीमेंट और जूट अपनी सामर्थ्य

से कम काम कर रहे थे जोकि निःसन्देह नष्टकारी थे। अविभाज्य सामग्री पूर्ण रूप से काम नही लाई जा रही थी। अतएव तात्पर्य यह है कि जब बडी मात्रा में उत्पादन होगा तो सामग्री निरर्थक नही रहेगी, और अविभाज्य साधन पूर्ण रूप से प्रयोग में लाये जायेंगे। यह उत्पादन और भी किफायती होगा।

स्टिगलर (Stigler) ने कई प्रकार की अविभाज्यताएं (Indivisibilities) प्रकट की है[1]—(१) मशीन की अविभाज्यता (Indivisibility of Machinery)। (२) मार्केटिंग की अविभाज्यताएँ (Marketing Indivisibilities)—इनका तात्पर्य सेल्समैन से, खरीद विभाग तथा विज्ञापन से है। जितनी अधिक बिक्री होगी उतना ही प्रति इकाई व्यय कम होगा। (३) वित्त-सम्बन्धी अविभाज्यताएँ (Financial Indivisibilities)—इनका तात्पर्य कर्जों से सम्बन्धित व्यवस्थापकीय व्यय से है। अधिक मात्रा में निकाली प्रतिभूतिया (securities) को स्टॉक एक्सचेंज (श्रेष्ठि-चत्वर) मे दर्ज किया जा सकता है। (४) खोज-सम्बन्धी अविभाज्यताएं (Research Indivisibilities)—यदि खोज में कुछ रुपया व्यय किया गया हो तो जितनी अधिक मात्रा में उत्पादन होगा उतनी ही अधिक उसमें किफायत होगी।

४ आन्तरिक तथा बाह्य बचत (Internal and External Economies)—बडे पैमाने की किफायत को हम दो भागो में बाट सकते है—आन्तरिक लाभ तथा बाह्य लाभ।

आन्तरिक लाभ[2] व्यवसाय की आन्तरिक व्यवस्था से संबध रखते हैं। वे एक व्यवसाय-सस्था के व्यापारिक भेद है। वे विशिष्ट व्यवस्थापक के मस्तिष्क की देन है और वह उनको सुरक्षित रखता है। प्रत्येक व्यवस्थापक अपने अनुभव के अनुसार श्रम, मशीन, वित्त व्यवस्था तथा मार्केटिंग आदि का प्रबन्ध करता है। इन सबको **आन्तरिक लाभ** कहते हैं।

यह भली भाति ध्यान रखना चाहिये कि आन्तरिक लाभ केवल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने से ही होते है। वे उन रीतियो के प्रयोग से होते है जिनको छोटी व्यवसाय-सस्था प्रयोग में लाना उचित नही समझती।

आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था (Internal Economies) निम्न प्रकार की हो सकती है

(क) **टेक्नीकल अर्थव्यवस्था** (Technical Economies)—वे इस कारण होती है कि एक बडा यन्त्र बनाना सरल है और बडे यन्त्र के प्रयोग में यान्त्रिक लाभ होते है। कई प्रणालियो को मिलाने तथा ऊर्ध्वाधरत ससर्ग (vertical combination) तथा विशिष्टीकरण (specialisation) से लाभ भी होते है।

(ख) **व्यवस्थापकीय अर्थव्यवस्था** (Managerial Economies)—ये लाभ विशेषोपयुक्त विभाग के स्थापित करने में अथवा कार्यसम्बन्धी विशेषोपयोजन, नित्य क्रम और विस्तृत विषयो को आधीन पुरुषो को सौंपने से होते है।

---

1 For a detailed study see Cairncross (1944), pp 64, 80
2 Stigler, G J—Theory of Price (1947), pp 135—137

(ग) **वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था** (Commercial Economies)—ये वस्तुओ के क्रय-विक्रय से होते है। वडे व्यवसायो में सौदा करने का लाभ होता है और जिस व्यवसाय-संस्था से वह सौदा करते है उससे अधिमान्य व्यवहार (preferential treatment) मिलता है।

(घ) **वित्तीय अर्थव्यवस्था** (Financial Economies)—ये लाभ इसलिए होते है कि एक वडी व्यवसाय-सस्था की साख अच्छी होती है और वह उचित दर पर रुपया उधार ले सकती है। इसके अशो का अधिक विस्तृत वाजार होता है जो रुपया लगाने वाले को प्रोत्साहित करता है।

(ङ) **जोखिम उठाने सम्बन्धी अर्थव्यवस्था** (Risk-bearing Economies)—एक वडी व्यवसाय-सस्था जोखिम को विस्तृत कर सकती है और अक्सर उसको दूर भी कर सकती है। वह अनेक प्रकार की उत्पत्ति करके ऐसा कर सकती है। इससे उसकी शक्ति तथा स्थिरता वढ जाती है और उस पर व्यापारिक उतार-चढाव का कम प्रभाव पडता है। वाजार, पूर्ति के सावन तथा निर्माण-विधि में भी विभिन्नता लाई जा सकती है।

दूसरी ओर **वाह्य लाभ** (external economies) किसी एक विशिष्ट व्यवसाय की निजी सम्पत्ति नही है। सव उसको जानते है और उसमें सभी का अश है। ऐसी किफायत प्राय केन्द्रित उद्योग को ही हो सकती है जहा सवके लाभ के लिए सामूहिक विकास हुए हो।

वाह्य लाभो (External Economies) **का निम्न वर्गीकरण हो सकता है :—**

(क) **केन्द्रण के लाभ** (Economies of Concentration)—यह लाभ कुशल श्रमिक की प्राप्ति से, परिवहन के अच्छे साधनो के होने तथा सुधार के प्रोत्साहन सहायक उद्योगो (subsidiary industries) आदि के लाभ से सम्वद्ध है। विखरी हुई व्यवसाय-सस्थायें ऐसे लाभ नही उठा सकती।

(ख) **सूचना के लाभ** (Economies of Information)—इन लाभो का सम्वन्ध उन सुविधाओ से है जो एक उद्योग के समस्त व्यवसाय-सस्था को व्यापार तथा औद्योगिक पत्रिकाओ के छपने तथा केन्द्रीय खोज-सस्था से प्राप्त होते है।

(ग) **अलग करने के लाभ** (Economies of Disintegration)—जव एक उद्योग उन्नति करता है तो कुछ कार्यों को अलग-अलग करके विशिष्ट सस्थाओ को सौंपना सम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक विशेष स्थान मे स्थापित रूई की मिलें मिलकर एक चिकना करने वाले यत्र (calendering plant) से लाभ उठा सकती है

आन्तरिक तथा वाह्य लाभो के वीच में कोई विशेष अन्तर नही किया जा सकता। जव अधिक व्यावसायिक संस्थाये मिल जाती है तो वाह्य लाभ आन्तरिक लाभ हो जाते है। कौन से विशिष्ट लाभ आन्तरिक अथवा वाह्य है, केवल इस पर निर्भर है कि किन कार्यों को सयुंक्त करना लाभदायक होगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी उद्योग की वृद्धि से कई **खराव अर्थव्यवस्थाएं**

(diseconomies) भी हो सकती है, चूंकि ऐसा करने मे कई रद्दी अथवा कम दक्ष साधनों को भी काम में लाया जायगा।

यह जानने योग्य है कि जैसे व्यापारिक तथा टेक्नीकल शिक्षा फैलती है और ऐसी दूसरी उन्नति होती है तो आन्तरिक लाभो का क्षेत्र सीमित होता जाता है तथा वाह्य लाभो का विस्तृत होता जाता है। यह भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में उन्नति का फल है।

व्यापार के विस्तार की सीमाए (Limits to the Expansion of a Business)—यद्यपि व्यापार का विस्तार लाभदायक है तो भी ऐसा करना सदैव सम्भव नही होता। व्यापार के वढाने में विशेष कठिनाइया यह है (अ) वित्तीय (Financial), (व) व्यवस्थापकीय (Managerial), तथा (स) वाजार सम्वन्धी वाधाए (Market Obstacles)। पहले आर्थिक या वित्तीय कठिनाइयो को लीजिये। व्यापार को वढाने के लिए उद्यमी को पूजी की नवीन पूर्ति (fresh supply) की आवश्यकता होती है। वैसे तो अधिक पूजी के लिए प्रवन्ध करना सरल नही होता फिर भी कठिनाइया ऐसी नही है जिन पर विजय न प्राप्त की जा सके। एक सफल व्यवसायी को, जोकि ईमानदारी तथा कार्य-कुशलता के लिए विख्यात है, पूजी सरलता से मिल जायेगी। यह कहा गया है कि वित्त केवल एक सेवक के समान है।

परन्तु कुछ अन्य कठिनाइया भी है, जैसे व्यापार विस्तृत होता है वैसे ही उत्पादन के साधनो का मूल्य वढेगा, साधनो के अतिरिक्त पूर्ति को पाने के लिए अधिक लगान, मजदूरी तथा व्याज के रूप में देना पडेगा। अतएव लागत (cost) वढ जायेगी। दूसरी ओर अतिरिक्त पैदावार (output) वाजार में कीमत को कम कर सकती है। अतएव कुछ समय मे लागत आय के वरावर हो जायेगी। वह व्यवसाय को वढाता जायेगा जब तक कि सीमान्त राजस्व (marginal revenue) [अतिरिक्त पैदावार से अतिरिक्त आय] सीमान्त लागत (अतिरिक्त पैदावार के कारण अतिरिक्त लागत) से अधिक होगी। **विस्तार की सीमा तब आ पहुचेगी जब सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के वरावर होगा।** ऐसे आकार की फर्म को अनुकूलतम फर्म (optimum firm) कहते है।

सबसे वडी कठिनाई व्यवस्था (managerial) सम्वन्धी है। एक उद्यमी चाहे जितना योग्य हो, उन समस्याओ को सफलतापूर्वक नही सुलझा सकता जो पेचीदापन की सीमा से अधिक हैं। यही कारण है कि व्यापार का असीमित रूप से विस्तार नही किया जा सकता। एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जवकि साहसी को यह ज्ञात होगा कि उसका कारवार उसकी प्रवन्ध करने की शक्ति से वाहर हो गया है। तव निरीक्षण प्रभावशाली न रहेगा कपट छल से वचाव करने में लागत बढ जायेगी। आन्तरिक अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे लुप्त हो जायेगी।

५. छोटे पैमाने के उत्पादन से लाभ (Advantages of Small-scale Production)—छोटे पैमाने के उद्योगो से होने वाली कई किफायतें है —(१) यह कहा जा सकता है कि छोटे पमाने पर उत्पादन करने वाले में अधिक चतुराई से प्रवन्ध करने की शक्ति होती है। वह शीघ्र निर्णय तथा तत्काल ही कार्यान्वित की नीति को

अपना सकता है, और बाजार के रुख के अनुसार अपने दाव-पेंच (strategy) अपना सकता है। यहां दायित्व बटा हुआ नही होता।

(२) उसकी अगुआई (initiative) दैनिक कार्यों (routine) तथा उत्तरदायित्व से नष्ट नही हुई है। उसको बही खाते की लम्बी-चौडी पद्धति की और छल-कपट को रोकने के लिए अवरोध की, अथवा श्रम या माल के नाश को कम करने की कोई आवश्यकता नही जैसा कि मार्शल ने कहा है कि "मालिक की आंख हर जगह रहती है।"

(३) श्रमिको से निजी सम्पर्क (personal contact) तथा कभी-कभी दयालुता के शब्द से हडताल या दुर्घटनाओ की सम्भावना कम हो जाती है।

(४) ग्राहको से निजी सम्बन्ध होने के कारण वह सदैव सन्तुष्ट रहते है और इसका फल अच्छा ही होता है।

(५) यदि मांग सीमित तथा परिवर्तनशील (limited and fluctuating) है तो उसको अधिक लाभ होगा।

(६) प्राय वह स्वय अकेला मालिक होता है। प्रबोध निजी-स्वार्थ (enlightened self-interest) उसकी कार्यवाही को प्रोत्साहन देता है।

टैकनीकल ज्ञान के प्रसार से वाह्य किफायतों (external economies) की सख्या में वृद्धि होती है और आन्तरिक किफायतें (internal economies) कम होती है। इससे छोटे निर्माता को फायदा होता है। इसके अलावा, जहा व्यापार को दैनिक-कार्यों (routine) तक ही सीमित नही रखा जा सकता, छोटे उत्पादक को वडे उत्पादक की अपेक्षा फायदा रहता है।

छोटे पैमाने का व्यापार अपने को कैसे बनाए रखता है—छोटे पैमाने के व्यापार में होने वाले फायदो के कारण यह वडे पैमाने के व्यापार से सफऌतापूर्वक टक्कर ले सकता है। इसके अलावा कई हालात ऐसे है जिनमें छोटे व्यापार को कुछ फायदे होते है और सहायता मिलती है, लेकिन वडे पैमाने के उत्पादन को किफायत नही होती। जब किसी वस्तु की माग कम और सही होती है तो व्यापार का विस्तार ठीक नही है। इन कारणो से यह स्पष्ट है कि कई वस्तुओ की निकासी सीमित है। सबसे पहले भोगोलिक सीमाओ (geographical limitations) को ही लीजिये। सम्भव है अमुक वस्तु की मांग खास तौर पर स्थानीय (local) ही हो। छोटी फर्मों से स्थानीय माग किफायत से पूरी हो सकती है। इसी भाति कम जनसख्या वाले नगरो मे छोटी तथा विस्तृत इकाइयो में उत्पादन करना अधिक लाभप्रद होगा। यदि बाजार तथा पूर्ति के स्रोत (market and sources of supply) एक ही जगह पर हो ताकि उपभोक्ता तथा उत्पादक एक दूसरे से निकट सम्पर्क मे हो, उदाहरणार्थ जैसा कि दूध की पूर्ति में होता है तो ऐसे स्थान पर छोटी व्यवसाय-सस्था अधिक किफायती होती है। इस प्रकार एक छोटी व्यवसाय-सस्था को दूरी से आश्रय मिलता है। व्यवसाय-संस्था का विस्तार बाजार के प्रतिरोध (resistance of market) से रुकता है, विशेषत. यदि परिवहन की लागत ऊची है।

भौगोलिक सीमाओ के अतिरिक्त बाजार मनोवैज्ञानिक कारणो (psychological factors) से भी सीमित रहता है। उपभोक्ता की अपनी पसन्द (preference) होती है जोकि प्रयोग में लाये जाने वाले पदार्थों की वास्तविक अथवा काल्पनिक श्रेष्ठता पर आधारित है। इस प्रकार यह केवल दूरी ही नही जो बाजार को नष्ट करती है परन्तु ग्राहक के पक्षपात, रुचि तथा स्वभाव पर भी प्रभाव डालती है। यह हर व्यवसाय-सस्था को स्वरक्षित ग्राहक देती है। बाजार के इस प्रतिरोध को हटाने के लिए महगे प्रचार की जरूरत पडती है।

भौगोलिक रुकावटो को हटाने के लिए शाखायें स्थापित करके तथा मनोवैज्ञानिक रुकावटो को उत्पादन की किस्मो की सीमा में विस्तार करके विजय प्राप्त की जा सकती है। परन्तु ये उपाय न तो सदा सम्भव हैं और न मितव्ययी हैं क्योकि इनका टकराव प्रबन्ध सम्बन्धी रुकावटो से होता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि खेती जैसे निष्कर्षक उद्योगो (extractive industries) की इकाई निर्माण उद्योगो (manufacturing industries) की अपेक्षा छोटी होती है। इसी प्रकार ऐसे रोजगार में जैसे मरम्मत करना, वस्त्रो, जेवरो का बनाना आदि, जहा व्यक्तिगत रुचि का महत्त्व है और जहा प्रमाणीकरण (standardisation) सम्भव नही है, जहा गुण के विचार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा फैशन महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है, एक छोटा व्यवसाय बडे की तुलना में अच्छा चल सकता है। उन उद्योगो में जहा कि लागत लेखा (cost accounting), वैज्ञानिक व्यवस्था, तथा दफ्तर की प्रचलित सामग्री की पद्धति का लाभ नही उठाया जाता, एक छोटा व्यवसाय बडे व्यवसाय से सरलतापूर्वक बाजी मार सकता है। यही कारण है कि खेती साधारणत छोटे पैमाने पर की जाती है। ईंट जैसी भारी वस्तुओ में भी जिनको एक जगह से दूसरी जगह आसानी से नही लाया जा सकता, उत्पादन की इकाई छोटी होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त आधुनिक समय में छोटे उत्पादक को बडे उत्पादक के विरुद्ध खडा रहने में बिजली, सहकारिता (co-operative movement), औद्योगिक पत्रिकाओ के द्वारा वैज्ञानिक तथा औद्योगिक ज्ञान के विस्तार से सहायता मिलती है। ऐसा ज्ञान केवल बडे व्यवसायो का ही एकाधिकार (monopoly) नही है।

उद्यमी की अपनी मनोभावना के कारण भी छोटी व्यवसाय-सस्थाएँ बनी हुई हैं। "प्रयोजनो के सम्मिश्रण के कारण—स्वतन्त्र रहने की चेष्टा अथवा अनिश्चितता, अभिमान अथवा लालसा, अथवा निर्माण करने की प्रेरणा से—वेतन की ऊँची दर पर अधीनस्थ (subordinate) के रूप में काम करने की अपेक्षा कुछ लोग अपना छोटा सा व्यापार ही चालू करना पसन्द करें।"

निर्देश पुस्तकें

Robinson, E A G—The Structure of Competitive Industry, Chs 3—6 and 10.

Robertson—Control of Industry

Benham—Economics.

Indian Journal of Economics, Conference Number 1946 (for location of Industry).

Cairncross—Introduction to Economics, chaps. 6 and 7.

Clark, J M—The Economics of Over-head Costs, chaps. 4, 6.

Cassel, J M—On the Law of Variable Proportions, Explorations in Economics 1936, pp 223-236.

Fraser, L M—Economic Thought and Language (1947), chap 15.

Knight—Concept of Entrepreneur.

Schumpeter, J.—Theory of Economic Development.

D H. Robertson, P Sraffa E A G Robinson and G F. Shove—Symposium on "Increasing Returns" and the "Representative firm" in Economic Journal 1932.

अध्याय १२

विभिन्न साधनो का परस्पर सहयोग

(FACTORS IN CO-OPERATION)

१. साधनो का सयोग (Combination of Factors)—उत्पादन के क्षेत्र में प्रतिस्थापन के सिद्धान्त (principle of substitution) अथवा सम-सीमान्त प्राप्ति (equi-marginal returns) के लागू करने से उत्पादन के साधनों का सही सयोग प्राप्त होता है। ठीक जिस प्रकार प्रतिस्थापन नियम के अनुसार चलकर उपभोक्ता अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम (maximise) कर सकता है, उसी प्रकार प्रतिस्थापन के नियम पर चलकर उद्यमी अथवा उत्पादक अपना लाभ (profit) अधिकतम कर सकता है।

समाज में उत्पादन के सब साधनो का उपयोग उद्योगपति के द्वारा होता है। वह सब साधनो का सयोग किफायत से करने का प्रयत्न करता है। उसका एकमात्र ध्येय लाभ होता है। जिस प्रकार उपभोक्ता अधिकाधिक सन्तुष्टि चाहता है, उसी प्रकार उद्यमी अपने लाभ को अधिकाधिक बढाना चाहता है। जिस प्रकार उपभोक्ता अपने खरीदे हुए माल से अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त करने के लिए उसे इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि सब वस्तुओ की सीमात उपयोगिता समान हो जाय (marginal utilities equalise), उसी प्रकार उद्यमी भी अपने उत्पादन में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए विभिन्न उत्पादक साधनो की सीमात उत्पादन शक्ति को समान करता है। उदाहरणार्थ, यदि एक साधन मशीन की सीमात उत्पादन शक्ति दूसरे साधन श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति से अधिक है, तो वह दूसरे साधन के बजाय पहले साधन की प्रतिस्थापना करेगा। परिणाम यह होगा कि घटते हुए उत्पादन की प्राप्ति का नियम (law of diminishing returns) के लागू होने के कारण मशीन की सीमात उत्पादक शक्ति क्षीण होने लगेगी और श्रम की शक्ति में वृद्धि प्रारम्भ हो जायेगी। यह उस समय तक होगा जब तक कि दोनो की शक्ति समान न हो जाय। इस प्रकार का सयोग उत्पत्ति के साधनो का किफायती सयोग (economical combination) प्रकट करता है।

सबसे अधिक सस्ता व अच्छा सयोग प्राप्त करने के लिए उत्पादक भांति-भांति के सयोगो (various permutations and combinations) की परीक्षा करता है। ऐसा करने में एकमात्र विचारणीय बात विभिन्न साधनो की पारस्परिक कीमतें व कार्यक्षमता होगी। इसके लिए बेन्हम (Benham)[1] ने निम्नलिखित सूत्र बताया है

---

1 Benham Economics, (1940), p 193

यदि $\dfrac{\text{अ साधन का सीमात उत्पादन}}{\text{अ का मूल्य}}$

$\dfrac{\text{व साधन का सीमात उत्पादन}}{\text{व का मूल्य}}$ से अधिक है, तो उद्यमी को उत्पादन की इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग करने मे अधिक लाभ होगा जिसमें अ का अधिक और व का कम प्रयोग हो।

इस विषय में यह वात ध्यान रखने योग्य है कि अधिकतर साधन एक दूसरे से इतने भिन्न होते है कि किसी एक साधन को दूसरे से पूर्णतया प्रतिस्थापित (replace) करना एकदम समव नही होता। साधारणतया होता यह है कि किसी साधन का उपयोग अधिक किया जाता है, किसी का कम। दूसरे शब्दो में, प्रतिस्थापन नियम केवल सीमा (margin) पर ही लागू होता है।

पर प्रतिस्थापन नियम से हम इस निर्णय पर नही पहुचते कि उद्यमी केवल उसी माल का उत्पादन करेगा जिसकी कुल लागत न्यूनतम हो। यदि किसी जूते के कारखाने में १० जोडे जूते प्रतिवर्ष तैयार होते है तो वहुत सम्भव है कि उनकी कुल लागत न्यूनतम हो पर केवल १० जोडे जूते वनाने से उत्पादक को लाभ नही होगा ? उद्यमी को अधिक चिन्ता इस वात की नही होती कि लागत कितनी हुई, उसे तो एकमात्र चिन्ता अपने लाभ को अधिकतम कर लेने की होती है। इसी प्रकार हम इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि उसकी उत्पादन मात्रा इतनी होगी कि जिससे प्रति इकाई औसत लागत न्यूनतम हो। उद्यमी को औसत लागत (average cost) की अधिक चिन्ता नही होती। वह इसमें किसी प्रकार की वृद्धि से नही घवराता यदि उसकी सीमात आय (marginal revenue) सीमात लागत (marginal cost) से अधिक रहे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि उपक्रमी उस समय तक अपने उत्पादन में वृद्धि करता रहेगा जव तक कि सीमात आय व सीमात लागत समान (equalise) न हो जायें। प्रतिस्थापन नियम से तो केवल हमें इस वात का पता चलता है कि उत्पादक जिस वस्तु का उत्पादन करना चाहता है, वह उसे अधिक से अधिक मितव्ययता से उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा। सबसे किफायती सयोग (economical combination) वह होगा जिसमे विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादकताएँ (productivities) समान (equalise) हो जाए।

२. साधनो की व्यवस्थापना (Allocation of the Factors)—उपर्युक्त विभाग में हमने उस सिद्धान्त का अध्ययन किया जिसमें विभिन्न साधन किफायती उत्पादन विधि (economical production process) से मिलते ह। इस विभाग में हम यह देखेंगे कि प्रत्येक साधन को किस प्रकार विभिन्न उपयोगो में लगाया जा सकता है। उत्पादन के साधन वहुत सीमित होते हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि उनकी व्यवस्थापना विभिन्न उद्योगो में इस प्रकार की जाए कि सम्प्रदाय को उनसे अधिकाधिक लाभ हो। इसका अन्तिम निर्णय उपभोक्ता की अपनी पसन्द से होगा।

यदि साधन प्रकृति के उपहार के रूप में है तो उसे दूसरे साधनो के साथ इस प्रकार

मिला लिया जाएगा कि इसकी सीमात उत्पादकता शून्य (zero) हो जाये। क्योकि इस पर व्यय कुछ नही होता इसलिए इसका उपयोग तव तक होगा जव तक कि इससे थोडी सी भी सहायता मिलती रहेगी अथवा अतिरिक्त उत्पादन शून्य हो जाए।

पर वास्तविकता यह है कि वहुत कम साधन उपहार-स्वरूप (free) होते हैं। चूकि प्रत्येक साधन की कुछ न कुछ कीमत देनी ही पडती है, इसलिए किमी का भी उपयोग उस सीमा तक नही होगा जहा पर उसकी सीमात उत्पादकता शून्य के वरावर हो जाए। प्रत्येक दुर्लभ साधन (scarce factor) की विभिन्न उद्योगो में इस प्रकार व्यवस्थापना होती है कि हर उद्योग में जिसमें कि उसका प्रयोग हुआ हो उसकी सीमान्त उत्पादकता वरावर रहे। यदि इस्पात उद्योग में श्रम की सीमात उत्पादन शक्ति शक्कर के उद्योग की अपेक्षा अधिक है, तो शक्कर के उद्योग से हटकर श्रम इस्पात के उद्योग में चला जायेगा। परिणाम यह होगा कि दोनो उद्योगो में श्रम का सीमात उत्पादन समान हो जायेगा। इसी प्रकार यदि कपास की अपेक्षा गन्ने की खेती से अधिक लाभ होता है तो कपास की कुछ भूमि गन्ने की खेती के उपयोग में आने लगेगी। और यह विकर्षण (diversion) उस समय तक चलेगा जव तक कि दोनो में भूमि की सीमात उत्पादकता समान न हो जायेगी।

इस प्रकार जव तक एक प्रकार के उद्योग से हटाकर दूसरे उद्योग में किसी साधन का वैकल्पिक (alternative) उपयोग नही होता तव तक उनका वटन (allocation) निर्जीव रहेगा। ऐसा तभी होगा जवकि प्रत्येक दशा में सीमान्त प्राप्ति (marginal return) समान हो। जब तक यह समान नही होगा हेर-फेर होता ही रहेगा। जब किसी साधन के सीमात उत्पादन का मूल्य हर उद्योग में समान होता है तभी उसकी व्यवस्थापना पूर्णतया ठीक होती है। दूसरे शब्दो में किसी साधन की समता की स्थिति (equilibrium situation) तव आती है जव सम्प्रदाय के लिए प्रत्येक उद्योग में उसके सीमात उत्पादन का मूल्य समान होता है।[1]

३ प्राप्ति के नियम (Laws of Returns)—उत्पादन के साधनो के सयोग (combination) का उन नियमो (laws) पर बडा प्रभाव होता है जिनके अधीन कोई उद्योग हो। अर्थशास्त्री प्राप्ति के तीन नियमो को जानते है, अर्थात् घटती हुई (diminishing), वढती हुई (increasing) तथा समान (constant) प्राप्ति के नियम। "घटती हुई, बढती हुई तथा समान प्राप्ति उस समय कही जाती है, जव सीमान्त प्राप्तिया (marginal returns) चढती (rise), गिरती (fall) तथा अपरिवर्तित (unchanged) रहती हैं" जैसे-जैसे उत्पादन के साधन की मात्रा (quantity) बढती है। लागत (cost) के रूप में, अमुक उद्योग वढती, घटती तथा समान प्राप्ति के अधीन उत्पादन की सीमान्त लागत के गिरने, चढने तथा समान रहने के अनुकूल होता है। ऐमा उद्योग के विस्तार के क्रमानुसार होता है। अव हम प्रत्येक के सम्वन्ध में कुछ विचार करते हैं।

---

1 Benham Economics

४. घटती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Returns)—कृषि मे घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। केयरनेस (Cairnes) के कथनानसार यदि यह नियम लागू न हो तो "अर्थशास्त्र इस प्रकार पूर्णत परिवर्तित हो जायेगा जैसे कि मानव स्वभाव स्वय परिवर्तित हो गया हो।" इतना अधिक महत्व घटती हुई प्राप्ति के नियम का अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो में है।

प्रत्येक कृषक का यह व्यावहारिक अनुभव है कि "**एक निर्धारित भूमि में पूजी तया श्रम के क्रमशः प्रयोग से, यदि अन्य वस्तुएं उसी अवस्था में रहे, तो अन्त में उत्पादन वृद्धि अनुपात से कम होगी।**" यदि पूजी और श्रम को दुगुना करने पर, वह उत्पादन को भी दुगना कर सके तो यह स्पष्ट है कि केवल एक एकड भूमि से उतना गेहू पैदा किया जा सकता है जितना कि सम्पूर्ण विश्व की जन-सख्या के लिए आवश्यक हो। परन्तु ऐसा नही हो सकता क्योकि घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जाता है। यदि लागत बढा दी जाय तो इसमें सदेह नही कि उत्पादन वढेगा परन्तु घटती हुई दर से।

घटती हुई प्राप्ति के नियम की सीमाएं—क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम सदैव लागू नही होता। इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद है—(i) **कृषि के उन्नत उपाय**—उत्पादन कला में प्रगति से मानव की कल्पना-शक्ति इस नियम की प्रतिक्रिया के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है। वैज्ञानिक रीति से फसलो का हेर-फेर (rotation), अच्छे बीज, कृषि के आधुनिक यन्त्र, कृत्रिम खाद (artificial manures) और सिंचाई (irrigation) के अच्छे तथा सुगम साधन आदि से आवश्यक उपज अधिक होगी। परन्तु विज्ञान खाद्य पदार्थ की वढती हुई माग की पूर्ति नही कर सकता। अन्त में प्रकृति का कोप होगा ही और कभी-न-कभी नियम अवश्य ही लागू होगा।

(ii) **नई मिट्टी (New Soil)**—जब बिना जुती हुई भूमि कृषि के अन्तर्गत आती है तब क्रमश बढाई हुई श्रम और पूजी की मात्रा के कारण कुछ समय के लिए सीमात उपज वढ सकती है। परन्तु कुछ सीमा के बाद घटती हुई प्रवृत्ति स्पष्ट होगी।

निम्नलिखित तालिका पर विचार कीजिए—

५० एकड़ खेत द्वारा गेहूं की उपज (मनों में)

१ श्रमिको की सख्या	२ कुल उपज	३ सीमान्त उपज	४ औसत उपज
१	८०	८०	८०
२	१७०	९०	८५
३	२७०	१००	९०
४	३६८	९८	९२
५	४३०	६२	८६
६	४८०	५०	८०
७	५०४	२४	७२
८	५०४	०	६३
९	४९५	—९	५५
१०	४७०	—२५	४७

इस तालिका से ऐसा प्रतीत होता है कि घटती हुई प्राप्ति (उपज) नियम के तीन भिन्न सामान्य विचार अथवा पहलू हैं—

(१) **घटती हुई कुल प्राप्ति का नियम** (Law of Total Diminishing Returns)—(स्तम्भ न० २) इस तरह नवें श्रमिक से उपज घटनी प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्येक क्रमश लगाया हुआ श्रमिक उपज में कुछ वृद्धि करता है। किन्तु आठवा कुछ वृद्धि नही करता तथा नवें और दसवें स्पष्ट रूप से व्यर्थ है। क्योकि मनुष्य बिना मूल्य के नही मिल सकते इसलिए कोई वृद्धिमान किसान इस तालिका के द्वारा प्रस्तुत दशाओ में सात श्रमिको से अधिक नही लगायेगा।

(२) **घटती हुई सीमात प्राप्ति का नियम** (Law of Diminishing Marginal Returns)—(स्तम्भ न० ३) सीमान्त उपज तीसरे श्रमिक तक बढती जाती है। ऐसा इसलिए है कि श्रमिको का भूमि से अनुपात पहले अपर्याप्त था और भूमि पूर्णत नही जोती गई थी। कृषि की यह स्थिति अस्थायी है और यह व्यवहार में नही पाई जायेगी। यदि किसान जानता है कि श्रमिको की सख्या बढाने से उपज समानुपात से अधिक बढेगी तो वह अवश्य ही ऐसा करेगा। सीमान्त अर्थात् अतिरिक्त उपज तीसरे श्रमिक के बाद घटती चली जाती है और आठवें पर शून्य हो जाती है। नवें तथा दसवें श्रमिक दूसरो के लिए केवल बाधा के कारण है तथा सीमान्त उपज को ऋणात्मक (negative) बनाने के उत्तरदायी हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि सीमात उपज उस अतिम मनुष्य द्वारा उपज से नही है जिसकी नियुक्ति केवल उचित ही समझी जाती है क्योकि सब मनुष्य एक से माने जाते हैं। सीमान्त उपज केवल वह वृद्धि (addition) है जो सीमान्त श्रमिक कुल उपज के लिए करता है।

(३) **घटती हुई औसत प्राप्ति का नियम**—(स्तम्भ न० ४) औसत उपज (average return) चौथे श्रमिक पर अधिकतम सीमा पर पहुचती है अर्थात् सीमान्त उपज के अधिकतम होने के एक सख्या बाद, इसके बाद सीमात उपज और शीघ्रता से घटती है। दोनो चौथे तथा पाचवे के मध्य में किसी स्थान पर समान होगी अर्थात् जब पाचवा आशिक समय तक काम करता है। किन्तु हम वास्तविक जीवन में मनुष्यो को भागो में नियुक्त नही करते हैं। अतएव सीमान्त तथा औसत उपजो को हमेशा समान करना सम्भव नही होता है। यह भी स्पष्ट है कि जब सीमान्त उपज घटती है, तो औसत उपज में वृद्धि सम्भव है।

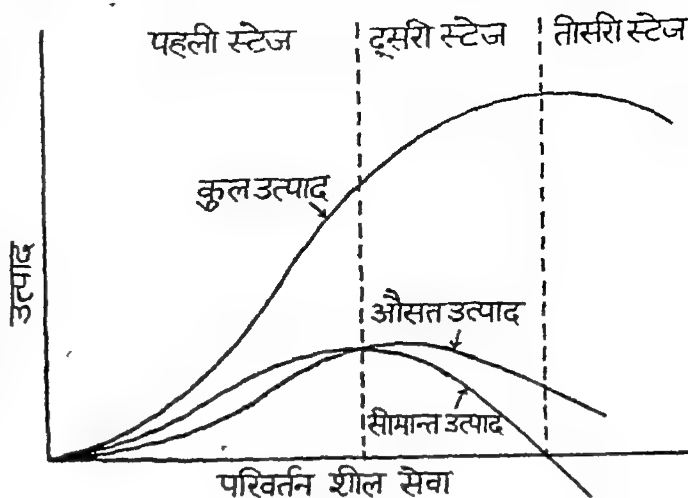
रेखाचित्र की सहायता से इस नियम को इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है[1]—

कुल उत्पाद (अर्थात् उपज) बढकर अधिकतम (maximum) हो जाती है जबकि यह तीसरी स्टेज पर पहुच जाती है। सीमान्त उपज सबसे पहले अधिकतम पर पहुचती है और पहले घटनी शुरू हो जाती है (अर्थात् पहली स्टेज पर)। औसत उपज उसके

---

1 This diagram is taken from Stigler Theory of Price (1947), p 123

बाद घटनी शुरू होती है, अर्थात् जहा दूसरी स्टेज शुरू होती है। यह स्थिति उपर्युक्त तालिका का ही रेखा- चित्र के रूप में निरू- पण है। स्पष्ट है कि कोई भी समझदार उद्यमी तीसरी स्टेज में, जहा सीमान्त उत्पाद शून्य है, काम नही करेगा, जब तक कि परिवर्तन-शील-साधन (variable factor) स्वतन्त्र है। आर्थिक दृष्टि से दूसरी स्टेज महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जहा औसत उत्पाद सीमान्त उत्पाद से अधिक है जो अब भी क्रियात्मक (positive) है।



रेखाचित्र न० २३

नियम गहन तथा विस्तृत दशाओं में (The Law in the Intensive and Extensive Forms)—जब तक अतिरिक्त उपज का मूल्य खेती के व्यय से अधिक होता है, किसान और निम्न श्रणी की भूमि लेता चला जाता है। वह खेती के विस्तार को आगे बढाना बन्द कर देगा जबकि अतिरिक्त आय (सीमान्त आय) अतिरिक्त व्यय (सीमान्त लागत) के बराबर हो जाएगी। यह भूमि खेती के ठीक उपयुक्त है तथा सीमान्त भूमि कहलाती है। **विस्तृत दशा में घटती हुई प्राप्ति का नियम** उस समय लागू होता है जबकि जताई निम्न श्रेणी की भूमि तक बढाई जाती है और उपज हर बार घटती चली जाती है। किन्तु जब किसान भूमि के एक ही टुकडे में अधिक-से-अधिक श्रम तथा पूजी की मात्रायें लगाता जाता है तो प्रत्येक मात्रा के लगाने से उत्पादन क्रमश. समानुपात से कम प्राप्त होगा। यह घटती हुई प्राप्ति के नियम का गहन रूप (intensive form) है। वह और अधिक मात्राओ का प्रयोग बन्द कर देगा। जब अतिरिक्त व्यय प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय के बराबर होता है तो आखिरी मात्रा, जिसका प्रयोग बस उचित ही समझा जाता है सीमान्त मात्रा कहलाती है। विस्तृत दशा मे श्रम तथा पूजी पर भूमि का अनुपात बढाया जाता है और गहन दशा में भूमि पर श्रम तथा पूजी का अनुपात बढाया जाता है।

इसे महत्त्व देना उचित है कि इस विषय में यह माना जाता है कि **उत्पादन मूल्य में नहीं वरन् मात्रा में मापी जाती है**। यह हो सकता है कि अतिरिक्त उपज तो घट गई हो किन्तु कीमत बढने से इसका मूल्य अधिक हो।

इस नियम की काट कैसे की जाय? (How to Counteract the Law?)—कोई भी वस्तु जो भूमि की कोटि या शक्ति को बढाती है और इसकी उपज मे वृद्धि कर है अथवा कोई वस्तु जो **उपज के मूल्य में** वृद्धि लाती है, नियम के सचालन को रोकेगी।

आधुनिक यन्त्रो का प्रयोग, मिट्टियो तथा खादो का बुद्धिमानी से मिश्रण, बीज को होशियारी से चुनना और उचित बोआई, गहरी-से-गहरी जुताई तथा यथेष्ट सिंचाई की सुविधाओ का प्रबन्ध आदि से हम इस नियम की काट कर सकते हैं। सक्षेप में **वैज्ञानिक कृषि घटती हुई प्राप्ति के नियम के सचालन को रोक सकती है।**

खेती के अलावा, यह नियम निष्कर्षक उद्योगों (extractive industries) जैसे खनन (mining), मीन क्षत्र (fisheries) तथा भवन निर्माण उद्योगों में भी लागू होता है। यह नियम तब लागू होता है जब खनन के काम को रद्दी, दूर अथवा गहरी खानो तक फैलाया जाता है। जब मछली पकड़ने का काम एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया जाता है और जब एक ही भवन पर कई मजिले बनाई जाती हैं।

यह नियम विशेष रूप से कृषि पर क्यों लागू है? (Why the Law Specially Applies to Agriculture?)—घटती हुई प्राप्ति का नियम कृषि तथा अन्य निष्कर्षक उद्योगो में लागू होता है। इन सब उद्योगो में प्रकृति का प्रभुत्व समान है। **अतएव यह प्राय कहा जाता है कि उत्पादन में प्रकृति का जितना भाग है उसमें घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है और मनुष्य का जितना भाग है उसमें बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।** इससे परिणाम यह निकलता है कि कृषि में, जिसमें प्रकृति प्रधान है, घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है, जबकि उद्योग में, जिसमें मनुष्य प्रधान है, बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

कृषि में घटती हुई प्राप्ति के नियम लागू होने के कई कारण हैं। कृषि-सम्बन्धी कार्य एक विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं और उनकी उचित देखभाल नही हो सकती। मशीन के प्रयोग में विशिष्टीकरण का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। अतएव बड़े पैमाने के उत्पादन की किफायतें नही प्राप्त हो सकती। इस उद्योग के मौसमी होने के कारण और भी सीमायें उत्पन्न होती हैं। कृषि-सम्बन्धी कार्यों में वर्षा तथा अन्य जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तनो द्वारा बाधा पड़ने की सभावना है। मनष्य प्रकृति का पूर्ण स्वामी नही है और कोई आश्चर्य नही कि कृषि मे घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

इसी प्रकार यह प्रतीत हो सकता है कि शिल्प-उद्योगो में बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो। इसमें मनुष्य की युक्ति के प्रयोग के लिए अधिकतम क्षेत्र है। श्रम-विभाजन तथा पूर्णत आधुनिक यन्त्रो के प्रयोग के प्रचार से उत्पादन कल्पना से परे सीमा तक बढाया जा सकता है। एक स्थान पर श्रमिको के केन्द्रित होने से देखभाल आसान तथा प्रभावशाली हो जाती है। प्रकृति के दूषित प्रभाव निरन्तर अलग कर दिये जाते हैं। मनुष्य योजना बनाने, उसे प्रारम्भ करने तथा चलाने में स्वतन्त्र है। वह सब आन्तरिक और बाह्य मितव्ययतायें (economies) प्राप्त कर सकता है।

परन्तु यह कहना भी अनुचित है कि कृषि में सदैव घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है और शिल्प उद्योगो में बढती हुई प्राप्ति का नियम। घटती हुई प्राप्ति का नियम हर जगह लागू होता है। विकस्टीड के शब्दो में "यह नियम स्वय जीवन के नियम की भाति सब जगह लागू है।" इसका प्रयोग कृषि में ही सीमित नही है, यह शिल्प उद्योगो में भी लागू होता है। यदि उद्योग बहुत विस्तृत कर दिया जाय और स्थूल हो

जाय, तो उसकी देखभाल ढीली हो जायेगी और व्यय बढ जायेगा। घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जायेगा। अन्तर केवल इतना ही है कि कृषि में यह जल्दी लागू होता है जबकि उद्योग में बहुत बाद में। यह हो सकता है कि एक बद्धिमान उद्योगपति यह दशा आने ही न दे। प्रारम्भ में कृषि में भी वृद्धि होती है। अतएव दोनो नियम निष्कर्षक-सम्बन्धी तथा शिल्प-उद्योग-सम्बन्धी सब प्रकार के उद्योगो मे लागू होते है। वास्तव में वे एक ही नियम के दो रूप है जिसे अनपाती नियम (Law of Proportionality) भी कहा जाता है।

५. सामान्य रूप मे घटती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Returns in a General Form)—इङ्गलैण्ड के प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियो के समय से घटती हुई प्राप्ति के नियम के भूमि के सम्बन्ध में विवेचन ने इसके वास्तविक महत्त्व को ढक दिया है। कृषि के विषय में कोई विशेषता नही है जिसके कारण नियम को केवल इसी से सम्बद्ध किया जाय। वास्तव में उन्नतिशील देशो में वैज्ञानिक विधि की कृषि ने इस नियम को नही के बराबर कर दिया है। यह इससे स्पष्ट है कि जबकि जीवन-स्तर के बढने से खाद्य के उपभोग में वृद्धि हुई है, खाद्य के उत्पादन में लगे हुए व्यक्तियो की सख्या वास्तव में कम हो गई है।

यथार्थता यह है कि नियम कृषि में ही नही लागू होता। इसका सामान्य प्रयोग होता है और इसलिए इसको सामान्य रूप दिया जा सकता है। घटती हुई प्राप्ति का नियम केवल साधनो के मिश्रण के सिद्धान्त की ओर सकेत करता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि यदि एक परिवर्तनशील साधन (variable factor) कुछ स्थायी साधनो (constant factors) से मिलाया जाय, तो उस परिवर्तनशील साधन की औसत तथा सीमान्त उपज गिर जायेगी। बेन्हम ने इस नियम को इस प्रकार बतलाया है. "एक सीमा (point) के बाद यदि साधनो के एक अश को दूसरे साधनो के सयोग से बढाया जाय तो इससे उस साधन का औसत तथा सीमान्त उत्पाद घट जायेगा।" यह इस कारण से है कि सयोग साधनो के एक उचित अनुपात को नही दिखाता। दूसरो की तुलना में एक साधन अत्यधिक हो जाता है। जब साधनो के बीच उचित सतुलन स्थापित हो जायेगा तब घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू नही होगा।

यह नियम इसलिए लागू होता है कि उत्पादन के साधन सीमित है। चैपमैन के शब्दो में "यदि अन्य बातें समान रहें, तो एक उद्योग का विस्तार शीघ्र ही अथवा अन्त में घटती हुई प्राप्ति के नियम के अवश्य ही साथ चलेगा यदि उत्पादन में किसी एक साधन की जो अनिवार्य है अधिक पूर्ति न प्राप्त हो सकती हो।"

यदि हम जरा ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि घटती हुई प्राप्ति का नियम इस कारण लागू होता है कि उत्पादन के साधन एक दूसरे का पूर्ण रूप से प्रतिस्थापन (substitution) नही कर सकते। श्रीमती जोन राबिन्सन ने इस बात पर उचित प्रकाश डाला है।[1] श्रीमती राबिन्सन के शब्दो में "घटती हुई प्राप्ति का नियम यह बताता है कि उत्पादन के एक साधन को दूसरे के लिए प्रतिस्थापन (substitute) करने की

---

1 Robinson, Joan—The Economics of Imperfect Competition (1945), p 330.

मात्रा की एक सीमा है । अथवा, दूसरे शब्दो में हम कह सकते है कि साधनो के बीच प्रस्थापना की लचक (elasticity) असीम (infinite) नही है। यदि यह सच नही होता तो जब उत्पादन का एक साधन राशि (amount) में निश्चित होता है और बाकी की सप्लाई पूरे तौर पर लचकदार होती है—पैदावार (output) के भाग को निश्चित साधन की मदद से पैदा करना सभव होता। और इसके बाद, जब इस साधन तथा दूसरे साधनो के बीच अनुकूलतम अनुपात (optimum proportion) स्थापित हो जाता तो इसके (इस साधन के) स्थान पर कोई अन्य साधन प्रतिस्थापित करके और पैदावार को स्थिर लागत (constant cost) पर बढाया जा सकता था। इस प्रकार घटती हुई प्राप्ति का नियम यह बताता है कि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक विभिन्न तत्त्वो (elements) को ग्रुपो में बाट लेना चाहिये जिससे प्रत्येक ग्रुप इस रूप में उत्पादन का साधन बने कि परस्पर साधनो के बीच की प्रतिस्थापना की लचक असीम से कम रह जाए।"

घटती हुई प्राप्ति के नियम का अर्थ है बढती हुई लागत का नियम। ऐसा मानने पर, यह मालूम होता है कि कुछ साधनो को बढी हुई मात्रा में लागू करने से, जबकि दूसरे स्थिर (constant) है, पैदावार प्रति इकाई अधिक लागत पर तैयार होगी। आप कुछ भी मान सकते हैं कि या तो प्राप्ति घटती जाती है अथवा लागत बढती जाती है। ये दोनो बातें समान है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि घटती हुई प्राप्ति का नियम उत्पादन के साधनो का अधिकतम कार्यपट सयोग (maximum efficient combination) बताता है। यह ऐसा सयोग है जिससे उच्चतम प्राप्ति (highest return) मिलेगी। हम किसी व्यक्ति को अधिक बीघे जमीन देकर अर्थात् भूमि को बेकार करके बढती हुई प्राप्ति कर सकते है। इसी भाति श्रम तथा जन बेकार करके प्रति एकड बढ़ती हुई प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु यह अर्थशास्त्र की बात नही है। इस प्रकार बढती हुई प्राप्ति की ओर किसी भी प्रयास का अर्थ है कि स्रोतो का कुछ क्षय होगा ही और साधनो के अधिकतम आर्थिक सयोग से हटना पडेगा। सही सयोग में प्रत्येक साधन को दूसरे साधनो से ऐसे अनुपात में मिलाया जायेगा कि यदि इसको (इस साधन को) अकेले बढाया जाता तो इसका औसत उत्पाद घट जायेगा। इसी तरह वह बिन्दु जहा से घटती हुई प्राप्ति शुरू होती है, यह बताता है कि यही अत्यधिक कार्यपटु सयोग है।

६. आर्थिक सिद्धान्त मे घटती हुई प्राप्ति के नियम का महत्त्व (The Importance of the Law of Diminishing Returns in Economic Theory)—घटती हुई प्राप्ति का नियम प्रतिष्ठित अग्रेज अर्थशास्त्रियो विशेषत माल्थस तथा रिकार्डो द्वारा बनाये हुए अनेक आर्थिक सिद्धान्तो का आधार बन गया है। इसको प्रकृति का निष्ठुर नियम कहा गया था। इसके कारण अर्थशास्त्र में बहुत से निराशावादी विचार हुए जिससे इसको निकृष्ट विज्ञान (dismal science) कहा गया। माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त जिसके अनुसार जनसख्या खाद्य-पदार्थो से अधिक शीघ्रता से बढती है, स्पष्ट रूप से इस यथार्थता पर निर्धारित है कि खाद्यो के

उत्पादन में घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त (theory of rent) यह स्पष्ट करता है कि लगान इस कल्पना पर निश्चित होता है कि नीची श्रेणी की भूमि पर कृषि घटती हुई प्राप्ति के नियम के लागू होने के कारण की जाती है। कृषि की सीमा गिरती जाती है और लगान वढता जाता है। व्यवसाय के अनुकूलतम आकार (optimum size) का आदर्शरूप भी इस सिद्धान्त के सचालन से स्पष्ट किया जाता है। मल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त तथा सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त जो राष्ट्रीय लाभाग (national dividend) में उत्पादन के एक साधन का हिस्सा निश्चित करता है, इस आवश्यक नियम के संचालन पर आधारित है। अस्तु, घटती हुई प्राप्ति का नियम आर्थिक विचार-धारा में एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

७. वढती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Increasing Returns)—यदि उद्योग में किसी प्रकार के अतिरेक विनियोग (investment) के फलस्वरूप अनुपात से अधिक उत्पादन होने लगे अथवा यदि सीमान्त उत्पाद में वृद्धि हो जाय तो ऐसा वढती हुई प्राप्ति के नियम के अन्तर्गत होता है। लागत की दृष्टि से वढती हुई प्राप्ति के नियम के लागू होने पर उद्योग के विस्तार से सीमात उत्पादन लागत में कमी हो जाती है। क्योकि सीमात लागत किसी वस्तु की कीमत प्रकट करती है, अतएव जिस उद्योग में वढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है उसमें उद्योग के विस्तार के साथ-साथ वस्तु की कीमत गिरती जाती है।

हम देख चुके है कि यदि उत्पादन का रूप वढा दिया जाय तो वडे लाभ उठाये जा सकते है। श्रम व मशीन के विशिष्टीकरण व दूसरी वाणिज्यिक तथा विविध सुविधाओ के कारण उत्पादन की लागत में कमी हो जाती है और ऐसी दशा में वढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

वडे पैमाने के उत्पादन की किफायतो में जो कम कीमत पर अधिक उत्पाद में सहायक होती है वे ये ह[1]—(i) अमानवीय तथा अपाशविक शक्ति स्रोत [जैसे जल तथा पवन शक्ति, स्टीम (भाप), विजली, आन्तरिक अण शक्ति], (ii) ऑटोमैटिक स्वयं-व्यवस्थापक मशीन यत्र, (iii) स्टैंडर्ड, वदल सकने योग्य पार्ट्स का उपयोग, (iv) जटिल विधि के स्थान पर सादे पुनरावृत्ति वाले कार्य अपनाना; (v) श्रम-विभाजन के कार्यों का विशिष्टीकरण, तथा (vi) दूसरे अन्य टेकनोलॉजिकल साधन।

जव किसी आवश्यक साधन की कमी हो जाती है तो उद्योग घटती हुई प्राप्ति के नियम के प्रभाव में आ जाता है। पर यदि उद्योग के विस्तार के समय उत्पादन सम्वन्धी सव साधन आवश्यक मात्रा में प्राप्त हो तो वढती हुई प्राप्ति का नियम अवश्य लागू होगा। "यदि उत्पादन सम्वन्धी साधनो की कमी न हो तो, सव वातें समान रहने पर, किसी उद्योग के विकास के साथ-साथ वढती हुई प्राप्ति का नियम प्रारम्भ हो जाता है।"[2]

---

1. Samuelson, P.A.—Economics (1948), p. 21
2. Chapman, op cit p. 102.

जब साधनों का संयोग अनुचित अनुपात में होता है तो घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। जब हम संयोग को सही करने का प्रयास करते हैं तो बढती हुई प्राप्ति उस समय तक होगी जब तक संतुलन (balance) पूरी तौर पर वापस नही आ जाता।

अविभाज्यता के सिद्धान्त (concept of indivisibility) का भी बढते हुए प्राप्ति के नियम से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार मान लीजिये एक निर्माता व्यवसायी ने अधिकाधिक माग को पूरा करने की दृष्टि से एक मशीन लगाई। परन्तु वास्तव मे वह मशीन अपनी शक्ति से कम मात्रा में उत्पादन करती है। ऐसी दशा में यदि किसी दूसरे साधन (factor) में अथवा साधनो में वृद्धि कर दी जाय, तो इस अविभाज्य मशीन का अधिक समुचित उपयोग होगा और फलस्वरूप बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जायेगा।

इन दोनो नियमो अर्थात् बढती तथा घटती प्राप्ति (returns) की व्याख्या अनुकूलतम व्यापारिक इकाई (optimum business unit) के रूप में भी हो सकती है। जब हम अनुकूलतम की ओर चल रहे हैं तो हमें बढती हुई प्राप्ति (increasing returns) की और जब हम अनुकूलतम से दूर को चल रहे हैं तो हमें घटती हुई प्राप्ति की अवस्था होगी।

८. स्थिर प्राप्ति का नियम (Law of Constant Returns)—जब किसी उद्योग मे चाहे कैसा भी उत्पादन किसी भी माप में हो पर प्रति इकाई लागत में कोई परिवर्तन नही होता, *तब उस समय स्थिर प्राप्ति नियम लागू होता है।* श्रम व पूंजी के विनियोग में वृद्धि के बाद भी यदि उत्पादन की वृद्धि समानुपात के अनुसार हो तब उस उद्योग में स्थिर प्राप्ति नियम लागू होता है।

मार्शल का विश्वास है कि उद्योग को प्रकृति सदैव घटती हुई प्राप्ति की ओर ले जाती है व मनुष्य को बढती प्राप्ति की ओर। यही कारण है कि कृषि मे जहा प्रकृति का भाग प्रमुख होता है घटती प्राप्ति होती है पर उद्योग-धन्धो में जहा बाह्य शक्तियो से विचलित हुए बिना मनुष्य अपनी बुद्धि की शक्ति द्वारा कार्य करता है, बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। यह भी सम्भव है कि कोई उद्योग ऐसा हो जहाँ न तो बढती हुई प्राप्ति का नियम और न घटती हुई प्राप्ति का नियम ही लागू हो बल्कि स्थिर प्राप्ति नियम हो।

किसी ऐसे उद्योग का उदाहरण लीजिये जिसमें कच्चे मालो की (जो प्रकृति के भाग को प्रकट करते हैं) लागत का अनुपात उतना ही है जितना कि माल तैयार करने की लागत का अनुपात है। प्रत्येक उद्योग में दो विभिन्न प्रवृत्तिया काम करती हैं। जब उद्योग का विस्तार होता है तो कुछ व्यय बढ जाते हैं, कुछ कम हो जाते हैं। यह हो सकता है कि कोई ऐसा उद्योग हो जिसमे यह दोनो प्रवृत्तियाँ समान हो जायें व स्थिर प्राप्ति हो। इस सम्बन्ध में कभी-कभी प्राकृतिक शुद्ध ऊन से कम्बल बनाने के उद्योग का उदाहरण दिया जाता है। यह कहा जाता है कि इस उद्योग मे कच्चा माल (ऊन) घटती हुई प्राप्ति के नियम से प्रभावित होता है। पर इसकी कमी माल तैयार करने की सुविधाओ से पूरी हो जाती है, और परिणामस्वरूप स्थिर प्राप्ति नियम लागू होता है।

अनुकूलतम नियम (optimum theory) स्थिर प्राप्ति नियम की कार्यप्रणाली

को समझाने में हमारी सहायता कर सकता है। हम देख चुके है कि अनुकूलतम उत्पादन की प्रवृत्ति में बढती हुई प्राप्ति का नियम होता है व उससे विपरीत प्रवृत्ति में घटती हुई प्राप्ति का नियम, पर यदि हम अनुकूलतम (optimum) को पालें, तो ऐसा चाहे कितना ही थोडे समय को क्यो न हो, स्थिर प्राप्ति नियम लागू होगा।

६. अभिनवीकरण (Rationalisation)—अभी तक हमने व्यक्तिगत कारखानो की दृष्टि से साधनो के सगठन का अध्ययन किया, अब हम उद्योग को सम्पूर्ण मानकर उसका अध्ययन करेंगे। अभिनवीकरण उद्योग के सर्वोत्तम सगठन को कहते हैं।

१९१४-१८ के महायद्ध के बाद बहुत-सी भूमि छिन जाने व युद्ध क्षतिपूर्ति (reparations) की कठिन माग से आहत होने के कारण जर्मनी के सम्मुख अपने उद्योग में पुन निर्माण की समस्या थी। उसकी पुन निर्माण की प्रणाली को अभिनवीकरण कहते हैं। जर्मनी के बाद अभिनवीकरण की लहर दूसरे देशो में भी पहुची।

बालफर के शब्दो में "वास्तव में यह (अभिनवीकरण) टैकनीक (technique) तथा सगठन की रीति है, जिसका उपयोग प्रयास तथा माल की न्यूनतम क्षय द्वारा काम चालू रखना है। इसके साथ ही, श्रम का वैज्ञानिक ढग पर सगठन, मेटीरियल (माल) तथा उत्पाद का प्रमाणीकरण (standardisation), तथा व्यवस्थापन को सरल करना और परिवहन तथा मार्केटिंग की प्रणाली में बाह्य सुधार आदि करना है।"

प्रतियोगी पूजीवाद में स्वाभाविक, आर्थिक शक्तियो के स्वतत्र प्रभाव से समता (equilibrium) की स्थापना होती है। परन्तु इस प्रकार सामजस्य स्थापित करने में कष्ट और त्याग की मात्रा अधिक होती है। अभिनवीकरण के समर्थको का कहना है कि वे इस प्रकार के कष्ट को दूर कर सकते हैं। वे कहते हैं कि उद्योग का सगठन और प्रबन्ध ऐसे वैज्ञानिक ढगो पर किया जा सकता है जिससे इस प्रकार के सकटो का कोई असर न रहे या यदि वह आयें भी तो उनका प्रभाव इतना खराब न हो।

अभिनवीकरण के मुख्य तत्व यह है—आधुनिकीकरण (modernisation), वैज्ञानिक प्रबन्ध (scientific management) व एकीकरण (amalgamation)। उद्योग की हर उत्पादक इकाई मे सबसे आधुनिक मशीनें, प्लाट (plant) तथा दूसरे उपकरण होने चाहिए, जिससे सभी उपकरण बढिया किस्म के हो। अभिनवीकरण के अन्तर्गत पुरानी व टूटी-फूटी मशीनो को हटा देना चाहिए।

पर केवल आधुनिकता (modernisation) ही पर्याप्त नही होती। आधुनिकता के साथ प्रबन्ध भी वैज्ञानिक होना आवश्यक है। अमेरिका मे टेलर (Taylor) द्वारा वैज्ञानिक प्रबन्ध के विचार का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अन्तर्गत समय अध्ययन (time study), गति अध्ययन (motion study) तथा श्रान्ति अध्ययन (fatigue study) है। यह आवश्यक होता है कि कारखानो के कर्मचारियो को न्यूनतम समय में काम करने की सर्वोत्तम ढग की शिक्षा दी जाये।

किसी उत्पादन की प्रत्येक इकाई की अधिकतम कार्यक्षमता सम्पूर्ण उद्योग की समस्याओ का निवारण नही कर देती है। यही नही, इससे हर इकाई के सर्वाधिक उत्पादन

अध्याय १३

उत्पादन के साधनो की गतिशीलता[1]

(MOBILITY OF THE FACTORS OF PRODUCTION)

१ गतिशीलता के भेद (Types of Mobility)—उपभोक्ताओ के अधिमान माप (scale of preference) में किसी भी परिवर्त्तन से उत्पादन क्रिया के प्रवाह में अनुरूप परिवर्तन अवश्य होगा । इस सम्बन्ध में उत्पादन के साधनो की गतिशीलता अत्यन्त सहायक होती है। गतिशीलता से हमारा अभिप्राय केवल भौतिक अथवा भौगोलिक गतिशीलता अर्थात् उत्पादन के साधन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना ही नही होता है। परन्तु गतिशीलता का अभिप्राय एक ही स्थान पर अथवा अन्य स्थान पर एक सावन का वैकल्पिक प्रयोग (alternative uses) से भी होता है। इस अर्थ में गतिशीलता के अर्थ **कार्यगत गतिशीलता, स्थानीय गतिशीलता, तथा औद्योगिक गतिशीलता** है (*i e* between occupation, place and industries)। एक खेत पर गन्ने के स्थान पर कपास की खेती की जा सकती है, यह उद्योग का परिवर्त्तन है परन्तु स्थान का कोई परिवर्त्तन नही है। अहमदाबाद की कपडे की मिल का प्रवन्धक वम्वई की एक मिल का प्रवन्वक हो सकता है। यह स्थान का परिवर्त्तन है, व्यवसाय का नही। वम्वई के अर्थशास्त्र के एक प्राध्यापक दिल्ली के एक वैक के आर्थिक सलाहकार (economic adviser) हो जाते हैं, इसमें स्थान तथा व्यवसाय का भी परिवर्त्तन हो जाता है। एक क्लर्क एक शक्कर के कारखाने से नौकरी छोड कर एक कपडे की मिल में क्लर्क हो जाता है तो वह उद्योग का परिवर्त्तन होता है। इस कारण एक प्रकार की गतिशीलता में अवश्य ही दूसरे प्रकार की गतिशीलता नही होती।

हम उत्पादन के प्रत्येक साधन के सम्बन्ध में गतिशीलता की सीमा का अध्ययन करेंगे।

२ भूमि की गतिशीलता (Mobility of Land)—अर्थशास्त्र में 'भूमि' (land) का अभिप्राय पर्वतो, समुद्रो, नदियो, जलवायु, मिट्टी, वायु, धूप आदि प्राकृतिक साधनो से है। बाध बना कर नदियो के प्रवाह को वदलना तथा पानी को नहरो की ओर ले जाना सम्भव है। परन्तु हमें पर्वतो को उनके स्थान से हटाने में अयनवृत्त सवन्धी (tropical zone) जलवायु को समशीतोष्ण (temperate) जलवायु में परिवर्तित करने में अपनी भूमि को ऐसे भाग में ले जाने में जहा वर्षा अधिक हो अथवा अपने विद्यालय तथा छात्रावास की इमारत को अच्छे स्थान पर हटाने में अपनी असामर्थ्य अवश्य स्वीकार करनी होगी। गतिशीलता

---

१ विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये बेन्हम का अर्थशास्त्र।

के सम्बन्ध में 'भूमि' हमारे प्रयत्नो को रोकती है क्योकि भूमि की भौगोलिक गतिशीलता असभव है।

परन्तु गतिशीलता की केवल यही किस्म नही है जिसको हम जानते हैं। जिस रूप में हमने गतिशीलता की परिभाषा की है उसमें उसका अभिप्राय एक साधन का वैकल्पिक प्रयोगो में लाये जा सकने की सभावना से है। क्या भूमि पूर्णतया विशिष्ट (absolutely specific) नही है। यद्यपि भूमि कुछ मात्रा में विशिष्टता रखती है, तो भी किसी सीमा तक इस पर अनेक प्रकार की फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। एक व्यक्ति अपनी भूमि को एक नगर से हटा कर दूसरे में नही पहुँचा सकता, तो भी एक स्थान पर उसे बेचकर तथा दूसरे स्थान पर उसे खरीद कर वह उसे गतिशीलता प्रदान करता है। एक अन्य विधि भी है। एक मनुष्य जिसके पास भिन्न-भिन्न स्थानो पर भूमि है, वह श्रम तथा पूजी को एक स्थान पर हटा सकता है और वहा की भूमि को अच्छा कर सकता है तथा दूसरे स्थान की भूमि की उपेक्षा कर सकता है। इस प्रकार, एक भूमि अधिक उत्पादक हो जाती है तथा दूसरी उत्पादकता से वचित रहती है। उत्पादकता ही वास्तव में हम चाहते हैं। इस प्रकार भूमि गतिशील हो जाती है।

परन्तु भूमि उस समय अधिक गतिशील हो जाती है, जबकि उसकी उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। व्यावहारिक रूप से यह भूमि की सेवा (service of land) का एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवर्तन करती है तथा एक साधन का मूल्य निरूपण (value) स्वय उसके कारण नही परन्तु उस सेवा के कारण है जो वह करता है। इस प्रकार भूमि इतनी अगतिशील नही है जितनी समझी जाती है। इसके अनेको वैकल्पिक प्रयोग हो सकते है। गेहूँ उत्पन्न करने वाली भूमि को चरागाह में परिवर्तित किया जा सकता है और इसका उल्टा भी सच है। यदि कुछ और नही किया जा सके तो इसकी उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। गतिशीलता की यह मात्रा सम्प्रदाय के लिए उन वस्तुओ के क्रम को, **जिन्हें वह सबसे अधिक पसन्द करता है, उत्पन्न करने के लिए यथेष्ट है।**

यदि सरकार जमीन बेचने पर ज्यादा रजिस्टर फीस (registration fee) लगाकर विक्रय के हस्तातरकरण पर निरोध लगाये तो इसकी गतिशीलता कम होगी। १९०१ के पजाब के भूमि अधिकार अलग करने के अधिनियम (Punjab Land Alienation Act) का कुछ रोकने वाला प्रभाव है। इस अधिनियम के अधीन कृषि के कार्य में लाई जाने वाली भूमि को कृषि के अलावा अन्य प्रयोगो में नही लगाया जा सकता।

३. श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—मनुष्य सबसे कम गतिशील कहा जाता है। हम विचार करेंगे कि श्रमिको में हर प्रकार की गतिशीलता किस सीमा तक पाई जाती है। यहा पर यह दोहराया जा सकता है कि गतिशीलता तीन प्रकार की होती है, अर्थात् औद्योगिक, स्थानीय तथा कार्यगत गतिशीलता।

औद्योगिक गतिशीलता (Mobility between Industries)—विभिन्न उद्योगो के बीच गतिशीलता में कोई कठिनाई नही होती। एक उद्योग में लगा हुआ

मुनीम, टाइप बाबू अथवा एक चौकीदार सरलता से ऐसा ही कार्य किसी अन्य उद्योग में प्राप्त कर सकता है।

स्थानीय गतिशीलता (Mobility between Places)—जहा तक श्रम की एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिशीलता का सम्बन्ध है, जिसे **भौगोलिक गतिशीलता** कहते है, उसमें अत्यन्त बाधायें पाई जाती है। परिवर्तन का बहुत भय होता है। कोई मनुष्य परिचित वातावरण से निकल कर दूसरे स्थान पर बसना नही पसन्द करता। कुछ ही लोग एक नये स्थान पर नवीन रूप से जीवन प्रारम्भ करने का साहस रखते है। विशेषत यह उनके सम्बन्ध में ज्यादा सच है जो वृद्ध हैं। युवावस्था के श्रमिक साहसी तथा निर्भीक होते है और वे आसानी से बाहर जाने के लिये प्रोत्साहित किये जा सकते है।

भाषा, स्वभाव, रीतियो तथा जीवन-क्रम की भिन्नताये श्रम के लिये देश के एक भाग से दूसरे भाग तथा एक देश से दूसरे देश में जाने में अन्य बाधा डालने वाले कारण है।

देशो के अन्तर्गत गतिशीलता मे आप्रवास कानूनो (immigration laws) से और भी बाधा पडती है। निर्धनो की सहायता की प्रथा, बेरोजगार सुविधाये तथा राज्य के द्वारा विपत्ति मे पडे हुए श्रमिको को दी हुई अन्य सहायताए गतिशीलता की इच्छा को कम करती है तथा श्रम को और भी अगतिशील बनाती है।

भारत में अत्यधिक जनसख्या वाले नगर, घने औद्योगिक स्थान, रहने की सुविधाओ का अभाव, गन्दा वातावरण, अधिक जीवन-निर्वाह-व्यय, सदा रहने वाला व्यापक रोगो का चक्र श्रमिको को भयभीत करने के लिये यथेष्ट है। इसी कारण भारतीय श्रम पर रायल कमीशन (Royal Commission) ने लिखा था कि औद्योगिक व्यवसाय में श्रम आकर्षित नही होता वरन् ढकेला जाता है। ऐसे हालात श्रम की गतिशीलता के मार्ग में बाधक होते है। सचार तथा परिवहन के साधनो की उन्नति ने भौगोलिक गतिशीलता को बहुत सुविधाजनक बना दिया है।

कार्यगत गतिशीलता (Mobility between Occupations)—कार्यगत गतिशीलता सब से अधिक कठिन है। यह दो प्रकार की होती है।

(क) क्षैतिज गतिशीलता (Horizontal Mobility) अर्थात् एक ही प्रकार के दो व्यवसायो में गतिशीलता है। उदाहरणार्थ, इतिहास का प्रोफेसर अर्थशास्त्र का प्रोफेसर हो जाता है या एक लोहार एक बढई हो जाता है। इस प्रकार की गतिशीलता इतनी कठिन नही होती।

(ख) लम्बरूप या खडी गतिशीलता (Vertical Mobility) से अभिप्राय ऊँचे प्रकार के व्यवसाय में गतिशीलता से है। उदाहरणार्थ, एक क्लर्क एक अध्यापक हो जाता है अथवा एक मिस्त्री एक यन्त्रकार हो जाता है। यह गतिशीलता अत्यन्त कठिन है। स्वाभाविक योग्यता के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यवसायो में भिन्न-भिन्न निपुणता तथा ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा एक मनुष्य के लिए **स्वय को दूसरे व्यवसाय के उपयुक्त बनाना, जहा अधिक ज्ञान की जरूरत है, सरल नहीं है।**

किसी निर्धन व्यक्ति को बताना कि उसके लिए सब व्यवसाय खुले हुए है, उसका निष्ठुरतापूर्वक उपहास करना है। उद्योगो द्वारा लगाई गई बाधाओ के अतिरिक्त परीक्षायें,

अधिकार देने की प्रथा तथा सेवा-काल के लिए अधिक पारितोषिक लेना (उदाहरणार्थ अधिकृत तथा संस्थापित लेखापाल के सम्बन्ध मे) प्रभावशाली बाधाये है जिन्हें थोड़े ही लोग दूर कर सकते है। कुछ कार्यों जैसे उच्च दीवानी के अफसर की पदवी में अथवा राजनीति की सेवाओ की पदवियो के लिए उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा तथा माता-पिता के प्रभाव की आवश्यकता होती है। यह आखिरी कारण निर्धन कुटुम्ब के युवक को अलग रखने में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार एक श्रेणी (grade) से दूसरी श्रेणी मे गतिशीलता बहुत कम है। यह आश्चर्य की बात नही है कि सबसे अधिक माननीय कार्यों में सबसे अधिक पारिश्रमिक मिलता है, जबकि वे कार्य जो निम्न सामाजिक श्रेणी मे है, आर्थिक दृष्टि से भी निम्न श्रेणी मे होते है।

आर्थिक समायोजन (adjustment) के लिए कुछ न कुछ गतिशीलता तो बहुत जरूरी है। यदि आर्थिक प्रणाली को धक्को तथा मानवीय पीडा को रोकना है तो यह जरूरी है कि श्रम गतिशील हो। श्रम की गतिशीलता आर्थिक प्रणाली को लचीलापन (flexibility) देने मे सहायक है। इस तरह गतिशीलता बहुत लाभदायक है। परन्तु एक समूह के अन्तर्गत तथा कौशलरहित (unskilled) श्रमिको मे गतिशीलता आर्थिक सुधार करने के लिए बहुत काफी है। ऐसे अनेको कार्य है जिन्हें उचित शारीरिक शक्ति वाला तथा अच्छी बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य सफलतापूर्वक कर सकता है और फिर एक नई अवस्था का सामना करने के लिए सब श्रम के गतिशील होने की आवश्यकता नही है।

फिर प्रत्यक्ष प्रतिस्थापना (direct substitution) की नही, किन्तु केवल अप्रत्यक्ष अदल-बदल की ही आवश्यकता होती है। यदि सूती कपडे का उद्योग घट रहा है तथा शक्कर का उद्योग बढ रहा है, तो यह आवश्यक नही है कि श्रमिक पहले उद्योग से दूसरे में सीधे चले जाए। वास्तव मे मिले हुए व्यवसायो में अदल-बदल होगी। सूती कपडे के उद्योग से कुछ श्रमिक जूट उद्योग मे जा सकते है तथा इन उद्योगो के कुछ श्रमिक कागज के कारखाने मे जा सकते है।

एक स्थायी अथवा घटती हुई जनसख्या गतिशीलता मे बाधक होती है जबकि भारत जैसी बढती हुई जनसख्या अत्यन्त सहायक होती है क्योकि नई पीढी नए व्यवसायो में लग सकती है तथा उनका त्याग कर सकती है जिनमे पारिश्रमिक कम हो रहा है।

हमारा निर्णय यह है कि यद्यपि श्रम की गतिशीलता में अनेको महत्त्वपूर्ण बाधाये है, तो भी उद्योग की नई आवश्यकताओ के अनुरूप आर्थिक साधनो के व्यवस्थित करने के लिए यह यथेष्ट है, जब तक कि परिवर्त्तन बहुत शीघ्र तथा मूल न हो, जो बहुधा नही होता है।

४ पूजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)—पूजी के अनेको रूप होते है। चालू पूजी काफी गतिशील होती है। औजार तथा यन्त्र और साधारण मशीनें प्रत्येक उद्योग द्वारा प्रयोग मे लाई जा सकती है और आसानी से तथा बिना अधिक व्यय के किसी स्थान पर हटाई जा सकती है। राष्ट्र की पूजी का यह भाग भी गतिशील है।

परन्तु सम्प्रदाय की पूजी के सबसे कीमती भाग में स्थिर पूजीकृत वस्तुए शामिल है अर्थात् कारखानो की इमारतें, मशीने, रेलो के स्थायी सामान जैसे रेल की पटरिया

स्टेशन की इमारतें, नहरें, टयूव वैल्स आदि । इनमें गतिशीलता नही होती। एमी सब पूजी स्थायी रूप से स्थिर होती है और आसानी मे अन्य स्थानो पर नही ले जाई जा सकती।

दूसरे महायुद्ध में भी पूजी की गतिशीलता का उदाहरण मिलता है। जव नाजी जत्थे मास्को से मुश्किल से वारह मील रह गये थे, रूसियो को अपने यत्र तथा कलें उखाडना तथा उन्हें यूरल पर्वत के पीछे ले जाना पडा था । किन्तु यहा व्यय का कोई महत्त्व नही था। सामान्य दशाओ में ऐसा कभी नही किया जायेगा।

और फिर काफी पूजी आमतौर से निमग्न (sunk) अथवा विशिष्ट भी होती है। आप एक सूती कपडे के कारखाने को एक शक्कर के कारखाने मे नही वदल सकते। इसलिये न केवल स्थायी पूजी को अवश्य ही वही रहना चाहिये जहा वह है, वरन् उसका प्रयोग भी वही कायम रहना चाहिये, जिस अभिप्राय से वह लगाई गई थी। जव हम ऐसी पूजी पर विचार करते हैं तो उसकी अगतिशीलता हमे पूर्ण रूप से प्रतीत होनी है।

परन्तु गतिशीलता से हमारा अभिप्राय केवल भौगोलिक गतिशीलता नही है। इसका अर्थ वैकल्पिक प्रयोगो में आने की सम्भावना भी है। इस विचार से पूजी भी काफी मात्रा में गतिशील होती है। परिवहन (transport) के साधनो से कुछ भी ले जाया जा सकता है। मशीन में थोडा वहुत परिवर्त्तन करके पूर्णतया भिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पादित की जा सकती हैं। यह कहा जाता है कि घडियो के वनाने की मशीनो से सिलाई की मशीनें वनाई जा सकती हैं। मोटर कार के उत्पादन यत्र को हवाई जहाज तथा दूसरी युद्ध की सामग्री उत्पन्न करने में प्रयोग किया जा सकता है। एक ही कारखाने में एक ही यन्त्र से उसी उत्पादन कार्य मे भी अनेक प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त पूजी के आकार में लचीलापन एक दूसरी रीति से प्रदान किया जा सकता है। श्रम की नई जनसख्या जैसी नई वचतें भी होती हैं। इन वचतो को उन प्रयोगो में लगाया जा सकता है जो अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक लाभप्रद हो गये हैं। प्रत्येक निर्माता अपने वार्षिक लाभ से कुछ भाग मूल्य-ह्रास कोष (depreciation fund) में डालता है। यह कोष यन्त्रो की मरम्मत तथा वदलने के लिये उस समय प्रयोग में आता है जव वे घिस जाते हैं और पुराने पड जाते हैं। परन्तु ऐसा वहुत कम होगा कि एक यन्त्र दूसरे ऐसे यन्त्र से वदल दिया जाए जो पुराने के पूर्णतया समान हो। इस प्रकार पजी का इस्तेमाल हो रहा है तथा उसके स्थान पर दूसरी लगाई जाती है न कि नई आर्थिक अवस्था के अनुसार बिल्कुल ही वदल दी जाती है। यह पूर्णतया गतिशील नही है किन्तु गतिशीलता की मात्रा हमारे प्रयोजन के लिए यथेष्ट है।

५ क्या आधुनिक आर्थिक प्रणाली परिवर्तनशील है? (Is Modern Economic System Adaptable?)—यह विवेचन करके कि उत्पादन के अनेक साधन कहा तक गतिशील हैं, अब हम यह देख सकते हैं कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली सपूर्ण रूप से स्थायी है अथवा गतिशील। क्या उसमें परिवर्त्तन हो सकते हैं अथवा क्या हमें सदा एक विशिष्ट आर्थिक अवस्था के अनुसार ही कार्य करना पडेगा?

हम देख चुके हैं कि व्यवहार में उत्पादन के साधनो की गतिशीलता मे वाधा होती है। भूमि की भौतिक गतिशीलता असभव है। भूमि की सफाई, सुखाई (draining)

तथा कृषियोग्य बनाने मे कभी-कभी बहुत अधिक पूजी लगाने की आवश्यकता होती है। हमें ऋतु, जलवायु तथा वर्षा पर निर्भर रहना पडता है । यह भूमि की गतिशीलता मे कुछ बाधायें हैं।

श्रम भी स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील नही है। कुछ ही लोग अपने थोडे से लाभ के लिए अपने घर तथा देश छोडना पसन्द करते हैं। लोग भाषा की कठिनाइयो तथा रीति-रिवाजो की भिन्नताओ के कारण अपने देश के वातावरण मे रहना पसन्द करते हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसायो के लिए आवश्यक दक्षता मे भिन्नता, कुछ व्यवसायो के लिए आवश्यक शिक्षा पर अत्यधिक व्यय, दूसरो में सेवा काल का अधिक समय, सामाजिक असामर्थ्य तथा राज्य के नियमो के कारण किसी व्यवसाय में स्वतन्त्र प्रवेश सम्भव नही होता ।

पूजी भी स्थायी होती है। उसको उखाडने तथा हटाने में अधिक व्यय तथा समय नष्ट होता है। यह इतनी विशिष्ट हो जाती है कि किसी अन्य प्रयोग मे लाये जाने योग्य नही रहती।

ये वास्तविक कठिनाइया है। परन्तु इन सबके होते हुए भी उत्पादन-अर्थ-व्यवस्था का आकार काफी लचीला है। भूमि पर अनेक प्रकार की फसलें उगाई जा सकती है और इसके अनेक वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं । श्रम की औद्योगिक गतिशीलता (mobility between industries) आसान है और स्थानीय गतिशीलता (mobility between places) की सुविधा सचार व परिवहन के सस्ते व कुशल साधनो के द्वारा हो रही है। कार्यगत गतिशीलता मे शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओ के विस्तृत रूप से बढने तथा यन्त्र-सम्बन्धी शिक्षा से सहायता मिल रही है। नई पीढी का आगमन पुरानी पीढी की अगतिशीलता को पूरा करता है। पूजी की भौतिक गतिशीलता समव नही हो सकती है, तो भी एक निश्चित यन्त्र से अनेक प्रकार की वैकल्पिक वस्तुएँ तैयार की जा सकती हैं जिससे अन्तिम वस्तुओ अथवा उपभोक्ताओ की वस्तुओ की बनावट मे परिवर्त्तन बिना कठिनाई से किया जा सकता है। अतएव जब एक उद्योगपति उत्पादन में परिवर्त्तन करने का निश्चय कर लेता है तो उत्पादन के साधन कोई विशेष कठिनाई प्रस्तुत नही करते।

सचार तथा परिवहन के साधनो के विकास ने स्थान तथा समय (time and space) का लोप कर दिया है। वैज्ञानिक उन्नति तथा मशीनी ज्ञान में वृद्धि ने उद्योगपति को अज्ञात सम्भावनायें उपलब्ध करा दी है। अनेक नये उद्योगो की उन्नति हो गई है तथा अनेक पुराने उद्योग नष्ट हो गये हैं। परिवर्तन शातिपूर्वक तथा अगोचर रूप से और आर्थिक प्रणाली को बिना कोई धक्का पहुचाये हुए है। अतएव हम यह कह सकते है कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली पूर्णतया अनुकूल बनने योग्य है। द्वितीय महायुद्ध ने यह दिखा दिया है कि किस सीमा तक तथा कितनी शीघ्रता से राष्ट्रीय स्रोत (resources) परिवर्तित हो सकते हैं, तथा उन प्रयोगो मे लाये जा सकते हैं, जिनको समाज सबसे अधिक आवश्यक समझता है।

निर्देश पुस्तक

Benham, F —Economics, Chapter XIV.

अध्याय १४

व्यवसाय संगठन के रूप

(FORMS OF BUSINESS ORGANISATION)

१ व्यक्तिगत उद्यमी (The Individual Entrepreneur)—उद्यमी के कार्य का सगठन अनेको प्रकार मे किया जा सकता है। सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक सख्या में 'एक व्यक्ति' का व्यक्तिगत व्यवसाय है।

'एक व्यक्ति' वाले व्यापार का सचालक अपनी पूजी स्वय लगाता है तथा कुछ उधार भी ले सकता है। वह एक किराये की दूकान लेगा और यदि आवश्यकता हुई तो एक सहायक की सेवा प्राप्त करेगा। वह स्वय क्रय तथा विक्रय करता है। वह अपना स्वय प्रवन्धक है। वह कार्य प्रारम्भ करता है, उसकी व्यवस्था करता है, काम के लिये आज्ञा देता तथा पूरा जोखिम उठाता है। इस प्रकार मालिक (sole proprietor) स्वय ही पूजी, उद्योग तथा वहुत-सी दशाओ मे श्रम के भी कार्य सयोग करता है।

इस प्रकार का व्यवसाय साधारणत छोटे पैमाने पर किया जाता है। खेती तथा सभी प्रकार के फुटकर व्यापार में व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था अधिकतर देशो में पाई जाती है।

इस प्रकार के व्यवसाय सगठन के कई लाभ हैं —

(१) आर्थिक हितो तथा व्यवसाय के सचालन का पूर्ण दायित्व का सयोग दक्षता के लिए सहायक होता है। अकेला उद्योगपति वहुत परिश्रम से अधिक समय तक कार्य करता है।

(२) सारे व्यवहार तथा कार्य ठीक व्यवस्था द्वारा किफायत से किये जाते हैं और हर प्रकार का क्षय कम हो जाता है। किसी तरह के वढिया और खर्चीले खाते रखने की कोई आवश्यकता नही रहती।

(३) सभी ग्राहको की ओर व्यक्तिगत ध्यान देना तथा कम-से कम लागत पर पूरी सतुष्टि देना सम्भव होता है। रुचि तथा फैशन मे प्रत्येक परिवर्त्तन का ध्यान रखा जाता है और यथायोग्य पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है।

(४) व्यक्तिगत उद्योगपति सीमित तथा परिवर्तनशील माँग की सतुष्टि करने की स्थिति मे होता है। व्यवसाय की स्थिति में तीव्र परिवर्तनो के लिए शीघ्र निर्णय सम्भव हो जाता है।

(५) इस प्रकार का व्यवसाय सरलता से प्रारम्भ किया जा सकता है और उतनी ही सरलता से वन्द भी किया जा सकता है। अकेला स्वामी ही केवल एकमात्र उससे सम्वद्ध है।

अपने सीमित क्षेत्र मे व्यवसाय सगठन का यह रूप वहुत उच्च कोटि का कार्यपटु और किफायती है।

परन्तु ऐसे उद्योगपति को कुछ कठिनाइयों का सामना भी करना पडता है —

(१) एक व्यक्ति के पास साधारणत बहुत कम पूजी होती है, जिससे कि व्यवशाय का विस्तार, चाहे वह कितना ही लाभदायक क्यो न हो, नही हो पाता।

(२) एक व्यक्ति अपने व्यवसाय के विभिन्न अंगो की अच्छी तरह देख-भाल नही कर सकता। यह उसको बहुत-सी किफायतो से तथा लाभदायक विनियोग (investment) की सुविधाओ से वचित कर देती है।

(३) व्यवसाय के ऐसे आदिम ढग से सगठित होने पर न तो पहले नम्बर का व्यवसाय स्थापित किया जा सकता है और न कोई देश व्यवसाय की अगुआई ही पा सकता है।

२. भागिता (Partnership)—'एक व्यक्ति' व्यवसाय की सीमाओ से दूसरे प्रकार का व्यवसाय सगठन अर्थात् भागिता उत्पन्न होती है। दो, तीन या अधिक मनुष्य सगठन करते है, पूजी एकत्रित करते है और निश्चित अनुपात में लाभ-हानि मे भाग लेने के लिए राजी होते है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक मनुष्य उस व्यवसाय मे बराबर पूजी लगाये। एक पार्टनर (साझेदार) केवल अपनी योग्यता का ही उपयोग कर सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नही है कि लाभ और हानि एक ही अनुपात में बाटे जावे। भागिता की शर्तें अधिक लोचदार होती है। पार्टनरो का दायित्व तथा अधिकार (responsibilities and privileges) भागिता के विलेख (partnership deed) मे स्पष्ट होते है, जिनको आपसी सम्मति से बदला जा सकता है। जब तक व्यवसाय सस्था के कार्य वैध (legal) है, तब तक राज्य की ओर से कोई नियन्त्रण नही हो सकता।

भागिता समस्त औसत दर्जे वाले व्यवसायो के लिए एक बहुत उचित व्यवसाय-व्यवस्था है जहा कि स्वामी के व्यक्तिगत प्रयत्नो की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, आटे की मिल, हॉजरी की फैक्टरी, इमारती सामान के कारखाने, बरफ के कारखाने, खेल-कूद का सामान बनाने वाले कारखाने, बैंकिंग सस्थाये आदि। यद्यपि भागिता व्यवसाय इतने अधिक नहीं है जितने कि एक व्यक्ति वाले व्यवसाय है, तो भी ये बहुत ही प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण है।

भागिता के लाभ (Advantages of Partnership)—सगठन के इस रूप के बहुत-से लाभ है —

(१) अकेले उद्यमी की अपेक्षा उनके पास अधिक साधन होते है। वे अधिक पूजी, अधिक व्यवसाय, योग्यता तथा अधिक जन-शक्ति (man-power) उपयोग करते है।

(२) सब के परस्पर लाभ के लिए व्यक्तिगत सयोग स्थापित करना सम्भव हो जाता है। प्रत्येक साझेदार व्यवसाय की जजीर की एक कडी है।

(३) व्यवसाय अधिक बडे पैमाने पर चलाया जा सकता है, जिससे अनेक प्रकार की बचत हो सकती है। उदाहरणार्थ स्थान की, औजारो की, श्रम विशेष तथा मशीनो की, क्रय-विक्रय में लाभ की, खोज, अनुभव तथा विज्ञापन पर अधिक व्यय की किफायत।

(४) स्वामित्व तथा प्रबन्ध का मिलान कुशलता तथा किफायती कार्यों को प्रोत्सा-

हित करता है। साझेदारो को हानि उठानी पडती है और यदि लाभ हो तो मुनाफे में रहते हैं।

(५) भागिता व्यवसाय-व्यवस्था में आसानी से परिवर्त्तन लाये जा सकते हैं और बहुत ही उचित और शीघ्र निर्णय किये जा सकते हैं। उनके कार्य में देरी नही होती।

(६) असीमित दायित्व का होना साझेदारो के सट्टे की प्रवृत्तियो तथा जोखिम और अदूरदर्शी उद्योग करने को रोकता है। और वे दूसरी ओर समय के साथ चलने की योग्यता तथा साधन रखते हैं।

भागिता पौरुषेय, गतिशील, लोचदार तथा कुशल मानी जाती है यदि वे एक होकर कार्य करें।

साझेदारी से हानियाँ (Disadvantages of Partnership)—यदि साझेदार पूर्णतया हार्दिक सहयोग से कार्य करते हैं तो व्यवसाय अवश्य ही ऊँचा उठेगा। परन्तु इसमें **'यदि'** बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(१) वास्तविक व्यवहार में साझेदार बहुत ही स्वार्थी होते हैं और सबसे कम कार्य करके अधिकतम फल पाने का प्रयत्न करते हैं। कोई आपत्ति पडने पर वे एक दूसरे को दोष देते हैं। अनकूलता के बजाय प्रतिकूलता होती है। यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि भागिता अल्पकालीन (short-lived) होती है।

(२) कानून के अनुसार किसी साझेदार की मृत्यु, दिवालियापन अथवा पागलपन पर भागिता का अन्त हो जाता है। अतएव वह निरन्तर नही रह सकती।

(३) परन्तु सबसे बडी कठिनाई असीमित दायित्व (unlimited liability) की है। हरएक साझेदार को दूसरे को बाधने (bind) का अधिकार प्राप्त है। असफल होने पर भागिता-ऋण (partnership debt) किसी भी साझेदार से वसूल किया जा सकता है। असीमित दायित्व व्यवसाय-सस्था की रीति को भीरु तथा असाहसी बना देता है।

(४) इसके अतिरिक्त साझेदारी के स्रोत इतने सीमित होते है कि साझेदार कोई बडा व्यापार नही कर सकते। स्पष्टत रेलवे अथवा जहाज, यातायात, बीमा अथवा लोहे तथा इस्पात का कार्य भागिता से नही किया जा सकता।

सगठन के इस रूप से आधुनिक व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो सकती।

सीमित भागिता (Limited Partnership)—साधारणत साझेदारो का दायित्व असीमित होता है परन्तु कानून एक साझेदार को अपना दायित्व स्वीकृत से कुछ मात्रा तक सीमित रखने के लिए स्वीकृति दे सकता है। लेकिन ऐसा साझीदार प्रबन्ध में कोई भाग नही ले सकता। सीमित भागिता में भी कुछ ऐसे साझीदार होने पडते हैं जिनका दायित्व असीमित हो। व्यवसाय-सस्था के सारे साझेदार अपने दायित्व को सीमित नही कर सकते।

३ सयुक्त समवाय कम्पनी (Joint-Stock Company)—नि सन्देह ज्वाइट स्टॉक (सयुक्त समवाय) कम्पनी व्यवसाय सगठन का अधिक महत्त्वपूर्ण और

प्रचलित रूप है और यह साझेदारी की कठिनाइयो तथा अयोग्यताओ को दूर करने का प्रयत्न करती है।

ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी दो प्रकार की होती है —

(१) निजी सीमित कम्पनिया (Private Limited Companies),

(२) सार्वजनिक सीमित कम्पनिया (Public Limited Companies)।

(१) **निजी सीमित कम्पनियाँ**—एक निजी सीमित कम्पनी में, सेवको के अलावा कम-से-कम दो तथा अधिक-से-अधिक ५० व्यक्ति होते है। जब एक भागिता व्यवसाय के साझेदारो की हानि उठाने की शक्ति अधिक बढ जाती है तो वे अपने दायित्व को एक निजी सीमित कम्पनी की रजिस्ट्री करा कर परिमित कर सकते है। इस ढग से वे व्यवसाय का नियन्त्रण अपने हाथो मे रख सकते है।

सगठन के इस रूप में भागिता के प्रत्येक लाभ जैसे गोपनीयता, शीघ्रता, निज-स्वार्थ जिससे किफायत तथा कार्यपटुता बढती है, अपरिमित दायित्व (unlimited liability) से पैदा होने वाली हानियो से मुक्त पाये जाते है। एक निजी सीमित कम्पनी को व्यवसाय आरम्भ करने से पहले कम-से-कम पूजी का इकट्ठा करना आवश्यक नही होता और न उसको इस बात की आवश्यकता होती है कि वह ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी के रजिस्ट्रार के यहा वार्षिक आय-व्यय का विवरण अथवा सतुलन-पत्र (balance sheet) जमा करे। यह जनता से अपनी शेयर पूजी (share capital) मे जमा करने के लिए नही कह सकती। शेयरो का हस्तान्तरण भी नही हो सकता।

अधिकतर माध्यमिक श्रेणी के उद्योग इस तरह चलाये जाते है। यदि व्यवसाय अच्छा चलता है तो वे अन्त में सार्वजनिक सीमित कम्पनियो (public limited companies) मे निश्चित ही परिवर्तित हो जाती है।

(२) **सार्वजनिक सीमित कम्पनियाँ**—कम-से-कम ७ सदस्यो से सार्वजनिक सीमित कम्पनी बनाई जा सकती है। इसके लिए कोई अधिकतम सीमा नही है। प्रवर्त्तको (promoters) को ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियो के रजिस्ट्रार के पास निवेदन करना पडता है। (क) मेमोरेडम ऑफ ऐसोसियेशन (Memorandum of Association) जिसमें कम्पनी का नाम, हैड आफिस, उसके उद्देश्य, हिस्से का वर्णन तथा हिस्से की पूजी की मात्रा तथा यह प्रकाशन कि हिस्सेदारो का दायित्व परिमित है। (ख) सस्था के अन्तर्नियम (Articles of Association) जिसमें कम्पनी के उपनियम होते है।

यदि रजिस्ट्रार सतुष्ट है कि समस्त वैध आवश्यकताये पूरी कर दी गई है तो वह समावेशन प्रमाण-पत्र (certificate of incorporation) दे देगा। लेकिन वह व्यवसाय आरम्भ नही कर सकती जब तक कि निर्गमित पूंजी (issued capital) की कम-से-कम प्रतिशत जमा न हो चुकी हो। यह पूजी लगाने वालो के हितो को सुरक्षित रखने के लिए होती है ताकि पूजी लगाने वालो को फास कर उनके धन को झूठी कम्पनियो के प्रवर्त्तको (promoters) द्वारा ठग न लिया जाये।

शेयर पूजी (share capital) एक साथ इकट्ठा नही किया जाता।

सिद्धान्त में सार्वलौकिक है, वास्तव में यह अल्पजन वाला (oligarchy) है। सचालक वास्तव में अपने आप निश्चित होते है और जब तक चाहते है रहते है।

(२) कुछ सचालक सिद्धान्तहीन होते है और सीधे-सादे रुपया लगाने वालो को ठगते है। वे आन्तरिक जानकारी को अपनी भलाई के लिए प्रयोग करते है।

(३) झूठा प्रचार जनता को धोखा देता है। विवरण पत्रिका में जो अच्छी दशा बताई जाती है वह कभी-कभी बिल्कुल झूठ होती है।

(४) सचालक बहुधा वकील तथा डाक्टर होते है जिनका व्यवसाय के कार्य में न तो कोई अनुभव और न कोई ज्ञान होता है। उनकी योग्यता केवल शेयर की योग्यता होती है।

(५) ऐसे व्यवसाय में व्यक्तिगत भलाई बुराई के भाव का अभाव रहता है। व्यवसाय के मालिक अर्थात् शेयर होल्डर केवल लाभ ही से सम्बन्ध रखते है। नौकरो के कल्याण का ध्यान वेतन पाने वाले मैनेजर नही करते। वे इस बहाने मे अपनी असमर्थता दिखाते है। यह मानवीय भाव की हानि एक बडी हानि है। व्यवसाय पूर्णत स्वार्थी हो जाता है।

(६) देनदारी परिमित होने और शेयर हस्तातरित होने के कारण शेयर होल्डर कम्पनी में रुचि नही रखते। उनमें से बहुत कम मीटिंग में जाते है। उनकी उदासीनता से सारी शक्ति कुछ सचालको के हाथ में आ जाती है।

(७) कभी-कभी सचालक अदूरदर्शी उद्योगो को चालू कर देते है क्योकि दूसरो के रुपयो से खेलना आसान है।

(८) व्यवस्था प्रबन्ध की शक्ति से बाहर और बहुत ही भारी हो जाती है। यह जल्दी निर्णय नही कर सकती। यह उन व्यवसायो के लिए ठीक है जो कि उन बने हुए नियमो पर चल सकते है। इस प्रकार व्यवसाय सस्था ऐसे कामो के लिए उचित नही है जो कि नये हो अथवा जिनमें स्थिति के बदलने से पद्धति तथा उत्पादन में निरन्तर परिवर्तन की आवश्यकता होती है या जहा ग्राहक कठिनाई से बन पाते है और या किसी मामूली बहाने से बिगड जाते है।

इन सब लाभो और हानियो के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि ज्वाइट स्टॉक सिद्धान्त की अनपस्थिति में देश का औद्योगिक विकास तथा प्राकृतिक साधनो का कुशल उपयोग सम्भव नही हो सकता। यह उत्पादन का एक कुशल तथा शक्तिशाली तत्र है।

५ सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company)—सूत्रधारी कम्पनी एक विधि है जिसके द्वारा एक कम्पनी दूसरी कम्पनी पर नियन्त्रण रखती है। मान्य विधि यह है कि कम्पनी दूसरी कम्पनी के अधिकतम शेयरो को खरीद लेती है। जो कम्पनी शेयरो को खरीदती है और दूसरी पर नियन्त्रण रखती है, उसको सूत्रधारी कम्पनी कहते है और वह कम्पनी जिसके अश इस प्रकार खरीदे जाते है उसको सहायक कम्पनी (subsidiary company) कहते है। कभी-कभी एक कम्पनी दो या तीन जाने वाली कम्पनियो के अधिकतम शेयरो को खरीदने के लिए स्थापित की जाती है। कुछ हालतो में सूत्रधारी कम्पनी स्वय एक जाने वाली कम्पनी है तथा वह उन एक दो कम्पनियो को

खरीद लेना चाहती है जो उससे प्रतियोगिता (competition) रखती है।

सूत्रधारी कम्पनी की विधि **सयुक्तीकरण की किफायतें** (economies of integration) लाने में बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई है। दूसरी कम्पनी के औद्योगिक तथा योग्य व्यक्तियो का लाभ उठाया जाता है, माल तथा स्टोर के एक साथ खरीदने से विभिन्न लाभ उठाये जा सकते है। सामूहिक व्यवस्था के कारण प्रवन्ध सम्वन्धी लाभ होते है, पेटेन्ट एकत्रित किये जा सकते है। जव कुछ कम्पनियो की अपने को मिटाने की अनिच्छा के कारण प्रन्यास (Trust) वनाना असम्भव प्रतीत होता है, तो सूत्रधारी कम्पनी की विधि वहुत ही सुविधाजनक मालूम पडती है। ट्रस्ट (न्यास) के रूप मे यह लाभदायक सिद्ध होती है और व्यापारी सघ (Cartel) से ज्यादा अच्छी रहती है, चूकि दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत उसके सदस्यो की निष्ठा (loyalties) मिलनी जरूरी नही होती।

सूत्रधारी कम्पनी के कुछ दोष भी है। नियन्त्रण करने वाला ग्रुप शेयरो की अधिक सख्या रखता है और शेयर होल्डरो के अल्प पक्ष का ध्यान रखे विना मनमानी कर सकता है। यह विधि सक्रामक (contagious) है, इसके अग दूर-दूर फैल जाते है और यह अपने अनुयायियो तथा सहायको की लम्वी जजीर वना लेते है। शेयर होल्डरो का रुपया काम में लाया जाता है। परन्तु कम्पनी के कार्यों में उनका कोई वस नही। यह उचित तथा सार्वलौकिक नही है।

जनता के दृष्टिकोण से सूत्रधारी कम्पनी की एक और हानि पाई जाती है। यदि सहायक प्राइवेट कम्पनी है तो वह ज्वाइट स्टॉक कम्पनियो के रजिस्ट्रार को स्थिति विवरण देने को वाध्य नही है। सूत्रधारी कम्पनी यदि चाहे तो सहायक कम्पनी को अपने व्यवसाय की हालत वताने के लिए वाध्य नही है। इस तरह पब्लिक को वास्तविक स्थिति से अपरिचित रखा जाता है।

जर्मनी मे सूत्रधारी कम्पनिया अधिक है। वैंक कई औद्योगिक कम्पनियो में रुपया लगाते है और सचालको के कार्यालय आपस में जुड (inter-locked) जाते है। भारत में ऐसी कम्पनिया कम है। प्रवन्ध अभिकर्त्ता पद्धति (managing agency system) इसके विल्कुल निकट है, जिसमे प्रवन्धक अभिकर्त्ताओ की मैनेजिंग एजेटो की निजी सस्था है जो अपने निजी वैंक, वीमा कम्पनिया, सीमेन्ट, शक्कर तथा कागज के कारखाने, वायमार्ग आदि चला सकती है। इस पद्धति से वितरण तथा उत्पादन में सयुक्तीकरण की किफायतें होगी।

६. सहकारी सगठन, उत्पादक-सहकारिता (Co-operative Organisation, Producers' Co-operation)—पूजीपति व्यवस्था (capitalistic enterprise) से पृथक् सहकारी व्यवस्था भी है। श्रमिक यह जानते है कि उद्योगपति लाभ का अधिकतम भाग ले जाते है। वे यह जानकर कि विना उद्योगपति के उद्योग चला सकते है, श्रमिक व्यवसाय का कार्य स्वय करना निश्चित करते है। वे कुछ पूजी आपस मे इकट्ठी करते है तथा शेष उधार लेते है, वे अपना अध्यक्ष तथा व्यवस्थापक स्वय चुन लेते है तथा कुछ कर्मचारियो की नियुक्ति करते है। सारे खर्च, पूजी पर व्याज, वेतन

नौकर समझता है, और यही सारा अन्तर है।

सरकार द्वारा व्यवस्थापित व्यवसाय में प्रति दिन का कार्य उत्तरदायित्व का स्थान लेता है । वहा अफसर का डर रहता है। वहा काम में अधिक देरी होती है । एक कागज वहुत से अफसरो के पास से गुजरता है और उसमें कोई भी विशेष परिवर्त्तन नही करता ।

सरकारी उद्यम में कुछ अन्य दोष भी है जैसे जल्दी-जल्दी वदली (transfers), भाई-भतीजावाद (nepotism), सिफारिश से नौकरी पाना, तथा उन्नति योग्यता पर निर्भर न होना।

यदि उसमें हानि होती है तो कोई भी फिक्र नही करता। उसमें शेयर होल्डरो का कोई सहायक अग नही होता जिसका सचालक सामना करें। कर देने वाला गूगा होता है। यदि उसमें हानि होती है तो कोई यह नही सोचता कि वह उसकी हानि है। उसके प्रतिनिधि विधानसभाओ (legislatures) में निस्सन्देह अधिक शोर मचायेंगे, परन्तु सरकार के दल के सदस्यो की सख्या प्राय अधिक होती है इसलिये कार्य चलता रहता है।

अतएव यह सुझाया गया है कि केवल सुरक्षित व्यवसाय जो कि नित्य-कर्म (routine) की भाति है, जहा वाजार को प्राप्त करने वाले तथा उनको सभालने का प्रश्न नही है, और जिनका वास्तव में एकाधिकार होता है, राज्य को दिये जा सकते हैं। विचार लाभ उठाने का नही है परन्तु स्वच्छता तथा सेवा की नियम व्यवस्था प्राप्त करने का है जिससे पब्लिक को लाभ कमाने वाले लालची उद्यमियो की दया पर आश्रित न रहना पडे।

तो भी हमारा अनुमान है कि सरकारी त्रुटिया बढा कर कही गयी है। वडे व्यवसाय में चाहे वे सरकारी हो, चाहे व्यक्तिगत हो, यथाचार (red-tapism) पर अधिक ध्यान दिया जाता है। उसमें भी कही सचालन-शक्ति (initiative) की कमी पाई जाती है।

रूस के अनुभव की सफलता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सरकारी अकुशलता केवल कल्पना है। रूस की पचवर्षीय योजना की सफलता आश्चर्यजनक कही जा सकती है । अब लोग रूसी रीति अर्थात् राज्य उद्यम की आलोचना करने से पूर्व सोचेंगे । लोक राज्य में नागरिको को प्रोत्साहन तथा रक्षा कवच देकर उनके जीवन में नये मूल्यो को जन्म दिया जाता है। अब पुराने वाक्याशो (premises) पर तर्क करना सभव नही है। राज्य उद्यम का क्षेत्र दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति करेगा । भारत में राज्य उद्यम की सफलताये प्राइवेट उद्यम से कम नही है।

निर्देश पुस्तकें

Taussig, F W —Principles of Economics Vol I, (1946)
Benham, F —Economics
Hartley Withers—Stocks and Shares

अध्याय १५

एकाधिकार

(MONOPOLY)

१ एकाधिकार का क्या अर्थ है ? (Meaning of Monopoly) —कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु की पूर्ति (supply) की शक्ति, कम या अधिक मात्रा में, किसी एक उत्पादक या उत्पादकों के एक समूह के पास आ जाती है। इस प्रकार वे उत्पादक उस वस्तु की कीमत पर प्रत्यक्ष प्रभाव रखते है। तब यह कहा जायेगा कि उन उत्पादकों ने उस वस्तु पर एकाधिकार कर लिया है या उनका एकाधिकार हो गया है। **कीमत पर प्रभाव डालने की योग्यता ही एकाधिकार का सार है।** इसका अर्थ है कि प्रतियोगिता थोडे अथवा पूर्णरूप से हट जाती है। एकाधिकारी किसी वस्तु का अकेला उत्पादनकर्त्ता होता है। उस उद्योग विशेष की वही फर्म होती है। इसलिए फर्म उद्योग कहलाता है। "जैसा कि हम कह सकते हैं, शुद्ध एकाधिकार (pure monopoly) की स्थिति तब होती है, जब कोई उत्पादक इतना शक्तिशाली हो जाय कि वह उपभोक्ताओं की, सदैव ही, सारी आय ले सके, उसकी पैदावार का चाहे जो स्तर हो। ऐसी स्थिति उस समय होती है जब एकाधिकारी की फर्म के औसत प्रतिकूल वक्र (average reverse curve) की लोच एकीय (unitary elasticity) होती है (अर्थात् rectangular hyperbola) तथा ऐसे स्तर पर होती है कि सभी उपभोक्ता उस फर्म के उत्पाद पर, कीमत चाहे जो हो, अपनी सारी आय खर्च करते है।"[1] किन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है कि प्रतियोगिता बिल्कुल ही हटा दी गई हो। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रतियोगिता बहुत कम देखने में आती है, उसी प्रकार पूर्ण अथवा शुद्ध एकाधिकार भी बहुत कम होता है। वास्तविक जगत् में अकेला उत्पादनकर्त्ता कोई नही होता, एकाधिकारी अपूर्ण प्रतियोगी नही है। एकाधिकार प्रतियोगिता (monopolistic competition) होता है। अर्थशास्त्र की परिभाषा में "एकाधिकार" शब्द से व्यवसाय के विभिन्न प्रकार के सगठन या गुटो (combinations) से तात्पर्य होता है, जैसे ट्रस्ट या कार्टेल (trusts and cartels) आदि।

एकाधिकार कभी-कभी प्राकृतिक (natural), कानूनी (legal), सामाजिक (social), और स्वैच्छिक (voluntary) एकाधिकारो में विभाजित किये जाते है। प्राकृतिक एकाधिकार प्राकृतिक दुर्लभता (scarcity) के कारण होते है। कानूनी एकाधिकार एकस्व (patent) के कारण होते है। सामाजिक एकाधिकार से अभिप्राय गैस, बिजली, पानी के वितरण जैसे जनोपयोगी

---

1. Stonier and Hague—A Text-book of Economic Theory (1953), p 105.

सेवा कार्यो (public utility service) से है। ये स्वैच्छिक एकाधिकार उत्पादको मे स्वय किये गये समझौतो के कारण होते है और वे सगठन के भिन्न-भिन्न तरीको का सकेत करते है। ये करार (agreements) इस प्रकार हो सकते है (क) पैदावार मे कमी अथवा नियमन (reduction or regulation in output), (ख) कीमत नियत करना तथा विक्री की दूसरी शर्तें (fixation of price and other terms of sale), तथा (ग) प्रदेश विभाजन (division of territory)।

२. गुटबन्दी के भेद (Types of combinations)—व्यापार सगठन के अनेक प्रकार के प्रख्यात भेद है। क्षैतिज सगठन (horizontal combination) उस समय होता है जवकि मिलने वाले कारोवार एक ही तरह के उत्पादन कार्य में लगे हुए है। खडा सगठन (vertical combination) उस दशा में होता है जवकि उत्पादन की भिन्न अवस्थाओ को मिश्रित किया जाय जैसे कि कताई और वुनाई। ट्रस्ट (trust) और कारटेल (cartels) सगठन के दो प्रख्यात भेद है।

ट्रस्ट (Trust)——जव कई कम्पनिया आपस में मिलकर पूर्णतया एक नई कम्पनी की रचना करती है, तो इसको ट्रस्ट कहते है। उन मिलने वाली कम्पनियो का कोई अलग अस्तित्व नही रहता, वल्कि पूर्णतया एक नई कम्पनी वन जाती है। इसे एक सविलयन (merger) भी कहा जा सकता है। सन् १९३६ मे भारत की तात्कालिक सब सीमेंट कम्पनियो ने मिलकर एक नई कम्पनी वनाई जिसका नाम ए सी सी (एसोशिएटेड सीमेंट कम्पनीज ऑफ इडिया) रक्खा गया।

कारटेल (Cartels)—परन्तु मिलने वाले कारोवार अपना पृथक् अस्तित्व नही छोडना चाहते, तव वे एक कारटेल वनाते है। ये कारोवार अलग-अलग चलते है और उनका प्रवन्ध भी अलग-अलग होता है। परन्तु वे सब अपनी उत्पादित वस्तुओ को एक साझी विक्रय-सस्था को दे देते है। सन् १९३६ में भारत में चीनी के कारखानो ने मिलकर एक अखिल भारतीय खाड सिंडीकेट (All-India Sugar Syndicate) स्थापित किया और सवने अपनी तैयार की हुई चीनी के बेचने का कार्य उसको सौंप दिया। 'कारटेल' शब्द का अभिप्राय ऐसे ही प्रवन्धो से है।

ट्रस्ट और कारटेल मे अन्तर जानना आवश्यक है। ट्रस्ट में अगभूत कारोवारो (constituent concerns) की जगह एक नया कारोवार ले लेता है। कारटल में सव कारोवार अपना अलग-अलग अस्तित्व स्थापित रखते है। ट्रस्ट में उत्पादन और वितरण दोनो एक ही केन्द्रित अविकार मे रहते है, जवकि कारटेल में केवल वितरण ही एक केन्द्रित अधिकार में रहता है और उत्पादन कार्य भिन्न-भिन्न फर्मो द्वारा होता है। ट्रस्ट एक स्थायी सस्था है, जिसमे सम्मिलित कारोवार अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटा देते है, परन्तु दूसरी ओर कारटेल प्राय थोडे काल के लिए होता है। कारटेल मे सम्मिलित कारोवार अपने-अपने हित की ओर निरन्तर ध्यान देते रहते है और जव कभी उन्हें जचता है तो सम्मिलित समूह से अलग हो जाते है। कुछ वातो में ट्रस्ट से कारटेल अच्छा समझा जाता है। यह अधिक लोचदार (flexible)

है। वह उत्पादकों को अपने-अपने कारोबार को कुशलतापूर्वक चलाने की स्वतन्त्रता देता है। ट्रस्ट मे अत्यधिक पूजी लगाने का भय रहता है।

प्रबंधक कम्पनी (Holding Company)—हम यह पहले बतला चुके हैं कि एक कम्पनी किस प्रकार दूसरी कम्पनी पर नियन्त्रण कर सकती है। (अध्याय १४, विभाग ५)। कहा जाता है कि सन् १९११ में न्यू जर्सी की स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी लगभग ४० दूसरी कम्पनियो पर नियन्त्रण करती थी। पजाब नेशनल बैंक लाहौर के नेशनल बैंक पर नियन्त्रण रखता है। डालमिया कम्पनी ने भारत बीमा कम्पनी पर नियन्त्रण किया।

समूहीकरण (Pool)—इस शब्द का अभिप्राय उन समझौतो से है जो मडियो को बाटने, लाभो के भागीदार होने और उत्पादन को नियत करने के लिए किए जाते हैं। बर्फ के कारखाने मे ये अधिक प्रचलित हैं। इनकी लोकप्रियता इसलिए है कि इनके नियम बहुत लोचदार होते हैं और सरलता से बनाये जा सकते हैं। वे कीमत और उत्पादन पर बहुत अच्छा प्रभाव डालते हैं। परन्तु उनकी सबसे बडी हानि यह है कि वे अस्थायी होते हैं और प्रबन्धको मे स्थिरता नही होती। उनमें प्राय झगडे होते रहते हैं। उनका अन्त उतनी ही शीघ्र हो जाता है जितनी शीघ्र वे बनते हैं।

रिङ्ग (Ring)—जहाजी कम्पनियो के सम्मिलन को रिंग (ring) या कान्फ्रेंस (conference) कहते हैं। जहाजी कम्पनिया अपनी प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियो से आस्थगित छूट प्रणाली (deferred rebate system) जैसी रीतियो के द्वारा अच्छी दिशा प्राप्त कर लेती हैं।

बाजार को मुट्ठी में करना (Corner)—किसी वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने के प्रयास को "मुट्ठी मे करना" कहते हैं। यदि एक मारवाडी सेठ या उनका एक समूह भारतीय कपास की एक वर्ष की सपूर्ण पैदावार को खरीदने का प्रयत्न करता है ताकि बाद में वह उसे ऊचे दामो पर बेच सके, तो उसके इस प्रयत्न को "मुट्ठी में करना" कहेंगे। आजकल सचार तथा परिवहन के उन्नत साधनो के कारण इस प्रकार के प्रयत्न प्राय असफल ही रहते हैं।

३ सघ के लिए अनुकूल कारण (Factors Favourable to Combination)—अनेक कारण ऐसे हैं, जिनसे बडे-बडे व्यावसायिक सघ स्थापित होते हैं। कोई भी वस्तु, जो सहयोग (co-operation) को सुविधा प्रदान करती है, या अपने हित के लिए किसी कार्य को करने पर मजबूर करती है, वह सघ की स्थापना मे सहायता करती है। ऐसे कुछ कारण नीचे दिये जाते हैं —

(क) कच्चे मालो की प्राकृतिक दुर्लभता अथवा नियन्त्रण से एकाधिकार को बढावा मिलता है।

(ख) तटकर (tariffs) लगाने से विदेशी प्रतियोगिता या तो सीमित हो हो जाती है या शिथिल हो जाती है। इसलिए तटकर को ट्रस्ट का जन्मदाता कहा जाता है। विदेशी प्रतियोगिता से मुक्त होकर व्यवसायी देश में से प्रतियोगिता को दूर करने के लिए सगठित होते हैं, ताकि उन्हे अधिक-से-अधिक लाभ मिल सके।

(ग) जब निर्माताओ (manufacturers) की सख्या बहुत कम होती है और उद्योग किसी विशेष स्थान में सीमित होता है, तो उस समय सघ बनना सरल होता है। यदि सरकार नवागन्तुको (new-entrants) पर प्रतिबन्ध लगा देती है, या उस व्यवसाय को आरम्भ करने के लिए अत्यधिक पूजी की आवश्यकता होती है तो निर्माताओ की सख्या कम हो जायेगी।

(घ) यदि प्रतियोगी फर्म समान रूप से शक्तिशाली है, तो उनकी परस्पर गुट बनाने की प्रवृत्ति होती है। कोई भी बडी फर्म किसी कमजोर फर्म से, जिसे वह कुचल सकती है, गुट में शामिल होने के लिए तैयार नही होती।

(च) प्रामाणिक वस्तुएँ (Standardised products)—यदि उत्पन्न की हुई वस्तुए एक ही प्रकार की है तो उसके एक उत्पादक और दूसरे उत्पादको में अन्तर नही होगा। इसमें सघ सरलता से स्थापित हो जाता है।

(छ) किसी देश की परम्परा भी सयुक्त कार्य के लिए अनुकूल होने पर सघ निर्माण में सहायक बनती है।

एकाधिकार की शर्तों अथवा एकाधिकार शक्ति प्रकट होने मे, प्रो० पीगू दो बातें बताते है—

(क) जब उद्योग के किसी विशेष वैयक्तिक सस्थापन (typical individual establishment) को बडे स्तर पर चलाना किफायती होता है, तथा

(ख) जब व्यवसाय (business) के किसी विशेष वैयक्तिक इकाई (typical individual unit) को बडे स्तर पर चलाना किफायती होता है, अर्थात् जब कई सस्थापनो का नियत्रण एक प्राधिकारी (authority) के हाथ में होता है, जैसे भारत में प्रचलित मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली।

बेन्हम कहता है, "एकाधिकार की सफलता की कुजी पैदावार का नियन्त्रण है।" जब तक एकाधिकारी का पूर्ति (supply) पर नियन्त्रण नही है उसकी एकाधिकार शक्ति नष्ट हो जायगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए उसे नए लोगो को उस क्षेत्र में प्रवेश करने से रोकना चाहिए। बेन्हम कहता है "वे परिस्थितिया जो नवागत (newcomer) को आने से रोकती है अथवा रोधक है, और इस तरह पैदावार की वृद्धि में बाधा डालती है, ऐसा प्रतिष्ठान है जिस पर एकाधिकार की शक्ति आधारित है।" उत्पादन के क्षेत्र में किसी आवश्यक वस्तु का नियत्रण, विशेष तथा कम लागत की मशीनो की जरूरत तथा एकस्व अधिकार (patent rights) नए उद्यमियो को उसके क्षेत्र से बाहर रखेंगे और उसकी (एकाधिकारी की) शक्ति बनाए रखेंगे।

४. सघ के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ (Circumstances Unfavourable to Combination)—कुछ ऐसी भी अवस्थाए है, जो सघ के निर्माण में रुकावट पैदा करती है। यदि नव-आगन्तुको के लिये विशेष कठिनाइया न हो तो, उस दशा में सघ अथवा एकाधिकार की सभावना बहुत कम रह जाती है। यदि उत्पादक इधर-उधर फैले हुए है और प्रत्येक उत्पादक थोडा-थोडा माल बाजार में भेजता है, तो उस दशा में भी सघ का बनना कठिन होगा। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में उसके गुण

का विशेष ध्यान रखना होता है और उस पर व्यक्तिगत ध्यान देना आवश्यक होता है, तो उस समय भी किसी वडे सघ के वनने की सभावना कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त जिस समय कुछ उत्पादक पहले से ही किसी एकाधिकार की अवस्था में होते है, तव भी उनके लिए सघ स्थापित करने का आकर्षण कम होता है ।

संघ को आतंकित करने वाली शक्तियां (Forces that threaten a combination)—एक वार के वने सघ को हमेशा ही वनाये रहना आसान नही होता। दो शक्तिया ऐसी है जो उसको निरन्तर जुदा (disintegrate) करने का प्रयत्न करती रहती है। ये शक्तिया भीतर और वाहर से अपना कार्य करती रहती है।

सघ में भाग लेने वाली कुछ ऐसी फर्में होती है जो यह अनुभव करती है कि समझौता उनकी निष्ठा (loyalty) पर अधिक दवाव डाल रहा है । उन्हे पता चलता है कि सघ उनके हित में कार्य नही कर रहा है। हो सकता है कि सघ में सम्मिलित होने वाली फर्मों में से कुछ ने टैकनीकल उन्नति कर ली है, और वे यह समझते हो कि वे अपना व्यवसाय स्वय देखने मे समर्थ है। यदि समझौते की रुकावट न होती तो वह वाजार को अधीन कर लेने की आशा करते। सभवत उन्हें अपनी सामर्थ्य से कम काम करना होता है और उन्हें पता होता है कि जिस शक्ति का उपयोग नही हो पा रहा है, वह अत्यधिक हानि है। सभवत कोटा (quota) नियत करना अन्यायपूर्ण समझा जाता है । कभी-कभी वुरे समय का सामना करने के लिए भी सघ का उपयोग किया जाता है और जव समय में परिवर्त्तन हो जाता है तो सघ की भी आवश्यकता नही रहती। योग्य फर्में अनुभव करने लगती है कि वह अयोग्य फर्मों को जीवित रखने के लिए स्वार्थ त्याग कर रही है। इस प्रकार व्यापार और उद्योग में परिवर्त्तन होते रहने मे सघ मे सम्मिलित सव फर्मों मे निष्ठा (loyalty) स्थापित रखना अति कठिन है और कभी-कभी असभव भी हो जाता है। इन्ही कारणो से निरन्तर परित्याग हो रहा है।

किंतु सघ को छिन्न-भिन्न करने वाली केवल यही शक्तिया नही है । कुछ ऐसी शक्तिया भी है जो वाहर से आक्रमण करती है। कभी-कभी नई फर्मों का दवाव काफी वढ जाता है । नई फर्मों के लिए यह आवश्यक नही होता कि वे कम समय काम करें, जैसा कि पुरानी फर्मों को कीमतें ऊची करने के लिए करना पडता है। सघ द्वारा रक्षित ऊची कीमतो से तो वे लाभ उठाती है, किन्तु स्वत पूर्ण सामर्थ्य से काम करती है। इस प्रकार वढे हुए उत्पादन से वाजार सस्ता होने लगता है । इससे वचने के लिए सघ को उत्पादन कम करना पडता है। इस प्रकार वाहर वाले अथवा नई फर्में लाभ उठाती है और सघ हानि सहता है ।जव यह वाहरी दवाव अत्यधिक हो जाता है तो संघ को समाप्त करना पडता है, और सघ के सव सदस्यो को काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है। सन् १९३० के लगभग भारतीय जूट मिल एसोसिएशन के सदस्यो को ऐसी ही कठिनाइयो का सामना करना पडा । जूट मिल्स एसोसिएशन को अपने सदस्यो को कार्य-स्वतन्त्रता के लिए मुक्त करना पडा और समझौता समाप्त हो गया ।

इस प्रकार भीतर और वाहर की शक्तियो से आतकित सघ अधिक समय तक जीवित नही रह सकता ।

५. एकाधिकारो के गुण तथा दोष (Merits and Demerits of Monopolies)—एकाधिकार स्थापन प्राय बडी व्यापार-सस्थाए होती है और इस प्रकार उन्हें वडे स्तर के उत्पादन की सभी किफायते प्राप्त होती है। नियमित तथा सतोपजनक पूर्ति निश्चित होती है और वृहत् स्रोतो के कारण बुरे समय का भली प्रकार सामना कर सकते है। गुट (combination) दूसरे सदस्यो के आविष्कारो तथा व्यापार चिह्नो (trade marks) का उपयोग कर सकता है । उन्हे ज्वाइट-स्टॉक (सयुक्त-समवाय) सिद्धान्तो के लाभ भी प्राप्त है। इसके अलावा उन्हें अपनी एकाधिकार स्थिति से भी कुछ फायदे होते है। इस तरह वे क्रय-विक्रय में किफायत वरत सकते है । उन्हें उत्तम कौशल (superior skill) प्राप्त है और इसलिए दक्षता (efficiency) का उच्च स्तर प्राप्त है । वितरण (distribution) की ओर वे अपने विक्री विभागो (sales departments) का ज्यादा किफायत से प्रवन्ध कर सकते है। चूकि उन्हे प्रचार (publicity) पर अधिक खर्च करने की जरूरत नही पडती । एकाधिकार उपभोक्ताओ पर और वस्तुओ के गुण तथा मात्रा पर प्रभाव डालता है, और उसके साथ ही उत्पादन के साधनो के उपयोग और पारिश्रमिक को भी प्रभावित करता है।

(i) उत्पादन के साधनो का पारिश्रमिक घट जाता है क्योकि एकाधिकार की अवस्था में उन साधनो की माग प्रतिद्वद्वी फर्मों के मुकाबले में कम हो जाती है।

(ii) सघ में हर फर्म के लिए साधनो का कोटा (quota) नियत कर दिया जाता है, ताकि वह अपने सामर्थ्य से कम काम करे। इस प्रकार उत्पादन की कुछ शक्ति वेकार रह जाती है।

(iii) चूकि कोटे का अनुकालिक पुनरीक्षण (periodic revision) होता रहता है, इसलिए हर फर्म यह प्रयत्न करती है कि उसे आगामी पुनरीक्षण के अवसर पर अधिक कोटा मिले। इस उद्देश्य के लिए समझौता चालू रहने के काल मे वह चुपचाप अतिरिक्त साधनो को जुटा लेते है। इन सव का फल यह होता है कि उद्योग की उत्पादन शक्ति फालतू बढ जाती है।

(iv) इस कोटा प्रणाली का एक फल यह भी होता है कि उत्पादन कार्य कम कार्य-कुशल इकाइयो (units) में भी होने लगता है। कमजोर फर्मो को जीवित रखने के लिए योग्य फर्मो को अपनी सामर्थ्य से कम उत्पादन करना पडता है। ये बातें स्पष्टत उपभोक्ताओ के हितो के लिए हानिकारक है, क्योकि लागत जरूरत से ज्यादा होती है।

(v) एकाधिकार अवस्था मे उत्पादन के साधन उपभोक्ताओ की इच्छानुसार वितरित नही किये जाते, वल्कि एकाधिकारी के निजी निर्णय के आधार पर होते है। इसलिए एकाधिकारी उपभोक्ता की सपूर्ण सत्ता (sovereignty) को सीमित करता है और उत्पादन के साधनो को भी अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक या लाभ लेने से रोकता है।

(vi) एकाधिकारी नयी पूजी और नये उद्यम के मार्ग में वाधक होता है और उद्योग में उनके प्रवेश को रोकता है। नये रक्त का समावेश सभवत समाज के लिए वहुत लाभदायक होता, किन्तु एकाधिकारी, प्रतियोगी उद्योगो को कुचलकर, समाज को

इस लाभ से वंचित करता है।

(vii) एकाधिकारी टैकनीकल उन्नति को भी समय के पीछे डाल देता है। वह अपने अधिकतम लाभ की चिन्ता करता है। कभी-कभी उसको यह उचित नही मालूम होता है कि वह पुरानी मशीनें बदल कर नई मशीनें लगाये। उसे प्रतिद्वद्विता का डर नही रहता, जिसके फलस्वरूप वह नवीन आविष्कारो और रीतियो की सहायता लेकर उत्पादन के खर्चों में भी कमी नही करता। प्रतियोगिता के अन्तर्गत जो फर्म आधुनिक मशीनो का (उपकरणो का) उपयोग करती है, वही बाजी मार ले जाती है। इससे उद्योग में आविष्कार को प्रोत्साहन मिलता है। एकाधिकार के कारण उपभोक्ता उत्पादन के दूसरे कार्यपटु तरीको से होने वाले फायदो से वंचित रहता है।

(viii) एकाधिकार मे उत्पादन प्रतिद्वद्वी दशाओ के उत्पादन से कम होता है। बाजार की हालत खराब न हो, इसलिए उत्पादन कम कर दिया जाता है, या नष्ट कर दिया जाता है। ब्राज़ील की कॉफी इस्टीट्यूट (Coffee Institute of Brazil) ने सन् १९३१ और १९३४ के बीच मे २० लाख टन से अधिक कॉफी नष्ट कर दी थी। उत्पादन के कुछ अग जान बूझकर बेकार रखे जाते है या मशीनो से कम काम लिया जाता है, बशर्ते कि उनसे पूरी तौर से काम लेने पर एकाधिकार लाभ में कमी होने की सभावना मालूम होती हो।

(ix) एकाधिकार में कीमते सामान्यत ऊची होती है। हालाकि ऐसे कारण बहुत से हैं जिनसे कि एकाधिकार की दशा में भी वस्तु का दाम कम होना चाहिये। एकाधिकारी को भीतरी और बाहरी बचत की भी भारी गुजाइश होती है। वह 'अविभाज्य' (indivisible) साधनों का पूर्ण उपयोग कर सकता है। उसे प्रचार के लिए भी अधिक धन व्यय करने की आवश्यकता नही पडती। क्रय-विक्रय मे भी उसे सदैव सुविधा रहती है। उसके कारखाने का आकार समुचित निर्माण और उत्पादन के निकटतर हो सकता है। इसलिए एकाधिकारी को वे सब सुविधाए है जिनसे वह उत्पादन के खर्च को कम कर सकते है। इस पर भी हम देखते है कि एकाधिकारी जो कीमते लेता है, वे प्रतिद्वद्वी दशा की कीमतो से आम तौर पर अधिक होती है। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है जिसके कारण कि एकाधिकारी अपनी स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। कभी-कभी वे अपने ग्राहको पर अनुचित शर्तें लगाते है अथवा उनके साथ विभेद का वर्ताव करते है। इस प्रकार हम देखते है कि एकाधिकार से उपभोक्ताओ को हानि होती है, जबकि वास्तव में उन्हें होनी नही चाहिये।

(x) वे विधान सभा के सदस्यो को घूस आदि देते है और इस प्रकार व्यापार सदाचार (morality) तथा लोक सदाचार के स्तर को गिराते है।

(xi) अन्त में हम यह भी देखते है कि एकाधिकार से धन के वितरण (distribution of wealth) पर भी बुरा प्रभाव होता है। एकाधिकारी धनवान् होते है और उनकी प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक धनवान् बनने की रहती है। इस प्रकार एकाधिकार के अस्तित्व से धन-वितरण मे असमानता बढती जाती है।

६ एकाधिकार के प्रति मौजूदा प्रवृत्तियाँ (Recent Tendencies

Towards Monopolies)—एक जमाना था जब उद्योग तथा व्यापार में गुटों (combinations) को सशय की दृष्टि से देखा जाता था। वे समुदाय के व्यापक हितो मे वाधक समझे जाते थे। अमेरिका मे ट्रस्ट के खिलाफ कानून पास किये गए, और राज्य सर्वत्र सघ-चलन (combination movement) के ऊपर कडी दृष्टि रखने लगे। सघो को खतरनाक समझा जाता था।

परन्तु अब यह दृष्टिकोण वदल गया है। एकाधिकारी व्यवस्था अब समाज के लिए सदा हानिकर नही समझी जाती। वल्कि किसी उद्योग को वैज्ञानिक रूप देने के लिए अब यह ढग आवश्यक समझा जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के वाद वहा के उद्योग को स्वत उसके अस्तित्व के लिए अभिनवीकरण (rationalisation) करना पडा। भीतरी प्रतिद्वद्व को दूर कर दिया गया और प्रतिद्वद्वी इकाइयो को एक सगठन के अधीन कर दिया गया था, जो उत्पादन और वितरण का नियन्त्रण करता था। उस समय जर्मनी मे सघ सवधी चलन का वहुत आश्चर्यजनक फल हुआ। यह आदोलन वहा से अमेरिका, जापान और अन्य देशो में फैल गया। हर जगह पर राज्यो ने सघ स्थापित करने के प्रयत्न किए है। महान मन्दी (great depression) ने सघ-व्यवस्था को विशेप योग प्रदान किया, क्योकि उद्योगो को फिर से सगठित करने के लिए उनको अभिनवी-करण (rationalisation) रूप देना और उन्हें स्थिर वनाये रखना आवश्यक समझा गया था। इसलिए एकाधिकार और औद्योगिक कार्य-पटुता के वीच वहुत गहरा सवध है।

७ एकाधिकारी पर रोक (Checks on the Monopolist)—ऊपर दिये हुए विवरण से शायद ऐसा लगेगा कि एकाधिकारी अपने लाभ का ही ध्यान रखकर मनमाना दाम ले लेता है। परन्तु एकाधिकारी स्वेच्छाचारी के रूप में व्यवहार नही कर सकता। एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग पर अनेक प्रतिवध है—

पहली वात तो यह है कि एक एकाधिकारी सम्भाव्य प्रतिद्वद्वियो (potential rivals) से सदैव डरता रहता है। यदि वह अत्यधिक कीमतें कर देता है, तो कुछ अन्य उद्योग-परिचालक अवश्य ही उस क्षेत्र में आ जायेंगे और ऊँचे दामो से लाभ उठायेंगे।

दूसरे, यह भी हो सकता है कि उपभोक्ता भी चुपचाप उन्हें सहन न करें। उनके शोषण की भी आखिर एक सीमा है। दामो में एक पैसे की वृद्धि भी उनके विनाश का कारण हो सकती है। उपभोक्ता सक्रिय रूप में वहिष्कार कर सकते है। इसलिए कोई भी एकाधिकारी उपभोक्ताओ की सहानुभूति को ठुकराने का साहस नही कर सकता।

तीसरे, शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसका प्रतिस्थापन (substitution) कम या पूर्ण रूप से न हो सके। इस प्रकार प्रतिस्थापित वस्तुओ से एकाधिकारी की शोषण प्रवृत्ति को वहुत कुछ सीमित किया जा सकता है। उपभोक्ता एकाधिकारी वस्तु और प्रतिस्थापित वस्तु के दामो में केवल एक विशेष सीमा तक ही अन्तर को सहन करते हैं। जैसे ही वह अन्तर उस सीमा को पार कर जाता है, वैसे ही प्रतिस्थापित वस्तु अपनी जगह वना लेती है।

चौथे, एकाधिकारी माग की स्थितियो पर लापरवाही करके स्वतन्त्र रूप से कार्य

नही कर सकता। उसको कदम-कदम पर माग की स्थिति पर विचार करने के लिए वाध्य होना पडता है। यदि माग लोचदार है तो एकाधिकारी की दशा भी उसी के अनुसार कमजोर होती है।

पांचवें, हम यह देख चुके हैं कि सघ के भीतर की शक्तिया उसे निरन्तर आतकित रखती है। इस कारण सघ के अस्तित्व को वनाये रखना सरल नही है। सघ एक प्रकार का ऐसा मकान है, जो भीतर से अपने ही विरुद्ध विभाजित है और इसीलिए एकाधिकारी मनमानी नही कर पाते।

अन्त में, हम यह देखते हैं कि राज्य द्वारा हस्तक्षेप (state intervention) का भय तो रहता ही है। कोई भी राज्य जनता के हितो का रक्षक होते हुए किसी एकाधिकारी को समाज का शोषण करते नही देख सकता। आवश्यकता पडने पर राज्य हस्तक्षेप करने के लिए सदा तैयार रहता है। इससे एकाधिकारी की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति पर यह कार्यवाही हितकर नियन्त्रण के रूप में है।

८. एकाधिकार पर सार्वजनिक नियत्रण तथा स्वामित्व (Public Control and Ownership of Monopolies)—एकाधिकारी आम तौर पर उत्पादन कम कर देता है जिससे कि वह ऊँचा दाम लेकर अपना लाभ वढा सके। यह रीति वास्तव में समाज-विरोधी है। राज्य को एकाधिकारी के लाभ के लिए जनता के शोषण करने की कुप्रवृत्ति का नाश और उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा के लिए अवश्य ही जनता के रक्षक की हैसियत से हस्तक्षेप करना चाहिये।

एकाधिकारो को नियत्रित करने के लिए सभावित उपाय —

(i) **संघ-विरोधी विधान वनाना** (Trust-preventing and Trust-breaking Legislation)—अमेरिका में शरमन एन्टी-ट्रस्ट लॉ सन् १८९० और सन् १९१४ में क्लेटन एन्टी-ट्रस्ट लॉ स्वीकार किए गए। जर्मनी और आस्ट्रिया में भी व्यवसायी-समझौतो के विरुद्ध कानून वने। परन्तु इस प्रकार के कानून सदैव कारगर न हुए। जव एक प्रकार का सघ कानून-विरुद्ध घोषित किया गया तो वकीलो के चातुर्य ने एक दूसरी ही तजवीज निकाल दी। कभी-कभी अनियमित समझौते नियमित समझौतो की जगह ले लेते। सन् १९२७ में व्यापारिक वोर्ड ने व्यापार और उद्योग की कमेटी को जो सूचना दी थी उससे मालूम हुआ कि राजकीय नियत्रण को केवल आशिक सफलता ही मिली थी।

(ii) **अनुचित रीतियो की रोक** (Suppression of Unfair Practices) प्रोफेसर पीगू ने कहा है कि राज्य को सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्व की रक्षा करनी चाहिये और कुरीतियो (clubbing devices), को जिनसे सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्वी डर कर भागते है, नियन्त्रण करना चाहिये। इस प्रकार की कुरीतिया यह है—जैसे विनाशकारी कीमतें घटाना (dumping), विकट प्रतिद्वन्द्विता, और वहिष्कार (boycott)। परन्तु वह भी इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि यदि इन कुरीतियो के नियन्त्रण करने में और सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्व को वनाए रखने मे सफलता मिली भी तो वह अपूर्ण ही होगी।

(iii) **लाभ और कीमतो पर नियत्रण** (Control of Prices and Profit)—लाभ और कीमतो पर नियन्त्रण रखने में राज्य एकाधिकार को नियमित कर सकता

अध्याय १६

विनिमय—बाज़ार

(EXCHANGE—MARKETS)

१ वाजार का अर्थ—जेवन्स (Jevons) का कहना है, "मूलत, वाजार नगर में एक ऐसा सार्वजनिक स्थान होता था, जहाँ आवश्यक व दूसरे प्रकार की वस्तुए विक्रय के लिए रखी जाती थी। पर अव इस शब्द के अर्थ का विस्तार करके इसको यह अर्थ दे दिये गये है कि **ऐसे व्यक्तियों का समुदाय, जिनमें आपस में व्यापारिक सम्बन्ध हों और जो किसी वस्तु के बड़े-बड़े सौदे करते हो**, वह वाजार कहलाता है। किसी बड़े शहर में उतने ही वाज़ार हो सकते है, जितनी कि वहाँ व्यापारिक महत्त्वपूर्ण शाखाए होती है तथा इस प्रकार के वाजार स्थानीय भी हो सकते है और नही भी। **किन्तु स्थान-विशेष (locality) का भाव आवश्यक नहीं है**। यदि व्यापारी आपस में मेले, सभाओ, विज्ञापनो, डाकखानो और दूसरे उपायो से आवागमन रखते हो और भले ही वह किसी नगर में, अथवा प्रदेश में या देश मे, फैल गए हो, किन्तु तव भी वे बाजार का निर्माण कर सकते है।"[1] फ्रासीसी अर्थशास्त्री कुर्नो (Cournot) के शब्दो में "वाजार शब्द से अर्थशास्त्र के विद्वानो का आशय किसी विशेष हाट से, जहाँ वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता हो, नही होता, वल्कि उस सम्पूर्ण प्रदेश से होता है, जिससे ग्राहक और विक्रेताओ के वीच इस प्रकार का स्वतत्र आदान-प्रदान हो कि उन्ही वस्तुओ की कीमत अधिक शीघ्रता और सरलता से समान हो सके।"

इस प्रकार बाज़ार के लिए निम्न वातें आवश्यक है (१) वह वस्तु जिसका व्यवहार होना है, (२) ग्राहको व विक्रेताओ का मौजूद होना, (३) एक स्थान, चाहे वह एक प्रदेश विशेष में हो, एक देश अथवा पूर्ण ससार में हो, (४) विक्रेता व ग्राहको में इस प्रकार का आदान-प्रदान हो कि एक वस्तु की कीमत एक समय में एक ही रहे।

(क) **क्षेत्रफल** (area) के आधार पर बाज़ार को स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व-व्यापी किस्मो में बाटा जा सकता है। यह विभाजन व्यापारियो पर निर्भर है। तथा (ख) **समय** (time) के आधार पर वाज़ार का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—किसी दिन अथवा समय विशेष के भाव (market price), अल्प-कालीन कीमत, दीर्घकालीन कीमत अथवा वहुदीर्घकालीन अथवा लौकिक (secular) वाज़ार, जिसका विस्तार एक पीढी तक हो।

२ वाज़ारो का विकास (Evolution of Markets)—वाज़ारो के विकास का अध्ययन दो दृष्टिकोणो से किया जा सकता है (क) भौगोलिक (geogra-

---

1. Quoted by Marshall—Economics of Industry, pp 134 35

phical) तथा (ख) कार्यात्मक (functional)।

भौगोलिक दृष्टि से बाज़ार के विकास की चार अवस्थाए है—(१) प्रारभ में **पारिवारिक** (family) बाज़ार हुआ करता था, जिसमें एक कुटुम्ब के बीच विनिमय होता था, (२) उसके बाद **स्थानीय बाजारों** (local markets) का विकास हुआ, जिसमें क्रय-विक्रय एक नगर अथवा गाव तक ही सीमित था, (३) इसके बाद **राष्ट्रीय बाज़ारों** (national markets) का जन्म हुआ, जब एक वस्तु के लिए संपूर्ण राष्ट्र एक बाजार माना जा सके, तथा (४) आज का **विश्व बाजार** (world market) है, जिसमें कुछ चीजो का व्यापार विश्व-व्यापी होता है। स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व-बाज़ार साथ-साथ ही चलते हैं। कुछ चीजो का बाजार सर्वथा स्थानीय होता है, जैसे ताजा दूध, कुछ वस्तुओ का बाजार राष्ट्रीय होता है, जैसे कुछ प्रकार के फल और बहुत-सी वस्तुओ का बाज़ार विश्वव्यापी होता है जैसे जूट, कपास, चाय, मूल्यवान् धातुए आदि। भौगोलिक विकास सदैव परिवहन साधनो की प्रगति और ठडा करने जैसी वैज्ञानिक रीतियो के विकास पर निर्भर करता है।

जहा तक **कार्यात्मक विकास** (functional development) का प्रश्न है, बाज़ार का विकास इन अवस्थाओ में हुआ—(१) **साधारण अथवा मिश्रित बाज़ार** (the general or mixed market)—इस प्रकार के बाज़ार में एक ही स्थान पर नाना प्रकार की चीजो का क्रय-विक्रय होता था। (२) **विशिष्ट बाज़ार** (the specialised market)—हर वस्तु के लिए जुदा मडी (मार्केट) जैसे, आजकल सूत, कपडा, श्रम मार्केट, द्रव्य मार्केट, विदेशी विनिमय मार्केट, स्टॉक एक्सचेंज (श्रेष्ठि चत्वर), तथा प्रोड्यूस एक्सचेंज आदि। (३) **नमूनो द्वारा विक्रय** (marketing by sample)—वस्तुओ का मान-नयन कर लिया जाता है (standardised) और क्रय-विक्रय नमूनो के आधार पर होता है। (४) **ग्रेडिंग द्वारा विक्रय** (marketing by grades)—इस रीति में वस्तुओ की सही-सही क्वालिटी दी जाती है, जिससे नमूना देखने की आवश्यकता नही रहती। गेहूँ की ५९१-सी तथा ८-ए नबर की किस्में बडी प्रसिद्ध है। और ४-एफ, तथा एम जी एफ. जी भारत में कपास की प्रसिद्ध किस्मे है।

३ बाज़ार का विस्तार (The Extent of the market)—बाज़ार का आकार बहुत-सी बातो पर निर्भर है—

(१) **वस्तु के लक्षण** (The Character of commodities)—उन्ही वस्तुओ का बाजार विस्तृत हो सकता है जिनमें निम्न गुण हो (i) ले जाई जाने योग्य (portable), (ii) टिकाऊ (durable), (iii) नमूना बनाने, श्रेणीबद्ध करने और सही विवरण देने योग्य, और (iv) ऐसी कि जिनकी पूर्ति (supply) में वृद्धि की जा सकती हो। इस प्रकार की वस्तुओ में गेहूँ, सोना, सरकारी सिक्यूरिटियाँ आदि शामिल है। भारी सामान जैसे ईंटे तथा शीघ्र ही खराब होने वाली चीजें जैसे ताजे फल, तरकारी आदि का मार्केट भी सीमित होता है।

(२) **वस्तुओ की माग का रूप** (The Nature of the Demand for Commodity)—जिस वस्तु की माग विश्वव्यापी होगी उसका व्यापार ऐसी वस्तुओ

अध्याय १६

विनिमय—बाज़ार

(EXCHANGE—MARKETS)

१ बाजार का अर्थ—जेवन्स (Jevons) का कहना है, "मूलत, बाजार नगर में एक ऐसा सार्वजनिक स्थान होता था, जहाँ आवश्यक व दूसरे प्रकार की वस्तुए विक्रय के लिए रखी जाती थी। पर अब इस शब्द के अर्थ का विस्तार करके इसको यह अर्थ दे दिये गये है कि ऐसे व्यक्तियो का समुदाय, जिनमें आपस मे व्यापारिक सम्बन्ध हों और जो किसी वस्तु के बडे-बडे सौदे करते हो, वह बाजार कहलाता है। किसी बडे शहर में उतने ही बाज़ार हो सकते है, जितनी कि वहाँ व्यापारिक महत्त्वपूर्ण शाखाए होती है तथा इस प्रकार के बाजार स्थानीय भी हो सकते है और नही भी। किन्तु स्थान-विशेष (locality) का भाव आवश्यक नहीं है। यदि व्यापारी आपस में मेले, सभाओ, विज्ञापनो, डाकखानो और दूसरे उपायो से आवागमन रखते हो और भले ही वह किसी नगर में, अथवा प्रदेश में या देश में, फैल गए हो, किन्तु तब भी वे बाजार का निर्माण कर सकते है।"[1] फ्रासीसी अर्थशास्त्री कुर्नो (Cournot) के शब्दो में "बाजार शब्द से अर्थशास्त्र के विद्वानो का आशय किसी विशेष हाट से, जहाँ वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता हो, नही होता, वल्कि उस सम्पूर्ण प्रदेश से होता है, जिससे ग्राहक और विक्रेताओ के बीच इस प्रकार का स्वतत्र आदान-प्रदान हो कि उन्ही वस्तुओ की कीमत अधिक शीघ्रता और सरलता से समान हो सके।"

इस प्रकार बाज़ार के लिए निम्न बातें आवश्यक है (१) वह वस्तु जिसका व्यवहार होना है, (२) ग्राहको व विक्रेताओ का मौजूद होना, (३) एक स्थान, चाहे वह एक प्रदेश विशेष में हो, एक देश अथवा पूर्ण ससार में हो, (४) विक्रेता व ग्राहको में इस प्रकार का आदान-प्रदान हो कि एक वस्तु की कीमत एक समय में एक ही रहे।

(क) क्षेत्रफल (area) के आधार पर बाज़ार को स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व-व्यापी किस्मो मे बाटा जा सकता है। यह विभाजन व्यापारियो पर निर्भर है। तथा (ख) समय (time) के आधार पर बाज़ार का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—किसी दिन अथवा समय विशेष के भाव (market price), अल्प-कालीन कीमत, दीर्घकालीन कीमत अथवा बहुदीर्घकालीन अथवा लौकिक (secular) बाज़ार, जिसका विस्तार एक पीढी तक हो।

२ बाज़ारो का विकास (Evolution of Markets)—बाज़ारो के विकास का अध्ययन दो दृष्टिकोणो से किया जा सकता है (क) भौगोलिक (geogra-

---

1. Quoted by Marshall—Economics of Industry, pp 134 35

phical) तथा (ख) कार्यात्मक (functional)।

भौगोलिक दृष्टि से बाजार के विकास की चार अवस्थाए है—(१) प्रारभ में **पारिवारिक** (family) बाज़ार हुआ करता था, जिसमें एक कुटुम्ब के बीच विनिमय होता था, (२) उसके बाद **स्थानीय बाजारो** (local markets) का विकास हुआ, जिसमें क्रय-विक्रय एक नगर अथवा गाव तक ही सीमित था, (३) इसके बाद **राष्ट्रीय बाजारों** (national markets) का जन्म हुआ, जब एक वस्तु के लिए सपूर्ण राष्ट्र एक बाजार माना जा सके, तथा (४) आज का **विश्व बाजार** (world market) है, जिसमें कुछ चीजो का व्यापार विश्व-व्यापी होता है। स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व-बाज़ार साथ-साथ ही चलते है। कुछ चीजो का बाजार सर्वथा स्थानीय होता है, जैसे ताजा दूध, कुछ वस्तुओ का बाजार राष्ट्रीय होता है, जैसे कुछ प्रकार के फल और बहुत-सी वस्तुओ का बाज़ार विश्वव्यापी होता है जैसे जूट, कपास, चाय, मूल्यवान् धातुए आदि। भौगोलिक विकास सदैव परिवहन साधनो की प्रगति और ठडा करने जैसी वैज्ञानिक रीतियो के विकास पर निर्भर करता है।

जहा तक **कार्यात्मक विकास** (functional development) का प्रश्न है, बाज़ार का विकास इन अवस्थाओ में हुआ—(१) **साधारण अथवा मिश्रित बाजार** (the general or mixed market)—इस प्रकार के बाज़ार में एक ही स्थान पर नाना प्रकार की चीजो का क्रय-विक्रय होता था। (२) **विशिष्ट बाजार** (the specialised market)—हर वस्तु के लिए जुदा मडी (मार्केट) जैसे, आजकल सूत, कपडा, श्रम मार्केट, द्रव्य मार्केट, विदेशी विनिमय मार्केट, स्टॉक एक्सचेंज (श्रेष्ठि चत्वर), तथा प्रोड्यूस एक्सचेंज आदि। (३) **नमूनो द्वारा विक्रय** (marketing by sample)—वस्तुओ का मान-नयन कर लिया जाता है (standardised) और क्रय-विक्रय नमूनो के आधार पर होता है। (४) **ग्रेडिंग द्वारा विक्रय** (marketing by grades)—इस रीति में वस्तुओ की सही-सही क्वालिटी दी जाती है, जिससे नमूना देखने की आवश्यकता नही रहती। गेहूँ की ५९१-सी तथा ८-ए नवर की किस्में बडी प्रसिद्ध है। और ४-एफ, तथा एम. जी एफ. जी भारत में कपास की प्रसिद्ध किस्मे है।

३ बाजार का विस्तार (The Extent of the market)—बाज़ार का आकार बहुत-सी बातो पर निर्भर है—

(१) **वस्तु के लक्षण** (The Character of commodities)—उन्ही वस्तुओ का बाजार विस्तृत हो सकता है जिनमें निम्न गुण हो (i) ले जाई जाने योग्य (portable), (ii) टिकाऊ (durable), (iii) नमूना बनाने, श्रेणीबद्ध करने और सही विवरण देने योग्य, और (iv) ऐसी कि जिनकी पूर्ति (supply) में वृद्धि की जा सकती हो। इस प्रकार की वस्तुओ में गेहूँ, सोना, सरकारी सिक्यूरिटियाँ आदि शामिल है। भारी सामान जैसे ईंटें तथा शीघ्र ही खराब होने वाली चीजें जैसे ताजे फल, तरकारी आदि का मार्केट भी सीमित होता है।

(२) **वस्तुओ की मांग का रूप** (The Nature of the Demand for Commodity)—जिस वस्तु की माग विश्वव्यापी होगी उसका व्यापार ऐसी वस्तुओ

पूर्ण होती है। चूकि थोक क्रेता विक्रेताओ को पूर्ति तथा माग (supply and demand) के सबध में अधिक जानकारी होती है। खुदरा मार्केट में, जहा उपभोक्ता लोग सीधे उपभोग के लिए माल खरीदते हे, प्रतियोगिता अपेक्षाकृत अपूर्ण रहती है।

प्रतियोगिता लाभदायक भी है और हानिकारक भी। इससे उत्पादन और उपभोग में साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित होती है और उपभोक्ताओ के लिए अपनी इच्छाएँ अधिक प्रभावी रूप में पूरा करना सम्भव होता है। व्यापारियो में प्रतियोगिता से आर्थिक उन्नति होती है और इस प्रतियोगिता से उपभोक्ताओ को फायदा होता है। प्रतियोगिता की स्थिति मे उत्पादन के साधनो को अत्यधिक पारिश्रमिक रोजगार (remunerative employment) मिलता है। लेकिन प्रतियोगिता कई प्रकार से क्षयकारी भी है। उत्पादन पर आने वाली लागत के अलावा विज्ञापन पर अतिरिक्त खर्चा होता है। प्रतियोगिता से सकट पैदा होता है। नया उद्यम (enterprise) हतोत्साहित होता है। इसके कारण से सस्ते तथा अपमिश्रित (adulterated) माल का उत्पादन होता है जिससे शक्तिशाली निर्माता निर्बल उपभोक्ता का शोषण करते है।

५ पूर्ण तथा अपूर्ण बाजार (Perfect and Imperfect Markets) —"जब सम्भाव्य (potential) विक्रेता और ग्राहको को इस बात का ज्ञान होता है कि किन-किन कीमतो पर सौदे हो रहे है, दूसरे ग्राहक व विक्रेता किस कीमत पर सौदा करने को तैयार है, और जब कोई भी ग्राहक किसी भी विक्रेता से वस्तु खरीद सकता है तो बाजार पूर्ण कहलाता है। इसके विपरीत परिस्थितियो में बाजार अपूर्ण होता है। ऐसी परिस्थितियो में किसी वस्तु की कीमत सारे बाजार में एक ही रहेगी (परिवहन व आयात कर आदि के व्यय निकाल कर)।"[1] पूर्ण मार्केट का यह अर्थ है कि क्रेताओ तथा विक्रेताओ को न सिर्फ पूरा ज्ञान ही होगा बल्कि वे इस ज्ञान का अपने लाभ के लिए पूरा उपयोग भी कर सकेंगे। मार्शल के शब्दो में, "बाजार जितना ही अधिक पूर्ण होगा, उतनी ही किसी वस्तु की कीमत का एक समय में, बाजारो के सब भागो में, एक-सा होने की अधिक सभावना रहेगी।"

इसके विपरीत निम्नलिखित किसी एक कारण होने पर बाजार अपूर्ण हो जाएगा —

(1) क्रेताओ तथा विक्रेताओ को माग कीमत (demand price) तथा उस कीमत पर वस्तु के बेचे जाने की मात्रा का एक-दूसरे पर प्रभाव का ज्ञान नही होता।

(ii) क्रेताओ तथा विक्रेताओ में एक दूसरे की मूल्य नीति के ज्ञान का अभाव नही होता परन्तु उनमें उस ज्ञान के प्रयोग की शक्ति नही होती। स्वभाव, रूढिवादिता, पक्षपात अथवा राज्य नियन्त्रण उन्हें सस्ते-से-सस्ते विक्रेता से क्रय करने अथवा महगे-से-महगे खरीदार को बेचने से रोक सकता है।

(iii) किसी वस्तु की सभी इकाइया एक वास्तविक श्रेणी की नही हो सकती। वे एक-दूसरे से या तो स्थान द्वारा अलग की जा सकती हैं अथवा भिन्न तथा अपूर्ण प्रतियोगी मात्राओ मे मिल सकती हे।

---

1 Benham F —Economics (1940), p 25

यह एक बाजार में एक ही कीमत होने से रोकेगी।

दूसरे शब्दो में यदि बाजार में एक वस्तु की एक समय में एक ही कीमत है, तो बाजार पूर्ण समझा जाता है। पर यदि एक ही समय में एक वस्तु की कई कीमतें प्रचलित है, तो बाजार अपूर्ण समझा जाता है।

निम्नलिखित कारणो से मार्केट पूर्ण होता है --

(1) **पूर्ण प्रतियोगिता** (Perfect Competition)--जब तक माग और पूर्ति दोनो ही दिशाओ में पूर्ण प्रतियोगिता नही होगी, तब तक दिये हुए समय मे एक वस्तु की कीमत एक नही होगी। इसलिये यह भी आवश्यक है कि ग्राहको और विक्रेताओ दोनो को इस बात का ज्ञान हो कि क्वालिटी कैसी है और दूसरे लोग किस कीमत पर सौदा कर रहे हैं।

(ii) **परिवहन के सस्ते साधन** (Cheap Means of Transport)—बाजार में एक वस्तु की कीमत तभी समान रह सकती है जबकि कीमत में परिवर्तन की सूचना आसानी से और जल्दी से बाजार के विभिन्न क्षेत्रो मे भेजी जा सके। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वस्तु उस जगह पर, जहा वह अधिक कीमत पर बिकती है, जल्दी आसानी से और सस्ते दामो में भेजी जा सके। वस्तुओ का यह आदान-प्रदान तब तक चलेगा, जब तक कि कीमत समान नही हो जायेगी।

(iii) किसी व्यवसाय तथा उद्योग में प्रवेश करने तथा उससे निकलने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(iv) **विस्तृत क्षेत्र** (Wide Extent)—पूर्ण बाजार और विस्तृत बाजार के अर्थ कभी-कभी एक ही समझे जाते हैं। बाजार का क्षेत्र इन बातो पर निर्भर करता है (क) माग और पूर्ति की प्रचुरता, (ख) वस्तु का टिकाऊपन, (ग) उसे ले जाने की सुगमता, (घ) नमूना बनाने ओर श्रेणीबद्ध (grading) करने की सुगमता।

नियोजित पूजी (Invested Capital) अर्थात् (स्टॉक तथा शेयर) का बाजार पूर्ण बाजार का बहुत अच्छा उदाहरण है, चूकि स्टॉक एक्सचेंज मार्केट (stock exchange market) अधिक सगठित होता है। "शेयरो का भाव बताने, सौदे तय करने और उन्हें पूरा करने की रीतिया बिलकुल निश्चित व सर्वविदित होती है। कीमतो का परिचलन शीघ्र व सुगम होता है और सबसे बडी बात तो यह है कि कठोर-से-कठोर कानूनी नियन्त्रण भी इतनी कुशलता से धोखा व जोखिम नही बचा सकते, जितनी सफलता से इस प्रकार के बाजारो में नैतिक स्तर को ऊचा रखकर किया जा सकता है।"—(टॉमस)।

मूल्यवान् धातुओ, प्रथम श्रेणी की हुडियो, विदेशी मुद्राओ व महत्त्वपूर्ण कच्चे मालो के बाजार भी बहुत सगठित होते हैं। इसलिए इन चीजो के व्यापार को भी पूर्ण बाजार कहा जा सकता है।

उपभोक्ता माल का मार्केट, जो वास्तव मे खुदरा होता है और इस तरह कम पूर्ण है। विभिन्न स्थानो में कीमतो मे भी काफी अन्तर रहता है। इस प्रकार थोक मार्केट की अपेक्षा खुदरा (retail) मार्केट कम पूर्ण होते हैं।

नियमत , उत्पादको की वस्तुए थोक विकती है, इसलिए इनके बाजार अधिक पूर्ण होते है। श्रम मार्केट प्राय पूर्ण होता है । चकि श्रम अपेक्षाकृत कम गतिशील होता है, उसमे सौदा करने की शक्ति क्षीण होती है और श्रमिक अधिकतर अज्ञानी होते है, इसलिए श्रम का बाजार सामान्यत अपूर्ण होता है। अस्तु, वास्तविक सम्पदा (real estate) का बाजार सामान्यत पूर्ण होता है, क्योकि ग्राहक खरीदने के पहले अत्यधिक कष्ट उठा लेते है। बाजार मे द्रव्य उधार लिया दिया जाता है और उसकी दर में अप्राप्ति के खतरे और ऋण काल के अनुसार सूद की दरो मे अन्तर होता है। विशेष रूप मे भारत में द्रव्य बाजार (money market) को अपूर्ण समझना चाहिये।

६ स्टॉक विनिमय सगठन (Stock Exchange Organisation) —हमारे यहा के स्टॉक विनिमय अधिकतर लदन के स्टॉक विनिमय बाजार के आधार पर बनाये गये है। इनके सदस्यो के दो वर्ग होते है —(१) आढती (jobbers) और (२) दलाल (brokers)।

आढती स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करते है, किन्तु वह जनता से सीधा सपर्क नही रख सकते। उन्हें दलालो के द्वारा काम करना होता है। इसके विपरीत दलालो को केवल दलाल ही रहना होता है। वह स्वतन्त्र रूप से कोई क्रय नही कर सकते। इन विशिष्टता का प्रयोजन धोखे को कम करना है।

शेयरो के क्रय-विक्रय की प्रणाली इस प्रकार है। सभावित ग्राहक अथवा विक्रेता को दलालो की एक फर्म मे आर्डर देना पडता है, जो एक दलाल के साथ सपर्क करते है। मान लीजिये 'अ' कुछ हिस्से क्रय करना चाहता है। वह स्टॉक के एक दलाल को उन्हें खरीदने का आदेश देता है। तब दलाल स्टॉक-विनिमय मे जाता है, और आढती से मिलकर उन हिस्सो के भाव मागेगा। स्टॉक विनिमय के नियमो के अनुसार आढती को सदैव क्रय-विक्रय के लिए तैयार रहना चाहिये। उसे उन हिस्सो को, जिनकी उसे आवश्यकता नही है, क्रय के लिए और उन हिस्सो को भी, जो उसके पास नही है, बेचने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिये। अतएव आढती को हमेशा दो कीमतें आकनी पडती है। एक तो वह, जिस पर वह खरीदेगा और दूसरी वह कीमत, जिस पर वह बेचेगा। क्रय मूल्य और विक्रय मूल्य में जो अन्तर होता है, वही आढती का लाभ होता है। उसे आढती की बदली (jobber's turn) कहते है।

यदि दूसरा पक्ष भाव को स्वीकार कर लेता है तो सौदा तै हो जाता है। अन्य सब स्टॉक और शेयरो के सौदो का भुगतान इस उद्देश्य के लिए निश्चित दिनो में होता है। यह भुगतान के दिन कहलाते है। इनमें पहले दिन तो यह निश्चित किया जाता है कि दोनो पक्ष अपने सौदे को पूरा करने में समर्थ है अथवा नही। मान लीजिये कि ग्राहक अपने खरीदे हुए शेयरो का रुपया चुकाने में असमर्थ है, तो ऐसी दशा में उसका दलाल आढती को अगली भुगतान के दिन तक जो साधारणतया १५ दिन बाद पडता है, स्थगित करने को कहेगा। आढती इस सुझाव को मान लेता है, पर खरीदार को उस रकम पर, जो उसे देनी थी, और अब जिसे वह अगले भुगतान के दिन देने की प्रतिज्ञा करता है, व्याज देना पडेगा। इस प्रकार का भुगतान अग्रेनयन-प्रभार (contango) कहलाता है।

किन्तु यदि खरीदार के पास क्रय करने को रुपया है, पर आढती वेचे हुए शेयरो का प्रवन्ध नही कर सकता, तो आढती भुगतान की टाल के लिए कहेगा। इसके लिए उसे रुपया देना पडेगा, क्योकि शेयरो के मिलने में देर होने के कारण खरीदार को लाभाश (dividend) की हानि होगी। आढती समय पर शेयर न देने का जुर्माना खरीदार को देता है, वह वैकवार्डेशन (Backwardation) कहलाता है।

पर यदि दोनो वर्ग सौदे को पूर्ण करने के लिये तैयार व समर्थ है, तो अगले दो दिन जिन्हें "अन्त दिन या टिकिट दिन" (Intermediate or Ticket Days) कहते है, सारी कार्यवाही कर ली जाती है। खरीदार का विवरण विक्रेता के पास भेज दिया जाता है, जिससे कि शेयर नियमानुसार, खरीदार के नाम किये जा सके। चौथे तथा अन्तिम दिन रुपए का भुगतान व शेयरो का प्रदान होता है।

७ स्टॉक विनिमय के लाभ (Advantages of Stock Exchange)—स्टॉक-विनिमय के सगठन से अनेक लाभ होते है —

(१) यह नियोजित पूजी (invested capital) के लिए वाजार प्रदान करता है। स्टॉक और शेयरो का सन्तोषजनक वर्गीकरण हो सकता है और उनके वेचने व प्राप्त करने में सुगमता होती है। आवश्यकता पडने पर शेयरो का मालिक अपने शेयरो पर स्टॉक-विनिमय द्वारा नकदी प्राप्त कर सकता है।

(२) इस सगठन की व्यापारिक नैतिकता नियोजको (investors) में विश्वास पैदा करती है तथा फलस्वरूप स्टॉक-विनिमय व्यापार और उद्योग में नवीन पूजी आकर्षित करने में वडी मदद करता है। यदि नियोजित पूजी आसानी से प्राप्त न की जा सके तो नवीन पूजी को व्यापारिक और औद्योगिक व्यवसायो मे आने का प्रोत्साहन नही मिलेगा।

(३) स्टॉक-विनिमय स्टॉक और शेयरो के सौदे को सुगम व सस्ता वना देता है और इससे पूजी की गतिशीलता और परिवर्द्धन में सुगमता होती है।

(४) सिक्यूरिटियो का "सही मूल्य" स्टॉक-विनिमयो में निश्चित होता है। इसमें काम करने वाले अपने काम मे निपुण होते है और वह स्टॉक की सही कीमत, जो उसकी प्राप्ति पर निर्भर करता है, अनुमान कर सकते हैं। निस्सन्देह कभी-कभी स्टॉक विनिमय में सट्टा करने वाले सिक्यूरिटियो की कीमत ऊपरी तौर से वढा देते है और कभी अनुचित रूप से गिरा भी देते है। परन्तु इस प्रकार के परिवर्त्तन अस्थायी होते है। कभी-न-कभी कीमत अवश्य अपने सही स्थान पर आ जाती है।

८. उत्पाद एक्सचेंज (Produce Exchange)—जिस प्रकार स्टॉक तथा शेयरो के क्रय-विक्रय के लिए विनिमय होते है, उसी प्रकार उत्पाद-एक्सचेज भी होते है, जिनमें गेहू, चना, कपास व ऽसन आदि में सट्टा (speculation) होता है। इन उत्पाद एक्सचेंज बाजारो के विभिन्न नाम होते है, जैसे "गल्ला व्यापारी सघ" "कम्पनी" या "चैंवर" आदि। केवल सघ की ओर से मान्य सदस्य ही सौदे कर सकते है। सघ के पास विभिन्न फर्मो की, जिनके साथ सदस्य सौदे कर सकते है, एक सूची होती है। केवल वे ही व्यक्ति इन समितियो के सदस्य हो सकते है जिनके पास काफी

जायदाद आदि हो। प्रवेश शुल्क बहुत अधिक होता है।

एक कोठा (५०० मन) से कम परिमाण की वस्तु में सौदा नही हो सकता। हर व्यक्ति को सौ रुपए प्रति कोठे की गुजाइश रखनी पडती है। यह गुजाइश कभी १०० रुपये से कम नही होनी चाहिये। यदि ऐसा होता है तो या तो समिति सौदे को रद्द कर देती है अथवा इनके पहले की गुञ्जाइश हानि को पूरा करने में पर्याप्त हो, सौदा तय कर लेती है।

सौदे दो प्रकार के होते है (१) हाजिर माल (Spot), इसका आशय यह है कि सौदा तुरन्त पूर्ण हो जाना चाहिये। (२) वायदा (Forward Transactions) अर्थात् जब सौदा वर्तमान मूल्य के अनुसार हो तो वस्तु का प्रदान एक निश्चित तिथि पर भविष्य में होता है।

इस प्रकार के सब सौदे हिन्दुस्तानी महीनो के अनुसार होते है। जैसे, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, भादो, असौज, मगहर, माघ, आदि। पहले १५ दिन में विक्रेता को यह अधिकार होता है कि ग्राहक को वस्तु लेने के लिए कहे और बाद के १५ दिनो मे मागने का अधिकार खरीदार को होता है। महीने के अन्तिम दिन पर खरीदार व विक्रेता, दोनो में से कोई भी माल लेने या देने की सूचना दे सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई ज्येष्ठ, आषाढ का सौदा है, तो १६ ज्येष्ठ से ज्येष्ठ के महीने के अन्त तक किसी भी दिन विक्रेता माल ले लेने की सूचना दे सकता है। खरीदार १ आषाढ से १४ आषाढ तक कभी भी माल माग सकता है। आषाढ की १५ तारीख को, जो उस मास का आखिरी दिन है, और जिस दिन के लिए सौदा किया गया था, खरीदार या विक्रेता दोनो में से कोई भी माल उठाने अथवा देने की सूचना दे सकता है।

यदि खरीदार माल उठाने में, उस समय जब उससे कहा जाय, असमर्थ होता है, या विक्रेता समय पर माल नही दे सकता, तो कम्पनी सौदे को पूर्ण कर देती है। यदि इससे कोई हानि होती है तो वह उसको पूरी करनी पडती है जिसके कारण कि वह हानि हुई। जब खरीदार माल मागता है, तो उसे कुल माल का २५ प्रतिशत मूल्य (value) कम्पनी के पास जमा कर देना पडता है, और विक्रेता माल सौंप देने के बाद कम्पनी से मूल्य ले सकता है।

पर यदि दोनो में से कोई भी पक्ष सौदा पूर्ण करने में असमर्थ होता है, तो उसे नई कीमत पर, जो दूसरे पक्ष के लिए सुविधाजनक हो, सौदा रखने की आज्ञा मिल जाती है। किन्तु इसके पूर्व पुरानी रकम का भुगतान हो जाना चाहिये और उस भुगतान का अन्तर उस पक्ष को मिलना चाहिये, जिसे कीमत के परिवर्तन से लाभ हुआ हो, अर्थात् यदि कीमत गिर गई हो तो खरीदार को अन्तर का भुगतान करना ही होगा।

९. सट्टा (Speculation)—विभिन्न बाजारो में सौदे केवल क्रय-विक्रय के लिए ही नही होते, बल्कि सट्टे के लिये भी होते हैं। सट्टे में व्यापारी वस्तुओ को किसी विशेष समय में होने वाली कीमतो के परिवर्तन के लाभ की आशा से खरीदते अथवा बेचते है। जब कीमतों के हेर-फेर से लाभ उठाने के लिए सौदा वर्तमान कीमत पर करने के पश्चात् उसकी व्यवस्था किसी भविष्य की निश्चित तिथि के लिए कर दी जाती है तो उस सौदा करने को सट्टा [illegible]।

इसलिए सट्टे की अनिवार्यताए है (क) सौदा चालू कीमत (current price) पर किया जाता है। (ख) इसका भुगतान किसी **भावी तिथि** (future date) में होता है। (ग) यह सौदा किसी लाभ के लिए किया जाता है। इसमें माल लेना या देना नही होता, केवल अतर की रकम ही दी जाती है। सट्टे को भविष्य का व्यवसाय (dealings in future) भी कहते है। जिस वस्तु की माग काफी विस्तृत है और जिसको उचित रूप से ग्रेड (grade) किया गया है और जिसकी कीमत चढनी उतरनी (fluctuating) है सट्टे के लिए उपयोगी होती है।

सट्टा दो प्रकार का होता है —

(i) **वैध सट्टा** (Legitimate Speculation)—इस प्रकार के सट्टे मे उन लोगो की गतिविधि (activity) शामिल है जो अपने कार्य मे प्रवीण होते है। वे हर काम वैज्ञानिक और सही रीति से करते है। वे माग की भविष्यवाणी करने व भविष्य की पूर्ति (supply) का अनुमान लगाने का प्रयत्न करते है। इस काम के लिए वह सभी प्रकार के आकडो की सूचनाओ का प्रयोग करते है। वह काम मे आने वाली हर प्रकार की सूचना को इकट्ठा करके भविष्य के उतार-चढाव का अनुमान लगाता है। इन्ही वैज्ञानिक तथा सचेत गणनाओ के आधार पर वह सौदे करता है और यही वास्तविक सट्टा होता है।

(ii) **अवैध सट्टा** (Illegitimate Speculation)—यह सर्वथा जुआ होता है। बहुत-से लोग ऐसे है जिनको माग और पूर्तियो की शक्तियो का ज्ञान नही होता। वे बिना सोचे-समझे अधे होकर सौदा कर लेते है। इस प्रकार के सटोरिये बाजार भाव को अपने अनुसार बनाने का प्रयत्न करते है। प्राय इनका अनुमान सही की अपेक्षा गलत होता है। अक्सर इस प्रकार के नासमझ सटोरिये अपने को बरबाद कर लेते है।

उचित व अनुचित सट्टे में केवल इतना अन्तर है कि पहले में निपुण सटोरिये काम करते है और दूसरे प्रकार के सट्टे का सम्बन्ध नासमझ सटोरियो से है जो निपुण सटोरियो के अधे शिष्य होते है, पर सौदा एक ही प्रकार का करते है। यदि इसी सौदे को निपुण सटोरिये करते है, तो वह उचित होता है अन्यथा अनुचित।

सट्टे का वर्गीकरण **प्रतियोगी सट्टा** (competitive speculation) तथा **एकाधिकारी सट्टा** (monopolistic speculation) के रूप मे हुआ है। पहले वर्ग के सटोरिये कीमतो पर प्रभाव डालने अथवा नियत्रण करने मे अपने को समर्थ नही पाते। इसके विपरीत एकाधिकारी सटोरिये बडे-बडे सौदो में अपने भारी वित्तीय स्रोत लगाकर, जान-बूझ कर कीमतो में परिवर्तन करने का प्रयास करते है। ऐसे सटोरिये कीमतो मे उतार-चढाव कम करने की अपेक्षा बढ़ाते है। इस प्रकार के हस्तक्षेप से वे प्रतियोगी अर्थव्यवस्था की स्वतत्र कार्यवाही मे बाधा डालकर उसे बिगाडते है और किसी समुदाय के स्रोतों के अनुकूल तम (optimum) वितरण को रोकते है।

सट्टे के बाजार मे प्रयोग मे आने वाले कुछ शब्द[1]—

---

१. इन शब्दो का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ, साँड अपने शत्रु को ऊपर और रीछ नीचे फेंक देता है।

जायदाद आदि हो। प्रवेश शुल्क वहुत अधिक होता है।

एक कोठा (५०० मन) से कम परिमाण की वस्तु मे सौदा नही हो सकता। हर व्यक्ति को सौ रुपए प्रति कोठे की गुजाइश रखनी पडती है। यह गुजाइश कभी १०० रुपये से कम नही होनी चाहिये। यदि ऐसा होता है तो या तो समिति सौदे को रद्द कर देती है अथवा इनके पहले की गुञ्जाइश हानि को पूरा करने में पर्याप्त हो, सौदा तय कर लेती है।

सौदे दो प्रकार के होते हैं (१) हाजिर माल (Spot), इसका आशय यह है कि सौदा तुरन्त पूर्ण हो जाना चाहिये। (२) वायदा (Forward Transactions) अर्थात् जब सौदा वर्तमान मूल्य के अनुसार हो तो वस्तु का प्रदान एक निश्चित तिथि पर भविष्य में होता है।

इस प्रकार के सब सौदे हिन्दुस्तानी महीनो के अनुसार होते हैं। जैसे, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, भादो, असौज, मगहर, माघ, आदि। पहले १५ दिन में विक्रेता को यह अधिकार होता है कि ग्राहक को वस्तु लेने के लिए कहे और बाद के १५ दिनो में मागने का अधिकार खरीदार को होता है। महीने के अन्तिम दिन पर खरीदार व विक्रेता, दोनों में से कोई भी माल लेने या देने की सूचना दे सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई ज्येष्ठ, आषाढ का सौदा है, तो १६ ज्येष्ठ से ज्येष्ठ के महीने के अन्त तक किसी भी दिन विक्रेता माल ले लेने की सूचना दे सकता है। खरीदार १ आषाढ से १४ आषाढ तक कभी भी माल माग सकता है। आषाढ की १५ तारीख को, जो उस मास का आखिरी दिन है, और जिस दिन के लिए सौदा किया गया था, खरीदार या विक्रेता दोनो में से कोई भी माल उठाने अथवा देने की सूचना दे सकता है।

यदि खरीदार माल उठाने में, उस समय जब उससे कहा जाय, असमर्थ होता है, या विक्रेता समय पर माल नही दे सकता, तो कम्पनी सौदे को पूर्ण कर देती है। यदि इससे कोई हानि होती है तो वह उसको पूरी करनी पडती है जिसके कारण कि वह हानि हुई। जब खरीदार माल मागता है, तो उसे कुल माल का २५ प्रतिशत मूल्य (value) कम्पनी के पास जमा कर देना पडता है, और विक्रेता माल सौप देने के बाद कम्पनी से मूल्य ले सकता है।

पर यदि दोनो में से कोई भी पक्ष सौदा पूर्ण करने में असमर्थ होता है, तो उसे नई कीमत पर, जो दूसरे पक्ष के लिए सुविधाजनक हो, सौदा रखने की आज्ञा मिल जाती है। किन्तु इसके पूर्व पुरानी रकम का भुगतान हो जाना चाहिये और उस भुगतान का अन्तर उस पक्ष को मिलना चाहिये, जिसे कीमत के परिवर्तन से लाभ हुआ हो, अर्थात् यदि कीमत गिर गई हो तो खरीदार को अन्तर का भुगतान करना ही होगा।

९. सट्टा (Speculation)—विभिन्न वाजारो में सौदे केवल क्रय-विक्रय के लिए ही नही होते, बल्कि सट्टे के लिये भी होते हैं। सट्टे में व्यापारी वस्तुओ को किसी विशेष समय में होने वाली कीमतो के परिवर्तन के लाभ की आशा से खरीदते अथवा बेचते हैं। जब कीमतो के हेर-फेर से लाभ उठाने के लिए सौदा वर्तमान कीमत पर करने के पश्चात् उसकी व्यवस्था किसी भविष्य की निश्चित तिथि के लिए कर दी जाती है तो उस सौदा करने को सट्टा कहते हैं।

इसलिए सट्टे की अनिवार्यताए है (क) सौदा चालू कीमत (current price) पर किया जाता है। (ख) इसका भुगतान किसी भावी तिथि (future date) में होता है। (ग) यह सौदा किसी लाभ के लिए किया जाता है। इसमें माल लेना या देना नही होता, केवल अतर की रकम ही दी जाती है। सट्टे को भविष्य का व्यवसाय (dealings in future) भी कहते है। जिस वस्तु की माग काफी विस्तृत है और जिसको उचित रूप से ग्रेड (grade) किया गया है और जिसकी कीमत चढनी उतरनी (fluctuating) है सट्टे के लिए उपयोगी होती है।

सट्टा दो प्रकार का होता है —

(1) वैध सट्टा (Legitimate Speculation)—इस प्रकार के सट्टे में उन लोगो की गतिविधि (activity) शामिल है जो अपने कार्य मे प्रवीण होते है। वे हर काम वैज्ञानिक और सही रीति से करते है। वे माग की भविष्यवाणी करने व भविष्य की पूर्ति (supply) का अनुमान लगाने का प्रयत्न करते है। इस काम के लिए वह सभी प्रकार के आकडो की सूचनाओ का प्रयोग करते है। वह काम में आने वाली हर प्रकार की सूचना को इकट्ठा करके भविष्य के उतार-चढाव का अनुमान लगाता है। इन्ही वैज्ञानिक तथा सचेत गणनाओ के आधार पर वह सौदे करता है और यही वास्तविक सट्टा होता है।

(ii) अवैध सट्टा (Illegitimate Speculation)—यह सर्वथा जुआ होता है। बहुत-से लोग ऐसे है जिनको माग और पूर्तियो की शक्तियो का ज्ञान नही होता। वे बिना सोचे-समझे अधे होकर सौदा कर लेते है। इस प्रकार के सटोरिये बाजार भाव को अपने अनुसार बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्रायः इनका अनुमान सही की अपेक्षा गलत होता है। अक्सर इस प्रकार के नासमझ सटोरिये अपने को बरबाद कर लेते है।

उचित व अनुचित सट्टे मे केवल इतना अन्तर है कि पहले में निपुण सटोरिये काम करते है और दूसरे प्रकार के सट्टे का सम्बन्ध नासमझ सटोरियो से है जो निपुण सटोरियो के अधे शिष्य होते है, पर सौदा एक ही प्रकार का करते है। यदि इसी सौदे को निपुण सटोरिये करते है, तो वह उचित होता है अन्यथा अनुचित।

सट्टे का वर्गीकरण प्रतियोगी सट्टा (competitive speculation) तथा एकाधिकारी सट्टा (monopolistic speculation) के रूप मे हुआ है। पहले वर्ग के सटोरिये कीमतो पर प्रभाव डालने अथवा नियंत्रण करने में अपने को समर्थ नही पाते। इसके विपरीत एकाधिकारी सटोरिये बडे-बडे सौदो में अपने भारी वित्तीय स्रोत लगाकर, जान-बूझ कर कीमतो में परिवर्तन करने का प्रयास करते है। ऐसे सटोरिये कीमतो मे उतार-चढाव कम करने की अपेक्षा बढाते है। इस प्रकार के हस्तक्षेप से वे प्रतियोगी अर्थव्यवस्था की स्वतत्र कार्यवाही मे बाधा डालकर उसे बिगाडते है और किसी समुदाय के स्रोतो के अनुकूलतम (optimum) वितरण को रोकते है।

सट्टे के बाजार मे प्रयोग मे आने वाले कुछ शब्द[1]—

---

१. इन शब्दो का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ, साँड अपने शत्रु को ऊपर और रीछ नीचे फेंक देता है।

जायदाद आदि हो। प्रवेश शुल्क बहुत अधिक होता है।

एक कोठा (५०० मन) से कम परिमाण की वस्तु में सौदा नही हो सकता। हर व्यक्ति को सौ रुपए प्रति कोठे की गुजाइश रखनी पडती है। यह गुजाइश कभी १०० रुपये से कम नही होनी चाहिये। यदि ऐसा होता है तो या तो समिति सौदे को रद्द कर देती है अथवा इनके पहले की गुञ्जाइश हानि को पूरा करने में पर्याप्त हो, सौदा तय कर लेती है।

सौदे दो पकार के होने हैं (१) हाजिर माल (Spot), इसका आशय यह है कि सौदा तुरन्त पूर्ण हो जाना चाहिये। (२) वायदा (Forward Transactions) अर्थात् जब सौदा वर्तमान मूल्य के अनुसार हो तो वस्तु का प्रदान एक निश्चित तिथि पर भविष्य मे होता है।

इस प्रकार के सब सौदे हिन्दुस्तानी महीनो के अनुसार होते हैं। जैसे, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, भादो, असौज, मगहर, माघ, आदि। पहले १५ दिन में विक्रेता को यह अधिकार होता है कि ग्राहक को वस्तु लेने के लिए कहे और बाद के १५ दिनो में मागने का अधिकार खरीदार को होता है। महीने के अन्तिम दिन पर खरीदार व विक्रेता, दोनो में से कोई भी माल लेने या देने की सूचना दे सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई ज्येष्ठ, आषाढ का सौदा है, तो १६ ज्येष्ठ से ज्येष्ठ के महीने के अन्त तक किसी भी दिन विक्रेता माल ले लेने की सूचना दे सकता है। खरीदार १ आषाढ से १४ आषाढ तक कभी भी माल माग सकता है। आषाढ की १५ तारीख को, जो उस मास का आखिरी दिन है, और जिस दिन के लिए सौदा किया गया था, खरीदार या विक्रेता दोनो में से कोई भी माल उठाने अथवा देने की सूचना दे सकता है।

यदि खरीदार माल उठाने में, उस समय जब उससे कहा जाय, असमर्थ होता है, या विक्रेता समय पर माल नही दे सकता, तो कम्पनी सौदे को पूर्ण कर देती है। यदि इससे कोई हानि होती है तो वह उसको पूरी करनी पडती है जिसके कारण कि वह हानि हुई। जब खरीदार माल मागता है, तो उसे कुल माल का २५ प्रतिशत मूल्य (value) कम्पनी के पास जमा कर देना पडता है, और विक्रेता माल सौंप देने के बाद कम्पनी से मूल्य ले सकता है।

पर यदि दोनो में से कोई भी पक्ष सौदा पूर्ण करने में असमर्थ होता है, तो उसे नई कीमत पर, जो दूसरे पक्ष के लिए सुविधाजनक हो, सौदा रखने की आज्ञा मिल जाती है। किन्तु इसके पूर्व पुरानी रकम का भुगतान हो जाना चाहिये और उस भुगतान का अन्तर उस पक्ष को मिलना चाहिये, जिसे कीमत के परिवर्तन से लाभ हुआ हो, अर्थात् यदि कीमत गिर गई हो तो खरीदार को अन्तर का भुगतान करना ही होगा।

९. सट्टा (Speculation)—विभिन्न बाजारो मे सौदे केवल क्रय-विक्रय के लिए ही नही होते, बल्कि सट्टे के लिये भी होते हैं। सट्टे में व्यापारी वस्तुओ को किसी विशेष समय में होने वाली कीमतो के परिवर्तन के लाभ की आशा से खरीदते अथवा बेचते है। जब कीमतो के हेर-फेर से लाभ उठाने के लिए सौदा वर्तमान कीमत पर करने के पश्चात् उसकी व्यवस्था किसी भविष्य की निश्चित तिथि के लिए कर दी जाती है तो उस सौदा करने को सट्टा कहते है।

इसलिए सट्टे की अनिवार्यताए है (क) सौदा चालू कीमत (current price) पर किया जाता है। (ख) इसका भुगतान किसी भावी तिथि (future date) में होता है। (ग) यह सौदा किसी लाभ के लिए किया जाता है। इसमे माल लेना या देना नही होता, केवल अतर की रकम ही दी जाती है। सट्टे को भविष्य का व्यवसाय (dealings in future) भी कहते है। जिस वस्तु की माग काफी विस्तृत है और जिसको उचित रूप से ग्रेड (grade) किया गया है और जिसकी कीमत चढनी उतरनी (fluctuating) है सट्टे के लिए उपयोगी होती है।

सट्टा दो प्रकार का होता है —

(1) वैध सट्टा (Legitimate Speculation)—इस प्रकार के सट्टे मे उन लोगो की गतिविधि (activity) शामिल है जो अपने कार्य में प्रवीण होते है। वे हर काम वैज्ञानिक और सही रीति से करते है। वे माग की भविष्यवाणी करने व भविष्य की पूर्ति (supply) का अनुमान लगाने का प्रयत्न करते है। इस काम के लिए वह सभी प्रकार के आकडो की सूचनाओ का प्रयोग करते है। वह काम मे आने वाली हर प्रकार की सूचना को इकट्ठा करके भविष्य के उतार-चढाव का अनुमान लगाता है। इन्ही वैज्ञानिक तथा सचेत गणनाओ के आधार पर वह सौदे करता है और यही वास्तविक सट्टा होता है।

(ii) अवैध सट्टा (Illegitimate Speculation)—यह सर्वथा जुआ होता है। बहुत-से लोग ऐसे है जिनको माग और पूर्तियो की शक्तियो का ज्ञान नही होता। वे बिना सोचे-समझे अधे होकर सौदा कर लेते है। इस प्रकार के सटोरिये बाजार भाव को अपने अनुसार बनाने का प्रयत्न करते है। प्राय इनका अनुमान सही की अपेक्षा गलत होता है। अक्सर इस प्रकार के नासमझ सटोरिये अपने को बरबाद कर लेते है।

उचित व अनुचित सट्टे मे केवल इतना अन्तर है कि पहले में निपुण सटोरिये काम करते है और दूसरे प्रकार के सट्टे का सम्बन्ध नासमझ सटोरियो से है जो निपुण सटोरियो के अधे शिष्य होते है, पर सौदा एक ही प्रकार का करते है। यदि इसी सौदे को निपुण सटोरिये करते है, तो वह उचित होता है अन्यथा अनुचित।

सट्टे का वर्गीकरण प्रतियोगी सट्टा (competitive speculation) तथा एकाधिकारी सट्टा (monopolistic speculation) के रूप मे हुआ है। पहले वर्ग के सटोरिये कीमतो पर प्रभाव डालने अथवा नियत्रण करने में अपने को समर्थ नही पाते। इसके विपरीत एकाधिकारी सटोरिये बडे-बडे सौदो में अपने भारी वित्तीय स्रोत लगाकर, जान-बूझ कर कीमतो में परिवर्तन करने का प्रयास करते है। ऐसे सटोरिये कीमतो में उतार-चढाव कम करने की अपेक्षा बढाते है। इस प्रकार के हस्तक्षेप से वे प्रतियोगी अर्थव्यवस्था की स्वतत्र कार्यवाही मे बाधा डालकर उसे बिगाडते है और किसी समुदाय के स्रोतो के अनुकूलतम (optimum) वितरण को रोकते है।

सट्टे के बाज़ार मे प्रयोग मे आने वाले कुछ शब्द[1]—

---

१ इन शब्दो का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ, साँड अपने शत्रु को ऊपर और रीछ नीचे फेंक देता है।

बुल्स (Bulls) वे लोग होते हैं जो इस आशा से स्टॉक और शेयर खरीदते हैं कि मूल्य में वृद्धि होगी।

बियर्स (Bears)—बियर्स वर्तमान में इसलिए विक्रय करते हैं कि उन्हें यह भय होता है कि भविष्य मे कीमत गिरेगी। जब कीमत बढ रही होती है तो बाजार "तेजी" का मूल्यारोपण कहलाता है। एक-से मूल्यो के बाजार को 'मूल्यापात' अथवा "मदी" का बाजार कहते हैं।

द्वैध रक्षण (Hedging)—जब व्यवसायी या उत्पादक कीमतो के उतार-चढाव के जोखिम से बचने के लिये कोई तरकीब करता है, तो उसे द्वैध-रक्षण अथवा अंग्रेजी में हैजिंग कहते हैं। उसे कई महीनो के लिए कच्चा माल खरीद कर रखना पडता है। यदि कीमत गिर जाय तो उसे हानि होगी। ऐसी परिस्थितियो में वह यह सोचेगा कि उसे अपनी खरीदारी को टाल देना चाहिए था। यदि कीमत बढ़ जाती है तो उसे लाभ होता है। वह अपने उत्पादन कार्य में जोखिम लेने के लिए तैयार होता है, पर कच्चे माल के मूल्यो के उतार-चढाव में नही। वह उससे बचना चाहता है। इसे वह कैसे कर सकता है?

उदाहरण के लिये एक आटा पीसने वाले को ले लीजिए। उसने १०) प्रति मन के हिसाब से २०,००० मन गेहूँ लिया। पर बाद में मूल्य गिरकर ८) प्रति मन हो गया। इससे उसे २) प्रति मन अर्थात् ४०,०००) की हानि हुई। पर यदि मूल्य बढकर १२) प्रति मन हो जाय तो उसे ४०,०००) का लाभ होगा। वह यह प्रयत्न करेगा कि इस हानि की सभावना न रहे, चाहे लाभ हो अथवा न हो। ऐसी परिस्थिति मे वह द्वैध-रक्षण का सहारा लेगा। जब वह १०) प्रति मन के भाव से २०,००० मन गेहूँ स्थायी बाजार मे खरीदता है तो उसी को इसी कीमत पर भविष्य बाजार में बेच देता है। अब मान लीजिए, कीमत गिरकर ८) प्रति मन हो गयी और उसे स्थायी बाजार मे ४०,०००) का घाटा हुआ। पर भविष्य के बाजार में उसे ४०,०००) का लाभ होगा, क्योंकि तब उसे, ८) प्रति मन के हिसाब से गेहूँ मिलेगा और वह उसे १०) प्रतिमन के भाव से बेचेगा। इस प्रकार एक सौदे की हानि दूसरे सौदे के लाभ से पूरी हो जाती है। और इस प्रकार न उसकी हानि होती है और न लाभ, और वह यही चाहता था। वह अपने आटा पीसने के व्यवसाय के लाभ के अतिरिक्त किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ का भार उठाना नही चाहता।

विकल्प (Options)—सटोरिया विकल्प खरीद लेता है, जिसके द्वारा वह हानि वाले सौदे में से निकल सकता है। विकल्प तीन प्रकार के होते हैं —

(1) याचना विकल्प (Call Option)—मान लीजिए, मैंने १०) मन के हिसाब से गेहू लिया किन्तु भुगतान के समय उसकी कीमत गिरकर ८) प्रति मन रह गयी। इस प्रकार मुझे २) प्रति मन की हानि हुई। यदि मैंने ५,००० मन गेहू खरीदने का ठेका लिया था, तो कुल ठेके में मुझे १०,०००) का घाटा हुआ। पर मैंने यदि याचना-विकल्प अर्थात् एक आना मन देकर, खरीदने या न खरीदने का अधिकार खरीद लिया है, तो मैं १ आना फी मन देकर गेहू न खरीदने के विकल्प का प्रयोग करूगा। इस प्रकार २) मन के स्थान पर मुझे केवल एक आना फी मन का घाटा होगा।

(ii) Put Option—अर्थात् बेचने अथवा न बेचने का विकल्प—मैंने ५,००० मन गेहूं १०) की मन के हिसाब से बेचने का सौदा किया, किन्तु नियत तिथि पर बाजार भाव १२) हो गया। इससे मुझे २) प्रति मन का घाटा होगा अर्थात् कुल १०,००० रुपये का। पर यदि मैंने (Put Option) खरीद ली है, तो मुझे बेचने से इन्कार कर देने का भी अधिकार होगा। किन्तु विकल्प ले लेने से मेरी हानि कुल सौदे की हानि की तुलना में नाममात्र की होगी।

(iii) **दोहरा विकल्प** (Double Option)—इस प्रकार के विकल्प से मुझे इस बात का अधिकार हो जायगा कि मै अपना हानि-लाभ ध्यान में रखकर वस्तु खरीदू अथवा बेच दू। पर इस दोहरी विकल्प को खरीद कर मै यह नही कह सकता कि मुझे लाभ ही होगा। क्योकि लाभ या हानि इस बात पर निर्भर करता है कि मैंने विकल्प की क्या कीमत दी है तथा कीमत में परिवर्तन की क्या सीमा है। यदि मैंने दोहरे विकल्प के लिए ४ आने प्रति मन दिया है और कीमत में परिवर्तन भी ४ आने के बराबर ही हुआ है, तो न हानि होगी, न लाभ। पर यदि उतार-चढाव इससे अधिक होगा तो मैं खरीदने अथवा बेचने के अपने अधिकार को प्रयोग मे लाकर लाभ उठा लूगा। पर यदि कीमत परिवर्तन दोहरे विकल्प से कम हुआ, तो मुझे अवश्य ही हानि होगी।

१० सट्टे के लाभ और खतरे (Benefits and Dangers of Speculation)—आधुनिक व्यापार व्यवसाय में सट्टे का एक महत्त्वपूर्ण और लाभप्रद स्थान है। इसके अपने अनेक निजी लाभ है। समय के नियत भाग मे माग व पूर्ति की शक्तियो को समान करके यह कीमत को स्थिर रखता है। मान लीजिये, कपास की वर्तमान कीमत १०) प्रति मन है और एक प्रभावशाली सटोरिया इस निर्णय पर पहुचता है कि कीमत १८) तक बढेगी। इस निर्णय के आधार पर वह अधिक-से-अधिक कपास खरीदने का प्रयत्न करेगा। दूसरे सटोरिये भी यही करेंगे। इससे कपास की माग अनायास ही बढ जायेगी, और फलस्वरूप उसके भाव मे वृद्धि हो जायगी। थोडे ही समय में कीमत बढकर १०) से १३) हो सकती है। यदि सट्टा न होता तो कीमत बढकर १८) प्रति मन हो गयी होती, पर सटोरियो ने भविष्य में बेचने के लिए कपास बडी मात्रा में खरीद ली। इससे पूर्ति बढ जायगी और फलस्वरूप कीमत उतनी नही बढेगी, जितनी कि बढने की आशा थी। बहुत सभव है कि १८) प्रति मन के बजाय यह १५) पर ही रुक जाय। इसके अर्थ यह हुए कि सट्टे के कारण कीमत का अन्तर घटकर (१८–१० रु०) आठ रुपये से २ रुपये (१५–१३ रु०) रह गया।

सक्षेप में कुशल सटोरियो के कार्य कीमतो के भीषण उतार-चढाव के भय को समाप्त कर देते है। यदि सट्टा न होने पर कीमत बढती तो सट्टे के रहते हुए वे कम बढती है। और यदि कीमत गिरने की आशा होती है, तो सट्टे से वे कम गिरती है। इस प्रकार सट्टा कीमत को स्थिर रखता है। सटोरिये माग व पूर्ति के बीच सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होते है।

कीमतो मे भीषण परिवर्तन समाज के लिए हानिकारक होता है। आर्थिक जीवन में इससे उथल-पुथल हो जाती है। कीमत के सदा घटते-बढते रहने से एक प्रकार की अनिश्चि-

तना का वातावरण पैदा हो जाता है, जो उद्योग व व्यवसाय के लिए बहुत बुरा होता है। सटोरिये कीमतो में भीषण परिवर्तन को रोक कर समाज की बडी सेवा करते हैं।

स्थिर कीमतें (steady prices) (१) उपभोक्ता, (२) उत्पादक, तथा (३) समस्त समाज के लिए बहुत लाभदायक होती हैं।

(i) जब कीमतें स्थिर होती हैं, तो उपभोक्ता अपने व्यय का अधिक सही अनुमान लगा सकता है। कीमतो के भीषण परिवर्तन से उसके पारिवारिक बजट में बडी गडबडी मच जाती है जिससे पारिवारिक आर्थिक जीवन में अनिश्चितता आ जाती है। पर यदि कीमतें स्थिर हो तो उसके अनुमान सही व सरल हो जाते हैं। अतएव सटोरिया कीमतो में स्थिरता लाकर उपभोक्ता का बडा उपकार करता है।

(ii) उत्पादक को भी सटोरियो के कार्यों से लाभ होता है। वर्तमान औद्योगिक प्रणाली में माग के बहुत पूर्व ही उत्पादन-कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यदि कच्चे माल की कीमतो में भीषण उतार-चढाव होगे, तो उत्पादक के सारे हिसाब उलट-पलट जायेंगे। सटोरिया इस भय को कम कर देता है। वह कीमत को अधिक स्थिर बनाकर कीमत परिवर्तन की सारी चिन्ता को उत्पादक के हृदय से निकाल देता है। द्वैध-रक्षण (hedging) में हम देख चुके है कि किस प्रकार उत्पादक वाहरी जोखिम को कम करने का प्रयत्न करता है।

(iii) यही नही, सट्टे से सारे समाज को लाभ होता है। कारण अपने कार्यों से सटोरिये समाज का ध्यान भविष्य में सभावित वस्तु की कमी अथवा अधिकता की ओर आकर्षित करते हैं। यदि वस्तु कम होने वाली है तो हमें नियन्त्रण से काम लेना चाहिये। और यदि उसकी पूर्ति बढने वाली है तो उसको अधिक परिमाण में रखना अनावश्यक व जोखिम से भरा होगा।

(iv) सटोरियो से वस्तु के आर्थिक वितरण में भी काफी सहायता मिलती है। वे अपने कार्य में कुशल होते हैं। केवल यही नही जानते कि कीमत कब घटेंगी अथवा बढेंगी बल्कि यह भी जानते है कि कीमत कहाँ अधिक है और कहाँ कम। वस्तु की गति उस ओर होती है जहाँ कीमतें अधिक होती है। **"सटोरिया वर्तमान पूर्ति में कोई वृद्धि नहीं कर देता, यह उनको घटाता भी नहीं है, पर उसके कार्य वर्तमान व भविष्य की माग व पूर्ति को समता की ओर लाते हैं।"** और हम कह सकते हैं कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान को मिलाता है।

(v) स्टॉक विनिमय में सट्टा स्टॉक विनिमय के सौदे सुगम करके पूजी बढ़ाता है, तथा पूजी लगाने वाले का मार्गदर्शक का काम करता है। यह नई पूजी को बढ़ाने में सहायक होता है।

यह सर्व विदित है कि किस प्रकार सन् १९२९ में न्यूयार्क में सटोरियो की गतिविधियों के कारण वाल स्ट्रीट (न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज) में भीषण हानि हुई थी। सट्टे के कारण स्टॉक की कीमत को उनके वास्तविक और भावी कीमतो से कही अधिक बढा दिया गया था। न्यूयार्क के स्टॉक विनिमय में मासिक विनिमय की मात्रा १८० लाख हिस्सों से बढकर दस करोड के हिस्सो तक पहुच गई। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही विस्फोट हुआ जिससे

हजारो अमरीकी सटोरिये तबाह हो गये। इसका प्रभाव सारे ससार पर पडा तथा जगत् को भीषण सकट ने जकड लिया। इसी सकट ने "मदी" को जन्म दिया। आर्थर साल्टर (Arthur Salter) के शब्दो में "आर्थिक तत्वों पर आधारित सट्टा लाभदायक हो सकता है पर "सट्टे पर सट्टा" सर्वंव हानिकर होता है।"[1] (Speculation based on economic realities may be beneficial but 'speculation on speculation' is definitely injurious)

सट्टे को सारे औद्योगिक व व्यावसायिक चेष्टाओ का 'नमक' कहा गया है। एक भारतीय लेखक ने इस उपमा को ठीक मानकर कहा है, "अवसर ऐसा होता है कि खाने वाला, बिना नमक का खाना खाने से इन्कार अवश्य कर देता है। पर इसी प्रकार वह अधिक नमक पडे हुए खाने को भी वापस कर सकता है।" सट्टा अच्छा अवश्य है, पर अधिक सट्टा बुरा होता है। यदि सट्टा एक-मात्र ध्येय बन जाय तो यह भयानक हो जाता है। "जब ऐसा हो जाता है और उत्पादन कार्यों से लाभ की आशा न रखकर केवल इन अनुमानो पर अवलम्बित रहती है कि शायद कीमत घटे या बढे अथवा इस बात पर आधारित होती है कि खरीद की कीमत व विक्रय की कीमत से लाभ होगा,······तब सट्टे का कार्य वास्तविक क्षेत्र से हटकर खेल मे, कारखाने से हटकर स्टॉक विनिमय में, उत्पादन के क्षेत्र से हटकर वितरण अथवा पुनर्वितरण मे परिवर्तित हो जाता है। और इस प्रकार दूसरे की शक्ति पर किसी एक के अमीर होने से धन बिना किसी विशेष वृद्धि के व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को चला जाता है।"[2]

निर्देश पुस्तके

Robinson, Joan—The Economics of Imperfect Competition
Chamberlain, E. H—The Theory of Monopolistic Competition, Ch I
Pigou, A C—Economics of Welfare
Marshall, A.—Principles of Economics, (1936) pp 112, 322-32
Benham, F—Economics (1940) pp 20-42
Brij Narain—Principles of Economics, (1945) Ch. VI. pp 75-84. (S. Chand & Co)

---

1. Brij Narain—Principles of Economics, (1945) p 83
2. Ibid. pp. 83-4

अध्याय १७
पूर्ति तथा पूर्ति का नियम
(SUPPLY AND THE LAW OF SUPPLY)

१. भूमिका—मूल्य निश्चय करना (valuation) अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है। दो प्रकार की शक्तियो (अर्थात् पूर्ति तथा मांग) के आधार पर मूल्य (value) निश्चित होता है। अब तक हमने मांग का अध्ययन किया है। मांग तथा पूर्ति की साम्यावस्था (equilibrium) के अध्ययन से पूर्व हम पूर्ति के विषय में सक्षेप मे वर्णन करेंगे।

२ पूर्ति तथा स्टॉक (Supply and Stock)—पूर्ति से हमारा तात्पर्य उस राशि से है जो हम किसी मूल्य विशष पर बिक्री के लिए देते हैं। हम पूर्ति की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि "पूर्ति किसी वस्तु की मात्राओ की वह अनुसूची है जो विक्रय के लिये विभिन्न कीमतो पर किसी समय में, उदाहरणार्थ एक दिन, एक सप्ताह आदि जिसमें पूर्ति की सभी दशाए स्थिर हो, प्रस्तावित की जाय।" (Meyers)

परन्तु पूर्ति और स्टॉक में अन्तर है। स्टॉक तो वस्तु के उस सपूर्ण परिमाण को कहते हैं जो थोडे समय के भीतर बाजार में बिकने के लिए रक्खा जा सकता है और पूर्ति का अर्थ उस मात्रा से है जो मार्केट मे बिक्री के लिए वास्तविक मात्रा में लाई जाती है। इस वर्ग मे शीघ्र नष्ट होने वाली मछली व फल जैसी वस्तुओ की पूर्ति तथा स्टॉक की समान गणना होती है। लेकिन जो वस्तुए शीघ्र नष्ट नही होती उनको कीमत अनुकूल न होने पर विक्रय से रोका जा सकता है। यदि कीमत अधिक है तो विक्रेता कुल मात्रा का अधिक भाग बेचने को तैयार होते हैं, पर यदि वस्तु की प्रचलित कीमत कम होती है तो स्टॉक राशि का बहुत थोडा-सा भाग विक्रय के लिए निकाला जाता है। सक्षेप में स्टॉक ही का दूसरा नाम सम्भावित पूर्ति (potential supply) है।

३ पूर्ति-नियम (The Law of Supply)—पूर्ति का कीमत के साथ कृत्यकारी (functional) सम्बन्ध है। 'यदि और परिस्थितिया पूर्ववत् हो, तो वस्तु की कीमत बढने से पूर्ति में वृद्धि होती है व कीमत घटने से पूर्ति कम हो जाती है।' कीमत के अनसार ही बिक्री के लिए दी जाने वाली मात्रा पर सीधा प्रभाव पडता है अर्थात् जितनी अधिक कीमत होगी उसकी पूर्ति भी उतनी अधिक होगी और इसके ठीक विपरीत भी ऐसा ही होगा।

माग अनुसूची की तरह जो कि समझाई जा चुकी है (अध्याय ६, विभाग २) हम किसी व्यक्ति की पूर्ति अनसूची बना सकते हैं। बाजार में विभिन्न कीमतो पर विक्रेता वस्तुओ की जिस परिमाण में पूर्ति करते हैं उनको जोड कर हम किसी वस्तु की पूर्ति अनुसूची बना सकते हैं। पूर्ति अनसूची कीमतो तथा मात्रा में सम्बन्ध बताती है जो कि कुछ व्यक्ति

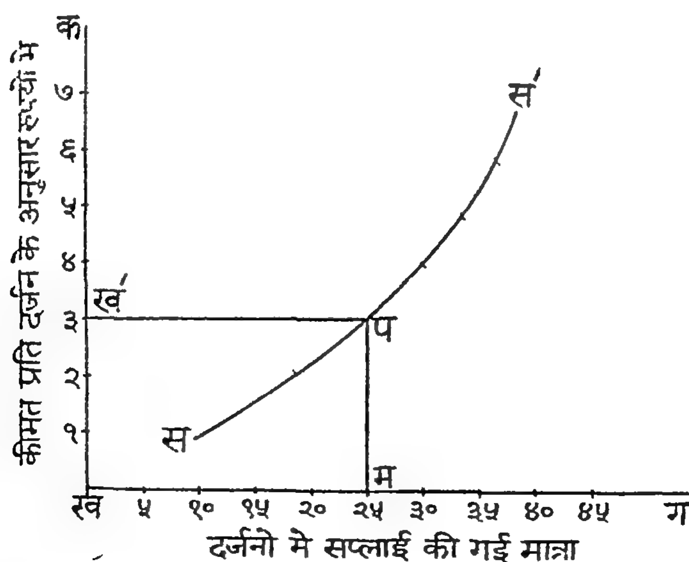
उत्पादन करने तथा बेचने के लिए तैयार है।

मान लीजिये सेवो की पूर्ति अनसूची इस प्रकार है—

मूल्य प्रति दर्जन (रुपये में)	पूर्ति की मात्रा (दर्जनो में)
७	४३
६	४०
५	३६
४	३१
३	२५
२	१८
१	१०

इसमें हमें यह ज्ञात होता है कि जब कीमत ७ रुपये प्रति दर्जन तक बढ जाती है तो ४३ दर्जन सेवो को बिक्री के लिए बाजार मे रक्खा जाता है। पर ज्यो-ज्यो कीमत गिरती जाती है पूर्ति की मात्रा भी कम होती जाती है, यहा तक कि जब कीमत गिरकर १ रुपया प्रति दर्जन हो जाती है तो केवल दस दर्जन सेव बिकने के लिए आते है। इसके अर्थ यह हुए कि ज्यो-ज्यो **कीमत गिरती जाती है, पूर्ति कम होती जाती है और ज्यो-ज्यो कीमत बढती जाती है, पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है** । इसी को पूर्ति का नियम कहते है।

उपर्युक्त पूर्ति अनसूची को एक पूर्ति वक्र के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ख, ग रेखा पर वस्तु का परिमाण अंकित है और ख क रेखा पर कीमत का , स स' पूर्ति वक्र है। यदि पूर्ति वक्र के किसी बिन्दु प से ख ग रेखा पर एक लम्ब प म तथा



रेखा चित्र न० २४

क ख पर प ख' तक लम्ब खीचा जाए तो प म (=ख' ख) कीमत पर प ख' (=ख म) मात्रा की पूर्ति होगी।

इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्ति वक्र दाहिनी ओर मे बाईं ओर को झुकता है, जबकि माग वक्र बाईं ओर से दाहिनी ओर को झुकता है । इसका कारण यह है कि जब कीमत गिरती है तो माग बढ जाती हैं पर पूर्ति कम होती है और जब कीमत बढ़ती है तो माग कम हो जाती है व पूर्ति में वृद्धि होती है।

यदि कीमत वहुत अधिक गिर जाए तो पूर्ति विल्कुल ही समाप्त हो जाएगी। वह कीमत जिससे कम में बेचने वाला बेचने से इन्कार कर देता है **रक्षित कीमत** (reserve price) कहलाती है। इस कीमत पर खरीदार अपना स्टॉक खरीदता है।

खरीदार की रक्षित कीमत को बनाने में कई कारण हैं —

(१) रक्षित कीमत प्राय माल की खराब होने की स्थिति (perishability) पर आधारित है। माल जितना शीघ्र खराब होने वाला होगा, उतनी ही उस माल की रक्षित कीमत नीची होगी।

(२) जहा तक ऐसे माल का सवाल है जो नष्ट होने वाला नही है, रक्षित कीमत इस बात पर आधारित रहेगी कि बेचने वाले का आगामी कीमत (future price) का क्या अदाज (प्रावकलन) है।

(३) यह भविष्य की लागत पर आधारित होगा। यदि लागत गिरने की आशा है तो रक्षित कीमत कम हो जाएगी (गिर जाएगी), और ठीक इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा।

(४) रक्षित कीमत (reserve price) माल ढोने पर आने वाले खर्च पर आधारित है। इसलिए जितने समय तक स्टॉक रोका जा सकता है, एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारण बन जाता है। जितनी लम्बी यह अवधि होगी उतनी ही रक्षित कीमत कम हो जाएगी।

(५) इसके अन्तर्गत बेचने वाले का तरल अधिमान (liquidity preference) इसका एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। नकद (cash) की माँग जितनी तीव्र होगी, उतनी ही रक्षित कीमत गिर जाएगी।

(६) कई व्यापारी जिद के कारण पहले हुई लागत पर अधिक जोर देते हैं और रक्षित कीमत अधिक रख लेते हैं चाहे इससे उन्हें ज्यादा ही नुकसान उठाना पडे।

४. पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)—जब कीमत में थोडी-सी कमी से भी पूर्ति वहुत गिर जाती है तो पूर्ति अपेक्षाकृत लोचदार होती है। लेकिन जब कीमत में वहुत बडी कमी हो जाने पर भी पूर्ति में वहुत कम कमी होती है, तो पूर्ति अपेक्षाकृत लोचहीन कहलाती है। इसके विपरीत यदि तनिक कीमत बढने से पूर्ति मे अतीव वृद्धि हो जाय तो पूर्ति लोचदार होती है। पर यदि कीमत वहुत अधिक वढ जाने पर पूर्ति में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हो तो पूर्ति लोचहीन होती है।

वास्तव में पूर्ति की लोच उस सरलता की माप है जिससे एक व्यवसाय वढाया जा सकता है तथा उसका सीमान्त लागत (marginal cost) पर प्रभाव जाना जा सकता है। यदि कीमत मे थोडी वृद्धि से वहुत-सी व्यवसायी सस्था (firms) आ जाए, जिनके अत्यल्प औसत लागत कीमत के वरावर रहती है तथा सीमान्त लागत नही वढती,

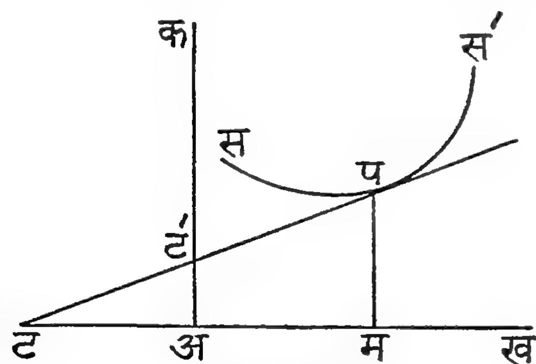
तो पूर्ति पूर्णतया लोचदार कही जाती है। तो भी यदि वढा हुआ उत्पादन केवल कीमत में अपरिमित वृद्धि से पाया जा सकता है तथा कोई नई सस्था (firm) उद्योग की ओर आकर्षित नही होती तो पूर्ति लोचदार नही होगी। इन दो सीमाओ के बीच लोच की कई श्रेणी होगी। लोच की श्रेणी एक विशिष्ट स्थिति में सस्थाओ की सीमात लागत वक्रो के ढाल (slope) तथा औसत लागत वक्रो के आकार पर निर्भर होगी।

"पूर्ति की मात्रा व कीमत में कुछ ऐसा ही सबध है जैसे कुत्ते व सीटी में होता है। सीटी जितनी ही अधिक तीव्रता से वजेगी, उतनी ही अधिक तेजी से कुत्ता दौडेगा। इसी प्रकार कीमत वढते ही मात्रा अनायास ही वढ जाती है। यदि कुत्ता सचेत होगा—अर्थशास्त्र की भाषा मे लोचदार होगा—तो सीटी की क्षीण-सी ध्वनि से वह दौड पडेगा। पर यदि कुत्ता चेष्टाहीन अथवा लोचहीन होगा, तो जब तक सीटी बहुत जोर से नही वजेगी वह नही दौड़ेगा।'[1]

एक खडी सीधी रेखा से पूर्ण रूप में बेलोचदार पूर्ति का पता चलता है (अर्थात् शून्य लोच (zero elasticity) का तथा क्षैतिज (horizontal) सीधी रेखा से अनिश्चित रूप से लोचदार पूर्ति का। इन दोनो चरम सीमाओ के बीच लोच विभिन्न मात्राओ में पाई जाएगी। निम्नलिखित सूत्र लोच का सामान्य माप है —

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{सप्लाई की जाने वाली राशि में वृद्धि}}{\text{सप्लाई की गई राशि}} \div \frac{\text{कीमत में वृद्धि}}{\text{कीमत}}$$

पूर्ति (सप्लाई) की लोच मापने के लिए निम्नलिखित रेखाचित्र की सहायता से समझा जा सकता है —



रेखा चित्र न० २५

स स' सप्लाई (पूर्ति) वक्र है। इस पर कोई प विन्दु लीजिए। प विन्दु से प ट एक स्पर्श-रेखा (tangent) खीचिए जो ख दण्ड पर ट विन्दु तक हो। इसके वाद प विन्दु से प म लम्ब बनाइए, जो ख दण्ड पर म विन्दु तक बने। इस तरह,

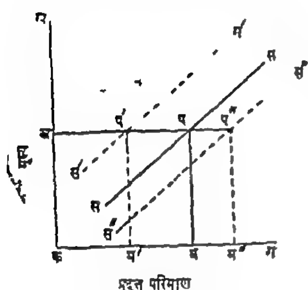
$$\text{सप्लाई की लोच} = \frac{\text{प ट}}{\text{प ट}'} = \frac{\text{म ट}}{\text{अ म}}$$

५ पूर्ति मे वृद्धि व कमी (Increase and Decrease in Supply) —अर्थशास्त्री प्राय: कहते है कि, यदि और बातें समान रहें तो किसी क्षण में एक अद्वितीय माँग तथा पूर्ति अनसूची होगी। इस प्रकार पूर्ति और माँग मे एक परिवर्तन होगा।

---

1 Boulding—Economic Analysis (1949) p 128

पूर्ति को उस समय वृद्धिशील कहा जाता है जब उसी कीमत पर विक्री के लिए दिया जाता है अथवा उमी मात्रा को कम कीमत पर दिया जाता है। पूर्ति को गिरा हुआ (decreasing) कहा जाता है जब उसी कीमत पर विक्री के लिए कम दिया जाता है अथवा वही मात्रा ऊँची कीमत पर दी जाती है। इस बात का निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा निरूपण किया गया है।



रेखा चित्र न० २६

यदि परिवतन के पूर्व पूर्ति वक्र स स है तो स′ स′ पूर्ति में कमी दिखाता है क्योकि उसी मूल्य क ज (= प′ म′) पर पूर्ति की मात्रा कम हो जाती है (क म के बजाय क म′)। स″ स″ पूर्ति में वद्धि दिखलाता है क्योकि उमी मूल्य क ज पर (= प″ म″) पर अधिक मात्रा विक्रय के लिए रक्खी जाती है, बजाय क म के क म″।

विद्यार्थियो को सावधानी के साथ 'पूर्ति की मात्रा में वृद्धि' तथा 'पूर्ति में वृद्धि' का अतर जान लेना चाहिये। 'पूर्ति में वृद्धि' का अर्थ यह है कि पूरा पूर्ति वक्र दाहिनी ओर एक नए स्थान को ग्रहण कर लेता है। यह पूर्णतया एक नया वक्र है। परन्तु 'पूर्ति की मात्रा में वृद्धि' का अर्थ केवल यह है कि ऊंची कीमत पर अधिक विक्री के लिए प्रस्तावित किया जा रहा है। पूर्ति वक्र वही रहता है। उसी वक्र के साथ-साथ चलना केवल कीमत के परिवर्तन के साथ पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन बतलाता है। यह पूर्ति की अनुसूची अथवा पूर्ति की स्थिति में कोई परिवर्तन नही प्रस्तुत करती।

पूर्ति को कीमत के परिवर्तन से व्यवस्थित होने के लिये समय लगने के दृष्टिकोण से हम तीन प्रकार की पूर्ति मे भेद कर सकते हैं —

(i) **बाजार पूर्ति** (Market Supply)—यह क्षणिक पूर्ति होती है और इसमें पूर्ति को माग में परिवर्तन से व्यवस्थित होने का समय नही मिलता। ऐसी कोई अत्यल्प कीमत नही है जिससे कम पर विक्रेता विक्रय नही करेंगे। माग को स्थिर मानकर कीमत विक्रेताओ की अपनी पूरी राशि अथवा उसके कुछ भाग को बेचने की लालसा पर पूर्णतया निर्भर होगी।

(ii) **अल्पकालीन पूर्ति** (Short-period Supply)—यह उस पूर्ति को सूचित करता है जो वर्तमान उत्पादन के साधनो के द्वारा ही की जा सकती है। इसमें आवश्यकता के अनुसार उद्योग को बढाने या घटाने का समय नही होता।

(iii) **दीर्घकालीन पूर्ति** (Long-term Supply)—इसमें उद्योग को बढाने अथवा घटाने में काफी समय लगता है। इसमें पुरानी कलो की जगह नई कलो को बनाने तथा उनके प्रयोग का समय होता है अथवा यदि आवश्यकता हो तो मौजूदा कलो की शक्ति बढ़ाने का समय होता है।

६ पूर्ति मे परिवर्तन के कारण (Causes of Changes in Supply)

—पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी कई कारणो से होती है ।

सर्वप्रथम तो उत्पादन के विभिन्न साधन जैसे कच्चा माल आदि की कीमतो में वृद्धि से किसी वस्तु की उत्पादन लागत बढ जाती है। उससे पूर्ति की मात्रा कम हो जायगी। इसके विरुद्ध उन साधनो की कीमत में कमी होने पर उत्पादन बढ जायगा और फलस्वरूप पूर्ति भी बढ जायगी।

दूसरे, जहा तक कृषि का सबध है, अच्छी वर्षा, सिंचाई में उन्नति, खाद की अधिक पूर्ति और उत्पादन की उन्नतिशील रीतियो के प्रयोग से स्वभावत. पूर्ति में वृद्धि होगी। दूसरी ओर यदि वर्षा नही होगी, अथवा बाढ, आग, नाशक कीट, तूफान या भूचालों का प्रकोप होगा तो पूर्ति कम हो जायगी। भारत में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के फलस्वरूप खाद्य में वृद्धि हुई।

तीसरी बात यह है कि टैकनीक (technique) में उन्नति होने से उत्पादन की लागत में कमी आती है और इससे पूर्ति बढ जाती है। दूसरी ओर वस्तु के उत्पादन पर अथवा उत्पादन के साधनो पर अधिक कर लगने से पूर्ति में कमी हो जाती है।

चौथी बात यह है कि यदि विदेशो से परिवहन और सचार को प्रोत्साहन दिया जाय, तो इन साधनो में उन्नति से किसी वस्तु की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। पर यदि परिवहन की सुविधाओ के कारण निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है, तो पूर्ति में कमी हो जाती है।

पांचवीं यह कि राजनैतिक उथल-पुथल अथवा युद्ध से व्यापार की दशा बदल जाती है और इससे बहुत-सी वस्तुओ की कमी हो जाती है।

छठी यह कि उत्पादको के किसी आपसी समझौते से जान-बूझकर भी वस्तु की पूर्ति कम की जा सकती है। पूर्ति का कुछ भाग कीमत बढाने के अभिप्राय से नष्ट कर दिया जा सकता है। महान् मदी के दिनो में उत्पादको के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के द्वारा रबर, चाय और दूसरी वस्तुओ का उत्पादन नियन्त्रित कर दिया गया था। ब्राजील में तो इसलिए बडी मात्रा में कहवा समुद्र में फेंक दिया गया था।

अन्त में, उत्पादन, विक्रय व आयात पर लगने वाले करो का भी पूर्ति पर बडा प्रभाव पडता है। अपने देश में किसी वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए किसी देश की सरकार उस वस्तु के विदेशो से आयात पर भारी आयात कर लगाकर उसकी पूर्ति को कम कर देती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से कभी-कभी सरकार कुछ वस्तुओ के उत्पादन पर नियन्त्रण लगा देती है, जैसे भारत में अफीम पर।

मांग व पूर्ति पर प्रभाव डालने वाली बातें (Factors affecting both Demand and Supply)—अभी तक हमने उन बातो का अध्ययन किया है जिनका प्रभाव केवल माग पर पडता है। पर कुछ बातें ऐसी भी है, जिनका प्रभाव एक ही समय में माग व पूर्ति दोनो पर पडता है —

(i) **द्रव्य–आय में परिवर्तन** (Change in Money Incomes)—मुद्रा-विस्तार (inflation) के दिनो में लोगो की द्रव्य-आय बढ जाती है। ऐसी परिस्थितियो में वस्तुओ की माग बढ जाती है। पर इसका प्रभाव पूर्ति पर भी पडता है। कीमत में वृद्धि से लाभ उठाने के अभिप्राय से सप्लाई भी बढती है। मुद्रा-

सकुचन (deflation) के दिनो में जब द्रव्य की मात्रा कम हो जाती है, तो कीमतें गिर जाती हैं। इससे माग तो बढती है पर पूर्ति कम होने लगती है।

(ii) **टैक्नीक में सुधार** (Improvement in Technique)—जहा कार्य-कुशलता और पद्धति में उन्नति हो जाती है, वहा उत्पादन का परिमाण और पूर्ति बढ जाती है। फलस्वरूप वस्तुए सस्ती हो जाती हैं और लोगो की वास्तविक आय बढ जाती है। पर हम यह देख चुके हैं कि वास्तविक आय में किसी प्रकार के परिवर्तन से माग में भी परिवर्तन हो जाता है।

(iii) **मजदूरी में वृद्धि या कमी** (Wage-induced Inflation or Deflation)—यदि मजदूरी बढती है तो श्रमिक की क्रय-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। इससे माग बढ जाती है। पर मजदूरी की वृद्धि का प्रभाव उत्पादन लागत के बढ जाने के कारण वस्तु की पूर्ति पर भी पडता है।

(iv) क्रेताओ की रुचि और प्रतिष्ठा तथा क्रेताओ और विक्रेताओ की आय में परिवर्तन से माग व पूर्ति प्रभावित होंगे।

(v) **सामाजिक अथवा राष्ट्रीय धन का आकार तथा वितरण** (Size and Distribution of Social or National Wealth)—यदि धन का वितरण समान होता है तो कुछ व्यक्ति कम धनी तथा कुछ कम निर्धन हो जाते हैं। इस प्रकार लोगो की क्रय-शक्ति पर बडा प्रभाव पडता है जिससे माग भी प्रभावित होती है। और माग में इन परिवर्तनो के फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति में भी परिवर्तन हो जाता है।

७ माग और पूर्ति के नियम (Laws of Demand and Supply)—अब हम इस स्थिति में हैं कि पूर्ति और माग के कुछ महत्त्वपूर्ण नियमो की परिभाषा कर सकें। बेन्हम ने अपनी पुस्तक में चार नियमो का वर्णन किया है[1] —

(१) कीमत वस्तु की उस मात्रा को, जो विक्रेता क्रय के लिए देने को तैयार हैं, व उस मात्रा को, जो ग्राहक क्रय करना चाहते हैं, समता की ओर ले जाती है।

(२) साधारणत अधिक कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा की माग होगी। इसके विपरीत ऊँची कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा विक्रय के लिए निकाली जायेगी।

(३) माग में वृद्धि से कीमत बढ जाती है और फलस्वरूप पूर्ति की वृद्धि होती है। पर माग गिरने से कीमत में कमी हो जाती है। इससे पूर्ति भी घट जाती है।

(४) पूर्ति की वृद्धि कीमत गिरा देती है—जिससे माग बढ जाती है। पूर्ति कम हो जाने से कीमत में वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप माग गिर जाती है।

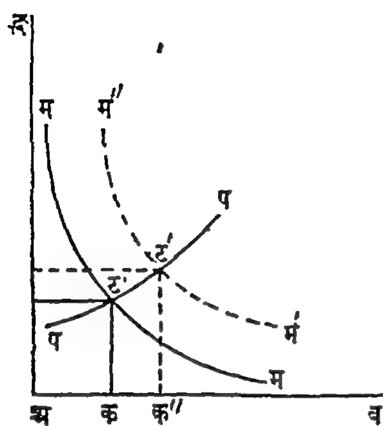
यह ध्यान में रखना चाहिये कि माग में परिवर्तन दिये होने पर, पूर्ति-रेखा की प्रकृति का कीमत पर बडा प्रभाव पडता है। प्रो मेयर्स इस सबध में इस प्रकार लिखते हैं

"अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर, माग की वृद्धि कीमत और विनिमय-मात्रा को बढा देती है, और माग की घटी से कीमत और विनिमय-मात्रा घट जाती है। माग में दिये

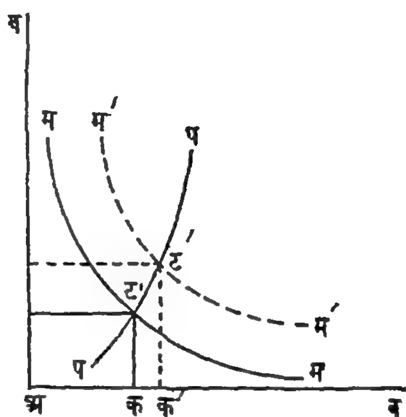
---

1 Economics, 1900, p. 88

हुए परिवर्तन पर, पूर्ति में जितनी अधिक लोच-शक्ति होगी, उतनी ही कम कीमत बदलेगी और विनिमय मात्रा में उतनी ही अधिक तबदीली होगी।"[1] यदि पूर्ति पूर्णत लोचदार है, तो कीमत में कोई परिवर्तन नही होगा। माग में वृद्धि होने से केवल विनिमय-मात्रा



रेखा चित्र न० २७



रेखा चित्र न० २८

में ही परिवर्तन होगा। दूसरी ओर यदि पूर्ति पूर्णत बेलोचदार है, तो माग के बढने से कीमत बढेगी लेकिन विनिमय-मात्रा में कोई वृद्धि नही होगी। इसका रेखा-चित्र ऊपर दिया गया है —

प प′ पूर्ति की रेखा है और म म माग की पुरानी रेखा है और म′ म′ माग की नई रेखा है जो माग में वृद्धि दिखलाती है। माग में परिवर्तन उतना ही है लेकिन पूर्ति की लोच मे विभिन्नता है। कीमत ट क से बढकर ट′ क′ हो जाती है और विनिमय मात्रा अ क से अ क′।

अब हम यह अध्ययन करेंगे कि माग की भिन्न-भिन्न लोच पर, पूर्ति मे परिवर्तन होने से कीमत और विनिमय-मात्रा किस तरह प्रभावित होती है। प्रो मेयर्स ने इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष को इस प्रकार लिखा है —

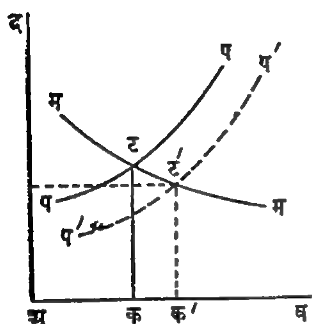
"अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर, पूर्ति में वृद्धि होने से कीमत घटती है और विनिमय-मात्रा में वृद्धि होती है। पूर्ति में घटी होने से, कीमत बढती है और विनिमय मात्रा में कमी आती है। पूर्ति में दिये हुए परिवर्तन पर माग में जितनी अधिक लोच होगी, कीमत मे उतना ही कम और विनिमय-मात्रा मे उतना ही अधिक परिवर्तन होगा। इसके विपरीत, माग जितनी कम लोचदार होगी, कीमत में उतना ही अधिक और विनिमय-मात्रा मे उतना ही कम परिवर्तन होगा।"[2] यदि माग पूर्णत लोचदार है और पूर्ति में वृद्धि होती है तो इससे कीमत मे घटी नही होगी। केवल विनिमय-मात्रा में ही वृद्धि होगी। दूसरी ओर, यदि माग पूर्णत बेलोचदार है तो पूर्ति मे वृद्धि होने से कीमत गिरेगी लेकिन

---

1. Elements of Modern Economics, 1951,
2, Op. cit., p. 133.

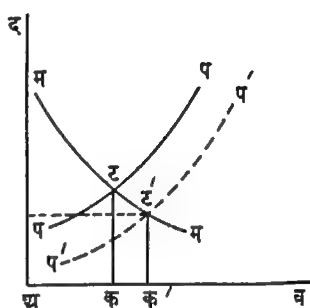
विनिमय-मात्रा में कोई परिवर्तन नही होगा। इसके रेखा-चित्र इस प्रकार खीचे जायगे।

दोनो ही चित्रो में म म माग की रेखा है, प प पूर्ति की पुरानी रेखा और प′ प′ पूर्ति की नई रेखा है। चित्र २९ में माग की रेखा लोचदार है और चित्र ३० में बेलोचदार। कीमत और विनिमय-मात्रा में जो अन्तर पडता है वह ट क से ट′ क′ और अ क से अ′ क′ द्वारा दिखाया गया है।



रेखा चित्र न० २९

लोचदार पूर्ति के सहित माँग में वृद्धि



रेखा चित्र न० ३०

बेलोचदार पूर्ति के सहित माग में उतनी ही वृद्धि

जब माग और पूर्ति दोनों में परिवर्तन होता है—उपर्युक्त सिद्धान्तो को उस समय लागू करते हुए जबकि माग और पूर्ति दोनो में ही परिवर्तन होता है, प्रो० मेयर्स ने निम्न-लिखित सिद्धान्त स्थापित किये हैं[1]—

१. जब माग और पूर्ति दोनो ही एक दिशा की ओर चलती हैं तो कीमत पर एक दूसरे का प्रभाव कट जाता है, और विनिमय-मात्रा पर पडने वाला प्रभाव और तेज हो जाता है।

२ जब माग और पूर्ति का झुकाव एक ही ओर होता है लेकिन एक में दूसरी की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होता है, तो जिसमें अधिक परिवर्तन होता है उसका अधिक प्रभाव पडता है। लेकिन यदि दूसरी रेखा अपरिवर्तित रहे, तो उसका प्रभाव कीमत पर कम और विनिमय-मात्रा पर अपेक्षाकृत अधिक पडेगा।

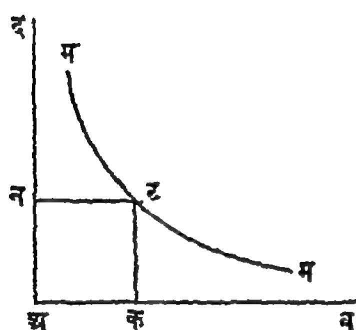
३ जब माग और पूर्ति विपरीत दिशा में बदलते है, तो वे कीमत पर एक दूसरे के प्रभाव को प्रबल कर देते हैं और विनिमय-मात्रा पर पडने वाले प्रभाव को काट देते हैं।

४ जब माग और पूर्ति विपरीत दिशा में बदलते है लेकिन एक में दूसरे से अधिक परिवर्तन होता है तो जिस रेखा में अधिक परिवर्तन होता है उसका प्रभाव अधिक होगा। हा, यह बात अवश्य है कि दूसरी रेखा के न बदलने पर, उसका प्रभाव कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक और विनिमय-मात्रा पर कम पडेगा।

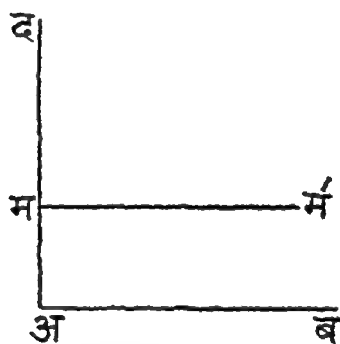
---

1. *Ibid*, pp 133 135

८. एक व्यक्तिगत विक्रेता माग को किस प्रकार देखता है[1] (How the Individual Seller looks at Demand)—अभी तक हम मंडी में लाई गई कुल पूर्ति पर विचार कर रहे थे। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्तिगत विक्रेता की तरफ से माग पर विचार करना कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सभव है कि किसी वस्तु की कुल माग बेलोचदार हो लेकिन एक विक्रेता की वस्तु की माग बहुत लोचदार हो। अस्तु, यदि वह थोडी-सी भी कीमत ऊपर कर देगा, तो उसका सब बाजार छिन जाएगा और कीमत कम करने की उसको कोई जरूरत नही होगी क्योकि प्रचलित कीमत पर वह अपनी कुल पूर्ति बेच सकता है। एक व्यक्तिगत विक्रेता के लिए बाजार-कीमत दी हुई होती है। उसकी पूर्ति कुल पूर्ति का इतना सूक्ष्म भाग होता है कि उसमें परिवर्तन लाकर वह कीमत पर कोई प्रभाव नही डाल सकता। वह कीमत पर बिना प्रभाव डाले अपनी पूर्ति में इच्छानुसार परिवर्तन ला सकता है। चित्र ३१ में बाजार माग दिखाई



रेखा चित्र न० ३१
मार्केट की मांग



रेखा चित्र न० ३२
व्यक्तिगत बेचने वाले के आगे की मांग

गई है, और चित्र ३२ में किसी एक व्यक्तिगत विक्रेता की वस्तु की माग को दिखाया गया है।

चित्र ३१ में ट क बाजार-मूल्य है। यह वह कीमत है जो एक विक्रेता को अपने किसी भी भाग के बेचने पर मिल सकती है। ट क चित्र ३२ के अ म के बराबर है। यदि ट बिन्दु को हम व्यक्तिगत विक्रेता की दृष्टि से देखें तो यह एक सीधी रेखा म म में परिवर्तित हो जायगा। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में ऐसा ही होगा।

लेकिन यदि एकाधिकार प्रतियोगिता की मिली हुई स्थिति हो तो क्या होगा ?

एकाधिकार-प्रतियोगिता (monopolistic competition) की स्थिति उस समय होती है जब कोई खरीदार वस्तु की किसी एक ब्राड अथवा छाप को या एक दूकान को दूसरे से अधिक महत्त्व देता है। इसके अनेक कारण हो सकते है जैसे कि वह दूकान अपेक्षाकृत साफ या शानदार हो, दूकानदार बडा प्रभाव डालने

---

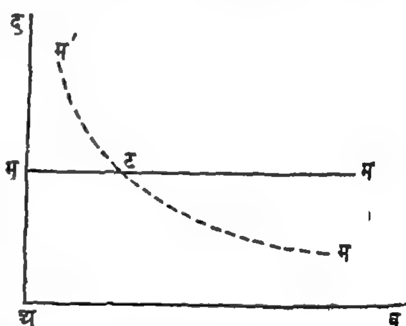
1. This section is based on Ch. 8 of Albert Meyer's book, already cited

वाला हो आदि। इसका परिणाम यह होता है कि खरीदार उस छाप या दूकानदार को अधिक कीमत देने के लिए तैयार रहता है या कीमत एक रहने पर एक को दूसरे से अधिक पसन्द करता है। ऐसी स्थिति को उत्पाद विभेद (product differentiation) कहते हैं।

जब ऐसी स्थिति होती है, तो विक्रेता अपने को एकाधिकार की स्थिति में पाता है क्योकि उसकी वस्तु की माग उतनी लोचदार न होगी जितनी कि प्रतियोगिता पूर्ण स्थिति में होती। यदि वह कीमत को थोडा-सा बढा देगा तो उसके सब ग्राहक उससे छिन नही जायगे, और न कीमत कम करके वह सब ग्राहको को अपनी ओर खीच सकेगा। प्रतियोगिता की स्थिति में एक विक्रेता की दृष्टि से माग पूर्णत लोचदार होती है और इसे चित्र ३२ में दी गई माग की रेखा द्वारा दिखाया जा सकता है। एकाधिकार युक्त प्रतियोगिता की स्थिति में माग की लोचशक्ति कुल कम हो जाती है और इसलिए नीचे दी झुकती हुई रेखा द्वारा इसे दिखाया जायगा।

रेखा चित्र के रूप में उपर्युक्त बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —

इस चित्र में अ म कीमत है जोकि शुद्ध प्रतियोगिता की स्थिति में है। म म प्रतियोगिता की स्थिति में एक विक्रेता की वस्तु की माग है, और म′ म एकाधिकार यक्त प्रतियोगिता में व्यवित विशेष की माग है। म ट के लिए खरीदार बाजार कीमत से अधिक कीमत देने को तैयार हे क्योकि वे उस विक्रेता अथवा उस की वस्तु को अधिक पसन्द करते हैं। अ म में परिवर्तन होने से म′ म की लोच में अथवा म म की सापेक्ष स्थिति में अन्तर आ जायगा।

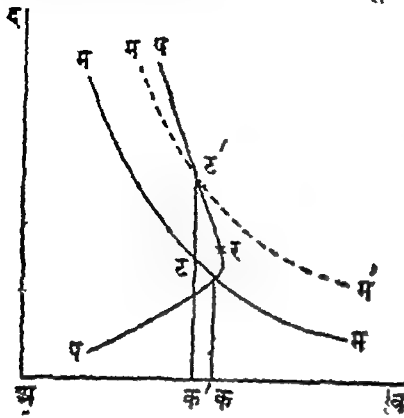


रेखा चित्र न ३३

उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि कोई एक विक्रेता प्रतियोगिता की स्थिति में अपनी पूर्ति की मात्रा में अन्तर लाकर कीमत पर कोई प्रभाव नही डाल सकता। एकाधिकार और प्रतियोगिता की मिली-जुली स्थिति में एक विक्रेता कीमत पर प्रभाव डाल सकता है। एकाधिकार की तरह वह पूर्ति को निर्धारित कर सकता है जो वह बेचना चाहता है या अपनी वस्तु की कीमत निश्चित कर सकता है।

९. एक विचित्र पूर्ति वक्र (A Peculiar Supply Curve)—पूर्ति का साधारण नियम यह बताता है कि ऊची कीमत पर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक सीमा तक तो यह सम्बन्ध देखने में आता है लेकिन उसके बाद सम्बन्ध उलट जाता है अर्थात् ऊची कीमत पर पूर्ति कम होगी। श्रम के सम्बन्ध में ऐसा देखने में आ सकता है। मजदूरी बढने पर लोग अधिक काम करने

को प्रोत्साहित होते हैं। लेकिन एक सीमा के बाद लोग काम की अपेक्षा आराम को ज्यादा पसन्द करते हैं। ऊची मजदूरी मजदूरो को छुट्टी लेने के योग्य बना देती है और काम के घन्टो को कम कर देती है। ब्याज की दर का भी ऐसा प्रभाव हो सकता है। साधारणत ब्याज की ऊची दर से बचत में वृद्धि होती है। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं, जो एक बधी रकम बचाना चाहते हैं। इसलिये ब्याज की दर जब ऊची होगी तो वे कम बचत करेंगे। इसे चित्र द्वारा इस तरह दिखाया जा सकता है —



रेखा चित्र न० ३४

म म माग की पुरानी रेखा है और म म' माग की नई रेखा है जो माग की वृद्धि प्रकट करती है। प प पूर्ति-रेखा है। र बिन्दु तक ऊची कीमत से पूर्ति बढती है लेकिन इसके बाद इसका उल्टा होता है। जब कीमत ट क से बढ़ कर ट' क' हो जाती है तो पूर्ति अ क से घट कर अ क' हो जाती है।

निर्देश पुस्तकें

Wicksteed, P.H —The Commonsense of Political Economy, 1946 Vol. II Ch IV.

Marshall, A —Principles of Economics

Benham, F —Economics

Henderson, H D —Supply and Demand.

Meyers, A, L.—Elements of Modern Economics. 1951, Ch. 9

Samuelson, P A.—Economics, 1948, pp. 469-476.

अध्याय १८

मांग और पूर्त्ति की मार्केट साम्यावस्था

(MARKET EQUILIBRIUM OF SUPPLY AND DEMAND)

१. साम्यावस्था (Equilibrium)—कभी-कभी आधुनिक अर्थशास्त्र साम्यावस्था सम्पन्न विश्लेषण कहा गया है। सतुलन की स्थिति को साम्यावस्था क हैं। जब परस्पर-विरोधी दिशाओ में कार्य करने वाली शक्तियां परस्पर समान जाती हैं, वह वस्तु, जिसे वे प्रभावित करती हैं, साम्यावस्था की स्थिति में कही ज है। एक पत्थर के टुकडे को रस्सी में बाधकर हवा में हिला दीजिये, तो वह इध उधर झूलने के उपरान्त एक जगह स्थिर हो जायगा, बशर्ते कि उसे फिर से हिलाया जाय। अब पत्थर साम्य की स्थिति में है। इस विशेष प्रकार की साम्याव को स्थायी साम्यावस्था (stable equilibrium) कहते हैं, क्योकि पदार्थ हिल जाने के उपरात अपनी पूर्व-स्थिति में आने का प्रयत्न करता है।

जब साधारण गडबड से अधिक गडबड होती है जिससे मूल स्थिति नहीं आ पा तो ऐसी अवस्था को **अस्थिर साम्यावस्था** (unstable equilibrium) कहते **तटस्थ साम्यावस्था** (neutral equilibrium) की अवस्था उस समय होती जब गडबड पैदा करने वाले हालात न तो उसे मूल स्थिति में लाते हैं और न उसे उ आगे बढाते हैं। वह जैसी होती है वैसी ही रहती है। पीगू ने इन तीन स्थितियो विवेचना इस प्रकार की है स्थिर साम्यावस्था उस जलपोत के समान है जिस तली में भारी शहतीर (keel) हो, यदि इसके पार्श्व में एक अण्डा हो तो यह स्थि तटस्थ साम्यावस्था की हुई, और यदि अण्डा इसके एक ओर रखा हो तो यह स्थि अस्थिर साम्यावस्था की हुई। साम्यावस्था को उस समय एकागी (partia कहते हैं जब यह सीमित आकडो (limited data) पर आधारित होती है पर पूरे आकडो पर आधारित होने से सामान्य (general) कहलाती है।

स्थिर (static) अर्थव्यवस्था साम्यावस्था की व्याख्या इस प्रकार करती है मौजूदा आकडे निर्धारित समय में तबदील नही होगे। ये आकडे आबादी, आय त लोगो की रुचि, टैक्नीकल ज्ञान की स्थिति तथा स्रोतो आदि के आकार तथा गठन ह आर्थिक स्थिति या तो बदलती नही अथवा क्रमश बार-बार बदलती है। गतिशी (dynamic) अर्थशास्त्र साम्यावस्था का अध्ययन नही करता बल्कि वह तो र आर्थिक शक्तियो का जो अन्तिम ध्येय तक पहुँचने से पूर्व हैं और इस मार्ग से गुजर हैं, अध्ययन करता है। रॉबिन्सन के अनुसार 'हम स्थिर नियमो का अध्ययन करते (अर्थात् स्थिर अर्थशास्त्र का) जिससे गतिशील अर्थशास्त्र के परिवर्तन वाले नियमो क समझ सकें।

२. मांग और पूर्ति की साम्यावस्था (Equilibrium of Supply and Demand)—साम्य का विचार माग और पूर्ति पर लागू किया गया है। ये दो शक्तियां विरोधी दिशाओ में कार्य करने वाली हैं। अधिक पूर्ति कीमत में कमी लाती है और माग की अधिकता कीमत में । जब विरोधी दिशाओ में इन दोनो शक्तियो का सतुलन स्थापित हो जाता है तो वे किसी उस एक मूल्य को ही बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं, जिसे साम्य कीमत (equilibrium price) कहते हैं।

निम्न तालिका सेवो की मांग और पूर्ति को मिलाती है और यह दिखलाती है कि किस प्रकार इन दो विरोधी शक्तियो के बीच साम्य होता है।

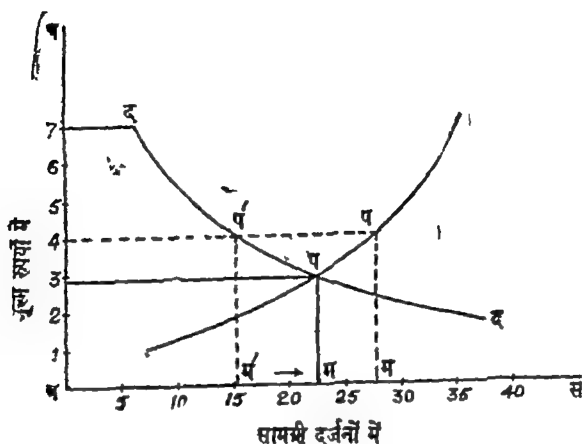
कीमत प्रति दर्जन	माग की मात्रा (दर्जनो में)	पूर्ति की मात्रा (दर्जनो में)
७	४	४०
६	७	३३
५	१२	२९
४	१५	२६
३	२३	२३
—	—	—
२	२९	१६
१	३८	१०

इस सूची से यह पता चलता है कि जब कीमत ३ रुपया प्रति दर्जन है, तब पूर्ति की मात्रा २३ दर्जन है, और २३ दर्जन ही मांगी जाती हैं । पूर्ति मांग के बराबर है। अत साम्य-मूल्य ३ रुपये है । किसी प्रकार भी इस कीमत में कोई वाधा उन शक्तियो को क्रियाशील बना देगी और वे उसी कीमत को फिर से स्थिर करने का प्रयत्न करेंगी। उदाहरणार्थ यदि कीमत बढकर ४ रुपया हो जाती है तो पूर्ति (१५ दर्जन) माग से बढकर २६ दर्जन हो जायगी । सीमित माग को अपने हाथ में करने के लिए वेचने वालो में होने वाली प्रतियोगिता कीमत को साम्य से गिरा देगी । यदि कीमत में २ रुपये की गिरावट हो जाती है तो माग (२९ दर्जन) पूर्ति (१६ दर्जन) से अधिक होगी। ऐसा होने से खरीदारो में सीमित पूर्ति के लिए चलने वाली प्रतियोगिता कीमत को साम्य से ऊपर उठा देगी। अत ३ रुपये साम्य-कीमत है। २३ दर्जन साम्य की मात्रा (equilibrium amount) कहलाती है जिसे साम्य-कीमत पर खरीदा और वेचा जाता है।

अगले पृष्ठ का चित्र इसी बात पर प्रकाश डालता है। माग और पूर्ति की वक्र रेखायें, जो उपर्युक्त उदाहरण द्वारा प्रस्तुत की गई हैं, एक साथ दिखाई गई हैं।

दोनो वक्र रेखायें एक-दूसरे को प स्थान पर काटती हैं जो कि दोनो वक्र रेखाओ पर पडता है। प म एक लम्ब है जिसे व स पर खीचा गया है । प म (=वव′= ३) रुपये साम्य मूल्य है।

यदि कीमत प′ म′ (४ रुपये) प्रति दर्जन तक बढ जाता है तो माग व म′ (=१५) पूर्ति व म (=२६) से नयी कीमत में कम हो जायगी। कीमत का साम्य



रेखा चित्र न० ३५

प म (=३ रुपये) से नीचे गिर जायेगा। यदि कीमत में २ रुपये की कमी होती है तो जब कि इस कीमत पर माग पूर्ति से अधिक होगी तो इसके विपरीत होगा। क्रेताओ में होने वाली प्रतियोगिता इसे साम्य-कीमत से ३ रुपये ऊँचा उठा देगी।

इससे यह स्पष्ट है कि आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मार्केट प्राइस (बाजार कीमत) दो मुख्य कार्य करता है

(1) यह मौजूदा सप्लाई को खरीदारो में बाटता है, जिससे वे सब जो यह कीमत अदा करने के लिए तैयार होते है माल खरीद सकते है, तथा

(ii) सीमित सप्लाई को कालावधि में बाटता है। मार्केट प्राइस (कीमत) किस प्रकार किफायत, कार्यपटुता तथा व्यापक रूप में कार्य करती है, राशन प्रणाली की असुविधाओ, खर्चीली तथा अपटु व्यवस्था से स्पष्ट है।

३. प्रचलित कीमत (Market Price)—एक निश्चित समय पर माग तथा पूर्ति की प्रतियोगी शक्तियो में साम्य के परिणामस्वरूप अल्पकालीन कीमत निर्धारित होती है। अल्पकालीन कीमत वह कीमत होती है जो एक बाजार में किसी विशिष्ट दिन में प्रचलित होने का प्रयत्न करती है। यह उस समय की माग तथा पूर्ति में होने वाले परिवर्तनो के द्वारा प्रभावित होती है। यह प्रभाव अस्थायी तथा क्षणिक होता है। दूसरे दिन अथवा दूसरे घटे में ही माग और पूर्ति अथवा माग या पूर्ति भिन्न हो सकती है। इस प्रकार अल्पकालीन कीमत अस्थिर घटनाओ तथा थोडे काल की शक्तियो का परिणाम है। अतएव अल्पकालीन कीमत प्रति दिन तथा प्रति घटे बदलती रहती है। मान लीजिये कि पशुओ का एक मेला है। उन दिनो में दूध की सप्लाई बढ

जाती है। इस अधिक सप्लाई के कारण दूध का भाव गिर जायेगा। एक नीची दर पर एक नया साम्य स्थापित हो जायगा। दूध की सम्पूर्ण पूर्ति की माग करने के लिए कीमत को बहुत कम होना पडेगा। परन्तु यह साम्य अल्पकालिक होगा। जब पशुओ का मेला समाप्त हो लेगा तब पुराना साम्य फिर से स्थापित हो जायेगा। श्राद्धो के महीने में दूध की माग बहुत बढ जाती है और दूध की कीमत बढ जाती है। साम्य एक ऊची दर पर स्थापित होता है। कीमत कम आवश्यक माग को रोकने के लिए काफी अधिक होती है जिससे प्राप्त होने वाली पूर्ति माग के बराबर हो जाय। किन्तु जब श्राद्ध समाप्त हो जाते है तो पुरानी कीमत फिर से स्थापित हो जाती है। अल्पकालीन कीमत इस प्रकार एक परिवर्तनशील साम्य प्रकट करती है।

समय इतना कम होता है कि वस्तु की सप्लाई केवल उस कुल मात्रा से हो सकेगी जो बाजार में प्राप्त है अथवा थोडे समय में लाई जा सकती है अथवा "दृष्टि" में है। इसलिए और उत्पादन से उसकी वृद्धि का प्रश्न उठना ही नही। अतएव उत्पादन लागत का कीमत पर केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। यदि वस्तु जल्दी खराब होने वाली होती (perishable) है और एक दिन से अधिक नही रह सकती (उदाहरणार्थ मछली) तो कीमत पर उत्पादन व्यय का लगभग कोई प्रभाव नही पडता। वह वस्तु उस कीमत पर बेची जायगी जो उसकी मात्रा के लिए उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता (सामूहिक रूप से) के बराबर है।

मार्केट प्राइस (बाजार कीमत) को निर्धारित करने में प्रतिस्पर्धा का बडा हाथ है। बेचने वालो में स्पर्द्धा होने से कीमतें कम हो जाती है और इसके विपरीत खरीदारो में स्पर्द्धा होने से कीमतें बढ जाती है। परन्तु सचाई यह है कि न तो सभी बेचने वाले और न सभी खरीदार ऐसा प्रभाव डालते है। यह तो सीमान्त खरीदार और सीमान्त बेचने वालो के लिए है कि जिन्हे मार्केट प्राइस से सतुष्टि मिले। इस मार्केट प्राइस पर सीमान्त खरीदार खरीदने के लिए लालायित होते है। यदि कीमत जरा भी अधिक होती, तो वे कभी भी नही खरीद सकते थे। इसी प्रकार सीमान्त बेचने वाले वे है जो बेचने के लिए लालायित होते। जरा कीमत कम होने पर वे कभी भी नही बेचते।

मार्केट प्राइस के निर्धारण में हम पूर्ण मार्केट (perfect market) की कल्पना करते है (देखिए अध्याय १६, विभाग ४)। दूसरे शब्दो में यह माना जाता है कि सारे खरीदार और बेचने वालो के पास माग और पूर्ति की सारी सूचना है। और वे सब इन कीमतो के विषय में जानते है जो दी जा रही है और मान्य है। वास्तविक जगत् में ऐसी सम्भावना बहुत कम जगह है। ऐसी स्थिति में सही मार्केट प्राइस सीधे तौर पर नही बनती। पहले कुछ सौदे होते है, जो कि वास्तविक कीमत से थोड़ा कम ज्यादा कीमत पर तैयार होते है और इसके पश्चात् होते-होते, व्यापारी सही कीमत (true price) पर पहुँच जाते है जिस पर मार्केट में सौदा होता है।

शुद्ध प्रतियोगी मार्केट में, बेचने वालो और खरीदारो को कीमत ही गाइड करने वाला साधन है, क्योकि किसी भी खरीदार को किसी खास बेचने वाले से लगाव नही होता

और न बेचने वाले को खरीदार से। चूकि प्रत्येक बेचने वाले के लिए मार्केट प्राइस निश्चित होती है और यह धारणा की जाती है कि वह इस कीमत पर सारी पैदावार बेच देगा, तो इसमें कोई सदेह की बात नहीं कि वह कीमत गिरा दे यद्यपि उसकी रक्षित कीमत (reserve price) मार्केट प्राइस से कम हो। यदि रक्षित कीमत मार्केट प्राइस से अधिक हो, तो वह कुछ भी नही बेच पाएगा, क्योकि जहाँ तक एक व्यक्तिगत दूकानदार का सवाल है उसके माल की माग पूरे तौर पर लोचदार है।

सप्लाई में सम्पूर्ण परिवर्तन तथा/अथवा माग में क्रमश तभी होगा जब कि बहुत से बेचने वाले अपनी रक्षित कीमत बदल दें तथा/अथवा बहुत से खरीदार अपने खरीदने की मात्रा के निर्णय को जो वे विभिन्न कीमतो पर खरीदने को तैयार है बदल दें। यदि माग बेलोचदार (inelastic) हुई तो मार्केट प्राइस तेजी से गिरेगी और सप्लाई बढेगी।

जहाँ तक बेचने वाले के पास पहले से खरीदे गए माल का सवाल है कोई भी समझदार बेचने वाला अवसर लागत (opportunity cost) को लागत मान बैठेगा। पिछले खर्चे मौजूदा विकल्पो (alternatives)—लागतो—पर प्रभाव नही डाल सकते। वह यह नही सोचेगा कि उसने कल क्या खर्च किया (भूतकाल में) बल्कि यह सोचेगा कि उसे कल क्या प्राप्ति होगी (भविष्य की कीमत के बारे में)। यदि भविष्य की कीमतें ऊँची होती जा रही है, तो वह स्टॉक जमा करेगा, बल्कि भविष्य के लिए और खरीदेगा। परन्तु यदि भविष्य में कीमतें गिरने का रुख है तो वह सारा स्टॉक बेच देगा और भविष्य के लिए भी कुछ बचा कर नही रखेगा।

अब हम यह देखेंगे कि विशिष्ट प्रकार की वस्तुओ की कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं।

४ जब वस्तु सडने वाली होती है (When the Commodity is Perishable)—एक उदाहरण यह स्पष्ट कर देगा। मान लीजिये कि मछली जैसी सडने वाली वस्तु की १०० मात्रा बाजार में लाई जाती है। यह मात्रा किस कीमत पर बेची जायगी। चूकि वस्तु सडने वाली है, इसलिए सब मात्रा उसी दिन बेच देनी होगी। हम कल्पना कर लेते है कि मछली के बेचने वालो में निजी माग उसके लिए कुछ नही है। कुछ मछली के उपभोक्ता ऐसे होगे जो शायद ५ रुपये प्रति सेर की कीमत देने को तत्पर हो जायेंगे, बजाय इसके कि मछली का उपभोग न करें, क्योकि मछली की सीमान्त उपयोगिता उनके लिए बहुत अधिक है। परन्तु इस कीमत पर शायद केवल पाच सेर मछली बेची जा सकेगी। इसी प्रकार ऐसे उपभोक्ता होगे जो अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार कम कीमत देने को तत्पर होगे। हम इस बाजार की माग की तालिका बनाते है। यह कुछ-कुछ इस प्रकार होगी —

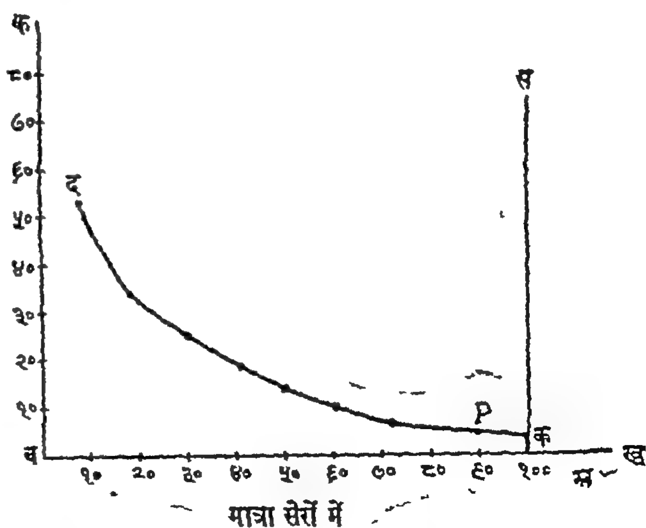
कीमत प्रति सेर रुपयो में	माग की मात्रा सेरो में।
५—०—०	५
४—०—०	७
३—०—०	१२
२—०—०	२०
१—०—०	४०
०—८—०	६०
०—४—०	८०
०—३—०	१००
०—१—०	१५०

अंत में कीमत ३ आने प्रति सेर पर निश्चित हो जायेगी। ये उपभोक्ता जिनकी मछली की सीमान्त उपयोगिता ३ आने के बराबर है, सीमान्त उपभोक्ता होगे और यदि सब मछली को बेचना है तो उन्हें आकर्षित करना आवश्यक है। परन्तु क्योकि पूर्ण बाजार (perfect market) में एक वस्तु की एक ही कीमत हो सकती है, इसलिए मछली की कीमत ३ आने प्रति सेर होगी। धनी मनुष्य भी जो ५ रुपये सेर देने को तत्पर थे, उसी दर पर खरीदेंगे। उन्हें ४—१३—० उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगी।

साथ में दिया हुआ यह चित्र स्पष्ट करता है कि मछली की अल्पकालीन कीमत कैसे निर्धारित होती है।

मात्रा को व ख पर तथा कीमत को व क पर दिखाया गया है। क्योकि पूर्ति स्थायी है। इसलिए स म क व के समानान्तर होगी।

पूर्ति तथा मांग वक्रो के मिलने के विन्दु को क कहा गया है। इसलिए क म अल्पकालीन कीमत होगी जिस पर १०० सेर मछली वेची जायगी। क म = ३ आने।



रेखा चित्र न० ३६

५. लचकदार पूर्ति (Flexible Supply)—जब वस्तु सड़ने वाली न हो तो यह संचय की जा सकती है। ऐसा तब होता है जब विक्रेताओ को भविष्य में अच्छी कीमत की आशा हो। उस दिशा में विक्रय के लिए मात्रा निश्चित नही होगी। यह कीमत

के साथ बदलेगी। खिलौनो का उदाहरण लीजिये। माग के वे ही अक लेकर हम खिलौनो के लिए एक पूर्ति-तालिका भी तैयार कर सकते है। यदि कीमत वहुत अधिक है (माना ५ रुपये) तो सम्पूर्ण मात्रा बाजार में विक्रय की जायगी। परन्तु यदि कीमत गिरती है तो कुछ विक्रेता दूसरे दिन की प्रतीक्षा करेंगे अथवा खिलौनो को अपने वच्चो के लिए रख देंगे। उस दशा में खिलौनो के लिए विक्रेताओ की सीमान्त उपयोगिता न्यूनतम होगी जिसके नीचे वे कोई कीमत स्वीकार नही करेंगे। जिस कीमत पर वेचने वाले अपना स्टॉक खरीदने को तैयार रहते हैं उसे **रक्षित कीमत** (reserve price) कहते हैं। लचकदार सप्लाई में उत्पादको की अपने माल की माग मात्रा के रूप में (quantitatively) महत्त्वरहित होती है, इसलिए इसे छोडा जा सकता है। यहाँ अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि उत्पादन कितना किया जाए और जव माल का उत्पादन ही नही किया जा सके अथवा सप्लाई निश्चित हो तो यह प्रश्न ही नही उठता। इसलिए लागत (cost) ही मूल कारण है जिससे सप्लाई निश्चित होती है। इस तरह पैदावार वढने से सामान्य रूप में लागत प्रति इकाई बढेगी। अत पूर्ति वक्र साधारण रूप से ऊपर की तरफ चलता है, वाए से दाए की ओर। अत

कीमत प्रति खिलौना (आनो में)	खिलौनो की माग की मात्रा	खिलौनो की पूर्ति की मात्रा
८०	५	१००
६४	७	९०
४८	१२	८०
३२	२०	७०
१६	४०	६५
८	६०	६०
—	—	—
४	८०	४०
३	१००	२०
१	१५०	१०

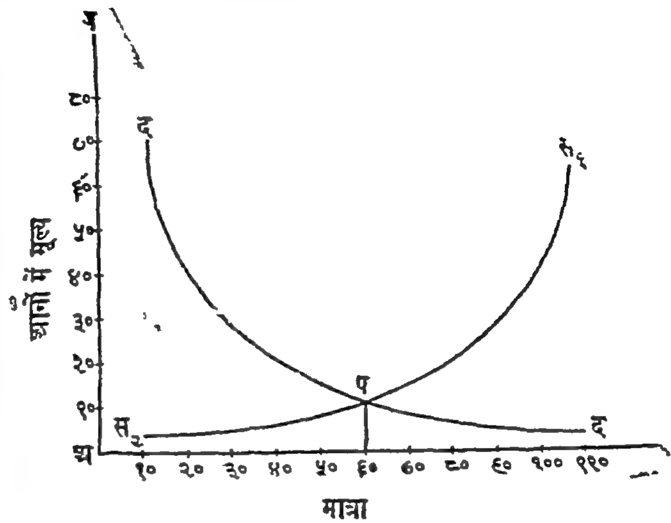
मोल-भाव के बाद कीमत की प्रवृत्ति ८ आना प्रति खिलौना निर्धारित होने की होगी। यह कीमत उस कीमत से अधिक है जिस पर मछली वेची गयी थी क्योकि खिलौने के विक्रेता प्रतीक्षा कर सकते थे। ४० खिलौनो के रखने वालो ने इस कीमत पर वेचना अस्वीकार कर दिया है। वे अच्छे समय की प्रतीक्षा करेंगे अथवा उनमें से कुछ खिलौने अपने वच्चो को देना पसन्द करेंगे, बजाय इसके कि कम कीमत स्वीकार करें।

८ आने ऐसी कीमत है जो खिलौनो के उस विशिष्ट वाजार में उस विशिष्ट दिन की पूर्ति तथा माग में साम्य का परिणाम है। आगे दिया हुआ वक्र यह दिखाता है कि खिलौनो के सम्वन्ध में साम्य कीमत कैसे स्थापित होगी।

पहले की तरह अ व पर कीमत तथा अ क पर मात्रा (इकाइयो में) दिखाई गयी

है। स$_1$ स$_2$ पूर्ति वक्र तथा द द माग वक्र है। प परस्पर मिलने का विंदु है। म प इस प्रकार साम्य कीमत है। म प=८ आने।

यदि यह मान लिया जाय कि मांग और पूर्ति की मात्रा में वृद्धि की कोई सीमा नही है, तो रेखाए ऊपर की ओर टूटी-टूटी नही होगी।



रेखा चित्र नं० ३७

अभी तक हम यह समझने का प्रयत्न कर रहे थे कि कीमत किस प्रकार माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। पर वास्तविकता यह है कि माग और पूर्ति स्वय अनेक बातो से निर्धारित होती है। माग और पूर्ति एक प्रकार का कृत्रिम सूत्र है। "माग और पूर्ति कीमत का अन्तिम हल नही हैं। वे तो सामान्य रूप से अन्य विभिन्न शक्तियो का विश्लेषण, कारणो तथा साधनो को वताने में सहायक सिद्ध होते है जिनका कीमत से सम्बन्ध रहता है।"[1] (उन कारणो का जिनका प्रभाव माग और पूर्ति पर पड़ता है जिक्र अध्याय ६ तथा १४ में किया जा चुका है)।

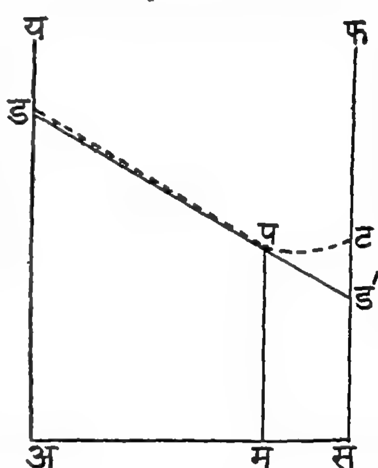
६ निश्चित सप्लाई (Fixed Supply)—अभी तक हमने यह कल्पना की थी कि सम्वन्धित वस्तु का, चाहे वह सड़ने वाली हो अथवा न हो, पुन. उत्पादन हो सकता है और सप्लाई लचकदार है। अव यह देखना है कि उन वस्तुओ की मार्केट कीमत, जिनका स्टॉक निश्चित है कैसे निर्धारित होती है। ऐसी वस्तुए पुरानी हस्तलिपिया, पुराने कलाकारो के चित्र, अद्वितीय हीरे आदि हो सकते है। सैद्धान्तिक दृष्टि से एसी स्थितियो में तथा उन दशाओ में जिनका ऊपर विवेचन हो चुका है, वहुत कम अन्तर है। ऐसी वस्तुओ की कुल मात्रा निश्चित होती है। विक्रेता प्रतीक्षा कर सकता है। अन्त में कीमत उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित की जायगी। कीमत की न्यूनतम सीमा स्वय विक्रेता की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होगी। यदि ऐसी वस्तु की केवल एक इकाई वेची जाती है तो क्रेता द्वारा लगायी गई अधिकतम कीमत उसकी अधिकतम सीमा को निर्धारित करेगी। यदि एक ही वस्तु की अनेक इकाइया है तथा उन सव का विक्रय एक ही समय होता है, तो उपभोक्ताओ की सामूहिक

1. Samuelson, P. A.—Economics, 1948. p. 462.

रूप से सीमान्त उपयोगिता कीमत को निश्चित करेगी। ऐसी कीमत का वस्तु के उत्पादन व्यय से कोई सम्बन्ध नही होगा। पुन उत्पादन के व्यय का प्रश्न ही नही उठता क्योकि वस्तु का पुन उत्पादन नही हो सकता। इस अवस्था में सीमान्त उपयोगिता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, चाहे समय अल्प हो अथवा दीर्घ।

एक न्यूनतम कीमत है जिससे कम पर बेचने वाला बेचना पसन्द नही करेगा। इसे **रक्षित कीमत** (reserve price) कहते हैं। इस कीमत पर वे अपने माल की स्वय माग करते हैं। बेचने वालो की अपने माल के लिए माग और खरीदारो की माग मिलकर कुल माग बनती है और निश्चित स्टॉक के परस्पर प्रभाव (inter-action) से कीमत निर्धारित होती है। इस बात को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार समझाया गया है।

फ स निश्चित सप्लाई वक्र है। ड ड′ के द्वारा बेचने वालो की माग का पता चलता है तथा ट ड चिह्नांकित वक्र (dotted curve) से कुल माग वक का पता चलता है। ट परस्पर प्रभाव (inter-action) का बिन्दु है जो कुल माग तथा निश्चित सप्लाई के बीच स्थित है। लेकिन सट=पम इस प्रकार प म कीमत है तथा अ म बेची गई मात्रा बताती है और म स वह मात्रा है जो न बेची गई हो।



रेखा चित्र न० ३८

ऐसी स्थितियाँ पुन उत्पादन योग्य वस्तुओ की स्थिति से इस बात में भिन्न होती है कि बाद वाली स्थिति में सीमान्त उत्पादन-व्यय अन्त में पूर्ति की वृद्धि को सीमित करता है। जब तक यह व्यय कीमत से नही निकलेगा, पुन उत्पादन योग्य वस्तुओ का उत्पादन रुक जायगा। प्रचलित कीमत (Market Price) के विपरीत सामान्य कीमत (Normal Price) की यह एक समस्या है। हम इस पर आगे के एक अध्याय में विचार करेंगे।

७. उत्पादक कार्यों का मूल्याकन (Pricing of Productive Services)[1]—अब तक हमारा सबध उपभोग वस्तुओ के मूल्याकन तक ही सीमित रहा। अब यह देखना है कि उत्पादन के साधनो की कीमत का निर्धारण कैसे होता है? उपभोग-वस्तुओ तथा उत्पादन के साधनो की मडियो के बीच एक गोलाकार सम्बन्ध होता है। उपभोक्ता उपभोग की वस्तुओ को खरीदते हैं और उत्पादन के साधनो को बेचते है। दूसरी ओर उद्यमी उत्पादन के साधनों को खरीदते है और उपभोग वस्तुओं

1 Stigler, G J —Theory of Price 1947, Ch 10

को बेचते हैं। अस्तु, माग और पूर्ति के मौलिक सिद्धात यहा भी लागू होते हैं।

माग का प्रमुख सिद्धात यह है कि "एक प्रतियोगी फर्म की माग का वक्र उसी की सीमान्त उत्पादन के मूल्य के वक्र की सेवा के समान रहता है।" सीमान्त उत्पादन में ह्रास होने के कारण मांग वक्र भी गिरता है। यदि उत्पादन के प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पादन की कीमत के बराबर मिलता है, तो अवश्य समस्त उत्पादन साधनो के लगाने में खप जायगा।

उत्पादन कार्य से सलग्न माग के सम्बन्ध मे निम्नाकित चार बातें ध्यान देने योग्य है[1]

(i) जितनी अधिक सहयोगी साधनो की मात्रा होगी, उतनी ही अधिक किसी साधन की दी हुई मात्रा की माग-कीमत अधिक होगी।

(ii) जितना ही अधिक कोई साधन लगाया जायगा, उसकी माग-कीमत घटती जायगी।

(iii) यदि कोई साधन किसी बहुमूल्य पदार्थ के बनाने में लगाया जाता है तो उसकी माग-कीमत अधिक होगी।

(iv) जितना अधिक उत्पादक कोई साधन होगा, उसकी माग कीमत उतनी ही अधिक होगी।

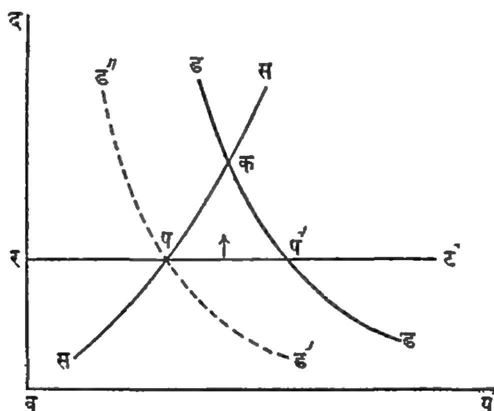
एक उद्योग का माग वक्र (demand curve), विभिन्न फर्मों की माग रेखाओ का योग होता है। इसी प्रकार जोडकर हम किसी साधन की सभी उद्योगो की तरफ से एक माग रेखा तैयार कर सकते हैं। किसी साधन की पूर्ति रेखा या इसकी पूर्ति विभिन्न बातो पर आधारित रहती है। उदाहरणार्थ, यदि हम श्रम को लें—जो एक महत्त्वपूर्ण सेवा है—यह कुल आबादी पर, उसका पेशा तथा भौगोलिक वितरण परिश्रम की उत्तमता, पढाई का खर्च तथा प्रशिक्षण (training) घूमने फिरने का खर्च, आशा की हुई आमदनी, काम तथा आराम का पारस्परिक महत्त्व आदि पर निर्भर है। इस तरह प्रामाणिक बातें देखकर किसी उत्पादन सेवा की पूर्ति रेखा बनाना सम्भव हो सकता है।

माग वक्र तथा पूर्ति वक्र बना लेने पर मूल्याकन सदैव की रीति से हो जाता है। इन दोनो शक्तियो के सन्तुलन द्वारा किसी उत्पादन-कार्य की कीमत निर्धारित होती है।

८. कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग (Price Control and Rationing)[2]—हम कीमत के नियत्रण तथा राशनिंग को पूर्णतया जानते हैं। लडाई के समय मुद्रा-स्फीति (inflation) तथा दूसरे कारणो से कीमते बहुत बढ़ जाती हैं। साधारण आवश्यक पदार्थ जनसमूह के खरीदने की शक्ति के बाहर हो जाते हैं। यदि सरकार दामो पर रोक न लगाए तो भय रहता है कि कही असन्तोष क्रान्ति का रूप धारण न कर ले। राज्य की स्थिरता भग होने के डर के कारण कंट्रोल आवश्यक

1. Ibid p 182
2 Samuelson, P. A —Economics, 1948, pp 463—66

प्रतीत होने लगता है। दामो का नियन्त्रण अधिकतर उस सीमा से वहुत कम होता है जो यदि माग और पूर्ति के नियम को स्वतन्त्रता से काम करने देने में हो जाने की आशका रहती है। इस कम कीमत पर दुर्लभ प्राप्त वस्तुओ की माग वढ जाती है—"यह एक सगीत की कुर्सियो जैसी स्थिति है जिसमें किसी व्यक्ति को, आर्केस्ट्रा समाप्त होने पर खाली थैला देकर छोड दिया जाता है।" इस निम्न कीमत पर अप्राप्य वस्तुओ पर वहुत झपट रहती है। असुविधा तथा गडवड को रोकने के हेतु दाम का नियत्रण राशनिंग का रूप धारण कर लेता है। चोर-वाजारी शुरू हो जायगी। इसकी सीमा लोगो की कर्तव्यपरायणता, देश-भक्ति तथा ईमानदारी पर अवलम्वित है। साधारण समय में यह साम्यावस्था कीमत प्रणाली के द्वारा वनी रहती है। यानी कीमत माग घटान के हेतु वढती है। लेकिन लडाई के समय कीमत प्रणाली भग हो जाती है। या यो कहिए कि लोकहित को आगे रखते हुए इसे काम नही करने दिया जाता। लडाई के समय में कीमत प्रणाली का काम कीमत नियत्रण तथा राशनिंग द्वारा किया जाता है।



रेखाचित्र न० ३९
अधिकतम कीमत (ceiling price)

यह स्थिति चित्र द्वारा स्पष्ट हो जाती है। ड ड माग वक्र है और स स पूर्ति वक्र है। उन्हें स्वतन्त्र कर देने से वे क पर समतुल्य (equilibrate) हो जायेंगे। यह वहुत ही ऊची कीमत है। सरकार र ट रोक लगाती है (ceiling)। लेकिन इस पर माग पूर्ति से बहुत ज्यादा बढ जाती है। यह प प (gap) बीच से दिखाया गया है। कीमत वढना चाहती है जो कि प प' पर तीर के द्वारा सकेत किया गया है। राशनिंग कर देने से माग कम कर दी जाती है। घटी हुई माग ड' ड' से अकित की गई है। जो पहले वक्र के वायें तरफ है। अव यह घटी हुई नई माग रेखा तथा पूर्ति रेखा स स एक दूसरे को प पर काटती है। यहा दाम पर नियत्रण तथा राशनिंग के द्वारा साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित की गई है।

९. नवीन उत्पादन का मूल्याकन (Pricing of New Products)[1]—नवीन उत्पाद का मूल्याकन एक प्रकार से अधेरे में कूदना है। अनुभवी कारीगर अधो की तरह नही भागते वल्कि वैज्ञानिक तरीको पर प्रयोग करते है। नई वस्तु को बाजार में कई श्रेणिया (stages) पार करनी पडती है। प्रारम्भिक नवीनता घटती जाती है तथा वस्तु अपनी विशेषता खो देती है। "नए उत्पादो में रक्षित विशेषता पाई जाती है जो प्रतियोगिता के कारण कम होती जाती है।" इसकी विभिन्न श्रेणियाँ ये है. मार्केट मे नए माल का पेटेंट होता है। यह तरल अवस्था है। माल की निकासी के साथ विक्री वढती है। इससे प्रतियोगिता उत्पन्न होती है। वाजार में नए प्रतियोगी आते है, जिससे माल मे फर्क करना कठिन हो जाता है। कीमते कम होने लगती है तथा माल आम हो जाता है। इसीलिए प्रत्येक श्रेणी के अनुसार कीमत नीति बनानी पडती है।

उद्यमी के सम्मुख निम्नाकित विशेष कार्य रहते है —

(i) **मांग का अनुमान लगाना** (to estimate demand)—उपभोक्ता की पसन्द वास्तविक तथा सम्भावित (actual and potential) जानना होता है। कुछ प्रश्न का हाल आवश्यक होता है जैसे आया वस्तु की माग होगी अथवा नही। किसी कीमत पर यह अधिक आकर्षित होगी ? किन कीमतो पर क्या विक्री होगी और इन कीमतो का दूसरी वस्तुओ के वनाने वालो पर क्या असर पड़ेगा ?

(ii) **वाजार लक्ष्य निर्धारित करना** (To Decide Market Targets)—यह लक्ष्य वाजार के हिस्से पर जो यह अपनाना चाहता है निर्धारित है, पैदा करने का ढग तथा वितरित करने के जरिये पर निर्धारित है। उत्पादन तथा वितरण की लागत द्वारा इस वात का निर्धारण होगा।

(iii) **उन्नतिशील कौशल की रचना** (To Design Promotional Strategy)—इसके पहले कि वनाने वालो की कीमत लगाने की इच्छा खतम हो, वह खर्च जो वाजार वनाने में तथा अधिकार देने आदि में खर्च हुए है वसूल कर लेने चाहिएँ।

(iv) **वितरण के रास्ते निकालना** (To Choose distribution Channels)—नई वस्तुओ की कीमत लगाने में विक्रय कीमत का भी ध्यान रखना चाहिए।

अब हमको कीमत लगाने के ढग को, जो दो विशेष श्रेणियो म होती है, जिससे वस्तुओ को गुजरना पडता है, देखना है। (क) रास्ता वताने वाला दर्जा (pioneering stage) तथा (ख) प्रौढता का दर्जा (stage of maturity)।

(क) Pioneering Pricing —इस हालत में कारीगर (manufacturer) के लिए दो रास्ते खुले है —

(i) ऊची कीमत जिसको Skimming Price कहते है और

---

1. Joel Dean, *Harvard Business Review*, November 1950, pp 45-52, reprinted in Hess and others—*Outside Readings in Economics*, 1951, Ch 15.

(ii) नीची कीमत जिसको Penetration Price कहते है।

ऊची कीमत (Skimming Price) बाजार में किसी प्रतिवादी के आने के पहले बाजार को मथने (skim) के लिए होती है। यह उन वस्तुओ के लिए उचित है जो मौजूदा वस्तुओ से अत्यधिक भेद बतलाती है और जिन पर प्रारम्भ में ही अधिक खर्च होता है। ऊची कीमत के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि पहले पहले माग अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है, यह बाजार के तत्त्व को मथ लेती है जिससे कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता। यह रक्षित है, और साथ ही ऊचे दाम द्वारा पैदावार, वितरण तथा तरक्की के लिए अधिक रुपया लगाने की व्यवस्था होती है।

नीची कीमत (Penetration Price) वह कीमत है जो नीची कीमत है और पूरे बाजार पर सीधे आक्रमण करती है और अधिक मुनाफे की आशा भी रखती है। जहा पर ऊची कीमत से माग की लोच बढती है वहा के लिए थोडी कीमत उपयोगी सिद्ध होगी। यह वहा के लिए भी उपयोगी होगी जहा प्रतिस्पर्धा का भारी डर है तथा जहा पैदावार उपभोक्ता के खर्च के लिए आसानी से उपयोगी हो। अधिक उत्पादन जो कम दामो पर अधिक माग की पूर्ति के लिए किया गया हो उत्पादन की लागत में बचत करेगा।

(ख) प्रौढावस्था में मूल्याकन (Pricing in Maturity)—Brand preference में कमजोरी लाना, वस्तुओ के बीच भौतिक विभिन्नता को कम करना जबकि उत्पादन स्टैंडर्ड (standardized) हो, व्यक्तिगत होड करने वाले चिन्ह की अधिकता का होना, बाजार का शिखर पर होना, और उत्पादन के साधन का स्थिर हो जाना आदि नई वस्तुओ में प्रतिस्पर्धा (competitive status) को नीचा करने के कुछ लक्षण है। जब कि ऐसे चिन्ह प्रतीत होते है और निर्माता को यह मालूम होता है कि बाजार उसके हाथ से निकलता जा रहा है तो उसे कीमत कम कर देना चाहिए और इस तरह एक मजबूत दीवार उसके विरोधी के रास्ते में खडी हो जाती है। उसको अपनी वस्तु को उन्नतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मार्केट का विभाजन (segmentation) जिससे पैदावार "सम्पन्न श्रेणी में आ जाए और ऊची आय वालो को आकर्षित करे।" इस तरह कम तथा इतनी-कम-भी-नही कीमत (low and not-so-low a price) ही के बीच छाट का विकल्प रहता है।

निर्देश पुस्तके

Marshall, A —Principles of Economics
Benham, F —Economics
Meyers—Elements of Modern Economics, Ch 9
Stigler, G J —Theory of Price, p 147 and also Ch 10 for pricing of productive services
Samuelson, P A —Economics, 1948, Ch 19
Hess & Others—Outside Readings in Economics, 1951, Ch 15.
Wicksteed, P H —Commonsense of Pol Economy, 1946, Vol 1 Ch 6

अध्याय १९

लागत और पैदावार

(COST AND OUTPUT)

१. उत्पादन की लागत (Cost of Production)—पिछले अध्याय में हमने यह देखा कि माग तथा पूर्ति मे साम्यावस्था होने से किस प्रकार कीमत का निर्धारण होता है। माग पर सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) का तथा पूर्ति (सप्लाई) पर उत्पादन की लागत का प्रभाव पडता है। उत्पादन लागत नाम-मात्र (nominal) भी हो सकती है और वास्तविक (real) भी। उत्पादन की **नाम-मात्र लागत** द्राव्यिक लागत खर्च (money cost of production) कहलाता है। इसे उत्पादन पर आने वाला खर्चा भी कहते हैं। "द्राव्यिक पर्दे को छेदने" के कई प्रयास किए गए। इसके वाद **वास्तविक** उत्पादन पर लागत का अन्दाज लगाने के कई प्रयत्न हुए। **उत्पादन की वास्तविक लागत** के कई अर्थ लगाये जाते हैं। एडम स्मिथ ने श्रमिक के कष्टो और त्यागो को वास्तविक लागत माना है। मार्शल ने इसके अन्तर्गत "विभिन्न योग्यताओ के प्रयत्नो की वास्तविक लागत" और "प्रतीक्षा की वास्तविक लागत" शामिल किया है।[1] मार्शल ने इसे सामाजिक लागत कहा है। आस्ट्रेलिया के अर्थशास्त्रियो और उनके अनुयायियो ने वास्तविक लागत को एक नया रूप दिया है। उनके अनुसार एक विशेष जिस की वास्तविक लागत "उस जिस की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आगामी सर्वश्रेष्ठ त्याग है।" इसे **अवसर लागत** अथवा **विस्थापन लागत** (displacement cost) भी कहते हैं।

यहा हम **उत्पादन की लागत** का प्रयोग **द्राव्यिक लागत** आदि शब्दो (terms) का प्रयोग करेंगे। इसे उद्यमी की लागत कहते हैं। अतएव हमें उद्योगपति की उत्पादन लागत की विवेचना करनी है और देखना है कि ऐसी लागत कीमत को किस भाति प्रभावित करती है। वाद में इन द्राव्यिक लागतो के आधार पर हम उन आधारभूत तत्वो का निष्कर्ष निकालेंगे जो कीमत निर्धारित करते हैं।

उद्यमी की उत्पादन लागत में निम्न तत्व सम्मिलित रहते हैं[2]—(i) श्रमिक की **मजदूरी** (wages of labour), (ii) पूजी पर **ब्याज** (interest on capital), (iii) भूमि अथवा दूसरी सम्पत्ति का **किराया** (लगान) अथवा **'रायल्टी'** (iv) **कच्चे माल की लागत,** (v) मशीनो को ठीक करवाने अथना वदलवाने पर

---

१ मार्शल—अर्थशास्त्र के सिद्धांत (आठवाँ सस्करण) पृष्ठ ३५०।

२. अधिक जानकारी के लिए—

Meade - Economic Analysis and Policy, pp 2—5.

व्यय, तथा (vi) उद्यमी का लाभ, जिसके आधार पर वह उत्पादन को चालू रख सके।

लागत का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—(१) उत्पादन लागत जिसमें माल की लागत, मजदूरी लागत, व्याज लागत आदि अर्थात् परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनो प्रकार की लागतें शामिल है, (२) बिक्री लागत, जिसमें विज्ञापन की लागत शामिल है, तथा (३) दूसरी लागतें, जिसमें बीमा के दाम, दर तथा कर आदि शामिल है।

२. प्रमुख और पूरक लागत (Prime (Variable) and Supplementary (Fixed) Cost)—उद्यमी की द्राव्यिक लागत को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। कुछ लागतें निकासी के अनुपात से थोड़ी या बहुत भिन्न-भिन्न होती है, जबकि अन्य स्थिर रहती है और पहले की भाति भिन्न नहीं होती। पहली को प्रमुख लागत और दूसरी को पूरक लागत अथवा ऊपरी लागत (overhead) कहते है। उनका भुगतान अवश्य होना चाहिए, भले ही खाड का उत्पादन अस्थायी रूप से स्थगित क्यो न हो। यह पूरक लागत है और इनमें कारखाने का किराया, मशीनो में लगी पूजी का व्याज और स्थायी कर्मचारियो का वेतन सम्मिलित रहता है। दूसरी ओर प्रमुख लागत (prime costs) खर्च परिवर्तनशील होते है। यह लागत पैदावार में भेद होने से बदलती रहती है। इनमें उत्पादन में प्रयोग में आने वाले कच्चे माल की लागत और अनियमित श्रमिक की मजदूरी सम्मिलित होती है। यह व्यय तभी होते है जब फैक्टरी चालू रहती है।

प्रमुख (परिवर्तनीय) और पूरक (स्थिर) लागत खर्च का अन्तर केवल अल्पकालीन समय में लागू होता है। कोई भी वस्तु लम्बे समय तक स्थिर नही रह सकती। कालान्तर में कर्मचारियो में हेरफेर हो सकता है, लगी हुई पूजी की रकम में भिन्नता आ सकती है और फैक्टरी के क्षेत्रफल में भी अन्तर पड सकता है। अतएव दीर्घकाल में सभी व्यय परिवर्तनीय अथवा प्रमुख होते है।[1]

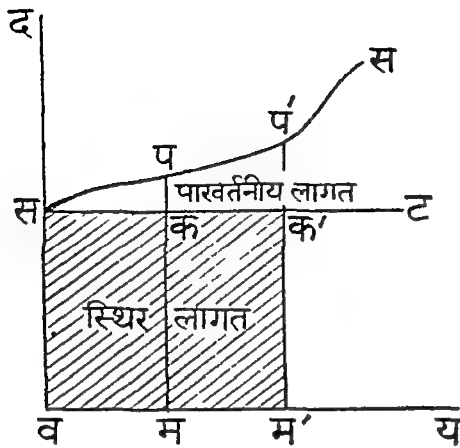
कुल लागत वक्र जिसमें स्थिर (पूरक), परिवर्तनीय (कीमत लागत) तथा औसत लागत शामिल है इनका निम्नलिखित लागत वक्रो[2] द्वारा निरूपण किया जा सकता है।

रेखा चित्र ४० में स स पूरी लागत का वक्र है जिसमें स्थिर लागत भी है (जिसे वक्र स ट तथा अक्ष य के बीच में दिखाया गया है) और परिवर्तनीय (variable) लागत भी (जिसे स स तथा स ट वक्र के बीच में दिखाया गया है)। स्थिर लागत स ट से दिखाई गई है। यह एक क्षैतिज (horizontal line) है जो बताती है कि यह लागत हमेशा एक ही रहती है उत्पादन चाहे जो हो (यानी व म या व म')। लेकिन व म उत्पादन के लिए बदलती (variable) हुई लागत प क है और व म' के लिए प' क' है। बदलती हुई लागत शून्य है जबकि उत्पादन कुछ भी नही है। यह बिन्दु स के द्वारा बताया गया है, यद्यपि बदलती हुई लागत नही है, लेकिन स्थिर लागत (=व स) मौजूद है। पहले पहल उत्पादन के साथ बहुत शीघ्रता से बदलती हुई लागत

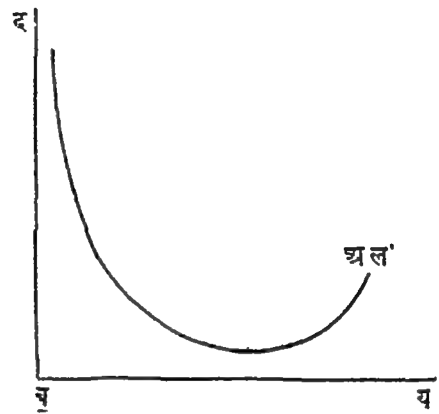
1 Benham—Economics, 1940, p 181.

2 Easily understandable cost curves of all types will be found in Tarshis Elements of Economics, Chp 6—9

बढती है और फिर उत्पादन माप की मितव्ययताओ के कारण उससे कम बढता है। लेकिन एक समय बाद यह घटती हुई प्राप्ति (diminishing returns) घटने के कारण एक दम से बढ जाती है।

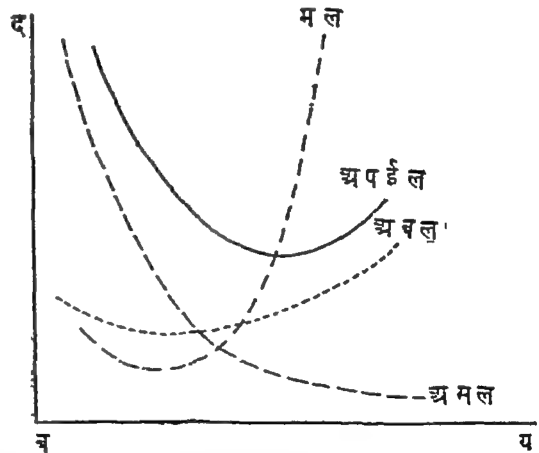


रेखा चित्र न० ४०
पूरी लागत



रेखा चित्र न० ४१
औसत लागत

रेखा चित्र ४१ औसत लागत बताता है। पहले पहल औसत लागत बडी स्थिर लागत तथा थोडी पैदावार के कारण बहुत ऊँची है। जैसे पैदावार बढती है, स्थिर लागत इकाई उत्पादन की बडी सख्या के ऊपर फैली हुई है, और औसत लागत गिरती है। इसका कारण कई आन्तरिक अर्थ व्यवस्था (internal economy) तथा अविभाज्य साधनो का होना है। लेकिन जब घटती हुई प्राप्ति प्रबन्ध की असुविधा तथा मशीनो की कमी के कारण शुरू होती है, तो बदलती हुई लागत और इसलिए औसत लागत बढना शुरू हो जाती है। वक्र के नीचे का भाग मुड कर U की शकल का हो जाता है। इसी कारण से औसत लागत का वक्र U की शकल की तरह होता है।



रेखा चित्र नं० ४२

उपर्युक्त रेखाचित्र न० ४२ द्वारा इन बातो का निरूपण किया गया है। औसत स्थिर लागत (average fixed cost) जो रेखाचित्र मे बिन्दी वाली टूटी रेखा से बनाई गई है (अ स ल), औसत बदलती लागत (average variable cost)

जो चित्र में बिन्दीदार रेखा से बनाई गई है (अ, ब, ल), और औसत पूरी इकाई लागत (average total unit cost) जो चित्र में पूरी वक्र से बनाई गई है (अ, प, ई, ल) और सीमान्त लागत (marginal cost) जो चित्र में विन्दु और वक्र के द्वारा बनाई गई है (म, ल)[1]।

यह देखा जा सकता है कि औसत बदलती लागत गिरती जाती है जब तक कि सीमान्त लागत इसके नीचे है, लेकिन यह जहा पर म, ल रेखा अ, ब, ल को काटती है बढना शुरू हो जाती है। सीमान्त लागत सदा औसत बदलती लागत से जल्दी बढेगी। ऐसा ही सम्बन्ध सीमान्त लागत तथा औसत पूरी इकाई लागत में है।

ऐसी चीजें जो लागत को प्रभावित करती है वे ये है —(i) पैदावार का तल (level of output), (ii) उत्पादन के साधनो के लिए दी गई कीमत में परिवर्तन, (iii) उत्पादन के तरीको में उन्नति, और (iv) कल और कारखानो की शक्ति म परिवर्तन। आखिरी दशा में नई औसत पूरी लागत (average total cost) पहले पहल जबकि पैदावार कम है पुरानी औसत पूरी लागत वक्र के ऊपर होगी, लेकिन जब पैदावार काफी बढ गयी हो तो नई रेखा पुरानी रेखा के नीचे होगी।

यह याद रखना चाहिए कि परिवर्तनीय लागत की वृद्धि से सीमान्त लागत (marginal cost) तथा औसत कुल लागत (average total cost) बढ जायगी। लेकिन स्थिर लागत के बढने से औसत पूरी लागत बढ सकती है और सीमान्त लागत नही बढेगी, क्योकि सीमान्त लागत के माने होते हैं एक बढती इकाई की उत्पादन के द्वारा पूरी लागत में वृद्धि करना। और यह उचित नही होगा कि इस इकाई पर वेतन, ब्याज एव किराये में वृद्धि के बोझ को लादा जाय। इनमें जो वृद्धि होती है वह बढती इकाई के उत्पादन के द्वारा नही होती।

३ विक्रय मूल्य या लागत (Selling Costs)[2]—विज्ञापन, प्रचार कार्य तथा बेचने मे जो खर्च होता है उसे विक्रय लागत कहते है। विक्रय लागत की परिभाषा इस प्रकार है "यह वह लागत खर्च है जो खरीदार को एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी खरीदने के लिए बाध्य करता है या जो खरीदार को एक दूकान से दूसरी दूकान से खरीदने के लिए विवश करता है।"

यदि बाजार पूर्ण हो यानी अगर खरीदारो को कीमतो के बारे में पूरी जानकारी हो तथा चीजो की क्वालिटी की पूरी-पूरी जानकारी है तो विज्ञापन बेकार होगा। इससे कोई भी खरीदार आकर्षित नही होगा। विज्ञापन प्रतियोगितापूर्ण बाजार में भी अनावश्यक होगा जहा कि प्रामाणिक वस्तुए बिकती है। एकाधिकारी को भी विज्ञापन पर खर्च करने की जरूरत नही क्योकि उसके साथ स्पर्धा करने के लिए कोई नही

1 *See* Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, p 159
See also Stigler, G,J —Theory of Price, 1947, p 157, and Joan Robinson—The Economics of Imperfect Competition, 1954, p 335

2 This section is based on Meyers, Elements of Modern Economics, 1951, Ch 14

होता। असलियत मे पूर्ण प्रतियोगिता तथा पूर्ण एकाधिकार तो होता ही नही। बहुत थोड़े खरीदार ऐसे होगे जो पारखी हो अथवा बाजार की हालतो से पूरे परिचित हो। बहुत से ब्रैडो (brand) में चुने जाने की प्रतियोगिता रहती है। यह विज्ञापन के लिए बहुत बडा-क्षेत्र है जो या तो नई वस्तुओ का ज्ञान दिलाता है या खरीदारो को आगाह करता है कि पुरानी वस्तु अब भी ठीक से चल रही है। विक्रय लागत इस तरह अपूर्ण बाजार (imperfect market) से सबधित है। उत्पादन की भिन्नता से विज्ञापन और विक्रय कार्य आवश्यक हो जाते है।

विज्ञापन एक बहुत नाजुक औजार है और इसका सही-सही मूल्याकन करना सम्भव नही। **सबप्रथम,** किसी बात को सामान्य रूप से कहना कठिन है। वही विज्ञापन पर खर्च बहुत लाभप्रद हो सकता है जब कि वह एक किसी खास तरीके से या ऐसी किसी परिस्थिति में खर्च किया जाय और वही खर्च किसी दूसरे ढग से खर्च करने पर बिल्कुल बेकार सिद्ध हो सकता है। कारण यह है कि इसकी सफलता इसकी न्यूनता तथा अद्वितीयता (novelty and uniqueness) पर निर्भर है। जब यह चीज नही रह जाती, विज्ञापन निर्मूल हो जाता है। **दूसरे,** विक्रय लागत तथा किसी फर्म के व्यापार की मात्रा में कोई सबध नही है। **तीसरे,** चूंकि विज्ञापन, विरुद्ध विज्ञापन उत्तेजित करता है, अत विक्रय लागत प्रतिद्वद्वी के कार्य से बहुत अधिक प्रभावित होता है। प्रतियोगिक विज्ञापन कुल लाभ हडप सकता है, और हो सकता है कि सिवाय विज्ञापन-कर्त्ता तथा विक्रयकर्त्ता के किसी को भी लाभ न हो। **चौथे,** विक्रय-लागत खर्च से जो इसे करता है उसको तथा उसके प्रतिद्वद्वी दोनो को लाभ हो सकता है। जैसे मान लो न्यू इडिया इन्स्योरेंस कम्पनी (New India Insurance Company) के विज्ञापन द्वारा कोई व्यक्ति बीमा के लिए तैयार हुआ लेकिन वह बीमा करने के लिए इसके बदले ओरियन्टल लाइफ इश्योरेंस कम्पनी (Oriental Life Insurance Company) के पास जा सकता है। **पांचवें,** विज्ञापन इस धारणा पर आधारित है कि बहुत से खरीदार अपनी रुचि बदलने को तैयार हैं। ऐसा भी नही होता। यह पता लगाना कठिन है कि उसका कितना व्यापार पुराने खरीदारो के कारण है और कितना व्यापार नए खरीदारो के कारण है जो विज्ञापन द्वारा बनाए गए है। पहली हालत में विक्रय लागत स्थिर लागत माना जाना चाहिए और दूसरी दशा में परिवर्तनीय लागत (variable costs) विज्ञापन की पूरी लागत नये व्यापार पर लगाना चाहिए।

विक्रय लागत तथा मांग वक्र (Selling Costs and Demand Curve):— विक्रय लागत खर्च पुराने ग्राहको को ज्यादा चीजें खरीदने के लिए लालायित कर सकता है और नए ग्राहक भी बना सकता है। इसका अर्थ है माग में बढोतरी। नए माग का वक्र, जो माग की बढती बताता है, पुराने वक्र के ऊपर या उसके दाहिने तरफ होगा लेकिन यह जरूरी नही है कि वक्र की लोच पुराने की ही तरह हो। यह नए ग्राहको की खरीद की आदत पर निर्भर है। अगर वे कीमत से ज्यादा प्रभावित होते है तो वह अधिक लोचदार होगी, नही तो पुराने वक्र से कम लोच-

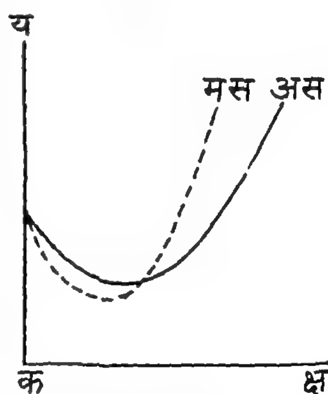
ले। जो फर्म इस सदेह में झूलती रहती है कि व्यवसाय चालू रक्खा जाय अथवा वन्द कर दिया जाय, उसे सीमान्त फर्म कहते हैं।

(ii) **सीमान्त पैदावार (Marginal Output)**—जब एक व्यवसाय का क्षेत्र बढता है, और पैदावार में वृद्धि होती है, तो उस समय घटती हुई प्राप्ति का नियम (law of diminishing returns) अपना कार्य प्रारम्भ कर सकता है और फलस्वरूप लागत में वृद्धि हो सकती है। उद्यमी उस सीमा तक उत्पादन कार्य जारी रखेगा जब तक कि उसे उतना मिलता रहे जितना कि उसका और खर्च हो रहा है। पैदावार में अन्तिम योग को सीमान्त पैदावार (output) कहते हैं। सीमान्त निकासी की प्रति इकाई की उत्पादन लागत उत्पादन की सीमान्त लागत होती है। **सीमान्त लागत को परिवर्तनीय लागत में योग (addition) को कहा गया है जिसमें पैदावार में थोड़ी वृद्धि जुड़ी मानी गई है।**[1]

यह स्पष्ट है कि स्थायी या पूरक लागत अल्प-काल में सीमान्त लागत का अग नही बनती। पैदावार चाहे जितनी हो उनका भुगतान होना आवश्यक है। किन्तु ज्यो-ज्यो दीर्घकाल होता जायेगा पूरक सूची के विषयो पर कीमत बढती जायेगी और यह सीमान्त लागत का ही एक अग होगी।

सीमान्त लागत तथा औसत लागत के परस्पर सम्बन्ध को जान लेना जरूरी है निम्नलिखित चित्र को ध्यान से देखिए —

अस (औसत लागत) है तथा मस (सीमान्त लागत है और इनका आकार अग्रेजी के U अक्षर जैसा है। जब तक अ स गिरता है म स इसके नीचे है और जब अ स उठना शुरू हो जाता है तब म स इसके ऊपर हो जाता है। लेकिन म स की दिशा के सम्बन्ध में कुछ नही कहा जा सकता कि वह किस ओर चलेगी। उदाहरण के लिए, यदि अ स गिरता है, म स उठ भी सकता है और गिर भी, और यदि अ स उठता है म स गिर भी सकता है और उठ भी। परन्तु यदि अ स स्थिर (constant) तो म स भी स्थिर रहेगा।



रेखा चित्र न० ४४

६ सीमान्त का महत्त्व (Importance of the margin)[2] हमें सीमान्त विश्लेषण की ओर निर्देश करने का अवसर मिला (अध्याय ४, विभाग ११)। इसका महत्त्व इसमें होता है कि "सीमान्त पर ही माग और पूर्ति के परिवर्तित सम्बन्ध परस्पर स्पष्ट होकर वदलाव सम्भव करते हैं, अर्थात् यह ज्ञात होता है कि

1 Benham, F—Economics, 1943, p 224
2 Richard, A Lester—"Shortcomings of Marginal Analysis" The American Economic Review, March, 1946, pp 72-82, reprinted in Hess and others—Outside Readings in Economics, 1951, Ch 18

अब व्यवस्था में परिवर्तन होना चाहिये। सीमान्त पर ही व्यवसाय की असफलता अथवा दिवालियेपन का ज्ञान होता है। सीमान्त पर ही नई फर्म अथवा उद्योगपति उन्नति की ओर बढते है। सीमान्त पर ही एक वस्तु अथवा काम की जगह दूसरी वस्तु अथवा काम को लगाया जाता है। सीमान्त पर ही नये सामान की मागो की पूर्ति को प्राप्त साधनो के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है। और द्रव्य के वर्तमान और भविष्य के उपयोग के लिए किस भाति वितरण हो, इस नतीजे पर पर पहुचा जाता है। विकस्टीड के शब्दो में "जहा कही भी वह (सीमान्त) अपना प्रभाव जमा चुकी है वही वह अपनी प्रभुता स्थापित करती है। यही पर मनुष्य के प्रयत्नो की दिशा की आर्थिक परीक्षा होती है और उसे वही से निर्देश मिलते है। विभाजन के प्रत्येक विन्दु पर वह साधनो के विवरण की जाच करती है।"

पैदावार के सम्बन्ध में भी सीमान्त का अपना एक विशेष महत्त्व है। यह पैदावार का रूप स्थिर करने का माप-दड होता है। यह निश्चय करन के लिए कि उत्पादन कितनी मात्रा में होना चाहिए, उत्पादक सामान्य उत्पादन लागत को दृष्टि में नही रखता वरन् वह सीमान्त उत्पादन व्यय पर ध्यान देता है। उसके लिए यह जानना अधिक आवश्यक होगा कि पैदावार में वृद्धि करने के लिए उसे कितना अधिक और व्यय करना होगा। इस अतिरिक्त निकासी पर होने वाले अतिरिक्त व्यय की वह अनुमानित आय से तुलना करेगा। जो नियम उसे अपनाना होगा वह सीमान्त लागत की सीमान्त कीमत से समानता होती है।

प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत एक-सी होगी क्योकि सब के लिए कीमतें बराबर है। जो सस्थायें कार्यकुशल न होगी, वे उत्पादन शीघ्र ही बन्द कर देगी क्योकि उनकी सीमान्त लागत कीमत से शीघ्र ही अधिक होने और उनके विपरीत कुशल सस्थाओ की निकासी अधिक होने से उनकी सीमान्त लागत कीमत के समान आ जायगी।

उस विन्दु पर जहा सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व (revenue) से मिलती है लाभ अधिकतम हो जाता है (अथवा यू कहिए कि हानि न्यूनतम हो जाती है)। जब तक सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत से अधिक होता है, पदावार बढ जाएगी चूकि जब इससे लागत की अपेक्षा कुल प्राप्ति (total receipts) में बढोतरी होगी। लेकिन जिस अवस्था में सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व से बढ जाती है, तो पैदावार सिकुड जाती है, चूकि इससे कुल लागत की अपेक्षा कुल प्राप्ति घट कर कम हो जाएगी। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में प्रत्येक व्यक्तिगत बेचने वाले की कीमत निश्चित होती है। इसलिए वह कीमतें कम किए विना ही जितना माल चाहे बेच सकता है। इस प्रकार सीमान्त राजस्व तथा कीमतें समान होती है।

यह सकेत कर देना उचित होगा कि सीमान्त विक्रेता अथवा खरीदार का कोई विशेष महत्त्व नही होता। वह बहुतो में से एक होता है। प्रत्येक विक्रेता अथवा खरीदार का महत्त्व होता है। कीमत का निर्धारण कुल माग और पूर्ति से होता है। सीमान्त केवल मूल्य की ओर इंगित करता है—वह उस पर शासन नही करता।

७ अनुकूलतम फर्म (Optimum Firm)—इससे पूर्व के अध्याय में हमने पढा है कि सीमान्त फर्म क्या होती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने एक नयी प्रकार की फर्म की कल्पना की है, जिसे अनुकूलतम फर्म कहते है। **यह ऐसी सस्था है जिसमें उत्पादन के विभिन्न साधनो का सर्वश्रेष्ठ समन्वय होता है।** उद्यमी के दृष्टिकोण से यह एक इकाई पर न्यूनतम औसत व्यय से उत्पादन क्रिया सम्पन्न करती है। इसका आकार इस प्रकार का होता है कि थोडे से ही विस्तार से अथवा साधनो में कमी कर देने से इसकी उत्पादन क्षमता में कमी आ जाती है और प्रति इकाई व्यय बढ जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक सस्था अनुकूलतम आकार ग्रहण करना चाहती है, क्योकि इस आकार से उद्यमी को अधिकतम लाभ होता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि **अनुकूलतम कोई निश्चित बिन्दु नहीं है।** यह भी एक सापेक्षिक शब्द है। विभिन्न साधनो के विभिन्न मिलाव से इसमें भिन्नता हो सकती है। उनमें थोडे से हेर-फेर से इसमें भी अन्तर आ जाता है। अनुकूलतम इकाई में उन परिस्थितियो में वृद्धि हो सकती है जब पूजी को प्राप्त करने में सरलता हो, क्रय और विक्रय की कला का समुचित ज्ञान हो। यदि इसके विपरीत एक या दूसरे प्रकार के साधनो की प्राप्ति में कोई बाधा आ पडे तो अनुकूलतम पर उसका उल्टा प्रभाव होगा।

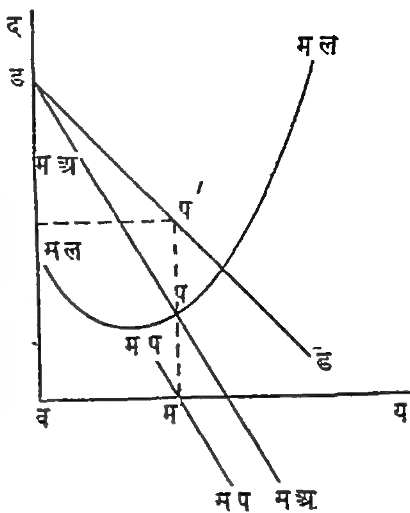
हमने यह देखा है कि पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक उत्पादक की प्रवृत्ति यह होती है कि उसके उत्पादन का विस्तार इतना हो जाय कि **उसकी सीमान्त लागत तथा कीमत समान स्तर पर पहुच जाय।** इस प्रकार जितनी पैदावार होती है उसे **अनुकूलतम पैदावार** कहते है क्योकि इससे उत्पादक को अधिकतम लाभ होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो में प्रत्येक सस्था की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अनुकूलतम मात्रा उत्पादित करके अनुकूलतम आकार ग्रहण कर सके। परन्तु इसके अर्थ यह नही होते कि वह इस आकार तक पहुच चुकी है। अनुकूलतम आकार तक पहुचने के लिए उसका प्रतिक्रम व्यवसाय की किस्म पर निर्भर होता है। अनुकूलतम पैदावार की समस्या पर विचार करते समय, उत्पादक को **उत्पादन-कार्य** के सम्बन्ध में सोचना पडता है। उत्पादन कार्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह एक सम्बन्ध है जो समय की प्रति इकाई के अनुसार लगाई गई उत्पादक सेवाओ और उत्पादन का समय की प्रति इकाई की पैदावार के साथ स्थापित होता है।

यह आवश्यक नही कि एक साधन का अनुकूलतम दूसरे के अनुकूलतम के समान हो। उदाहरणार्थ—निर्देशन के दृष्टिकोण से एक बडा आकार अधिक क्षमतापूर्ण हो सकता है। परन्तु उत्पादन की विधि की दृष्टि से छोटे आकार से अधिक अच्छा काम लिया जा सकता है। इस बाधा को सरल करने के लिए कभी-कभी उत्पादन की कई पूर्ण इकाइयों को एक ही निर्देशन के अन्तर्गत रख दिया जाता है। इसके विपरीत कई स्वय निर्देशन सस्थायें सभव है कि एक ही जिन्स के उत्पादन में योग देती हो।

आगे अनुकूलतम पैदावार का रेखाचित्र द्वारा निरूपण किया गया है।

हम देख चुके है कि लाभ उस समय अधिक होता है जबकि सीमान्त लागत

सीमान्त आय के बराबर होती है। म ल सीमान्त लागत वक्र है और म अ सीमान्त आय वक्र है। यह दोनो रेखायें एक दूसरे को प पर काटती हैं। यह विंदु अनुकूलतम पैदावार (optimum output) व म बताती है। इस उत्पादन पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है क्योंकि प बिन्दु दोनो रेखाओ, म ल तथा म अ पर है। म प रेखा जब ऊपर बढाई जाती है तो माग रेखा, ड ड को प′ पर मिलती है। अत प′ म अनुकूलतम कीमत है और व म अनुकूलतम पैदावार है। इस म विंदु पर सीमान्त लाभ वक्र म प धन से ऋण की ओर जाती है और व य (axis) को काटती है।



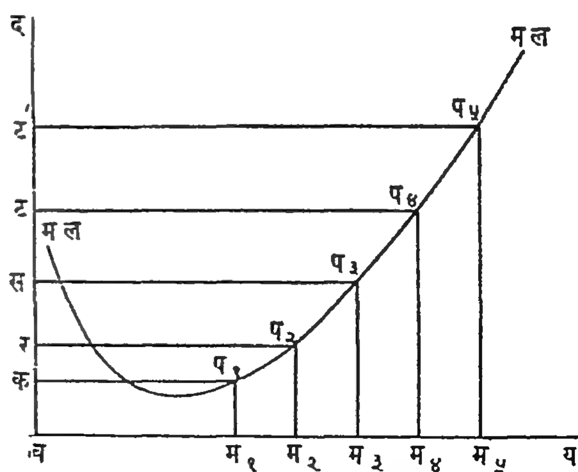
रेखाचित्र न० ४५

हम फिर वह नियम दुहराते हैं जिस पर अधिक-से-अधिक लाभदायक पैदावार वह होगी जिस पर—

सीमान्त लागत=सीमान्त राजस्व
अथवा **सीमान्त लागत=कीमत**

उत्पादन को बदली हुई कीमतो से ठीक करना—एक फर्म के लिए जो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत है, हम कहते हैं कि यह वह है जिस पर सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है। अत पैदावार को कीमत की घटती-बढती के अनुसार ठीक करना है। यह इस रेखाचित्र में दिखाया गया है —

म ल सीमान्त लागत वक्र है और क र स ट तथा ट′ क्षैतिज रेखायें हैं जो विभिन्न कीमतो को बताती हैं। हर एक कीमत के अनुरूप अनुकूलतम पैदावार होगी। जहा सीमान्त लागत कीमत के बराबर है। यानी यह वहा है जहा म ल वक्र कीमत रेखा को काटता है। इस तरह व क ($=$प₁ म₁) तो पैदावार व म₁ होगी। वर ($=$प₂ म₂) पर अनुकूलतम पैदावार व म₂ होगी और इसी तरह आगे ऐसे ही बढगी।



रेखाचित्र न० ४६

ध्यान रहे कि कीमत रेखा म ल को दूसरे सिरे पर भी काटती है लेकिन वहा पर उत्पादन बहुत कम होता है। जब कीमत रेखा म ल के उटते हुए भाग को काटती है तो लाभ सबसे ज्यादा होगा।

जब लाभ नकारात्मक (negative) है तो भी सीमान्त लागत और सीमान्त आय वाला नियम लागू होता है। यह ज्यादा हानि होने से बचायेगा। जब कीमतें गिर रही हो तो व्यापारी को स्थिर लागत को छोडना पड सकता है। लाभ को अधिक करने का नियम केवल अस्थिर लागत को ही नही बल्कि स्थिर लागत यानी कुल लागत को भी ध्यान में रखना होता है। यह नियम इस प्रकार है "औसत कुल इकाई लागत से अधिक जो भी लागत हो उससे अधिक पैदावार जिस पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो, अधिकतम शुद्ध लाभ का बिन्दु होगा।"

प्रतियोगी मार्केट (मडी) में कई अनुकूलतम फर्मों की स्थापना सम्भव है। इसका कारण घटती हुई प्राप्ति के नियम का लागू होना है। कुछ प्रक्रम (stage) के बाद किफायती तथा गैर-किफायती समस्याएँ एक दूसरे के सामने आ खडी होती है। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न न होती तो एक दो फर्मों ने ही सारे मार्केट को हडप लिया होता और एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती। और इससे प्रतियोगिता का अन्त हो जाता। इस प्रकार अनुकूलतम फर्म प्रतियोगिता के साथ असगत नही है।

क्रमश घटती हुई लागत (बढती हुई प्राप्ति) वाले उद्योग में प्रतियोगिता का समाप्त हो जाना जरूरी है। जब औसत तथा सीमान्त लागत कम हो रही है, प्रतियोगी फर्में विस्तृत होगी तथा उनमें तीव्र स्पर्द्धा उत्पन्न होगी, जिससे अधिकाश फर्मों को नुकसान होगा। कुछ ऐसी फर्में जो वित्तीय रूप से अधिक पुष्ट है दूसरी फर्मों को उखाडकर स्वय एकाधिकार स्थापित कर लेंगी। ऐसी स्थिति अमरीका में मोटर के व्यवसाय में उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप जनरल मोटर्स, क्रिसलर तथा फोर्ड आदि मोटर सस्थाओ ने सारे मार्केट पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु कृषि के क्षेत्र में तथा दूसरे उद्योगो में ऐसी स्थिति उत्पन्न होने की आशका नही है जबकि किसी एक भी फर्म तथा ग्रुप का सारे मार्केट पर प्रभाव डालने की शक्ति से पूर्व सीमान्त लागत वक्र (marginal cost curve) उठ गया है।

८ अनुकूलतम फर्म बनाम मार्शल फर्म (Optimum Firm Versus Marshall's Representative Firm)—यह दावा किया गया है कि मूल्य की व्याख्या की दृष्टि से अनुकूलतम सस्था मार्शल की प्रतिनिधि सस्था से श्रेष्ठ है। मार्शल के अनुसार "प्रतिनिधि फर्म वह सस्था है, जिसकी जडें काफी मजबूत हों और जिसे यथेष्ट सफलता प्राप्त हो चुकी हो, और जिसका प्रबन्ध सामान्य योग्यता वाले व्यक्ति द्वारा किया जाता हो तथा जिसे वह बाह्य तथा आन्तरिक मितव्ययतायें सामान्य रूप से प्राप्त हों जो पैदावार की कुल मात्रा के फलस्वरूप होती है, जिनमें उत्पादित वस्तुओं का वर्ग, उनको बेचने की स्थितियाँ तथा आर्थिक वातावरण का विचार

रक्खा जाता है।[1] इस प्रकार यह फर्म न तो बहुत अच्छी व्यवस्था वाली होती है और न बहुत खराब व्यवस्था वाली ही, न तो यह बहुत नयी होती है और न बहुत पुरानी और यह बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन का साधारण लाभ उठाती है। एक शब्द में यह अपने ढग की एक विशेष फर्म होती है।

मार्शल के अनुसार इस सस्था की सीमान्त उत्पादन लागत दीर्घ-काल में कीमत के लगभग हो जाती है। जो फर्म इस कीमत पर क्रय नही करती वह आज या कल अवश्य समाप्त हो जाती है। इस तरह के उद्योग में, जो किसी भाति क्रय करने में समर्थ हो जाती है, वे सीमान्त फर्म होती हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार साधारण अथवा प्रतिनिधि फर्म अपनी कीमत सीमान्त उत्पादन लागत के अनुरूप करने का सतत प्रयत्न करती है।

आधुनिक अर्थशास्त्र मार्शल के इस सिद्धान्त को उचित नहीं ठहराता। पीगू प्रतियोगी साम्यावस्था (competitive equilibrium) को बढती हुई प्राप्ति की अवस्था में गणित की दृष्टि से असम्भव मानता है। यदि बढती हुई प्राप्ति आन्तरिक तथा बाह्य किफायतो (internal and external economies) के कारण है, जो एक दूसरे से स्वतत्र है। रॉबिन्सन की आलोचना और भी तीव्र है। यह कहा जाता है कि **'प्रतिनिधि फर्म' की धारणा**, रिकार्डो के 'आर्थिक व्यक्ति' (economic man) की भाति, अधिक अमूर्त तथा गतिहीन (abstract and static) है जिससे इसका व्यावहारिक रूप में कोई लाभ नही हो सकता। औद्योगिक स्थिति (हालात) चूंकि जरूरी तौर पर गतिशील होते है, यह माना जाता है कि किसी भी उद्योग में प्रतिनिधि फर्म को स्थिर (locate) करना असम्भव होगा। यह युक्ति दी जाती है कि प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त रिकार्डो के "आर्थिक व्यक्ति" की भाति किसी व्यावहारिक उपयोगिता के योग्य नही है। औद्योगिक परिस्थितिया अधिक प्रभावशाली होने के कारण यह निश्चित है कि व्यावहारिक रूप में प्रतिनिधि फर्म को स्थान देना असभव है। रॉबिंस के विचार से प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त व्यर्थ है, "उसका कहना है कि प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक की बात सोचने की कोई आवश्यकता नही, हमारे लिए वहा सोचने की वस्तुए है, प्रतिनिधि रूप में एक धरती का टुकड़ा, प्रतिनिधि रूप में एक मशीन, अथवा प्रतिनिधि रूप में एक मजदूर"।[2]

"**दूसरी ओर अनुकूलतम फर्म एक ठोस सम्भावना है।**" यह आकार की वह इकाई है जो निर्देशन की भावना जाग्रत करती है और स्पर्द्धा वाले तत्वो को विवश करती है कि वाछनीयता के बिन्दु तक पहुंचें और जीवन-सघर्ष मे सफल हो।"[3]

यद्यपि रॉबर्टसन ने मार्शल की प्रतिनिधि फर्म की धारणा की रक्षा करने का प्रयास किया लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा इसकी उपेक्षा की गई है, चूंकि बढती हुई प्राप्ति के नियम की तुलना में घटती हुई प्राप्ति का नियम ही चरम रूप

1. Marshall—Principles of Economics, 8th. Ed, p 317
2 "The Representative Firm", Economic Journal, Sept. 1928, p 317.
3. Briggs and Jordan—Text Book of Economics, p. 221.

से प्राप्ति नियम है (is the ultimate law of returns)। इस धारणा के स्थान पर अनुकूलतम फर्म के नियम को माना गया है।

अनुकूलतम (optimum) फर्म पीगू की साम्यावस्था प्राप्त फर्म से भिन्न है जो कि सिर्फ काल्पनिक धारणा मात्र है, जिससे प्राप्ति के नियमो का अध्ययन हो सके। ऐसी फर्म का वास्तव में मौजूद होना जरूरी नही है। यह तो सिर्फ एक काल्पनिक स्थिति को साम्यावस्था (equilibrium) के दोनो ओर मान लेना मात्र है। दूसरी ओर अनुकूलतम फर्म वास्तविकता है और ऐसी स्थिति की ओर निर्देश करती है जो कि दीर्घावधि में वास्तव में अपनाई जा सकती है।

९ अनुकूलतम फर्म मे औसत लागत सीमात लागत के समान होती है (For the Optimum Firm Average Cost Equals Marginal Cost)—जब एक फर्म अनुकूलतम आकार पर पहुँच जाती है तो उसकी सीमान्त लागत औसत लागत के बराबर हो जाती है। यह एक गणित का तथ्य है, जिसे एक साधारण उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिये, एक डाकिया प्रतिदिन औसतन १५ मील चलता है। यदि वह एक अतिरिक्त दिन अपनी ड्यूटी पर जाय और उसका औसत कम हो जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि वह पन्द्रह मील से कम चला। यदि यह बढ जाता है तो वह १५ मील से अधिक चला और यदि वह वही औसत कायम रखता है, तो उस अतिरिक्त दिवस पर भी १५ मील ही चलेगा, इस भाति हम मान लें कि एक उत्पादक का प्रति इकाई लागत औसतन पन्द्रह है। यदि अगली इकाई उत्पादन करने से इसकी औसत लागत कम हो जाती है, तो अतिरिक्त इकाई अवश्य ही पन्द्रह से कम होगी। यदि अतिरिक्त इकाई की औसत लागत बढ जाती है, तो सीमान्त इकाई में उसकी पन्द्रह से अधिक लागत होगी और अन्त में यदि उसकी औसत लागत अपरिवर्तित रहती है, तो सीमान्त इकाई में उसकी पन्द्रह ही लागत होगी। दूसरे शब्दो में, तीसरे उदाहरण में उसकी सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर है। जबकि औसत लागत का गिरना वन्द हो गया है और लागत ने बढना आरम्भ नही किया है, तब फर्म का आकार अनुकूलतम है। **दूसरे शब्दों में जब सीमान्त लागत न तो औसत लागत को बढ़ाती है और न घटाती है (औसत लागत के समान है) तो फर्म अनुकूलतम आकार की होती है।** इसे हम यो भी कह सकते है कि अनुकूलतम फर्म के लिए सीमान्त लागत और औसत लागत समान होती है।

दीर्घावधि में सीमान्त लागत तथा औसत लागत की परस्पर मिलने की प्रवृत्ति होती है। यदि औसत लागत से सीमान्त लागत अधिक (ऊँची) हो तो इसका अर्थ है कीमत, जो सीमान्त लागत से मिलती है (के समान होती है), तो औसत लागत से ऊची होती है। इस प्रकार अतिरिक्त लाभ उठाया जाता है और उत्पादन में वृद्धि होती है। इस प्रकार ऊची औसत लागत (higher average cost) पर अतिरिक्त उत्पादन होगा, और समय के साथ, दोनो मिल जाएगे (equalised)। यदि, दूसरी ओर, सीमान्त लागत, इसलिए कीमत, औसत लागत से कम (नीची) है तो नुकसान

उठाने पड़ते हैं और पैदावार (output) कम हो जाती है। इसलिए औसत लागत कम हो जाएगी और कम होकर सीमान्त लागत के समतल (at par) हो जाएगी।

पूर्ण प्रतियोगी साम्यावस्था (perfectly competitive equilibrium) में, माल की कीमत पैदावार की सीमान्त तथा औसत लागत के समान होती है। चूंकि किसी फर्म में भी साम्यावस्था में, सीमान्त राजस्व (revenue) तथा उत्पादन की लागत समान होती है (देखिए उपर्युक्त विभाग ७)। जब माग वक्र पूरी तौर पर लोचदार होता है तो सीमान्त राजस्व औसत लागत के समान होता है अर्थात् कीमत के। इसलिए, अब हमारे सामने दो समीकरण (equations) इस प्रकार हैं:—

सीमान्त राजस्व=सीमान्त लागत (लाभ की अधिकतम होने की स्थिति) ···(१)

सीमान्त राजस्व=औसत राजस्व (शुद्ध प्रतियोगिता की स्थिति) ···(२)

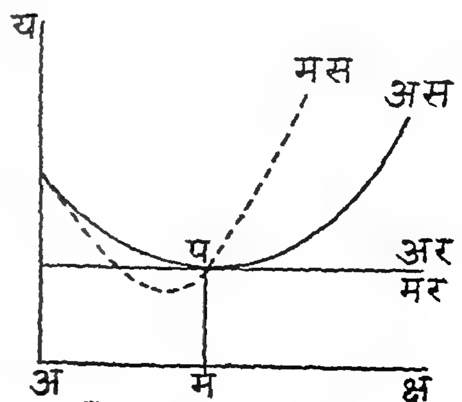
∴ सीमान्त लागत=औसत राजस्व=किसी फर्म की पूर्ण प्रतियोगिता में साम्यावस्था के समय कीमत।

इस प्रकार अब औसत राजस्व (अर्थात् कीमत), जो कि सीमान्त लागत के समान है, (क) की अपेक्षा बड़ी, (ख) के समान, अथवा (ग) औसत लागत से कम हो सकती है। यदि (क), यह असाधारण लाभ कमाए तो इस प्रकार यह नई फर्मों को आकर्षित करेगी तथा पुरानी फर्मों का विस्तार करेगी। लागत बढ़ जाएगी तथा औसत राजस्व (अर्थात् कीमत) औसत लागत के बीच का अन्तर स्पर्द्धा में समाप्त हो जाएगा। यदि (ग), कीमत औसत लागत को कवर (cover) नहीं करती है तो नुकसान होगे। कुछ फर्मों को मजबूरन बन्द होना पड़ेगा और कई को अपना व्यापार कम (सिकोड़ना) करना पड़ेगा। पैदावार (output) कम हो जायगी तथा कीमत बढ़कर औसत लागत के समान हो जायगी। इस प्रकार सिर्फ (ख) ही ठीक बैठेगा,

अर्थात्—

कीमत=औसत राजस्व=औसत लागत (उद्योग की दीर्घावधि की साम्यावस्था की स्थिति) ···(३)

इन तीनो समीकरणो (equations) से यह परिणाम निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगी साम्यावस्था में म र=म स=अ र =अ स। इस रेखाचित्र को देखिए। यहाँ म र सीमान्त राजस्व है, म स सीमान्त लागत, अ र औसत राजस्व तथा अ स औसत लागत।



रेखा चित्र नं० ४७

१०. प्राप्ति के नियमो से अनुकूलतम फर्म का सम्बन्ध (Optimum Firm in Relation to Laws of Return)—हमने यह

देखा है कि जब एक फर्म अनुकूलतम आकार पर पहुँच जाती है तो उसकी सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर हो जाती है। अतएव एक अनुकूलतम फर्म में समान प्राप्ति का नियम लागू होता है। यह अतिरिक्त इकाई का उत्पादन समान लागत पर प्रति इकाई के अनुसार करती है चाहे इसे औसत लागत कहिए अथवा सीमान्त लागत।

यदि फर्म का आकार अनुकूलतम से छोटा है या दूसरे शब्दो में उसके विस्तार से अनुकूलतम के बिन्दु तक पहुचा जा सकता है तो प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन कम लागत पर होगा, चूकि सीमान्त लागत गिराव पर होगी, इसलिए उसकी औसत लागत भी अवश्य गिरनी चाहिये। दूसरे शब्दो में इस तरह की सस्थायें बढती हुई प्राप्ति के नियम को पालेंगी।

यदि फर्म का आकार अनुकूलतम के बिन्दु से अधिक विस्तृत हो गया है, दूसरे शब्दो में उसका विस्तार अनुकूलतम के बिन्दु से दूर ले जाता है, तो प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर अधिक लागत होगी। चूकि सीमान्त लागत बढाव पर होगा, उसकी औसत लागत अवश्य बढनी चाहिये। दूसरे शब्दो में इस प्रकार की सस्थायें घटती हुई प्राप्ति के नियम का पालन करेंगी।

हमने देखा है कि घटती हुई प्राप्ति के नियम उत्पादन के साधनो में **दोषपूर्ण अनुपात का विषय** है। यदि साधनो को समुचित अनुपात से मिलाया जाय अथवा काम में लाया जाय तो घटाव की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। पूर्ण स्पर्द्धा में साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं। नतीजा यह होता है कि इस तरह का मिलान स्थापित हो जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम-से-कम होती है। दूसरे शब्दो में उत्पादन की इकाई की प्रवृत्ति अनुकूलतम आकार को पाने की होती है। वास्तविक जीवन में स्पर्द्धा पूर्ण नही होती। अतएव सम्पूर्ण चेष्टाए करने पर भी साधनो का श्रेष्ठ योग सम्भव है प्राप्त न हो। हो सकता है कि इसका कारण साधनो को एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में लाने की कठिनाई हो या एक विशेष साधन की बडी कमी हो, जैसे भूमि जिसका विस्तार नही किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियो में घटती हुई प्राप्ति का नियम कार्य करता है।

बढती हुई प्राप्ति के नियम इन कारणो से हो सकते हैं, अर्थात् फर्म का आकार बहुत छोटा है और इसलिए, जैसे आकार में विस्तार होता है, बडे पैमाने की किफायतें मिलती हैं, अथवा कई अविभाज्य साधन (indivisible factors) या उपकरण (equipments) [खर्चीला प्रबन्ध अथवा महगी मशीनें आदि] का आशिक उपयोग होता है। इस तरह पैदावार में बढती हुई लागत के अनुपात में कम वृद्धि होगी। यह नियम विशेष रूप से ऐसी फर्मों तथा उद्योगो में लागू होगा जिनमें पूरक लागत (supplementary costs) का कुल लागत में बडा अनुपात रहता है।

घटती हुई तथा बढती हुई प्राप्ति के नियम दो परिस्थितियो के कारण प्रभाव डालते हैं (क) समुचित अनुपात का विषय, (ख) आकार का विषय। बहुत से मामलो में ये दोनो परिस्थितिया एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। हम एक उदाहरण लें :—

मान लीजिये कि शक्कर उत्पादक कारखाने की स्थापना बहुत अधिक कार्यकुशल किन्तु मूल्यवान मशीनरी से की जाती है। मान लिया कि एक वर्ष में १५,००० मन शक्कर उत्पादित करके मशीन ने अपनी सम्पूर्ण उपयोगिता व्यय की। मान लिया कि शक्कर वास्तव में १०,००० मन तैयार हो सकती है, अतएव यदि पैदावार में वृद्धि कर दी जाती है तो प्रति इकाई पर औसत लागत और सीमान्त लागत कम हो जायेगी, क्योकि मशीन का खर्च इकाइयो की काफी वडी संख्या पर वितरित किया जायगा। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जव तक कि उत्पादित पैदावार अनुकूलतम के विन्दु पर अर्थात १५,००० मन पर पहुच जाता है। इस विन्दु तक वढती हुई प्राप्ति का नियम अपना प्रभाव डालेगा। प्रति इकाई की लागत अशत. कम हो जायगी, क्योकि अविभाज्य साधन तथा स्तर की किफायतें (economies of the scale) लागू होगी।

जव फर्म अपन अनुकूलतम आकार पर पहुच जाती है, तो सीमान्त लागत और औसत लागत का गिरना वन्द हो जाता है। तव वे समानता पर आ जाते है। एक समय तक सम्भव है समान प्राप्ति हो। इस परिस्थिति मे समान प्राप्ति का नियम अपना काम करता रहेगा।

अव मान लो कि फर्म का विस्तार और अधिक वढ जाता है। साधनो के समुचित अनुपात में अन्तर पड़ जायगा। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि व्यवस्था में कठिनाई आ जाय, अथवा कच्चे माल की कमी पड जाय आदि। जव एक वार अनुपातो में अन्तर पड जाता है तो कुछ साधनो में दूसरो की अपेक्षा कमी आ जायगी। सभी साधन उस अनुपात तक नही वढेंगे जिससे अनुकूल योग प्राप्त हो सके और फलत घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जायगा। हम कह सकते है कि या तो फर्म ने अनुकूल विन्दु को पार कर लिया है या कतिपय साधनो की वृद्धि नही हो पाई, जिसके कारण दोषपूर्ण अनुपात उत्पन्न हो गया। या तो आकार में कमी करके पुराने अनुकूल विन्दु पर पुनः लाया जाय या उन साधनो को जिनकी कमी है, वढाया जाय, जिससे एक वडे आकार पर अनुकूल विन्दु तक पहुंचा जा सके। यदि ऐसा करना सम्भव नही है तो घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होगा। वास्तविक जीवन में कभी-कभी ऐसा होता है कि कमी वाले साधनो में वृद्धि नही हो सकती और न फर्म या उद्योग से सम्वद्ध कमी वाले साधन को हटाया ही जा सकता है। हो सकता है कि यह पूर्ण स्पर्द्धा की कमी के कारण हो या साधन जैसे कि भूमि की पूर्ण अप्राप्यता के कारण हो। अतएव कभी-कभी घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता दिखाई पडता है।

निर्देश पुस्तके

Marshall, A —Principles of Economics
Benham, F —Economics
Meade—Economic Analysis and Policy.
Henderson—Supplyand Demand
Robinson, E A.G.—Structure of Competitive Industry .

अध्याय २०

सामान्य कीमत का सिद्धान्त

(THEORY OF NORMAL PRICE)

१ सामान्य कीमत तथा बाजार-कीमत (Normal Price and Market Price) —पिछले अध्याय में हमने उत्पादन व्यय के बारे में विचार किया था जिससे सामान्य या स्वाभाविक कीमत प्रभावित होती है । अब हम सामान्य कीमत का अध्ययन करेंगे । लेकिन इसके पहले हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सामान्य कीमत क्या है, और किस तरह बाजार कीमत से यह भिन्न है।

बाजार-कीमत माग और पूर्ति किसी भी पक्ष में परिवर्तन होने से बदल सकती है। एक बाजार विशेष में अत्यधिक मछलियो के आ जाने से कीमत गिर जायगी। इसी तरह अचानक गर्मी बढ जाने से बर्फ की कीमत बढ सकती है। ये अस्थायी (temporary) प्रभाव है और बाजार कीमत में क्षणिक बाधायें डालते है। इन बाधक कारणो के न होने पर कीमत एक निश्चित सतह (level) पर वापस जाने के लिए प्रयत्नशील होगी। यह सम्भव है कि यह सतह सदा के लिए निश्चित न हो। परन्तु यदि उत्पादन का परिमाण और विधि स्थिर रहते है तो यह एक निश्चित कीमत मानी जा सकती है जिसके चारो ओर बाजार कीमत चक्कर काटती है। एडम स्मिथ ने इस सतह को "प्राकृतिक" (natural) कीमत और मार्शल ने इसे "सामान्य" (normal) कीमत का नाम दिया है। मार्शल के शब्दो में "सामान्य या स्वाभाविक कीमत वह होती है जिसे आर्थिक शक्तिया दीर्घकाल में लाने का प्रयत्न करती हैं। यह एक औसत कीमत है जिसे आर्थिक शक्तिया स्थापित करेंगी, बशर्ते कि जीवन की सामान्य स्थितिया काफी समय तक अचल रहें जिससे वे अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित कर सकें।"

अब हम सामान्य और बाजार कीमत के बीच जो अन्तर है उसे सक्षेप में बतायेंगे।

(१) बाजार कीमत वह कीमत है जो किसी एक समय में उस समय की माग तथा पूर्ति के अस्थायी साम्य (equilibrium) के फलस्वरूप होती है।

दूसरी ओर, सामान्य कीमत वास्तविक कीमत नही होती। यह वह कीमत है जिसके होने की दीर्घकाल में सम्भावना है। जब वह समय आ जायगा तब उस समय की वास्तविक कीमत को बाजार कीमत कहेंगे, और जिसकी आगे चलकर सम्भावना होगी, उसे सामान्य कीमत कहेंगे।

(२) बाजार कीमत अस्थायी कारणो तथा चलायमान घटनाओ का परिणाम है जबकि सामान्य कीमत स्थायी कारणो से निर्धारित होती है। दीर्घकाल में अस्थायी कारण दूर हो जाते है और एक दूसरे को तटस्थ कर देते हैं।

(३) बाजार कीमत हर रोज या हर घन्टे बदलती रहती है, लेकिन दी हुई परिस्थितियो में, सामान्य कीमत स्थिर रहती है। यह वह केन्द्र है जिसके चारो ओर बाजार कीमत घूमती है।

(४) सब वस्तुओ की बाजार कीमत होती हैं लेकिन सामान्य कीमत उन्ही वस्तुओ की हो सकती है जो पुन उत्पादन योग्य हो। यदि वस्तुए फिर से उत्पन्न नही की जा सकती तो उनकी सामान्य कीमत का विचार करना व्यर्थ है क्योकि उनकी उत्पादन लागत कुछ नही होगी।

२. कीमत का सीमान्त लागत से सम्बन्ध (Price in relation to Marginal Cost)—यह तो हम बता चुके हैं कि सामान्य कीमत क्या होती है। एक प्रकार से इसे हम कीमत कह सकते हैं। एक समय में (क्षण में) कीमत पर माग का शासन होता है। लेकिन दीर्घ काल में इस पर सप्लाई अपना प्रभाव दिखाती है। दीर्घावधि में सप्लाई उत्पादन की लागत से प्रभावित होती है। इस प्रकार सामान्य कीमत (दीर्घावधि में) पर उत्पादन की लागत का शासन होता है (सीमान्त लागत न कि कुल लागत)।

यह हम देख चुके हैं कि जहा तक किसी व्यक्तिगत व्यावसायिक सस्था का सबध है, उसकी पैदावार कुल उत्पादन का बहुत सूक्ष्म भाग होती है तथा उसकी पैदावार कीमत पर बिना किसी प्रभाव के बढायी जा सकती है। कीमत पर तभी प्रभाव पडता है जब कि एक साथ बहुत-सी व्यवसायी सस्थायें अपनी पैदावर बढा या घटा दें, या नई व्यवसायी सस्थायें उस उद्योग क्षेत्र में आ जाय अथवा पुरानी बाहर चली जाय। किसी व्यक्तिगत फर्म के लिए जो पूर्ण रूप से प्रतियोगिता की हालत में होती है बाजार कीमत दी हुई रहती है। उसे अपनी पैदावार अल्पकालीन कीमत के हिसाब से ठीक करनी पडती है। वह उतना ही उत्पादन करती है जिसकी सीमान्त लागत अल्पकालीन कीमत के बराबर होती है। "फर्मों में परस्पर पटुता के भेद से यह पता चलेगा कि उनकी सीमान्त लागत में भेद नही है बल्कि पैदावार में है।"[1]

जब प्रतियोगिता पूर्ण होती है, तब प्रत्येक फर्म का झुकाव सर्वोत्तम बनने की ओर होता है। इसलिए दीर्घकाल में कीमत को इतना ऊचा होना चाहिए जिससे कि आदर्श फर्म की औसत उत्पादन लागत निकल सके। हम पिछले अध्याय में पढ चुके हैं कि ऐसी फर्म की औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर होती है।

इस प्रकार प्रतियोगिता की शक्तिया उस अनुकूलतम फर्म (optimum firm) को स्थापित करती है, जो उत्पादन लागत (सीमान्त-औसत) को पूरा करती है। यदि बाजार में अनुकूलतम व्यवसायी फर्म की औसत लागत से अधिक कीमत बढ जाती है और वह अल्पकालीन कीमत बहुत दिनो तक ठहर जाती है, तो उद्योग क्षेत्र में व्यवसायी सस्थाए अपना उत्पादन अनुकूलतम पैदावार के निकट रखकर तथा ऊची कीमत में बेचकर बहुत अधिक लाभ उठा लेती हैं। फल यह होता है कि नई व्याव-

---

1. Benham—Economics, 1940, p 195.

सायिक सस्थाए इस उद्योग क्षेत्र की ओर आकर्षित होती है, जिससे कुल उत्पादन बढ जाता है और कीमत गिर जाती है और गिरकर अनुकूलतम व्यवसायी सस्था की लागत की सतह (level) तक आ जाती है। इसके विरुद्ध यदि अल्पकालीन कीमत अनुकूलतम व्यवसायी सस्था की लागत से नीचे गिर जाती है तो कोई व्यवसायी सस्था अपनी लागत को पूरा नही कर पाती। कुछ व्यवसायी सस्थाए उद्योग क्षेत्र छोड देती है। कुल पैदावार तब तक गिरती जाती है जब तक कि कीमत उस सतह तक नही बढ जाती जो अनुकूलतम फर्म की उत्पादन लागत को पूरा करने में समर्थ हो। इसलिए **पूर्ण प्रतियोगिता में किसी वस्तु की लागत अनुकूलतम व्यवसायी संस्था के उत्पादन के औसत और सीमान्त लागत के बराबर होती है।** दीर्घ-काल में दोनो प्रकार की लागतें, प्रमुख तथा पूरक, शामिल रहनी चाहियें लेकिन अल्पकाल में प्रमुख लागत बहुत आवश्यक होती है और पूरक लागत सीमान्त लागत का भाग नही होती। जितना ही समय दीर्घ होगा उतनी ही अधिक वस्तुए सीमान्त लागत के अन्दर आ जाती है।

अस्थायी रूप से कीमत उत्पादन की लागत से कम हो सकती है। लेकिन ऐसा मन्दी के समय होगा अथवा जब मार्केट में डम्पिग (dumping) होता हो अथवा तीव्र विदेशी स्पर्द्धा हो अथवा आधुनिक ढग की मशीनें लगने के कारण बन्द करना मुनासिब न हो, चाहे कीमत से मुनाफा (remuneration) न मिलता हो। परन्तु मुख्य तत्व यह है कि कीमत ऐसी होनी चाहिए जो कि उत्पादन की कुल लागत अर्थात् मुख्य और पूरक लागत को वसूल कर सके।

अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार होने पर कीमत सीमान्त लागत से अधिक हो जाती है। एक एकाधिकारी तब तक अपनी पैदावार को नही बढाता जब तक कि सीमात लागत कीमत से कम नही होती।

लेकिन यह कहना कि कीमत सर्वोत्तम व्यवसायी सस्था के सीमान्त अथवा औसत उत्पादन लागत के बराबर होती है, इसका यह अर्थ नही कि उसी से कीमत "निर्धारित" होती है। कीमत में स्वाभाविक लाभ भी सम्मिलित होता है, लेकिन लाभ कीमत की विभिन्नता से बदलता है। इसलिए कीमत परिवर्तन, जो लागत के एक अग 'लाभ' पर प्रभाव डालता है, लागत को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार लागत के ऊपर कीमत का प्रभाव पडता है बजाय इसके कि कीमत पर लागत का प्रभाव पडे। और फिर लागत पुन उत्पादित न होने वाली वस्तुओ की कीमत को निर्धारित नही करती क्योंकि ऐसी वस्तुओ की कोई लागत ही नही होती। इस प्रकार यह कारण और कार्य (cause and effect) का सम्बन्ध नही, बल्कि पारस्परिक कारणत्व (mutual causation) है। वे एक दूसरे को निश्चित नही करती। वस्तुत लागत निर्मित वस्तुओ की कीमतो को 'निर्धारित' नही करती बल्कि कीमत निर्मित वस्तुओ की लागत को निर्धारित करती है। "सभी कीमतें परस्पर एक दूसरे पर आश्रित रहती है।"[1] लागत और कुछ नही है, केवल उस वस्तु के उत्पादन में जितने विभिन्न साधनो का उपयोग हुआ है, उन सब का योग कीमत है। इस प्रकार कीमतें लागत में शामिल हो जाती है।

1 Benham—Economics *(1940)* p *194*

इसलिए यह कहना बहुत उचित होगा कि वे दोनो मिली हुई है। सीमान्त लागत से कीमत निर्धारित नही होती। दोनो मिल जाती (coincide) है। एक दूसरे को प्रकट करती है।

परन्तु वे परस्पर बहुत कम मिलती है। कभी-कभी ऐसा ही होता है कि वे दीर्घ काल में एक दूसरे से सहमत हो जाती है, लेकिन पूर्ण रूप से नही। जो दीर्घ-काल में होना होता है, वह होता नही। जैसा कि प्रो. बृजनारायण कहते है, "मै जितना प्रयत्न होशियार होने का करता हूँ, अन्त में उतना ही मूर्ख होता जाता हूँ;" इसका कारण यह है कि सीमान्त लागतो को पैदावार की कीमत, जो अति सूक्ष्म वृद्धि के कार्य रूप में परिणत होती है, बराबरी करना सम्भव नही। वास्तव में पैदावार की वृद्धि बहुत बडी इकाइयो में होती है और बहुत कम कारीगर आर्थिक सिद्धान्त के बताये हुए नियमानुसार उसकी सन्तुष्टि के लिए सीमान्त लागत और कीमत में बराबरी करने की गणना करते है। "कीमत साधारणतया वही होती है जो पैदावार के १० प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक ऊची लागत में बाकी नीची लागत में होती है।"[1]

ससार अचल नही बल्कि गतिशील है; कला-कौशल में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं और माग व पूर्ति की हालत लगातार बदलती रहती है। ऐसे वातावरण में यह आशा करना निरर्थक है कि कीमत और सीमान्त लागत कभी बराबर हो सकेंगी।

यह भी है कि **कीमत स्वतः लागत के भीतर प्रवेश करती** है। फिर दोनो क्योकर बराबर की जा सकती है? कीमत की गणना करने के लिए स्थापित यत्र के कृत्यक की कीमत का निश्चय करना ही होगा। किन्तु यह यंत्र द्वारा उत्पादित वस्तु की संभावित कीमत पर निर्भर करता है। "जैसा कि अधिकतर कहा जाता है कि उत्पादन लागत वास्तव में तत्व लागत नही होती जो स्वतत्रतापूर्वक वस्तु की कीमत कही जाती है, लेकिन वह किराया-मात्र (quasi rent) या घिसाई कीमत का अश (depreciation quota) जिसे सभावित पूजीयुक्त कीमत के लिए स्वीकार करना होता है और इसलिए वह उन कीमतो पर, जिनके होने की सभावना होती है, आश्रित रहता है।[2]

मार्शल के शब्दो में "सीमान्त उपयोग और लागत मूल्य पर शासन नही करते परन्तु वे मूल्य के साथ मिल कर माग और पूर्ति के सम्बन्धो से निर्धारित होते है। सीमान्त उपयोग **सकेत** करता है, लेकिन यह मूल्य पर **शासन नहीं करता**।[3] कीमत न तो उपयोगिता की सीमान्त इकाई और न उत्पादन व्यय की सीमान्त इकाई से निर्धारित होती है, प्रत्युत कुल माग और कुल पूर्ति के साम्य से निर्धारित की जाती है। तो भी, जिस प्रकार सीमान्त इकाई योग पूर्ति का भाग होती है वह अपना पूरा न

---

1. The Trend of Economics, Edited by Tugwell, p. 77.
2 Hayek—Collectivist Economic Planning. pp. 226-27
3 Principles, p 410.

डालकर आंशिक प्रभाव मूल्य पर डालती है । अगर यह नही होती तो मूल्य भ
भिन्न होता ।

३ मार्शल का मूल्य सिद्धान्त (Marshall's Theory of Value)—हम लोग माग (सीमान्त उपयोगिता) और पूर्ति (सीमान्त लागत) को निर्धारित करने वाली विभिन्न शक्तियो को अच्छी तरह जान चुके हैं । अब इस दशा में ह कि मूल्य का सिद्धान्त भली प्रकार समझ सकें । हम मार्शल से आरम्भ करते हैं । मार्शल मूल्य को निर्धारित करने में उत्पादन लागत और सीमान्त उपयोगिता को समान महत्व देते हैं । उनका प्रसिद्ध सादृश्य कैंची की दो फलो मे दिया जाता है जो वि निम्नाकित है । "जिस प्रकार हम इस बात पर झगड सकते हैं कि कैंची के दो फलों में ऊपर का फल कागज को काटता है अथवा नीचे का, उसी पर प्रकार इस बात पर वादविवाद हो सकता है कि मूल्य को उपयोगिता निर्धारित करती है अथवा उत्पादन व्यय । यह सच है कि जब एक फल शान्त रहता है और काटने का कार्य दूसरे को चलाने से हो जाता है, तब हम कह सकते हैं कि काटने का काम दूसरे के द्वारा होता है । लेकिन यह विवरण पूर्णत ठीक नही है । यह तभी तक स्वीकार किया जा सकत है जब तक यह इस बात का वैज्ञानिक रूप से स्पष्टीकरण करने का दावा नही करता ।"[1]

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में माग व पूर्ति की शक्तियो का इस ओर झुकाव रहता है कि वह अपनी साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं । "कीमत एक महराब के बीच के पत्थर की तरह होती है जोकि दोनो ओर के दबाव से (अर्थात् एक ओर माग और दूसरी ओर पूर्ति) साम्य बनाये रहता है ।"

हर एक व्यक्ति के लिए बाजार भाव दिया रहता है और वह अपने व्यक्तिगत कार्य या नीति से उसे सुधार नही सकता । उसके लिए बाजार भाव एक सकेत होता है जिसके द्वारा वह अपना क्रय अथवा विक्रय करता है । ये व्यक्तिगत क्रय-विक्रय कीमत द्वारा निर्धारित होते हैं, लेकिन ये मिलकर कुल माग और कुल पूर्ति का रूप ग्रहण कर लेते हैं । उस दशा में यह कीमत को निर्धारित करते हैं । अस्तु, माग, पूर्ति और कीमत एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । ये एक प्याले में तीन गेंदो के समान हैं जिसके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि कौन किसके सहारे हैं ।

इस प्रकार "माग की ओर से कीमत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है और पूर्ति की ओर से यह सीमान्त उत्पादन-लागत अथवा सीमान्त फर्म की लागत के बराबर होती है । जिस स्थान पर सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत का साम्य होता है, यदि उसे मुद्रा में अंकित किया जाये तो वह कीमत कहलाती है ।" (Silverman)

४ समय का महत्व (Importance of Time Element)—हमने देखा कि कीमत, माग व पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होती है, लेकिन यह साम्य शीघ्र ही प्राप्त नही हो जाता । माग व पूर्ति की शक्तियो को आपस में कार्य करने में कुछ समय

1 Marshall, Op cit., p 438

की आवश्यकता होती है। जैसे समय बीतता जाता है, अस्थायी साम्य स्थायी साम्य में बदल जाता है और आशिक साम्य पूर्ण साम्य हो जाता है। मार्शल ने इस प्रकार से समय के तत्त्व का महत्व अपने मूल्य सिद्धात में दिया है।

माग व पूर्त्ति के प्रभाव का महत्व समय के साथ बदल जाता है। मार्शल का कहना है "साधारणत जितना ही अल्पकाल होगा उतना ही हमें मूल्य के ऊपर माग के प्रभाव पर अधिक ध्यान देना होगा और जितना ही दीर्घकाल होगा उतना ही अधिक महत्व-पूर्ण प्रभाव उत्पादन लागत का मूल्य के ऊपर पडता है। वास्तविक कीमत जिसे साधारणतः बाजार मूल्य कहा जाता है अस्थायी बातो या क्षणिक कारणो और घटनाओं से अधिक प्रभावित होता है। परन्तु दीर्घकाल में क्षणिक और अनियमित कारण एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देते हैं। और इस प्रकार दीर्घकाल म आग्रहयुक्त कारण ही मूल्य को निर्धारित करने मे समर्थ होते हैं। फिर भी अधिक आग्रह-युक्त कारण भी बदल सकते हैं। उत्पादन के सम्पूर्ण ढाचे में सुधार हो सकता है, और एक पीढी से दूसरी पीढी मे उत्पादन व्यय में स्थायी परिवर्तन हो सकते हैं।"[1] समय की अवधि में माग और पूर्ति दोनो की अवस्थाओ में परिवर्तन होते हैं।

इस प्रकार मार्शल ने समय के तत्त्व को मूल्य निर्धारित करने में विशेष महत्व दिया है। समय के आधार पर, जो माग व पूर्ति की शक्तियो के पारस्परिक सुधार करने के लिए दिया जाता है, उन्होने बाजार को चार श्रेणियो मे विभक्त किया है: (१) बाजार मूल्य (२) अल्पकालीन मूल्य (३) दीर्घकालीन मूल्य (४) लौकिक व्यापार मूल्य (secular movements in price)।

मूल्य निर्धारण में समय तत्त्व एक दूसरे प्रकार से भी प्रभाव डालता है। अल्प-काल में यह सम्भव है कि किसी व्यवसायी को पूरक और प्रमुख लागत पूरे तौर से न मिल सके। किन्तु दीर्घकाल में इन दोनो प्रकार की लागतो का मिलना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जो लागत अल्पकाल की दृष्टि से पूरक लागत है, वही दीर्घकालीन दृष्टि से प्रमुख लागत है।

५. सामान्य कीमत का सिद्धांत (Normal Price)—सामान्य कीमत वह कीमत है, जो दीर्घकाल में प्रचलित होती है अथवा जब कि माग और पूर्त्ति को बदलने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है जिससे वे अपना-अपना कार्य कर सके। दीर्घकाल में मूल्य अर्थात् सामान्य मूल्य सीमान्त उत्पादन लागत के निकट होता है। सीमान्त लागत का अर्थ सीमान्त व्यवसायी सस्था की प्रति इकाई की औसत लागत अथवा औसत व्यवसायी सस्था की सीमात उत्पादन की प्रति इकाई की लागत से है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में औसत व्यवसायी सस्था की सीमान्त लागत और सीमान्त व्यवसायी संस्था की औसत लागत में समानता होने की प्रवृत्ति होती है।

अब हम मार्शल के सामान्य मूल्य (Marshall's Theory of Normal Price) संबंधी सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझायेंगे। एक वस्तु जैसे रेडियो

---

1 *Ibid*, pp 349-50.

ओर, जब लाभ की दर कम है तो कुछ फर्म जो सीमा पर हैं, वे उस उद्योग को छोड देंगी। अस्तु, नए प्रवेश करने वालो के लिए बाधाओ के न होने पर "उद्योग मे उस समय साम्य होगा जब फर्मों की सख्या में कोई घट-बढ नही होती और जब उस उद्योग की फर्मों के लिए उत्पादन बढाने व घटाने के लिए कोई प्रोत्साहन नही रहता।" लागत की दृष्टि से, यह मानते हुए कि सब फर्मों की लागत एक समान है और कोई भी साधन सीमित नही है तो उद्योग का साम्य उस समय होगा जब कि कीमत प्रत्येक फर्म की निम्नतम औसत लागत के बराबर है।" यदि कीमत इससे अधिक है तो नई फर्म इस ओर खिच आयेगी और यदि कम है तो कुछ बाहर निकल जायेगी। थोड़े समय में, फर्मों की परस्पर साम्यावस्था इतनी पैदावार पर हो सकती है जिस पर लाभ अधिकतम हो अथवा नुकसान (हानि) न्यूनतम। यद्यपि कुछ हालतो में इसका अर्थ उत्पादन को बिल्कुल बन्द करना है। लेकिन ऐसा सोचने के लिए कोई आधार नही है कि मुख्य रूप से उद्योग ही थोडे समय में साम्यावस्था प्राप्त कर लेंगे। यद्यपि लम्बी अवधि में ऐसा होगा जब कि फर्मों की सख्या घट बढ जायगी।

अब मान लो माग में स्थायी रूप से वृद्धि होती है। तो ऐसी दशा में दीर्घकाल में बाजार कीमत क्या होगी? दूसरे शब्दो में, सामान्य कीमत क्या होगी? सामान्य कीमत उस बढी हुई पूर्ति की सीमान्त लागत पर निर्भर होगी जो बढी हुई माग तथा ऊचे लाभ के कारण लाई गई है। अल्पकाल में सीमान्त लागत का अर्थ उस लागत से है जो **विद्यमान** यन्त्रो की सहायता से अतिरिक्त उत्पादन करने में लगती है। कुछ समय तक उत्पादन के जो साधन रेडियो व्यवसाय में हैं उन्ही से अधिक काम लिया जायगा। यदि वे साधन कार्य-कुशल नही हैं तो सीमान्त लागत कुछ समय तक बढ सकती है। उस समय तक जो कीमत होगी उसे अर्ध-सामान्य कीमत कहेंगे। यह **अल्पकालीन सामान्य कीमत** (short-period normal price) है जो बाजार कीमत और वास्तविक सामान्य कीमत के बीच में होती है।

अल्पकालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण का नियम इस प्रकार है

प्रत्येक फर्म की दृष्टि से यह कीमत पूर्ति की सीमान्त लागत के बराबर होगी और उद्योग की दृष्टि से पूर्ति और माग की मात्राओ में साम्य होना चाहिए। यह बात रेखा चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाई जा सकती है —

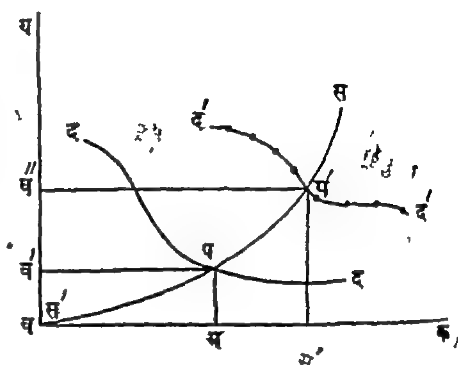
रेखा चित्र ५० उद्योग के किसी एक फर्म के लिए है और रेखा चित्र ५१ समस्त उद्योग के लिए है जिसका वह फर्म एक सदस्य या अंग है।

हमें यह देखना है कि जो कीमत उद्योग के लिए निर्धारित होगी वह फर्म के लिए ठीक होगी या नही। चित्र ५० में स ल सीमान्त लागत वक्र है और अ ल औसत लागत वक्र है। चित्र ५१ मे प प पूर्ति वक्र है और $म_1$ $म_2$ $म_3$ माग वक्र है।

जब माग रेखा रेखा $म_1$ है तो कीमत $न_1$ $ल_1$ के बराबर होगी क्योकि इस कीमत पर माग और पूर्ति दोनो बराबर हैं (अ $ल_1$)। और जहाँ तक फर्म का सम्बन्ध है यह कीमत ($प_1$ $म_1$) सीमान्त लागत के बराबर है क्योकि चित्र ५० में प बिन्दु सीमान्त लागत वक्र पर है। ठीक यही उस समय भी होगा जब माग $न_2$ और $न_3$ होगी।

सेट ही लीजिए। मान लो कि पूर्ति और माग के बीच अस्थायी साम्य के कारण एक निश्चित समय पर रेडियो सेट का मूल्य रेखाचित्र की प म लाइन के बराबर है।

स स' एक पूर्तिवक्र है और द द माग वक्र। प म=व' व जो किसी समय का साम्य मूल्य है।

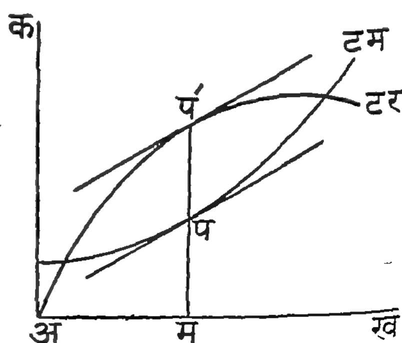


रेखा चित्र न० ४८

अब मान लीजिए कि माग बढती है, जो कि बिंदीदार वक्र द' द' द्वारा दिखाई गई है। इससे नयी साम्य कीमत प' म' हो जाती है जो (व' व'') के बराबर है और जो (व व') से ऊची है। यदि माग की बढोतरी के कारण अस्थायी है तो कुछ समय के पश्चात् यह गायब हो जायेगा और पुन वही प म मूल्य स्थापित हो जायगा।

अस्थायी साम्य (Temporary Equilibrium)—समतुल्यता को दो दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है—एक तो फर्म के दृष्टिकोण से और दूसरे उद्योग के दृष्टिकोण से। फर्म अधिकतम लाभ की दृष्टि से कार्य करती है। इसलिए उत्पादन की वह मात्रा इसको तैयार करनी होगी जिस पर कुल बिक्री और कुल लागत के बीच का अन्तर अधिकतम हो। इस बिंदु पर उत्पादन की दृष्टि से फर्म का सामजस्य होगा। इस बिंदु पर सीमान्त राजस्व (marginal revenue) सीमान्त लागत के समान होगा। ऐसी पैदावार जिस पर अधिकतम लाभ होता है निम्नलिखित रेखा-चित्र में दर्शायी गयी है।

ट स कुल लागत वक्र है तथा ट र कुल राजस्व (revenue) वक्र इन दो वक्रो के बीच का अधिकतम अन्तर जो दो समानान्तर स्पर्श-रेखाओ के बीच (कुल राजस्व—कुल लागत) प' प है और इससे अधिकतम लाभ का पता चलता है। अ म अनुकूलतम (optimum) पैदावार है।



रेखा चित्र न० ४९

समस्त उद्योग की दृष्टि से हम यह कहेंगे कि इसमें लाभ की वह दर होनी आवश्यक है जो उसी प्रकार के जोखिम उद्योगो मे होती है अन्यथा उसमें साम्य न होगा। यदि लाभ की दर अधिक है तो नई फर्म उस ओर आकर्षित होगी और पुरानी फर्म अपना उत्पादन बढायेगी। दूसरी

ओर, जब लाभ की दर कम है तो कुछ फर्म जो सीमा पर हैं, वे उस उद्योग को छोड देंगी। अस्तु, नए प्रवेश करने वालो के लिए बाधाओ के न होने पर "उद्योग में उस समय साम्य होगा जब फर्मों की सख्या में कोई घट-बढ नही होती और जब उस उद्योग की फर्मों के लिए उत्पादन बढाने व घटाने के लिए कोई प्रोत्साहन नही रहता।" लागत की दृष्टि से, यह मानते हुए कि सब फर्मों की लागत एक समान है और कोई भी साधन सीमित नही है तो उद्योग का साम्य उस समय होगा जब कि कीमत प्रत्येक फर्म की निम्नतम औसत लागत के बराबर है।" यदि कीमत इससे अधिक है तो नई फर्म इस ओर खिच आयेगी और यदि कम है तो कुछ बाहर निकल जायेगी। थोड़े समय में, फर्मों की परस्पर साम्यावस्था इतनी पैदावार पर हो सकती है जिस पर लाभ अधिकतम हो अथवा नुकसान (हानि) न्यूनतम। यद्यपि कुछ हालतो में इसका अर्थ उत्पादन को बिल्कुल बन्द करना है। लेकिन ऐसा सोचने के लिए कोई आधार नही है कि मुख्य रूप से उद्योग ही थोडे समय में साम्यावस्था प्राप्त कर लेंगे। यद्यपि लम्बी अवधि में ऐसा होगा जब कि फर्मों की सख्या घट बढ जायगी।

अब मान लो माग में स्थायी रूप से वृद्धि होती है। तो ऐसी दशा में दीर्घकाल में बाजार कीमत क्या होगी? दूसरे शब्दो में, सामान्य कीमत क्या होगी? सामान्य कीमत उस बढी हुई पूर्ति की सीमान्त लागत पर निर्भर होगी जो बढी हुई माग तथा ऊचे लाभ के कारण लाई गई है। अल्पकाल में सीमान्त लागत का अर्थ उस लागत से है जो **विद्यमान** यन्त्रो की सहायता से अतिरिक्त उत्पादन करने में लगती है। कुछ समय तक उत्पादन के जो साधन रेडियो व्यवसाय में हैं उन्ही से अधिक काम लिया जायगा। यदि वे साधन कार्य-कुशल नही हैं तो सीमान्त लागत कुछ समय तक बढ सकती है। उस समय तक जो कीमत होगी उसे अर्ध-सामान्य कीमत कहेंगे। यह **अल्पकालीन सामान्य कीमत** (short-period normal price) है जो बाजार कीमत और वास्तविक सामान्य कीमत के बीच में होती है।

अल्पकालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण का नियम इस प्रकार है

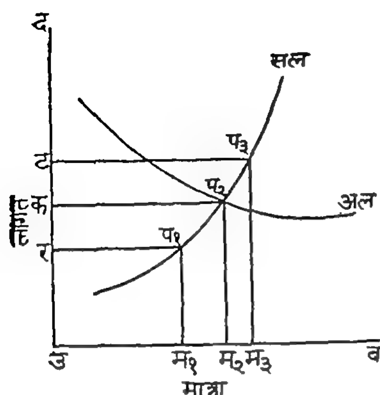
प्रत्येक फर्म की दृष्टि से यह कीमत पूर्ति की सीमान्त लागत के बराबर होगी और उद्योग की दृष्टि से पूर्ति और माग की मात्राओ में साम्य होना चाहिए। यह बात रेखा चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाई जा सकती है —

रेखा चित्र ५० उद्योग के किसी एक फर्म के लिए है और रेखा चित्र ५१ समस्त उद्योग के लिए है जिसका वह फर्म एक सदस्य या अंग है।

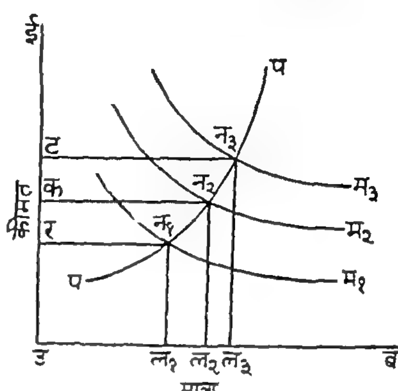
हमें यह देखना है कि जो कीमत उद्योग के लिए निर्धारित होगी वह फर्म के लिए ठीक होगी या नही। चित्र ५० में स ल सीमान्त लागत वक्र है और अ ल औसत लागत वक्र है। चित्र ५१ में प प पूर्ति वक्र है और $म_1$ $म_2$ $म_3$ माग वक्र हैं।

जब माग रेखा रेखा $म_1$ है तो कीमत $न_1$ $ल_1$ के बराबर होगी क्योकि इस कीमत पर माग और पूर्ति दोनो बराबर हैं (अ $ल_1$)। और जहाँ तक फर्म का सम्बन्ध है यह कीमत ($प_1$ $म_1$) सीमान्त लागत के बराबर है क्योकि चित्र ५० में प बिन्दु सीमान्त लागत वक्र पर है। ठीक यही उस समय भी होगा जब माग $न_2$ और $न_3$ होगी।

यदि माग बराबर अधिक बनी रहती है, तो उत्पादन के नये साधन रेडियो व्यवसाय



रेखा चित्र न० ५० (फर्म)



रेखा चित्र न० ५१ (उद्योग)

की ओर खिच जायेंगे । किन शर्तों पर ये साधन आयेंगे ? दीर्घकाल में साधनो की लागत तो निकलनी ही होगी । पूर्ति का आशय अब उस मात्रा से होगा जो नये साधनो की सहायता से लाई जा सकती है। पूर्ति की नई कीमत इस बात पर निर्भर करेगी कि सीमान्त लागत किस तरह बदलती है । सीमान्त लागत का अर्थ होगा नये साधनो द्वारा अतिरिक्त उत्पादन की लागत ।

रेडियो व्यवसाय में यह बहुत सभव है कि प्रति इकाई सीमान्त लागत रेडियो सेट के अधिक उत्पादन से कम हो जाय, इसलिए कि यह एक ऐसा व्यवसाय है कि जो उत्पादन वृद्धि के नियम के अनुसार चलता है। उस व्यवसाय की, जो घटती हुई प्राप्ति नियम (law of decreasing returns) को मानता है, सीमान्त लागत और इसलिए दीर्घकालीन पूर्ति कीमत अवश्य बढेगी। यदि उस व्यवसाय की प्रकृति घटती हुई प्राप्ति के नियम की ओर है तथा अन्य साधन बढती हुई प्राप्ति के द्वारा उसे सतुलित किए हुए है, तो वह व्यवसाय स्थिर उत्पादन के नियम को मानने वाला कहा जाएगा। दूसरे शब्दो में सीमान्त लागत या दीर्घकालीन पूर्ति कीमत और इसलिए सामान्य कीमत फिर उसी सतह पर आ जायगी। वह सतह, जहा पर से पहले माग की वृद्धि हुई थी, यही आ जायगी। इसलिए **मांग की स्थायी वृद्धि से सामान्य कीमत कम होगी या ऊची अथवा वहीं की वहीं रहेगी, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वह व्यवसाय वृद्धि, ह्रास अथवा स्थिर (increasing, diminishing or constant) किस नियम को मानता है।**

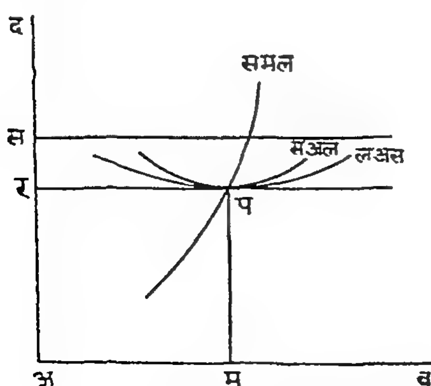
यही बात उस समय भी लागू होगी जबकि हम यह मान लें कि माग दीर्घकाल की दृष्टि से गिर गई है और पूर्ति की शक्तियो को बदलने के लिए पर्याप्त समय मिल चुका है। **सामान्य कीमत बढेगी, गिरेगी या उतना ही रहेगी, यह इस बात पर निर्भर है कि उस उद्योग में उत्पादन वृद्धि, ह्रास या स्थिर नियम लागू है।**

दीर्घकालीन सामान्य कीमत का नियम यह है कि दीर्घकाल में कीमत फर्म की निम्नतम औसत लागत के बराबर होगी और उद्योग के सभी फर्मों की दीर्घकालीन औसत लागत के एक समान होगी। हम उपर देख चुके है कि हर फर्म के लिए अल्पकालीन सामान्य कीमत उस फर्म की सीमान्त लागत के बराबर होनी चाहिये। लेकिन यदि दीर्घकाल में औसत लागत गिर रही है तो उस फर्म का विस्तार होगा। औसत लागत हमेशा ही गिरती नही रहेगी और यदि ऐसा होता रहा तो प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी और एकाधिकार की स्थिति आ जायगी। अस्तु, **घटती हुई औसत लागत और प्रतियोगिता एक दूसरे के असंगत (incompatible) विरोधी है।** कुछ समय के वाद वडे पैमाने के उत्पादन की सीमा आ पहुचेगी और एक फर्म का और अधिक वढना बन्द हो जायगा। फलस्वरूप और फर्मों के लिए रास्ता खुल जायगा और प्रतियोगिता की स्थिति सम्भव हो जायगी।

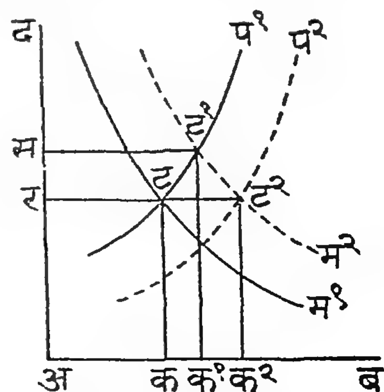
जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दीर्घकालीन कीमत का निर्धारण उत्पादन के नियम से प्रभावित होता है। आगे दिए हुए रेखा चित्रो में यह दिखाया गया है कि कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है जवकि स्थिति इनमें से एक हो (1) स्थिर लागत (अथवा प्राप्ति), (ii) वढती हुई लागत (अथवा घटती हुई प्राप्ति); तथा (iii) घटती हुई लागत (अथवा वढती हुई प्राप्ति)।

(i) **स्थिर लागत अथवा स्थिर प्राप्ति** (Constant Costs or Constant Returns)—चित्र ५२ में एक फर्म की स्थिति, दिखाई गई है और चित्र ५३ में एक समस्त उद्योग की। चित्र ५२ में स म ल वक्र अल्पकालीन सीमान्त लागत दिखाती है, स अ ल अल्पकालीन औसत लागत और ल अ स दीर्घकालीन, औसत लागत की वक्र है। चित्र ५३ में म^{१} और म^{२} माग की वक्र है और प^{१} और प^{२} पूर्ति की वक्र है। यह स्पष्ट है कि फर्म की लागत वक्र उद्योग के पूर्ति-वक्र होते है।

प^{१} और म^{१} वक्र का अल्पकालीन साम्य ट विन्दु पर है। कीमत ट क है और उत्पादन की मात्रा अ क। अव मान लो माग वढ कर म^{२} हो जाती है। शीघ्र ही कीमत ट^{१} क^{२} तक वढ जायगी। ट^{१} नई माग का वक्र और पुरानी पूर्ति के वक्र पर है। अर्थात्



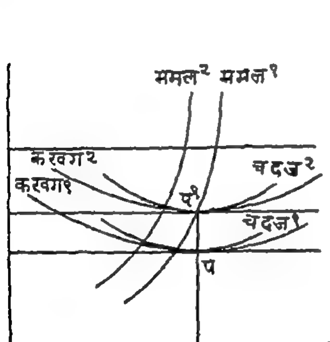
रेखा चित्र न० ५२ (फर्म)



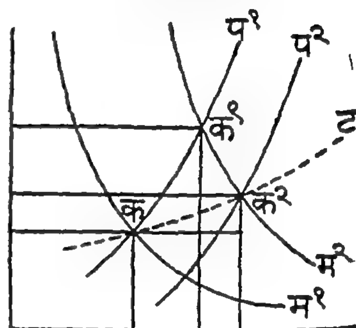
रेखा चित्र नं० ५३ (उद्योग)

ट¹ विन्दु पर अल्पकालीन पूर्ति वढी हुई माग के समतुल्य है। लेकिन ऊची कीमत से लाभ उठाने के लिए पूर्ति वढेगी। नई फर्म खुल जायगी। फलस्वरूप पूर्ति का वक्र दाहिने ओर खसक कर प² पर हो जायगा। कीमत फिर ट क (=ट²क²) के वरावर हो जायगी। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकालीन सामान्य कीमत दीर्घकालीन औसत लागत के वरावर होती है। चूकि फर्म स्थिर लागत पर उत्पादन कर रही है, इसलिए प बिन्दु पर अल्पकालीन औसत और सीमान्त लागत वराबर होगी। चित्र ५२ मे सब रेखाए इसी विन्दु पर मिलती है।

(ii) **वढती हुई लागत अथवा घटती हुई प्राप्ति** (Increasing Costs or Diminishing Returns)—नीचे दिये हुए दोनो चित्र पीछे के चित्रो के समान है।

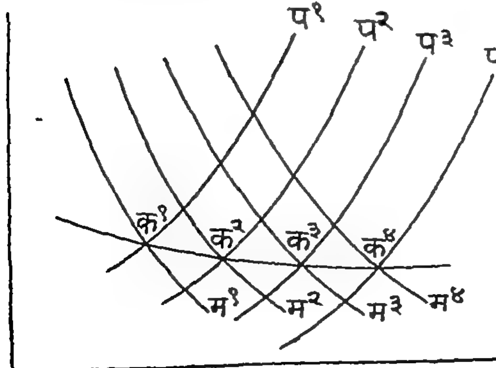


रेखा चित्र न० ५४ (फर्म)



रेखा चित्र न० ५५ (उद्योग)

लेकिन अन्तर यह है कि जव माग म² तक और पूर्ति प² तक वढ जाती है साम्य का नया विन्दु (क²) ऊचे स्थान पर है। फर्म के चित्र को देखने से हमें ज्ञात होगा कि दीर्घकालीन औसत लागत (क ख ग²) दूसरी दशा में पहले से अधिक है। इसका कारण यह है कि उद्योग में उत्पादन का घटता हुआ नियम लागू है और पूर्ति ऊची लागत पर मिल रही है। दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (ट) क, क² आदि विन्दुओ को मिलाने से बना है और यह ऊपर चढते हुए वक्र को प्रकट करता है।



रेखा चित्र न० ५६

(iii) **घटती हुई लागत अथवा वढ़ती हुई प्राप्ति** (Decreasing Costs or Increasing Returns)—हम पहले ही कह चुके है कि लगातार घटती हुई दीर्घकालीन औसत लागत का मेल प्रतियोगिता के साथ नही हो सकता क्योकि ऐसी दशा में

एकाधिकार की स्थिति पैदा हो जायगी। कारखानो में कुछ समय तक औसत लागत गिरती चली जाती है लेकिन हमेशा के लिए नही। घटती हुई प्राप्ति (returns) (अथवा वढती हुई लागत) उत्पादन का मूल नियम है। ऐसी स्थिति कम आती है। फिर भी इसे इस प्रकार रेखा चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है। $म^1$, $म^2$, $म^3$ और $म^4$ के वक्र वढती हुई माग दिखाते है, और $प^1$, $प^2$, $प^3$ और $प^4$ वढती हुई पूर्ति के वक्र है। समतुल्यता के विन्दु $क^1$, $क^2$, $क^3$ और $क^4$ गिरते हुए वक्र पर है जो घटती हुई लागत का सकेत करते है।

दीर्घकालीन साम्य (Long-term Equilibrium)—अव हम सक्षेप में कुछ शब्द दीर्घकालीन साम्य के विषय में कहेंगे। इस दशा में उद्योग को फैलने अथवा घटने के लिए काफी समय मिल जाता है। माग के अनुसार नई मशीनें लगाई जा सकती है या वर्तमान मशीनो और औजारो को पुराने होने पर वदला न जाय। उद्योग उस समय तक वढता-घटता रहेगा जव तक कि उत्पादन या लागत की दृष्टि से वह सवसे अधिक लाभप्रद स्थान पर नही पहुच जाता।

प्रो० मेयर्स ने उद्योग के दीर्घकालीन साम्य के लिए निम्नलिखित वातें कही है।[1] प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकाल मे—

(१) किसी फर्म के लिए जिसको उद्योग में रहना है आदर्श उत्पादन पर कीमत को निम्नतम औसत पूरी इकाई लागत के वरावर रहना पडेगा।

(२) यदि कोई फर्म घटती लागत पर उत्पादन कर रही है तो उद्योग के लिए कोई प्रतियोगिक साम्य न होगा।

(३) यदि फर्म आदर्श रूप से वडी है और यदि समान लागत दशाओ में वाहर से फर्म आ सकती है तो प्रतियोगिक साम्य सम्भव न होगा।

(४) यदि कोई साधन सीमित नही है तो कीमत उद्योग के सभी फर्मों की निम्नतम औसत लागत के वरावर होगी। उत्पादन उस समय स्थिर लागत पर होगा।

(५) यदि साधन सीमित है और उद्योग के विस्तार के साथ उनकी कीमतें वढ जाती है, तो कीमत नीची लागत वाली फर्म की सीमान्त लागत के वरावर होगी।

(६) यदि लगान को (अर्थात् हस्तान्तरित आय) लागत मे शामिल कर लिया जाय तो कीमत सभी फर्मों की निम्नतम औसत लागत के वरावर होगी।

संक्षेप में हम कह सकते है कि "अल्पकाल में, पूर्ण प्रतियोगी उद्योग का वक्र ऊपर की ओर दायें को जायगा। दीर्घावधि में, यह मान लिया जाए कि प्रवेश खुला है, यह तो सम्भावना है कि यह ऊपर की ओर तव तक मुडेगा जव तक सारे साधन (factors) एक समान (homogeneous) न हो जाए। परन्तु यह नीचे की ओर भी काफी मुड सकता है यदि उद्योग की वृद्धि के साथ साथ वाहर से होने वाली किफायतें काफी हो।[2]

६. सामान्य कीमत पर मार्शल के विचार (Marshall's View of

1 Meyers, A L—Elements of Modern Economics, 1951, pp. 176-77.
2 Stonier and Hague, Op Cit., p 145.

Normal Price)—मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की सामान्य कीमत उसकी सीमान्त लागत द्वारा निर्धारित होती है। सीमान्त लागत के यहा दो अर्थ लिये गए हैं (१) एक तो यह सीमान्त फर्म की औसत लागत है, और (२) दूसरे प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत है। "सीमान्त लागत" शब्द का प्रयोग उन उद्योगो के सबध में किया जाता है जहा घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। यह वह फर्म है जिसका उत्पादन मडी की माग की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इसकी लागत खर्च अवश्य निकलनी चाहिए। इसका उत्पादन व्यय सबसे ऊचा होता है। यदि कीमत थोडी गिर जाती है अथवा लागत बढ जाती है, तो यह फर्म उत्पादन-कार्य न कर सकेगी। यदि इसका उत्पादन माग की पूर्ति के लिए आवश्यक है तो कीमत को इतना होना होगा जिससे कि सामान्य लाभ को शामिल करते हुए उसकी लागत पूरी हो सके।

उन व्यावसायिक सस्थाओ के वर्णन में, जिनमें बढती हुई प्राप्ति नियम लागू होते हैं, मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म का प्रयोग किया है। ऐसी व्यावसायिक सस्था के उत्पादन की सीमान्त लागत अवश्य ही निकलनी चाहिए। एक बार जब इस सीमान्त लागत के अनुसार कीमत निर्धारित कर दी जाती है तो अन्य व्यावसायिक सस्थाए अपनी सीमान्त लागत को इस कीमत तक लाने के लिए अपने उत्पादन को बढा देती हैं। इस प्रकार मार्शल के अनुसार यह सीमान्त व्यावसायिक सस्था की औसत लागत (घटती की दशा में) तथा प्रतिनिधि या औसत व्यावसायिक सस्था की सीमान्त लागत (वृद्धि की दशा में) है जो सामान्य कीमत को निर्धारित करती है।

७ आधुनिक दृष्टिकोण (Modern View)—नया आर्थिक विश्लेषण सीमान्त लागत और सामान्य कीमत के सम्वन्ध में मार्शल से भिन्न है।

मार्शल उत्पादन की सीमान्त लागत के दो विचार देते हे, अर्थात् सीमान्त व्यावसायिक सस्था की औसत लागत तथा औसत व्यावसायिक सस्था की सीमान्त लागत। पहिला उन व्यवसायो पर जो घटती नियम को मानते हे, तथा दूसरा जो वृद्धि के नियम को मानते हे, लागू किया जाता है। मार्शल उसी व्यावसायिक सस्था को सीमान्त व्यावसायिक सस्था कहते हे, जो अधिकतम औसत लागत पर उत्पादन करती है। मार्शल को प्रतिनिधि व्यावसायिक सस्था के उत्पादन की सीमान्त लागत उसकी इकाइयो के उत्पादन के बराबर हो जो बहुत कम फायदे में उत्पन्न हुई हैं, जिसकी तुलना सीमा पहुँचने के पहले उत्पादित इकाइयो के साथ हो सके। **आधुनिक विश्लेषण के अनुसार सीमान्त लागत सर्वोत्तम व्यवसायी सस्था के प्रति इकाई लागत के बराबर होती है।** हम यह देख चुके हे कि सर्वोत्तम या आदर्श व्यवसायी सस्था का विचार मार्शल की प्रतिनिधि व्यवसायी सस्था की अपेक्षा क्यो श्रेष्ठ है।

मार्शल का सामान्य मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त व्यवसायो को कई श्रेणियो में, उत्पादन के नियमों के अनुसार, बाट देता है। उदाहरण के लिए, कुछ व्यवसाय ऐसे हे जो घटती हुई प्राप्ति के नियम को मानते हे, और कुछ ऐसे भी हे जो बढती हुई प्राप्ति के नियम को मानते हे। पहिले में सामान्य मूल्य सीमान्त व्यवसायी सस्था की उत्पादन

लागत के बराबर होगा, तथा दूसरे मे प्रतिनिधि व्यवसायी सस्था की। लेकिन आधुनिक विश्लेषण व्यवसायो को उत्पादन नियमो के अनुसार विभिन्न श्रेणियो में नही बाटता। उत्पादन के नियम उत्पादन के सीमान्त लागत के बराबर साधनो के सगठन में आनुपातिक रूप में मान्य होते है। सभवत उसी फर्म के विकास में वे विभिन्न अवस्थायो को बनायें। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में सभी व्यवसायी सस्थाएँ समान सीमान्त और औसत लागत पर वस्तुओ का उत्पादन करके सर्वोत्तम बनने का प्रयत्न करती है। इसलिए माना जाता है कि 'सर्वोत्तम' कोई निश्चित बिन्दु नही है, यह तो उत्पादन की कला और प्रबन्ध के साथ-साथ बदलता रहता है।

मार्शल के सिद्धान्त के साथ असहमति केवल यही पर समाप्त नही हो जाती। जब हम उन शक्तियो की जो लागत के पीछे काम करती हैं, जाच करते है, तो नया विश्लेषण या दृष्टिकोण मूलत मार्शल तथा अन्य प्राचीन अग्रेज विद्वानो के सिद्धात से भिन्न पाते है। मार्शल तथा उनके पूर्वाधिकारी, जो कि उत्पादन लागत के सिद्धात को मानते है, इस बात से सहमत है कि मुद्रा के रूप मे उत्पादन लागत को ठीक प्रकार से स्पष्ट नही करती। मुद्रा की पृष्ठ मे जो लागत है, वही असली लागत है। इस वास्तविक लागत को भी भिन्न-भिन्न ढंगो से लोग समझते है जैसे (i) मजदूरो की दर्दभरी मेहनत तथा त्याग अर्थात् मूल्य का श्रम-सिद्धात; (ii) दर्दभरी कोशिशें और मजदूरी के त्याग तथा प्रतीक्षा का कष्ट अर्थात् मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धात। लेकिन आजकल असली उत्पादन लागत का अर्थ दूसरे सर्वोत्तम विकल्प का त्याग माना जाता है अर्थात् अवसर लागत। यह उत्पादन व्यय को उपयोगिता के रूप में समझाता है और यह मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धात है। अर्थशास्त्रियो में नवीनतम प्रवृत्ति इसी अन्तिम सिद्धात को स्वीकार करने की है। अगले अध्याय में इन सब सिद्धान्तो पर ऐतिहासिक क्रमानुसार विचार किया जायगा।

८. साधारण साम्य का सिद्धान्त[1] (Theory of General Equilibrium)—सामान्य कीमत के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमने यह देखा है कि किस तरह अल्प और दीर्घकाल मे कोई फर्म या उद्योग साम्य (Equilibrium) की स्थिति पर पहुचता है। लेकिन साम्य का सिद्धान्त केवल कीमत पर ही नही बल्कि सारी आर्थिक व्यवस्था या पद्धति पर लागू होता है। जब कुल आर्थिक व्यवस्था साम्य की स्थिति में होती है तो उसे साधारण साम्य कहते है। इसका अर्थ यह है कि हर फर्म आदर्श उत्पादन की मात्रा का उत्पादन कर रही है, हर उद्योग अधिकतम लाभ की स्थिति को पा चुका है, तथा उत्पादन और कीमत के बीच दीर्घकालीन साम्य स्थापित हो चुका है। सक्षेप में, अर्थ-व्यवस्था का हर अग अधिकतम लाभ की स्थिति तक पहुच चुका है और परिवर्तन के लिए कोई प्रोत्साहन नही रह गया है। "सामान्य साम्यावस्था गतिहीन स्थिति है।" या तो कोई परिवर्तन होता ही नही या कोई परिवर्तन होता है तो वह क्रमश बार-बार और ऐसी प्रत्येक चेष्टा (गति movement) जो आर्थिक प्रणाली

1. *See* Meyers, A.L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 15.

में होती है वह ऐमी साम्यावस्था प्राप्त करने के लिए होती है। प्रो० शम्पटर (Prof Schumpeter) ऐसी अवस्था को "चक्रदार बहाव" (circular flow) का नाम देते है। प्रो० नाइट का विचार है कि सामान्य माम्यावस्था के अन्तर्गत वह प्रणाली आती है जो कि पूर्ण रूप से पूर्व परिचय दे (predict), जिसमे यदि कोई गडवड हो तो उसका समायोजन (adjustment) तत्काल ही हो जाए। इस समायोजन की सम्भावना पर विश्वास किया जाता है चूकि आर्थिक प्रणाली माल (commodities) तथा उत्पादन के साधनो (factors of production) की परस्पर-सहायक तथा सूत्रवद्ध व्यवम्था है।

साम्य की दशाए (Conditions of Equilibrium)—चूकि साम्य की स्थिति साधनो के एक उद्योग से दूसरे उद्योग में आने-जाने से आती है, इसलिए हम यहा यह विचार करेगे कि वे कौन सी शर्ते है जिनकी पूर्ति साधनो की कीमतो में साम्य लाने के लिए आवश्यक है। वे शर्तें इस प्रकार है —

(1) साधन की समस्त इकाइयो की कीमत समान होनी चाहिये। जरा सी असमानता (disparity) से असाम्य का पता चल जायगा। इससे यह जरूरी होगा कि कम प्राप्ति वाली इकाई (low-paid units) को अधिक प्राप्ति वाली इकाई के क्षेत्र में लाना जरूरी होगा। ऐसा होना सिर्फ प्रतियोगिता के आधार पर ही सम्भव है। यदि, उदाहरण के लिए, कुछ मजदूरो की मजदूरी (wages) दूसरो की अपेक्षा अधिक है तो कम मजदूरी वाले श्रमिक अधिक वालो से होड लगाएगे। मालिक यह प्रयत्न करेंगे कि अधिक मजदूरी वाले श्रमिको के मुकावले में कम मजदूरी वाले श्रमिक लगाए जाए। इसमे मजदूरी समान (साम्य स्थिति) हो जाएगी। इस प्रकार किराया (rent), ब्याज (interest) तथा लाभ (profit) समान हो जाएगे।

(ii) विभिन्न साधनो की कीमत अपनी सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) के अनुपात में होनी चाहिए।

इस प्रकार सही सूत्र यह होगा

$$\left\{\begin{array}{l}\text{सी० उ०} = \text{सीमान्त उत्पाद} \\ \text{MP} = \text{Marginal Product}\end{array}\right\}$$

$$\frac{\text{साधन क की सी० उ० (MP)}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{साधन ख की सी० उ०}}{\text{ख की कीमत}} = \frac{\text{साधन ग की सी० उ०}}{\text{ग की कीमत}} \cdots = \frac{\text{साधन क्ष की सी० उ०}}{\text{क्ष की कीमत}}$$

यदि यह अनुपात समान नही है अर्थात्, यदि

$$\frac{\text{साधन क की सी० उ०}}{\text{क की कीमत}} \text{ इससे अर्थात् } \frac{\text{साधन ख की सी० उ०}}{\text{ख की कीमत}} \text{ से ज्यादा है}$$

तो फायदा इसी में है कि ख की अपेक्षा क का अधिक उपयोग किया जाए, जिससे

अन्त मे साम्यावस्था स्थापित हो जाए। इस प्रकार प्रतिस्थापना (substitution) का नियम लागू होगा चाहे साधनो (factors) की कीमत सीमान्त उत्पादन की तुलना में अनुपात में न हो। उदाहरण के लिए यदि श्रम पूजी की अपेक्षा सस्ता हो, सम्बन्धित पटुता (क्षमता) के अनुसार, तो भी यह पूजी के मुकाबले श्रम से प्रतिस्थापित होगा। इससे मजदूरी बढेगी और सूद कम हो जायगा जिससे अनुपात (ratio) की समानता पुन स्थापित हो जायगी।

साधनो की कीमत बदलने के अलावा, सीमान्त उत्पादन तथा कीमतो के अनुपात मे समानता लाने के लिए यह तरीका है कि सीमान्त उत्पादन में परिवर्तन मे परिवर्तन लाया जाए। इस प्रकार जब अधिक श्रम की जरुरत हो तो इससे न सिर्फ मजदूरी बढे बल्कि श्रम की उत्पादकता में गिरावट आएगी। पूजी पर, जिसके लिए श्रम लगाया जाता है, उल्टा प्रभाव होगा। इस प्रकार, साम्यावस्था स्थापित हो जाएगी। इस साम्यावस्था में गडबड हो सकती है। यदि साधन कीमतो में परिवर्तन हो अथवा सीमान्त उत्पादन परिवर्तन से तथा नई साम्यावस्था भिन्न कीमतो पर हो और विभिन्न सीमान्त उत्पादो पर हो।

यह स्पष्ट है कि यह समायोजन (adjustment) साधनो के परस्पर प्रतिस्थापन तथा लोच पर आधारित हैं। प्रतिस्थापन शक्ति साधनो की सम्बन्धित पटुता (relative efficiency) पर आधारित है तथा कीमतो के सम्बन्धित परिवर्तनो पर। यदि मौजूदा फर्म नए हालात के अनुसार बनने में असमर्थ हैं तो उद्योग को साम्यावस्था में लाने के लिए नए उद्योग चालू करने चाहिए।

(iii) तीसरी स्थिति दूसरी स्थिति की अनुगामी है। इसमें न सिर्फ यह जरूरी है कि विभिन्न साधनो की कीमत परस्पर अपने सीमान्त उत्पादन के अशो (proportion) में हो बल्कि यह भी जरूरी है कि प्रत्येक साधन की कीमत अपने सीमान्त उत्पादन के समान हो। यदि सीमान्त उत्पादन अधिक (high) होगा तो पैदावार बढाने लिए इसे अधिक देना होगा, और यदि यह कम (low) होगा तो फर्म को सिकुडना पडेगा। इसका अर्थ यह है कि जहा तक पैदावार का प्रश्न है फर्म साम्यावस्था में होनी चाहिए जिससे विस्तार अथवा सिकुडाव (extension or contraction) जरूरी न रहे। विस्तार से पैदावार की कीमत घट जाएगी (अर्थात् सीमान्त पैदावार घटेगी) लेकिन इससे साधन (factor) की कीमत बढेगी। इससे, सीमान्त उत्पादन तथा कीमत में, यदि पहली दूसरे से बड़ी है तो साम्यावस्था स्थापित हो जायगी। यदि स्थिति विपरीत होती तो सिकुडन से साम्यावस्था उत्पन्न होती। आविष्कारो, माग में परिवर्तन अथवा दूसरे परिवर्तनो से साम्यावस्था में बाधा पडती है किन्तु गति वास्तव में ऐसी स्थिति लाने की ओर होगी।

(iv) चौथी स्थिति यह है जिसमे साधनो की प्रत्यक इकाई को काम (रोजगार) में लगाना है, जिनकी सप्लाई कीमत, मार्केट में चालू साधन की कीमत के या तो समान है अथवा कम। बेरोजगार स्रोत (unemployment resources) साधन कीमत मे मदी लाएगे। खाली (बेरोजगार) श्रमिक जो कुछ भी मजदूरी पाने के लिए सघर्ष कर

रहे हैं साम्यावस्था को गडबडा देंगे।

साधारण साम्य सिद्धात की आलोचना (Criticism of General Equilibrium Theory)—इस सिद्धान्त से यह पता चल जाता है कि अर्थ-व्यवस्था में कोई गडबडी है या वह अपनी ठीक दशा में है। इससे यह भी विदित होता है कि साम्य के टूटने पर वह फिर कैसे स्थापित हो सकता है। हमें यह भी मालूम हो जाता है कि अर्थ-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अग ठीक प्रकार से काम कर रहे हैं या नही जिससे अधिकाधिक आर्थिक सतोष मिले। इससे हमें यह भी पता चलता है कि एक बार साम्यावस्था बिगडने पर पुन कैसे सुधर सकती है। हम यह भी जान सकते हैं कि इस प्रणाली में होने वाली विभिन्न गतिविधिया ठीक और काम कर रही है।

लेकिन यह सिद्धात वास्तविकता से कही परे है। वास्तविक जगत् में सदा और निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इस कारण साम्य की स्थिति को पाना असम्भव सा हो जाता है और इसकी आशा करना एक इच्छामात्र रह जाती है और यह एक आदर्श ही रहता है। इसका कारण यह है कि इस सिद्धान्त में बहुत सी बातें जो मान ली जाती हैं, वे वास्तविक जीवन में दिखाई नही पडती, जैसे पूर्ण प्रतियोगिता उत्पादन के साधनो का इच्छानुसार विभाजन, तथा उनका पूर्ण स्थानातरण आदि जिन पर साम्यावस्था टिकी होती है परन्तु ऐसा होता बहुत कम है। अस्तु, शुद्ध प्रतियोगिता, जो कि एक प्रकार से मूल धारणा है, स्वप्नमात्र रह जाती है। एकाधिकार प्रतियोगिता वास्तविकता के कुछ करीब है। किन्तु सामान्य साम्यावस्था के सिद्धान्त में अकादेमी तत्व बहुत कम पाए जाते हैं।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A —Principles of Economics

Benham, F —Economics

Stigler, G J —Theory of Prices, 1947, pp 155-66

Meyers, A L —Elements of Economics, 1951, Ch 11, 12 and 13.

Tarshis, A L —Elements of Economics, 1946, Chs 15, 16 and 19

Wicksteed P H —Commonsense of Pol Economy, 1946, Vol I. Ch. 6.

अध्याय २१

मूल्य से सम्बन्धित वास्तविक लागत

(REAL COST IN RELATION TO VALUE)

१. भूमिका—पिछले दो अध्यायो मे उत्पादन लागत का अर्थ उत्पादन पर खर्च होने वाली मुद्रा लागत अथवा उत्पादन पर खर्च से लिया गया है। दूसरे शब्दो में उत्पादन के खर्चों को उत्पादन व्यय या लागत मान लिया गया था। उत्पादक की दृष्टि से यह व्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यह खर्च दीर्घकाल में सामान्य लाभ के साथ मूल्य द्वारा पूरे हो जाने चाहिएँ, अन्यथा (निजी उद्यम पूजीवादी) प्रणाली में उत्पादन कार्य चालू नही रह सकता।

पर सपूर्ण समुदाय की दृष्टि से केवल मुद्रा सम्बन्धी व्यय ही सब कुछ नही होता। समाज की दृष्टि से वास्तविक लागत (real cost) अधिक महत्वपूर्ण होती है। वास्तविक लागत का आशय उन प्रयत्नो व त्यागो से है, जो किसी वस्तु के उत्पादन के लिए समाज के विभिन्न सदस्य करते हैं। श्रमिक परिश्रम करते हैं, पूजीपतियो को बचत करके फल की प्रतीक्षा करनी पडती है व जमीदार को अपने को अपनी सम्पत्ति के प्रयोग से वचित रखना पडता है। ऐसा होने पर ही उत्पादन सम्भव होता है। अस्तु, किसी वस्तु के उत्पादन में विभिन्न प्रकार के प्रयत्न सम्मिलित होते हैं। और यही विभिन्न प्रयत्न उत्पादन की वास्तविक लागत कहलाते है।

द्रव्य-लागत व वास्तविक लागत समान नहीं होतीं (Money Cost and the Real Cost do not Coincide)—ऐसा बहुत कम होता है कि वस्तु की वास्तविक लागत द्रव्य-लागत के बराबर हो। मार्शल के शब्दो में, "यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रयत्नो के सम्बन्ध में स्थिर रहती है, और यदि प्रतीक्षा के लिए पारिश्रमिक की दर भी स्थिर रहती है, तो वस्तु की मुद्रा लागत वास्तविक लागत के समान होती है। पर इस प्रकार की समानता को महत्वहीन नही समझ लेना चाहिए।"[1] इस प्रकार द्रव्य-लागत व वास्तविक लागत में, बहुत कुछ सबध हैं। परिवर्तनशील ससार में किसी भी समय में दोनों लागत कभी समान नही हो सकती। चाहे हम दीर्घावधि की दृष्टि से विचार करें चाहे अल्पावधि की दृष्टि से। भूमि का मूल्य, उसकी दुर्लभता (scarcity) पर निर्भर है। उसमे त्याग अथवा प्रयत्न से सबधित लागत का कोई प्रश्न ही नही उठता। अभिनेताओ, अध्यापको, कुलियो, झाडू लगाने वाले, किसानो या व्यापारियो आदि के उपार्जनो का सम्बन्ध प्रत्येक के प्रयत्न व त्याग से बहुत कम होता है।

साधारणतया लागत का अर्थ द्रव्य-लागत होता है। पर वास्तव में द्रव्य-लागत

---

1 Marshall—Principles of Economics, p 350

वह मूल्य होता है जो उत्पादक उत्पादन के विभिन्न साधनो को एकत्रित कर उत्पादन कार्य करने के लिए देता है। इसलिए हम एक वर्ग की कीमतो की दूसरे वर्ग की कीमतो से तुलनात्मक व्याख्या नही कर सकते। इस कठिनाई से निकलने के बहुत से प्रयत्न किए गये है। कुछ लोगो ने श्रम को ही मूल्य का अन्तिम माप व निर्णायक माना है। पर कुछ लोग इसके साथ प्रतीक्षा (पूंजी) को भी जोड देते हैं। अभी हाल में कुछ अर्थ-शास्त्रियो ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उपयोगिता (utility) से दीर्घ-कालिक व अल्पकालिक कीमतो का निर्धारण होता है। अस्तु, इन तीनो विचारो के आधार पर मूल्य के तीन सिद्धान्त मान लिये गए है—(१) मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) (२) मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value), और (३) मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility of Value)। मार्शल जिस सिद्धान्त को मानते है वह उत्पादन लागत के सिद्धान्त व सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का मध्य है। उत्पादन लागत के सम्बन्ध में मार्शल के विचार मिल आदि के विचारो के विस्तृत रूप मात्र है जिसमें इस संश्लेष (synthesis) के अन्तर्गत उत्पादन की लागत के विचार को व्याख्यात्मक रूप से रखा गया है। मिल आदि अन्य अर्थशास्त्री कीमत की व्याख्या "प्रयत्न व त्याग" (efforts and sacrifices) के रूप में करते थे।

२ विकल्प, अवसर अथवा हस्तातरण लागत (Alternative, Opportunity or Transfer Cost)—आजकल के कुछ अर्थशास्त्री "वास्तविक लागत" शब्द का प्रयोग अवसर लागत अथवा हस्तातरण लागत के अर्थ में करते है। अमरीकी अर्थशास्त्री डेवेनपोर्ट (Davenport) ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है "मान लीजिए एक बच्चे को एक नाशपाती और एक आडू दोनो दिए गए, पर कोई शैतान लडका उन्हें छीनने का प्रयत्न करता है। ऐसे समय में उस बच्चे के लिए सिवाय इसके और कोई रास्ता नही होगा कि वह नाशपाती को रास्ते की झाडियो में गिरा क[illegible] र भाग निकले। और जब तक आततायी नाशपाती उठाये तो कहीं जा[illegible] ऐसी दशा [illegible] की लागत क्या हुई ? यह अवश्य है कि आडू व[illegible] रूप में दि[illegible]। इस दृष्टि से उसकी लागत कुछ भी नही है। [illegible] लिए बच्चे को नाशपाती छोडनी पडी। इस [illegible] नहीं जान पडता, शायद "बदलना" अथवा [illegible] going) शब्द ठीक होगे। या मान ली[illegible] या शाम [illegible] देख लीजिए। तो [illegible]। एक की दूसरे की एवज में [illegible] के लि[illegible] वंचित रहना होता [illegible] डालर है। उससे आ[illegible] एक पुस्तक खरीद ले[illegible]

से इतना नही होता कि डालर कमाने में कितना परिश्रम करना पडा था, या डालर स्वयं कितना मूल्यवान है, जितना कि उसके वैकल्पिक प्रयोग से। · · · आपके लिए पुस्तक की अधिक से अधिक क्या लागत है, इसकी सबसे अच्छी परीक्षा इसमें है कि पुस्तक खरीदने की इच्छा ने चाकू खरीदने की इच्छा पर कितनी विजय पाई।"[1] चूकि उत्पादक स्रोत (productive resources) सीमित है, इसलिए किसी एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तु के उत्पादन के वदले ही में हो सकता है। जिस वस्तु का इस प्रकार वलिदान होता है वह उत्पादित वस्तु की वास्तविक लागत होती है। हेन्डर्सन (Henderson) के शब्दो में "किसी वस्तु की वास्तविक लागत दूसरी उपयोगी वस्तुओ की पूर्ति में कमी है जो कि उस विशिष्ट वस्तु के उत्पादन से होती है।"[2]

इस उदाहरण के आधार पर यदि हम निष्कर्ष निकालें, तो हमें ज्ञात होगा कि उत्पादन लागत इस वात पर निर्भर नही करती कि वस्तु के उत्पादन मे कितना त्याग अथवा प्रयत्न किया गया, वल्कि इस वात पर निर्भर करती है कि वस्तु विशेष के कारण हमे दूसरे कौन से महत्त्वपूर्ण व अति आकर्षक विकल्प से वंचित रहना पडा। अस्तु, वास्तविक लागत का उपयोगिता से स्वतन्त्र व अन्तिम अस्तित्व नही होता। पर वास्तव में परस्पर प्रतियोगी मागो के त्याग को ही वास्तविक लागत कहते है। द्रव्य व्यवस्था में यह "द्रव्य की वह मात्रा है जिससे उत्पादन के साधन वजाय इसके कि वे कही और प्रयोग में लाए जाये, इस विशिष्ट कार्य की ओर प्रोत्साहित होते हैं।"

इस दृष्टि से लागत का महत्त्व (Significance of Cost in this Sense)—एक ही स्रोत (resource) के लिए वहुत-सी प्रतियोगी मागें होती है, (जो उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर करती है)। क्योकि साधन दुर्लभ (scarce) होते है, इसलिए एक समय में एक ही माग की पूर्ति हो सकती है, और वह भी दूसरी मागो के त्याग करने पर। फलस्वरूप साधनो की प्रवृत्ति उन प्रयोगो से, जिनमें उनकी माग की कीमत उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता के योग से कम होती है, उन प्रयोगो की ओर, जिनमें वह अधिक होती है, जाने की होती है। और ऐसा तव तक होता है, जव तक वह विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन से सवंधित तमाम प्रयोगो में इस प्रकार वट जाते है कि विभिन्न प्रयोगो में उनकी सीमान्त उपयोगिता समान हो जाती है।

इस प्रकार माग-कीमत (demand price) अथवा सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) ही इस वात का निर्णय करती है कि उत्पादन के किसी साधन का कितना भाग किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयोग मे लाया जायगा। इसलिए किसी वस्तु की पूर्ति (supply) उस आकर्षण पर निर्भर करती है, जो उस वस्तु की माग कीमत (या सीमान्त उपयोगिता) उत्पादन के विभिन्न साधनो के प्रति करती

1. Davenport—The Economics of Enterprise, page 61.
2 Supply and Demand, 1932, p 166,

वह मूल्य होता है जो उत्पादक उत्पादन के विभिन्न साधनो को एकत्रित कर उत्पादन कार्य करने के लिए देता है। इसलिए हम एक वर्ग की कीमतो की दूसरे वर्ग की कीमतो से तुलनात्मक व्याख्या नही कर सकते। इस कठिनाई से निकलने के बहुत से प्रयत्न किए गये है। कुछ लोगो ने श्रम को ही मूल्य का अन्तिम माप व निर्णायक माना है। पर कुछ लोग इसके साथ प्रतीक्षा (पूंजी) को भी जोड देते है। अभी हाल में कुछ अर्थ-शास्त्रियो ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उपयोगिता (utility) से दीर्घ-कालिक व अल्पकालिक कीमतो का निर्धारण होता है। अस्तु, इन तीनो विचारो के आधार पर मूल्य के तीन सिद्धान्त मान लिये गए है—(१) मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) (२) मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value), और (३) मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility of Value)। मार्शल जिस सिद्धान्त को मानते है वह उत्पादन लागत के सिद्धान्त व सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का मध्य है। उत्पादन लागत के सम्बन्ध मे मार्शल के विचार मिल आदि के विचारो के विस्तृत रूप मात्र है जिसमें इस सश्लेष (synthesis) के अन्तर्गत उत्पादन की लागत के विचार को व्याख्यात्मक रूप मे रखा गया है। मिल आदि अन्य अर्थशास्त्री कीमत की व्याख्या "प्रयत्न व त्याग" (efforts and sacrifices) के रूप में करते थे।

२ विकल्प, अवसर अथवा हस्तातरण लागत (Alternative, Opportunity or Transfer Cost)—आजकल के कुछ अर्थशास्त्री "वास्त-विक लागत" शब्द का प्रयोग अवसर लागत अथवा हस्तातरण लागत के अर्थ में करते है। अमरीकी अर्थशास्त्री डेवेनपोर्ट (Davenport) ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है "मान लीजिए एक बच्चे को एक नाशपाती और एक आडू दोनो दिए गए, पर कोई शैतान लडका उन्हें छीनने का प्रयत्न करता है। ऐसे समय में उस बच्चे के लिए सिवाय इसके और कोई रास्ता नही होगा कि वह नाशपाती को रास्ते की झाडियो में गिरा कर आडू लेकर भाग निकले। और जब तक आततायी नाशपाती उठाये तो कही जाकर छिप जाये। ऐसी दशा मे आडू की लागत क्या हुई ? यह अव-श्य है कि आडू बच्चे को उपहार के रूप मे दिया गया था। इस दृष्टि से उसकी लागत कुछ भी नही है। पर तब भी इसको अपने पास रखने के लिए बच्चे को नाशपाती छोडनी पडी। इस उदाहरण में "लागत" शब्द का प्रयोग ठीक नही जान पडता, शायद "बदलना" अथवा 'त्यागना" (displacement or forgoing) शब्द ठीक होगे। या मान लीजिए कोई आपसे कहे कि घुडसवारी कर लीजिए या शाम को नाटक देख लीजिए। तो यह कहना अटपटा लगेगा कि दोनो में से किसी एक की स्वीकृति दूसरे की एवज में है, फिर भी यह अवश्य है कि एक काम करने के लिए दूसरे से वचित रहना होता है। या इसी को इस प्रकार समझ लीजिये कि आपके पास एक डालर है। उससे आप चाहे तो एक पुस्तक खरीद लें या एक चाकू। और अन्त में आप एक पुस्तक खरीद लेते है तो पुस्तक खरीदने की तीव्रतर इच्छा का प्रदर्शन इस बात

से इतना नही होता कि डालर कमाने में कितना परिश्रम करना पडा था, या डालर स्वय कितना मूल्यवान है, जितना कि उसके वैकल्पिक प्रयोग से। ... ... आपके लिए पुस्तक की अधिक से अधिक क्या लागत है, इसकी सबसे अच्छी परीक्षा इसमें है कि पुस्तक खरीदने की इच्छा ने चाकू खरीदने की इच्छा पर कितनी विजय पाई।"[1] चूकि उत्पादक स्रोत (productive resources) सीमित है, इसलिए किसी एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तु के उत्पादन के बदले ही में हो सकता है। जिस वस्तु का इस प्रकार बलिदान होता है वह उत्पादित वस्तु की वास्तविक लागत होती है। हेन्डर्सन (Henderson) के शब्दो में "किसी वस्तु की वास्तविक लागत दूसरी उपयोगी वस्तुओ की पूर्ति मे कमी है जो कि उस विशिष्ट वस्तु के उत्पादन से होती है।"[2]

इस उदाहरण के आधार पर यदि हम निष्कर्ष निकाले, तो हमे ज्ञात होगा कि उत्पादन लागत इस बात पर निर्भर नही करती कि वस्तु के उत्पादन मे कितना त्याग अथवा प्रयत्न किया गया, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि वस्तु विशेष के कारण हमें दूसरे कौन से महत्त्वपूर्ण व अति आकर्षक विकल्प से वंचित रहना पडा। अस्तु, वास्तविक लागत का उपयोगिता से स्वतन्त्र व अन्तिम अस्तित्व नही होता। पर वास्तव मे परस्पर प्रतियोगी मागो के त्याग को ही वास्तविक लागत कहते हैं। द्रव्य व्यवस्था मे यह "द्रव्य की वह मात्रा है जिससे उत्पादन के साधन बजाय इसके कि वे कही और प्रयोग में लाए जायें, इस विशिष्ट कार्य की ओर प्रोत्साहित होते है।"

इस दृष्टि से लागत का महत्त्व (Significance of Cost in this Sense)—एक ही स्रोत (resource) के लिए बहुत-सी प्रतियोगी मागें होती है, (जो उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर करती है)। क्योकि साधन दुर्लभ (scarce) होते है, इसलिए एक समय में एक ही माग की पूर्ति हो सकती है, और वह भी दूसरी मागो के त्याग करने पर। फलस्वरूप साधनो की प्रवृत्ति उन प्रयोगो से, जिनमें उनकी माग की कीमत उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता के योग से कम होती है, उन प्रयोगो की ओर, जिनमें वह अधिक होती है, जाने की होती है। और ऐसा तब तक होता है, जब तक वह विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन से सबंधित तमाम प्रयोगो में इस प्रकार बट जाते है कि विभिन्न प्रयोगो में उनकी सीमान्त उपयोगिता समान हो जाती है।

इस प्रकार माग-कीमत (demand price) अथवा सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) ही इस बात का निर्णय करती है कि उत्पादन के किसी साधन का कितना भाग किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयोग मे लाया जायगा। इसलिए किसी वस्तु की पूर्ति (supply) उस आकर्षण पर निर्भर करती है, जो उस वस्तु की माग कीमत (या सीमान्त उपयोगिता) उत्पादन के विभिन्न साधनो के प्रति करती

---

1. Davenport—The Economics of Enterprise, page 61.
2. Supply and Demand, 1932, p 166,

है। यदि माग कीमत अधिक नही है तो साधनो का प्रयोग उस वस्तु का उत्पादन में किया जाता है, जिसकी माग कीमत अपेक्षाकृत अधिक है। मूल रूप में एक वस्तु की उत्पादन लागत एक व्यवसाय में उत्पादक सेवाओ के बनाये रखने के लिए दिये गये प्रतिधारण कीमत (retention price) का जोड है तथा यह उतना होता है जितना कि वे दूसरी जगह पा सकते हैं।

आर्थिक सिद्धान्त के क्षेत्र में अवसर लागत के मत का बडा महत्त्व है। यह आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो तरह के मूल्य निर्धारणो में लागू होता है। यह आय के वितरण में भी लागू होता है।

फिर भी इसके लागू होने की कुछ सीमाए हैं। यह उन उत्पादन सेवाओ पर जो असाधारण अथवा विशेष प्रकार की हैं, लागू नही होता। एक विशेष साधन के वैकल्पिक उपयोग नही होते। अत इसकी अवसर लागत अथवा हस्तान्तरित लागत शून्य होती है। इसलिए ऐसे साधन के भुगतान का स्वभाव लगान की तरह होता है। इसके अतिरिक्त अवसर लागत का सिद्धान्त अप्रवृत्ति के तत्व को विचार में नही रखता। साधन किसी व्यवसाय में रहने से अनिच्छुक हो सकते है। ऐसी दशा में जहाँ पर कि एक साधन की चाह को बदलना होता है तो वैकल्पिक व्यवसाय में प्रयोग में लाने के लिए उस साधन को हस्तान्तरित लागत से अधिक भुगतान देना पडेगा। इन बिना अर्थ-सम्बन्धी विचारों के दृष्टिकोण से द्रव्य लागत के मत का बहिष्कार कर देना चाहिये। अवसर लागत के सिद्धान्त की फिर से व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है "अ के बनाने में उत्पादक सेवा ट की लागत राशि ब है जो ट उत्पादन कर सकता है तथा बिना अर्थ सम्बन्धी उत्पादन (अथवा लागत) जो ब के उत्पत्ति करने में होता है (अथवा इतना कम) के बराबर होता है।"[1] यह बताया जा चुका है कि सिद्धान्त में द्रव्य का अभिप्राय फिर से डालने के लिए बिना अर्थ-सम्बन्धी (non-pecuniary) अर्थ सम्बन्धी उत्पादन में बदली जाए। परन्तु इस काम के लिए सदैव मुद्रा मापदण्ड (monetary denominator) का पाना सभव नही है।

इसके अतिरिक्त यह ध्यान रखना चाहिये कि उत्पादक सेवाओ की इकाइया बहुत कम एक सी (homogeneous) होती हैं।

इससे अधिक यह सिद्धात पूर्ण प्रतियोगिता पर निर्भर है जो बहुत कम होता है।

व्यक्तिगत लागत तथा सामाजिक लागत में भिन्नता के कारण भी इस सिद्धात का विरोध किया जा सकता है। एक वस्तु की लागत मिल मालिक को १०) हो सकती है परन्तु समाज को उसकी लागत उसके कारखाने से निकले हुए धुएँ के कारण खराब स्वास्थ्य के रूप में होगी।

इन सब सीमाओ तथा विषमताओ के होते हुए भी लागत का यह सिद्धात अर्थात् अवसर लागत व वैकल्पिक लागत का सिद्धात सबसे अधिक मान्य सिद्धात है। इस सिद्धात की कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य है —

---

1 Stigler, G J—Theory of Price, 1947, p 108

(i) एक वस्तु की उत्पादन लागत दूसरी वस्तुओ की, जिनके उत्पादन में वही उत्पादक सेवाएं सहायता दे सकती है, माग-कीमतो पर निर्भर है।

(ii) लागत का यह विश्लेषण इस वात से नष्ट नही हो जाता कि वस्तु का उत्पादन कई साधनो के सयोग से होता है क्योकि हर साधन का सीमान्त उत्पादन जाना जा सकता है।

अव हम मूल्य के अनेक सिद्धानो का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम श्रम-सिद्धात को ही ले लिया जाय।

३. श्रम-सिद्धान्त[1] (Labour Theory)—श्रम सिद्धात के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य का निर्णय उस परिश्रम से होता है जो उसे वनाने में व्यय किया जाता है। इस सिद्धात का सवध एडम स्मिथ (Adam Smith), रिकार्डो (Ricardo) व कार्ल मार्क्स (Karl Marx) आदि के नामो से है। एडम स्मिथ के पूर्व पेटी (Petty) व लाक (Locke) भी श्रम को मूल्य का स्रोत मानते थे।

एडम स्मिथ का विश्वास था कि मूल्य का अन्तिम मान श्रम ही होता है। "किसी वस्तु की वास्तविक कीमत उसके आकाक्षी मनुष्य के लिए वह परिश्रम व मेहनत होती है, जो उस मनुष्य को उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए करना पडता है। जो वस्तु द्रव्य द्वारा खरीदी जाती है, उसका "क्रय" वास्तव में श्रम ही करता है।"[2]

पर एडम स्मिथ का विचार था कि केवल समाज की प्रारम्भिक स्थितियो में ही श्रम विनिमय-मूल्य का आधार था। वाद में क्योकि भूमि दुर्लभ हो गई व पूजी का सचय शुरू हुआ, इसलिए इनके स्वामियो को भी कीमतें देनी पडी, और इस प्रकार श्रम अव उत्पादन की एकमात्र लागत नही रह गया। फलस्वरूप स्मिथ उत्पादन लागत के सिद्धात की ओर वढे। इसके विपरीत रिकार्डो का यह विश्वास था कि तत्कालीन जगत् में भी किसी वस्तु का मूल्य अथवा दूसरी वस्तुओ के प्रति उसकी विनिमय शक्ति श्रम की उस मात्रा पर निर्भर करती है, जो उसके उत्पादन के लिए आवश्यक होती है।[3]

पर इसका यह अर्थ नही कि रिकार्डो ने भूमि और पूजी को उत्पादन का साधन नही माना। उसका विचार था कि भूमि की लागत का कोई महत्त्व नही होता, क्योकि अनाज की कीमत खेती में प्रयुक्त ऐसी अनुपजाऊ भूमि की उत्पादन लागत पर निर्भर करती ह, जिस पर कोई लगान नही देना पडता। ओर जहा तक पूजी का सम्बन्ध है यह तो अतीत में किये गये श्रम का फलस्वरूप है।

एडम स्मिथ यह मानते थे कि श्रम में गुणो के अनुसार भिन्नता होनी है, इसलिए उनका यह विचार था कि सिवाय वहुत ही पिछडे समाजो के और कही श्रम की तुलना नही हो सकती, और श्रम के सिद्धात का सम्वन्ध ऐसे ही समाजो से है। पर चूकि

---

1. See Fraser, L. M—Economic Thought and Language, 1947, pp 117—123.
2. Adam Smith—Wealth of Nations, Book I Ch. V.
3. Principles of Political Economy and Taxation in Works of David Ricardo by Mc Culloch, p 9

रिकार्डो उन्नत जातियो में भी श्रम को ही मूल्य का मूल मानते थे, इसलिए उन्हें विभिन्न गुणो वाले श्रमो की तुलना करने में पैदा होने वाली कठिनाइयो को भी समझना पड़ा। इन कठिनाइयो को रिकार्डो ने इस प्रकार समझाया था कि यह भेद वाजार में इस प्रकार स्थिर हो जाते है कि हर प्रकार का श्रम मूल्य के क्रमिक प्रवन्ध में अपनी उचित जगह पर पहुँच जाता है। रिकार्डो के अनुसार इस क्रमिक प्रवन्ध में वहुत कम परिवर्तन होते है । उनका कहना है कि यदि "एक सुनार का एक दिन का श्रम एक साधारण श्रमिक के एक दिन के श्रम से अधिक मूल्यवान है, तो यह श्रम वहुत पहले व्यवस्थित होकर मूल्य के क्रमिक प्रवन्ध में अपने उचित स्थान पर पहुच चुका होगा।" पर यह व्याख्या कोई विशेष सतोषजनक नही है।

श्रम सिद्धात के विरुद्ध एक वहुत वडा आक्षेप यह है कि यह ऐसी वस्तुओं के मूल्य की, जिनका उत्पादन नही हो सकता, कोई व्याख्या नही करता। पर इसका उत्तर रिकार्डो ने इस प्रकार दिया है "कुछ वस्तुए ऐसी होती है जिनका मूल्य उनकी न्यूनता से निश्चित होता है।··· उनके मूल्य से उस आवश्यक श्रम के परिमाण से कोई सम्वन्ध नही होता, जो उत्पादन मे लगाया जाता है और इसलिए धन व उन वस्तुओ के उपभोक्ताओ की प्रवृत्तियो के अनुसार उसमे परिवर्तन हुआ करते है।" आजकल की भाषा में इससे रिकार्डो का तात्पर्य यह था कि उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता इस प्रकार की वस्तुओ का मूल्य निश्चित करती है। यहाँ तक तो उनके विचार वर्तमान अर्थशास्त्रियो के विचारो के अनुकूल ही है पर उनकी यह व्याख्या श्रम सिद्धात के आलोचको को सतुष्ट नही कर सकती क्योंकि इससे सिद्धात की अपूर्णता ही अधिक प्रकट होती है।

४ समाजवादी व श्रम सिद्धात (The Socialists and the Labour Theory)—रिकार्डो के श्रम सिद्धात ने समाजवादियो को विशेष रूप से आकर्षित किया। चूंकि मूल्य का उद्गम श्रम ही है, पर कुल मूल्य का वहुत कम भाग मजदूरी के रूप में मिलता है, इसलिए यह प्रमाणित करना सरल था कि पूजीपति उत्पादन का वडा भाग हड़प कर श्रमिको का शोषण करते है । रूसो (Rousseau) के पश्चात् टामसन ग्रे (Thomson Gray) व ब्रे (Bray) जैसे समाजवादियो ने पूजीवादी शोषण का एक अपना निजी सिद्धात वना लिया और रॉडवर्टस (Rodbertus) व कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने तो इस सिद्धात को अपनी पुस्तक का प्रमुख आधार वनाया।

वैज्ञानिक समाजवाद (scientific socialism) के मूल प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स ने अपने विचार अपनी पुस्तक 'डास कैपिटल' मे प्रकट किए है। इस पुस्तक में उन्होंने पूजीवाद पर अकाट्य आक्षेप किये है। मार्क्स का विश्वास था कि मूल्य प्रयोग में लाये गये मानवीय श्रम को कहते है (value as crystallised human labour) उनकी दृष्टि में किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम पर ही निर्भर होता है। अर्थात् इसे श्रम समय (labour time) कह सकते है जो सामाजिक रूप से (socially) वहुत जरूरी है। अपने इस विचार की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार

की है—"मूल्य श्रम के उस समय पर अवलम्बित है जो किसी वस्तु को साधारण परिस्थितियो में योग्यता और तीव्रता की औसत मात्रा से वनाने में लगता है, जो उत्पादन काल में प्रचलित है।"[1]

मार्क्स ने भी पूजी की वही व्याख्या की जो कि रिकार्डो न पूर्व श्रम (past labour) के आधार पर की थी। जहा तक श्रम की क्वालिटी के अन्तर का प्रश्न है, उनका विचार था कि "कुशल श्रम का महत्व केवल यह है कि वह साधारण श्रम का तीव्र रूप है।" उनके विचार में कुशल श्रम की एक निश्चित मात्रा सावारण श्रम की वडी मात्रा के वरावर ही है। उनका कहना था कि "अनुभव यह वतलाता है कि यह कमी निरन्तर पूरी हो रही है। एक वस्तु के वनाने में चाहे जितना भी कुशल श्रम लगा हो, पर यदि उसको साधारण श्रम द्वारा निर्मित किसी वस्तु के समान कर दिया जाय तो उसका मूल्य सावारण श्रम की ही एक निश्चित मात्रा का प्रदर्शन करेगा।" मार्क्स के अनुसार कुशल व अकुशल श्रम का यह अनुपात रूढि द्वारा निश्चित होता है। उनका कहना था कि कुशल श्रम का मूल्य इसलिए अधिक होता है कि इस प्रकार के श्रम को पैदा करने म अकुशल (unskilled) श्रम की अपेक्षा अधिक समय व श्रम की आवश्यकता होती है।[2]

५. मार्क्स का शोषण व अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त (Marx's Theory of Surplus Value and Exploitation)—अपने श्रम सिद्धात के आधार पर मार्क्स ने अपने अतिरेक मूल्य के सिद्धान्त का विकास किया। उन्होने वताया कि श्रमिक को उत्पादन कार्य चालू रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके पास औजार व दूसरी सुविधायें हो, किन्तु यह सुविधायें उसके पास नही होती। इसलिए वह अपने श्रम को पूजीपति के हाथो वेच देता है। पूजीपति के लिए यह आवश्यक नही होता कि वह श्रमिक को उसके द्वारा निर्मित वस्तु का पूरा मूल्य दे। यहा मार्क्स ने एक दूसरे प्रतिष्ठित सिद्धात (classical theory), मजदूरी जीवन निर्वाह सिद्धांत (subsistence theory of value) का आधार लिया है, जिसके अनुसार मजदूरी का स्तर ऐसा है कि श्रमिक जीवन-निर्वाह कर सके। पर होता यह है कि अपने जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करने लायक काम कर लेने के वाद भी श्रमिक काम करता ही रहता है। मार्क्स के शब्दो में "इतने समय तक जितने में कि श्रम अपने मूल्य के वरावर कीमत का काम कर लेता है, कार्य कर चुकने के वाद भी श्रम का कार्य जारी ही रहता है। कभी-कभी श्रम का कार्य छ घटे की अपेक्षा वारह घटे तक चल सकता है, इसलिये श्रम-शक्ति का कार्य केवल अपने मूल्य का ही उत्पादन करना नही वल्कि इससे भी अधिक उत्पादन करना है। यह अतिरेक मूल्य उत्पादित वस्तु के मूल्य का, उन साधनो के मूल्य का, जिनका प्रयोग उसके उत्पादन में हुआ, अन्तर होता है। दूसरे शब्दो में उत्पादन के साधनो के व श्रम शक्ति के

1. 'Capital' Vol 1, Part 1 Chap. 1, Sec 1.
2 Ibid, Part III, Ch. VII, Sec 2.

मूल्य का अन्तर यह अतिरेक मूल्य होता है।"[1] इस अतिरेक मूल्य के द्वारा पूजीपति अधिक श्रम खरीद कर और अधिक अतिरेक मूल्य प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। अस्तु, पूजीपति-वर्ग श्रम-वर्ग का शोषण कर अधिक धनवान हो जाता है। इस प्रकार मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने अपना शोषण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

६. मूल्य के श्रम सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Labour Theory of Value)—श्रम सिद्धान्त की कई प्रकार से आलोचना की गई है। कुछ आलोचनाओ का सम्बन्ध तो रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित साधारण सिद्धात से है, पर दूसरी आलोचनाओ का मुख्य विषय इस सिद्धात का समाजवादियो और विशेषकर कार्ल मार्क्स द्वारा स्पष्टीकरण है। आलोचना के विभिन्न दृष्किोण ये है—

(i) श्रम कई प्रकार और कई श्रेणी का है। इसलिए उसका कोई समान माप नही हो सकता। उदाहरण के लिए, हम सडक पर पत्थर तोडने वाले एक मजदूर को तुलना लडाई के मैदान में शत्रु के आक्रमण को तोडने वाले सेनापति के श्रम से नही कर सकते। इसी प्रकार अपने नाटको के लिखाने वाले बर्नार्ड शॉ के श्रम की तुलना उसके टाइपिस्ट के श्रम से नही कर सकते, जो उन्हें टाइप करता है। सब प्रकार के श्रम को रीति की शक्ति से गिराकर अकुशल श्रम के स्तर पर ला देना कोई सन्तोष-जनक व्याख्या नही है। आजकल के परिवर्तनशील ससार में "साधारणतया आवश्यक श्रम के समय का विचार भी कोई विशेष महत्त्व नही रखता।

(ii) वस्तु का मूल्य उत्पादन में श्रम के सम्मिलित हो जाने के उपरान्त भी अक्सर घटा-बढा करता है। मार्क्स ने इस विशेषता को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है कि यदि उस समय में, जो किसी वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है, कोई परिवर्तन होता है, तो उस वर्ग की सब वस्तुओ पर उसका प्रभाव पडता है। इससे स्पष्ट है कि मार्क्स ने सदैव पुनरुत्पादन (reproduction) की लागत पर ही अधिक ध्यान दिया, उत्पादन पर नही। इसलिए श्रम को मूल्य का मूल कारण नही कहा जा सकता। हा, इतना अवश्य है कि मार्क्स के अनुसार श्रम मूल्य का माप हो सकता है। पर यह दोनो विचार एक से नही है।

(iii) इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में उन वस्तुओ का कोई वर्णन नही है, जिनका मूल्य तो होता है, पर जिनके उत्पादन में किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। इसमें उन वस्तुओ का भी कोई वर्णन नही है जिनके श्रम से सम्बन्धित मूल्य का कोई ठीक अनुपात नहीं होता। पहली वस्तु का उदाहरण एक ऐसा स्रोत है, जिममें औषधि का मिश्रण है, अथवा मृत व्यक्ति के हस्ताक्षर, प्राचीन कलाकारो के चित्र व मूर्तियो आदि से दिया जा सकता है। फिर श्रम का अनुचित प्रयोग भी हो सकता है ऐसी दशा में यह श्रम किसी प्रकार के मूल्य का उत्पादन नही करेगा।

(iv) फिर आधुनिक काल के प्रतियोगी साम्यावस्था (competitive equilibrium) के दृष्टिकोण से भी मार्क्स के 'अतिरेक मूल्य' के सिद्धात की जो

1 Ibid, Part III, Ch VII, Sec. 2

कि श्रम-सिद्धान्त पर आधारित है आलोचना की गई है। प्रतियोगितापूर्ण स्थिति मे अतिरेक मूल्य समाप्त हो जाना चाहिए। विट्टाकर (Whittaker) के शब्दो में यदि एक फर्म का उत्पादन उस उद्योग के कुल उत्पादन के अनुपात में बहुत कम है (जैसा कि अग्रेजी वस्त्र उद्योग में उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक था जिससे मार्क्स ने बहुत से उदाहरण लिये हैं) तो एक फर्म के उत्पादन में किसी प्रकार की वृद्धि से वस्तु के बाजार भाव पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा और इसलिये उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई के अतिरेक मूल्य में कोई वास्तविक परिवर्तन नही होगा। यदि अधिक इकाइयो का उत्पादन होगा तो फर्म की कुल अतिरेक मूल्य में वृद्धि होगी। फलस्वरूप फर्म अपने उत्पादन की मात्रा बढाने का प्रयत्न करेगी। यही नही, उस उद्योग के सभी कारखाने इस बात का प्रयत्न करेंगे और यदि उत्पादन बढ जायगा तो वस्तु का बाजार भाव गिरने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अतिरेक मूल्य कम होते-होते समाप्त हो जायगा।"[1]

इस प्रकार ऊपरी तौर से मूल्य का श्रम सिद्धान्त न्याय व समन्याय (justice and equity) पर आधारित अवश्य प्रकट होता है पर इससे मूल्य की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नही होती।

७. मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धात (The Cost of Production Theory of Value)—कैन्टिलन (Cantillon) ने किसी वस्तु के मूल्य की (जिसे वह वास्तविक मूल्य कहते थे) परिभाषा इस प्रकार की है. "किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन मे प्रयोग होने वाले श्रम व भूमि की मात्रा के माप को कहते हैं। पर ऐसे माप मे भूमि की उर्वरता व श्रम के गुण का ध्यान रखना चाहिये।" पर इस मूल्य का वस्तु के बाजार भाव से कोई सामजस्य नही होता, क्योकि उसका बाजार मूल्य तो उपभोक्ताओ की माग पर निर्भर होता है। इस प्रकार उन्होने मूल्य के पुरातन सिद्धात की नीव डाली, जिसको बाद में एडम स्मिथ (Adam Smith), सीनियर (Senior) व जान स्टुअर्ट मिल (J S. Mill) ने भी विस्तृत किया।

जिस मूल्य को कैन्टिलन "वास्तविक मूल्य" कहते थे, उसे आगे चल कर एडम स्मिथ "स्वाभाविक मूल्य" ('natural value') व मार्शल "सामान्य मूल्य" ('normal value') कहने लगे। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का स्वाभाविक तथा सामान्य मूल्य उसके उत्पादन की लागत पर निर्भर करता है।

रिकार्डो पूजी को बीता-हुआ श्रम कहते हैं। लेकिन सीनियर का कहना है कि ब्याज प्रतीक्षा अथवा धन से वचित रहने का भुगतान है। उनका विश्वास था कि सयम (abstinence) से रहना भी उत्पादन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि श्रम। सयम एक प्रकार का त्याग है और इसलिए उत्पादन की वास्तविक लागत, जिससे मूल्य निश्चित होता है, केवल श्रम में ही नही बल्कि श्रम व सयम दोनो में होती है। यही नही, उसने लागत में से भूमि के लगान को भी निकाल दिया। सीनियर का सिद्धात

1. Whittaker . A History of Economic Ideas, pp 429-30

बहुत कुछ एडम स्मिथ के सिद्धान्त पर आधारित था। उसे इस बात का ज्ञान था कि चूंकि प्रतियोगिता कभी पूर्ण नहीं होती, इसलिए मूल्य केवल दीर्घकाल में ही उत्पादन लागत के बराबर होता है।

मिल यह मानते थे कि सयम का लागत पर प्रभाव पडता है पर उन्होने "प्राप्ति के नियमो" ("laws of return") के प्रभाव का विश्लेषण करके इस सिद्धान्त को और भी विस्तृत कर दिया है। सीनियर की भाति वह भी मूल्य व लागत के सामजस्य को दीर्घकालिक विशेषता समझते थे। पर मिल ने श्रम व सयम के वास्तविक लागत की अपेक्षा मुद्रा व्यय ही पर अधिक जोर दिया, और यही पर मार्शल ने मिल के मूल्य के लागत सिद्धान्त (cost theory of value) को आगे बढाया।

मार्शल के लिए उत्पादन लागत कैंची का केवल एक फाल है। उसका कहना था कि मूल्य रूपी कैंची का एक फाल तो उत्पादन लागत है, और दूसरा सीमान्त उपयोगिता (marginal utility)। मार्शल ने वास्तविक लागत तथा मुद्रा-लागत को यह कहकर समान करने का प्रयत्न किया कि यद्यपि मुद्रा-व्यय उद्यमी की दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण है, पर समुदाय के लिए सबसे अधिक महत्त्व वास्तविक लागत (कठिन प्रयत्न व प्रतीक्षा) का ही है। इसके अतिरिक्त उसका विश्वास था कि यदि प्रयत्नो के रूप में मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर रहे, और प्रतीक्षा के भुगतान की दर भी स्थिर रहे तो लागत का मुद्रा में माप वास्तविक लागत के समान ही होगा। पर साथ ही साथ मार्शल का यह भी कहना है कि "इस प्रकार का सामजस्य सदैव नही मान लेना चाहिए।"

हम देख चुके है कि उद्यमी के व्यय के रूप में उत्पादन लागत का विचार, वैसे गणना की दृष्टि से चाहे कितना ही लाभदायक क्यो न हो, पर मूल्य की समस्या की कोई व्याख्या नही करता, क्योकि यह वस्तु की कीमत केवल उत्पादन के विभिन्न साधनो की कीमत के आधार पर ही इसकी व्याख्या करता है। जब तक प्रयत्नो के रूप में किए गए उत्पादन की वास्तविक लागत को मुद्रा लागत (money cost) में परिवर्तित न कर दिया जाय, तब तक इस प्रकार की लागत को हम उत्पादन लागत मे शामिल कर ही नही सकते। इसके अतिरिक्त लागत की धारणा में इस कठिनाई के अतिरिक्त उत्पादन लागत मूल्य सिद्धात में और भी बहुत सी त्रुटिया है।

आलोचना (Criticism)—निम्नलिखित कारणों से सिद्धान्त मूल्य विषय की उचित रूप की व्याख्या नही कर पाता —

इस सिद्धान्त में ऐसे श्रम व पूजी का, जिसका अनुचित उपयोग हुआ हो, कोई वर्णन नही है। उत्पादन के पश्चात् बहुत सम्भव है कि वस्तु का मूल्य बढ जाय। सिद्धान्त दुर्लभ वस्तुओ और विशेषकर ऐसी वस्तुओ, जैसे पुराने कलाकारो द्वारा निर्मित चित्र व मूर्तियो आदि के मूल्य की कोई व्याख्या नहीं करता। कुछ वस्तुएँ ऐसी है जिनकी उत्पादन लागत का अनुमान लगाना असम्भव होता है। ऐसा विशेष रूप से उन वस्तुओ में होता है जो उप-उत्पाद के रूप में अथवा मिलाकर तैयार की जाती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न फर्म व हर फर्म की विभिन्न इकाइयों के अनुसार

उत्पादन लागत मे भिन्नता आ जाती है, ौर ऐसी परिस्थिति मे यह निश्चित करना कठिन होता है कि इनमें से किस फर्म की लागत मूल्य निर्धारित करती है।

सच तो यह है कि दुर्लभता (scarcity) व माग के पारस्परिक सम्वन्ध से ही मूल्य निर्धारित होता है। वस्तु की यह दुर्लभता उत्पादन की अधिक लागत के अतिरिक्त अन्य कारणो से भी हो सकती है। यदि यह दुर्लभता अधिक उत्पादन लागत के कारण होती है, तो इसके अर्थ केवल यह होते है कि विभिन्न प्रयोगो में माग होने के कारण उत्पादन के साधन दुर्लभ हो गए है। इसलिए उपयोगिता अथवा उत्पादन के दुर्लभ साधनो की प्रतियोगी मागो के आधार पर उत्पादन लागत की व्याख्या की जा सकती है। लागत का यह नवीन विचार मूल्य की सीमान्त उपयोगिता सिद्धात (utility theory of value) से सम्वन्धित है।

८. पुनरुत्पादन लागत का सिद्धात (Cost of Reproduction Theory)—ऐसा बहुत कम होता है कि किसी वस्तु का सामान्य मूल्य उत्पादन लागत के वराबर ही हो। परिवर्त्तनशील ससार मे यह आवश्यक नहीं है कि दीर्घकाल मे उत्पादन लागत किसी एक दिन की उस लागत के वरावर ही हो। अधिकतर ऐसा है कि दीर्घकाल में उत्पादन लागत उस लागत के वरावर होती है, जो वस्तु के पुनरुत्पादन में लगती है। इसलिए केरी (Carey) का कहना है कि सामान्य मूल्य को समझने के लिए उत्पादन लागत की अपेक्षा पुनरुत्पादन लागत का सिद्धात अधिक उपयोगी होगा।

पर इससे कोई विशेष लाभ नही होता। मार्शल के अनुसार उत्पादन की सामान्य लागत व पुनरुत्पादन की सामान्य लागत ऐसे शब्द है, जिनको एक दूसरे के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है। वास्तव में किसी वस्तु की दीर्घकाल में उत्पादन लागत क्या होगी, इसके अर्थ ही यह है कि पुनरुत्पादन (reproduction) की लागत क्या होगी।

यद्यपि यह अवश्य है कि पुनरुत्पादन के मूल्य व लागत में उत्पादन के मूल्य व लागत की अपेक्षा अधिक समानता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि पुनरुत्पादन की लागत ही मूल्य निर्धारित करती है। इस सम्वन्ध में उन सव आरोपो का जो उत्पादन लागत सिद्धात के विषय में वताये गये है, यहा उल्लेख किया जा सकता है।

यदि कोई सुगमता से उस समय तक प्रतीक्षा कर सके, जव वस्तु का पुनरुत्पादन सम्भव होगा तो पुनरुत्पादन के व्यय का कुछ प्रभाव वस्तु के मूल्य पर हो सकता है। जव तक नई पूर्ति नही आती, उस समय तक तो माग की तीव्रता (intensity of demand) पर ही मूल्य निर्भर होगा।

कुछ उदाहरण ऐसे भी है जव कि पुनरुत्पादन की लागत का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता। मार्शल के शब्दो में "किसी घिरे हुए शहर में अनाज, किसी रोगग्रस्त द्वीप में कुनीन जिसकी पूर्ति कम हो गई है, राफेल के चित्र, ऐसी पुस्तक, जिसे पढना कोई पसन्द नही करता, पुराने ढग का जगी जहाज, आधिक्य या कमी के वाजार में मछली, फूटी हुई घटी, पुराने रिवाज की पोशाक अथवा नष्ट गांव में किसी मकान इत्यादि

की कीमत तथा पुनरुत्पादन की लागत (price and cost of production) में कोई सम्बन्ध नही होता।"[1]

६ मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धात का विकास (Development of Marginal Utility Theory of Value)—यह देखा जा चुका है कि श्रम सिद्धान्त अथवा उत्पादन-लागत सिद्धात या पुनरुत्पादन लागत सिद्धात ने मूल्य की कोई सतोषजनक व्याख्या नही की है। अब हम तीसरे सिद्धात अर्थात् सीमान्त उपयोगिता के सिद्धात का अध्ययन करेंगे। बारबौन (Barbon) (१६४०-१६९८) व टरगोट (Turgot) (१७२७-१७८१) आदि प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने मूल्य का आधार उपयोगिता (utility) को माना है। पर लाडर डेल (Lauderdale) (१७५९-१८३०) ने यह बताया कि मूल्य के लिए उपयोगिता व दुर्लभता (utility and scarcity) दोनो का होना आवश्यक है। उनका विश्वास था कि मनुष्य की किसी वस्तु को पाने की इच्छा तथा मूल्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह माग की लोच से भी परिचित थे। जहा तक उत्पादन या पूर्ति (production or supply) का प्रश्न है, उन्होने लाक (Locke) कैन्टिलन (Cantillon) व एडम स्मिथ (Adam Smith) के विचारो का आश्रय लिया। पर माग के सम्बन्ध में वह सीमान्त उपयोगिता को मानने वाले लोगो में से सर्वप्रथम थे।

पिछली शताब्दी के १८२१ से १८३० वर्षो में एफ डब्लू लॉयड (F W Lloyd) ने उपयोगिता व मूल्य के सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या की। उसने लोगो का ध्यान इस तत्व की ओर आकर्षित किया कि वस्तु की पूर्ति बढ जाने से मनुष्य के लिए उसका मूल्य कम हो जाता है। यही सिद्धान्त बाद में घटती हुई प्राप्ति के नियम से विख्यात हुआ। यही नही, उसे सीमान्त उपयोगिता का भी ज्ञान था। उसका विश्वास था कि सीमान्त उपयोगिता व उत्पादन लागत में से जो भी कम होता है, मूल्य उसी के बराबर होता है।

सीनियर (१७९०-१८६४) उपयोगिता की घटती हुई प्राप्ति सिद्धान्त (principle of diminishing utility) को तो मानता था पर उसका कहना था कि क्योंकि मानवीय आवश्यकतायें अतृप्य होती हैं, इसलिये व्यक्ति सदा विभिन्न प्रकार की विलासिता की वस्तुओ की माग करता है। सीनियर यद्यपि उपयोगिता के महत्व को मानते थे पर वह अनुमोदन सदैव उत्पादन लागत के सिद्धान्त का ही करते थे। वह माग व पूर्ति की शक्तियो का सश्लेष (synthesis) न कर सके, जिसको कि बाद में मार्शल को करना पडा।

आयरलैण्ड के लाग फील्ड (Long Field), जरमनी के वान थुनेन (Von Thunen) व फ्रास के डूपी (Dupeit) सीनियर के समकालीन थे। पहले दानो अर्थशास्त्रियो ने मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त की व्याख्या बडे अनोखे ढग से की और वे वितरण की समस्या से अधिक सम्बन्धित थे। डूपी (Dupeit) ने घटते

1 Marshall—Principles of Economics, 1936 p 402

हुए उपयोगिता सिद्धान्त को रेखाचित्र द्वारा बड़े अच्छे ढग से समझाया। बाद मे मार्शल ने इस विचार का नाम 'उपभोक्ता की बचत' ('consumer's surplus') रक्खा, उसका भी प्रतिपादन सर्वप्रथम डूपी ने ही किया था। डूपी इस सिद्धान्त को "सापेक्ष उपयोगिता" (relative utility) कहते थे।

सीमान्त उपयोगिता के विचारको में सर्वप्रथम जर्मन अर्थशास्त्री एच एच गॉसेन (H H Gossen) थे (१८१०-१८५६)। इनके सिद्धान्त बहुत कुछ डब्लू एस. जीवन्स (W. S Jevons) के सिद्धान्तो के अनुकूल थे। यद्यपि जीवन्स को इस बात का ज्ञान नही था, पर यह सच है कि उनकी व गॉसेन की पुस्तकें साथ ही साथ प्रकाशित हुई थी।

योरुप के तीन देशो में १८७० के लगभग अर्थशास्त्रियो का एक नवीन विचार-धारा का समूह प्रकट हुआ। इस समूह के विशिष्ट लोग यह थे—आस्ट्रिया में कार्ल मेंजर (Carl Menger) (१८४०-१८८१), वालरस (Walras) (१८३४-१९१०), स्विटजरलड व इगलैंड मे जीवन्स (Jevons)। यह लोग एक ही समय के थे। फलस्वरूप उपयोगिता के सिद्धान्त पर अर्थशास्त्र में एक नई विचारधारा की स्थापना हुई। उनके विचार बिल्कुल नवीन तो नही थे, पर उन्होने अपने विचारो को अधिक विस्तारपूर्वक लोगो के सामने रखा, और परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी योरोप में उनका अपना विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया।

"अन्तिम उपयोगिता" (Final utility) (जो बाद में सीमान्त उपयोगिता के नाम से विख्यात हुई) के आधार पर जीवन्स ने अपने विनिमय के सिद्धात का प्रतिपादन किया। उनका निष्कर्ष यह था "किन्ही दो वस्तुओ की विनिमय दर उन वस्तुओ की उन मात्राओ की उपयोगिता के अनुपात मे होगी, जो विनिमय के उपरान्त उपभोग के लिए प्राप्त हो सकती है।" इससे उनका आशय था कि मूल्य सीमान्त उपयोगिता के अनुकूल होता है।

१८९० के बाद एक पीढी तक इगलैण्ड के आर्थिक विचारो पर मार्शल का प्रभाव रहा और फलस्वरूप उस देश मे जीवन्स का सीमान्त उपयोगिता सिद्धात अधिक महत्त्व न पा सका। मार्शल ने अपने सिद्धान्त में माग के सम्बन्ध में जीवन्स के विचार का तथा उत्पादन अथवा पूर्ति के सम्बन्ध में मिल के सिद्धान्त का अनुकरण किया। इस प्रकार उन्होने मूल्य के एक नवीन सिद्धान्त को जन्म दिया, जिसमें उन्होने एक कची के दो फालो का उदाहरण दिया।

योरोप में जीवन्स के समकालीन मेंजर व वालरस का बडा प्रभाव था।

इनके बाद बाम बावर्क (Bohm Bawerk) व वीजर (Weiser) हुए। अर्थशास्त्रियो का यह ग्रुप "आस्ट्रियन स्कूल" के नाम से विख्यात है।

मार्शल के उत्पादन की लागत के विचार के प्रतिकूल वीजर ने विकल्प (alternative) अवसर अथवा हस्तान्तरण-लागत के एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका विश्वास था कि केवल श्रम व सयम के कारण उठाये गये कष्ट ही से लागत का अनुमान नही होना, बल्कि उपयोगिताओ व सुखो का त्याग भी लागत में सम्मिलित है।

इस प्रकार उन्होने उपयोगिता के रूप मे लागत का विचार किया और हमारे सन्मुख मूल्य का एकात्मक (monistic) रूप रक्खा, जो मार्शल के द्वैतभाव (dualities) से भिन्न था। इस सिद्धान्त के महत्त्व का अध्ययन मूल्य के सिद्धान्त में किया जा चुका है (विभाग २)।

१०. मूल्य का सीमान्त-उपयोगिता सिद्धात (Marginal Utility Theory of Value)—मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार **सीमान्त उपयोगिता द्वारा वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है।** दूसरे शब्दों में **वस्तु की दुर्लभता (scarcity) से सम्बन्धित माग ही मूल्य निर्धारित करती है। उत्पादन लागत का एकमात्र कार्य वस्तु की दुर्लभता निर्धारित करना है।** महत्त्वपूर्ण बात तो वस्तु की दुर्लभता ही है, चाहे उसके कारण कुछ भी हो। अस्तु, चाहे वस्तु पुनरुत्पादन के योग्य हो अथवा नही, चाहे उसकी दुर्लभता का कोई भी कारण क्यो न हो (वस्तु की स्थिर मात्रा अथवा उत्पादन के साधनो की दुर्लभता के कारण उसके उत्पादन में कठिनाइया) मूल्य का निर्धारण वही सिद्धात करेगा। पर चूकि बढे हुए भाव, बढी हुई माग कीमत का ही दूसरा रूप है, इसलिए माग कीमत या उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता (जिस पर कि यह मूल्य निर्भर है) ही मूल्य निर्धारित करती है। यह मूल्य की एकात्मक व्याख्या है।

उपर्युक्त बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्य के इस सिद्धात मे व उत्पादन लागत के सिद्धात में बहुत थोडा अन्तर है, क्योकि उत्पादन लागत सिद्धात को मानने वाले भी यह कहते हैं कि उत्पादन-लागत पूर्ति निर्धारित करती है, जिससे कीमत निश्चित होती है। पर वास्तव में दोनो सिद्धात एक दूसरे से मूल रूप में भिन्न हैं। **सीमान्त उपयोगिता के सिद्धात के अनुसार उत्पादन-लागत पर मूल्य निर्भर नहीं होता। यह अवश्य है कि उत्पादन-लागत न्यूनता पर प्रभाव डालती है, किन्तु वह भी परोक्ष रूप से।** दुर्लभता तो एक सापेक्ष शब्द है। कोई वस्तु अपनी माग के अनुसार दुर्लभ होती है। उदाहरण के लिए दुर्लभ वस्तुओ की कमी का कारण उनकी उत्पादन-लागत नही होती। **इसलिए उत्पादन-लागत नहीं बल्कि परस्पर प्रतियोगी मांगें (competing demands) मूल्य निश्चित करती है।** इन मागो के अनुसार वस्तुओ की पूर्ति व लागत अपने आपको व्यवस्थित कर लेती हैं। विकल्पों (alternatives) के त्याग के रूप में ही लागत, जिन्हें अवसर, वैकल्पिक तथा हस्तातरण लागत भी कहते हैं, कीमत व मूल्य पर कुछ प्रभाव डालती है। दीर्घ काल में माग में उपक्रमी के वह सब व्यय सम्मिलित हो जाते है, जो उत्पादन के विभिन्न साधनो को इकट्ठा करने में उसे करने पडते हैं। इसलिए लागत का यह सिद्धात उपयोगिता पर आश्रित है।

यही कारण है कि वर्तमान रूप में सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त 'एकात्मक' ('monistic') कहलाता है और यह मार्शल की दुहरी (dual) व्याख्या से भिन्न है। **मार्शल का विश्वास था कि उपयोगिता व लागत दो स्वतन्त्र वर्ग होते हैं जो मूल्य के निर्धारण में समान रूप से सहयोग देते हैं।** उनके महत्त्व की मात्रा समय

अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। पर एकात्मक व्याख्या की उत्पादन लागत भी उपयोगिता का एक अंग है, इसलिए वह स्वतन्त्र वर्ग नहीं मानी जा सकती। और चूंकि लागत वैकल्पिक उपयोगिता प्रकट करती है इसलिए पूर्ति व माग दोनो ही उपयोगिता पर निर्भर होती है।[1]

पर आस्ट्रियन स्कूल व उनके समर्थको ने, जिनमे मुख्य अर्थशास्त्री विकस्टीड (Wicksteed) है, पूर्ति व माग की शक्तियो के समीकरण को और भी बढ़ा दिया है। विकस्टीड[2] ने यह प्रमाणित किया है कि बाजार मे गाहक व विक्रेताओ के मस्तिष्क मे काम करने वाली शक्तियो में कोई विशेष अन्तर नही होता। जब निश्चित कीमत, जिसे क्रेता की सुरक्षित कीमत (seller's reserve price) कहा जाता है, गिर जाती है तो विक्रेता वस्तु को बाजार से हटा लेता है। ऐसी परिस्थिति-म वह ग्राहक की हैसियत में दिखाई देता है। दूसरे शब्दो मे कीमत के एक विशेष स्तर पर पहुच जाने पर वह स्वय एक तरह से अपनी वस्तु को क्रय करना प्रारम्भ कर देता है। ब्रिग्ज (Briggs) व जारडन (Jordan) के शब्दो मे "नीलाम के समय इस प्रकार के सब विक्रेता, जिन्हे लोग नही पहचानते, कीमतें बढाने के निमित्त प्रतियोगिता में सम्मिलित हो जाते है।"[3]

आजकल सीमान्त उपयोगिता सिद्धात मूल्य का सर्वमान्य सिद्धात है। यद्यपि इसको सर्वप्रथम जीवन्स व योरोप के कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो—आस्ट्रियन मत के विजर, बामबावर्क तथा मेंगर सरीखे अर्थशास्त्रियो, ने १०वी शताब्दी के अन्त में प्रतिपादित किया था, पर वास्तव म विक्स्टीड,[4] विक्सेल[5] (Wicksell), डेवनपोर्ट[6] (Davenport), कैसेल[7] (Cassel) आदि ने ही इसको वर्तमान रूप दिया है।

सीमान्त उपयोगिता का सिद्धात मूल्य का सर्वमान्य सिद्धात इसलिए है क्योंकि

(क) यह हर समय के मूल्य की व्याख्या करता है, चाहे वह समय थोडा हो या अधिक,

(ख) माग अथवा पूर्ति या दोनो मे होने वाले परिवर्तनो के कारण मूल्य में जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनका स्पष्टीकरण यह सिद्धात करता है, तथा

(ग) "दुर्लभ, खराब, अपूर्ण अथवा नष्ट वस्तुओ के मूल्य की एकमात्र सतोषजनक व्याख्या इसी सिद्धान में मिलती है। ऐसी वस्तुओ के मूल्य का कोई सबध उत्पादन-लागत से नही होता। यह सिद्धात पानी, धूप आदि ऐसी वस्तुओ के मूल्य का भी स्पष्टीकरण करता है, जो अत्यधिक उपयोगी होते हुए भी विशेष मूल्यवान नही होती।"

---

1 Whittaker—A History of Economic Ideas, p 458
2 Wicksteed—Commonsense of Political Economy, Vol II Ch 4.
3 Briggs & Jordan—Text Book of Economics, p 78
4 Commonsense of Political Economy
5 Lectures on Political Economy
6 Econom... of E...

११ प्राप्ति के नियमो का मूल्य पर प्रभाव (The Influence of the Laws of Returns on Value)—यह देखा जा चुका है कि किसी निश्चित समय मे मूल्य माग व पूर्ति के सबध से निर्धारित होता है, पर दीर्घकाल में इसकी प्रवृत्ति, उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने की होती है। उत्पादन के नियम उत्पादन लागत पर और फलस्वरूप दीर्घकाल मे मूल्य पर प्रभाव डालते हैं। अब देखना यह है कि उत्पादन के इन तीनो नियमो का मूल्य पर क्या प्रभाव पडता है।

१ **घटती हुई प्राप्ति का नियम** (Law of Diminishing Returns)—यदि किसी उद्योग मे इस नियम का प्रभाव हो तो जितना भी अधिक उत्पादन होगा, प्रति इकाई व्यय उतना ही अधिक होगा। इसके प्रतिकूल उत्पादन जितना ही कम होगा, व्यय भी उतना ही कम हो जायगा। यदि वस्तु की माग वढ जाती है, तो मूल्य भी वढेगा और इससे पूर्ति मे वृद्धि होगी। पर अतिरिक्त पूर्ति (additional supply) प्राप्त करने मे औसत लागत वढ जायगी और इसलिए मूल्य वढे रहेंगे।

२ **वढती हुई प्राप्ति का नियम** (Law of Increasing Returns)—पर यदि उद्योग वृद्धि उत्पादन नियम के प्रभाव में है, तो अतिरिक्त पैदावार (additional output) अनुपात से कम लागत पर प्राप्त होगी। ऐसी दशा मे माँग वढ जायगी तो पूर्ति कम लागत पर प्राप्त हो सकेगी। फलस्वरूप कीमत गिर जाएगी। माग के वढने से कीमत में वृद्धि अवश्य होगी पर दीर्घ-काल में जब पूर्ति भी वढ जायगी तब अन्त में कीमत में कमी हो जायगी। लेकिन यदि माग मे वृद्धि हो तो इसके बिलकुल विपरीत होगा। पर यदि माग कम हो जाती है, तो उत्पादन में भी कमी होगी, और वढती हुई प्राप्ति नियम में इसका परिणाम यह होगा कि औसत लागत वढ जायगी। अस्तु, इस दशा में कीमत में पूर्ति के विपरीत परिवर्तन होता रहता है, अर्थात् अधिक पूर्ति पर कम कीमत और कम पूर्ति पर अधिक कीमत होगी।

३ **प्राप्ति का स्थिर नियम** (Law of Constant Returns)—प्राप्ति के स्थिर नियम की दशा में उत्पादन के हर परिमाण में लागत स्थिर रहती है। इसलिए यदि माग घटने-वढने के कारण पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी करनी पडती है, तो उसका कोई प्रभाव कीमत पर नही पडता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राप्ति (returns) के नियमो का प्रभाव केवल दीर्घकाल मे ही होता है। या इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उत्पादन के नियम सामान्य मूल्य (normal value) को प्रभावित करते हैं, प्रचलित मूल्य (market value) को नही।

निर्देश पुस्तके

Adam Smith—Wealth of Nations (Cannan's Edition)

Recardo—Principles of Political Economy and Taxation (Saraffa's Edition)

Jevons—The Theory of Political Economy (Third Edition) p 95 onwards

अध्याय २२

परस्पर निर्भर मूल्य

(INTER RELATED VALUES)

१ सयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—पृथक् माग (isolated demand) की समस्या बहुत कम पैदा होती है। यही स्थिति पृथक् पूर्ति (isolated supply) की भी है। माग पक्ष में, न सिर्फ संयुक्त रूप से माल की माग होती है जो परस्पर प्रतिस्थापन (substitutes) करते है बल्कि व्यक्ति की भिन्न मागें परस्पर सम्बद्ध हो जाती है। ऐसा इस कारण से होता है चूकि उसकी आय सीमित होती है और उसे प्रतियोगी मागो में बाँटना पडता है। इसी प्रकार, पूर्ति पक्ष में भी, न सिर्फ सयुक्तपूर्ति की समस्या बनी रहती है बल्कि उत्पादन के साधन दुर्लभ (scarce) होने के कारण पूर्तिया परस्पर सम्बद्ध (inter-connected) हो जाती है। अब हमें यह देखना है कि परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओ की दशा मे मूल्य (value) किस तरह निश्चित होता है। पहले सयुक्त-पूर्ति को ही लीजिए, यदि दो या दो से अधिक वस्तुओ का उत्पादन साथ-साथ होता है, तो उनकी पूर्ति सयुक्त मानी जाती है अथवा उसे सयुक्त उत्पादन कहते हैं। उदाहरण के लिए, गोश्त और ऊन, गेहूं व भूसा; कपास व बिनौला; कोयला व गैस आदि।

प्रत्येक वस्तु की पूर्ति व माग का साम्य उसका बाजार भाव निर्धारित करता है। जहाँ तक सामान्य कीमत (normal price) का सम्बन्ध है, वहाँ सयुक्त उत्पादन की वस्तुओ की कीमतो के योग से उन सब के उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) पूरी हो जानी चाहिए।

ऐसी स्थिति मे या तो वे दोनो वस्तुएँ (यदि वे दो हो तो) एक ही अनुपात में भी बनती है, अथवा उनके अनुपात मे भिन्नता भी हो सकती है। पहली स्थिति मे तो एक वस्तु की कीमत के तनिक भी बढने से दूसरे की कीमत तुरन्त गिरने लगेगी। पर शर्त यह है कि दूसरी वस्तु की माग मे कोई परिवर्तन न हुआ हो। दूसरी स्थिति मे क्योकि अनुपात मे भिन्नता हो सकती है, इसलिए एक वस्तु की कीमत में किसी प्रकार की वृद्धि से दूसरी वस्तु की कीमत मे उसी मात्रा मे कमी नही होगी, जिस मात्रा मे कि प्रथम उदाहरण में हुई थी।

उदाहरण, के लिए, मास व ऊन को ले लीजिये, जो भेड के सयुक्त उत्पादन (joint product) है। यदि ऊन की माग बढ जाय, तो उसकी कीमत मे वृद्धि हो जायगी और ऊन का उत्पादन अधिक लाभदायक बन जायगा। फलस्वरूप ऊन के लिए अधिक भेडे पाली जायेगी जिससे भेड के मास की पूर्ति बढ जायगी। यदि मास की माग स्थिर (constant) रहती है तो उसकी कीमत गिर जायगी। पर यदि किसी प्रकार

११ प्राप्ति के नियमो का मूल्य पर प्रभाव (The Influence of the Laws of Returns on Value)—यह देखा जा चुका है कि किसी निश्चित समय मे मूल्य माग व पूर्ति के सबध से निर्धारित होता है, पर दीर्घकाल मे इसकी प्रवृत्ति, उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने की होती है। उत्पादन के नियम उत्पादन लागत पर और फलस्वरूप दीर्घकाल मे मूल्य पर प्रभाव डालते हैं। अब देखना यह है कि उत्पादन के इन तीनो नियमो का मूल्य पर क्या प्रभाव पडता है।

१ **घटती हुई प्राप्ति का नियम** (Law of Diminishing Returns)—यदि किसी उद्योग में इस नियम का प्रभाव हो तो जितना भी अधिक उत्पादन होगा, प्रति इकाई व्यय उतना ही अधिक होगा। इसके प्रतिकूल उत्पादन जितना ही कम होगा, व्यय भी उतना ही कम हो जायगा। यदि वस्तु की माग वढ जाती है, तो मूल्य भी वढेगा और इससे पूर्ति में वृद्धि होगी। पर अतिरिक्त पूर्ति (additional supply) प्राप्त करने मे औसत लागत वड जायगी और इसलिए मूल्य वढे रहेगे।

२ **वढती हुई प्राप्ति का नियम** (Law of Increasing Returns)—पर यदि उद्योग वृद्धि उत्पादन नियम के प्रभाव में है, तो अतिरिक्त पैदावार (additional output) अनुपात से कम लागत पर प्राप्त होगी। ऐसी दशा में मांग वढ जायगी तो पूर्ति कम लागत पर प्राप्त हो सकेगी। फलस्वरूप कीमत गिर जाएगी। माग के वढने से कीमत में वृद्धि अवश्य होगी पर दीर्घ काल में जब पूर्ति भी वढ जायगी तब अन्त में कीमत में कमी हो जायगी। लेकिन यदि माग में वृद्धि हो तो इसके बिलकुल विपरीत होगा। पर यदि माग कम हो जाती है, तो उत्पादन में भी कमी होगी, और वढती हुई प्राप्ति नियम में इसका परिणाम यह होगा कि औसत लागत वढ जायगी। अस्तु, इस दशा में कीमत मे पूर्ति के विपरीत परिवर्तन होता रहता है, अर्थात् अधिक पूर्ति पर कम कीमत और कम पूर्ति पर अधिक कीमत होगी।

३ **प्राप्ति का स्थिर नियम** (Law of Constant Returns)—प्राप्ति के स्थिर नियम की दशा में उत्पादन के हर परिमाण में लागत स्थिर रहती है। इसलिए यदि माग घटने-वढने के कारण पूर्ति मे वृद्धि अथवा कमी करनी पडती है, तो उसका कोई प्रभाव कीमत पर नही पडता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राप्ति (returns) के नियमो का प्रभाव केवल दीर्घकाल में ही होता है। या इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उत्पादन के नियम सामान्य मूल्य (normal value) को प्रभावित करते हैं, प्रचलित मूल्य (market value) को नही।

निर्देश पुस्तके

Adam Smith—Wealth of Nations (Cannan's Edition)

Recardo—Principles of Political Economy and Taxation (Saraffa's Edition)

Jevons—The Theory of Political Economy (Third Edition) p. 95 onwards

है। व्युत्पन्न माग उन पदार्थों व सेवाओ की होती है जिनके द्वारा वस्तु का उत्पादन होता है।

जब दो वस्तुए सपूरक होती हे, जैसे फाउन्टेनपेन तथा स्याही, तो एक वस्तु (फाउन्टेनपेन) की माग मे वृद्धि दूसरी (स्याही) की माग भी वढा देगी। यदि एक की भी कीमत घट जायगी तो दोनो की माग में वृद्धि हो जायगी। इसके अर्थ यह है कि यदि फाउन्टेनपेन की कीमत घट जाती है तो स्याही की कीमत वढ जायगी क्योकि उसकी माग भी वढ जायगी। इन कीमतो के वदलने की सीमा फाउन्टेनपेन की माग तथा स्याही की पूर्ति की लोच पर निर्भर होगी।

यह वात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि मकानो की माग अचानक वढ जाने से उनकी कीमत वढ जाती है। मकानो की कीमतो मे यह वृद्धि उनमे प्रयोग होने वाले पदार्थों की कीमत पर क्या प्रभाव डालेगी? इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि मकान वनाने मे प्रयोग होने वाले विभिन्न पदार्थो की माग वढ जाएगी। इससे उनकी कीमत मे वृद्धि होगी। पर उनमे से प्रत्येक की कीमत की वृद्धि की मात्रा समान नही होगी क्योकि प्रत्येक की पूर्ति की परिस्थितिया विभिन्न हैं। और यह भी सम्भव है कि उनके प्रयोग के अनुपात मे परिवर्तन करके उनकी माग को घटाया या वढाया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक की कीमत मे वृद्धि को निर्धारित करने मे वहुत सी परिस्थितिया काम करेगी। इनमे से मुख्य माग की लोच व दुर्लभता की मात्रा (elasticity of demand and degree of scarcity) हैं। अस्तु—

(क) यदि अन्य वाते समान हो तो जो वस्तु अधिक दुर्लभ होगी, उसकी कीमत मे वृद्धि होगी। (ख) यदि कुछ वस्तुओ की कीमत अधिक वढ जाये तो उनके प्रयोग के अनुपात को कम किया जा सकता है। ऐसी दशा में कीमत की यह वृद्धि कुछ हद तक रोकी जा सकती है। कुछ वस्तुओ की वजाय दूसरी सस्ती चीजे मिल जाती हैं, जिनसे उनकी कीमत अधिक नही वढ पाती। (ग) यह भी हो सकता है कि मकान के कुछ पदार्थ वैकल्पिक प्रयोगो (alternative uses) में अधिक लाभदायक हो, और इसलिए यदि मकान मालिक उनकी अत्यधिक कीमत न दें तो ऐसी दशा में उनको दूसरे प्रयोगो मे लाया जायगा और कीमतें अप्रत्याशित रूप से वढ जायेंगी। (घ) यदि किसी पदार्थ की लागत उत्पादित वस्तु की कुल लागत (total cost) से वहुत कम अनुपात मे हो तो उसकी कीमत अधिक वढ सकती है क्योकि इससे वस्तु की कीमत व फलस्वरूप उसकी माग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा। यदि किसी अंगभूत (constituent) की कीमत (जैसे श्रम) मकान की लागत के अत्यधिक भाग के वरावर होगी तो उसकी कीमत अधिक नही वढ सकती क्योकि इससे मकान की कीमत वढ जायगी व फलस्वरूप उसकी माँग कम हो जायगी। माग की कमी कीमत को फिर गिरा देगी और इसका प्रभाव उस पदार्थ पर जिसकी कीमत अचानक वढ गयी थी, उल्टा पडेगा।

इसलिये, इस प्रकार की सभी वस्तुओ की कीमत उस वस्तु की, जिसके उत्पादन मे इनका प्रयोग होता है, सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है, दीर्घकाल में

ऐसी भेडे प्राप्त हो जाती है जिनमे मास की अपेक्षा ऊन का उत्पादन अधिक हो सकता है तो ऊन की पूर्ति मास की पूर्ति मे अधिक मात्रा मे बढाना अधिक सरल हो जायगा। ऐसी दशा मे मास के दाम उतने नही गिरेंगे, जितने कि पहले उदाहरण मे गिर गये थ।

कुछ परिस्थितियो में किसी सयुक्त उत्पादन की वस्तु के विभिन्न समूहो (different combinations) की तुलना कर के वस्त की सीमान्त उत्पादन-लागत का अनुमान लगाया जा सकता है। मान लीजिये कि एक विशेप प्रकार की जाति की भेड के किसी समूह से एक निश्चित परिमाण मे माँस प्राप्त होता है और एक दूसरी जाति के अधिक बडे समूह से, जिसमे माँस की अपेक्षा ऊन अधिक निकलती है, अधिक मास प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। अब इस अतिरिक्त खर्चे (extra expense) से, जो अधिक भेडें पालन मे किया जाता है, उससे अधिक ऊन प्राप्त की जा सकेगी। यही ऊन की सीमान्त लागत (marginal cost) होगी। इस प्रकार माँस की भी सीमान्त लागत का हिसाब लगाया जा सकता है।[1] जब वस्तुओ की सीमान्त लागत का अनुमान पृथक् रूप से लगाया जा सकता है, तो उनकी कीमत का निर्धारण भी पृथक् रूप से होगा क्योकि ऐसी दशा मे इन वस्तुओ को पृथक् मान लिया जाता है।

१ सयुक्त उत्पादन आज की प्रणाली है (Joint Products are the Rule)—आजकल औद्योगिक तकनीक इतनी विकसित है कि बहुत कम वस्तुए ऐसी है, जिनका उत्पादन पृथक् रूप से होता है। इसलिए अर्थशास्त्र के अध्ययन में सयुक्त उत्पादन का बडा महत्त्व है। वह उपोत्पाद (by-products) जो पूर्वकाल मे फेंक दिये जाते थे, अब व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त हो रहे है। रेलो द्वारा सयुक्त लागत पर बहुत सी सेवाए मिल रही है। ऐसी सेवाओ (अथवा माल) की कीमतो का निर्णय इस आधार पर होता है कि यातायात (traffic) क्या सहार सकता है ('What the traffic will bear')। यद्यपि उत्पादन लागत सयुक्त है पर उत्पादित वस्तुए अनेक होती है, और हर प्रकार की वस्तु की पृथक् उत्पादन लागत का अनुमान लगाना सम्भव नही है। इसलिए इन वस्तुओ की कीमत सयुक्त पूर्ति के आधार पर निश्चित होती है।

२ सयुक्त माग (Joint Demand)—परस्पर सम्बन्धित माग दो प्रकार के सम्बन्ध प्रस्तुत करती है (1) सपूरक (complimentary) तथा (२) परिस्थापित (substitutive)। अब हम पहले सपूरक सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे।

जिन वस्तुओ की मांग साथ-साथ होती है, उनकी माग को सयुक्त माग कहते हैं। मोटरकार व पैट्रोल, कलम व स्याही, टैनिस बाल व रैकट आदि सयुक्त मागें है। इस सम्बन्ध मे व्युत्पन्न माग (derived demand) के उदाहरण बहुत महत्त्वपूर्ण

---

1 See Henderson Supply and Demand, pp 68-69

हैं। व्युत्पन्न माग उन पदार्थों व सेवाओ की होती है जिनके द्वारा वस्तु का उत्पादन होता है।

जब दो वस्तुए सपूरक होती हैं, जैसे फाउन्टेनपेन तथा स्याही, तो एक वस्तु (फाउन्टेनपेन) की माग मे वृद्धि दूसरी (स्याही) की माग भी बढा देगी। यदि एक की भी कीमत घट जायगी तो दोनो की माग में वृद्धि हो जायगी। इसके अर्थ यह है कि यदि फाउन्टेनपेन की कीमत घट जाती है तो स्याही की कीमत बढ जायगी क्योकि उसकी माग भी बढ जायगी। इन कीमतो के बदलने की सीमा फाउन्टेनपेन की माग तथा स्याही की पूर्ति की लोच पर निर्भर होगी।

यह बात इस उदाहरण मे स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि मकानो की माग अचानक बढ जाने से उनकी कीमत बढ जाती है। मकानो की कीमतो मे यह वृद्धि उनमे प्रयोग होने वाले पदार्थों की कीमत पर क्या प्रभाव डालेगी? इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि मकान बनाने मे प्रयोग होने वाले विभिन्न पदार्थो की माग बढ जाएगी। इसमे उनकी कीमत मे वृद्धि होगी। पर उनमे से प्रत्येक की कीमत की वृद्धि की मात्रा समान नही होगी क्योकि प्रत्येक की पूर्ति की परिस्थितिया विभिन्न है। और यह भी सम्भव है कि उनके प्रयोग के अनुपात मे परिवर्तन करके उनकी माग को घटाया या बढाया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक की कीमत मे वृद्धि को निर्धारित करने मे बहुत सी परिस्थितिया काम करेगी। इनमे से मुख्य माग की लोच व दुर्लभता की मात्रा (elasticity of demand and degree of scarcity) है। अस्तु—

(क) यदि अन्य बातें समान हो तो जो वस्तु अधिक दुर्लभ होगी, उसकी कीमत मे वृद्धि होगी। (ख) यदि कुछ वस्तुओ की कीमत अधिक बढ जाये तो उनके प्रयोग के अनुपात को कम किया जा सकता है। ऐसी दशा मे कीमत की यह वृद्धि कुछ हद तक रोकी जा सकती है। कुछ वस्तुओ की बजाय दूसरी सस्ती चीजें मिल जाती हैं, जिनसे उनकी कीमत अधिक नही बढ पाती। (ग) यह भी हो सकता है कि मकान के कुछ पदार्थ वैकल्पिक प्रयोगो (alternative uses) में अधिक लाभदायक हो, और इसलिए यदि मकान मालिक उनकी अत्यधिक कीमत न दें तो ऐसी दशा में उनको दूसरे प्रयोगो मे लाया जायगा और कीमते अप्रत्याशित रूप से बढ जायेंगी। (घ) यदि किसी पदार्थ की लागत उत्पादित वस्तु की कुल लागत (total cost) से बहुत कम अनुपात मे हो तो उसकी कीमत अधिक बढ सकती है क्योकि इससे वस्तु की कीमत व फलस्वरूप उसकी माग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा। यदि किसी अगभूत (constituent) की कीमत (जैसे श्रम) मकान की लागत के अत्यधिक भाग के बराबर होगी तो उसकी कीमत अधिक नही बढ सकती क्योकि इससे मकान की कीमत बढ जायगी व फलस्वरूप उसकी माँग कम हो जायगी। माग की कमी कीमत को फिर गिरा देगी और इसका प्रभाव उस पदार्थ पर जिसकी कीमत अचानक बढ गयी थी, उल्टा पडेगा।

इसलिये, इस प्रकार की सभी वस्तुओ की कीमत उस वस्तु की, जिसके उत्पादन मे इनका प्रयोग होता है, सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है, दीर्घकाल मे

हर वस्तु का उपयोग इतनी मात्रा में होना चाहिये कि उसकी सीमान्त उत्पादन-लागत समान हो जाय। अधिकतर उनमें से प्रत्येक की व्यक्तिगत रूप से सीमान्त उपयोगिता पृथक् करना सम्भव नहीं होता।

कुछ परिस्थितियो मे सयुक्त माग वाली किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है कि उसके ऐसे प्रयोग वाले दो उपयोग लिये जायें, जिनमें उसके परिमाण का प्रयोग भिन्न अनुपातो में होता हो और दूसरी वस्तुओ का अनुपात स्थिर हो। हेन्डरसन (Henderson) के शब्दो में "हम उत्पादन के विभिन्न अशो के अनेक समूह ले सकते है और उनमें से ऐसे दो समूहों की तुलना कर सकते है जिनमें एक अश की विभिन्न मात्राये दूसरे अशो की समान मात्राओ के साथ प्रयोग की जा रही हो। ऐसी दशा मे वह अतिरिक्त उत्पादन, जो भिन्न अनुपात वाले अश के उस प्रयोग से हुआ, जिसमें उसकी अधिक मात्रा लगी थी, उस अश की अतिरिक्त मात्रा का सीमान्त उत्पादन (सीमान्त उपयोगिता) समझा जायगा। हम कह सकते है कि इस अश का प्रयोग उस विन्दु तक बढता जायगा जहा पर कि यह सीमान्त उत्पादन उसकी कीमत के लगभग वरावर होगा।"[1]

साराश यह है कि उत्पादित वस्तु की कीमत किसी निश्चित समय में उसकी पूर्ति से सम्बन्धित मांग पर निर्भर करती है, पर दीर्घकाल में इसकी कीमत इस प्रकार व्यवस्थित हो जानी चाहिये कि जिससे उसके उत्पादन में प्रयुक्त विभिन्न अशों की कीमतें पूरी हो जायें।

स्थानापन्न वस्तुए (substitutes) जैसे चाय तथा कॉफी में एक की कीमत में वृद्धि से दूसरे की माग वढ जायगी। फलस्वरूप दूसरे की कीमत भी वढ जायगी। कीमत के गिरने से उल्टा प्रभाव पडेगा। मिश्रित-लोच (cross elasticity) का सामान्य विचार इस सबध को वताने का मार्ग-दर्शक है। स्थानापन्न वस्तुओ के सबध में मिश्रित-लोच निम्नलिखित नियम से जानी जा सकती है —

$$\text{मि लो} = \frac{\text{च की मात्रा में सम्बन्धित परिवर्त्तन}}{\text{क की कीमत में सम्बन्धित परिवर्त्तन}}$$

मि लो = मिश्रित लोच, च = चाय तथा क = कॉफी

क्या कोई अग सयुक्त मांग में अपनी पूर्ति रोक कर पारिश्रमिक बढ़ा सकता है?

यदि उत्पादन का यह अश अत्यन्त आवश्यक है तो इसका पारिश्रमिक अवश्य वढ जायगा क्योकि इसके विना उत्पादन कार्य ही वन्द हो जायगा। उसकी पूर्ति का विरोध उत्पादन वन्द कर देगा। फलस्वरूप उत्पादित वस्तु जैसे (मकान) की कीमत में वृद्धि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशा मे यह कीमत दूसरे साधनो की लागत से अधिक हो जायगी और इस अतिरेक लाभ मे से ही निरोधित साधन (श्रमिको का एक विशिष्ट समुदाय) को चुकाया जायगा, "मार्शल" ने इस व्युत्पन्न माग के नियम (Law of Derived Demand) की व्याख्या इस प्रकार की है —

---

1 Supply & Demand op cit p 70

"वह कीमत जो उत्पादित वस्तु के किसी साधन को दी जायगी, सदैव उस अन्तर तक सीमित रहेगी, जो कि उस कीमत में, जिस पर कि वस्तु का विक्रय हो सकता है व उन कीमतो का योग, जिन पर दूसरे साधनो की पूर्ति होनी है"[1] प्रयोग के लिए मिल सकती है।

कुछ परिस्थितिया ऐसी होती है, जिनमें श्रमिको का एक समूह अपनी पूर्ति रोक कर अपनी मजदूरी बढाने मे सदैव सफल रहता है। यह भी संयुक्त माग की स्थिति है। वह परिस्थितियाँ ये हैं —(१) उत्पादित वस्तु (मकान) की माँग, जिसमें ऐसे मनुष्यो की सेवायें प्रयोग मे लाई जाती है, लोचहीन (inelastic) होनी चाहिये। (२) ऐसे समूह की सेवायें अति आवश्यक हो तथा उनका स्थानापन्न न हो सके। (३) यह भी आवश्यक है कि उनकी मजदूरी कुल मजदूरी का थोडा भाग हो। ऐसी दशा मे उद्यमी उनकी माग को स्वीकार कर सकेगा। (४) साथ ही साथ दूसरे साधनो की माँग लोचपूर्ण व पूर्ति लोचहीन हो, जिससे कि माँग में तनिक रुकावट भी उसकी पूर्ति की कीमत को गिरा दे। इससे असहयोगी अश (non-cooperating factor) अपना पारिश्रमिक बढा सकेगा।

३. सामासिक पूर्ति (Composite Supply)—**जिन वस्तुओ की पूर्ति कई वैकल्पिक साधनों द्वारा हो सकती है उनकी पूर्ति को 'सामासिक पूर्ति' कहते है, क्योकि उनकी पूर्ति का निर्माण विभिन्न साधनो से प्राप्त पूर्ति द्वारा होता है।** उदाहरण के लिए नमक खानो से भी प्राप्त हो सकता है और समुद्र के पानी से भी सुखाकर बनाया जा सकता है। पर इसके सबसे अच्छे उदाहरण स्थानापन्न वस्तुएं है। अधिक विस्तृत रूप से देखा जाय तो हमें ज्ञात होगा कि उपभोक्ता की माग के अन्तर्गत सब वस्तुए परस्पर प्रतियोगी होती है क्योकि वह एक वस्तु के बजाय किसी समय भी किसी दूसरी वस्तु का उपयोग कर सकता है। यहाँ हम पेय पदार्थो मे केवल चाय, कहवा व दूध, खाद्य पदार्थो में माँस व मछली व अनाजो में गेहू व चावल जैसी स्थानापन्न वस्तुओ का ही अध्ययन अधिक ध्यान से करेंगे। परन्तु उनमें से प्रत्येक की कीमत दूसरे की कीमत पर सबधित है, वह साथ ही साथ घटती-बढती है। अस्तु, यदि गेहू के दाम बढ जायेंगे तो लोग चावल या अन्य निम्न कोटि के अनाजो का उपभोग करने लगेंगे। फलस्वरूप इन स्थानापन्न वस्तुओ की माग बढ जाने के कारण उनकी कीमत भी बढ जायेगी। इसके विपरीत गेहू की कीमत मे कमी होने से स्थानापन्न वस्तुओ की माग गिर जायेगी और परिणाम यह होगा कि उनकी कीमतो मे भी कमी हो जायेगी। **सब स्थानापन्न वस्तुओ की कुल पूर्ति उनकी कुल मांग के अनुसार प्रत्येक की कीमत निश्चित करेगी।**

उनकी कीमत एक दूसरे से लगभग एक स्थिर 'दूरी' पर घटा या बढ़ा करती है, ऐसी वस्तुओ में से प्रत्येक की कीमत दीर्घकाल में उस बिन्दु पर व्यवस्थित हो जाती है, जहाँ उसके उत्पादन की सीमान्त लागत उपभोक्ताओ के लिए सीमान्त उपयोगिता

---

1 Marshall Principles of Economics, 1936, p 383

के समान होती है।

४ सामासिक माँग (Composite Demand)—जिस वस्तु के एक से अधिक उपयोग होते हैं उसकी माँग सामासिक होती है। उसकी सम्मिलित माग का निर्माण उसके विभिन्न उपयोगो की माँग से होता है। उदाहरण के लिए कोयले का प्रयोग रेल्वे इजन मे, कारखानो में, कमरो को गरम करने मे तथा खाना पकाने में होता है। इन विभिन्न उपयोगो मे कोयले की कीमत लगभग समान रहती है। उदाहरण के लिए, यदि रेल्वे में कोयले की माग बढ जाती है, तो तमाम कोयला रेल्वे मे जाने लगेगा। परिणामस्वरूप दूसरे उपभोगो मे उसकी पूर्ति कम हो जायगी जिससे उन प्रयोगो मे भी उसकी कीमत बढ जायगी। इसलिए सामासिक माग वाली वस्तुओं की कीमत विभिन्न प्रयोगो में, उनकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है क्योंकि वस्तु एक प्रयोग से हटाकर दूसरे प्रयोग में लाई जा सकती है। दीर्घकाल में इनकी कीमत इतनी होनी चाहिये जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादन की लागत पूरी हो सके।

निर्देश पुस्तके

Henderson, H D — Supply and Demand

Clark, J M —Economics of Overhead Costs, 1923, Ch XI, pp - 216, 232

Stigler, G J — Theory of Price

अध्याय २३

एकाधिकार में मूल्य

(VALUE UNDER MONOPOLY)

१ एकाधिकार कीमत निश्चित करना (Fixing Monopoly Price)—पिछले तीन अध्यायो में मूल्य अथवा कीमत का अध्ययन करते समय हमने यह मान लिया था कि ग्राहको व विक्रेताओ, दोनो के बीच पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) पाई जाती है। पर इस अध्याय मे हम इसके प्रतिकूल स्थितियो का अध्ययन करेंगे अर्थात् एकाधिकार का। विस्तृत अर्थ में एकाधिकार शब्द का प्रयोग "पूर्ति अथवा माग किसी भी दृष्टिकोण से किये गये वस्तु तथा सेवा की कीमत के नियन्त्रण के लिए होता है। पर सकुचित रूप में इसका आशय व्यापारियो अथवा उत्पादको के उस सघ से होता है, जो वस्तुओ या सेवाओ की पूर्ति की कीमत को नियन्त्रण करता है।"[1]

प्रत्येक विक्रेता व उत्पादक **अधिक से अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करता है**। चूकि पूर्ण प्रतियोगिता मे, कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है, इसलिए उत्पादको को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होता है, जो लागत का एक अग होता है। **पर एकाधिकार की स्थिति में एकाधिकारी में सामान्य से अधिक लाभ कमाने की शक्ति होती है। अपनी वस्तु को सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक दामो पर बेचकर वह यह लाभ प्राप्त करता है**। सीमान्त लागत तथा कीमत के बीच का यह अन्तर ही **एकाधिकार शक्ति की मात्रा का माप है**।

यह तो स्पष्ट है कि कोई भी एकाधिकारी पैदावार की मात्रा व कीमत दोनो ही निश्चित नही कर सकता। वह या तो एक निश्चित मात्रा में पैदावार करके यह प्रतीक्षा करता है कि माग की शक्ति उसकी वस्तु की कीमत निर्धारित करे, अथवा कीमत निश्चित कर वह माग के लोच पर छोड देता है कि उत्पादन किस परिमाण में हो। अधिकतर एकाधिकारी दूसरा रास्ता अपनाता है।

अब प्रश्न यह है कि **एकाधिकारी के लिए कौन-सी कीमत सबसे अधिक लाभप्रद होगी**। सैद्धातिक दृष्टि से तो वह ऐसी ही कीमत निश्चित करेगा जिससे लाभ सर्वाधिक हो। शुद्ध एकाधिकार सीमित करने वाला है।[2] उसकी आय स्थिर होती है जोकि उपभोक्ताओ की समस्त आय के बराबर होती है। यदि उसकी कुल लागत सबसे कम है तो उसका एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा। वह इतना शक्तिशाली होता है कि अपने उत्पाद के छोटे से भाग को भी बहुत अधिक ऊँची कीमत पर बेच सकता है।

---

1 Thomas Op Cit p 215

2 See Ch XV, Section 1.

किन्तु ऐसी स्थिति वास्तव में व्यावहारिक रूप से सम्भव नही है। वास्तव में यह आवश्यक नही है कि एकाधिकार कीमत अत्यधिक ऊँची या नीची हो। यदि एकाधिकारी कीमत को बहुत अधिक बढा देगा तो वस्तु की बहुत थोडी इकाइया बिकेंगी। साथ ही यदि कीमत बहुत कम होगी तो उसे प्रति इकाई बहुत कम लाभ होगा। इसलिए उसे **कीमत इस प्रकार निश्चित करनी चाहिये, जिससे कि प्रति इकाई पर एकाधिकारी का लाभ बेची हुई इकाइयों से गुणा करके योग अधिकतम हो।** इसी बात को दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते है कि एकाधिकारी को अधिकाधिक लाभोपार्जन के निमित्त "वस्तु के उत्पादन व विक्रय को तब तक शून्य इकाइयो से परे बढाते रहना चाहिये जब तक कि एक इकाई की वृद्धि से आय का योग इस एक इकाई के बढ जाने से कुल लागत के बराबर न हो जाय।"[1] दूसरे शब्दो में एकाधिकारी को उस बिन्दु तक अपने उत्पादन को बढाना चाहिये, जहा कि सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के समान हो जाय।

२. सीमान्त राजस्व व सीमान्त लागत की साम्यता (Equalisation of Marginal Revenue and Marginal Costs)—सीमान्त-लागत क्या होती है, इसकी व्याख्या की जा चुकी है। **सीमान्त लागत वह लागत है जो अतिरिक्त इकाई के उत्पादन से उत्पादन की कुल लागत में जोडने से प्राप्त होती है।** इसी प्रकार **सीमान्त राजस्व वह आगम है, जो अतिरेक इकाई के विक्रय से प्राप्त आय को एकाधिकार के कुल आगम में जोड देने से प्राप्त होती है।** इससे यह स्पष्ट है कि जब तक उत्पादित व विक्रय की गई अतिरिक्त इकाई से लागत की अपेक्षा आय अधिक बढती है, तब तक एकाधिकारी को अपना उत्पादन व विक्रय बढाने में लाभ होगा। इसके विपरीत होने पर उत्पादन कम करना ही लाभप्रद होगा। **जिस बिन्दु पर सीमान्त लागत व सीमान्त राजस्व समान होते है, वह अनुकूलतम उत्पादन है,** अर्थात् वह, जो सर्वाधिक एकाधिकारी लाभ प्रकट करता है। यह बिन्दु कहा होगा, यह माग व व्यय की सूची पर निर्भर होगा। नीचे इसी का सुगम अंकित उदाहरण दिया जा रहा है —

(१) कीमत (रु०)	(२) मागी गई इकाइयाँ (दर्जन)	(३) कुल राजस्व (रु०)	(४) सीमान्त राजस्व (रु०)	(५) पूर्ति की इकाइयाँ (दर्जन)	(६) कुल लागत (रु०)	(७) औसत लागत (रु०)	(८) सीमान्त लागत (रु०)
९	१	९	९	९	८१	९	१७
८	२	१६	७	८	६४	८	१५
७	३	२१	५	७	४९	७	१३
६	४	२४	३	६	३६	६	११
५	५	२५	१	५	२५	५	९
४	६	२४	–१	४	१६	४	७
३	७	२१	–३	३	९	३	५
२	८	१६	–५	२	४	२	३
१	९	९	–७	१	१	१	१

1 Knight, B W —Economic Principles in Practice, p 173

पीछे की तालिका मे कीमतें, मागी गई इकाइया, पूर्ति की हुई इकाइया तथा कुल लागत का अनुमान दिया गया है। अन्य अक इस प्रकार प्राप्त हुए है —

(क) कुल राजस्व=कीमत × मागी गई इकाइयाँ ।

(ख) सीमान्त राजस्व १ इकाई का कुल राजस्व ९ है, २ इकाइयो का १६ है, २ इकाइयो का सीमान्त राजस्व १६—९=७ है, और आगे भी यह क्रम इसी प्रकार चलेगा।

(ग) औसत लागत कुल लागत ÷ पूर्ति की इकाइयाँ

(घ) सीमान्त लागत : ८ इकाइयो की लागत ६४ है।
९ " " ८१ है।

. ९ इकाइयो की सीमान्त लागत ८१—६४=१७ होगी।

यदि हम यह मान लें कि एक दर्जन की इकाई को भग नही किया जा सकता, तो यदि तीन इकाइया उत्पादित करके वेची जायें तो एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होगा, क्योकि यही वह विन्दु है जहा सीमान्त लागत व सीमान्त राजस्व समान होता है। अस्तु—

इकाइया (Units)	कुल आगम (Total Revenue) (रु०)	कुल लागत (Total Cost) (रु०)	शुद्ध एकाधिकारी राजस्व (Net Monopoly revenue) (कुल राजस्व—कुल व्यय)
१	९	१	८
२	१६	४	१२
३	२१	९	१२
४	२४	१६	८
५	२५	२५	०
६	२४	३६	—१२
७	२१	४९	—२८
८	१६	६४	—४८
९	९	८१	—७२

उपर्युक्त दृष्टात मे तीन इकाइयो का एकाधिकारी राजस्व सर्वाधिक है। दो इकाइयो का भी सर्वाधिक है। यदि इकाई भग की जा सकती तो यह गणित की अशुद्धि न होती। वास्तव में ऊपर की परिस्थितियो में सर्वाधिक लाभप्रद उत्पादन २$\frac{1}{2}$ इकाइया अर्थात् २ व ३ इकाइयो के मध्य मे होना चाहिये।

३ सीमान्त राजस्व तथा औसत राजस्व (Marginal Revenue and Average Revenue)—सीमान्त आगम को औसत आगम से भिन्न किया जा सकता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि म म (माग) वक्र को औ रा (औसत राजस्व) वक्र भी कहा जा सकता है क्योकि यह एक इकाई की औसत कीमत जिस पर कि वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राये वेची जा सकती है, प्रस्तुत करती है, तथा ग्राहक की दी हुई कीमत विक्रेता के दृष्टिकोण से राजस्व है। अतएव औसत राजस्व सामान्य

लागत अवस्थाएं (cost conditions)				मांग की अवस्थाएं (demand conditions)					
पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता में समान मान ली गई				पूर्ण प्रतियोगिता			अपूर्ण प्रतियोगिता		
(क) उत्पादन की इकाइयां	(ख) औसत व्यय	(ग) कुल व्यय	(घ) सीमांत व्यय	(च) मांग की कीमत	(छ) कुल प्राप्ति	(ज) सीमांत राजस्व	(झ) मांग की कीमत	कुल प्राप्ति	सीमांत राजस्व
१	१५ १० ०	१५ १० ०	१५ १० ०	१० ० ०	१० ० ०	१० ० ०	१४ ८ ०	१४ ८ ०	१४ ८ ०
२	१४ ८ ०	२९ ० ०	१३ ६ ०	१० ० ०	२० ० ०	१० ० ०	१४ ० ०	२८ ० ०	१३ ८ ०
३	१३ ८ ०	४० ८ ०	११ ८ ०	१० ० ०	३० ० ०	१० ० ०	१३ ८ ०	४० ८ ०	१२ ८ ०
४	१२ १० ०	५० ८ ०	१० ० ०	१० ० ०	४० ० ०	१० ० ०	१३ ० ०	५२ ० ०	११ ८ ०
५	११ १४ ०	५९ ६ ०	८ १४ ०	१० ० ०	५० ० ०	१० ० ०	१२ ८ ०	६२ ८ ०	१० ८ ०
६	११ ४ ०	६७ ८ ०	८ २ ०	१० ० ०	६० ० ०	१० ० ०	१२ ० ०	७२ ० ०	९ ८ ०
७	१० १२ ०	७५ ४ ०	७ १२ ०	१० ० ०	७० ० ०	१० ० ०	११ ८ ०	८० ८ ०	८ ८ ०
८	१० ६ ०	८३ ० ०	७ १२ ०	१० ० ०	८० ० ०	१० ० ०	११ ० ०	८८ ० ०	७ ८ ०
९	१० २ ०	९१ २ ०	८ २ ०	१० ० ०	९० ० ०	१० ० ०	१० ८ ०	९४ ८ ०	६ ८ ०
१०	१० ० ०	१०० ० ०	८ १४ ०	१० ० ०	१०० ० ०	१० ० ०	१० ० ०	१०० ० ०	५ ८ ०
११	१० ० ०	११० ० ०	१० ० ०	१० ० ०	११० ० ०	१० ० ०	९ ८ ०	१०४ ८ ०	४ ८ ०
१२	१० २ ०	१२१ ८ ०	११ ८ ०	१० ० ०	१२० ० ०	१० ० ०	९ ० ०	१०८ ० ०	३ ८ ०
१३	१० ६ ०	१३४ १४ ०	१३ ६ ०	१० ० ०	१३० ० ०	१० ० ०	८ ८ ०	११० ८ ०	२ ८ ०
१४	१० १२ ०	१५० ८ ०	१५ १० ०	१० ० ०	१४० ० ०	१० ९ ०	८ ० ०	११२ ० ०	१ ८ ०
१५	११ ४ ०	१६८ १२ ०	१८ ४ ०	१० ० ०	१५० ० ०	१० ० ०	७ ८ ०	११२ ८ ०	० ८ ०
१६	११ १४ ०	१९० ० ०	२१ ४ ०	१० ० ०	१६० ० ०	१० ० ०	७ ० ०	११२ ० ०	० ० ०

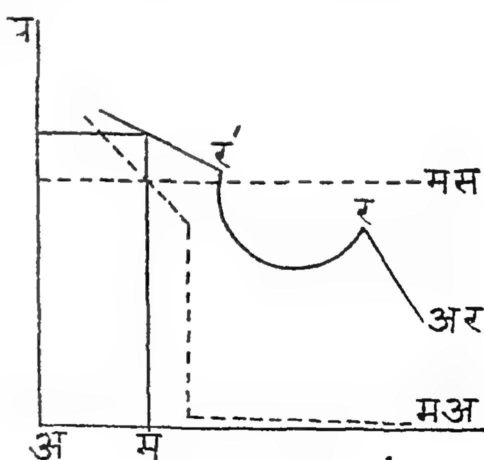
तालिका से यह प्रकट होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे माग की कीमत (कालम च) स्थिर रहती है, क्योकि किसी फर्म में उत्पादन बढ जाने से कीमत पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। प्रतियोगिता मे उत्पादक के लिए माग कीमत स्थिर रहने के कारण सीमान्त राजस्व भी स्थिर रहता है। अस्तु, उत्पादन का विस्तार उस विन्दु (११ इकाइयो) तक होगा, जहां सीमान्त लागत माग कीमत के वरावर होगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता मे जैसे-जैसे उत्पादन बढता जाता है (कालम झ) माग की कीमत गिरती जाती है। ऐसी दशा में सीमान्त राजस्व भी कम होने लगता है, यहा तक कि वह ऋणात्मक (negative) हो जाता है। इस परिस्थिति में ७ इकाइयो पर उत्पादक को उत्पादन का विस्तार बन्द कर देना होगा। यदि वह अधिक उत्पादन करेगा तो उसकी सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व से अधिक हो जायगी। ७ इकाइयो पर यह दोनो लगभग वरावर हैं।

यह बात विचारणीय है कि प्रतियोगिता में उत्पादक के लिए सीमान्त-प्राप्ति (marginal receipts) व सीमान्त राजस्व एक ही बात है। पर अपूर्ण प्रतियोगिता वाले उत्पादक-एकाधिकारी के लिए यह दोनो एक अर्थ नही रखते। ७ इकाइयो तक माग कीमत सीमान्त लागत से अधिक है।

यदि माँग की लोच (औसत राजस्व) वक्र एकता (unity) से कम है तो कोई भी एकाधिकारी अपनी पैदावार निश्चित नही करेगा जब तक सीमान्त लागतें नकारात्मक (negative) न हो जाए। चूकि जहाँ लागते क्रियात्मक (positive) हैं वहा पैदावार में वृद्धि का अर्थ होगा कि उसके कुल राजस्व (प्राप्ति-receipts) मे उसकी लागत से कम वृद्धि होगी। मान लीजिए कि लोच एक है (अर्थात् माग कीमत मे परिवर्तन के अनुपात के अनुसार बढती है), एकाधिकारी अपनी पैदावार का निश्चय तब तक नही करेगा जब तक सीमान्त लागत शून्य नही हो जाती। चूकि एकाधिकारी की कीमते क्रियात्मक होती हैं, इसलिए दोनो स्थितिया असम्भव हैं।

"एकाधिकारी की साम्यावस्था स्थिति वही होगी जहा उसकी वस्तु की माग की लोच एक से बडी है। चूकि ऐसी स्थिति मे ही एकाधिकारी के लिए क्रियात्मक सीमान्त लागत यह जानना सम्भव होगा कि यदि वह पैदावार घटा दे तो लागत की अपेक्षा कहा राजस्व अधिक कम होता है। यदि लोच एक से अधिक नही होती तो पैदावार में कमी से लाभ में सदैव वृद्धि होगी।"



रेखा चित्र न० ५८

स्टोनियर तथा हेग द्वारा (अपनी पुस्तक जिसका वर्णन २८९ पृष्ठ पर किया गया है) निम्नलिखित रेखा चित्र का निरूपण किया गया है, जिससे सब बात स्पष्ट हो जाती है:—

र से आगे, लोच एकता (unity) से कम है, र तथा र' के बीच यह एकता है, और 'र' के बाईं ओर यह एकता से अधिक है। एकाधिकारी र' के बाईं ओर अपनी पैदावार की मात्रा निश्चित करेगा। पैदावार अ म तब होगी जहाँ सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के बराबर होगा।

५ प्राप्ति नियम, माग की लोच तथा एकाधिकार कीमत (Laws of Returns, Elasticity of Demand and Monopoly Price)—हम पहले के एक अध्याय में देख चुके हैं कि किसी वस्तु की इकाइया अतिरिक्त प्रति इकाई स्थिर लागत, वृद्धि लागत अथवा ह्रास लागत (constant, increasing and decreasing costs) पर उत्पादित की जा सकती है। अब प्रश्न यह है कि एकाधिकार मूल्य के सिद्धान्त में यह बात क्या परिवर्तन कर देती है। एकाधिकार की कीमत निश्चित करने के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नही होता। एकाधिकारी हर दशा में यही प्रयत्न करेगा कि ऐसी कीमत निश्चित हो या इतना उत्पादन किया जाय कि एकाधिकार राजस्व सर्वाधिक हो। और ऐसा करने के लिए वह उत्पादन का विस्तार तब तक करता रहेगा जब तक कि उसकी सीमात लागत सीमात राजस्व के बराबर न हो जायगी। इसमें वह सफल भी होगा। यह स्थिति कम उत्पादन पर पैदा होगी, अथवा अधिक उत्पादन पर इसका निर्णय प्राप्ति नियम व माग की लोच मिल कर करेंगे।

प्रत्येक दशा में एकाधिकारी को दो बातो का ध्यान रखना पडेगा —

(क) एकाधिकारी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सीमान्त लागत का बढते हुए उत्पादन से क्या सम्बन्ध है, अर्थात् उत्पादन प्राप्ति के किस नियम (law of return) के अन्तर्गत हो रहा है।

(ख) उपभोक्ताओ की माग की लोच की क्या दशा है। अस्तु . .

(1) यदि पदार्थ का उत्पादन स्थिर प्राप्ति नियम के अनुसार हो रहा है, तो इस बात का निर्णय कि उत्पादन बढाया जाय अथवा कम किया जाय, माग की लोच करेगी, क्योंकि ऐसी दशा में प्रति इकाई लागत स्थिर होती है। यदि माग अत्यधिक लोचदार होगी तो एकाधिकारी को अपना उत्पादन बढा कर कीमत कम कर देने से अत्यधिक लाभ होगा। पर यदि माग लोचहीन होगी तो उसे पूर्ति कम करके कीमत में वृद्धि लाने से लाभ होगा।

(ii) यदि उत्पादन घटती हुई प्राप्ति के नियम के अन्तर्गत हो रहा हो, तो एकाधिकारी को उत्पादन में वृद्धि करके कम कीमत पर विक्रय करने से लाभ होगा। उसका उत्पादन सबसे कम उस समय होगा जब बढती लागत की दशा में (घटती हुई प्राप्ति की अवस्था में) इसका मेल बेलोचदार माग से होगा।

(iii) यदि वस्तु बढती हुई प्राप्ति की दशा में पैदा की जा सकती है तो एकाधिकारी के लिए यह लाभदायक होगा कि पैदावार को बढाए और कीमत गिरा दे। उसकी पैदावार (output) सबसे अधिक उस समय होगी जब घटती लागत पर तैयार किए गए माल (अर्थात् बढती हुई प्राप्ति में) का मेल लोचदार माग से होगा।

६. एकाधिकार मूल्य के सिद्धांत का सारांश (Theory of Monopoly Value summed up)—इस प्रकार एकाधिकारी की परिस्थिति में मूल्य के निर्णय के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुचते हैं। चूंकि अपूर्ण प्रतियोगिता में भी एकाधिकार की कुछ मात्रा होती है, इसलिए अपूर्ण प्रतियोगिता में भी यह निष्कर्ष लागू होते हैं —

(क) पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति एकाधिकार में भी कीमत का निर्धारण माग व पूर्ति की शक्तियाँ ही करती हैं। पर अन्तर केवल इतना है कि एकाधिकारी पूर्ति मे इच्छानुसार वृद्धि अथवा कमी ला सकता है। ऐसा करने के लिए उसके पास दो उपाय हैं: (1) कीमत को निश्चित करके वस्तु को उपभोक्ताओ की माग के अनुसार विक्रय के लिए छोड देना। (ii) वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय का परिमाण निश्चित करके कीमत का निर्धारण पूर्ति से सम्बन्वित माग पर छोड देना। पर कोई भी एकाधिकारी दोनो बातें एक साथ नही कर सकता।

(ख) यदि एकाधिकारी कम कीमत रक्खे तो वह अधिक इकाइयो का विक्रय कर सकता है। यदि वह वस्तु की कीमत अधिक रखता है तो उसे प्रति इकाई आय तो अवश्य अधिक होगी, पर विक्रय कम इकाइयो का होगा। इसका माँग पर क्या प्रभाव होगा, यह वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करता है। यदि माँग लोचहीन होगी तो वह कीमत अधिक रखेगा, पर यदि माँग लोचपूर्ण होगी तो कम कीमत ही उसके लिए सर्वाधिक राजस्व प्राप्त करेगी।

(ग) एकाधिकारी सदैव अपने राजस्व को अधिक से अधिक करना चाहता है। इसलिए वह कीमत इस प्रकार निश्चित करेगा कि उसके लिए प्रति इकाई राजस्व व विक्रय की गई इकाइयो का गुणनफल सर्वाधिक हो।

(घ) यदि एकाधिकारी को वस्तु की प्राप्ति में कुछ भी व्यय न करना पड़ा हो तो वह विक्रय को इतना वढायेगा कि उसकी सीमान्त प्राप्ति (receipts) शून्य हो जाय। ऐसा इसलिए होगा कि वस्तु पर कुछ व्यय न होने के कारण क्रियात्मक सीमान्त प्राप्ति (positive marginal receipts) की मात्रा उसके एकाधिकार राजस्व को वढा देगी।

(च) यदि वस्तु के उत्पादन में उत्पादन की लागत सम्मिलित हो, तो एकाधिकारी केवल वस्तु की उस मात्रा का उत्पादन करेगा, जिससे प्राप्त सीमान्त प्राप्ति (receipt) सीमान्त उत्पादन लागत के वरावर हो। यदि वह पहले रुक जाता है तो उत्पादन मे थोडी वृद्धि से कुल लागत की अपेक्षा कुल राजस्व अधिक वढ जायगा। अतएव उत्पादन के वढने से कुल शुद्ध लाभ भी वढ़ जायगा। यदि वह सीमान्त राजस्व तथा सीमान्त लागत के साम्य (equilibrium) के विन्दु के आगे उत्पादन करता है, तो उत्पादन मे कमी होने से कुल राजस्व की अपेक्षा कुल लागत में अधिक कमी हो जायगी। इस प्रकार जव सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के वरावर हो जायगा, तो एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा। यह वात हर समय लागू होगी चाहे उत्पादन के किसी भी नियम के अनुसार हो। लोचहीन माग की दशा में यदि उत्पादन घटती नियम

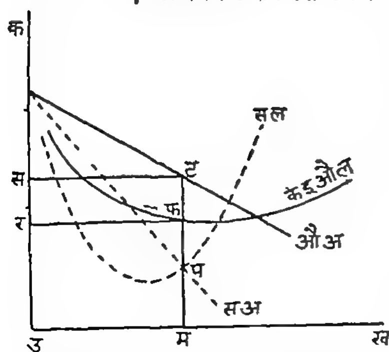
के अन्तर्गत हो रहा हो तो उत्पादन की मात्रा सबसे कम होगी। पर यदि उत्पादन में वृद्धि नियम लागू हो, और माग लोचपूर्ण हो तो उत्पादन की यह मात्रा सर्वाधिक होगी। पहले उदाहरण में कम उत्पादन व अधिक कीमत से लाभ अधिक होगा, पर दूसरे उदाहरण में अधिक उत्पादन और कम कीमत से एकाधिकारी को अधिकाधिक लाभ (एकाधिकार राजस्व) प्राप्त होगा।

(छ) पूर्ण प्रतियोगिता में "सीमान्त प्राप्ति" व विक्रय कीमत समान होती है। इसका कारण यह है कि ऐसी दशा में विक्रेता की कम या अधिक विक्री का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता। पर एकाधिकार (व अपूर्ण प्रतियोगिता) में अनुकूलतम (Optimum) उत्पादन के समय सीमान्त प्राप्ति विक्रय कीमत से कम होती है क्योकि इन परिस्थितियो में विक्रय में वृद्धि से विक्रय कीमत गिर जाती है।

(ज) पर यदि सब बातें समान रहें तो एकाधिकारी व अपूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादन का अनुकूलतम उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में उत्पादन करने वालो की अपेक्षा कम मात्रा में होगा। इसका कारण यह है कि इससे पहले कि सीमान्त लागत विक्रय कीमत के बराबर हो जाय, अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पादन बन्द हो जाता है। पर प्रतियोगिता में उत्पादक उस समय तक विक्रय में विस्तार कर सकता है, जब तक उसकी सीमान्त-लागत तत्कालीन बाजार भाव के बराबर न हो जाय।

(झ) यह याद रखना आवश्यक है कि जिस परिवर्तनशील ससार में हम रहते हैं उसमें माग तथा लागत की दशाओ में परिवर्तन का ठीक अनुमान लगाना असम्भव है। एक एकाधिकारी अधिकतम उत्पादन के विन्दु का ठीक पता नही लगा सकता। कीमत निर्धारण में महत्त्वपूर्ण साधन सही माग नही वरन् एकाधिकारी का सही माग का अनुमान है। उत्पादन तथा कीमत में छोटे २ एकीकरण से तथा परीक्षा और गलती करके वह अनुकूलतम पैदावार प्राप्त कर सकता है। पर अवस्थाओ में परिवर्तन होता रहता है और आज का अनुकूलतम भविष्य के लिए केवल मार्गदर्शक ही सिद्ध होता है।

७ एकाधिकार कीमत निर्धारण का रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of the Determination of Monopoly Price)



रेखा चित्र नं० ५९—घटती हुई लागत

—रेखा चित्र ५९ में एकाधिकार उत्पादन तथा कीमत का एकीकरण बढ़ती हुई प्राप्ति नियम अथवा घटती लागत नियम के अन्तर्गत प्रस्तुत करता है।[1]

औ अ माग वक्र या औसत राजस्व वक्र है, स अ सीमान्त राजस्व वक्र है, क इ औ ल कुल इकाइयो का औसत लागत वक्र है, तथा स ल सीमान्त लागत वक्र है। प वह विन्दु है जहा पर सीमान्त राजस्व

1 See Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, p 180

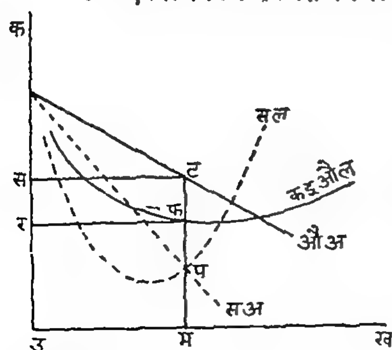
के अन्तर्गत हो रहा हो तो उत्पादन की मात्रा सबसे कम होगी। पर यदि उत्पादन में वृद्धि नियम लागू हो, और माग लोचपूर्ण हो तो उत्पादन की यह मात्रा सर्वाधिक होगी। पहले उदाहरण में कम उत्पादन व अधिक कीमत से लाभ अधिक होगा, पर दूसरे उदाहरण में अधिक उत्पादन और कम कीमत से एकाधिकारी को अधिकाधिक लाभ (एकाधिकार राजस्व) प्राप्त होगा।

(छ) पूर्ण प्रतियोगिता में "सीमान्त प्राप्ति" व विक्रय कीमत समान होती है। इसका कारण यह है कि ऐसी दशा में विक्रेता की कम या अधिक बिक्री का कीमत पर कोई प्रभाव नही पड़ता। पर एकाधिकार (व अपूर्ण प्रतियोगिता) में अनुकूलतम (Optimum) उत्पादन के समय सीमान्त प्राप्ति विक्रय कीमत से कम होती है क्योंकि इन परिस्थितियो में विक्रय में वृद्धि से विक्रय कीमत गिर जाती है।

(ज) पर यदि सब बातें समान रहें तो एकाधिकारी व अपूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादन का अनुकूलतम उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में उत्पादन करने वालो की अपेक्षा कम मात्रा में होगा। इसका कारण यह है कि इससे पहले कि सीमान्त लागत विक्रय कीमत के बराबर हो जाय, अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पादन बन्द हो जाता है। पर प्रतियोगिता में उत्पादक उस समय तक विक्रय में विस्तार कर सकता है, जब तक उसकी सीमान्त-लागत तत्कालीन बाजार भाव के बराबर न हो जाय।

(झ) यह याद रखना आवश्यक है कि जिस परिवर्तनशील ससार में हम रहते हैं उसमें माग तथा लागत की दशाओ में परिवर्तन का ठीक अनुमान लगाना असम्भव है। एक एकाधिकारी अधिकतम उत्पादन के बिन्दु का ठीक पता नही लगा सकता। कीमत निर्धारण में महत्त्वपूर्ण साधन सही माग नही वरन् एकाधिकारी का सही माग का अनुमान है। उत्पादन तथा कीमत में छोटे २ एकीकरण से तथा परीक्षा और गलती करके वह अनुकूलतम पैदावार प्राप्त कर सकता है। पर अवस्थाओ में परिवर्तन होता रहता है और आज का अनुकूलतम भविष्य के लिए केवल मार्गदर्शक ही सिद्ध होता है।

७ एकाधिकार कीमत निर्धारण का रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of the Determination of Monopoly Price)



रेखा चित्र नं० ५९—घटती हुई लागत

—रेखा चित्र ५९ में एकाधिकार उत्पादन तथा कीमत का एकीकरण बढ़ती हुई प्राप्ति नियम अथवा घटती लागत नियम के अन्तर्गत प्रस्तुत करता है।[1]

औ अ माग वक्र या औसत राजस्व वक्र है, स अ सीमान्त राजस्व वक्र है, क इ औ ल कुल इकाइयो का औसत लागत वक्र है, तथा स ल सीमान्त लागत वक्र है। प वह बिन्दु है जहा पर सीमान्त राजस्व

1 See Meyers, A L—Elements of Modern Economics, 1951, p 180

एकाधिकारी का पूर्ति पर पूर्ण रूप से नियत्रण होता है, तो वह तीव्रता के अनुसार माग को विभाजित कर सकता है। इस प्रकार वह उन लोगो से जो अधिक कीमत दे सकते हैं अधिक कीमत लेता है और जो कम कीमत दे सकते है उनसे कम कीमत लेता है। पर यह तभी हो सकता है जब वस्तु अपूर्ण मार्केट से महगे बाजार में न ले जाई जा सके।

साथ ही विभेद तब भी हो सकता है जब कि बाजार की अपूर्णता के कारण ग्राहक एक विक्रेता से दूसरे के पास आसानी से नही जा सकता।

कीमत विभेद को सम्भव तथा लाभदायक बनाने के लिए निम्नलिखित मुख्य शर्तें आवश्यक हैं :—

(i) विभिन्न मडियो में माग की लोच भिन्न होनी चाहिए। तब एकाधिकारी अपनी मडी को बाँटता चला जाएगा (dividing and sub-dividing)। वह ऐसा उस समय तक करता रहेगा जब तक विभिन्न लोच वाले दो खरीदार एक ही ग्रुप में नही आ जाते, अथवा जब तक प्रत्येक मडी में माँग की लोच समान हो जाए। एकाधिकारी ऐसी मडी (market) मे अधिक दाम लेना लाभदायक पाएगा जहाँ लोच कम है और जहाँ (लोच) अधिक है कम कीमत लेना चाहेगा। श्रीमती रॉबिसन ने इस विषय में अपना मत इस प्रकार दिया है, "उप-मंडियाँ अपनी लोच के क्रम के बढते हुए (ascending) रुख पर बनाई जायेंगी जिससे कम से कम लोच वाली मंडी मे ऊची से ऊची कीमत ली जाए, अत्यधिक लोचदार मडी में कम से कम कीमत।"[1]

(ii) बाजारो को छोटे-छोटे हिस्सो में बाँटने तथा उनको अलग रखने की लागत इतनी अधिक न होनी चाहिये कि माँग की लोच के अन्तर को बराबर कर दे।

(ii) विक्रेताओ में आपस में समानता हो, नही तो स्वतन्त्र स्पर्धको को तेज बाजार मे बेचने से लाभ होगा।

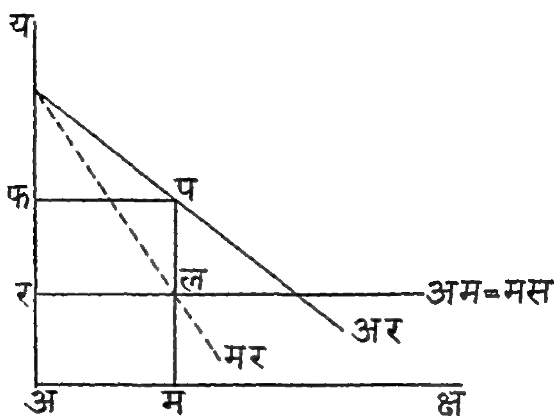
(iv) जब वस्तु खास आर्डर पर बेची जाती है तो विवेचन सम्भव होता है क्योंकि तब खरीदने वाले यह नही जान सकते कि दूसरो से क्या लिया जा रहा है।

पीगू के अनुसार, लाभदायक तथा सफल विभेद (discrimniation) के लिए दो बातें जरूरी है : (क) किसी वस्तु की किसी इकाई को, जिसे एक मण्डी में बेचा जा सकता है, दूसरी मण्डी में भेजना सम्भव नही होना चाहिए। ऐसी स्थिति उस समय होती है जब उपभोक्ताओ की सीधी सेवा की जाती है, जैसे अध्यापको, डाक्टरो तथा वकीलो आदि के द्वारा की जाने वाली सेवाए अथवा वे सेवाए जो सीधे वस्तु से सम्बन्धित हो, जैसे रेल द्वारा माल का परिवहन। हस्तान्तरण (transference) अथवा माल भेजने पर परिवहन की लागत बढ़ा कर इसे रोका जा सकता है अथवा अधिक प्रशुल्क (tariff) द्वारा अथवा ऐसी संविदाएं (contracts) जिनके द्वारा बेचने पर रोक हो। (ख) यह भी सम्भव नही होना चाहिए कि माग की एक इकाई एक मण्डी विशेष से दूसरे में पूरी हो सके। ऐसी स्थिति उस समय पैदा होगी जब मण्डी धन (wealth) के आधार पर विभक्त होनी है। कोई भी धनी व्यक्ति किसी मुफ्त

---

1 Robinson, Mrs. Joan—The Economics of Imperfect Competition, 1945, p 187.

हुई (rising), गिरती हुई (falling) अथवा स्थिर सीमान्त लागतें (constant marginal costs) यदि सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के समान (equal) हो



रेखा चित्र न० ६१—स्थिर लागत

(ख) दूसरे अन्तर का सम्बन्ध लाभ के आकार से है। पूर्ण प्रतियोगिता में, अति-सामान्य (super-normal) लाभ समाप्त हो जाएगे, लेकिन एकाधिकार की अवस्था में अति-सामान्य लाभ होते रहेंगे।

८ कीमत विभेद (Price Discrimination)—अभी तक हमने यह मान लिया था कि एकाधिकारी अपनी वस्तु की सब ग्राहको से एक ही कीमत लेता है, पर बहुधा ऐसा नही होता। एकाधिकारी कभी-कभी विभिन्न व्यक्तियो से जुदा कीमत लेते है। पर ऐसा तभी हो सकता है, जब कि व्यक्तियो का सम्बन्ध "विभिन्न बाजारो" अथवा प्रतियोगी समूहो से हो। इसे कीमत विभेद कहते हैं।

कीमत विभेद कई प्रकार का हो सकता है —

(क) व्यक्तिगत (personal) (२) स्थानीय (local) अथवा (३) व्यवसाय या प्रयोग के अनुसार। जब विभिन्न व्यक्तियो से विभिन्न कीमतें ली जाती है, तब विभेद व्यक्तिगत होता है। पर जब स्थान के अनुसार कीमत में अतर आ जाता है, तो विभेद स्थानीय अर्थात् राशि-पातन (dumping) कहलाता है, और यदि वस्तु के प्रयोग के आधार पर कीमत घटती बढती रहती है तो इसका यह परिवर्तन व्यवसाय के अनुसार होता है। जैसे बिजली घरेलू जीवन की अपेक्षा औद्योगिक प्रयोग के लिए अधिक सस्ती मिलती है। कई बार एकाधिकारी लेबल लगाकर माल को विशेष रूप से नया बताने की कोशिश करता है और इस प्रकार विभेद कीमत लेता है। विभेद कीमत इन कारणो से पैदा होती है—

(क) उपभोक्ता की पसन्द अथवा स्वभाव, (ख) वस्तु का गुण, तथा (ग) दूरी तथा सीमा रोक।

वस्तु की माग की तीव्रता में अतर होने के कारण ही विभेद सम्भव होता है। यदि

एकाधिकारी का पूर्ति पर पूर्ण रूप से नियत्रण होता है, तो वह तीव्रता के अनुसार माग को विभाजित कर सकता है। इस प्रकार वह उन लोगो से जो अधिक कीमत दे सकते हैं अधिक कीमत लेता है और जो कम कीमत दे सकते है उनसे कम कीमत लेता है। पर यह तभी हो सकता है जब वस्तु अपूर्ण मार्केट से महगे बाजार में न ले जाई जा सके।

साथ ही विभेद तब भी हो सकता है जब कि बाजार की अपूर्णता के कारण गाहक एक विक्रेता से दूसरे के पास आसानी से नही जा सकता।

कीमत विभेद को सम्भव तथा लाभदायक बनाने के लिए निम्नलिखित मुख्य शर्तें आवश्यक हैं :—

(i) विभिन्न मडियो में माग की लोच भिन्न होनी चाहिए। तब एकाधिकारी अपनी मडी को बाँटता चला जाएगा (dividing and sub-dividing)। वह ऐसा उस समय तक करता रहेगा जब तक विभिन्न लोच वाले दो खरीदार एक ही ग्रुप में नही आ जाते, अथवा जब तक प्रत्येक मडी में माँग की लोच समान हो जाए। एकाधिकारी ऐसी मडी (market) में अधिक दाम लेना लाभदायक पाएगा जहाँ लोच कम है और जहाँ (लोच) अधिक है कम कीमत लेना चाहेगा। श्रीमती रॉबिसन ने इस विषय में अपना मत इस प्रकार दिया है, "उप-मडियाँ अपनी लोच के क्रम के बढते हुए (ascending) रुख पर बनाई जायेंगी जिससे कम से कम लोच वाली मडी में ऊची से ऊची कीमत ली जाए, अत्यधिक लोचदार मडी में कम से कम कीमत।"[1]

(ii) बाजारो को छोटे-छोटे हिस्सो में बाँटने तथा उनको अलग रखने की लागत इतनी अधिक न होनी चाहिये कि माँग की लोच के अन्तर को बराबर कर दे।

(ii) विक्रेताओ में आपस में समानता हो, नही तो स्वतन्त्र स्पर्धको को तेज बाजार मे बेचने से लाभ होगा।

(iv) जब वस्तु खास आर्डर पर बेची जाती है तो विवेचन सम्भव होता है क्योकि तब खरीदने वाले यह नही जान सकते कि दूसरो से क्या लिया जा रहा है।

पीगू के अनुसार, लाभदायक तथा सफल विभेद (discrimniation) के लिए दो बातें जरूरी हैं. (क) किसी वस्तु की किसी इकाई को, जिसे एक मण्डी में बेचा जा सकता है, दूसरी मण्डी में भेजना सम्भव नही होना चाहिए। ऐसी स्थिति उस समय होती है जब उपभोक्ताओ की सीधी सेवा की जाती है, जैसे अध्यापको, डाक्टरो तथा वकीलो आदि के द्वारा की जाने वाली सेवाए अथवा वे सेवाए जो सीधे वस्तु से सम्बन्धित हो, जैसे रेल द्वारा माल का परिवहन। हस्तान्तरण (transference) अथवा माल भेजने पर परिवहन की लागत बढा कर इसे रोका जा सकता है अथवा अधिक प्रशुल्क (tariff) द्वारा अथवा ऐसी सविदाए (contracts) जिनके द्वारा बेचने पर रोक हो। (ख) यह भी सम्भव नही होना चाहिए कि माग की एक इकाई एक मण्डी विशेष से दूसरे में पूरी हो सके। ऐसी स्थिति उस समय पैदा होगी जब मण्डी धन (wealth) के आधार पर विभक्त होती है। कोई भी धनी व्यक्ति किसी मुफ्त

---

1 Robinson, Mrs. Joan—The Economics of Imperfect Competition, 1945, p 187

रियायत (free concession) का फायदा उठाने के लिए गरीव होना नही चाहेगा। सिल्क का व्यापारी कोयले का व्यापारी नही वन सकता, जिसमें वस्तु भाडा (freight) कम है।

कीमत विभेद तथा पैदावार (Price Discrimination and Output)—जब दो वाजारो में माग की लोच भिन्न होती है तो यह पाया जायगा कि उत्पादन की एक इकाई की विक्री से सीमान्त आगम (revenve) वहा अधिक होगा जहा लोच अधिक है, न कि जहा लोच कम है। अतएव जहा लोच कम है वहा उत्पादन घटाना और कीमत वढाना तथा जहाँ लोच अधिक है वहाँ उत्पादन वढाना और कीमत घटाना लाभदायक होगा। इस प्रकार दोनो बाजारो में सीमान्त आगम वरावर हो जायगा। पर क्या उत्पादन की मात्रा बढेगी या घट जायगी अथवा वही रहेगी ? श्रीमती रोबिन्सन ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया है "यह वात स्थापित करना सम्भव है कि विभेद के अन्तर्गत कुल उत्पादन साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक या कम होगा। जैसे-जैसे अलग वाजारो में माँग वक्रो में से अधिक लोचदार वक्र कम लोचदार माँग वक्र की अपेक्षा अधिक या कम टेढा होगा, और यह कि कुल उत्पादन वही होगा यदि माँग वक्र सीधी रेखाए है या अन्य दूसरी दशा में जव कि टेढापन बरावर है।"[1] यह तभी लागू होता है जव कि सीमान्त लागत साधारण एकाधिकार तथा विभेद एकाधिकार में एक ही है। परन्तु यदि सीमान्त लागत गिर रही है तो विभेद एकाधिकार में उत्पादन में अधिक वृद्धि हो जायगी और यदि सीमान्त लागत वढ रही है तो उत्पादन में अधिक कमी हो जायगी। पूर्ण रूप से यह अधिक सम्भव है कि विभेद से कुल उत्पादन में कमी की अपेक्षा वृद्धि हो।

क्या कीमत विभेद समाज के लिए लाभदायक है ? (Is price discrimination beneficial to society ?)—कुछ दशाओ में कीमत विभेद समाज के लिए लाभप्रद होता है, विशेषकर ऐसी सेवाओ में जो समाज के लिए लाभप्रद हो। यदि गरीबो के लिए कीमतें कम कर दी जायें तो प्रति इकाई सामान्य लाभ न होने के कारण उत्पादन-लागत पूरी नही हो सकेगी। यदि कीमत अधिक कर दी जाय तब भी विक्रय कम होने के कारण प्राप्ति कम होगी। फलस्वरूप सम्भव है कि वस्तु का उत्पादन ही वन्द हो जाय। इस प्रकार कुछ उत्पादन की मात्रा तैयार ही न होगी क्योकि विभेद एकाधिकार में औसत आगम (revenue) साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक होता है। "यह हो सकता है कि यदि विभेद की मनाही हो तो रेल ही न वनाई जाय या डाक्टर अपनी प्रेक्टिस ही न शुरू करे। यह उचित है कि ऐसी दशाओ में विभेद की अनुमति दी जावे।" ऐसी दशा में यदि विभेद कीमतें ली जायें तो प्राप्ति से लाभ के साथ लागत पूरी हो सकेगी, और इस प्रकार हर व्यक्ति को लाभ होगा।

चूंकि विभेद के अन्तर्गत कुछ व्यक्तियो के लिए कीमत वढा दी जाती है और कुछ के लिए कम कर दी जाती है यह स्पष्ट है कि कीमत विभेद कुछ के लिए लाभ-

---

1 For the proof see diagram, p 191

दायक और कुछ के लिए हानिकारक है। परन्तु सामाजिक कल्याण पर शुद्ध प्रभाव इस वात पर निर्भर होगा कि समाज किस वर्ग का पक्षपात करता है। यदि आम जनता के लिए कीमत घटा दी जाती है और दूसरे "वर्गों" के लिए वढा दी जाती है तो समाज को दुखी होने की कोई वात नही है क्योकि ऐसी व्यवस्था का तात्पर्य आर्थिक कल्याण का वढाना है। परन्तु भौगोलिक विभेद की दशा मे यह भी सम्भव है कि कम लोचदार वाजार (जिसके लिए कीमत वढाई जाती है) स्वदेशी वाजार हो सकता है, जवकि विदेशी वाजार अधिक लोचदार हो और इसलिए जिसमें कीमत घटानी पड़े। ऐसी दशा में अपने देश वालो की अपेक्षा विदेश वालो को अधिक लाभ होगा। ऐसा विभेद समुदाय के लिए हानिकारक होता है। तो भी इसमें एक शर्त लागू होती है। यदि उद्योग मे वढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है तो विवेचन एकाधिकार में साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक उत्पादन से कम लोचदार वाजार को भी लाभ होगा। इस प्रकार विदेशो में राशिपातन (dumping) से स्वदेशी वाजार में भी कीमत गिर जाती है। और इस तरह उस देश को भी लाभ होता है।

श्रीमती रोविन्सन इस प्रकार निष्कर्ष निकालती है . "समाज के दृष्टिकोग से यह कहना असम्भव है कि कीमत विभेद उचित है या नही। एक दृष्टिकोण से कीमत विभेद साधाधारण एकाधिकार से उन सव दशाओ में जिनमें उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है वढकर है। और ऐसी दशाए सावारणतया अधिक पाई जाती है। परन्तु इस लाभ के विपरीत कीमत विभेद भिन्न-भिन्न प्रयोगो में साधनो का गलत वितरण करता है . . अतएव यह कहने के पहिले कि कीमत विभेद उचित है या नही यह आवश्यक है कि इस हानि के विपरीत उस लाभ की तुलना कर लेनी चाहिये जो उत्पादन की वृद्धि से होता है। उन दशाओ में जिनमें कि विभेद उत्पादन को कम करता है, यह सव तरह से हानिकारक है।"

जव विभेद राशिपातन (dumping) का रूप ले लेता हो तो यह घातक हो जाता है।

९. राशिपातन द्वारा कीमत विभेद (Price Discrimination by Dumping)—जव उत्पादक दूसरे देशो में अपने देश से कम कीमत पर उसी वस्तु को वेचते हैं, तो उनका यह कार्य "राशिपातन" कहलाता है। कभी-कभी ऐसा करने से (लागत से भी कम कीमत पर वेचने से) एकाधिकारी को लाभ भी होता है।

राशिपातन में एकाधिकारी के कई आशय होते हैं—(क) या तो वह माग का सही अनुमान न लगने के कारण अधिक उत्पादित वस्तु के स्टॉक के विक्रय के हेतु करता है। (ख) कभी-कभी वह विदेश के वाजार से प्रतियोगियो को भगाने के लिए भी राशिपातन का सहारा लेता है। (ग) अथवा नये व्यापारिक सम्बन्ध करने के लिए करता है। (घ) वड़े परिमाण में उत्पादन के लाभ उठाने के हेतु भी एकाधिकारी ऐसा करता है।

राशिपातन का उदाहरण इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —

घरेलू बाजार
(Home Market)

विक्रय कीमत (Sale price) रु० आ०	उत्पादन कीमत (Production price) रु० आ०	इकाइयों की सख्या (No of units)	शुद्ध आगम (Net revenue) रु० आ०
१० ०	५ ०	२००	५०० ०
९ १२	४ १२	१५०	७५० ०
९ ४	४ ८	२००	९५० ०
८ ८	४ ४	२५०	१०६२ ८
७ १२	४ ०	३००	११२५ ०
७ ०	३ १२	३५०	११३७ ८
५ १२	३ ४	४००	१००० ०
४ १२	२ १२	४५०	७८७ ८

इस उदाहरण से यह प्रकट है कि यदि एकाधिकारी केवल घरेलू बाजार के लिए ही उत्पादन करता तो ३५० इकाइयो का उत्पादन करता, और उसे ७ रु० प्रति इकाई बेच देता। इससे उसे सबसे अधिक शुद्ध आगम की प्राप्ति होगी। (रु० ११३७–८आ०)।

अब मान लीजिये कि उसने बजाय ३५० इकाइयो के ४५० इकाइयो का उत्पादन किया। उसकी कुल लागत रु० ४५०×२$\frac{3}{4}$=रु० १२३७–८–० होती। ३५० इकाइयो पर उसकी कुल लागत ३५० रु०×३$\frac{3}{4}$=१३१२ रु० ८ आ० होती।

इस प्रकार एकाधिकारी १०० इकाइयो का और उत्पादन करके अपनी कुल लागत मे ७५ रु० (१३१२ रु० ८ आ०—१२३७ रु० ८ आ०) की कमी कर सकता है।

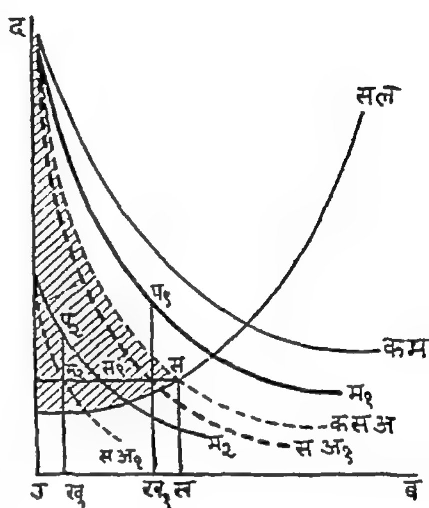
इसलिए यदि उसे अपनी इन १०० इकाइयो को बाद में नष्ट भी करना पडे तब भी इन १०० इकाइयो का उत्पादन उसके लिए लाभदायक होगा। और यदि वह परिवहन (transport) के व्यय से कुछ अधिक कीमत पर उन्हें विदेशो में बेच सके तो उसे और भी लाभ रहेगा। इस कीमत पर कोई विदेशी उत्पादक उससे प्रतियोगिता नही कर सकेगा।

पर ऐसे लाभ बहुत कम होते है। हमने तो सिद्धात को समझाने के लिए एक अत्यन्त सीधा उदाहरण ले लिया था। और फिर यदि वस्तु की घरेलू कीमत व विदेशी कीमत में इतना अतर हो कि उस वस्तु के दोबारा उत्पादन के लिए देश में आने पर यह अपनी लागत को भी पूरा कर ले तो उसका पुन निर्यात प्रारम्भ हो जायगा, बशर्तेकि बहुत अधिक कर न लगा दिये जाए। विदेश राशिपातन से बचने के लिए बडे ऊँचे आयात कर लगा देते हैं, विशेषकर उस समय जबकि उनके निजी उद्योग प्रभावित होते हो। यह एक अस्थायी स्थिति है और उस देश में जिसमें माल डम्प (dump) किया जाता है उससे कोई स्थायी लाभ नही होता। "यदि सीमान्त लागतें बढ रही हैं

तो विदेश मडी में डम्प (dump) करने की सम्भावना से घरेलू मडी चढ जायगी, यदि वे (सीमान्त लागतें) घट रही हैं तो कीमतें कम हो जायेंगी, और यदि वे स्थायी हैं तो वे अपरिवर्तित रहेंगी।" (वेन्हम)।

निम्न रेखाचित्र एकाधिकारी द्वारा कीमत विभेद की रीति प्रस्तुत करता है --

एकाधिकारी ने अपने बाजार को दो भागो में बाट दिया है जिनको म$_{१}$ और म$_{२}$ वक्रो द्वारा दिखाया गया है। क म कुल मांग प्रस्तुत करता है। और स, अ$_{१}$ बाजार में सीमान्त आगम (marginal revenue) है और स अ$_{२}$ दूसरे में। क स अ कुल सीमान्त आगम वक्र है। स ल सीमान्त लागत वक्र है। उ ख$_{१}$ एक बाजार का उत्पादन है और उ ख$_{२}$ दूसरे का। कुल उत्पादन उ ख है। उ ख$_{१}$, प$_{१}$ ख$_{१}$ पर बेचा जाता है और उ ख$_{२}$ प$_{२}$ ख$_{२}$ पर। एकाधिकार आगम रगे हुए क्षेत्र से दिखाया गया है। यह क स अ कुल सीमान्त आगम वक्र (कुल आगम) तथा स ल सीमान्त लागत वक्र (कुल लागत) के बीच में है। यह देखा जा सकता है कि अनुकूलतम उत्पादन (optimum production) (उ ख) उस विन्दु पर है जहा सीमान्त लागत वक्र (स ल) कुल सीमान्त आगम वक्र (क स अ) को काटता है। हर एक बाजार में बिक्री की मात्रा वह है जिसके लिए सीमान्त आगम (स अ$_{१}$ या स अ$_{२}$) सीमान्त लागत (म ख=स$_{१}$ ख$_{१}$=स$_{२}$ ख$_{२}$) के बराबर है।



रेखा चित्र नं० ६२

१०. क्या एकाधिकार कीमत सदैव ऊंची कीमत होती है? (Is Monopoly Price a High Price?)—हम देख चुके है कि एकाधिकारी अपने उत्पादन को नियंत्रित करके सीमान्त उत्पादन लागत से अधिक कीमत पर वस्तु का विक्रय कर सकता है। परस्पर प्रतियोगी कीमतें वस्तु के सीमान्त उत्पादन लागत को समान करने की प्रवृत्ति रखती हैं। पर इसका यह अर्थ नही है कि एकाधिकारी की कीमतें सदैव प्रतियोगी कीमतो से अधिक ही होती हैं। बहुत सी परिस्थितिया ऐसी हो सकती हैं कि एकाधिकार की कीमतें कम ही रहें और कभी-कभी तो कुछ कारणो से यह कीमतें प्रतियोगिता की कीमतो से भी कम हो सकती हैं।

अपनी विशेष सुविधाओ, उत्पादन का परिमाण, प्रचार तथा बाजार व्यय के कारण कभी-कभी एकाधिकारी प्रति इकाई कम लागत पर उत्पादन कर लेता है। ऐसी दशा मे यदि वह अपनी सीमान्त लागत से अधिक कीमत भी ले, तो भी वह प्रतियोगिता में उत्पादित वस्तु की सीमात लागत मे कम ही रहेगा। यह विशेषकर उन उद्योगो में होता है, जो महगी और बड़ी मशीनो का प्रयोग करते हैं तथा जिनकी वस्तुओ की माग लोच-

पूर्ण होती है। ऐसे उद्योग में उत्पादन की वृद्धि से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है और बढा हुआ उत्पादन अधिक लाभ से बेचा जा सकता है, चाहे कीमत कम ही क्यो न हो।

साधारणतया एकाधिकार-कीमत प्रतियोगिता की कीमत से कम नही होती। पर इसका यह अर्थ नही है कि एकाधिकार कीमत अत्यधिक ऊची होती है। एकाधिकार के अधिकार पर भी अनेक बधन होते हैं—वह असीम नही होते। वह सदैव अत्यधिक ऊँची कीमतें नही ले सकता। इसके अतिरिक्त एकाधिकारी सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने वाली कीमत के स्तर से भी अनभिज्ञ हो सकता है। कुछ और भी विचारणीय बातें है, जिनकी बहुत कम एकाधिकारी उपेक्षा कर सकते हैं। वैसे तो इनका अध्ययन एक दूसरे अध्याय मे किया जा चुका है, पर उनको यहा पर फिर दुहरा देना उचित ही होगा।

परन्तु इन तमाम नियत्रणो के होते हुए भी साधारणतया एकाधिकार की कीमतें प्रतियोगी कीमतो से अधिक ही होती हैं। इस तरह हमारा निष्कर्ष यह है कि एकाधिकारी ऐसी दशा में यदि वह चाहे कीमतो को नीचे स्तर पर रख सकता है, किन्तु ऐसा वह करता नही। इसलिए, यद्यपि यह आवश्यक नही है कि एकाधिकार कीमतें अधिक ही हो, तथापि वास्तव में वह होती अधिक ही हैं।

१२ क्रयाधिकार मे कीमत (Price under Monopsony)[1]—स्पर्धा क्रय (competitive buying) तथा क्रयाधिकार में यह अन्तर है कि पहले में बहुत से खरीदार हैं और उसमें से बहुतो का क्रय बाजार कीमत पर प्रभाव डालता है। हर एक के लिए पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार होती है। यदि उसकी लगाई हुई कीमत में तनिक परिवर्तन हो जाता है तो उसकी खरीदारी पर बडा प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ यदि उसने बाजार भाव से कम कीमत लगाई, तो वह कुछ भी न खरीद सकेगा। जहा तक हर एक खरीदारी का सम्बन्ध है, बाजार भाव दिया हुआ होता है। वह उतनी मात्रा खरीदेगा जो उसकी सीमान्त उपयोगिता को कीमत के बराबर कर देगा। क्रयाधिकार में एक ही खरीदने वाली एजेंसी होती है या खरीदार मिलजुल कर कार्य करते हुए मान लिये जाते है।

एक क्रयाधिकारी अपने क्रय की ऐसी व्यवस्था करेगा कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाय क्योकि उसको वस्तु की पूर्ति की कीमत का भुगतान करना ही पडेगा। प्रतियोगिता में कीमत अथवा औसत लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। सीमान्त लागत तथा कीमत में अन्तर तभी होगा जबकि उद्योग में लागत वृद्धि या लागत घटती नियम लागू होता है। जब स्थिर लागत नियम लागू होता है, तो औसत लागत (अर्थात् कीमत) तथा सीमान्त लागत बराबर होती हैं। और प्रतियोगिता तथा क्रयाधिकार में खरीदी हुई मात्रा एक होगी। जब उद्योग में वृद्धि लागत नियम लागू होता है तो क्रयाधिकारी जितनी अधिक मात्रा खरीदता है, उतनी ही अधिक कीमत उसको देनी पडेगी। वस्तु की पूर्ति-कीमत की अपेक्षा उसकी

---

1 See Joan Robinson—The Economics of Imperfect Competition, 1945 Ch 18

सीमान्त लागत अधिक होगी। पूर्ति की गिरती हुई कीमत में जितनी अधिक मात्रा खरीदी जायगी, उतनी ही कम पूर्ति की कीमत होगी और सीमान्त लागत पूर्ति की कीमत से कम होगी। इस हालत में वह प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक खरीदेगा।

जिस प्रकार एकाधिकारी का लक्ष्य लाभ को अधिकतम करना है इसी प्रकार क्रयाधिकारी का लक्ष्य अपनी उपभोक्ता की बचत अधिकतम करना है। और उपभोक्ता की बचत तब तक अधिकतम होगी जब कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो। इसको "अनुकूलतम क्रय" (optimum purchase) कह सकते हैं। यदि क्रय की हुई मात्रा इससे अधिक है तो सीमान्त उपयोगिता सीमान्त लागत से कम होगी और उपभोक्ता की बचत घट जायगी। क्रय की मात्रा कम होने का मतलब यह होगा कि उपयोगिता लागत में बचत से अधिक कम हो जायगी।

एक क्रयाधिकारी भी एकाधिकारी की भाति बेचने वालो से अलग-अलग व्यवहार करके कीमत विवेचन कर सकता है। "क्रयाधिकारी पूर्ति के हर सूत्र से इस प्रकार खरीदेगा कि हर सूत्र मे खरीदी हुई मात्रा की सीमान्त लागत उसके लिए आपस में तथा कुल खरीदी हुई मात्रा की सीमात उपयोगिता के बराबर है जैसे कि एक एकाधिकारी हर बाजार मे उतनी ही मात्रा बेचेगा कि हर बाजार मे सीमात आगम आपस में बराबर हो तथा कुल मात्रा की सीमात लागत के भी बराबर हो। लाभ के साथ विवेचन करने की सम्भावना भिन्न-भिन्न सूत्रो की पूर्ति की लोच मे अन्तर पर अर्थात् हर खरीदारो के समूह के औसत लागत वक्र की लोच पर निर्भर होगी।"[1] किस हद तक क्रयाधिकारी विवेचन कर सकता है, यह बेचने वालो की सख्या तथा हर एक की पूर्ति की दशाओ पर निर्भर है।

एक प्रकार से एकाधिकारी अपने प्रयोग किये हुए साधनो का क्रयाधिकारी है। और यदि साधन एक ही प्रकार के नही है, तो वह उनमे विवेचन कर सकेगा, खासकर एक अपूर्ण लोचदार पूर्ति की दशा मे।

१२. उभयपक्षीय एकाधिकार (Bilateral Monopoly)—यह शब्द उस स्थिति पर लागू होता है जब कि एक क्रय के एकाधिकार के साथ-साथ बिक्री का एकाधिकार भी होता है, अर्थात् एक एकाधिकार का एक क्रयाधिकारी सामना करता है। वास्तविक संसार मे ऐसी स्थिति का होना सामान्य नही है। एकाधिकारी ऐसे पैमाने पर कार्य करना चाहता है जहाँ कि सीमान्त लागत सीमान्त आगम के बराबर है क्योंकि ऐसा करने से उसका अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। दूसरी ओर एक क्रयाधिकारी वह मात्रा खरीदना चाहता है जिससे कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाय। यह बताता है कि खरीदार के लिए अनुकूलतम कीमत एक होती है और बेचने वाले के लिए दूसरी। यह निर्धारित करने के लिए कि इन कीमतो के बीच कौन सी कीमत स्थापित होगी, इसके लिए कोई आर्थिक सिद्धान्त नही है। माँग तथा लागत वक्रो का पूरा ज्ञान नही है और यह ठीक-ठीक नही बताया जा सकता कि कितनी मात्रा किस कीमत पर बिकेगी। कीमत परिस्थिति पर निर्भर होगी। बहुत सी स्थितियो में यह

---

1 Ibid, p 224

समझौते की कीमत होगी जो दोनो पक्षो की मोल तौल की शक्ति से प्रभावित होती है। आर्थिक प्रेरणा के अतिरिक्त प्रशासनीय (administrative) कारण भी निर्णय में हस्तक्षेप कर सकते है।

निर्देश पुस्तकें

Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 13
Marshall, A —Principles of Economics and Industry and Trade
Pigou, A C —Economics of Welfare
Benham, F —Economics
Robinson, Joan—The Economics of Imperfect Competition, 1944, Ch 15 and 20
Chamberlin, E H —Theory of Monopolistic Competition
Robinson, E A G —Monopoly
Stigler, G J —Theory of Price, 1947, Chs 11—14
Watkins, M W —Industrial Combinations and Public Policy, 1927.
Macgregor, D H —Industrial Combination, 1935
Tarshis, L —Elements of Economics, 1946 Chs 15 and 16

अध्याय २४

अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य

(VALUE UNDER IMPERFECT COMPETITION)

१ अपूर्ण अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता (Imperfect or Monopolistic Competition)—अभी तक हमने मूल्य को पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण एकाधिकार की स्थिति द्वारा निर्धारित होने पर विचार किया है । ये परिस्थितिया वास्तविक जीवन मे घटित होने वाली नही है। अधिकतर वास्तविक परिस्थितिया इन दोनो के बीच मे रहती है, जिनको "एकाधिकृत प्रतियोगिता" अथवा "अपूर्ण प्रतियोगिता" अथवा समूह साम्यावस्था (group equilibrium) का नाम दिया जाता है। इस अध्याय मे हम इस विषय पर विचार करेगे कि ऐसी परिस्थितियो मे मूल्य निर्धारण कैसे होता है।

जब एक अथवा सम्मिलित रूप से कई विक्रेता (combined body of sellers) होते है तो इसे एकाधिकार का नाम दिया जाता है। किन्तु जब विक्रेता कई होते है और प्रत्येक का अपना मार्केट होता है, उस समय इसे अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता की स्थिति कहते है। यह स्थिति प्रतियोगी एकाधिकारियो की है। वे न तो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे तैयार किया जाने वाला माल तैयार करते है, और न ऐसा ही जो इससे सर्वदा भिन्न हो अथवा ऐसा जो एकाधिकार मे तैयार किए जाने वाले के समान। उत्पादविभेद बना रहता है, तैयार किया गया माल भिन्न किस्म का होता है परन्तु बिल्कुल भिन्न भी नही होता। फिर भी काफी प्रतियोगिता होती है। इसलिए स्थिति एकाधिकार की अपेक्षा प्रतियोगिता की होती है।

जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, (i) वहा पर उत्पादन के साधनो को एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे आने-जाने पर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम बन्धन होते हैं। यह बन्धन उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को विभिन्न व्यवसायो के समान होने से रोकते है। (ii) नियत्रण की इकाई बडी होनी चाहिये, जो वस्तुओ का उत्पादन घटा-बढा कर उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सके तथा (iii) विज्ञापन द्वारा या किसी दूसरे कारणो की सहायता से व्यापारी परदे के पीछे इस प्रकार कार्य करते है कि कीमत तथा गुण छिपे रहते है। जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तब प्रतिरोधी उत्पादक कठिनाइयो के कारण अपने मूल्य को कम करके एक दूसरे के ग्राहको को आकर्षित नही कर सकते। इस प्रकार वह अपने ग्राहको को खोए बिना भी पर्याप्त ऊची कीमते वसूल कर सकते है। ऐसी स्थिति को बे-कीमत (non-price) प्रतियोगिता कहते है। लाभ सुरक्षित रहता है। लेकिन दीर्घावधि मे असाधारण लाभ प्रतिस्पर्द्धको के द्वारा

उमी प्रकार का माल तैयार करन के कारण समाप्त हो जाता है।

एकाधिकृत प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म का औसत आगम (average revenue) वक्र स्वतत्र तथा दिया हुआ होता है । यह (वक्र) नीचे की ओर मुड़ता है और इसका रूप (shape) उपभोक्ताओ के स्वाद तथा समस्त प्रतिस्पर्द्धी उत्पादको के मिश्रित कार्य पर आधारित होता है।

२ अपूर्ण प्रतियोगिता किस प्रकार प्रकट हो सकती है (How Imperfect Competition May Emerge)—एकाधिकार की कुछ स्पष्ट घटनाओ पर पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है। कुछ ऐमे भी कारण हैं जो प्रतियोगिता को पूर्ण वना देते हैं। यहा कुछ अर्ध-एकाधिकार (Semi-monopoly) की अवस्थाए उत्पन्न हो सकती है, जो ऊपरी तौर से प्रतियोगिता करने वाले विक्रेताओ को एकाधिकार के लाभ की प्राप्ति के लिए उकसाती हैं । ऐसी हालत तब उपस्थित होती है जब किसी वस्तु का बाजार अपूर्ण होता है, चाहे उस वस्तु के उत्पादको की सख्या बहुत बडी क्यो न हो। उत्पादक अपनी वस्तुओ के साथ सेवाओ को मिलाकर तथा अन्य तरीको से **अपनी-अपनी वस्तुओ को ग्राहकों की दृष्टि में पृथक्-पृथक् कर लेते हैं।** इससे उन्हे सीमित एकाधिकार की शक्ति प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार की एकाधिकार प्रतियोगिता की परिस्थितिया निम्नलिखित कारणो से पैदा हो सकती है —

(क) **परिवहन सबंधी लागत खर्च**—परिवहन सबंधी खर्च बाजार के क्षेत्र को सीमित कर सकते है और इस प्रकार प्रतियोगी वस्तुओ को क्षेत्र से अलग रख सकते है। यह एक विक्रेता को एकाधिकार कीमतें लेने योग्य बना देगी।

(ख) **उपभोक्ताओ में योग्यता, समाचार व सूचना का अभाव**—उपभोक्ता इस बात से अनभिज्ञ रहते है कि वह उसी वस्तु को दूसरे उत्पादक से सस्ती कीमत पर खरीद सकते हैं और इस प्रकार वह प्रतियोगिता मूल्य से अधिक देने को तैयार हो जाते हैं।

(ग) **क्वालिटी में वास्तविक और अनुमानित अंतर**—यह भी वस्तु का विभेद (differentiation) कहलाता है। उपभोक्ता विशिष्ट चिह्न वाली वस्तुओ, जैसे चाय, कॉफी, साबुन, सिगरेट, कपडे इत्यादि का प्रयोग करने लग जाते हैं। यह क्रम उन वस्तुओ के उत्पादको को इस योग्य बनाता है कि वे प्रतियोगिता की कीमतो से अधिक ले सकें।

(घ) कुछ उपभोक्ता वस्तुओ को फैशनेबल (चटक-मटक) वाली दुकानो से खरीदना पसन्द करते हैं, जैसे चादनी चौक और सदर बाजार की अपेक्षा कनाट प्लेस व नई दिल्ली से। इसी कारण कनाट प्लेस वाले उन्ही वस्तुओ के लिए अधिक दाम लेते हैं।

अन्तिम दो हालतो में अगर कीमत बहुत अधिक होती है तो उपभोक्ता या तो उस चिह्न वाली वस्तु को अथवा उस खरीदने के स्थान को बदल देता है।

अपूर्ण प्रतियोगिता के लक्षण (Symptoms of Imperfect Competition)—ऐसी स्थिति की जाच करने के लिए कि हालात शुद्ध प्रतियोगिता (pure competition) अथवा एकाधिकृत अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के हैं, यह बातें जरूरी हैं—(i) विज्ञापन, (ii) विभिन्न ट्रेड-चिह्न तथा लेबल आदि का उपयोग,

(iii) मूल्य-कथन (price-quotation), तथा (iv) कीमतों में भेद (price variations)।

यदि व्यापारी प्रतियोगिता का सहारा लेते है और अपने माल पर जुदा छाप (ब्राड) लगाते है, तो यह स्पष्ट है कि प्रतियोगिता अपूर्ण है। शुद्ध प्रतियोगिता उसे कहते है जब उत्पाद स्टैंडर्ड हो और विज्ञापन की जरूरत न पडे। यदि प्रति मन के हिसाव से कीमतो मे भेद को वताया जाए तो प्रतियोगिता पूर्ण होती है, चूकि इससे यह पता चलता है कि खरीदार कीमतो के जरा से भेद को भी पहचानते है। जब कीमतो मे विस्तार से अन्तर होता है, जैसा कि खुरदा स्टोर आदि मे तो प्रतियोगिता अपूर्ण होती है।

३. अपूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य (Value Under Imperfect Competition)—अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे मूल्य-निर्धारण मौलिक रूप से पूर्ण प्रतियोगिता से भिन्न होता है। जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तो जिस वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, वह प्रामाणिक नही होती और इसलिए कीमत के आधार पर प्रतियोगिता सभव नही है। अब खरीदार केवल एक वस्तु ही नही खरीदते बल्कि उन सेवाओं को भी साथ-साथ खरीदते है जो उस वस्तु के साथ जुडी हुई होती है (अर्थात् माल भडारो की स्थिति, पैकिंग, ट्रेड चिह्न, वेचने वालो के व्यक्तित्व आदि वातो को परख कर)।[1] वे अपनी पसन्द की वस्तु के लिए अपेक्षाकृत अधिक देने को तैयार रहते है। वे कितना अधिक देगे, यह इस वात पर निर्भर नही करता कि उसकी वास्तविक उपयोगिता कितनी है, अथवा वेचने वाला उसके विषय मे क्या कहता है वल्कि इस वात पर निर्भर करता है कि **खरीदार की दृष्टि में वह वस्तु अपेक्षाकृत कितनी अच्छी लगती है।**

इसके अलावा पूर्ण प्रतियोगिता में किसी विक्रेता की वस्तु की माँग पूर्णत लोचदार होती है। वह बाजार भाव पर प्रभाव नही डाल सकता लेकिन उस कीमत पर जितना चाहे वेच सकता है। उसके ऐसा करने से वाजार-भाव के गिरने का कोई डर नही रहता। अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति इससे भिन्न है। विक्रेता जानता है कि खरीदार उसकी चीज वहुत पसन्द करता है। उस वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी वस्तु के प्रयोग होने का डर नही रहता। फलस्वरूप उसकी वस्तु की माँग इतनी लोचदार नही होती। इसलिए वह कीमत निर्धारित कर सकता है।

वे कौन-सी वातें जो है अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य-निर्धारण पर प्रभाव डालती है? अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी विक्रेता अपनी वस्तुओ की मण्डियो को वढाना चाहते है। यह वे दूसरो के छाप या व्रान्ड्स के द्वारा कर सकते है। लेकिन इसके लिए उन्हें पूर्ण प्रतियोगिता के अपेक्षाकृत कही अधिक कीमत गिरानी पडेगी। तव कही जाकर दूसरो के ग्राहक तोडे जा सकेंगे। लेकिन ऐसा करते समय उसे इस वात का ध्यान रखना पडेगा कि अन्य विक्रेता भी दाम गिरा सकते है और आगे चलकर कीमत को वढाना न तो ठीक होगा

---

[1] Meyers, A L—Elements of Modern Economics, 1951, p. 138

और न सभव ही होगा। जो भी मूल्य-नीति वह अपनायेगा, उसे उसके दीर्घकालीन परिणामो को ध्यान में रखना होगा।

यदि कीमत की गिरावट दूसरो पर अधिक प्रभाव नही डालती या दूसरो के ग्राहको मे से केवल थोडे से ही लोगो को खीचती है, तो बदले का डर बहुत कम होगा। साधारणत प्रत्येक विक्रेता को 'भूल-सुधार" (trial and error) के सिद्धान्त पर चलना होगा। प्रतियोगी वस्तुओ की कीमतें बदलती रहती हैं और यह मालूम करना कि अमुक कीमत का प्रतियोगी विक्रेताओ पर क्या-कैसा प्रभाव पडेगा असभव-सा है। इसलिए यदि कोई कीमत सतोषजनक पाई गई है तो अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे विक्रेता उसी को स्थिर रखेगा।

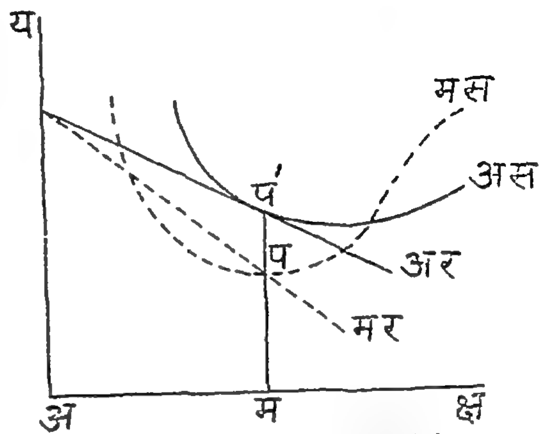
वह कौन-सा सिद्धान्त है जिसके अनुसार वह अपने उत्पादन की मात्रा और कीमत निश्चित करेगा। अपूर्ण प्रतियोगिता एकाधिकार से बहुत-कुछ मिलती जुलती है। केवल अन्तर यह है कि एकाधिकार में एक व्यक्ति या फर्म का सारे बाजार पर अधिकार होता है, जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे बाजार कई भागो मे विभाजित हो जाता है और प्रत्येक भाग में एक छोटा-सा एकाधिकारी होता है। अस्तु, प्रत्येक भाग मे कीमत का निर्धारण एकाधिकार के मूल्य सिद्धातो के अनुसार होता है। एकाधिकार की तरह, **अपूर्ण प्रतियोगिता में भी कीमत उस स्थान पर निश्चित होगी जहा पर सीमात लागत और सीमात आगम (marginal cost and marginal revenue) की उत्पादक इकाइया समान (equal) होगी।** अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए उत्पादक पैदावार को उस समय तक बढाते रहेंगे और उसकी पैदावार उस समय अनुकूलतम (optimum) होगी जब कि सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर न हो जायेगी। दोनो के बराबर होने पर उत्पादन आदर्श बिन्दु पर पहुँच जायगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सीमान्त आगम वह आगम है जो अतिरिक्त पैदावार की बिक्री से प्राप्ति के कुल आगम में जोडा जाता है।

यहा तक याद रखना होगा कि सीमान्त लागत और सीमान्त आय को समतुल्य करने का सिद्धान्त तभी तक लागू होगा **जब तक कि एक विक्रेता की वस्तु की मांग-रेखा अपरिवर्तित रहती है।** नई प्रतियोगी फर्मों के आने से माग और फलस्वरूप लाभ में परिवर्तन होगा। शुरू में जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तो माग कम लोचदार होती है। अब मान लो कुछ नई फर्मे खुल जाती है और ग्राहको की आवश्यकताओ की तृप्ति की दृष्टि से उनकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है। इसका फल यह होगा कि कुछ ग्राहक उनकी ओर खिच आयेगे और माग-रेखा बाई ओर खिसक जायगी। इसी प्रकार यदि और नई फर्मे आती जायेंगी, तो माग घटती चली जायगी। यदि नई फर्मों का आना आसान है, और यदि एकाधिकार लाभ प्राप्त हो रहे हैं, तो जबतक एकाधिकार लाभ समाप्त न हो जायगा नई फर्मे आती रहेंगी।[1]

---

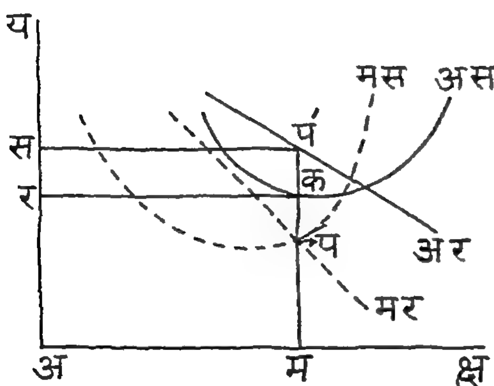
1 See ibid, pp 186—196 for diagrams illustrating the effects of entry of rivals and the final situation when monopoly profit disappears

पिछले अध्याय के तीसरे विभाग मे यह दिखाया गया है कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत कैसे निश्चित होती है। उसको देखने से पता चलता है कि एकाधिकार की तरह अपूर्ण प्रतियोगिता में भी, सीमान्त आय कीमत से कम होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में वह कीमत के बराबर होती है। अपूर्ण प्रतियोगिता में अनुकूलतम पैदावार की मात्रा पूर्ण प्रतियोगिता के हिसाब से कम होती है। अनुकूलतम पैदावार वह राशि है जिसपर लाभ (एकाधिकारी के लिए एकाधिकार आगम—अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे) होता है।



रेखा चित्र नं० ६४ (दीर्घावधि)

निम्नांकित रेखा चित्रो में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मूल्य निश्चय करने की विधि का निरूपण किया गया है। रेखा चित्र न० ६३ मे अल्पावधि मे होनेवाली स्थिति समझायी गई है और रेखा चित्र मे न० ६४ मे दीर्घावधि में। अल्पावधि मे, अनुकूलतम पैदावार अ म है, जबकि म र तथा म स प विन्दु पर काटते है, अर्थात् सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर है। इस तरह र क प' स असाधारण लाभ होता है। लेकिन, दीर्घावधि मे, यह प्रतियोगी अवस्था के कारण खत्म हो जाता है। अनुकूलतम पैदावार अधिक होती है।



रेखा चित्र न० ६३ (अल्पावधि)

४. अपूर्ण प्रतियोगिता मे व्यावसायिक सस्थाओ की सख्या तथा आकार (*Size and Number of the Firms under Imperfect Competition*) —जैसा कि हम पहले देख चुके है कि पूर्ण प्रतियोगिता में व्यावसायिक सस्थाओ की सख्या इस प्रकार सगठित की जाती है कि साम्य (equilibrium) की स्थिति में हर एक फर्म अनुकूलतम अथवा सर्वोत्तम आकार वाली होगी। इन हालतो मे अनुकूलतम आकार से नीचे वाली व्यवसायी सस्थाए आगे वढेगी। जैसे वे वढे उनकी लागत गिरेगी लेकिन उनके अतिरिक्त उत्पादन से प्राप्त कीमत वही रहेगी। अगर प्रतियोगिता अपूर्ण है तो सभव है वह फर्म न वढे। उसके वढाने से नि सदेह सीमात व्यय कम हो जायगा, लेकिन साथ-साथ इसकी कीमत भी कम हो जाएगी क्योकि उसकी उत्पादन की मात्रा उसकी कीमत पर प्रभाव डालेगी। यह सभव है कि कीमत कम हो जाने

पर विक्रय के लाभ से भी अधिक हानि हो, इसलिए वह फर्म आगे बढने का प्रयत्न नही करेगी। अस्तु,अयोग्य फर्म (inefficiency firms) जब तक अपूर्ण प्रतियोगिता है, तब तक रह सकती हैं। इस तरह सभी फर्म अनुकूलतम आकार की नहीं होगी। उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी व्यवसाय के अन्दर व्यवसायी सस्थाओ की सख्या पूर्ण प्रतियोगिता में व्यवसायी सस्थाओ की सख्या से अधिक हो सकती हैं। यह इसलिए सम्भव है कि अयोग्य फर्म पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में बाहर निकल जाती हैं। अपूर्ण प्रतियोगिता में योग्य व्यवसायी सस्थाए अयोग्य व्यवसायी सस्थाओ को बाजार से बाहर निकालने में असमर्थ रहती हैं। क्योकि ऐसा करने मे योग्य व्यवसायी सस्थाओ को अयोग्य व्यवसायी सस्थाओ के ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करने में कुछ सीमा तक वस्तुओ की कीमत में कमी करनी पडती है। और योग्य फर्में ऐसा करना उचित नहीं समझती। पूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य की थोडी कमी ही अयोग्य फर्मों के ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करके अयोग्य फर्मो को बाजार के बाहर निकालने मे समर्थ हो जाती है।

इस प्रकार जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तब बहुत सी फर्में उत्पादन क्षेत्र में होती हैं और प्रत्येक का उत्पादन अनुकूलतम उत्पादन से कम होता है। उनमें से बहुत सी सामान्य लाभ से अधिक लाभ उठा लेती हैं। इस प्रकार एकाधिकार इस बात में हो सकता है कि प्रत्येक के पास एक अर्धस्वतन्त्र बाजार हो जिसकी रक्षा, परिवहन लागत (transport cost), अनभिज्ञता और क्रेताओ की सरक्षकता का द्वारा हो। ऐसी परिस्थितियो में समाज को लाभ अधिक होगा यदि उद्योग में कुछ कम फर्में हो। फर्मों की सख्या कम होने से प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार की हो सकेगी। इससे लागत घट जायगी और साथ-साथ कीमत भी।

इस प्रकार अब हम अपूर्ण प्रतियोगिता से होने वाली हानियो के अध्ययन की ओर बढेंगे।

५ अपूर्ण प्रतियोगिता से हानिया (Wastes of Imperfect Competition)—जो हानिया एकाधिकार के सम्बन्ध में ऊपर कही गई हैं इनके अतिरिक्त कुछ और भी हैं, जो अपूर्ण प्रतियोगिता से सम्बन्धित है। ऊपरी तौर से यह कभी-कभी "प्रतियोगिता की हानियो" के रूप मे खयाल की जाती है, लेकिन इन्हें "एकाधिकार की हानिया"[1] अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता की हानिया कहना अधिक अच्छा होगा। यह हानिया क्रेताओ के स्वभाव, पूर्वाग्रह (prejudice), तथा अनभिज्ञताओ के कारण होती हैं।

(क) **प्रतियोगिक विज्ञापन-व्यय** साधारणतया प्रतियोगिता की हानियो की सूची मे शामिल किया जाता है। पर वास्तव में यह पूर्ण प्रतियोगिता के कारण नही, बल्कि अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होता है। यदि प्रतियोगिता पूर्ण हो तो इतनी लागत की आवश्यकता नही, क्योकि तब तो हरेक फर्म अपनी कीमत को थोडा कम करके अपनी

---

1 Meade—Economic Analysis and Policy, pp 165 168

विक्री वढा लेगी। अपूर्ण प्रतियोगिता में उपभोक्ताओ की परम्परागत पसन्दगी को तोडने के लिए कीमत में बहुत भारी कमी करने की आवश्यकता होगी। इससे यह बात ज्ञात होती है कि प्रचार पर रुपया व्यय करके उपभोक्ताओ को फुसलाना "कि अमुक प्रचारक सस्था की उत्पादित वस्तु अन्य प्रतिद्वन्द्वियो से अच्छी है," देश और जाति को आर्थिक हानि पहुचाना है।

(ख) **एक ही वस्तु के दुहरा परिवहन का व्यय** भी ऐसा ही एक अपव्यय है। उत्तर भारत की सस्था दक्षिण भारत के उपभोक्ताओ को कोई वस्तु बेचती है। तथा उसी समय वही वस्तु दक्षिण भारत की सस्था उत्तर भारत मे बेचती है। इस प्रकार की दशा भी पूर्ण प्रतियोगिता के न होने के कारण पैदा होती है। यदि प्रतियोगिता पूर्ण होती तो थोडी सी कीमत कम करके उत्तर भारत की सस्था वहा के क्रेताओ को आर्कपित करती और दक्षिण भारत की सस्था दक्षिण के क्रेताओ को अपनी ओर आर्कपित करती। इससे परिवहन व्यय मे काफी वचत हो जाती। प्राय होता यह है कि व्यावसायिक सस्थाए अपने प्रचार व परिवहन पर अधिक व्यय करती है, इसे वह अधिक ठीक समझती है, लेकिन वस्तुओ की कीमत को थोडा कम करके अपने पडोसी क्रेताओ को उनकी पसन्दगी के अनुसार आकर्षित नही करती।

(ग) **अपूर्ण प्रतियोगिता का तीसरा अपव्यय यह है** कि हर एक फर्म जिसके लिए वह अधिक उपयुक्त है, उसमे विशेषता प्राप्त करने के लिए असफल हो जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता में ऐसी विशेषता तभी प्राप्त होती है, जब कि उसमे कुछ वास्तविक किफायत हो। क्योकि अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ मे हर एक सस्था को प्रचार पर रुपया व्यय करना पडता है, और अपने प्रतिरोधियो से ग्राहको को आर्कपित करने के लिए भी कीमतें कम करनी पडती है इसलिए प्रत्येक फर्म अपने ग्राहको के लिए विभिन्न प्रकार तथा गुण वाली वस्तुओ को उत्पन्न करना अधिक ठीक समझती है।

(घ) **अपूर्ण प्रतियोगिता से होने वाले अपव्यय के सम्बन्ध में पहले ही बताया जा चुका है। अपूर्ण प्रतियोगिता की एक और हानि** यह है कि ऐसी हालतो में वह योग्य व्यवसायी सस्थाए, जोकि कम व्यय मे उत्पादन कर सकती है अयोग्य फर्मों (inefficient firms) को वाजार से हटाने में असमर्थ होती है। यदि प्रतियोगिता पूर्न है तो फर्मे अपना कुल उत्पादन इतना वढायेंगी कि कीमत सीमान्त लागत तक आजाय जिसके फलस्वरूप अयोग्य व्यावसायिक सस्थाए पूर्ति (supply) करने में असमर्थ रहे। लेकिन यदि प्रतियोगिता अपूर्ण है तो योग्य व्यावसायिक सस्था को अपनी प्रतिरोधी अयोग्य व्यावसायिक सस्था के उपभोक्ताओ को अपनी ओर आर्कपित करने के लिए काफी रुपया व्यय करना पडेगा या इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए अपनी कीमत को घटाना पडेगा। इसलिए यद्यपि अयोग्य फर्मे सीमान्त लागत से अधिक कीमते ले रही हो तो भी योग्य फर्मे उनको वाजार से हटाना पसन्द न करेंगी।

(च) **अपूर्ण प्रतियोगिता** उन वस्तुओ के मान को स्थापित करने मे वाधा डाल सकती है, जो उत्पादन के सर्वोच्च तरीको को प्रयोग में लाने के लिए आवश्यक है ऊँची उत्पादन लागत पर विभिन्न प्रकार की मोटरे कई फर्मो द्वारा वनाई जाती

यदि केवल कुछ डिजाइनो की ही मोटरें बनाई जायें तो बडी मात्रा की पैदावार के लाभ के कारण प्रति इकाई लागत काफी घटाई जा सकती है। पूर्ण प्रतियोगिता में इस प्रकार की वृहद् उत्पादन इकाइयाँ निकलेंगी। अपूर्ण प्रतियोगिता में कोई उत्पादक एक विशेष डिजाइन की कारें अधिक सख्या में उत्पादन करने का खतरा नहीं उठायेगा, क्योकि अपने प्रतिस्पर्धी उत्पादको के पास से क्रेताओ को आकर्षित करने के लिए जो व्यय होगा, वह अधिक मात्रा में उत्पादन की किफायतो से अधिक होगा।

द्वयधिकार तथा अल्पाधिकार (Duopoly and Oligopoly)—अभी तक हमने ऐसी स्थिति पर विचार किया है जहा एक अकेला एकाधिकारी (एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का एक समूह) सारे बाजार का मालिक होता है। पर दूसरी स्थितिया भी इस ससार में आ सकती हैं। एक वह है जब कि एक के बजाय दो एकाधिकारी एकाधिकार की शक्ति रखते हो। इसको द्वयधिकार कहते हैं। दूसरी वह है जब दो से अधिक या कुछ विक्रेता एकाधिकार शक्ति रखते हो। इसको अल्पाधिकार कहते हैं। इस प्रकार के एकाधिकार कीमत सम्बन्धी अपनी निजी समस्याए प्रस्तुत करते हैं। अल्पाधिकार एकाधिकार तथा एकाधिकार प्रतियोगिता से भिन्न है, चूकि एकाधिकार में, बेचने वाला एक (व्यक्ति) है, लेकिन एकाधिकार प्रतियोगिता में उनकी काफी बडी सख्या होती है और अल्पाधिकार में बेचने वालो की सख्या बहुत कम होती है।

द्वयधिकार में एकाधिकारी एक समान वस्तु को बेचते मान लिये जाते हैं। बहुधा दोनों मे दलबन्दी होगी। वे एक कीमत मान लें अथवा भाग स्थिर कर लें, या प्रादेशिक बटवारा करलें जिसमें वह अपनी वस्तुएँ बेचें। विशेषकर ऐसा तब होगा जबकि उनकी लागत बराबर या लगभग बराबर है और माग स्थायी तथा लोचदार है। स्पष्ट रूप से यह दलबन्दी ऐसी स्थितिया पैदा कर देती है जो कि एकाधिकार से बिल्कुल मिलती जुलती हैं और कीमत निर्धारण एकाधिकार की भाति ही होगा।

यदि दोनो में कोई समझौता नही होता, तो स्थिति बदल जायगी। सबसे अधिक सम्भावना इस बात की है कि उनमे सदैव कीमत की लडाई होगी। सबसे महत्त्वपूर्ण सोचने की बातें है लागत तथा प्रतिस्पर्धी को निकालने में लाभ, दोनो फर्मों का सापेक्ष आकार (relative size), माग की लोच तथा गाहको की गतिशीलता, जिस फुरती से कि प्रतिस्पर्धी दूसरे की नीति में परिवर्तन होने से प्रत्याघात करता है तथा किस सीमा तक कीमत में रियायत को गुप्त रक्खा जा सकता है और इस प्रकार आगे भी।

यदि उत्पादक विभेद नही है और माल समान रूप का है तो इन दो उत्पादकों के बीच के उपभोक्ता उपेक्षित रहते हैं और दीर्घावधि में दोनो से समान कीमत ली जानी चाहिए, वरना जो ज्यादा कीमत लेगा, वह कुछ भी नहीं बेच पायेगा। उन्हें ऐसी कीमत निश्चित करनी चाहिए जिससे यह पता लगे कि दोनो एकाधिकारी (monopolists) एक समान हैं। सिर्फ इसी तरीके से वे अपने लाभ को अधिकतम कर सकते हैं। यदि ऐसी स्थिति हो कि दोनो के बीच भाव तय करने पर परस्पर झगडा होता है तो वे सिर्फ सामान्य लाभ ही कमा सकेंगे जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता

की स्थिति में होता है। यदि उनकी लागतें भिन्न-भिन्न है तो कम कीमत वाला दूसरे की बिक्री को पट कर देगा और इस प्रकार साधारण एकाधिकार की स्थिति स्थापित हो जायगी। इसलिए द्वयधिकारी के लिए सब से अच्छा उपाय यही है कि वे एकाधिकार कीमत निश्चित करें और इस प्रकार मार्केट तथा लाभ को परस्पर बाँट ले। अल्पावधि में यह सम्भव है कि प्रतियोगिता कीमत से द्वयधिकार कीमत कम हो तो कोई भी उत्पादक सामान्य लाभ नही उठायेगे। दीर्घावधि मे यह कीमत एकाधिकार कीमत तथा प्रतियोगिता कीमत के बीच की होगी।

जिस दशा में उत्पाद विभेद होता है तो प्रत्येक उत्पादक के अपने ग्राहक होते है और उसकी अपनी साख (गुडविल) होती है। यदि कोई उत्पादक अपनी कीमत पैदावार नीति को वदल दे तो इस तरह प्रतिस्पर्धियो द्वारा वदला लेने की भावना भी लुप्त हो जाती है। इस प्रकार कीमतों के निश्चय करने पर होने वाले द्वन्द्व का डर भी खत्म हो जाता है। उनमे परस्पर कोई करार ही नही होगा। चूकि उत्पाद समान रूप के नही होते, इसलिए वह फर्म जो अच्छी किस्म का माल तैयार कर रही है उसे सामान्य से अधिक लाभ कमाने की गुजायश रहती है।

अल्पाधिकार (oligopoly) मे कीमत का सिद्धान्त (pricing theory) मूल रूप में वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जितनी अधिक फर्मे होगी उतना ही अधिक अन्तर सीमान्त लागत मे होगा और समझौते की सम्भावना भी अधिक दूर होगी। विज्ञापन, अनुसन्धान, विनियोग तथा मुनाफे का अनुमान अनिश्चित होता है। उद्यमी का स्वभाव चाहे आशावादी हो या निराशावादी हो, स्थिति को और जटिल बना देता है। चूकि वे सब प्रामाणिक उत्पादन से सम्बन्ध रखते हैं और वे हर एक कुल उत्पादन का एक वडा भाग उत्पन्न करते है, इसलिए हर एक की कीमत व उत्पादन नीति दूसरे पर अधिक प्रभाव डालती है, परन्तु कोई भी नही बता सकता कि कैसे।

"अल्पाधिकार द्वारा निश्चित की गई कीमत जिसमे उत्पाद विभेद नही है वन जाती है। किन्तु व्यापक रूप से उत्पादको की सख्या अधिक होने पर कम होगी, जब तक कि अन्त में पूर्ण प्रतियोगी साम्यावस्था पर पहुचने तक काफी हो जाती है।"

जिस दशा में उत्पाद विभेद है, एकाधिपत्य फैसले होने की और भी कम सम्भावना है। चूकि उत्पाद समान नही होते, अल्पाधिकारी उत्पादक अपने गाहकों को कम किये विना ही कीमतो को चढा सकता है और गिरा सकता है। तीव्र प्रतिस्पर्धा की सम्भावना नही रहती। तो भी उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा की तीव्र भावना एकाधिकार प्रतियोगिता को जन्म दे सकती है। दीर्घावधि में कीमत ऐसे स्तर पर तय हो जो एकाधिकार कीमत तथा तीव्र प्रतिस्पर्धा के बीच का हो।

अल्पाधिकार में एक फर्म की वस्तु के लिए माग का स्वरूप एक विशेषता रखता है। वर्तमान कीमत से ऊची कीमत पर यह लोचदार और वर्तमान कीमत से नीची कीमत पर यह कम लोचदार है। यदि वह कीमत वढा देता है तो वह अपने बाजार का बहुत वडा भाग (अपने प्रतिस्पर्धी को) खो देता है और यदि कीमत गिरा देता

अध्याय २५

वितरण : सामान्य सिद्धान्त

(DISTRIBUTION : GENERAL PRINCIPLES)

१. भूमिका—वर्तमान प्रसग मे 'वितरण' का अर्थ व्यापारियो तथा विचौलियों के वितरण कार्यों (चेष्टाओ) से नही है। चैपमैन (Chapman) के शब्दो में, "वितरण किसी वर्ग द्वारा उत्पादित किये गये धन को एजेंटो अथवा उनके मालिको के तथा जो भी उत्पादन में सक्रिय रहे हैं, उनके बीच बाटने से सबध रखता है।"[1] दूसरे दृष्टिकोण से वितरण का सम्बन्ध सिद्धान्त उत्पादन के साधन की सेवाओ के मूल्याकन (evaluation) से है। अर्थात् इन साधनो की इकाइयो की माग तथा पूर्ति की दशाओ का अध्ययन करना और उन प्रभावो का जिनके कारण उनकी मार्केट कीमत मे परिवर्तन होता है। इस रूप में वितरण का सिद्धान्त अधिकतर विनिमय (अथवा मूल्य) सिद्धान्त का विस्तार (extension) मात्र है।

प्रारम्भिक समाज मे उत्पादन का ढग इतना साधारण था कि सभी साधनो की पूर्ति एक आदमी स्वय कर लिया करता था। वितरण का प्रश्न इसलिए उठता ही नही था और किसी प्रकार के स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही थी। लेकिन जैसे-जैसे उत्पादन जटिल होता जाता है और विभिन्न एजेंट विशेषता प्राप्त करते जाते है उन्हे विभिन्न क्षेत्रो से पाने के लिए उचित पारिश्रमिक की आवश्यकता होती है। साथ ही यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि कुल उत्पादन की कितनी मात्रा किस साधन के द्वारा हुई है। इस प्रकार समस्या जटिल हो जाती है, और सचेष्ट अध्ययन की आवश्यकता होती है।

यहा यह बता देना जरूरी है कि जिस वितरण का जिक्र किया है वह कृत्य सम्बन्धी (functional) है न कि व्यक्तिगत। इस तरह यह वितरण व्यक्तियो के बीच न होकर उत्पादन के एजेंटो के बीच होता है। एक ही व्यक्ति अपने में उत्पादन के चारो एजेंटो के रूपो में हो सकता है, जैसे किसान स्वामी (peasant proprietor)। वितरण का कार्य उद्यमी (entrepreneur) के द्वारा सम्पादित होता है। वह उनकी सेवाए लेता है और प्रत्येक एजेंट को जो एवज (reward) मिलता है वह उसके द्वारा की गई सेवाओ की कीमत है जिसकी अदायगी उद्यमी करता है।

२. एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता (Need for a Separate Theory)—विनिमय मे हमने पढा कि कीमतो का सिद्धान्त क्या है। यह वह सिद्धान्त है, जिसके द्वारा किसी वस्तु की कीमत निर्धारित की जाती है। क्या वही सिद्धान्त उत्पादन के एजेंटो द्वारा, जो सेवा की जाती है, उसकी कीमत निर्धारित नही कर

---

1. Chapman—Outlines of Political Economy, p 278.

सकता। नही, एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है। मार्शल[1] (Marshall) वितरण के अलग सिद्धान्त की आवश्यकता इसलिए उचित समझते हैं कि "स्वतन्त्र व्यक्ति अपने काम पर उसी प्रकार उन्ही सिद्धान्तो पर नही लाये जा सकते, जिस प्रकार कि मशीन, एक घोडा या एक दास लाया जा सकता है।" वे आगे कहते है कि "अगर वे ऐसे होते तो मूल्य के वितरण और विनिमय अगो में बहुत कम अन्तर होता, क्योकि आकस्मिक असफलताओ की माग और पूर्ति में समायोजन (adjustment) की गुजाइश को छोड कर प्रत्येक उत्पादन का एजेंट उतना बदला चाहता है जो कि उत्पादन की लागत को सभी तरह से पूर्ण कर सके।" परन्तु समुचित रूप से केवल मनुष्य में ही नही वरन् और भी उत्पादन के साधनो में जैसे पृथ्वी आदि में, प्रधानतया पूर्ति के मामले मे विचित्र विशेषताये होती हैं। उदाहरण के लिए, उत्पादन के साधनो की सीमान्त उत्पादन लागत उसी अर्थ मे प्रयुक्त नही होती जब कि अन्यत्र उसे हम साधारण वस्तुओ के लिए प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ जमीन प्रकृति की उपहार स्वरूप है। इसकी सप्लाई सदा के लिए नियत है। जब एकबार सब जमीन काम में लाई जा चुकी है तो उसकी पूर्ति किसी भी दशा में बढाई नही जा सकती, चाहे कितनी अधिक कीमत उसकी सेवाओ के लिए क्यो न दी जाय। इसमें कोई उत्पादन लागत नही होती। वह इस अर्थ में जैसा कि रेडियो सेट में होता है पूजी की मात्रा बढाई जा सकती है परन्तु इसका पूर्ति-मूल्य, जैसा कि और वस्तुओ में होता है, उत्पादन की सीमान्त लागत के आश्रित नही रहता। जहा तक श्रम का सबध है, भला एक मनुष्य के उत्पादन की सीमान्त लागत क्या हो सकती है ? मनुष्य व्यापार के विचार से पैदा नही किये जाते। यही एक उद्योग पर भी लागू होता है।

इस प्रकार मूल्य का सिद्धात, जो कि वस्तुओं (commodities) के मूल्य निर्धारण में मदद देता है, वह पूर्ण रूप से सेवाओ (services) के मूल्य अथवा विभिन्न उत्पादन के एजेण्टो का राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) के भाग के मूल्य निर्धारित करने में लागू नही होता। दो बातो में दोनो सिद्धात—मूल्य का सिद्धात और वितरण का सिद्धात—एक दूसरे मे मिलते-जुलते है (१) माग पक्ष मे, दोनो वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित किये जाते है, और (२) पूर्ति के परिवर्तन से, जो तात्कालिक प्रभाव मूल्य के ऊपर पडता है, वह भी एक समान ही होता है, जैसे पूर्ति मे पसार उसके मूल्य को कम कर देगा, तथा इसके विपरीत भी ऐसा होगा।

किन्तु पूर्ति पक्ष में कुछ मुख्य अन्तर हैं, प्रधानतया कीमत का प्रभाव पूर्ति पर पडता है। जब एक वस्तु की कीमत बढ जाती है तो पूर्ति महगाई का लाभ उठाने के लिए बढ जाती है। परन्तु उत्पादन के एजेण्टो के मामले में ऐसा नही होता। उदाहरणार्थ यदि किराया अथवा मजदूरी बढ जाती है, तो भूमि व श्रम की पूर्ति क्रमश नही बढेगी। इस प्रकार उत्पादन के साधनो की पूर्ति उनके पुरस्कार-परिवर्तन के साथ

---

[1] Marshall, A —Principles of Economics, 8th Ed , p 504

शीघ्रता से नही बदलती। एक एजेन्ट की पूर्ति माग के अनुसार उतनी तेजी से नही बदल सकती जितनी कि वस्तु की पूर्ति वदल सकती है।

यही नही, एक उत्पादन के एजेन्ट की उत्पादन-लागत निर्धारित नही की जा सकती। उत्पादन के एजेन्ट की उत्पादन-लागत के बारे मे कहना, जैसाकि श्रम के बारे मे कहना भद्दा मालूम पडता है। क्या आप एक मजदूर की अथवा एक एकड भूमि की उत्पादन-लागत बता सकते है? इस प्रकार यद्यपि एक वस्तु के विषय में हम कह सकते हैं कि उसका मूल्य दीर्घकाल में लगभग उत्पादन लागत के बराबर हो जाता है, परन्तु यह प्रश्न उत्पादन के एजेन्ट के सम्बन्ध मे नहीं उठ सकता क्योंकि उसकी लागत निर्धारित नही की जा सकती।

इन विशेषताओ के होते हुए भी माग और पूर्ति का सामान्य सिद्धान्त उत्पादन के एजेन्टो के लिए भी लागू होता है। परन्तु उसमें कुछ आवश्यक सुधार करने होते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि मूल्य के सिद्धान्त से वितरण का सिद्धान्त अलग रखा जाय।

३ राष्ट्रीय लाभाश (The National Dividend)—हमे पहले यह जानना जरूरी है कि किस वस्तु का वितरण करना है। यह वस्तु राष्ट्रीय लाभाश है अथवा राष्ट्रीय आय (national income) जिसे सहकारी एजेन्टो (co-operative agents) मे बाटना है। राष्ट्रीय लाभाश की परिभाषा विभिन्न रूपो मे की गई है। पीगू (Pigou) के अनुसार **"राष्ट्रीय लाभाश वस्तुपरक आय का वह भाग है, जिसमें विदेश में हुई आय भी शामिल रहती है, जो मुद्रा में मापी जा सकती है।"**

इस प्रकार पीगू के अनुसार राष्ट्रीय लाभाश को निश्चित करने मे केवल वही वस्तुएं व सेवाए शामिल की जानी चाहिए, जिनका बाजार मे विनिमय हुआ हो। यह परिभाषा उन सेवाओ को, जो एक व्यक्ति स्वय अपने कुटुम्ब के व्यक्तियो की अथवा दोस्तो की नि शुल्क करता है, अलग रखती है। उसी प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे बागो अथवा पुलो (टोल-रहित) आदि द्वारा उठाये जाने वाले नि शुल्क लाभो को भी शामिल नही करती। यह परिभाषा बहुत सकीर्ण है और विरोधियो को बढावा देती है। पीगू ने स्वय एक का उल्लेख किया है। यदि एक आदमी घर की नौकरानी से शादी कर लेता है तो राष्ट्रीय आय कम हो जायगी। यह इसलिए कि अब सेवाओ के लिए कुछ चुकाना नही पडता, हालाकि सेवाए वही हो रही है।

राष्ट्रीय आय (परिभाषा) (National Income)—राष्ट्रीय आय वह समस्त साधन आय (factor income) (अर्थात् श्रम तथा सम्पत्ति का अर्जन) है जो माल तथा सेवाओ के चालू उत्पादन की सहायता से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था द्वारा उपजता है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्देश उत्पादन के साधनो से है (अर्थात् जन तथा सम्पत्ति से) जिसकी पूर्ति राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र (national territory) के सामान्य निवासियो द्वारा होती है।

राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र वह क्षेत्र (territory) है जो देश के सीमा-शुल्क (customs) सीमान्त के भीतर होता है। शेष राज्यक्षेत्र ऐसे देश के लिए दूसरे देश होते हैं। फिर भी राष्ट्रीय राज्यक्षेत्र की परिभाषा की अपनी अर्हताए

(qualifications) है। किसी देश के उडते हुए वायुयान तथा विदेश जाते हुए जलपोत जिन पर राष्ट्रीय झडा लगा है उन्हे चाहे वे किसी भी देश के जल-प्रागण (territorial waters) में हो अथवा ऊपर वायु में उड रहे हो राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र के भाग ही माने जाने चाहिएँ। इसी प्रकार विदेशी झडे से सज्जित जलपोत तथा जहाज चाहे वे उस देश के जल-प्रागण में हो अथवा ऊपर वायु में उड रहे हो दूसरे देश माने जाने चाहिएँ। दूतालय, सरकारी मिशन को किसी भी देश में राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र के रूप में मानना चाहिए। इसी प्रकार दूतालय, सरकारी मिशन तथा सशस्त्र सेना जो राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र मे स्थापित है उस देश के सम्बन्ध में जुदा विश्व के भीतर मानना चाहिए।

सामान्य निवासी उन्हे कहा जाता है जिनका निवास-स्थान उस देश के राष्ट्रीय सीमात में स्थापित होता है। किसी देश के टूरिस्ट जो बाहर विदेशो में भ्रमण करते है उस देश के सामान्य निवासी माने जाते है, लेकिन किसी देश के नागरिक जो प्राय बाहर, रहते हैं उन्हें ऐसा नही माना जाता। किसी देश के सरकारी प्रतिनिधि जो विदेश भूमि पर रह सेवा कर रहे हैं उन्हें उसी (अपने देश का) देश का सामान्य निवासी माना जाता है।

आय की उत्पत्ति उसी राज्यक्षेत्र से मानी जाती है जिस पर कि आय-उत्पादक (income-generating) आर्थिक चेष्टा होती है। किसी देश के राज्यक्षेत्र से कमाई गई आय को **शुद्ध भौगोलिक** (net geographical) अथवा **गृह-उत्पाद** (domestic product) कहा जाता है। चूकि किसी देश के राज्यक्षेत्र मे उत्पन्न (originate) वाली साधन आय (factor income), आय-प्राप्ति के साधनो की मालकियत (ownership of income-earning factors) के कारण विदेशियो को प्रोद्भूत (accrue) हो सकती है तथा साधन आय का एक भाग जिसकी उत्पत्ति विदेशी राज्यक्षेत्र में है उसी कारण से उस देश के सामान्य नागरिको के लिए प्रोद्भूत हो सकती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय तथा शुद्ध गृह उत्पाद (net domestic product) में भेद है। इसमें (राष्ट्रीय आय में) शुद्ध गृह उत्पाद तथा विदेशो से शुद्ध आय शामिल है। दूसरे प्रकार की आय साधन आय का वह आधिक्य (excess) है जिसकी उत्पत्ति विदेश में होती है लेकिन देश के सामान्य वासियो को प्रोद्भूत होती है और यह वह आय है जो किसी देश में आरम्भ होने वाली साधन आय के अलावा है लेकिन जो बाकी ससार के सामान्य निवासियो को प्रोद्भूत होती है।

चूकि साधन आय का उदय माल तथा सेवाओ के उत्पादन से होता है, और चूकि यह आय माल और सेवाओ से बढती है (expanded), इसलिए माल और सेवाओ की तीन पर्यायी परिभाषाए देना सभव है। पहली, राष्ट्रीय आय की परिभाषा के अन्तर्गत बताया गया था कि यह **बटने वाले शेयर्स का कुल योग** है। (sum of distributive shares) अर्थात्, यह आय भुगतान (income payments) का कुल जोड है जोकि उत्पादन के साधनो की सहायता से निर्दिष्ट काल में किसी

राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र के सामान्य निवासियो द्वारा पूर्ति से प्राप्त होता है। दूसरे, इसे हम **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन** (net national product) कह सकते है, अर्थात्, माल और सेवाओ द्वारा प्राप्त कुल शुद्ध पैदावार (aggregate net output) जो किसी काल में राष्ट्रीय राज्यक्षेत्र के सामान्य निवासियो के उपभोग (consumption) अथवा पूजी निर्माण (capital formation) के लिए मिलती है। इस रूप में इसका माप "किसी निर्दिष्ट काल में समस्त आर्थिक चेप्टाओ के अन्तर्गत जोडे गए कुल शुद्ध मूल्य (aggregate net values) तथा वाहर से प्राप्त शुद्ध आय" है। तीसरे, इसको शुद्ध राष्ट्रीय खर्च (net national income) कह सकते है, अर्थात् किसी निर्दिप्ट काल में राष्ट्रीय राज्यक्षेत्र के सामान्य निवासियो द्वारा अन्तिम उपभोग तथा गृह तथा विदेशी विनियोजन (foreign investment) पर किया गया कुल खर्च। निर्दिष्ट काल प्राय एक वर्ष होता है। इस प्रकार परिभाषा करने से राष्ट्रीय आय के अग-प्रत्यग हमारे सामने आते है, अर्थात् वैयक्तिक रूप से उपभोग पर व्यय (personal consumption expenditures), सकल निजी तथा घरेलू विनियोजन (gross private domestic investment), शुद्ध विदेश विनियोजन (net foreign investment), तथा सरकार द्वारा माल तथा सेवाओ का क्रय। इन चारो मदो के जोड से सकल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product) का मार्केट कीमत का पता चलता है। यदि हम इस कुल योग में से पूजी उपभोग (घिसाई तथा टूटफूट) तथा परोक्ष कर (राजकीय सहायता) घटा दें तो इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय आय निकल आती है।

४. राष्ट्रीय आय का माप (Measurement of National Income)—राष्ट्रीय आय की उपर्युक्त तीन परिभाषाओ के कारण इसे (राष्ट्रीय आय) को मापने के तीन वैकल्पिक उपाय (alternative methods) सामने आते है। पहला उपाय "समस्त उत्पादको के सकल उत्पाद (विक्री+स्वत. उपभोग+स्टॉक में वृद्धि) के कुल मूल्य को जोड लेना और फिर उसमें से इन उत्पादको का दूसरे उत्पादको के कुल क्रय, तथा उत्पादन के दौरान में उपभोग मे आने वाले उपकरण की घिसाई आदि को घटा देना" है। उत्पादक की सकल पैदावार के मूल्य में से, मध्यवर्ती उत्पाद उपभोग तथा उत्पादन के दौरान में काम आने वाले उपकरणो की घिसाई आदि के खर्च कम करने से उसके द्वारा जोडा गया शुद्ध मूल्य (net value) अथवा अ-दोहरे उत्पाद (unduplicated produce) के कुल मूल्य में उसके अशदान (contribution) का पता चलता है। इस प्रकार के शुद्ध आकडे (net figures) का प्राक्कलन (estimate) प्रत्येक उद्योग के बारे में लगाया जा सकता है। इन प्राक्कलनो के जोड से साधन लागत (factor cost) पर होने वाली शुद्ध गृह उत्पादन (net domestic product) का पता चलता है। इस कुल योग (aggregate) में वाहर से प्राप्त आय जोडने पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन अथवा साधन लागत पर राष्ट्रीय आय का पता चलता है। उपर्युक्त उपाय को राष्ट्रीय आय प्राक्कलन करने का **उत्पाद उपाय** (product method) कहते है।

दूसरा उपाय राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र मे रहने वाले सामान्य निवासियो द्वारा उत्पादन के साधनो को प्रोद्भूत (accrue) होने वाली आयो का जोड है, अर्थात् मजदूरी (wages) तथा दूसरे प्रकार की श्रमिको को होने वाली आय, व्याज, किराया तथा अनिगमित उद्यमो (unincorporated enterprises) की आय (माल के स्टाक मे परिवर्तन मात्र होने से प्राप्त आय) जोडना। इस प्रक्रिया को राष्ट्रीय आय मापने का आय उपाय (income method) कहते हैं।

तीसरा उपाय उपभोग तथा विनियोग के लिए उपलब्ध तैयार माल के मार्केट मूल्य को जोडना है। तथा ऐसे समायोजन (adjustment) करना जो मार्केट कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद को साधन लागत से प्राप्त शुद्ध राष्ट्रीय आय में से घटाने के लिए जरूरी हो।

५ राष्ट्रीय आय को मापने मे कठिनाइया (Difficulties of Measuring National Income)—भारत जैसे अर्ध-विकसित देश मे राष्ट्रीय आय मापन के कार्य मे कई कठिनाइया हैं, जैसे धारणा सम्बन्धी (conceptional) तथा सांख्यिकी (statistical)। इनमें से मुख्य ये हैं

(क) पैदावार की जितनी मात्रा का द्रव्य से विनिमय नही होता, इसका कारण चाहे यह हो कि उसका उपभोग उत्पादक स्वय कर लेते हैं अथवा दूसरी वस्तुओ तथा सेवाओ से वस्तु-विनिमय (barter) हो जाता है, तो यह समस्या खडी हो जाती है कि राष्ट्रीय पैदावार में क्या शामिल किया जाय तथा इसका क्या मूल्य आका जाय।

(ख) अनिगमित उद्यमो (unincorporated enterprises) के व्यापार की मात्रा, जिससे खाते इस प्रकार तैयार नही होगे कि पैदावार की मात्रा तथा मूल्य आदि के प्राक्कलन (estimation) में आसानी हो। इस प्रकार की सूचना तो सिर्फ राज्य की ओर से चालू तथा निगमित उद्यमो मे ही आसानी से प्राप्त हो सकती है।

(ग) एक उद्योग की पैदावार दूसरे उद्योग की पैदावार का काम करती है जिससे इसका मूल्य दूसरे मे भी जुड जाता है, तो इस दोहरे हिसाब (double counting) को घटाने की समस्या बनी रहती है। इस तरह मूल्याकन प्रक्रिया बहुत जटिल हो जाती है।

(घ) उपलब्ध सामग्री (data) व्यापक (comprehensive), शुद्ध (accurate) तथा अद्यावधिक (up-to-date) नही होती जो राष्ट्रीय आय के मूल्याकन में सही रूप से सहायता कर सके।

(च) जहा (जैसा कि भारत मे है) अर्थव्यवस्था के भीतर कृत्यो (functions) के विशिष्टीकरण की कमी है, वहा राष्ट्रीय आय का औद्योगिक उत्पत्ति (industrial origin) से वर्गीकरण करना असम्भव हो जाता है।

राष्ट्रीय आय का सिद्धान्त (The Theory of National Income)—उद्यमी विभिन्न साधनो की सेवा खरीदता है। उसी के जरिए विभिन्न साधनो को किराया

(rent), मजूरी (wages), तथा व्याज (interest) आदि के रूप में अपना पारितोपिक मिलता है। उद्यमी उत्पादन के विभिन्न साधनो को लगाने में स्थानापन्न सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है। जब तक सब साधनो का सीमान्त उत्पादन समान नही होता वह एक साधन को दूसरे साधन से बदलता रहता है। यह संयोग सब से अधिक किफायत तथा अधिक से अधिक लाभ देने वाला होता है। सीमान्त उत्पादन शक्ति क्या है? किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का अर्थ उस मात्रा से होता है जो उसकी सीमान्त इकाई द्वारा कुल उत्पादन में बढोतरी होती है अर्थात् वह इकाई जिसे मालिक अपने काम में लगाना उचित समझता है। । व्यापार की सीमा पर किसी साधन को जो कुछ भुगतान किया जाता है, वह उस साधन की इकाई द्वारा बढे हुए उत्पादन के मूल्य के बराबर होता है।

इसलिए उत्पादन के साधन उन स्थानो से हटकर जहा पर सीमान्त उत्पादन शक्ति कम होती है, वहा चले जाते है, जहा सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार उत्पादन के **किसी साधन की दी हुई पूर्ति ऐसे ढग से बाटी जाती है कि सब प्रयोगो में उसका सीमान्त उत्पादन बराबर रहे।**

इस प्रकार साम्य (equilibrium) की दशा में (i) उत्पादन के किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति सब व्यवसायो में बराबर रहती है। (ii) प्रत्येक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति उसी व्यवसाय के अन्य उत्पादन साधनो की सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर रहती है। (iii) उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति, उस साधन की कीमत द्वारा आकी जाती है।

इसलिए व्यवसाय के पूर्ण क्षेत्र में उत्पादन के प्रत्येक साधन का, उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से ही भुगतान किया जाता है। इस तरह राष्ट्रीय लाभाश का वितरण कोई गडबड-घुटाला नही है जैसा कि हडतालो और तालाबन्दी वाले बताते है। यह निश्चित रूप से आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतियोगिता क्षेत्र में काम करने वाला एक व्यवसायी उत्पादन के साधनो के लिए जो कीमत देता है, वह पहले ही से निर्धारित होती है। चूकि उसके उत्पादन के साधनो की माग कुल माग का महत्त्वहीन भाग होता है, इसलिए उसके कम व अधिक साधन लगाने से उनकी कीमतो पर कोई प्रभाव नही पड़ता। उसका काम साधनो को काम में लाकर उस बिन्दु पर पहुचाना होता है, जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति उनकी कीमत के बराबर हो जाय, जो कि बाजारू शक्तियो से पहले से ही निर्धारित होती है। उसी प्रकार उत्पादन के एक साधन का मूल्य, किसी व्यक्तिगत व्यवसायी की सीमान्त उत्पादन शक्ति से नहीं, बल्कि व्यवसायो की एकत्रित सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित किया जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ धारणाओ में ठीक है। प्रथम यह मान लिया जाता है कि साधन की सब इकाइया समान (homogeneous) होती है, जिससे कि जैसी एक इकाई अच्छी होती है उसी प्रकार दूसरी भी। दूसरे, विभिन्न साधनो को एक दूसरे की जगह पर लगाया जा सकता है। इसलिए सीमान्त पर यह सम्भव है कि कुछ अधिक भूमि या

श्रम या पूजी लगाई जा सके। यदि स्थानापन्न सभव नही है तो विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादन शक्ति असमान (unequal) रहेगी। उस हालत में योग उत्पादन शक्ति अधिकतम से कम होगी। तीसरे, यह भी मान लिया जाता है कि किसी साधन की मात्रा में इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है। इस प्रकार यह सभव हो जाता है कि उसी साधन का कुछ अधिक या कुछ कम भाग काम में लाया जाय। अगर ऐसा नही हो सकता तो उस साधन का प्रयोग उस विन्दु तक नही ले जाया जा सकता, जिससे उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति उसके व्यय के बराबर हो सके। चौथे, यह भी मान लिया जाता है कि विभिन्न कार्यों में उत्पादन के साधन इधर-उधर जा सकते हैं। अगर एक साधन, एक व्यवसाय अथवा कार्य से दूसरे में प्रयोग न किया जा सके तो उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति विभिन्न व्यवसायो में असमान रहेगी। अन्त में, यह सिद्धान्त घटती हुई प्राप्ति के नियम पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि अन्य वस्तुए बराबर रहने पर किसी साधन की पूर्ति की वृद्धि से योग उत्पादन ह्रास के अनुपात से बढता है।

इन्ही धारणाओ के अन्तर्गत यह है कि उत्पादन के चार साधनो मे से प्रत्येक अर्थात् जमीन का लगान (rent of land), पूजी पर ब्याज (interest on capital), श्रम की मजदूरी (wages of labour) तथा उद्यमी का लाभ (profits of enterprise) सीमान्त शुद्ध उत्पाद के मूल्य के समान होने का प्रयास करते हैं।

९. सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Marginal Productivity Theory)—इन स्वयसिद्धियो के होते हुए भी यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र-वेत्ताओ द्वारा सर्वमान्य नही है। इसकी बहुत सी आलोचनाए की गई हैं।

(i) पहली साधारण आलोचना यह है कि एक उत्पादित वस्तु उत्पादन के सभी साधनो का सामूहिक प्रयत्न है। उनमें से हर एक का भाग अलग करना असभव है। यह आलोचना टाजिग और डेवनपोर्ट द्वारा की गई है, जो कि स्पष्ट रूप से सीमान्त उत्पादन शक्ति का गलत अर्थ लगाने से हुई है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, सीमान्त उत्पादन सीमान्त साधन के फलस्वरूप नही है, यह तो केवल वह वृद्धि है, जो कुल उत्पादन में इसकी एक और इकाई लगाने से होती है, अथवा वह घटी है जो इसकी एक इकाई कम करने से होती है।

(ii) दूसरा आक्रमण हाब्सन ने किया है। वे कहते हैं कि यदि किसी विशेष साधन की इकाई हटा ली जाती है तो सारा व्यवसाय इतना असगठित हो जाता है कि हटाई हुई इकाई की उत्पादन शक्ति से बहुत अधिक हानि उत्पादन में होती है। यह आलोचना भी सिद्धान्त के गलत प्रयोग से उत्पन्न होती हैं। हमारा ध्यान छोटे व्यवसाय के सगठन और साधन की बडी इकाइयो की ओर रहता है। अगर हम बडे व्यवसाय और साधन की छोटी इकाइयो पर ध्यान दे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सीमा पर से साधन की एक इकाई हटा लेने से दूसरे साधनो की उत्पादन-शक्ति पर कोई प्रभाव न पडेगा।

(iii) इसके अतिरिक्त एक प्रतिकूल विचार है जिसके अनुसार सभी साधनो का

सीमान्त उत्पादन का जोड कुल उत्पादन से कम होगा। और इस प्रकार जो अन्तर होगा वह किसी एक साधन द्वारा नही] बल्कि सबके सहयोग द्वारा होगा। विकस्टीड ने इस आलोचना का उत्तर दिया है। वह यह मान लेते है कि सभी साधनो की वृद्धि से उत्पादन का परिमाण भी उसी अनुपात से बढेगा। लेकिन यह स्वयसिद्धि, जिससे ज्ञात होता है कि व्यवसाय, स्थायी प्राप्ति (returns) नियम को मानता है, सदैव उचित नही होती और इसमें कुछ कठिनाइया उपस्थित होती हैं।

(iii) एक अन्य आपत्ति, जो शुद्ध सीमान्त उत्पादन (marginal net product) को मापने में होती है, जान राबिन्सन,[1] पीगू[2] और जे० आर० हिक्स[3] द्वारा उल्लिखित की गई है। यह आपत्ति बताई गई है कि बहुत बडे पैमाने पर उत्पादन में जो किफायतें होती हैं, वह किसी फर्म के साधन की इकाई की सीमान्त उत्पादन शक्ति सम्पूर्ण व्यवसाय की उत्पादन शक्ति से कम होती है। ऐसा इसलिए है कि जब कोई इकाई किसी व्यवसाय में अधिक लगाई जाती है, तब उसके कारण एक बहुत बडा श्रम-विभाजन हो जाता है। लेकिन यदि कोई व्यवसाय नई पूर्ति के लिए स्वय अपने को ठीक प्रबन्धित कर लेता है तो यह बिल्कुल सम्भव है कि किसी विशेष फर्म के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति सम्पूर्ण व्यवसाय से कम हो क्योकि इसका हटाया जाना व्यवसाय को एक विशेष फर्म से अधिक हानि पहुचा सकता है। इसलिए ऐसे उद्योगो मे एक साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति अनिर्धारित रहती है।

(v) हाब्सन का कहना है कि अधिकाश दशाओ मे साधन (factors) के प्रयोगो को अलग-अलग करना सम्भव नही है। वह अनुपात जिससे साधनो को काम मे लाया जा सकता है, व्यवसाय की विशेष कला की दशाओ, स्थायी पूजी जैसे मशीन आदि के द्वारा निर्धारित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ मशीनें ऐसी है जिनके लिए केवल एक मजदूर की आवश्यकता होगी। दो को लगाना गैर-किफायती होगा। जब हम किसी साधन के प्रयोग को बदल नही सकते, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कैसे प्राप्त कर सकते है। साधारणतया इसके लिए उत्तर दिया जाता है कि जिस अनुपात मे विभिन्न साधनो को मिलाया जाता है, उनकी विभिन्नता में बहुत सम्भावनाए रहती है।

(vi) अन्त मे, इसका भी विरोध किया जाता है कि इस सिद्धान्त मे पूर्ति को स्थायी मान लिया जाता है। कार्य-रूप मे अधिकतर एक साधन का पुरस्कार उसकी पूर्ति पर भी प्रभाव डालता है। यह सिद्धान्त माग की समस्याओ पर ही विचार करता है, पूर्ति की नही।

यह याद रखना चाहिए कि यह सिद्धान्त तभी ठीक उतरेगा जबकि यह मान लिया जाय कि बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) की दशाए है। क्योंकि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नही होती, इसलिए साधनो का

1 The Economics of Imperfect Competition, p 327.
2 Economics of Welfare

पारिश्रमिक उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर नही होता। साथ ही यह नही समझ लेना चाहिए कि जो पारिश्रमिक सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है, वह नैतिक दृष्टि से न्याययुक्त भी है।

जैसा कि सेमुअलसन (Samuelson) कहते हैं "यह सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त वह सिद्धान्त नही है जो मजदूरी, लागत अथवा व्याज की व्याख्या करता है। इसकी अपेक्षा यह केवल यह बताता है कि किस भाति फर्म उत्पादन के साधनो को किराये पर लेती है जब कि एक बार उनकी कीमत मालूम हो जाती है।"

यह सिद्धान्त वास्तव में क्रियात्मक तथा आदर्शात्मक (positive and normative) है। यह सिद्धात यह नही बताता कि सीमान्त उत्पाद के आधार पर साधन को दिया गया पुरस्कार (reward) उचित ही है।

वितरण के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए फ्रेजर (Fraser) कहते हैं "कोई भी अर्थशास्त्री यह दृढतापूर्वक नही कह सकता कि सिद्धान्त अब भी पूरा है अर्थात् अकादेमी के ढाँचे के रूप में भी। इसमें अपने गुणो की खराबी है। चूकि यह सरल और दृढ है, इसलिए यह अमूर्त तथा अवैयक्तिक (abstract and impersonal) है। इसमें कई बातें छोड दी गई हैं। इसमें छूट तथा कमीशन (omission and commission) के दोष पाये जाते हैं। इसके स्वयसिद्ध प्रमाण बहुत दृढ तथा सकुचित हैं।"

निर्देश पुस्तके

Marshall, A —Principles of Economics

Hubert Phillips—Value and Distribution

Clark—The Distribution of Wealth

Readings in the Theory of Income Distribution Chapters 3, 8 and 11, (American Economic Association)

Hicks, J R —Theory of Wages

Fraser, L M —Economic Thought and Language, 1947 Ch XVII

अध्याय २६

लगान (RENT)

१ लगान का अभिप्राय (Meaning of Rent)—हमें सबसे पहले 'किराए (लगान) का विश्लेपण कर लेना चाहिए, उत्पादन के प्रथम साधन अर्थात् भूमि (land) के एवज (reward) का।

लगान क्या है—साधारण भाषा में 'लगान' का आशय किसी वस्तु के किराए से होता है, जैसे मकान, तागे अथवा मशीन आदि का किराया। पर अर्थशास्त्र में "आर्थिक लगान" (economic rent) शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया जाता है। इसका अर्थ केवल उस भुगतान से होता है जो किरायेदार भूमि (अर्थात् प्रकृति उपहार) के उपयोग के बदले में करता है। पर यह आवश्यक नही है कि जो किराया जमीदार को देता है वह किराया "आर्थिक लगान" के बराबर ही सम्भव है कि इस किराये में उस पूजी का व्याज भी सम्मिलित हो जो जमीदार मारत वनवाने अथवा बाडे या नाली का प्रवन्ध करने में लगाता है। अर्थशास्त्र का प्रयोग अधिकतर आधिक्य (surplus) के अर्थ मे होता है अर्थात् उत्पादन साधन वर्तमान व्यवसाय में अपनी पूर्ति बनाये रखने के लिए आवश्यकता से धिक प्राप्त करता है।

सरलता से समझा जा सकता है कि इस अर्थ में लगान तभी हो सकता है जब दन के साधन की पूर्ति पूर्ण लोच (elasticity) से कम है और अधिकतर का यही हाल है। यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णत लोचदार है, तो यह अपनी ऊपर कोई बचत नही प्राप्त कर सकता क्योकि जब यह साधन अपनी पूर्ति . अधिक पाता हुआ पाया जाता है, तो इस साधन की अधिक इकाइया लगा गी और बचत समाप्त हो जावेगी। ऐसा इसलिए है कि क्योकि पूर्ण प्रतियोगिता साधन की बाजार-कीमत उसकी पूर्ति-कीमत के बराबर होगी। पर जब पूर्ति धन के पारितोषिक (reward) के साथ-साथ घटती बढती नही है, तो यह पूर्ति पर आवश्यकता से अधिक प्राप्त किये जायगी और इसको इस बात का डर न होगा कि साधन की नई इकाइया आकर उसको उसके अधिक पारितोषिक से वचित कर देंगी। सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि की पूर्ति पूर्णत. लोचरहित है और इस प्रकार इसकी पूर्ति इसके उपार्जित धन से स्वतन्त्र है। ऊचा लगान उसकी अधिक मात्रा को आकर्षित नही कर सकता और न कम लगान उसको कम ही कर सकता है। इसकी पूर्ति-कीमत शून्य है। इसलिए इसकी पूरी आय आर्थिक दृष्टिकोण से लगान कहलाती है। यही कारण है कि "लगान" शब्द का प्रयोग साधारणतया भूमि से जुडा हुआ है, हालाकि जैसा कि यहा बताया गया है, लगान की धारणा सब साधनो में लागू होती है।

हमने ऊपर कहा है कि सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि (तथा अन्य प्राकृतिक उपहार) से प्राप्त सारा धन लगान कहा जा सकता है क्योकि उनकी कोई पूर्ति कीमत नही होती अथवा उत्पादन-लागत शून्य होती है। तो उत्पादन के ऐसे साधनों के लिए कोई भुगतान ही क्यो किया जाता है? इसका कारण यह है कि वे अपनी माग के सम्बन्ध में सीमित हैं। लगान कैसे उत्पन्न होता है? सौ साल से भी पहले डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने इसका उत्तर दिया।

२ रिकार्डो का लगान सिद्धात (Ricardian Theory of Rent)—रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की है—"लगान जमीन से उत्पादित वस्तु के उस भाग को कहते हैं, जो जमीदार को भूमि की मूल व अक्षय शक्ति (original and indestructible powers) के उपयोग के लिए दिया जाता है। इसको वहुत से लोग भूल से पूजी पर व्याज के रूप में समझते हैं और साधारण भाषा में किसी भी प्रकार के उस भुगतान को लगान कहते है जो किसान जमीदार को देता है।"

रिकार्डो के अनुसार आर्थिक लगान उस वास्तविक वचत को कहते हैं जो कृषि की लागत निकाल लेने के बाद वचता है। कृषि की यह लागत श्रम, पूँजी व साहस की सेवाओ के भुगतान से पूर्ण की गई है।

यह आधिक्य (surplus) क्यो होता है, इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए, किसी देश में अ, ब, स, द चार प्रकार की भूमि है। भूमि के कुछ टुकडे दूसरे भागो की अपेक्षा अधिक उपजाऊ हैं, कुछ टुकडे जनसख्या अथवा परिवहन के साधनो की दृष्टि से अधिक अच्छी स्थिति में हैं। इन सब वातो को ध्यान में रख कर हम यह मान लें कि इन चारो प्रकार की भूमि के टुकडो में "अ" सब से श्रेष्ठ है तथा ब, स, और द क्रमश द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ श्रेणी के टुकडे हैं। इन चारो प्रकार की भूमि में श्रम व पूजी (labour and capital) की समान इकाइया लगाने से टुकडो में गेहूँ की पैदावार इस क्रम से होती है —

श्रम व पूजी की खुराक	गेहू का उत्पादन प्रति एकड (मनो में)			
	अ	ब	स	द
१ ली	१५	१४	१३	१२
२ री	१४	१३	१२	११
३ री	१३	१२	११	१०
४ थी	१२	११	१०	९
५ वी	११	१०	९	८
६ वी	१०	९	८	७

यदि अ वर्ग की भूमि पर्याप्त मात्रा मे हो और प्रति एकड श्रम व पूजी की एक

खुराक (dose) लगा देने से गेहूँ की सम्पूर्ण माग प्रचलित दर पर ही पूरी की जा सके तो इस भूमि का कोई लगान नही होगा। ऐसी दशा में यह प्रकृति के उपहार स्वरूप ही होगी।

अव मान लीजिए कि जन-सख्या इतनी वढ जाती है कि अ वर्ग की समस्त भूमि जुत जाती है और इस पर भी वढती हुई माग को पूरा नही किया जा सकता। ऐसी दशा में अ वर्ग की भूमि मे और अधिक श्रम व पूजी लगाई जायगी व व वर्ग के टुकडो पर भी खेती होने लगेगी। यह तभी हो सकेगा जव कि गेहू के दाम इतने वढ जायें कि अ भूमि में श्रम व पूजी की और अधिक इकाइया (doses) व व भूमि में श्रम और पूजी की पहली इकाई लगाने से लाभ हो। दूसरे शब्दो में हमारी ऊपर की सूची के अनुसार १४ मन गेहूँ इतने मे विकना चाहिए कि श्रम व पूजी की लगी एक इकाई की लागत (cost) निकल आये। अस्तु, अ वर्ग की भूमि में श्रम व पूजी की दो इकाइयो (doses) के लगाने से १५+१४=२९ मन गेहू पैदा होगा। पर दोनो इकाइयो के व्यय को पूरा करने के लिए १४×२=२८ मन गेहू पर्याप्त है। अ भूमि मे १ मन गेहू की वचत है। इसलिए किसान चाहे तो विना लगान दिये व वर्ग की भूमि को जोत सकते है और प्रति एकड श्रम व पूजी की एक इकाई लगा कर १४ मन गेहू पैदा कर सकते है अथवा भूमि के मालिको को १ मन गेहूँ या द्रव्य में उनके वरावर मूल्य लगान के रूप में देकर प्रति एकड श्रम व पूजी को एक इकाई लगा कर १४ मन गेहू प्राप्त कर सकते है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) होगी तो अ वर्ग की भूमि का यह लगान अवश्य स्थिर हो जायगा।

अव चूकि गेहू की माग वढती ही जाती है और साथ-साथ कीमत भी वढती जाती है, इसलिए यह क्रम चलता रहेगा। एक ओर तो श्रेष्ठ टुकडो पर श्रम व पूजी की अधिकाधिक इकाइयाँ (doses) लगती रहेगी, दूसरी ओर निम्नतर टुकडे खेती के लिए जुतने लगेंगे। प्रस्तुत श्रम व पूजी की इकाइयाँ इस प्रकार लगाई जायेगी कि खेती की सीमा पर उत्पादन वरावर रहे। उदाहरणार्थ, यदि श्रम व पूजी की १४ इकाइयाँ प्राप्य है तो उनमे से ५ तो अ भमि मे लगेगी, ४ व में, ३ स मे व २ द मे। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग की भूमि मे लगी अतिम अथवा सीमान्त इकाई से समान प्राप्ति (same return) होगी (११ मन गेहू)। ऐसी दशा में गेहू का कुल उत्पादन ६५+५०+३६+२३=१७४ मन होगा। इस योग से अधिक उत्पादन किसी दूसरी प्रणाली द्वारा नही हो सकेगा पर इन इकाइयो का प्रयोग तभी हो सकेगा, जव कि गेहू का मूल्य इतना ही हो कि केवल ११ मन गेहूँ से ही श्रम व पूजी की इन इकाइयो की लागत पूरी हो जाय।

ऐसी परिस्थिति मे विभिन्न प्रकार की भूमियो का लगान इस प्रकार होगा —

अ वर्ग का लगान=(१५+१४+१३+१२+११)—(११×५)
=(कुल उत्पादन)—(कुल लागत)
=६५—५५=१० मन

व वर्ग का लगान=५०—४४=६ मन

स वर्ग का लगान=३६—३३=३ मन

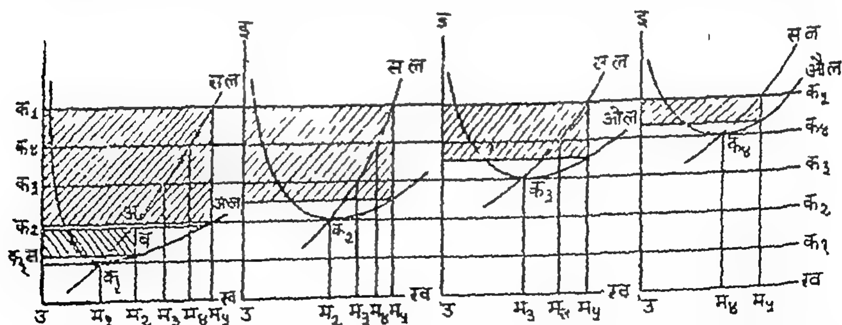
द वर्ग का लगान = २३ — २२ = १ मन

यहाँ हमने उत्पादन के रूप में लगान का हिसाब लगाया है। उत्पादन के प्रचलित माप के अनुसार इसे द्रव्य के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है।

सीमान्त अथवा लगान-हीन भूमि (Marginal or No-rent Land) — जब सीमान्त उत्पादन ११ मन है तो हमारे उदाहरण मे सभी प्रकार की भूमि के टुकडे लगान देते हैं। यदि सीमान्त उत्पादन १२ मन हो जाय तो द भूमि का लगान नही रहेगा। ऐसी दशा में यह भूमि सीमान्त अथवा अन्तिम भूमि हो जायगी। ऐसी भूमि को "लगान-हीन भूमि" कहते हैं। इस भूमि में उत्पादन व्यय के ऊपर किसी बचत का उत्पादन नही होता। इसकी पैदावार केवल इतनी है कि उत्पादन की लागत पूरी हो सके। अस्तु, बाकी सब श्रेष्ठ टुकडो के लगान को इस टुकडे के बाद से तथा इसके आधार पर नापा जायगा।

यह सीमान्त भूमि सब से कमजोर अथवा खराब न भी हो। हमको भूमि के गुण को नही वरन् उसका श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग भी देखना है। सीमान्त भूमि अर्थात् वह भूमि जो हस्तातरण की सीमा (margin of transfer) पर है, श्रेष्ठ भूमि हो सकती है। वह भूमि जो कपास की जोत के लिए श्रेष्ठ हो सकती है, गेहूँ के लिए भी श्रेष्ठ हो सकती है। यदि कपास की कीमत गिर जाती है तो यह भूमि सब मे पहले गेहूँ में लगाई जायगी और इसलिए कपास के दृष्टिकोण से सीमान्त हो जायगी। यह सीमान्त भूमि का आधुनिक वृत्तान्त (modern version) कहा जा सकता है।

नीचे के चार रेखा-चित्र यह दिखाते हैं कि लगान कैसे पैदा होता है। रेखा-चित्र ६५ श्रेष्ठ भूमि अर्थात् अ वर्ग भूमि को प्रस्तुत करता है, रेखा-चित्र ६६ ब वर्ग भूमि, रेखा चित्र ६७ स वर्ग भूमि, भूमि द सब से कम उपजाऊ या सब से खराब भूमि है। हर एक चित्र में औ ल औसत लागत वक्र है और स ल सीमान्त लागत वक्र। $क_1$, $क_2$, $क_3$, $क_4$ तथा $क_5$ बढती हुई कीमतें प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि आगे (विभाग ५ मे) बताया जायगा, हर एक भूमि उस बिन्दु तक जोती जायगी, जहा सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है (margi-



रेखा-चित्र न० ६५ रेखा-चित्र न० ६६ रेखा-चित्र न० ६७ रेखा-चित्र न० ६८

nal cost equals price)। मान लिया बाजार कीमत $क_1$ है तो केवल अ वर्ग भूमि की जुताई होगी। $क_1$ पर स ल (सीमान्त लागत वक्र) औ ल (औसत लागत

घक्र) को काटता है, अर्थात् सीमान्त लागत औसत लागत के वरावर है। वह कीमत के भी वरावर है। इसलिए कुल आगम (revenue) (जो कि कीमत पर आधारित है) कुल लागत के वरावर है और कोई भी आधिक्य (surplus) अथवा लगान नही है। अव मान लिया जाय कि कीमत $क_2$ तक वढ जाती है। अव व वर्ग भूमि जोती जाने लगेगी पर यह कोई लगान न देगी। अ वर्ग भूमि लगान देना प्रारम्भ कर देगी। इस स्थिति पर रेखा-चित्र ६६ में स ल और औ ल, $क_2$ पर एक दूसरे को काटते है। जैसाकि पहले वताया गया है, यहा कोई वचत नही है। परन्तु रेखा-चित्र ६५ जो अ वर्ग भूमि को प्रस्तुत करता है देखो। रंगा हुआ क्षेत्र अ व स $क_2$ लगान प्रस्तुत करता है। यह क्षेत्र अ व अर्थात् सीमान्त लागत तथा औसत लागत के अन्तर को उ $म_2$ अर्थात् उत्पादन से गुणा करने से मिलता है। जव कीमत $क_3$ तक वढ जाती है तो स वर्ग भूमि से कोई लगान नही मिलता और व वर्ग भूमि से लगान मिलने लगेगा। जव कीमत $क_4$ तक वढ जाती है, तो द वर्ग भूमि सीमान्त भूमि या न लगान देने वाली भूमि हो जाती है, स वर्ग भूमि से लगान मिलने लगता है और अ तथा व वर्ग भूमि से लगान वढ जायेगा। जव कीमत $क_5$ तक वढ जाती है तो द वर्ग भूमि से भी दुर्लभता (scarcity) के कारण लगान मिलने लगता है। जव यह स्थिति हो जाती है तो हर प्रकार की भूमि का लगान हर चित्र में रगे हुए क्षेत्र से दिखाया गया है।

क्या सीमान्त अथवा लगानहीन भूमि का वास्तव में कोई अस्तित्व है? (Does marginal or no-rent land really exist) —वहुत से लोगो का विचार है कि इस प्रकार की भूमि होती ही नही है। ऐसी भूमि को हर व्यक्ति लेना चाहेगा और फलस्वरूप मालिक इस स्थिति में होगा कि लगान माग सके। पर इस विचार में अधिक सार नही है। लगानहीन भूमि होती है। इसका लगान पूजी के व्याज के कारण होता है। भूमि स्वय इस योग्य नही होती कि इससे कोई आधिक्य प्राप्ति हो। उदाहरणार्थ किसी ऊसर जमीन (waste land) को, जो वेकार पडी हो, लगान पर लेने के लिए कोई तैयार नही होगा। पर यदि मालिक उसमे कुआ वनवा दे तो वहुत सभव है कि भावी आसामी उसके लिए कुछ देने को तैयार हो जाय। इससे यह प्रकट है कि भुगतान कुआ वनाने मे लगी पूजी के कारण किया जायगा, भूमि के कारण नही। वडे खेतो मे लगानहीन भूमि का अस्तित्व पता नही चलता क्योकि इसमे लगान कुछ रुपये प्रति एकड के रूप में होता है। पर वडे खेत मे अच्छे व वुरे सभी प्रकार के एकड होते हैं। वुरी भूमि यदि अकेली दी जाय तो उसका कुछ भी लगान नही मिलेगा, यदि मिलेगा भी तो वह आर्थिक लगान नही वल्कि दुर्लभता के कारण उत्पन्न लगान होगा। ऐसा उन पुराने देशो में होता है, जिनकी जनसख्या वरावर वढ़ती रहती है। इन देशो में सीमान्त भूमि का भी लगान होता है, जिसे दुर्लभता के कारण पैदा होने वाला लगान कहते हैं। अधिक अच्छी भूमि में श्रेष्ठता के कारण दुर्लभता लगान के साथ-साथ आर्थिक लगान भी मिलता है क्योकि उनमे प्राकृतिक भेद रहता है। फिर उसी वाजार को पूर्ति करने वाली सीमात भूमि, आस्ट्रेलिया अथवा कैनेडा आदि देशो में भी होकर इगलैण्ड जैसे पुराने देश के लिए सीमान्त भूमि हो सकती है।

दुर्लभता का लगान (Scarcity Rent)—आर्थिक लगान के अलावा दुर्लभता का लगान भी होता है। चूकि कीमत वढती है इसलिए (द) भूमि में गहन कृषि (intensive cultivation) प्रारम्भ हो जाती है और लागत पर वचत होने लगती है। पर यह वचत किसी लगान-रहित भूमि के अस्तित्व के कारण नही वल्कि भूमि की दुर्लभता के कारण होती है। इसलिए इस प्रकार के लगान को दुर्लभता का लगान कहते हैं।

अस्तु, श्रेष्ठ भूमियो के लगान में दो प्रधान लक्षण होते है उनके लगान में सीमान्त भूमि पर अतिरिक्त लाभ और दूसरे दुर्लभता का लगान सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिए यदि कृषि इतनी गहन हो कि द भूमि लगान के रूप में २ मन गेहू देने लगे तो श्रेष्ठ भूमि आर्थिक लगान के अतिरिक्त २ मन गेहू दुर्लभता के लगान का भी देगी। श्रेष्ठ भूमि का दुर्लभता का लगान वही होता है जो खराव भूमि का, परन्तु वह आर्थिक लगान भी प्रदान करती है। मार्शल के अनुसार "एक प्रकार से सभी लगान दुर्लभता के लगान है, और सभी लगान भिन्नक लगान भी।" ("in a sense all rents are scarcity rents, and all rents are differential rents")।[1] भिन्नक लगान का उदय प्रत्येक ग्रेड की भूमि की दुर्लभता के कारण होता है।

३ रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ricardian Theory)—रिकार्डो के सिद्धान्त की वडी आलोचना हुई है। **प्रथम** तो "भूमि की मूलत तथा अविनाशी शक्ति" नाम की कोई वस्तु नही होती। अच्छी भूमि भी लगातार जुतने के उपरान्त अपना उपजाऊपन खो देती है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उपजाऊपन समाप्ति के वाद भी यदि अच्छी भूमि में बुरी भूमि के साथ-साथ खाद डाला जाय तो अच्छी भूमि बुरी भूमि की अपेक्षा अपनी उत्पादन-शक्ति शीघ्र प्राप्त कर लेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पुराने देशो में जहा सदैव खाद डाली जाती है भूमि की ऊपरी पर्तें सदैव मनुष्य निर्मित हुआ करती है। पर यह वात नही है क्योकि जलवायु, हवा, धूप और स्थिति प्रकृति की ओर से नियत होते हैं। इसलिए वे "मूल अविनाशी" होते हैं।

दूसरी वात जो इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कही जाती है, वह यह है कि रिकार्डो ने 'उपजाऊपन' शब्द का प्रयोग अनिश्चित अर्थ में किया है। स्थिति के अतिरिक्त उपजाऊपन किसान की योग्यता व उत्पादन के साधनो पर भी निर्भर करता है, और फिर उपजाऊपन का सम्बन्ध उत्पादित फसलो से है।

तीसरी वात यह है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान-रहित भूमि के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया जिससे काश्त की लागत वसूल हो जाती है। और अधिकतर ऐसा होता भी है—पर इस प्रकार की भूमि से किसी प्रकार का आर्थिक लगान प्राप्त नही होता। यह समस्या लगान की दुर्लभता से हल हो जाती है। सिद्धान्त

1 Marshall, A—Principles of Economics, p 422

के वास्तविक प्रयोग के लिए यह आवश्यक नही है कि लगान-रहित भूमि हो ही।

चौथे, इसके अतिरिक्त रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान का जन्म उन प्राकृतिक भिन्नक लाभ (natural differential advantages) के कारण होता है, जो अच्छी भूमि में सीमान्त भूमि की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। पर यदि यह मान भी लिया जाय कि सारी भूमि प्रथम श्रेणी की है, तब भी जब गहन खेती की जाती है, घटती हुई प्राप्ति के नियम के कारण लगान अवश्य होगा। वास्तव मे उत्पादित वस्तु श्रम व पूजी की लगी हुई सीमान्त इकाई की क्षति-पूर्ति उत्पाद द्वारा होनी चाहिए। इसलिए प्रारम्भ में लगी हुई इकाइयो से लागत पर बचत की प्राप्ति होगी जो लगान का रूप ले लेगी।

पांचवें, यही नही, केरी (Carey) व रोशर (Roscher) के मतानुसार ऐतिहासिक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि यह मान लेना कि नये देशो में केवल सर्वश्रेष्ठ भूमि की जुताई ही सर्वप्रथम होती है, गलत है। सच तो यह है कि ऐसे देशो मे सर्वप्रथम उसी भूमि के टुकडो पर खेती होती है, जो सरलतापूर्वक प्राप्त हो सके, और यह आवश्यक नही है कि भूमि के ऐसे टुकडे सर्वश्रेष्ठ ही हो। पर वाकर (Walker) का कहना है कि सर्वश्रेष्ठ भूमि से रिकार्डो का आशय केवल ऊपजाऊ भूमि से ही नही बल्कि ऐसी जमीन से था, जो उपजाऊपन तथा स्थिति की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हो।

और फिर रिकार्डो का यह कहना भी गलत बताया जाता है कि चूकि सीमान्त भूमि पर कोई लगान नही होता और इसलिए लगान का उत्पाद की कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो का विचार है कि यह सिर्फ सामूहिक रूप में अर्थ-व्यवस्था के दृष्टिकोण ही से नही है कि भूमि की सप्लाई पूरे तौर पर लोचहीन (inelastic) होती है। और उस पर आधिक्य अथवा लगान प्राप्त होता है। यह आधिक्य (surplus) लागत में शामिल नही किया जाता और इस प्रकार कीमत (price) मे नही जुडता। लेकिन व्यक्तिगत रूप से किसान अथवा उद्योग के लिए, भूमि को दूसरे काम मे बदले जाने से बचाने के लिए अदायगी (payment) करनी पडती है। इस भुगतान को हस्तान्तरण प्राप्ति (transfer earnings) कहते हे और यह लागत का तत्व (element) होने से कीमत में जुडता है। व्यक्तिगत रूप से किसान के लिए सारा लगान ही लागत है। "हस्तातरण प्राप्ति की इस धारणा से रिकार्डो के सिद्धात को जहा हस्तातरण प्राप्ति शून्य है, चूकि अध्ययन समस्त अर्थ-व्यवस्था का होता है—वास्तविकता को सापेक्ष रूप से समझने में आसानी होती है।"

अन्त में रिकार्डो के सिद्धान्त की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना उन लोगो ने की है जो यह मानने को कभी तैयार नही हे कि किसी ऐसे सिद्धान्त के द्वारा जो उत्पादन के अन्य साधनो पर लागू नही होता, लगान का निर्धारण किया जाय। इस मत के लोग लगान को भी मजदूरी, व्याज और लाभ की भाति ही समझते हैं। उन का कहना है कि रिकार्डो न लगान की जो विशेपता बतलाई है, वह वास्तविक नहीं है।

का कीमत पर प्रभाव पडता है।

दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि लगान कीमत का कोई भाग नही होता। भूमि प्रकृति की उपहार-स्वरूप है, इसकी पूर्ति को स्थिर रखने के लिए किसी प्रकार के भुगतान की आवश्यकता नही होती। अस्तु, लगान का भूमि कीमत से कोई सम्बन्ध नही होता और वह उसकी उत्पादित वस्तुओ की कीमतो पर कोई प्रभाव नही डाल सकता।

पर जब हम सारी भूमि का नही, बल्कि भूमि के केवल उस भाग का, जिसका कोई विशेष प्रयोग हो रहा हो, अध्ययन कर रहे हैं, तब लगान कीमत को अवश्य प्रभावित करता है। अवसर लागत (opportunity cost) के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट है। भूमि के अधिक भागो के कई प्रयोग हो सकते हैं। न्यूनतम कीमत जिसका इसको भुगतान करना होगा, इतनी होगी जो कि यह भूमि अपने सबसे लाभदायक **वैकल्पिक प्रयोग** (alternative use) में प्राप्त करती है। यह अवसर लागत अथवा हस्तातरण (transfer) कीमत कहलाती है। (देखिये विभाग १४)। भूमि के प्रयोग के लिए इस भुगतान का प्रभाव कीमत पर पडता है। हम जानते हैं कि बाजार कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहा कीमत अधिकतम मूल्यवाली भूमि (जिसको उद्योग में रखना पडता है) की सीमान्त लागत के बराबर है और इस सीमान्त लागत में हस्तातरण कीमत मिली होती है।

प्रत्येक फर्म के दृष्टिकोण से सब साधनो का सारा लगान उत्पादन-लागत मे शामिल होना चाहिए और इसलिए कीमत को प्रभावित करना चाहिए। यदि किसान किसी दूसरे की भूमि प्रयोग में ला रहा है, तो जो लगान वह देता है, वह उसकी लागत है। मालिक किसान की दशा में भी लगान लागत है परन्तु इसकी उपस्थिति छिपी हुई है। यदि वह इस भूमि को खुद न जोतता तो उसके लिए उसको जो भुगतान मिलता वह इस भूमि की अवसर लागत है।

इस समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। कीमत वस्तु की माग से सबधित दुर्लभता (scarcity) द्वारा भी निश्चित होती है। वह उद्यमी जो लगान देता है, वह उसकी लागत का एक अग होता है। यदि लगान अधिक होगा तो वह कम भूमि से काम चलाने का प्रयत्न करेगा। और यदि लगान कम होगा तो वह अधिक भूमि को काम मे लेगा। यदि उद्यमी अधिक भूमि पर प्रयोग करेगा तो दूसरे प्रयोगो के लिए भूमि की कमी हो जायगी। और यदि वह कम भूमि का प्रयोग करेगा तो दूसरे कामो के लिए भूमि की मात्रा बढ जायगी। इस प्रकार विभिन्न प्रयोगो मे भूमि की पूर्ति को प्रभावित करके लगान भिन्न-भिन्न वस्तुओ के मूल्य पर निश्चयात्मक प्रभाव डालता है।

यदि हम इस समस्या पर सूक्ष्म विश्लेषण करें तो "डेवनपोर्ट" के शब्दो मे न तो लगान कीमत निश्चित करता है और न कीमत लगान निश्चित करती है। सच तो यह है कि कीमत और लगान दोनो पर ही भूमि से उत्पादित वस्तुओ की पारस्परिक दुर्लभता का प्रभाव पडता है। यही सिद्धान्त मजदूरी, ब्याज और लाभ के साथ भी लागू होता है।

भूमि तथा बिल्डिंग लगान (Ground Rent and Building Rents)—अभी तक हमने केवल कृषि की भूमि का ही अध्ययन किया है। पर लगान नगरो की भूमि पर भी होता है। नगरो मे भी न्यूनता के दृष्टिकोण से लगान प्राप्त होता है। व्यापार के केन्द्रो के निकट अथवा खास सडको या रेलवे स्टेशन के समीप होने के कारण भूमि मे श्रेष्ठता आ जाती है। शहरो मे भी भूमि के कुछ टुकडे ऐसे होते है, जिनसे किसी प्रकार की वचत की प्राप्ति नही होती। ऐसी भूमि को हम सीमान्त भूमि (marginal site) कह सकते है।

पर सीमान्त भूमि पर भी माग के अनुरूप न्यूनता के कारण लगान हो सकता है। इस प्रकार की भूमि फल आदि उत्पन्न करने अथवा वाग लगाने के काम आ सकती है। ऐसी दशा में अच्छी भूमि के टुकडो से दो प्रकार का लगान प्राप्त होता है। एक तो भिन्नता (differential type) के फलस्वरूप, दूसरा दुर्लभता (scarcity) का लगान। पर यह याद रखना चाहिए कि भिन्नता का लगान भी समस्या की कोई समुचित व्याख्या नही है। उदाहरण के लिए वडे शहरो में वडे वाजारो की दुकानो के किराये अधिक होने के दो कारण होते है। पहला तो भूमि की दुर्लभता, दूसरा विभिन्न प्रयोगो के लिए उसी भूमि की माग की प्रतियोगिता के कारण सापेक्ष दुर्लभता।

खेतिहर भूमि तथा शहरी भूमि के स्थानीय अथवा स्थिति कीमत में एक अन्तर है जिस पर ध्यान दिया जा सकता है। पहली दशा मे यह केवल परिवहन (transport) की लागत का विषय है और दूसरी दशा मे इसमें एकाधिकार (monopoly) का तत्त्व होता है। एक विशेष स्थान पर स्थित फुटकर दूकान कुछ ग्राहको का एकाधिकार रखती है। यह ग्राहक स्वभाव से या सुविधा के कारण उस दूकान से खरीदते है। यह भली भाति विदित है कि फुटकर विक्रेता भिन्न-भिन्न कीमतें लेते है। इस भिन्नता का कारण केवल परिवहन की लागत नही है। यह एकाधिकार का तत्त्व है जो इस भिन्नता की व्याख्या करता है।

जो किराया या लगान इमारतो के लिए दिया जाता है उसमें दो अग होते है। जैसा कि ऊपर वताया गया है इसमें एक ओर तो भूमि का किराया होता है तथा दूसरी ओर भूमि पर वनी हुई इमारत के प्रयोग का लगान होता है। इसमे दूसरे खर्चे भी शामिल होते है। यदि इस प्रकार के व्यय लगान से पूरे नही होगे तो मकानो की पूर्ति कम हो जायगी। यदि इस प्रकार के मकानो के मालिक इन्हे वेच देगे तो उनका यह यत्न होगा कि मकान की जो कीमत उन्हें मिले उसमे भूमि का पूजीकृत मूल्य (capitalised value) व इमारत का लगान सम्मिलित हो। अल्प काल में मकान की लागत लगान पर कोई प्रभाव नही डालती क्योकि ऐसी परिस्थिति में मकान का लगान पर कम प्रभाव होता है और जो माग और पूर्ति के सिद्धान्त पर निश्चित होता है। अल्प काल में पूर्ति लगभग स्थिर होती है। क्योकि मकान धीरे-धीरे तैयार होते है और धीरे-धीरे खराव होते है। और इसलिए माग या दूसरे शब्दो मे सीमान्त उपयोगिता ही मकान का लगान निश्चित करती है।

७. खानो, खदानो तथा मीन-क्षेत्रों का लगान (Rent of Mines,

Quarries and Fisheries)—खानें तथा खदानें कृषि की भूमि की अपेक्षा कभी न कभी समाप्त हो जाती हैं। इसलिए खानो के पट्टे लेने वाले जो लगान देते हैं, उनमें दो अग होते है। पहला लगान और दूसरा खान के खत्म हो जाने के कारण अधिकार शुल्क (royalty)। श्रेष्ठ खानो का लगान खान की लगान सीमान्त पर प्राप्त बचत के रूप में होने वाला भिन्नक आधिक्य (differential surplus) है। लगान की वास्तविक व्याख्या यही है कि खानो तथा खदानो की पूर्ति उनकी माग से कम होती है और न्यूनता के सिद्धान्त के आधार पर लगान का निर्णय होता है।

जहा तक मीन-क्षेत्रो (fisheries) का सम्बन्ध है, यदि मछलियो की पूर्ति निरन्तर हो तो उससे प्राप्त आय से उसके लगान की प्रकृति का निर्णय होगा। यह लगान उन मछलीगाहो (fisheries) के लगान से ऊपर नापा जायगा, जिनमें कम मछलिया प्राप्त होती है। पर यदि मछलियो के समाप्त होने की आशका हो तो इनमें भी खानो वाला सिद्धान्त लागू होगा। अन्त में यह सत्य है कि सदैव लगान दुर्लभता के सिद्धान्त से निश्चित होता है।

८ अर्द्ध-लगान (Quasi Rent)—सर्वप्रथम मार्शल ने अर्थशास्त्र में आभास लगान का प्रयोग किया था। मार्शल के अनुसार अर्द्ध-लगान उस बचत को कहते हैं, जो भूमि के अलावा उत्पादन के दूसरे साधनो द्वारा होती है। अर्थशास्त्र में भूमि से प्राप्त आय को 'लगान' कहते है, और अर्द्ध-लगान उस आय को कहते है जो मनुष्य के प्रयत्नो से बनी मशीनो और दूसरे यत्रो से होती है। अर्द्ध-लगान उस लगान को कहते है, जिसका सम्बन्ध उस तमाम आप से होता है, जो माग बढ जाने के कारण उत्पादन के साधनो से प्राप्त होती है। अर्द्ध-लगान उस समय में प्राप्त होता है, जब उत्पादन साधनो की पूर्ति माग के अनुसार बढाई नही जा सकती। लगान और अर्द्ध-लगान में सबसे बडा अन्तर यह है कि भूमि की पूर्ति स्थिर होती है पर उत्पादन के दूसरे साधन, जैसे इमारत, कल आदि की पूर्ति बढाई जा सकती है।

उदाहरण के लिए, युद्ध-काल में नगरो की जनसख्या बढ जाने के कारण मकानो की माग अचानक बढ गई। पर इमारतो के लिए भूमि न मिल सकने के कारण इनकी पूर्ति अधिक नही बढ़ाई जा सकती थी। कुछ समय के लिए यह पूर्ति भूमि की ही भाति स्थिर हो गई। फलस्वरूप राज्य की ओर से नियत्रण होने पर भी किराये अत्यधिक बढ़ गये। मकानो के किराये में इस प्रकार अनुचित वृद्धि को ही अर्द्ध-लगान कहते है। इसे आर्थिक लगान इसलिए नही कह सकते क्योकि दीर्घावधि में मकानो की पूर्ति बढाई जा सकती है।

अर्द्ध-लगान अस्थायी आधिक्य (बचत) है। जैसे-जैसे इमारती सामान मिलने लगता है और नये मकान बनने प्रारम्भ हो जाते है, वैसे ही वैसे यह बचत समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की बचत दूसरी टिकाऊ वस्तुओ (durable goods) में भी हो सकती है। इसी भाति किसी प्रकार की कौशल (skill) की स्थायी कमी के कारण अर्द्ध-लगान पैदा हो जाता है, जो एक समय पश्चात् बढाया जा सकता है।

दीर्घ काल में इस प्रकार की वस्तुओ से प्राप्त आय तत्कालीन व्याज की दर के

बराबर होनी चाहिए। अस्थायी रूप से ऐसी वस्तुओ से अर्द्ध-लगान अवश्य प्राप्त होगा। अर्द्ध-लगान को व्याज से भिन्न समझना चाहिए। व्याज वह प्राप्ति है जो मुक्त तथा प्लवमान पूजी (free and floating capital) से होती है। अर्द्ध-लगान वह प्राप्ति है जो विशिष्टीकृत तथा उपयोजित पूजी (specialised and sunk capital) अर्थात् पूजी के पुराने विनियोजन (investment) से प्राप्त होनी है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थिक लगान तथा अर्द्ध-लगान का अन्तर और वास्तव में किसी भी उत्पादक साधन के उत्पादन में केवल मात्रा का अन्तर होता है। मार्शल के शब्दो में "चल पूजी पर प्राप्त होने वाला व्याज वास्तव मे एक प्रकार का लगान ही होता है—एक ऐसा आभास लगान जो पूजी के पुराने विनियोजनो पर प्राप्त होता है। चल पूजी अथवा उत्पादन की किसी विशेष शाखा मे लगी हुई पूजी मे विभाजन की कोई निश्चित रेखा नही खिची होती। यही नही, पुरानी या नई पूजी में भी कोई अन्तर नही होता।"[1] इस प्रकार लगान बड़े वर्ग की वस्तु है (a leading specie of a large genus) इन मे से प्रत्येक में दुर्लभता के कारण बचत होती है। पर चूकि और साधनो की अपेक्षा भूमि की पूर्ति अधिक सीमित है, इसलिए अर्थशास्त्रियो ने भूमि को प्रथम वर्ग में रक्खा है, किंतु मूलत इस प्रकार की विभिन्नता का कोई उचित कारण नही है।

यह आवश्यक है कि इस विषय मे एक भ्रम निवारण हो जाय। बहुत से लोगो ने अर्द्ध-लगान को अनावश्यक लाभ कहा है। इस प्रकार के भ्रम का कारण यह है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन परिस्थितियो मे समुचित अन्तर नही किया जाता। अल्प काल मे अर्द्ध लगान अनावश्यक लाभ समझा जा सकता है क्योकि यह कीमत का अग नही होता और इसको प्राप्त करने के लिए कोई विशेष व्यय नही करना पडता। दीर्घ काल मे अनेको अतिरिक्त व्यय करने पडते है और यह आवश्यक है कि व्यापारी को अपने इन खर्चों का पूरा प्रतिफल मिले। ऐसी परिस्थितियो में आभास लगान व्यय का एक अग होता है और इसलिए इसे 'आवश्यक लाभ' समझना चाहिए।

९ लगान और आर्थिक उन्नति (Rent and Economic Progress)—आर्थिक उन्नति का लगान पर क्या प्रभाव पडता है, यह प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक उन्नति तीन बातो से प्रकट होती है। (क) उत्पादन के साधनो मे औद्योगिक उन्नति (ख) परिवहन के साधनो मे उन्नति (ग) जनसख्या में वृद्धि।

(क) कृषि में उन्नति से सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडता है। यह भी हो सकता है कि केवल श्रेष्ठ भूमि अथवा निम्नतर भूमि पर ही प्रभाव पडे। यदि सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडे तो अनाज की पूर्ति बढ जायगी। और चूकि माग वही रहेगी इसलिए इसकी कीमत गिर जायगी और रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार श्रेष्ठ भूमि के लगान गिरने लगेंगे। दूसरे शब्दों में कृषि में उन्नति से अनाज की पूर्ति बढने के कारण लगान घट जायगा। अनाज की पूर्ति का बढना लगभग भूमि की पूर्ति

1 Marshall, Principles of Economics 1936, p 412

Quarries and Fisheries)—खानें तथा खदानें कृषि की भूमि की अपेक्षा कभी न कभी समाप्त हो जाती हैं। इसलिए खानो के पट्टे लेने वाले जो लगान देते हैं, उनमें दो अग होते हैं। पहला लगान और दूसरा खान के खत्म हो जाने के कारण अधिकार शुल्क (royalty)। श्रेष्ठ खानो का लगान खान की लगान सीमान्त पर प्राप्त बचत के रूप में होने वाला भिन्नक आधिक्य (differential surplus) है। लगान की वास्तविक व्याख्या यही है कि खानो तथा खदानो की पूर्ति उनकी माग से कम होती है और न्यूनता के सिद्धान्त के आधार पर लगान का निर्णय होता है।

जहा तक मीन-क्षेत्रो (fisheries) का सम्बन्ध है, यदि मछलियो की पूर्ति निरन्तर हो तो उससे प्राप्त आय से उसके लगान की प्रकृति का निर्णय होगा। यह लगान उन मछलीगाहो (fisheries) के लगान से ऊपर नापा जायगा, जिनमें कम मछलिया प्राप्त होती हैं। पर यदि मछलियो के समाप्त होने की आशका हो तो इनमें भी खानो वाला सिद्धान्त लागू होगा। अन्त में यह सत्य है कि सदैव लगान दुर्लभता के सिद्धान्त से निश्चित होता है।

८ अर्द्ध-लगान (Quasi Rent)—सर्वप्रथम मार्शल ने अर्थशास्त्र में आभास लगान का प्रयोग किया था। मार्शल के अनुसार अर्द्ध-लगान उस बचत को कहते हैं, जो भूमि के अलावा उत्पादन के दूसरे साधनो द्वारा होती है। अर्थशास्त्र में भूमि से प्राप्त आय को 'लगान' कहते हैं, और अर्द्ध-लगान उस आय को कहते हैं जो मनुष्य के प्रयत्नो से बनी मशीनो और दूसरे यत्रो से होती है। अर्द्ध-लगान उस लगान को कहते हैं, जिसका सम्बन्ध उस तमाम आय से होता है, जो माग बढ जाने के कारण उत्पादन के साधनो से प्राप्त होती हैं। अर्द्ध-लगान उस समय में प्राप्त होता है, जब उत्पादन साधनो की पूर्ति माग के अनुसार बढाई नही जा सकती। लगान और अर्द्ध-लगान में सबसे बडा अन्तर यह है कि भूमि की पूर्ति स्थिर होती है पर उत्पादन के दूसरे साधन, जैसे इमारत, कल आदि की पूर्ति बढाई जा सकती है।

उदाहरण के लिए, युद्ध-काल में नगरो की जनसख्या बढ जाने के कारण मकानो की माग अचानक बढ गई। पर इमारतो के लिए भूमि न मिल सकने के कारण इनकी पूर्ति अधिक नही बढाई जा सकती थी। कुछ समय के लिए यह पूर्ति भूमि की ही भाति स्थिर हो गई। फलस्वरूप राज्य की ओर से नियत्रण होने पर भी किराये अत्यधिक बढ गये। मकानो के किराये में इस प्रकार अनुचित वृद्धि को ही अर्द्ध-लगान कहते हैं। इसे आर्थिक लगान इसलिए नही कह सकते क्योकि दीर्घावधि में मकानो की पूर्ति बढाई जा सकती है।

अर्द्ध-लगान अस्थायी आधिक्य (बचत) है। जैसे-जैसे इमारती सामान मिलने लगता है और नये मकान बनने प्रारम्भ हो जाते हैं, वैसे ही वैसे यह बचत समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की बचत दूसरी टिकाऊ वस्तुओ (durable goods) में भी हो सकती है। इसी भाति किसी प्रकार की कौशल (skill) की स्थायी कमी के कारण अर्द्ध-लगान पैदा हो जाता है, जो एक समय पश्चात् बढाया जा सकता है।

दीर्घ काल में इस प्रकार की वस्तुओ से प्राप्त आय तत्कालीन ब्याज की दर के

बराबर होनी चाहिए। अस्थायी रूप से ऐसी वस्तुओ से अर्द्ध-लगान अवश्य प्राप्त होगा। अर्द्ध-लगान को व्याज से भिन्न समझना चाहिए। व्याज वह प्राप्ति है जो मुफ्त तथा प्लवमान पूजी (free and floating capital) से होती है। अर्द्ध-लगान वह प्राप्ति है जो विशिष्टीकृत तथा उपयोजित पूजी (specialised and sunk capital) अर्थात् पूजी के पुराने विनियोजन (investment) से प्राप्त होती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थिक लगान तथा अर्द्ध-लगान का अन्तर और वास्तव मे किसी भी उत्पादक साधन के उत्पादन में केवल मात्रा का अन्तर होता है। मार्शल के शब्दो में "चल पूजी पर प्राप्त होने वाला व्याज वास्तव में एक प्रकार का लगान ही होता है—एक ऐसा आभास लगान जो पूजी के पुराने विनियोजनो पर प्राप्त होता है। चल पूजी अथवा उत्पादन की किसी विशेष शाखा में लगी हुई पूजी में विभाजन की कोई निश्चित रेखा नही खिची होती। यही नही, पुरानी या नई पूजी में भी कोई अन्तर नही होता।"[1] इस प्रकार लगान बडे वर्ग की वस्तु है (a leading specie of a large genus) इन मे से प्रत्येक मे दुर्लभता के कारण बचत होती है। पर चूकि और साधनो की अपेक्षा भूमि की पूर्ति अधिक सीमित है, इसलिए अर्थशास्त्रियो ने भूमि को प्रथम वर्ग मे रक्खा है, किंतु मूलत इस प्रकार की विभिन्नता का कोई उचित कारण नही है।

यह आवश्यक है कि इस विषय मे एक भ्रम निवारण हो जाय। बहुत से लोगो ने अर्द्ध-लगान को अनावश्यक लाभ कहा है। इस प्रकार के भ्रम का कारण यह है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन परिस्थितियो में समुचित अन्तर नही किया जाता। अल्प काल मे अर्द्ध लगान अनावश्यक लाभ समझा जा सकता है क्योकि यह कीमत का अग नही होता और इसको प्राप्त करने के लिए कोई विशेष व्यय नही करना पडता। दीर्घ काल मे अनेको अतिरिक्त व्यय करने पडते है और यह आवश्यक है कि व्यापारी को अपने इन खर्चों का पूरा प्रतिफल मिले। ऐसी परिस्थितियो मे आभास लगान व्यय का एक अग होता है और इसलिए इसे 'आवश्यक लाभ' समझना चाहिए।

९ लगान और आर्थिक उन्नति (Rent and Economic Progress)

—आर्थिक उन्नति का लगान पर क्या प्रभाव पडता है, यह प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक उन्नति तीन बातो से प्रकट होती है। (क) उत्पादन के साधनो में औद्योगिक उन्नति (ख) परिवहन के साधनो में उन्नति (ग) जनसख्या में वृद्धि।

(क) कृषि में उन्नति से सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडता है। यह भी हो सकता है कि केवल श्रेष्ठ भूमि अथवा निम्नतर भूमि पर ही प्रभाव पडे। यदि सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडे तो अनाज की पूर्ति बढ जायगी। और चूकि माग वही रहेगी इसलिए इसकी कीमत गिर जायगी और रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार श्रेष्ठ भूमि के लगान गिरने लगेगे। दूसरे शब्दो मे कृषि में उन्नति से अनाज की पूर्ति बढने के कारण लगान घट जायगा। अनाज की पूर्ति का बढना लगभग भूमि की पूर्ति

---

1 Marshall, Principles of Economics 1936, p 412

के बढने के बराबर ही है।

यदि इस उन्नति का प्रभाव केवल सीमान्त भूमि पर ही पडे तो रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार लगान फिर गिरने लगेगे क्योकि ऐसी दशा में श्रेष्ठ भूमि के उत्पादन और सीमान्त के उत्पादन में बहुत कम अन्तर रह जायगा। इसके विपरीत यदि इस उन्नति का प्रभाव केवल श्रेष्ठ भूमि के टुकडो पर पडेगा, तो लगान श्रेष्ठ भूमि की उत्पादन शक्ति अधिक होने के कारण बढ जायगा। पर यदि इस उत्पादन शक्ति के कारण कीमतो में किसी प्रकार का अवसाद आ जाय तो लगान गिर भी सकता है। अस्तु, लगान सदैव उत्पादित वस्तु की मांग व पूर्ति पर निर्भर करता है। **कृषि में किसी प्रकार की उन्नति का प्रभाव जो लगान पर पडता है, वह कृषि के सीमान्त के प्रभाव के कारण इतना नहीं पडता जितना कि भूमि अथवा उसकी उत्पादन की दुर्लभता को प्रभावित करने से पडता है।**

(ख) जहाँ तक परिवहन के साधनों की उन्नति का संबध है, परिवहन के साधनो की उन्नति का लगान पर अवश्य प्रभाव पडेगा। क्योकि दूर-स्थित स्थान भी बाजार के सपर्क में आ जायेंगे, इसलिए उनके लगान बढ जायेंगे। किंतु अधिक अच्छी जगह स्थित भूमि के लगान गिर जायेंगे। यदि यातायात के साधनो में उन्नति से दुर्लभता मे वृद्धि होगी तो लगान बढ जायगा। पर इसके विपरीत परिस्थिति में लगान गिरने लगेंगे।

जनसख्या की वृद्धि सदैव लगान को बढाती है। रिकार्डो के सिद्धात के अनुसार अधिक गहन खेती व निम्नतर भूमि के प्रयोग के कारण ऐसा होगा। पर इसी बात को अधिक आधुनिक ढग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि जनसख्या की वृद्धि से माग के अनुसार भूमि की दुर्लभता बढ जाती है जिससे लगान मे वृद्धि हो जाती है।

१० दूसरे साधनो में लगान का तत्त्व (Rent Element in other Factors)—लगान का तत्त्व केवल भूमि मे ही नही वरन् उत्पादन के दूसरे साधनो मे भी पाया जाता है।

(१) लाभ में भी लगान तत्त्व (Rent Element in Profits)—सारे एक सी योग्यता नही रखते। इनमें ऐसे उद्यमी भी होते हैं जो कम लाभ पर भी किसी प्रकार अपना काम चलाया करते हैं। इस प्रकार के उद्यमियो को लाभ बहुत कम होते हैं किन्तु ऐसे उद्यमी भी होते हैं जो अपनी योग्यता के कारण कम व्यय में उत्पादन कार्य चला लेते हैं। इनको अधिक लाभ प्राप्त होता है जिसकी तुलना श्रेष्ठ भूमि से प्राप्त बचत से की जा सकती है। इन उद्यमियो का यह लाभ कुछ-कुछ श्रेष्ठ भूमि की स्थिति से प्राप्त लाभ की भाति होता है। इस प्रकार लाभ में भी लगान का तत्त्व पाया जाता है। कुछ अर्थशास्त्री लाभ को योग्यता का लगान (rent of ability) कहते हैं।

(२) मजदूरी में लगान का अश (Rent Element in Wages)—इस प्रकार श्रमिको मे विभिन्न प्रकार की कुशलता पाई जाती है। मजदूरी श्रमिक की कुशलता के अनुसार मिलती है। जो मजदूर अधिक कुशल होता है, उसे दूसरे मजदूरो की तुलना में उसी प्रकार की बचत प्राप्त होती है। यह सिद्धान्त आसानी से प्राप्त जमीनो

के लगान के समान है।

(३) **ब्याज में लगान का अंश** (Rent Element in Interest)—प्रचलित ब्याज सीमान्त विनियोजक (marginal investor) का प्रतिफल होता है अर्थात् वह व्यक्ति जिसे बचाने का प्रोत्साहन मिला हुआ है। पर कुछ लोग कम दर पर भी बचत करना चाहते हैं। या तो ऐसे आदमी बहुत अमीर होते हैं अथवा उनके खर्च कम होते हैं। इस प्रकार के विनियोजकों को एक प्रकार की बचत की प्राप्ति होती है। यह बचत विस्तृत रूप में लगान के समान होती है। पर ब्याज में गहरे लगान का भी तत्त्व होता है। नौकरी में बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि किसी साधन को न्यूनतम अदायगी का लालच दिया जाए। इससे अधिक होने वाली आमदनी (बचत) का स्वरूप लगान (rent) का है और यह तत्त्व प्रत्येक साधन (factor) में पाया जाता है।

११. हस्तातरण आय (Transfer Earnings)—समाज के पास बहुत कम साधन ऐसे होते हैं, जिनके कई प्रयोग न हों। उत्पादन के कुछ ही साधन बहुत विशिष्ट होते हैं। वास्तव में अधिक आय का आकर्षण ही साधनों को सदैव हस्तातरण के लिए प्रेरित करता है। इस हस्तातरण से आय में जो वृद्धि होती है, वह अर्थशास्त्र में हस्तातरण आय कहलाती है। बैनहम के शब्दों में **"द्रव्य का वह परिमाण जो कोई इकाई अपने उस सर्वोतम वैकल्पिक उपयोग में प्राप्त करती है जिसकी आय सर्वाधिक हो, कभी-कभी हस्तातरण आय कहलाती है।"**

हस्तातरण आय के सिद्धात का सम्बन्ध आर्थिक लगान के सिद्धात से बहुत घनिष्ठ है। मान लीजिये कि भूमि के किसी टुकडे में गन्ने के बजाय कपास पैदा करने से अधिक लाभ होता है। पर यदि कपास का लाभ गिर जाय और गन्ने के लाभ में वृद्धि हो जाय तो भूमि में गन्ने का उत्पादन होने लगेगा। ऐसी दशा में भूमि अधिक आय की प्राप्ति के लिए एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में लाई जायगी। यदि किसी साधन की आय हस्तातरण होने के बाद प्राप्त होने वाली आय से अधिक हो तो वह लगान कहलाती है। बैनहम के अनुसार "साधारणतया उस बचत को जो कोई इकाई अपनी हस्तातरण आय पर प्राप्त करती है, लगान का रूप दे दिया जाता है।" यदि कोई भूमि का टुकडा केवल कपास के उत्पादन में ही लगा हो अर्थात् वह और कुछ न उत्पादन कर सकता हो तब उसकी हस्तातरण आय शून्य होगी, और उस भूमि की कपास का उत्पादन लगान समझा जायगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि साधन की एक इकाई किसी उद्योग में अपने को उस उद्योग में बने रहने की पर्याप्त मात्रा से अधिक पैदा करती है तो वास्तविक आय और हस्तातरण आय का अन्तर उस उद्योग के दृष्टिकोण से लगान कहा जा सकता है। श्रीमती राबिंसन के कथनानुसार "किसी उद्योग में साधन की इकाई को बनाए रखने के लिए जो कीमत देनी जरूरी है उसे **हस्तांतरण प्राप्ति अथवा हस्तातरण कीमत** कह सकते हैं। इसको इस नाम से इसलिए पुकारते हैं चूंकि इससे कम कीमत चुकाने से वह (साधन) दूसरी जगह भागने की सोचेगा। इस प्रकार ऐसी किसी इकाई को किसी उद्योग में इतनी आय प्राप्त कर रहा है जो उसे अन्य जगह भागने (हस्तातरण) से रोके हुए है तो हम उसे हस्तातरण की सीमा

पर मानेंगे अथवा उसे सीमान्त इकाई कहेंगे।"

इस प्रकार, हस्तातरण आय की मान्यता (धारणा) के अनुसार, वह भूमि जो समस्त अर्थ-व्यवस्था के लिए (economy as a whole) अपनी लोचहीन प्राप्ति (inelastic supply) के कारण लगान कमाती है, उसे अन्य विशेष उद्योग में कुछ भी लगान न मिले। क्योकि इसकी पूर्ति किसी उद्योग विशेष के दृष्टिकोण से पूर्णतया लोचदार हो सकती है। समस्त अर्थ-व्यवस्था के दृष्किोण से भूमि का कोई भी वैकल्पिक उपयोग नही होता। अतएव हस्तातरण की दृष्टि से इसकी हस्तातरित आय शून्य के बराबर है। इसलिए, भूमि की समस्त प्राप्ति इस विचार से लगान कहलाती है। लेकिन, किसी उद्योग विशेष मे, भूमि हस्तातरित आय से अधिक प्राप्त कर सकती है। और हस्तातरण आय से अधिक प्राप्ति, भूमि के सम्बन्ध में उद्योग के अन्तर्गत लगान (rent) है। निजी उद्योग मे भूमि को दूसरे लाभदायक काम में चले जाने से रोकने के लिए एक कीमत चुकानी होती है। इसी प्रकार, किसान को भूमि के उपयोग के एवज में एक कीमत चुकानी होती है, जिससे वह किसी अन्य काम में न आने लगे। इसलिए किसान के वास्ते वह जो लगान देता है वास्तव मे लागत (cost) होती है।

जैसा कि श्रीमती रोबिन्सन का कथन है "हर साधन की हर एक इकाई उस स्थान में ठीक होगी जहा कि उसकी आय सबसे अधिक होगी। जब उस प्रयोग में उसकी आय कम हो जायेगी तो वह दूसरे लाभदायक प्रयोग का आश्रय लेगी और यदि उसकी वास्तविक आय तथा उसके दूसरे लाभदायक प्रयोग में चले जाने से आय में अधिक अन्तर है तो उसको लगान मिलेगा। यदि हर उत्पादक इकाई उस उद्योग तथा दूसरे वैकल्पिक प्रयोगो की कार्यकुशलता के दृष्टिकोण से अपनी समीप की इकाई के समान है तो वहा कोई लगान न होगा।"[1]

हस्तातरण आय के इस सिद्धान्त से यह भी पता चलता है कि उत्पादन की मात्रा में परिवर्त्तन से किस प्रकार व्यय मे परिवर्त्तन हो जाता है। जिस उद्योग का विकास हो रहा हो वह दूसरे उद्योगो से अपने उत्पादन के साधन प्राप्त करता है। यदि इन साधनो की दूसरे उद्योगो में अधिक आय हो रही हो तो जब तक इस उद्योग में उन्हें उस आय से अधिक रुपये न मिले, वह इस उद्योग में नही आयेंगे। ऐसी परिस्थिति में अतिरिक्त उत्पादन के लिए अल्प काल में अत्यधिक व्यय करना पडेगा। सीमान्त तथा औसत लागत प्रति इकाई बढ़ जायगी। इस वृद्धि का कारण केवल यह है कि उत्पादन साधनो की हस्तातरण आय अधिक है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A —Principles of Economics
Cannan, E —Review of Economic Theory
Ricardo, D —Principles (Straffa Edition)
Robinson, Joan —The Economics of Imperfect Competition, 1945, Ch 8

1 Ibid, p 107

अध्याय २७

मजदूरी

(WAGES)[1]

१ परिभाषा (Definition)—श्रम उत्पादन का दूसरा साधन है और जो कुछ उसे मिलता है, उसे "मजदूरी" कहते हैं। 'मजदूरी' शब्द व्यापक अथवा सीमित अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। व्यापक अर्थ में इसका अर्थ श्रम की सेवाओं का भुगतान है। कुछ लेखक मजदूरी शब्द को सीमित अर्थों में उपयोग करते हैं। बैन्हम (Benham) कहते हैं "मजदूरी की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि ठेके द्वारा व्यवसायी, जो रुपया मजदूर की सेवाओं के लिए देता है, वह मजदूरी कहलाती है।" हम मजदूरी को व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं, तथा उसे राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) का वह भाग मानते हैं, जो किसी व्यवसायी के लिए अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने हाथों अथवा मस्तिष्क द्वारा कार्य करने वालों के लिए होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि स्वतन्त्र मजदूरों की मजदूरी दूसरों द्वारा नियुक्त किये मजदूरों की मजदूरी से समय के हिसाब से घटती-बढ़ती रहती है चूंकि उन्हें व्यापार में होने वाली जोखिम उठानी पड़ती है।

मजदूरी काम के हिसाब से अथवा जितने समय तक मजदूर काम पर लगा होता है, उसके हिसाब से दी जाती है। पहली 'खण्ड-मजदूरी' (piece wage) और दूसरी 'समय-मजदूरी' (time wage) कहलाती है। जब काम का परिमाण व नाप आदि ठीक प्रकार से संभव होता है तब व्यवसायी 'खण्ड' में मजदूरी देना पसन्द करता है। यह दशा तब होती है, जब व्यवसायी बहुत अधिक पैदावार (output) चाहता है। जब काम ऐसा होता है कि वह साधारणतया परिमाण (standardised) में नहीं आ सकता अथवा उसकी जांच नहीं हो सकती व उसमें परिमाण से अधिक गुण (quality) का महत्त्व होता है उस समय समय-मजदूरी ही पसन्द की जाती है।

जब कार्य एक निश्चित परिमाण का होता है और एक निश्चित समय में करना पड़ता है, तो यह 'ढंग धंधा' (task work) के नाम से प्रसिद्ध होता है।

कभी-कभी 'समय-मजदूरी' निश्चित कर दी जाती है तथा खण्ड-मजदूरी द्वारा वस्तुओं के उत्पादन के हिसाब से पूरक किया जाता है। कभी-कभी मजदूरों के गुट को सामूहिक रूप से अधिक काम करने पर पारितोषिक मजदूरी दे दी जाती है।

कुछ अवस्थाओं में मजदूरी कानून द्वारा भी नियत कर दी जाती है। कुछ अतिरिक्त

---

१ Wages के लिए हमने मजदूरी तथा मजूरी दोनों ही शब्द काम में लिये हैं। मजूरी शब्द का प्रयोग हमारे संविधान के अनुवाद में हुआ है। (देखिये भारत का संविधान, अनुच्छेद ४३)

श्रमशील व्यापारो (sweated trades) में न्यूनतम मजदूरी नियत की जा सकती है। कुछ लोग राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी की राय देते है, जो कि सब उद्योगो पर लागू हो।

२ नाममात्र तथा वास्तविक मजदूरी की तुलना (Nominal Versus Real Wages)—नाममात्र मजदूरी तथा वास्तविक मजदूरी मे बहुत भारी अन्तर है। नाममात्र मजदूरी वह है, जो द्रव्य (money) के रूप मे प्राप्त अथवा भुगतान की जाती है। परन्तु केवल द्रव्य मजदूरी एक मजदूर की आर्थिक स्थिति का सही परिचय नही दे सकती। वास्तविक मजदूरी जानने के लिए, जो एक व्यक्ति के जीवन का स्तर निश्चित करती है, निम्नलिखित बातो पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(क) द्रव्य की क्रय-शक्ति (The Purchasing Power of Money)—जब एक जगह की दूसरी जगह के साथ और एक समय की दूसरे समय के साथ मजदूरी की तुलना की जाती है, तो द्रव्य की क्रय-शक्ति पर भी ध्यान रखना होगा। ऊची मजदूरी का एक अश इगलैड और अमरीका मे इसलिए सभव है कि वहा के बाजारों में कीमतें बहुत ऊची है। शहर की अपेक्षा देहात मे कही सौ रुपये अधिक सुखकर हो सकते हैं अथवा उससे विपरीत सबधित व्यक्ति की परिस्थितियो और पसन्द के अनुसार। सन् १९३९ के सौ रुपयो में सन् १९५१ के सौ रुपयो की अपेक्षा अधिक क्रय-शक्ति थी। मजदूरी के द्रव्य में वृद्धि कर देने पर भी सन् १९५१ में वास्तविक मजदूरी १९३९ की अपेक्षा कम ही रही।

(ख) सहायक आमदनी (Subsidiary Earnings)—नियमित द्रव्य मजदूरी के अतिरिक्त एक नौकर अपनी अतिरिक्त आय, वस्तु या द्रव्य के रूप मे अधिक कर सकता है। उदाहरण के लिए, घरेलू नौकर के रहने व खाने के प्रबन्ध, अध्यापको के परीक्षा-शुल्क आदि। सहायक आमदनी वह भी कही जा सकती है, जो मजदूर परिवार के अन्य व्यक्तियो को नौकरी का अवसर मिल जाने से उपलब्ध हो जाती है।

(ग) अतिरिक्त भुगतान के बिना अतिरिक्त काम (Extra Work without Extra Payment)—अगर किसी नौकर को बिना उचित पुरस्कार के अधिक कार्य करना पडता है, तो उसकी वास्तविक मजदूरी उतनी ही कम हो जाती है। बैंक के क्लर्कों को नियत घटो के काम का ही वेतन मिलता है। परन्तु वह हिसाब-किताब की गलती ठीक करने के लिए प्राय अधिक समय के लिए रोक लिये जाते है। ऐसे अधिक काम के लिए उन्हें कुछ नही मिलता।

(घ) नौकरी की नियमितता अथवा अनियमितता (Regularity or Irregularity of the Employment)—नियमित अथवा अधिक सुरक्षित व्यवसाय अल्प मजदूरी दे सकता है, फिर भी उसमे वास्तविक मजदूरी, उस अनियमित और अरक्षित नौकरी की अपेक्षा जिसमे अधिक द्रव्य मजदूरी मिलती है, अधिक हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य जिसे ५ रुपये दैनिक मिलते है, परन्तु काम का मिलना अनिश्चित है, वह उतना सपन्न नही होगा जितना नियमित रूप से २ रुपये कमाने वाला व्यक्ति होगा।

(च) काम की दशायें (Conditions of Work)—कुछ व्यवसाय दूसरो की अपेक्षा अच्छे होते हैं तथा कुछ में दूसरो की अपेक्षा काम के घटे कम होते हैं; काम कुछ अधिक अथवा कम आरामदायक हो सकता है, व्यवसायी अधिक या कम योग्य हो सकता है। यह सब बातें किसी मनुष्य की वास्तविक मजदूरी मालूम करते समय ध्यान मे रखनी होगी।

३ मजदूरी का जीविका सिद्धान्त[1] (The Subsistence Theory of Wages)—किसी देश में प्रचलित मजदूरी के सामान्य स्तर की व्याख्या के लिए कई सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। पहले हम जीविका सिद्धान्त को लेते हैं। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम फ्रासीसी अर्थशास्त्र-वेत्ताओ के फिजियोक्रेटिक स्कूल से निकला और उन्नीसवी शताब्दी मे साधारण रूप से मान लिया गया। जर्मनी के अर्थशास्त्र-वेत्ता लैंजले (Lassalle) इसे मजदूरी का लौह सिद्धान्त अथवा ब्रेजन लॉ आफ वेजेज (Iron Law of Wages or the Brazen Law of Wages) कहते हैं। कार्ल मार्क्स ने इसे अपने शोषण सिद्धान्त का आधार बनाया है।

इस सिद्धात के अनुसार मजदूरी उसी सतह पर ठहर जाती है, जहा कि मजदूर उस मजदूरी से कम अपनी और अपने परिवार की जीविका चला सके। अगर मजदूरी इस सतह से ऊपर उठती है, तो मजदूरो को शादी करने और अपने परिवार को बढाने का प्रोत्साहन मिलता है। श्रम-पूर्ति की वृद्धि से मजदूरी जीविका की सीमा तक आ जाती है। यदि मजदूरी इस सीमा से नीचे गिर जाती है, तो शादी व पैदाइश का उत्साह नही रहता तथा आहार के अभाव के कारण मृत्यु-दर बढ जाती है और अन्त में श्रम-पूर्ति कम हो जाती है और यह तब तक चलता रहता है, जब तक कि मजदूरी को बढा कर पुनः जीविका की सीमा तक नही कर दिया जाता।

पिछडे हुए देशो में मजदूरी जीविका-स्तर के आस-पास रहती है, लेकिन यह सिद्धान्त अधिक उन्नतिशील देशो, जैसे इग्लैंड, अमरीका आदि में लागू नही होता। यह सिद्धान्त माल्थस (Malthus) के जनसख्या-सम्बन्धी नियम पर आधारित है। लेकिन यह गलत है कि मजदूरी वृद्धि के कारण जन्म के अनुपात में भी वृद्धि होगी। मजदूरी की उन्नति से रहन-सहन का दर्जा भी तो बढ सकता है। डेनमार्क और हॉलैंड मे कृषि मजदूर जीविका की सीमा से अधिक मजदूरी पाते हैं। यूरोप और अमरीका सरीखे औद्योगिक देशो मे मजदूरी बराबर बढती जा रही है और मजदूर वर्ग एक शताब्दी पहले जैसे था उससे बहुत अधिक सुखी है।

दूसरी आलोचना यह है कि जीविका की सीमा कुछ दशाओ को छोड कर लगभग सभी मजदूर वर्गों की एक सी होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त विभिन्न व्यवसायो में मजदूरी के अन्तरो को प्रकट नही करता।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त केवल पूर्ति (Supply) की ओर से ही लिया गया है, माग की ओर बिल्कुल ध्यान नही दिया गया है। माग

---

1 See Dobb, M —Wages, Ch IV, Sec. 3 p, 100

की ओर से व्यवसायी मजदूर के काम को देखता है उसकी जीविका को नही।

४ मजदूरी का निधि सिद्धान्त (The Wages Fund Theory)[1]—यह सिद्धान्त जे० एस० मिल से सम्बन्धित है। मिल ने लिखा कि "मजदूरी श्रम की माग व पूर्ति पर अथवा जैसा कि कहा जाता है, पूजी और जनसख्या के बीच के अनुपात पर निर्भर करती है। यहा पर जनसख्या शब्द का अर्थ मजदूर वर्ग की सख्या, तथा वह मजदूर, जो किराये पर काम करते है, उनसे है, और पूजी का अर्थ 'व्यवसाय' की कुल पूजी मे नही, परन्तु जितनी पूजी प्रत्यक्षत श्रम खरीदने में व्यय होती है, उसी से है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी दो परिमाणो पर आश्रित है, (i) मजदूरी-निधि (wage fund) अथवा चल पूजी (circulating capital) जिससे श्रम का क्रय किया जाय (ii) नौकरी चाहने वाले निधि मजदूरो की सख्या। इसलिए मजदूरी तब तक नही बढ सकती जब तक कि मजदूरी निधि न बढ जाय अथवा मजदूरो की सख्या कम न हो जाय। लेकिन चूकि सिद्धान्त की दृष्टि मे मजदूरी निधि नियत है, इसलिए मजदूरी तभी बढ सकती है, जब मजदूरो की सख्या मे कमी हो। इसलिए यह प्रकट होता है कि सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी बढाने के लिए टेड यूनियनो के सब प्रयत्न निरर्थक है। यदि वे एक व्यापार मे अपनी मजदूरी बढा लेते है, तो यह बढी हुई मजदूरी दूसरे पर प्रभाव डालेगी क्योकि मजदूरी निधि निश्चित है तथा इन ट्रेड यूनियनो का आबादी के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नही होता।

इस सिद्धान्त पर बहुत आलोचनाये की गई है और अब तो इसे बिल्कुल रद्द ही कर दिया गया है। मिल ने स्वय इसे अपनी 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' नाम की पुस्तक की दूसरी आवृत्ति में से हटा दिया है।

मिल का विचार था कि मजदूरी केवल चल-पूजी के द्वारा ही दी जाती है। इस विषय पर कि मजदूरी का प्रधान जरिया पूजी है अथवा वर्तमान उत्पाद वस्तुए, काफी वाद-विवाद रहा। कुछ दशाओ मे, जहा पर उत्पादन छोटे ढग का होता है, वहा मजदूरी वर्तमान उत्पादन के अनुसार दी जाती है और दूसरी दशा में जहा उत्पादन का ढग लम्बा होता है, वहा मजदूर प्रत्यक्ष अथवा विनिमय (exchange) के रूप मे मजदूरी नही पाते। इन दशाओ मे उनकी मजदूरी पूजी से ही प्राप्त होती है।

मिल कहते है कि मजदूरी पूजी के एक निश्चित भाग से दी जाती है जो कि इसके लिए नियत रहता है। यह भी सच नही है, क्योकि कोई निश्चित मजदूरी निधि नहीं होती और वह निधि लोचदार (elastic) होती है। इसकी परिमा (volume) लाभ के अनुसार बदलती है। इन चीजो को ठीक प्रकार से निर्धारित करने के लिए श्रम की समयानुसार उत्पादक शक्ति एक आवश्यक साधन है।

यह सिद्धान्त स्वत सिद्ध है। यह बिना बताये हुए कि मजदूरी निधि के कौन-कौन से साधन है तथा इसका किस प्रकार अनुमान लगाया जाता है, यह इतना ही बताता है जो अपने आप प्रत्यक्ष है। अर्थात् मजदूरी निधि को मजदूरो की सख्या से भाग देने

---

1 Ibid Ch IV, Sec. 6 See also Marshall's Principles, Appendix (a).

पर मजदूरी निकल आती है ।

फिर इसमे यही माना गया है कि पूजी और श्रम में कुछ विरोध रहता है, वास्तव मे नही होता । इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी, लाभ बढने पर ही बढाई जा सकती है, परन्तु वास्तव में ऐसी दशा नही होती है । व्यवसाय की समृद्धि में मजदूरी और लाभ दोनो बढ सकते हैं । यह भी समझना भूल है कि मजदूरी के बढने से पूजी विदेश मे चली जायगी । पूजी ऐसी चीज नही है और न लाभ ही ऐसे बेलोचदार हैं । पूजी के लाभ समय-समय पर घटते-बढते रहते हैं । मजदूरी निधि सिद्धान्त इस बात को समझने में कि भिन्न-भिन्न व्यवसायो की मजदूरी में क्यो अन्तर रहता है, मदद नही करता । इसके अलावा, मजदूरी की दरे, जो विभिन्न देशो में फैली है, वह वहा की पूजी से कोई सम्बन्ध नही रखती । नये देशो में पूजी कम होती है, परन्तु मजदूरी अधिक होती है । पुराने देशो का हाल इसके विपरीत है ।

५. अवशिष्ट दावा सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—यह सिद्धान्त अमरीका के अर्थशास्त्र-वेत्ता वाकर (Walker) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है । इसके अनुसार मजदूरी वह बचत है, जो उत्पादन के साधनो का भुगतान करने के बाद बच रहे । वाकर के अनुसार लगान, लाभ और व्याज (rent, profit and interest) निश्चित नियमो के आधार पर निर्धारित किए जाते है किन्तु मजदूरी से सम्बन्धित ऐसा कोई नियम नही है । इसलिए, कुल उत्पादन मे से लगान, लाभ, व्याज की रकम भुगतान करने के बाद, जो रकम बचती है, वही मजदूरी है । इस प्रकार इस सिद्धान्त से श्रम की योग्यता बढने पर मजदूरी बढने की सम्भावना हो सकती है ।

इस सिद्धान्त को भी बहुत से अर्थशास्त्र-वेत्ताओ ने अस्वीकृत कर दिया है । इसमे अनेक बुराइया हैं । पहली बात तो यह है कि यह सिद्धान्त यह नही बतलाता कि ट्रेड यूनियनें किस प्रकार मजदूरी बढा सकती है । दूसरे, यह नही बताता कि मजदूरी के ऊपर श्रम की पूर्ति का क्या प्रभाव होता है । तीसरे, यह समझने में कठिनाई होती है कि वही माग और पूर्ति का नियम, जोकि उत्पादन के अन्य साधनो को पुरस्कार देता है, मजदूरी पर क्यो लागू नही होता । अन्त मे सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अवशिष्ट दावेदार उद्यमी होता है न कि मजदूर ।

८ मजदूरी का सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धात (Marginal Productivity Theory of Wages)[1]—यह सिद्धान्त श्रम की माग और पूर्ति दोनो को ध्यान मे रखता है । इसके अनुसार मजदूरी माग व पूर्ति के साधनो की शक्ति के बीच साम्यावस्था (equilibrium) द्वारा निर्धारित होती है । किसी विशेष समय पर पूर्ति दी रहती है और माग का विशेष महत्त्व होता है । अधिक काल होने पर श्रम की पूर्ति घट-बढ सकती है और पूर्ति की शक्तिया विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाती है ।

---

1. For a detailed study see Readings in the Theory of Income Distribution, pages 221—236, D H Robertson's article on "Wage Grumbles".

परन्तु यह शक्तिया सीमान्त उत्पादन शक्ति के ऊपर प्रभाव डालती हैं। इसलिए इस सिद्धान्त को सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त कहते है।

श्रम की माग (Demand for Labour)—'श्रम की माग' निकाली हुई माग होती है। यह उन चीजो की माग से पैदा होती है, जो उत्पादन में मदद देती है। इसलिए किसी वस्तु की माग में आशा के अनुकूल उन्नति उस श्रम की माग को बढा देती है, जो उस वस्तु को पैदा करती है। श्रम की माग उस हालत में नही बढती जब कि उनकी मजदूरी कुल मजदूरी का बहुत छोटा भाग हो, परन्तु माग उस हालत में घट-बढ सकेगी जबकि उत्पादित वस्तु की माग लोचदार हो अथवा बदले में सस्ती चीजे उपलब्ध हो।

जिस प्रकार वस्तुओ की माग-कीमत (demand price) होती है, उसी प्रकार श्रम की माग कीमत होती है। एक नए प्रकार के देश की विभिन्न परिस्थितियो में श्रम की माग उद्योगपति की ओर से होती है, जो अपने व्यवसाय में लाभ उठाने के लिए उत्पादन के अन्य साधनो तथा श्रम को लगाता है। इसीलिए श्रम की माग की कीमत वह मजदूरी है, जो एक उद्योगपति एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए देने को तैयार है। मान लीजिए कि वह एक के बाद दूसरा मजदूर काम पर लगाता है। कुछ समय के बाद घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जायगा। प्रत्येक बढा हुआ मजदूर कुल उत्पादन को घटती दर पर बढायेगा। मालिक उसी बिन्दु पर अतिरिक्त मजदूर लगाना बन्द करेगा, जब कि उसके द्वारा योग उत्पादन में बढाव मजदूरी के बराबर अथवा उसके द्वारा लगाई गई अधिक लागत से कम होगा। इस प्रकार मजदूरी, जो वह उसे देगा (श्रम की सीमान्त इकाई) उस बढे हुए उत्पादन अथवा सीमान्त उत्पादनशक्ति के मूल्य के बराबर होगी। लेकिन चूकि सभी मजदूर एक ही श्रेणी के होगे इसीलिए जिस मजदूरी का भुगतान सीमान्त मजदूर को होगा, वही सब मजदूरो को होगा।

वास्तव में किसी मालिक विशेष के लिए, जो पूर्ण प्रतियोगिता में व्यवसाय करता है, मजदूरी, बाजार की शक्तियो द्वारा निश्चित होती है। वह कम या अधिक मजदूरो को लगाकर मजदूरी के ऊपर अधिक प्रभाव नही डाल सकता। कोई मालिक उतने मजदूरो को रखेगा जिससे कि मजदूरी की प्रचलित दर सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर हो जाय। सभी मालिको की यह माग होती है जो समष्टि (aggregate) के अनुसार दी हुई पूर्ति के सम्बन्ध मे ली जाती है तथा जो बाजार मे मजदूरी को निर्धारित करती है।

श्रम की पूर्ति (Supply af Labour)—जब हम माग की दृष्टि से मजदूरी की व्याख्या करते है तो पूर्ति को स्थिर मान लेते है। इसी प्रकार हम माग को स्थिर मान कर यह कह सकते है कि जब श्रम की पूर्ति बढती, है, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति गिर जाती है और जब पूर्ति गिर जाती है, तब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ जाती है। पहली हालत में मजदूरी गिरेगी और दूसरी में बढेगी।

इसलिए श्रम की पूर्ति पर विभिन्न साधनो का प्रभाव पडता है। अन्य चीजे समान रहने पर अधिक मजदूरी मिलने से अधिक श्रम आकर्षित होगा। परन्तु यह सब उद्योगो

मे लागू नही होता । यह विशेष उद्योग में ही लागू है । दूसरे साधन इस प्रकार है । विवाह के प्रति सामान्य धारणा, परिवार का आकार, संतति निरोध (birth control), औषधीय सहायता का स्तर, स्वच्छता आदि । श्रम की कुल पूर्ति आबादी के बढाव पर निर्भर करती है । किसी विशेष व्यवसाय में दूसरे उद्योगो की अपेक्षा श्रम की पूर्ति बढाई जा सकती है, यदि ऐसे उद्योग मे श्रम की उत्पादन शक्ति बढ जाने से मजदूरी भी बढ जाय। दी हुई श्रम की पूर्ति को पूर्ण प्रतियोगिता मे, विभिन्न उद्योगो में इस प्रकार बाँटा जाता है कि श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति सभी उद्योगो मे एक-सी रहे । परन्तु यदि श्रम एक जगह से दूसरी जगह स्वतंत्रतापूर्वक नही जा सकता तो श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति विभिन्न उद्योगो मे भिन्न-भिन्न होगी तथा उसी प्रकार के श्रम के लिए अलग-अलग मजदूरी होगी ।

किसी भी समय मजदूरो के काम करने से इन्कार करने पर श्रम की पूर्ति घट सकती है । यह तभी होता है, जब श्रम मजदूर संघ मे संगठित किया जाता है। मजदूर उस मजदूरी को लेने से इन्कार कर देते है, जो उनकी आदत पडे हुए स्तर को पालन करने से कम होती है। परन्तु जैसा कि हम देखेगे कि ऊची मजदूरी तभी ठीक समझी जाती है, जब उसके द्वारा उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति ऊचे दर्जे की हो। इस रूप में अधिक मजदूरी दी जायगी । इस प्रकार मजदूर, जिनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कम है, ऊचे दर्जे पर रहते हुए भी उसके लिए ऊची मजदूरी नही मांग सकते है । किन्तु दीर्घ काल में सीमान्त उत्पादन शक्ति (marginal prductivity) मजदूरी (wages) और जीवन-स्तर (standand of living) एक दूसरे को ठीक कर लेते है ।

पूर्ण रूप से हम कह सकते है कि सम्भाव्य मजदूरो (potential workers) की संख्या दी होने पर, श्रम पूर्ति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, यह श्रम इकाइयो की वह अनुसूची (schedule) है जो कि विभिन्न मजदूरी स्तर पर मजदूर (श्रमिक) देने के लिए तैयार होते है। यह दो साधनो पर निर्भर है (क) ऐसे श्रमिको की संख्या जो विभिन्न मजदूरियो पर काम करने को तैयार है तथा जो काम करने लायक है, (ख) काम करने के घटो (working hours) की संख्या जिनमे प्रत्येक श्रमिक विभिन्न मजदूरियो पर काम करने को तैयार है तथा काम करने लायक है ।

ऐसी स्थिति मे जब श्रमिको के ठहरने की शक्ति (staying power) नही रहती और भूखो मरना ही एकमात्र रास्ता रहता है, तो ऐसी स्थिति मे श्रमिक की व्यापक रूप से पूर्ति पूर्णतया लोचहीन (inelastic) रहती है। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी (wages) कम की जा सकती है। थोडे समय तक, मजदूरी में कटौती से श्रम की पूर्ति मे कोई कमी न हो। लेकिन यदि मजदूरी बहुत कम कर दी जाय तो मालिको मे परस्पर स्पर्द्धा से ही मजदूरी अधिक हो जायगी। लम्बे अर्से तक श्रम की पूर्ति बहुत लोचदार नही होती ।

१३ सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त की परिमितताएँ (Limitations of the Marginal Productivity Theory)—इन वितरण के

परन्तु यह शक्तिया सीमान्त उत्पादन शक्ति के ऊपर प्रभाव डालती है। इसलिए इस सिद्धान्त को सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त कहते हैं।

श्रम की माग (Demand for Labour)—'श्रम की माग' निकाली हुई माग होती है। यह उन चीजो की माग से पैदा होती है, जो उत्पादन में मदद देती हैं। इसलिए किसी वस्तु की माग मे आशा के अनुकूल उन्नति उस श्रम की माग को बढा देती है, जो उस वस्तु को पैदा करती है। श्रम की माग उस हालत मे नही बढती जब कि उनकी मजदूरी कुल मजदूरी का बहुत छोटा भाग हो, परन्तु माग उस हालत में घट-बढ सकेगी जबकि उत्पादित वस्तु की माग लोचदार हो अथवा बदले मे सस्ती चीजे उपलब्ध हो।

जिस प्रकार वस्तुओ की माग-कीमत (demand price) होती है, उसी प्रकार श्रम की माग कीमत होती है। एक नए प्रकार के देश की विभिन्न परिस्थितियो में श्रम की माग उद्योगपति की ओर से होती है, जो अपने व्यवसाय में लाभ उठाने के लिए उत्पादन के अन्य साधनो तथा श्रम को लगाता है। इसीलिए श्रम की माग की कीमत वह मजदूरी है, जो एक उद्योगपति एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए देने को तैयार है। मान लीजिए कि वह एक के बाद दूसरा मजदूर काम पर लगाता है। कुछ समय के बाद घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जायगा। प्रत्येक बढा हुआ मजदूर कुल उत्पादन को घटती दर पर बढायेगा। मालिक उसी बिन्दु पर अतिरिक्त मजदूर लगाना बन्द करेगा, जब कि उसके द्वारा योग उत्पादन मे बढाव मजदूरी के बराबर अथवा उसके द्वारा लगाई गई अधिक लागत से कम होगा। इस प्रकार मजदूरी, जो वह उसे देगा (श्रम की सीमान्त इकाई) उस बढे हुए उत्पादन अथवा सीमान्त उत्पादनशक्ति के मूल्य के बराबर होगी। लेकिन चूकि सभी मजदूर एक ही श्रेणी के होगे इसीलिए जिस मज-दूरी का भुगतान सीमान्त मजदूर को होगा, वही सब मजदूरो को होगा।

वास्तव में किसी मालिक विशेष के लिए, जो पूर्ण प्रतियोगिता मे व्यवसाय करता है, मजदूरी, बाजार की शक्तियो द्वारा निश्चित होती है। वह कम या अधिक मजदूरो को लगाकर मजदूरी के ऊपर अधिक प्रभाव नही डाल सकता। कोई मालिक उतने मज-दूरो को रखेगा जिससे कि मजदूरी की प्रचलित दर सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर हो जाय। सभी मालिको की यह माग होती है जो समष्टि (aggregate) के अनुसार दी हुई पूर्ति के सम्बन्ध मे ली जाती है तथा जो बाजार मे मजदूरी को निर्धारित करती है।

श्रम की पूर्ति (Supply af Labour)—जब हम माग की दृष्टि से मज-दूरी की व्याख्या करते हैं तो पूर्ति को स्थिर मान लेते हैं। इसी प्रकार हम माग को स्थिर मान कर यह कह सकते हैं कि जब श्रम की पूर्ति बढती, है, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति गिर जाती है और जब पूर्ति गिर जाती है, तब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ जाती है। पहली हालत मे मजदूरी गिरेगी और दूसरी में बढेगी।

इसलिए श्रम की पूर्ति पर विभिन्न साधनो का प्रभाव पडता है। अन्य चीजें समान रहने पर अधिक मजदूरी मिलने से अधिक श्रम आकर्षित होगा। परन्तु यह सब उद्योगो

में लागू नही होता । यह विशेप उद्योग में ही लागू है । दूसरे साधन इस प्रकार हैं। विवाह के प्रति सामान्य धारणा, परिवार का आकार, सतति निरोध (birth control), औपधीय सहायता का स्तर, स्वच्छता आदि । श्रम की कुल पूर्ति आवादी के वढाव पर निर्भर करती है। **किसी विशेष व्यवसाय में** दूसरे उद्योगो की अपेक्षा श्रम की पूर्ति वढाई जा सकती है, यदि ऐसे उद्योग मे श्रम की उत्पादन शक्ति वढ जाने से मजदूरी भी वड जाय। दी हुई श्रम की पूर्ति को पूर्ण प्रतियोगिता में, विभिन्न उद्योगो मे इस प्रकार बाँटा जाता है कि श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति सभी उद्योगो मे एक-सी रहे। परन्तु यदि श्रम एक जगह से दूसरी जगह स्वतन्त्रतापूर्वक नही जा सकता तो श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति विभिन्न उद्योगो मे भिन्न-भिन्न होगी तथा उसी प्रकार के श्रम के लिए अलग-अलग मजदूरी होगी।

किसी भी समय मजदूरो के काम करने से इन्कार करने पर श्रम की पूर्ति घट सकती है । यह तभी होता है, जब श्रम मजदूर सघ मे सगठित किया जाता है। मजदूर उस मजदूरी को लेने से इन्कार कर देते हैं, जो उनकी आदत पडे हुए स्तर को पालन करने से कम होती है। परन्तु जैसा कि हम देखेंगे कि ऊची मजदूरी तभी ठीक समझी जाती है, जब उसके द्वारा उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति ऊचे दर्जे की हो। इस रूप में अधिक मजदूरी दी जायगी। इस प्रकार मजदूर, जिनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कम है, ऊचे दर्जे पर रहते हुए भी उसके लिए ऊची मजदूरी नही माग सकते है । किन्तु दीर्घ काल में सीमान्त उत्पादन शक्ति (marginal prductivity) मजदूरी (wages) और जीवन-स्तर (standand of living) एक दूसरे को ठीक कर लेते हैं।

पूर्ण रूप से हम कह सकते है कि सम्भाव्य मजदूरो (potential workers) की सख्या दी होने पर, श्रम पूर्ति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, यह श्रम इकाइयो की वह अनुसूची (schedule) है जो कि विभिन्न मजदूरी स्तर पर मजदूर (श्रमिक) देने के लिए तैयार होते हैं। यह दो साधनो पर निर्भर है · (क) ऐसे श्रमिको की सख्या जो विभिन्न मजदूरियो पर काम करने को तैयार है तथा जो काम करने लायक है, (ख) काम करने के घटो (working hours) की सख्या जिनमे प्रत्येक श्रमिक विभिन्न मजदूरियो पर काम करने को तैयार है तथा काम करने लायक हैं।

ऐसी स्थिति में जब श्रमिको के ठहरने की शक्ति (staying power) नही रहती और भूखो मरना ही एकमात्र रास्ता रहता है, तो ऐसी स्थिति में श्रमिक की व्यापक रूप से पूर्ति पूर्णतया लोचहीन (inelastic) रहती है। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी (wages) कम की जा सकती है। थोडे समय तक, मजदूरी में कटौती से श्रम की पूर्ति मे कोई कमी न हो। लेकिन यदि मजदूरी बहुत कम कर दी जाय तो मालिको मे परस्पर स्पर्द्धा से ही मजदूरी अधिक हो जायगी। लम्बे अर्से तक श्रम की पूर्ति बहुत लोचदार नही होती।

१३ सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त की परिमितताएँ (Limitations of the Marginal Productivity Theory)—इन वितरण के

सिद्धान्तो को ध्यान में रखकर हम सीमान्त उत्पादन शक्ति के विषय मे पहले ही आलोचनाये पढ चुके है।[1] इस सिद्धान्त को जब हम मजदूरी पर लागू करते है तो फिर से दोहरा लेना चाहते है कि यह सिद्धान्त कुछ स्वयसिद्धियो के बीच ठीक बैठता है, जैसे पूर्ण प्रतियोगिता, श्रम स्वतन्त्रता-पूर्वक एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे जा सकता हो, सब श्रम एक समान हो, निश्चित ब्याज व लगान की दरें तथा उत्पादित वस्तु की कीमत। यह एक गतिहीन सिद्धान्त है। परन्तु यह ससार गतिशील है। सब साधन, जिन्हें हम सतत (constant) मान लेते हैं, वे वास्तव मे लगातार बदलते रहते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता कभी नही होती। श्रम के इधर-उधर जाने में भी अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। सारा श्रम एक श्रेणी का नही होता। साधनो का उचित पुरस्कार स्थायी नही होता, उत्पादन के साधनो का मूल्य भी स्थिर नही रहता। इन सब बातो को ध्यान मे रखना पडता है जब कि इस सिद्धान्त को वास्तविक परिस्थितियो में लागू किया जाता है तो फिर भी यह सिद्धान्त, प्रवृत्ति के रूप मे सही है, और उन मूल शक्तियो से जो मजदूरी की दरें निश्चित करती है, समझने मे बहुमूल्य है।

वास्तविक ससार मे उपर्युक्त मान्यताओ (assumptions) के न होने से, सब श्रम को एक सी मजदूरी नही दी जा सकती। मजदूरी के सम्बन्ध में जगह-जगह में, आदमी-आदमी मे तथा व्यवसाय-व्यवसाय मे अन्तर होता है। ये अन्तर कार्यपटुता मे अन्तर, जो प्राकृतिक रूप से अथवा स्वय प्राप्त की गयी हो तथा अन्य आर्थिक बाधाओ के कारण होते हैं। सौदा करने में मालिक अच्छी स्थिति में होते हैं। वह जितनी मजदूरी चाहें दें, इसके लिए वह मजबूर नही किये जा सकते। मजदूर भी अज्ञान और घर व कुटुम्बियो के मोह के कारण अच्छी मजूरी नही ढूढते इसलिए मजदूरी की प्रचलित दर प्राय सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से कम होती है। इसके अलावा उत्पादन शक्ति को उत्पादित वस्तुओ अथवा मूल्य के रूप में भी मापना कठिन है।

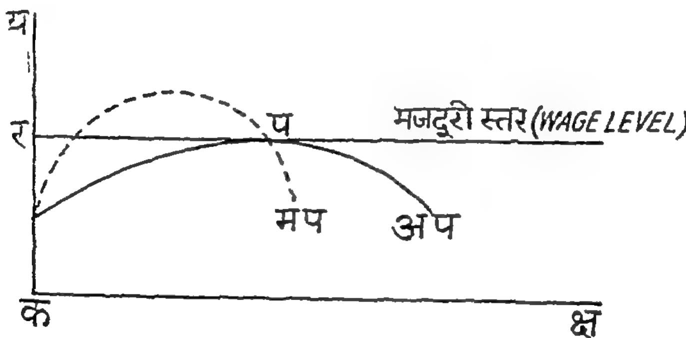
मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त श्रम में लागू होता है, जो श्रम का मूल्य सिद्धान्त है तथा जिससे साधारणतया वस्तुओ का मूल्य निर्धारित किया जाता है। बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य की भाति मजदूरी भी क्रमश **किसी क्षण में मिलने वाली मजदूरी (wages at any given moment)** तथा **दीर्घावधि में मिलने वाली मजदूरी (wages in the long run)** होती है। **किसी क्षण में मिलने वाली मजदूरी** में मजदूरी उद्यमी की सीमान्त उत्पादन शक्ति के अनुसार निर्धारित करनी पडती है, जब कि दीर्घकालीन मजदूरी तो उतनी ही होनी चाहिए, जिससे कि मजदूर अपने रहन-सहन के स्तर को बनाये रख सके। दीर्घकाल मे मजदूरी की सीमा वह होती है जहा पर मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति श्रम के पूर्ति मूल्य के बराबर हो, जो कि रहन-सहन के स्तर के अनुसार नियत किया गया हो।"[2] वास्तव में वास्तविक मजदूरी दो सीमाओ के बीच होती है। ऊपर की सीमा मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति के अनुसार व्यवसायी

---

1 Chapter XXVI
2 Thomas, S E—Elements of Economics, 1939, p 258

निर्धारित करता है और निचली सीमा उसके जीवन-स्तर से निर्धारित होती है। इन दोनों सीमाओं के बीच वास्तविक मजदूरी दोनों दलों के सम्बंधित सौदा करने की शक्ति के अनुसार होती है।

दीर्घावधि तथा प्रतियोगिता की स्थिति में, मजदूरी श्रम के सीमान्त तथा औसत उत्पादन की शक्ति के समान होती है। यदि उत्पादन की सीमान्त शक्ति औसत उत्पादन शक्ति से अधिक होती है, तो ज्यादा मजदूर लगाना ठीक रहेगा और ऐसा तब तक होगा जब तक सीमान्त उत्पादन शक्ति (marginal productivity) औसत उत्पादन शक्ति (average productivity) के स्तर तक गिर जाती है। इसके विपरीत, जब सीमान्त उत्पादन शक्ति औसत उत्पादन शक्ति से कम होती है, तो सीमान्त उत्पादन शक्ति के औसत उत्पादन शक्ति तक उठने में कम मजदूरों (श्रमिकों) की जरूरत होगी। इस प्रकार सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा औसत उत्पादन शक्ति की समान होने की प्रवृत्ति रहती है। चूंकि मजदूरी सीमान्त शक्ति के समान होती है, इसलिए वह (मजदूरी) औसत उत्पादन के समान भी होती है। इस समस्या का प्रतिरूपण निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा किया गया है :—



रेखाचित्र न० ६९

र रेखा के द्वारा मजदूरी स्तर दिखाया गया है। अ प औसत उत्पादन शक्ति वक्र है तथा म प सीमान्त शक्ति का वक्र है। ये दोनों वक्र प विन्दु पर परस्पर काटते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों स्थितियों में—अर्थात सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा औसत उत्पादन शक्ति—मजूरी समान होती है। जब अ प ऊँचा उठता है, म प > अ प और जब अ प गिरता है, म प < अ प। लेकिन जब वे (दोनों वक्र) साम्यावस्था (state of equilibrium) में होते हैं अर्थात् जब अ प न ऊपर उठता है न नीचे गिरता है म प = अ प। इसलिए मजूरी = म प = अ प।

७. टाज़िग का मजदूरी सिद्धान्त[1] (Taussig's Theory of Wages) —टाजिग मजदूरी के सीमान्त उत्पादन शक्ति के सुधरे हुए रूप को लेते हैं। उनके अनुसार मजदूरी श्रम की बट्टा की हुई सीमान्त उत्पादन का प्रतिनिधित्व करती है।

---

1 For detailed study see, Readings in the Theory of Income Distribution pp 278-93

वह सोचते हैं कि मजदूर सीमान्त उत्पादन का कुल योग नही पा सकता। यह इसलिए कि उत्पादन मे समय लगता है और श्रम का अंतिम उत्पादन, शीघ्रता से प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु मजदूरो को उस समय तक सहायता देनी होती है। यह पूजीपति व्यवसायी के द्वारा होता है। व्यवसायी आशा की हुई मजदूरी को सीमान्त उत्पादन के मूल्य के वरावर भुगतान नही करता। वह आखिरी उत्पादन (output) से अग्रिम रुपया देने के कारण खतरे को अपने ऊपर लेने के लिए कुछ प्रतिशत कम कर लेता है। सीमान्त व्यावसायिक सस्था या सीमान्त भूमि के श्रम के कुल उत्पादन में से उपर्युक्त कटौती काटने के वाद जो रकम वचती है, वह मजदूरी कहलाती है। उस वस्तु की वर्तमान कीमत भविष्य के अनुमानित कटौती तथा वदले पर निर्भर रहती है।

टाजिग इस सिद्धात की दो कमजोरिया स्वय वतलाते हैं। पहली यह कि यह घुधली तथा भावपरक (abstract) है जो कि वास्तविक जीवन की समस्या से दूर है। इसके लिए वह उत्तर देते हैं कि यह कमजोरी लगभग सभी माने हुए सिद्धान्तो में पाई जाती है। दूसरी, और अधिक गम्भीर आपत्ति यह है कि मिश्रित उत्पादन की चालू व्याज की दर पर कटौती होती है, लेकिन उसके विश्लेषण के अनुसार व्याज की दर मजदूरो के अग्रिम रुपयो के देने के ढग का फल होती है, क्योकि मजदूरो को जो कुछ दिया जाता है, उसी के आधार पर वह अधिक उत्पादित करते हैं और उसी आधिक्य पर यह निर्भर है। यह तो चक्र के रूप में तर्क करते रहने के समान है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए टाजिग प्रस्ताव करते हैं कि हमे सीमान्त उत्पादन शक्ति का समय के अनुसार (by the rate of time preference) स्वतन्त्रतापूर्वक व्याज की दर निर्धारित कर लेनी चाहिये, और उस व्याज से, जो इस प्रकार निर्धारित किया जाता है, श्रम की सीमान्त उत्पादन की कटौती मालूम कर सकते हैं।

अन्त में टाजिग का यह सिद्धान्त अवशिष्ट दाता सिद्धान्त (Residual Claimant Theory of Wages) का दूसरा रूप है। वे कहते हैं कि वास्तव में मजदूरी कुल उत्पादन मे से लाभ, व्याज, लगान घटाने से जो वचता है वही मजदूरी है। इस प्रकार इस सिद्धान्त पर अवशिष्ट दावे सिद्धान्त की सब आपत्तिया लागू हो सकती हैं।

८ मजदूरी मे उतार चढाव (Wages Fluctuations)—मजदूरी की दर श्रम की माग तथा पूर्ति की शक्तियो के परस्पर कार्य (interaction of forces) से निश्चित होती है। अन्तिम रूप से, श्रम की माग उसके द्वारा तैयार किए गए माल की माग से उत्पन्न होती है और श्रम की पूर्ति जनसख्या में होने वाले परिवर्तन चाहे वे प्राकृतिक वृद्धि अथवा प्रव्रजन (migration) के कारण हो, पैदा होती है। माग में होने वाला कोई परिवर्तन अथवा सप्लाई में अथवा दोनो ही मे परिवर्तन होने से मजदूरी दर मे तदनुरूप (corresponding) परिवर्तन होने की सम्भावना होती है।

मोटे तौर पर, मजदूरी निम्नलिखित स्थिति में वढती है —

(i) काम मे लगी आवादी (working population) मे मृत्यु अथवा उत्प्रवास (emigration) के कारण कमी। (ii) मजदूरो की कार्य-पटुता मे वृद्धि। (iii) देश में आर्थिक विकास होना। विशेष तथा तीव्र आर्थिक विकास मे मजदूरो

की माग वढ जाती है और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) मे वृद्धि होती है जो कि उत्पादन के साधनो के लिए पारिश्रमिक के स्रोत का काम करता है। (iv) प्राकृतिक स्रोतो का वैज्ञानिक उपयोग (scientific exploitation) का भी यही प्रभाव होता है। (v) मजबूत मजदूर सघो का निर्माण (vi) मालिको की कार्यपटुता मे तरक्की अथवा उनकी सख्या में वृद्धि (मालिको की), जिससे श्रम मे तीव्र स्पर्द्धा होती है। (vii) युद्ध।

इसके विपरीत, निम्नलिखित स्थिति मे मजदूरी गिर सकती है --

(i) आवादी में वृद्धि। (ii) आर्थिक मन्दी। (iii) दूषित स्वास्थ्य, अकाल, खराव आवास तथा घिचपिच (congestion) आदि के कारण श्रम की कार्यपटुता मे कमी (iv) युद्ध के कारण राष्ट्रीय आस्तियो (national assets) का वरवाद होना।

९ मजदूरी व रहन-सहन का स्तर (Wages and the Standard of Living)[1]—उन्नीसवी शताव्दी के समाप्त होने पर कुछ लेखको ने जीवन-स्तर सिद्धान्त को अधिक सुधार कर लिखा। वे इस वात पर सन्तोष कर चुके थे कि मजदूरी केवल जीविका की सीमा तक नही होती, परन्तु रहन-सहन के उस दर्जे पर निर्धारित रहती है जिस में रहने की उन्हें आदत हो गई है। इस शुद्ध किये सिद्धान्त मे कुछ सच्चाई अवश्य है, क्योंकि रहन-सहन का दर्जा अधिकतर मजदूरी के ऊपर विभिन्न तरीको से प्रभाव डालता है। **प्रथम,** मजदूर जहा तक सभव होगा, उस मजदूरी को स्वीकार न करेंगे, जो उनके रहन-सहन के स्तर मे कम होगी तथा श्रम की पूर्ति न होन से व्यवसायी को उनकी माग मानना पड़ेगी। **दूसरे,** अच्छे रहन-सहन मे रहने से उनकी कार्यपटुता वढने से उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति वढ जायगी और इस प्रकार मजदूरी भी वढ जायगी। **तीसरे,** रहन-सहन का स्तर आवादी की वृद्धि की सीमा को नियत कर मजदूरी के ऊपर प्रभाव डालता है। यदि मजदूरी से उस मजदूर के रहन-सहन का स्तर ठीक नही रहता, तो वह वच्चो की वृद्धि को रोक कर तथा शादी न करके उसे ठीक करेगा। यह श्रम की पूर्ति को कम करेगा और सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा मजदूरी को वढायेगा।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि रहन-सहन का दर्जा मजदूरी पर इतना ही आश्रित है जितना कि मजदूरी रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर है। केवल रहन-सहन के स्तर पर हठ करने से ही मजदूरी नही वढ जायगी। मजदूरी सीमान्त उत्पादन शक्ति के वढने पर ही वढ सकेगी। इस प्रकार मजदूरी का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से रहन-सहन के स्तर पर पडता है जवकि रहन-सहन के स्तर का मजदूरी पर परोक्ष (indirect) होता है अर्थात् श्रम की कार्यपटुता के जरिए।

१० मजदूरी और कार्यक्षमता (Wages and Efficiency)—मजदूरी और कार्यपटुता मे गहरा सम्वन्ध है। मजदूर में जितनी अधिक कार्यपटुता होगी, उसकी उतनी ही अधिक उत्पादन-शक्ति होगी। इससे उसकी मजदूरी भी वढ जायगी।

1. Dobb's treatment is excellent, See Ch IV, Secs 4 and 5, p 100 and 103.

भिन्न होती है, इसके कारणो पर प्रकाश डालना है । प्रत्येक व्यवसाय में मजदूरी की समस्या अलग है । परन्तु साधारण मजदूरी को निर्धारित करने का सिद्धान्त सब जगह एक है। मजदूरी सभी जगह श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति के लगभग समान होती है परन्तु श्रम की उत्पादन शक्ति में विभिन्न व्यवसायो और श्रेणियो में हर एक प्रकार के श्रम के साधनो की माग के कारण कमी होने से विभिन्नता होगी।

यदि श्रम स्वतन्त्रतापूर्वक सभी उद्योगो मे आ-जा सकता होता तो वास्तविक मजदूरी हर एक काम मे लगाये हुए उस श्रम की सापेक्ष कार्यपटुता (relative efficiency) के अनुपात पर आधारित होती। मजदूरो की वास्तविक मजदूरी (न कि नाममात्र की मजदूरी) कार्यपटुता की उसी सीमा पर समान होती। यदि एक उद्योग के मजदूर अपनी कार्यपटुता के अनुपात से अधिक वास्तविक मजदूरी पा रहे है, तो श्रम उसी व्यवसाय मे तब तक जायगा, जब तक बढे हुए श्रम की पूर्ति वहा की सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी को कम न कर देगी। यदि एक उद्योग में श्रम की सापेक्ष योग्यता के आधार पर निर्धारित की हुई मजदूरी से कम मजदूरी मिलती है, तो इसके विपरीत दशा होगी। वास्तविक जगत् में एक उद्योग से दूसरे उद्योग में विशेष तथा विभिन्न वर्गों (different grades) में स्वतन्त्रतापूर्वक श्रम आ-जा नही सकता। बहुत-सी श्रेणिया "स्पर्धा न करने वाले दल" बन जाते है।

सापेक्षित मजदूरियो में अन्तर क्यो ? (Why Relative Wages Differ)—उन कारणो को, जो विभिन्न उद्योगो, रोजगारो (employments), पेशो (professions) तथा स्थानो मे मजदूरी में अन्तर लाते है, सक्षेप में, इस प्रकार कह सकते हैं—

(1) **कार्यपटुता में अन्तर (Differences in Efficiency)**—यह अलग-अलग जगह के आतरिक गुणो के कारण जो प्रशिक्षण (training) परिस्थितियो के अनुसार हो सकती है, जिनमें कि काम किया जाता है। (ii) **स्पर्धाहीन दलो का होना (Existence of Non-competing Groups)**—जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, यह तब होता है, जब एक कम भुगतान करने वाले से अधिक भुगतान करने वाले व्यवसाय में श्रम के इधर-उधर होने में कठिनाइया होती है। यह कठिनाइया भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक कारणो से होती है, उदाहरण के लिए, परिवहन (transport) के साधनो की कमी, जाति-बन्धन, गृहस्थ बन्धन अथवा ठीक शिक्षा का अभाव। (iii) **व्यापार सीखने की कठिनाइयां (The Difficulties of Learning a Trade)**—कठिन व्यापारो में निपुण व्यक्तियो की सख्या बहुत कम है। उनकी पूर्ति माग से कम है और इसलिए उनकी मजदूरी अधिक है। (iv) **रोजगार के उपयुक्त होने अथवा उसके सामाजिक मान आदि में भेद (Differences in Agreeableness or Social Esteem of Employment)**—जो उद्योग अरुचिकर है, वे मजदूरो को आकर्षित करने के लिए अधिक मजदूरी देंगे और अगर अरुचिपूर्ण कार्य अयोग्य श्रमिको द्वारा किया जायेगा (चाहे इनका कारण जातपात हो अथवा दूसरे गुण) तो मजदूरी कम होगी जैसे भारत के मेहतर।

(v) **भविष्य की सम्भावना (Future Prospects)**—यदि किसी उद्योग में भविष्य में उन्नति की आशा है, तो लोग इसमें कम मजदूरी पर भी कार्य करना स्वीकार कर लेंगे, परन्तु एक अन्य उद्योग जिसमें मजदूरी अधिक मिल रही है, परन्तु भविष्य में उन्नति की कोई सभावना नही, तो उसे नही करेंगे। किसी भी पेशे में वहा मिलने वाली सुविधाओ के कारण मजदूरी में अन्तर होता है। (vi) जिन धधो में ज्यादा जोखिम तथा डर रहता है वहा उपलब्धि (emoluments) अधिक होती है। (vii) रोजगार में **नियमितता और अनियमितता** का भी मजदूरी के स्तर पर गहरा प्रभाव पडता है।

यह बात फिर से ध्यान में रखनी चाहिये कि यह सब साधन उद्योगो और वर्गों में श्रम की माग व पूर्ति की समायोजना (adjustment) पर प्रभाव डाल कर मजदूरी में अन्तर उपस्थित करते है। मजदूरी प्रत्येक दशा में श्रम की मांग की दृष्टि से पूर्ति की कमी के द्वारा निर्धारित की जाती है अथवा श्रम के हर प्रकार के कार्य को सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित की जाती है।

१३ स्त्रियो की कम मजदूरी (Low Wages of Women)—अधिकतर उसी श्रम के लिए स्त्रियो को पुरुषो से कम मजदूरी दी जाती है। इसके कई कारण है। **एक तो** यह आदत अथवा रीति के कारण है। बहुत काल तक स्त्रियो को सभ्य देशो में भी सेविकाए समझा जाता रहा। आज भी वे चन्द धधो में ही घिरी रहती है जिसके कारण उनकी मजदूरी कम है।

दूसरे, चूकि वह अपने काम को जीविका का अग नही बनाती इसलिए वह अपने को ठीक प्रकार से शिक्षित व कुशल बनाने का प्रयत्न नही कर सकती। उनका मुख्य उद्देश्य विवाह करना होता है और इसके पश्चात् वे अधिकतर स्वतन्त्र रूप से कमाना छोड देती है।

तीसरे, इन्ही कारणो से स्त्रिया अपने को मजदूर सघो में सगठित नही कर सकती, जो कि उनके लिए ऊची मजदूरी दिलाने में सहायक हो सकते है। उनका काम पर लगना बहुत कम समय के लिए होता है। इसलिए वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का कोई प्रयत्न नही करती।

चौथे, स्त्रिया कम मजदूरी ले कर काम करने के लिए इस कारण तैयार हो जाती है, क्योकि उन पर बहुत कम उत्तरदायित्व होता है। अधिकतर वे अपनी आय पर आश्रित नही रहती। पति, भाई, पिता आदि को उनकी माली (financial) सहायता करनी पडती है।

और अन्त में, मनुष्य स्त्रियो से अधिक उत्तरदायी, विश्वासी एव योग्य कार्यकर्त्ता विभिन्न कारणो से माने जाते है। पुरुष अधिक शक्तिशाली होता है तथा बडे से बडे कठिन कार्य को कर सकता है। अधिकतर स्त्री शारीरिक कारणो से आशिक अथवा पूर्ण रूप से अपने जीवन के कुछ काल में काम करने में असमर्थ रहती है।

निर्देश पुस्तक

Marshall, A —Principles of Economics

अध्याय २८

श्रम की कुछ समस्याएं

(SOME PROBLEMS OF LABOUR)

ट्रेड यूनियन (कार्मिक सघ)—पिछले अध्याय मे हमने राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) में श्रमिकों के भाग (share) निर्धारण करने वाले सामान्य सिद्धान्तो का विवेचन किया था। परन्तु ये सब सिद्धान्त सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक प्रभावी नही होते। नियोजक या मालिक को श्रम की अपेक्षा कुछ अधिक सुविधाए रहती है। इसलिए श्रमिको को ट्रेड यूनियनो के रूप में अपने को सगठित करना पडता है।

वैब्स के शब्दो में 'कार्मिक सघ मजदूरी पाने वालो का एक ऐसा निरतरगामी सगठन है जो उनके कार्य की अवस्थाओ को ठीक रखने तथा सुधारने के लिए बनाया जाता है।'

श्रम शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ मे से है। उसमे कोई रक्षित-शक्ति (reserve power) नही रहती। यदि एक दिन काम न मिला, तो उस दिन की श्रम-शक्ति सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। इसलिए मजदूर के सामने दो ही स्थितिया रह जाती है। या तो वह काम करे या भूखो मरे। जैसा कि मार्शल ने कहा है 'कि वह व्यक्ति, जो हजार व्यक्तियो को काम पर लगाता है, श्रम मार्केट में हजार इकाइयो तक के खरीदारो में वह स्वय निरपेक्ष रूप से निश्चल सयोग (absolute rigid combination) बना रहता है।' सौदा करने की इस कमजोरी के कारण मजदूरो को अपनी सीमान्त उत्पादक शक्ति (marginal productivity) से कही कम मजदूरी स्वीकार करनी पडती है। इसलिए विभिन्न देशो के श्रमिक वर्ग ने औद्योगिक विकास के प्रारभिक काल में इस बात का अनुभव किया कि जब तक वे कार्मिक सघ बनाकर काम की शर्तें तय करने में (सौदा करने में) सुधार नही करते तब तक मालिको के द्वारा, उनको शोषण का गभीर भय बना रहेगा।

ट्रेड यूनियनों के कृत्य (Functions of Trade Unions)—आधुनिक औद्योगिक देशो में कार्मिक सघ दो प्रकार का कार्य करते है—एक तो सघर्ष का (militant), दूसरे भ्रातृत्व का (fraternal)। श्रमिको के अधिकारो के लडने के लिए ये सघर्ष के साधन है। उनका लक्ष्य उचित मजदूरी, कार्य की दशायें और शर्तों में सुधार तथा कुछ समय से उद्योग के नियन्त्रण मे भाग प्राप्त करना है। सदस्यो के चन्दे से एक कोष (fund) बना कर वे मजदूरो को बीमारी व दुर्घटना के समय आर्थिक सहायता देते है और औद्योगिक झगडो के समय बेकारी, हडताल और तालाबन्दी की दशा में सहायता करते हैं। ये भ्रातृत्व सम्बन्धी कृत्य कहलाते है।

२ कार्मिक संघ और मजदूरी (Trade Unions and Wages)[1]—श्रमिक सघो के सामने मुख्य प्रश्न मजदूरी का रहा है और अब भी है। मजदूरों के नेताओ का सदा विश्वास रहता है कि मजदूरो की काम की शर्तें तय करने के बारे मे शक्ति बढा कर वे मजदूरी या वेतन बढवा सकते हैं। दूसरी ओर पुराने अर्थशास्त्रियो का विचार है कि मजदूरी केवल लाभ को कम करके ही बढ सकती है। इसलिए यदि औद्योगिक कार्य को कम किया जायगा तो लाभ कम होगा और श्रम की माग भी कम हो जायगी। इसलिए या तो मजदूरी कम की जाए या फिर बेकारी का सामना करने के लिए तैयार रहे। इस दृष्टिकोण के अनुसार कार्मिक सघ स्थायी ढग से मजदूरी नही बढवा सकते। यह भी ध्यान दिलाया जाता है कि लाभ सीमान्त उत्पादन शक्ति से निर्धारित होते हैं और कार्मिक सघ उस पर कोई प्रभाव नही डाल सकते।

परन्तु कार्मिक सघ मुख्यत दो प्रकार से मजदूरी बढवा सकते हैं।

(i) श्रमिक सघ इस बात को सुनिश्चित करा सकते हैं कि मजदूरो को उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति का पूरा मूल्य मिले। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में तो मजदूरी सीमान्त उत्पादन शक्ति के समान होती है। परन्तु वास्तव मे प्रतियोगिता पूर्ण नही होती। इसलिए श्रमिको की सौदा करने की शक्ति निर्बल होने के कारण मजदूरी उत्पादन शक्ति के अनुकूल नही होती। इस शक्ति में वृद्धि करके श्रमिक सघ उत्पादन शक्ति के स्तर तक मजदूरी बढवा सकते हैं।

(ii) श्रमिक सघ मजदूरो की उत्पादन शक्ति को भी बढ़ा सकते हैं। (क) वे मालिक को अधिक आधुनिक यन्त्र एव सगठन का उपयोग करने के लिए बाध्य करते हैं। (ख) वे मजदूरो की ही कार्यपटुता बढाने में सहायक होते हैं। यह मजदूरो के स्वभाव में गम्भीरता, किफायत एव ईमानदारी की आदतो को बढाकर तथा नई पीढी को अधिक अच्छी सामान्य शिक्षा अथवा कार्य-प्रशिक्षण देकर किया जा सकता है। (ग) कार्मिक सघ मजदूरो के किसी विशेष वर्ग की पूर्ति (supply) कम करके उसके उत्पादन शक्ति के मूल्य को बढा सकते हैं।

कुछ विशेष हालात ही ऐसे हैं जिनमे सप्लाई (पूर्ति) कम करने से मजदूरो के वर्ग विशेष की मजदूरी बढाई जा सकती है (१) उस प्रकार की श्रमिक वर्ग की माग लोचहीन हो जिसका अर्थ यह है कि जिस वस्तु के उत्पादन मे वह वर्ग सहायक होता है, उसकी माग लोचहीन हो। (२) उस वर्ग की मजदूरी कुल उत्पादन लागत का छोटा भाग हो, तथा (३) उत्पादन की अन्य अवस्थाए भी अधिक मजदूरी देने को विवश करने के लिए अनुकूल हो। दूसरे शब्दो मे, उनका अन्य उपयोग न हो सके। परन्तु इस बात की आशका रहती है कि मालिक श्रमिको के बदले मे काम करने वाले यन्त्रो का उपयोग करने लगे, और इससे श्रमिको की माग कम हो जाय और उसके फलस्वरूप मजदूरी भी कम हो जाय।

1 See Marshall—Economics of Industry

श्रमिक संघ मजदूरी तब बढवा सकते हैं जब मजदूर उनके सदस्य हो और कोई अन्य मजदूर उनके स्थान पर काम करने के लिए बाहर से न बुलाया जा सके।

यहा हम कार्मिक सघो द्वारा मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बातो का जिक्र करेंगे।

कार्मिक सघ मजदूरी को ऊँचा करके किसी उद्योग के अनुचित प्रसार को रोक सकता है, जब कि नई फर्मों के लिए एकमात्र आकर्षण कम मजदूरी (low wages) हो। परन्तु यह एक ऐसी मजदूरी पर आग्रह करके जिसको कि उद्योग सहन नही कर सकता बेकारी का कारण हो सकता है। कुछ उद्योगपति उद्योग से हट जायेंगे और कुछ उत्पादन कम कर देंगे। दोनो दशाओ में ही कुछ श्रमिक हटाये जायेंगे। निकाले हुए मजदूरो की दूसरे उद्योग मे जाने से वहा मजदूरी कम हो जावेगी। सघ मे प्रवेश पर रोक लगाना अनुचित है तथा इसमे एकाधिकार (monopoly) की बू आती है और मजदूरी के स्तर का एकाधिकार उतना ही बुरा है जितना कि कीमत स्तर का एकाधिकार। यदि कार्मिक सघ एकाधिकारी से एकाधिकार लाभ छीन सकता है तो यह उचित है। एक कार्मिक संघ का उचित कार्य शोषण रोकना है और जब वह इससे परे जाता है तो यह बुरा है।

३ कार्मिक सघो के गुण और दोष (Merits and Demerits of Trade Unions)—जहा एक ओर कार्मिक सघ मजदूरो के लिए वरदान तुल्य साबित हुए है, वहा उनकी आलोचना भी की गई है। इनके मुख्य लाभ ये है —

(1 एक सुदृढ कार्मिक सघ औद्योगिक शाति तथा स्थिरता में सहायक होता है क्योकि सामूहिक रूप से समझौता उसके अधिकाश मजदूरो द्वारा मान्य होने के कारण उनकी मान्यता प्राप्त करता है।

(ii) मजदूरी के प्रामाणिक एव उचित स्तर पर बल देने से ये अयोग्य अथवा (असमर्थ) मालिको को उद्योग से बहिष्कृत करने में सहायक होते है।

(iii) पारस्परिक सहायता से उन्होने मजदूरो की कार्यपटुता को काफी बढाया है। मजदूरी की वृद्धि से मजदूर वर्ग की गरीबी और गदगी को कम करने में भी सहायता मिली है।

(iv) श्रम लागत बढने से श्रम बचाने वाले यत्रो के उपयोग को प्रेरणा मिली है। इससे टैकनिकल प्रगति हुई है।

दूसरी ओर श्रमिक सघो की तीव्र आलोचना, विशेषकर उनकी समाज-विरोधी कार्यवाहियो के कारण, की गई है। उनके विरुद्ध दोषारोपणो मे कुछ निम्नलिखित है

(i) प्रामाणिक वेतन-स्तर पर अनुचित जोर देकर उन्होने अधिक कार्यपटु या ऊचे श्रमिको का वेतन-स्तर कम कर दिया है।

(ii) उन्होने अभिनवीकरण (rationalisation), उत्पादन तथा उत्पादन के अधिक उन्नत साधनो के उपयोग का केवल इसलिए विरोध किया है कि उससे कुछ मजदूरो का काम छिन जायगा। इस रुख के कारण टैकनिकल प्रगति तथा फलस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश की वृद्धि में बाधा पडी है।

(iii) वे बहुधा 'धीरे काम करो' की नीति बरतने का पाठ पढाते हैं, जिससे राष्ट्रीय लाभाश कम होता है। काम करने के अवसर कम होते हैं और इसलिए मजदूरो को ही हानि होती है। इससे 'मजदूरो की निधि' (work fund) का जो विचार मजदूरो में होता है उसकी वास्तविकता का भी पता चलता है।

(iv) अपनी शक्ति के मद में कभी-कभी उन्होने अपर्याप्त आधारो पर हडताल कराके उत्पादको, समाज तथा स्वय को हानि पहुचाई है।

(v) इस बात की हठ करके कि केवल कार्मिक सघ के सदस्य मजदूरो को ही काम पर लगाया जाय, उन्होने श्रमिको के कृत्रिम अभाव को उत्पन्न किया है।

इन सब बातो के उपरान्त भी हम कह सकते हैं कि कार्मिक सघो ने अनुभव की जाने वाली एक कमी को पूरा किया है। यह समझना बिलकुल सरल है कि यदि वे न होते तो श्रमिको का निर्दयतापूर्वक शोषण होता। यदि जनसाधारण कष्ट पाता है, तो क्या राष्ट्र को लाभ होता है?

४ औद्योगिक झगडे (Industrial Disputes)—श्रमिको और मालिको के झगडे पूजीवादी देशो के औद्योगिक जीवन के एक प्रकार से साधारण अग बन गये है। ऐसे झगडो का परिणाम या तो हडताल होता है अर्थात् मजदूरो का काम पर न जाना अथवा तालाबन्दी जिसमें मालिक मजदूरो को काम पर नही जाने देते। तालाबन्दी की अपेक्षा हडताल अधिक होती है क्योकि अधिकाशत मजदूर वर्ग, जो सतप्त पक्ष है, पहले कार्यवाही करता है।

श्रमिको को हडताल का अधिकार होना चाहिये अथवा नही, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है, विशेषकर सार्वजनिक अथवा अर्द्ध सार्वजनिक उद्योगो के सम्बन्ध में। रेलवे, 'ट्राम्बे', जल तथा विद्युत सप्लाई करने वाले वर्कशापो के बन्द होने से समाज का जीवन-क्रम अस्तव्यस्त हो जाता है और उसमें गति-हीनता उत्पन्न होती है। जहा तक व्यक्तिगत स्वामित्व मे चलने वाले उद्योग है और खासकर जो बुनियादी उद्योग नही है, उनमें हडताल का अधिकार साधारणतया स्वीकार किया जाता है। सार्वजनिक उद्योगो में भी यदि मजदूरो के हडताल करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगे तो न्याय की माग है कि मजदूरो की शिकायतो पर ध्यान दिया जाय और उनके अधिकारो पर सरकार द्वारा ठीक प्रकार से सरक्षण हो।

परन्तु कारण कुछ भी हो, हडताल से समाज के जीवन पर गभीर प्रभाव पडता है। मजदूरो, मालिको और समाज को हानि उठानी पडती है। मजदूरो को मजदूरी की हानि होती है, मालिको को लाभ की तथा बाजार खोने की हानि होती है, विशेषकर विदेशी मडियो (foreign markets) के हाथ से चले जाने का भय रहता है। समाज को उद्योग द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ की सेवा से वचित रहना पडता है। इसलिए सभी सम्बन्धित पक्षो का कर्त्तव्य है कि वे ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न करे जिससे हडतालो की सभावना कम से कम हो जाय। और जब ऐसे औद्योगिक झगडे उत्पन्न हो तो उनको निपटाने के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसमें झगडो के कारणो की जाच की जरूरत होती है।

मोटे तौर पर औद्योगिक झगडो और श्रमिको के असतोष के तीन कारण होते हैं—

(i) श्रमिको की उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने की आकाक्षा। इससे पर्याप्त मजदूरी देने की समस्या हल करने की आवश्यकता होती है। इस माग को पूरा करने के लिए वेतन प्रणाली मे कई प्रकार के परिवर्तनो का सुझाव दिया गया है और कई देशो मे उनका प्रयोग करके देखा गया है। उदाहरण के लिए स्लाइडिंग स्केल सिस्टम (sliding-scale system), बोनस (bonus) व लाभ मे शेयर देने की योजना (profit sharing schemes) निम्नतम वेतन निर्धारण आदि। इन उपायो का वर्णन अगले विभागो में किया जायगा।

(ii) श्रमिको की अधिक आर्थिक सुरक्षा की आकाक्षा। इससे बेकारी की समस्या का सम्बन्ध है। अध्याय के अन्तिम भाग में इस पर विचार किया जायगा।

(iii) उद्योग के प्रबध और नियत्रण में कुछ भाग लेने की मजदूरो की माग। इसके लिए भी कई तरीके बताये गये है जिनका उल्लेख आगे के विभागो में किया जायगा।

(iv) काम करने के घटो के प्रश्न पर भी झगडे उठते है। परन्तु अब उन्हें कानून बनाकर निश्चित कर दिया गया है।

(v) कभी-कभी मजदूरो के नेता, सर्वप्रिय मजदूर का निकाला जाना अथवा श्रमिक सघ को अधिमान्यता न देने पर भी हडतालें होती हैं।

५ लाभांश वितरण-प्रणाली (Premium Bonus System)—लाभाश वितरण प्रणाली श्रम-काल (time-rate system) तथा ठेके के आधार पर मजदूरी (piece-rate system) देने के दोषो को दूर करने के लिए निकाली गई है। जब मजदूरी काम के समय के आधार पर दी जाती है, तो इस बात की आशका रहती है कि मजदूर अपनी शक्ति भर काम नही करेगा। दूसरी ओर यदि ठेके के आधार पर मजदूरी दी जाती है, तो मजदूर काम में जल्दबाजी करके निम्न श्रेणी की वस्तु बना सकता है। चैपमैन के कथनानुसार "लाभाश वितरण प्रणाली (Premium bonus system) मे जो कई प्रकार की है, इस बात की कल्पना की गई है कि उत्पादन के एक प्रामाणिक स्तर को स्वीकार किया जाय और उससे अतिरिक्त अधिक उत्पादन के लिए मजदूरी की घटी हुई अथवा अतिरिक्त उत्पादन की वृद्धि के साथ क्रमिक ढग से घटती हुई दर मजदूरो को दी जाय। इससे मजदूर को सीमा से अधिक काम करने पर रोक रहती है क्योंकि जैसे ही समय बीतता जायगा, अतिरिक्त अर्जन की न्यूनता होती जायगी। इस प्रकार जल्दबाजी और अत्यधिक जी तोड कार्य करने का अवसर कम रह जाता है। इस प्रकार ठेके की दर (piece-rate) के दोष उसके लाभो से बिना वचित हुए दूर हो जाते हैं।

लाभाश वितरण प्रणाली के कई रूप है। कभी तो बोनस मजदूर द्वारा उत्पादन के 'योग्यता स्तर' (efficiency rate) प्राप्त करने पर काम के घन्टो की दर के अतिरिक्त दिया जाता है। कुछ स्थानो मे योग्यता स्तर निम्नतम होता है और उससे अधिक उत्पादन के लिए बोनस दिया जाता है। पहले प्रकार में बोनस इसलिए दिया

जाता है कि समय की बचत की जाती है और दूसरे में अतिरिक्त उत्पादन के लिए। पहले का उदाहरण अमेरिका में प्रचलित हैल्से प्रणाली (Halsey System) है। उसमे जितना समय बचाया जाता है, उसके लिए साधारणतया प्रति घंटे की निर्धारित मजदूरी से आधी मजदूरी प्रति घन्टे के अनुसार बोनस दिया जाता है। मान लो कि एक कार्य को करने के लिए १० घन्टे नियत है और दर १० पेन्स प्रति घन्टा है। कोई मजदूर उस कार्य को आठ घन्टे में करता है तो उसे (१०×८) पेंस+(२×५) पेंस का बोनस अर्थात् कुल ९० पेंस मिलेंगे।[1]

६ स्लाइडिंग प्रणाली (Sliding Scale)—इस योजना में मजदूरी उत्पादित वस्तु की कीमत के परिवर्तन या निर्वाह व्यय (cost of living) या उद्योग द्वारा अर्जित लाभ के आधार पर घटती-बढती है। जब मजदूरी की दरो का सम्बन्ध कीमतो से होता है, तो कुछ आधारभूत कीमते निश्चित कर ली जाती है। यदि वस्तु की कीमत बढती है, तो एक अनुपात से मजदूरी भी बढाई जाती है, यदि कीमत गिरती है तो मजदूरी की दर भी गिरती है। परन्तु उसे एक निश्चित स्तर से नीचे नहीं गिरने दिया जाता। वैसी ही व्यवस्था निर्वाह-व्यय तथा लाभ में परिवर्तन होने पर की जाती है।

कभी-कभी स्लाइडिंग प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उस से मजदूरो के वेतन में ऐसे कारणो से कमी हो सकती है जिनसे लाभ किसी प्रकार कम नहीं होता। उदाहरण के लिए उत्पादन के उन्नत साधनो के प्रयोग से, भाडा कम होने से, व्यापारिक खतरे कम होने आदि कई कारणो से कीमते कम हो सकती हैं। ऐसी दशाओ में मजदूरी कम करना न्यायसगत न होगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार की अवस्थाओ में अतर उपस्थित होते रहने पर बनियादी दरो में भी बहुधा सशोधन करना चाहिए।

निर्वाह व्यय के आधार पर स्लाइडिंग स्केल प्रणाली को लागू करने पर भी कई आक्षेप किये गये है, जिनमें सूचक अको (index numbers) की अपूर्णता है और यह भी कि इस प्रणाली मे मजदूरी स्थायी हो जाती है और उससे केवल कम वेतन वाले मजदूरो को ही सुविधा मिलती है।

इन एतराजो का उत्तर यह दिया जाता है कि प्रणाली का उद्देश्य मुद्रा में भुगतान की जाने वाली मजदूरी की क्रय-शक्ति को स्थिर रखना है। मजदूरी की दरें बढाने के लिए तो मजदूरो को अलग से अपने सगठनो और कार्मिक सघो के द्वारा जोर डालना चाहिए। स्लाइडिंग स्केल प्रणाली से मजदूरी परिवर्तन कीमतो के अनुकूल होता है और यह प्रणाली मजदूरो को, आवश्यक होने पर, मजदूरी की दर बढाने के लिए जोर डालने को स्वतन्त्र छोडे रहती है। इसके अतिरिक्त इन एतराजो को सूचक अको के सुधार तथा निर्वाह-व्यय में परिवर्तन होने पर पूर्ण रूप से हानि पूर्ण करके दूर किया जा सकता है।

७ लाभ मे शेयर (Profit Sharing)—इसमें मजदूरो को साधारण मजदूरी के अतिरिक्त उद्योग में होने वाले शुद्ध लाभ (net profit) का कुछ प्रति-

1 See S E Thomas op cit p 341

शत भाग दिया जाता है। इसके लिए कई तरीके इस्तेमाल होते हैं, जिनमे सबसे अधिक प्रचलित नकद बोनस (cash bonus system) देने का है। इसमे समय-समय पर मजदूरो में कारखाने के लाभ के एक निश्चित अश को वितरित किया जाता है।

इस प्रणाली में कई अच्छाइयां हैं। (1) एक तो इससे सघर्ष कम होता है और मालिको तथा मजदूरो के बीच सद्भावना उत्पन्न होती है, (ii) इसमे मजदूरो का कारखाने से अधिक प्रेम हो जाता है और (iii) इससे मजदूर को अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

दूसरी ओर कई कारणो से इस प्रणाली की आलोचना भी की जाती है। (1) उत्पादन का अधिकाश लाभ मालिको को मिलता है, (ii) इससे श्रमिको की एकता नष्ट हो जाती है, (iii) इससे मजदूरो के स्थान-परिवर्तन में बाधा पडती है, और (iv) लाभ में हिस्सा दिया जाय तो नुकसान में भी हिस्सा लगना चाहिए। परन्तु यह तब तक नही हो सकता, जब तक मजदूरो का उद्योग के नियन्त्रण और प्रबन्ध में हिस्सा न हो।

८ श्रम-सहभागिता (Labour-Co-partnership)—यह प्रणाली उपर्युक्त प्रणाली से मिलती-जुलती है। केवल अन्तर यह है कि लाभ का भाग प्राप्त करने की प्रणाली मे श्रमिको का उद्योग के नियन्त्रण मे कोई हाथ नही रहता, परन्तु भागीदारी में एक सीमित अश तक नियन्त्रण में भी हिस्सा होता है। यह या तो शेयर (share) खरीदने के लिए प्रोत्साहित करके किया जाता है, जिससे भागीदारो के साधारण अधिकार तथा उत्तरदायित्व प्राप्त होते हैं, अथवा सचालक मडल (Board of Directors) में श्रमिको के एक या अधिक प्रतिनिधियो को नियुक्त करके किया जाता है। यह भेद इधर कई वर्षों से कम होता जा रहा है, क्योकि श्रमिको तथा मालिको, दोनो के प्रतिनिधियो की सम्मिलित समितिया लाभ का शेयर लेने (profit sharing) एव सह-भागीदारी, दोनो बातो के देखने के लिए अधिकाधिक बनाई जा रही हैं। ये समितिया कारखाने के प्रबन्ध को देखने के लिए भी व्यापक अधिकारो का प्रयोग करती हैं।

लाभ का शेयर लेने की प्रणाली की उपर्युक्त आलोचनाए भागीदारी (co-partnership) प्रणाली पर भी लागू होती है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि कारखाना बन्द हुआ तो श्रमिको की रोजी भी जाती है और साथ-साथ उनकी पूजी भी। इससे बढकर, मजदूरो के प्रतिनिधि सचालक सदस्य सदा ही अल्प सख्या में होते हैं।

लाभ का शेयर लेने की प्रणाली ने इगलैड मे भी, जहा उसके प्रयोगो को पर्याप्त अवसर दिया गया, औद्योगिक झगडो की समस्या का सर्वथा समाधान नही किया। फिर भी योजना अभी प्रयोग की दशा मे ही है और केवल सीमित क्षेत्र मे ही लागू की गई है।

९. श्रम-परिषदें या कर्मशाला समिति (Works Councils)—उद्योग के नियन्त्रण में श्रमिको के सहयोग पाने का एक तरीका, जिसका प्रयोग इगलैड मे किया गया, श्रम-समितियो का है। इस योजना को सन् १९१७ में व्हिटले समिति की

जाता है कि समय की बचत की जाती है और दूसरे में अतिरिक्त उत्पादन के लिए। पहले का उदाहरण अमेरिका में प्रचलित हैलसे प्रणाली (Halsey System) है। उसमे जितना समय बचाया जाता है, उसके लिए साधारणतया प्रति घंटे की निर्धारित मजदूरी से आधी मजदूरी प्रति घन्टे के अनुसार बोनस दिया जाता है। मान लो कि एक कार्य को करने के लिए १० घन्टे नियत है और दर १० पेंस प्रति घन्टा है। कोई मजदूर उस कार्य को आठ घन्टे में करता है तो उसे (१०×८) पेंस+(२×५) पेंस का बोनस अर्थात् कुल ९० पेंस मिलेंगे।[1]

६ स्लाइडिंग प्रणाली (Sliding Scale)—इस योजना में मजदूरी उत्पादित वस्तु की कीमत के परिवर्तन या निर्वाह व्यय (cost of living) या उद्योग द्वारा अर्जित लाभ के आधार पर घटती-बढती है। जब मजदूरी की दरों का सम्बन्ध कीमतों से होता है, तो कुछ आधारभूत कीमतें निश्चित कर ली जाती हैं। यदि वस्तु की कीमत बढती है, तो एक अनुपात से मजदूरी भी बढाई जाती है, यदि कीमत गिरती है तो मजदूरी की दर भी गिरती है। परन्तु उसे एक निश्चित स्तर से नीचे नहीं गिरने दिया जाता। वैसी ही व्यवस्था निर्वाह-व्यय तथा लाभ में परिवर्तन होने पर की जाती है।

कभी-कभी स्लाइडिंग प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उस से मजदूरो के वेतन में ऐसे कारणो से कमी हो सकती है जिनसे लाभ किसी प्रकार कम नहीं होता। उदाहरण के लिए उत्पादन के उन्नत साधनो के प्रयोग से, भाडा कम होने से, व्यापारिक खतरे कम होने आदि कई कारणो से कीमते कम हो सकती हैं। ऐसी दशाओ में मजदूरी कम करना न्यायसगत न होगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार की अवस्थाओ मे अतर उपस्थित होते रहने पर बनियादी दरो में भी बहुधा सशोधन करना चाहिए।

निर्वाह व्यय के आधार पर स्लाइडिंग स्केल प्रणाली को लागू करने पर भी कई आक्षेप किये गये हैं, जिनमे सूचक अकों (index numbers) की अपूर्णता है और यह भी कि इस प्रणाली मे मजदूरी स्थायी हो जाती है और उससे केवल कम वेतन वाले मजदूरों को ही सुविधा मिलती है।

इन एतराजो का उत्तर यह दिया जाता है कि प्रणाली का उद्देश्य मुद्रा में भुगतान की जाने वाली मजदूरी की क्रय-शक्ति को स्थिर रखना है। मजदूरी की दरें बढाने के लिए तो मजदूरो को अलग से अपने सगठनो और कार्मिक सघो के द्वारा जोर डालना चाहिए। स्लाइडिंग स्केल प्रणाली से मजदूरी परिवर्तन कीमतो के अनुकूल होता है और यह प्रणाली मजदूरो को, आवश्यक होने पर, मजदूरी की दर बढाने के लिए जोर डालने को स्वतन्त्र छोडे रहती है। इसके अतिरिक्त इन एतराजो को सूचक अको के सुधार तथा निर्वाह-व्यय में परिवर्तन होने पर पूर्ण रूप से हानि पूर्ण करके दूर किया जा सकता है।

७ लाभ मे शेयर (Profit Sharing)—इसमें मजदूरो को साधारण मजदूरी के अतिरिक्त उद्योग में होने वाले शुद्ध लाभ (net profit) का कुछ प्रति-

---

1 See S E Thomas op cit p 341

शत भाग दिया जाता है। इसके लिए कई तरीके इस्तेमाल होते हैं, जिनमे सबसे अधिक प्रचलित नकद बोनस (cash bonus system) देने का है। इसमे समय-समय पर मजदूरों में कारखाने के लाभ के एक निश्चित अश को वितरित किया जाता है।

इस प्रणाली में कई अच्छाइया है। (1) एक तो इससे सघर्ष कम होता है और मालिको तथा मजदूरो के बीच सद्भावना उत्पन्न होती है, (11) इसमे मजदूरो का कारखाने से अधिक प्रेम हो जाता है और (111) इससे मजदर को अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

दूसरी ओर कई कारणो से इस प्रणाली की आलोचना भी की जाती है। (1) उत्पादन का अधिकाश लाभ मालिकों को मिलता है, (11) इससे श्रमिको की एकता नष्ट हो जाती है, (iii) इससे मजदूरो के स्थान-परिवर्तन में बाधा पडती है, और (iv) लाभ मे हिस्सा दिया जाय तो नुकसान मे भी हिस्सा लगना चाहिए। परन्तु यह तब तक नही हो सकता, जब तक मजदूरो का उद्योग के नियन्त्रण और प्रबन्ध में हिस्सा न हो।

८. श्रम-सहभागिता (Labour-Co-partnership)—यह प्रणाली उपर्युक्त प्रणाली से मिलती-जुलती है। केवल अन्तर यह है कि लाभ का भाग प्राप्त करने की प्रणाली में श्रमिको का उद्योग के नियन्त्रण मे कोई हाथ नही रहता, परन्तु भागीदारी में एक सीमित अश तक नियन्त्रण में भी हिस्सा होता है। यह या तो शेयर (shaie) खरीदने के लिए प्रोत्साहित करके किया जाता है, जिससे भागीदारो के साधारण अधिकार तथा उत्तरदायित्व प्राप्त होते है, अथवा सचालक मडल (Board of Duectors) में श्रमिको के एक या अधिक प्रतिनिधियो को नियुक्त करके किया जाता है। यह भेद इधर कई वर्षो से कम होता जा रहा है, क्योकि श्रमिको तथा मालिको, दोनो के प्रतिनिधियो की सम्मिलित समितिया लाभ का शेयर लेने (profit sharing) एव सह-भागीदारी, दोनो बातो के देखने के लिए अधिकाधिक बनाई जा रही है। य समितिया कारखाने के प्रबन्ध को देखने के लिए भी व्यापक अधिकारो का प्रयोग करती है।

लाभ का शेयर लेने की प्रणाली की उपर्युक्त आलोचनाए भागीदारी (co-partnership) प्रणाली पर भी लागू होती है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि कारखाना बन्द हुआ तो श्रमिको की रोजी भी जाती है और साथ-साथ उनकी पूजी भी। इससे बढकर, मजदूरो के प्रतिनिधि सचालक सदस्य सदा ही अल्प सख्या में होते हैं।

लाभ का शेयर लेने की प्रणाली ने इगलैंड मे भी, जहा उसके प्रयोगो को पर्याप्त अवसर दिया गया, औद्योगिक झगडो की समस्या का सर्वथा समाधान नही किया। फिर भी योजना अभी प्रयोग की दशा में ही है और केवल सीमित क्षेत्र मे ही लागू की गई है।

९. श्रम-परिषदे या कर्मशाला समिति (Works Councils)—उद्योग के नियन्त्रण में श्रमिको के सहयोग पाने का एक तरीका, जिसका प्रयोग इगलैंड में किया गया, श्रम-समितियो का है। इस योजना को सन् १९१७ मे व्हिटले समिति की

(Whitley Committe Report) के पश्चात् तैयार किया गया। श्रम-
नया श्रमिको तथा मालिको के समान प्रतिनिधियो को मिलाकर सगठित की जाती
हीं-कही उनमें केवल मजदूरो के प्रतिनिधि रहते हैं और उन्हें मालिको से प्रबन्ध
त्त्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार-विनिमय का अधिकार होता है। इसके अलावा, किसी
उद्योग के मालिको तथा मजदूरो के प्रतिनिधियो को मिलाकर जिला परिषदें
strict councils) भी बनाई जाती हैं।

श्रम-समितिया, जिन्हे ह्विटले समितिया भी कहते हैं, किसी सीमा तक मालिको और
रो के बीच शान्ति और सद्भावना रखने में सफल हुई हैं। उनसे मजदूरो में उत्तर-
व की भावना अधिक बढी, क्योकि उद्योग के सचालन के हेतु किये गये निर्णय
भाव डालने के लिए उन्हें अवसर दिया गया। झगडे अधिकाशत पारस्परिक
र-विनिमय से हल हुए।

१० न्यूनतम मजूरी (Minimum Wages)[1]—औद्योगिक झगडो
म करने का एक तरीका पर्याप्त मजदूरी (adequate wage) की व्यवस्था
कानून के द्वारा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जाती है जिससे कम देना अपराध
र दिया है। न्यूनतम वेतन कुछ चुने हुए उद्योगो मे, जिन्हें 'पसीने के धन्धे'
veated trades) कहा जाता है, निर्धारित किया जा सकता है अथवा
राष्ट्रव्यापी बनाया जा सकता है। इस प्रकार की नीति का मजदूर, मालिक तथा
गोक्ता पर क्या प्रभाव होगा ?

मान लीजिए कि किसी एक अथवा कुछ उद्योगो मे प्रतियोगिता स्तर से अधिक
न्यूनतम मजदूरी कानून या कार्मिक सघ के दबाव से निश्चित कर दी जाती है।
गर मालिक को न्यूनतम मजदूरी देने के लिए बाध्य कर सकती है, परन्तु वह
क को सब श्रमिको को काम में लगाए रखने के लिए बाध्य नही कर सकती। कुछ
को को काम से अलग किया जा सकता है और अधिक कार्यकुशल श्रमिको को रखा
सकता है। इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी की योजना से उन्ही का हित नही होता,
के लिए वह लागू की जाती है। उससे केवल श्रमिको का पुनर्वितरण होता है।

साथ ही इस बात का भी खतरा रहता है कि सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी को
क अधिकतम मान कर चलें। इस प्रकार मजदूरी के स्तर में वृद्धि के स्थान पर
ने की नौबत आ जाती है।

यदि इस ऊची दर को उपभोक्ताओ के सिर पर डाला जाता है तो वस्तु की कीमत
जायगी और बेकारी नही होगी। परन्तु कीमत बढाना हर दशा मे शायद सम्भव
ो क्योकि विदेशो से प्रतियोगिता हो सकती है अथवा उपभोक्ता उस वस्तु के
न पर दूसरी वस्तु से काम चला सकते हैं। दूसरे शब्दो में जब उत्पादित वस्तु की
ा परिवर्तनशील होती है, तो ऊची मजदूरी के भार को उपभोक्ताओ के सिर नही

---

1 See Stigler, G J on "The Economics of Minimum Wage Legislation,
the American Economic Review, June 1946, pp 358-363

डाला जा सकता ।

यदि मालिक साधारण लाभ ही कमा रहा है, तो भार उसके लाभ पर जाकर पड़ेगा, परन्तु अधिक दिनों तक यह नहीं चल सकता। यदि किसी व्यवसाय में लाभ कम होता जा रहा है, तो नई पूजी, नये उद्यमी आगे नहीं बढ़ेंगे, चाहे वर्तमान पूंजी कुछ समय तक कम लाभ पर लगी रह सके, बशर्ते कि उद्योग विशिष्ट प्रकार का और स्थिर है।

अन्तत उद्योग के कम होने अथवा श्रम बचाने वाले यंत्रो अथवा उत्पादन प्रणालियों के प्रयोग से बेकारी अवश्य होगी। स्टिगलर के शब्दो मे "न्यूनतम मजदूरी जितनी ऊंची होगी उतने ही अधिक सरक्षित श्रमिक (covered workers) निकाले जायगे।" यह अनुमान किया जाता है कि न्यूनतम मजदूरी का मजदूरों के कुल काम पर उलटा प्रभाव पड़ता है।

परन्तु तब बेकारी न होगी जब कि मजदूरी कुल उत्पादन लागत का एक छोटा हिस्सा ही होगा। तब वस्तु की कीमत में हल्की सी वृद्धि करने से मालिक को बड़ी मजदूरी देने से हुई हानि की क्षति-पूर्ति हो जायगी।

इसी प्रकार उस समय भी बेकारी की नौबत नहीं आ सकती जब कि उत्पादक का सम्बन्धित उत्पादन पर एकाधिकार हो और उस वस्तु की माग अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील हो, जैसे कि बिजली, पानी, गैस तथा अन्य सार्वजनिक उपभोग्य वस्तुओं के विषय में है।

यदि न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगिता स्तर (competitive level) से कम है, तो उन उद्योगों में अधिक लाभ की आशा और सभावना के कारण अधिक पूजी लगाने को प्रोत्साहन मिलेगा। मजदूरों के लिए उनकी माग बढ़ेगी। पर नए 'रगरूट' इन कामो से दूर रहने का यत्न कर सकते हैं। इस प्रकार अशत, मजदूरों की पूर्ति कम होने तथा अशत उनकी माग अधिक बढ़ने से मजदूरी प्रतियोगिता स्तर पर आ सकती है।

यदि 'पसीने के धन्धों' में पहले बहुत अधिक लाभ कमाया जा रहा था तो न्यूनतम वेतन से प्रतियोगिता स्तर पर स्थिर करने से बेकारी नहीं होगी वरन् लाभ कम होकर मजदूरी साधारण स्तर पर आ जायगी।

इस प्रकार यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि न्यूनतम मजदूरी का प्रभाव श्रम पर क्या होगा ? कुछ स्थितियों मे यह लाभदायक होगा और कुछ में हानिकारक। हर स्थिति में उसके गुणावगुणों (merits and demerits) के अनुसार विचार प्रकट करना पड़ेगा।

११. राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी (The National Minimum Wages)—देश भर में सब उद्योगों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का परिणाम और गभीर हो सकता है, विशेषकर यदि मजदूरी प्रतियोगिता के स्तर से अधिक ऊंची हो। इस दशा मे सब मार्ग बन्द हो जाते हैं। श्रमिकों का एक उद्योग के स्थान पर दूसरे मे लग जाना या श्रम का पुनर्वितरण नहीं हो सकता। हर जगह उन्हें कम से कम यही मजदूरी देनी पड़ेगी।

ऊंचे मूल्यों से उसका प्रभाव नष्ट न हो जाए, इसलिए राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी

को वास्तविक न्यूनतम मजदूरी होना चाहिए, न कि निर्धारित द्रव्य मजदूरी। जब कीमतें बढे तो न्यूनतम मजदूरी भी बढनी चाहिए।

चूकि इस न्यूनतम मजदूरी मे कम मजदूरी पर किसी मजदूर को कही भी नही रखा जा सकता, इसलिए एक उद्योग मे निकाला गया मजदूर दूसरे मे काम नही पा सकता। इस तरह काम से निकाले गए मजदूर तब तक स्थायी तौर पर वेकार बने रहेंगे जब तक कि वह अपनी कार्यक्षमता नही बढाते या न्यूनतम-से-कम मजदूरी पर काम करने को तैयार नही हो जाते।

इस भार को उपभोक्ताओं पर भी नही डाला जा सकता, क्योकि जब कीमतें बढेंगी तो फिर मजदूरी का स्तर भी बढाना होगा। उत्पादन के तरीको को बदल देने से लाभ के स्तर को स्थिर नही रखा जा सकता, क्योकि श्रम बचाने वाली मशीनो तथा अन्य उपायो की भी कीमते बढ जायेगी। इसका परिणाम व्यापक बेकारी होगा और सभी प्रकार के उद्योगो में सकीर्णता आ जायगी। इससे पूजी के सचय और विनियोग में बाधा होगी।

इसके अतिरिक्त बेकारो को सार्वजनिक कोष से सहायता देनी होगी, जिसका परिणाम ऊचे कर और उद्योगो पर और अधिक भार तथा और अधिक बेकारी होगी। इस प्रकार जहा उत्पादन में कमी होगी, वहाँ वेकारो पर किये गये व्यय के कारण टैक्स बढेंगे। समाज अपनी पिछली बचत को व्यय करते हुए दिवालियेपन की ओर जायगा, और यदि यह नीति बहुत अधिक दिनो तक बरती गई तो आर्थिक क्रिया के स्रोत सूखने लगेंगे।

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना आवश्यकीय तौर पर मजदरो की हानि करना है। कई परिस्थितियो में उससे अनिवार्य रूप मे लाभ भी हो सकता है —

(१) ऐसे उद्योगो मे, जहा बहुत बडी पूजी (large capital) लगी है और विशेष प्रकार के यत्र काम में आ रहे है, उद्योगपति कारखाना चालू रखने पर विवश होंगे, भले ही मजदूरी चुकाने में उनके लाभ कम हो जाय। ऐसी दशा में लाभ सकुचनशील (squeezable) होते है। मजदूरो को बेकारी का तात्कालिक खतरा हुए बिना न्यूनतम मजदूरी मिलती रह सकती है।

(२) यह सम्भव है कि बढी हुई मजदूरी का उपयोग मजदूर इस प्रकार करें कि उनकी कार्यपटुता बढ जाय। इसमे उनकी उत्पादन-शक्ति बढेगी और वे अधिक मजदूरी पाने के योग्य, यदि पहले नही थे, तो अब हो जायगे। तब मजदूरी वृद्धि का लाभ पर कोई बुरा प्रभाव नही पडेगा और तब पूजी के हतोत्साह होने अथवा बेकारी बढने का खतरा न होगा।

(३) यह सम्भव है कि मजदूरो के गरीब और असगठित होने से मालिक उनका शोषण करें। इस दशा मे मजदूरी निश्चित करना, पुराना न्याय (belated justice) करने के समान होगा और मालिक का उन्हें काम से छुटाने का कोई कारण नही होगा।

(४) अन्त मे, यदि किसी देश में बेकारी की सहायता की व्यवस्था है, तो मजदूरो को उतना कष्ट नही उठाना पडता। वे राज्य से भरण-व्यय या खाने-पीने का खर्च पाते है। उसका भार धनी कर-दाताओ पर पडता है। इस तरह न्यूनतम मजदूरी निर्धारण

धन के धनिको से लेकर गरीबो मे वितरण का साधन बन जाता है और आर्थिक तथा सामाजिक न्याय-स्थापना मे सहायक होता है।

न्यूनतम वेतन का समर्थन कुछ ठोस आधारो पर किया जा सकता है। (क) इससे श्रमिको को उचित जीवन-स्तर का आश्वासन होता है, उनकी कार्यपटुता बढती है और गरीबी से उद्धार होता है। (ख) इससे स्वार्थी मालिको की, जो कि मजदूरो का शोषण करते तथा न्यूनतम मजदूरी देने से बचने के लिए श्रमिको को एक उद्योग से दूसरे मे बदलते है, स्वार्थपूर्ण तथा समाजविरोधी कार्यवाहियो की रोक होती है। (ग) इससे अयोग्य मालिको का, जो कि न्यूनतम मजदूरी देने भर को भी अर्जन नही कर सकते सम्बन्धित उद्योगो से निष्कासन होगा और औद्योगिक प्रबन्ध का स्तर ऊँचा होगा। परन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि न्यनतम मजदूरी निर्धारण से मजदूरी प्रणाली मे कठोरता तथा लोचहीनता आ जायगी, जिससे उत्पादन लागत का कीमतो से समायोजन (adjust) करना कठिन हो जायगा। यदि स्तर बहुत अधिक ऊचा है तो उद्योग की प्रतियोगिता-शक्ति घट जायगी और बेकारी बढेगी। यदि वह नीचा होता है, तो श्रमिको को कोई लाभ नही होता।

एक सामाजिक सुधारक को ऐसे श्रम कानून की सामाजिक लागत पर भी ध्यान रखना चाहिए। जब किसी उद्योग पर ऊचे स्तर की न्यूनतम मजदूरी का बोझ लादा जायगा तो उत्पादन लागत बढ जायगी। इससे कम वस्तुएँ अधिक कीमत पर मिलेंगी। राजकोष (exchequer) को सहायता (doles), पेंशन तथा गरीबो की सहायता के अन्य कार्यों का बढा हुआ बोझ सहन करना पडेगा। यह खर्चे की मदे है। आय की मद में हम बच्चो की उन्नति से बचत तथा बडे होने पर उनकी अर्जन शक्ति मे वृद्धि रख सकते है। जब शिक्षा का सामान्य स्तर ऊचा हो जाता है, तो कुशल श्रम तथा शिक्षित व्यापार प्रबन्धको की पूर्ति बढ जायगी। यह यथासमय पर ऐसे लोगो को उनके सापेक्षिक लाभ से वचित कर देगी क्योकि पूर्ति के बढने से उनकी आय कम हो जायगी। परन्तु समाज को निस्सन्देह लाभ होगा।

भारत में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (The Minimum Wages Act) १९४८ मे पास हुआ। इस अधिनियम के अधीन केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारें अपने कर्मचारियो की न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर सकती है, इनमें क्लर्क भी शामिल है। ऐसा अनुसूचित रोजगारो (scheduled employments) में हो सकता है तथा समुचित शासन (appropriate government) इस कानून को किसी भी उद्योग में लागू कर सकता है। मजदूरी निश्चित करने में सलाह आदि के लिए सलाहकार समिति की नियुक्ति की जा सकती है। इस प्रकार निश्चित की गई दरो के पुनर्विलोकन के लिए एक अवधि निश्चित होती है जो पाँच साल से ज्यादा न हो। जैसा कि औद्योगिक श्रमिको की अनुसूची मे वर्णित है प्रत्येक राज्य में न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित है। जहा तक कृषि में लगे मजदूरो का प्रश्न है, इसे पूरा करने के लिए एक अखिल भारतीय समिति की स्थापना की गई जो तत्सम्बन्धी आकडे एकत्रित करे। अधिकाश राज्यो में मजदूरी की दर निश्चित हो गई है।

किन्तु, चीज न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना जरूरी नही है, जरूरी तो **उचित मजदूरी** (fair wages) निश्चित करना है। उचित मजदूरी की परिभाषा करना सहज काम नही। मार्शल के अनुसार मजदूरी उसी समय 'उचित' होगी यदि यह "दूसरे व्यापारो में काम की भुगतान के औसत के अनुकूल स्तर पर है, वे समान रूप से कठिन तथा रुचिहीन हो, और जिन्हें करने मे समान रूप से दुर्लभ प्राकृतिक गुणो तथा समान रूप से खर्चीले प्रशिक्षण की जरूरत हो।" पीगू के अनुसार, सकुचित अर्थों में मजदूरी उस समय उचित होती है जब यह पडौस के समान उद्योगो में चालू मजदूरी के समान होती है। विस्तृत अर्थो में, यह उचित है यदि समस्त देश मे समान काम के लिए तथा व्यापारों की व्यापकता (generality of trades) में प्रभावी दरो (predominant rates) के समान रहे।

भारत में १९४७ में औद्योगिक सम्मेलन मे औद्योगिक सन्धि सकल्प (Industrial Truce Resolution) पास हुआ जिसमे उचित मजदूरी निश्चित करने की माग की गई। सरकार ने इस सकल्प (resolution) को अपने १९४८ की औद्योगिक नीति विवरण (Industrial Policy Statement) में स्वीकार कर लिया। एक उचित मजदूरी समिति (Fair Wage Committee) की नियुक्ति की गई जिसने १९४९ में अपनी रिपोर्ट पेश की और इन सिफारिशो (recommendations) के आधार पर १९५० में एक अधिनियम का मसविदा (draft) तैयार किया गया। लेकिन वह बाद में व्यपगत (lapsed) हुआ। इस समिति के अनुसार उचित मजदूरी वह है जो न्यूनतम मजदूरी तथा निर्वाह मजदूरी (living wage) के बीच में बनती है, इसकी अपनी सीमा का निर्धारण उद्योग विशेष की बर्दाश्त करने की क्षमता से निश्चित होता है।

१२ **औद्योगिक झगडो का निपटारा (Settlement of Industrial Disputes)**—झगडो को रोकने के लिए प्रत्येक प्रयत्न करने पर भी वे हो सकते है और होते ही रहते हैं। इसलिए उनके निपटारे के लिए कोई व्यवस्था होनी आवश्यक है। साधारणतया उसके लिए दो उपाय होते है (i) समझौता (conciliation) तथा (ii) पच-निर्णय (arbitration)।

(i) **समझौता** (Conciliation)—इस उपाय की मुख्य बात यह है कि मजदूरो तथा मालिको के प्रतिनिधियो में स्वत बिना किसी बाहरी व्यक्ति की मध्यस्थता के अथवा मध्यस्थता की सहायता से समझौता हो जाता है। भारतवर्ष में सन् १९२९ के औद्योगिक विवाद कानून से सरकार ने यह अधिकार प्राप्त किया कि किसी एक पक्ष की प्रार्थना पर वह झगडे की जाँच के लिए एक समझौता बोर्ड (Conciliation Board) नियुक्त कर सकती है। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था से हडतालें बिल्कुल ही असम्भव नही हो जाती, क्योकि विशेषकर कामिक सघो में अविश्वास की भावना सदा बनी रहती है।

जब समझौता बोर्ड का सभापति बिल्कुल स्वतन्त्र और विख्यात ईमानदार व्यक्ति होता है, तब समिति अच्छा काम करती है।

(११) पंच निर्णय (Arbitration)—इस प्रकार की व्यवस्था में झगडे के निपटारा करने का कार्य एक बाहरी व्यक्ति या मध्यस्थ समिति को सौप दिया जाता है। पच निर्णय ऐच्छिक (voluntary) हो सकता है, जैसा कि इगलैंड में है, अथवा अनिवार्य, जैसा कि आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में है। ऐच्छिक पच निर्णय में झगडे को एक मध्यस्थ न्यायालय (Arbitration Court) में भेजा जाता है। न्यायालय के निर्णय को अधिकाशत मान लिया जाता है, परन्तु दोनो पक्षो के लिए मानने की बाध्यता नही होती। पच-निर्णय की रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है और बहुत से मामलो मे जनमत के दवाव से दोनो पक्षो को निर्णय मानना पडता है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में पच न्यायालय का निर्णय मानना दोनो पक्षो के लिए अनिवार्य होता है। हडताल और तालाबन्दी दोनो कानून से निषिद्ध कर दिये जाते है और जुर्माने या कारावास से दडनीय होते है। अनिवार्य पच-निर्णय से काफी कठिनाइया हो सकती है, खास तौर से उन देशो में जहां और दूसरे काम मिलने की गुजाइश कम रहती है। आस्ट्रेलिया में चूकि खेती पच-निर्णय-कानून के अधिकार-क्षेत्र के बाहर है, वहा पूजी अथवा मजदूरो के लिए अन्य मार्ग खुला रहता है। चैपमैन का कहना है कि "बुनियादी उद्योगो में, जिनकी निरन्तर सक्रियता के ऊपर सारा समाज निर्भर करता है, उदाहरण के लिए, परिवहन, वहा अनिवार्य पच-निर्णय के पक्ष मे बहुत कुछ कहा जा सकता है।"[1]

१३ बेकारी (Unemployment)—आधुनिक औद्योगिक देशो में मजदूरो के झगडो का सबसे बडा कारण रोजगार की अनिश्चितता है। बेकारी का भय श्रमिको के सामने सदा बना रहता है। इसे प्रगति की 'सहगामिनी छाया' (Shadow side of progress) कहा गया है।

पारिभाषिक रूप से बेकारी ऐसी दशा है जबकि किसी देश में कार्य-क्षम आयु के शारीरिक-सामर्थ्य-सपन्न व्यक्तियो की एक बडी सख्या काम करने के लिए प्रस्तुत है, परन्तु उसे प्रचलित मजदूरी की दरो पर काम नही मिल पाता। वह लोग जो शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण कार्य करने में असमर्थ है, अथवा जो काम करना ही नही चाहते, जैसे साधु, उनकी गणना बेकारो में नही की जाती।

किसी उत्पादक कार्य में सलग्न होना ही बेकारी का बिल्कुल न होना नही माना जाता। जो लोग केवल थोडा समय कार्य करते है अथवा अपनी योग्यता से नीचे का काम करते है, उन्हे पर्याप्त रूप से कार्य-सलग्न नही कहा जा सकता। इसे न्यून काम (under-employment) की दशा कहते हैं। यह भी देश की समृद्धि के लिए हितकारी नही है। पूजीवादी देशो मे बेरोजगारी का होना अनिवार्य है। वहा अधिक से अधिक जो किया जा सकता है, वह है बेकारो की संख्या को यथासम्भव कम करना।

१४. बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment)—चैपमैन ने बेरोजगारी के **वस्तुपरक तथा आत्मपरक** (objective and subjective) कारणो में अन्तर किया है। आत्मपरक कारण व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक दोषो

---

1 Chapman Op Cit, p 351

से होते हैं चाहे वह जन्मजात हो अथवा बाद में पैदा हुए हो, उपचारयोग्य हो या लाइलाज । वस्तुपरक कारण ऐसी शक्तियो से उत्पन्न होते हैं जिनपर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण अथवा अधिकार नही होता । ये कारण इस प्रकार हैं—

(i) **व्यापार चक्र** (Trade Cycles) —इनका विस्तृत अध्ययन एक पृथक् अध्याय में किया जायगा ।[1] यहा केवल इतना कहना ही काफी होगा कि व्यापार मन्दी (depression) साधारणत एक निश्चित काल के बाद होती है । मदी के समय व्यापारिक क्रिया धीमी हो जाती है और बेरोजगारी (unemployment) बढती है । कुछ लोगो का काम छूट जाता है और कुछ को केवल आशिक काम मिलता है ।

(ii) **मौसमी माग** (Seasonal Demand)—कई आर्थिक चेष्टाए मौसमी होती हैं । मदी के मौसम में मजदूरो की माग कम हो जाती है और उसका परिणाम बेरोजगारी होता है । उदाहरण के लिए, बर्फ के कारखानो में केवल गर्मी की ही ऋतु में काम होता है, खेतो में भी काम फसल के समय होता है । तीन महीने से पाच महीने तक हमारे कृषको को विवशत बेकार रहना पडता है

(iii) **औद्योगिक परिवर्तन** (Industrial Changes)—इसमे नई रीतियो का प्रयोग निहित है । चूकि उत्पादन प्रणाली में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है, इसलिए बहुत से मजदूर एक साथ रोजगार से जुदा नहीं होते । परन्तु यदि ऐसे परिवर्तन शीघ्र होते है तो, बहुत से लोग बेकार हो जाते हैं । इगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के सस्ते सामान ने भारतीय बाजारो को पाट दिया, इसलिए स्वदेशी उद्योगो में लगे लोग बे-रोजगार हो गए ।

(iv) **नैमित्तिक श्रम** (Casual Labour)—नैमित्तिक श्रम का आशय उस श्रम से है जो थोडे समय के लिए विविध प्रकार के कार्य में लगे रहते हैं, जैसे बदरगाह पर माल लादने या उतारने का काम । ऐसे लोगो को तब तक काम मिलता है जब तक व्यापार चालू रहता है । उन्हें निरन्तर एक काम को छोडकर दूसरे काम को करना पडता है । बहुत से आलसी लोग अस्थायी कार्य करना पसन्द करते हैं अथवा जो इस तरह का कार्य करते हैं, वे आलस्य की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं । काम मिलने और करने में अनियमितता की इससे वृद्धि होती है ।[2]

(v) **बीच का समय** (Social Time-lag)—बीच का समय वह समय है जो कि मजदूर को एक काम छोड कर दूसरे काम के ढूढने मे लगता है । यह समय मदी के समय अधिक और व्यापार के वृद्धिकाल में कम होता है । काम करने वाले की प्रकृति तथा उसके आर्थिक वातावरण से भी समय में भेद हो सकता है । यह बिल्कुल सभव है कि एक ओर मजदूर बेकार हो और दूसरी ओर मजदूरो की कमी हो । ऐसी स्थिति काम तथा मजदूर चाहने वालो मे सपर्क की कमी से होती है ।

(vi) **ऊँची मजदूरी** (High Wages)—यह भी कहा जा सकता है कि श्रमिक सघ की कार्यवाही से भी बेकारी हो सकती है । यदि सघ ऐसी मजदूरी की दर

---

1 Chapter XLII

2 Chapman, Op Cit, p 351

स्वीकार कराने में सफल होते है, जो कि सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाव से अधिक है, तो आगे या पीछे मजदूरो को काम से अवश्य अलग किया जायगा। ऐसा तव भी होगा जव कि न्यूनतम मजदूरी, जो कि मजदूरो की उत्पादन शक्ति से अधिक है, कानून द्वारा देना अनिवार्य किया जायगा, परन्तु जिसका देना उद्योग की सामर्थ्य के वाहर है।

(vii) **सम्पत्ति में वृद्धि** (Growth of Wealth)—कीन्स (Keynes)[1] के अनुसार बेरोजगारी सम्पत्ति वृद्धि के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। आय की वृद्धि के साथ लोगो में उसके क्रमश कम अश को तात्कालिक उपभोग मे व्यय करने की प्रवृत्ति होती है। इससे उपभोग्य वस्तुओ की माग कम होती है और इससे उन वस्तुओ के वनाने वाले व्यवसायियो का लाभ भी कम होने लगता है। इसकी प्रतिक्रिया में वे उत्पादन के साधनो पर, जिसमें श्रमिक भी शामिल होते है, कम व्यय करना चाहते है और मजदूरो की सख्या कम करने लगते है। इस प्रवृत्ति को तभी रोका जा सकता है, जव कि अधिक वचत का उपयोग अधिकाधिक व्यवसाय में पूजी लगाकर हो। परन्तु समृद्ध देशो में नये उद्योगो में पूजी लगाने के अवसर भी कम होते है। इसलिए नये तौर पर पूजी लगाने से भी उपभोग की कमी के प्रभाव को पूर्णरूप से नही रोका जा सकता। परिणाम यह होता है कि मजदूरो का एक भाग काम पाने मे असफल रहता है।

१५ बेकारी दूर करने के उपाय (Remedies for Unemployment)—आर्थिक योजना (economic planning) तैयार करना बेकारी दूर करने का सवसे अच्छा उपाय है। उसमें बेकारी की कोई गुजाइश नही रहती। सन् १९२९—१९३४ की व्यापारिक मदी के समय अमेरिका में ४० लाख आदमी और ब्रिटेन में २५ लाख आदमी बेकार थे, परन्तु उसी समय रूस की आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे एक व्यक्ति भी बेकार नही था। परन्तु यदि किसी कारण समाजवादी ढग की योजना न हो सके तो पूजीवादी व्यवस्था में भी बेकारी को कम करने के लिए कई उपाय किये जा सकते है। ये निम्नलिखित है —

(1) **रोजगारी के दफ्तरों की स्थापना** (Establishment of Employment Exchanges)—ये सस्थाए एक ओर बेकार व्यक्तियो के नाम, उनकी योग्यताएं और आवश्यकताए तथा काम देने वाले मालिको की आवश्यकताए रजिस्टर मे लिखती जाती है। इस प्रकार वे उन लोगो में जो कि काम की तलाश मे रहते है, और जिन्हें मजदूरी की जरूरत रहती है, सम्पर्क स्थापित करते है। इन सस्थाओ से कुछ और भी लाभ होते है। वे एक काम से दूसरे काम पाने के वीच के समय को कम करने मे सहायक होते है और साथ ही मजदूरो को अपनी कार्य-पटुता वढाने के अवसरो की सूचना भी प्रदान करते है। वे स्कूल के वाद शिक्षा जारी रखने अथवा शिल्प-शिक्षण पाने के विपय में भी परामर्श दे सकते है। अस्थायी कार्य करने वालो को स्थायी कार्य

---

1. Keynes—General Theory of Employment, Interest and Money.

दिलाने में भी उनसे सहायता मिलती है ।

(ii) व्यापार चक्र द्वारा उत्पन्न बेकारी का निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। (क) मजदूरो की घटती हुई माग को सब प्रभावित व्यवसायो में वितरित करके। (ख) श्रम की सार्वजनिक माग को क्षतिपूर्ति का साधन बनाकर। जहा तक पहले उपाय का सम्बन्ध है, मजदूरो की माग का वितरण उद्योग को कम समय तक चला कर या काम के घटे कम करके किया जा सकता है। चैपमैन का मत है कि "यह अधिक अच्छा होगा कि एक उद्योग में लगे हुए सब कर्मचारी कम काम करें और कम कमाये, बजाय इसके कि कुछ कर्मचारी कुछ भी न कमायें।"[1] कुछ का सुझाव है कि मालिक सारी मजदूरी श्रमिक सघो (labour unions) को दे दे, जो सब श्रमिको को नियमित रूप से मजदूरी दें।

दूसरे के विषय में, मजदूरी की सार्वजनिक (सरकारी) माग अन्य उद्योगो की माग के विपरीत होनी चाहिये । उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्य जैसे रेल, सडकें, सरकारी इमारतें आदि व्यापारिक मदी के समय शुरू होने चाहिए क्योकि ऐसे समय निजी उद्यम (private enterprise) शिथिल अवस्था में होते हैं। इससे केवल उन कार्यों में लगे हुए लोगो को ही काम न मिलेगा वरन् व्यक्तिगत उद्योगो को भी प्रोत्साहन मिलेगा, क्योकि निर्माण कार्य से सम्बधित अनेक वस्तुओ की माग बढेगी। इससे आर्थिक सक्रियता में तेजी आ सकती है । इसके विपरीत व्यापार के तेजी काल में सार्वजनिक अधिकारियो को यथासभव बडी योजनाओ को चालू न करना चाहिए। इसमें विशेष योजना बनाने की जरूरत पडती है, जिससे कि विशेष सस्थाए जैसे राष्ट्रीय रोजगार समिति तथा विकास बोर्ड (National Employment and Development Board) बनाए जाय जो कि सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी क्षतिपूरक (compensatory) योजनाए तैयार करे।

(iii) सामयिक या ऋतु विशेष की बेकारी एक व्यापार को दूसरे से परस्पर मिलाने से दूर हो सकती है। शिथिल काल में सग्रह हेतु सामग्री निर्मित की जा सकती है अथवा सामग्री पूर्ति के अग्रिम आर्डर लिये जा सकते है और काम को वर्ष भर चलाया जा सकता है ।

जहाँ तक काम करने के लिए असमर्थ लोगो का सम्बन्ध है, उनकी कई प्रकार से सहायता की जा सकती है । पहले, जो शराबी है, आवारा है या अन्य प्रकार से सामाजिक परोपजीवी (social parasites) है, उनके सुधार की चेष्टा करनी चाहिए। उन लोगो की, जो किसी शारीरिक रोग से असमर्थ हो गये है, यदि उनका रोग अच्छा होने लायक है, तो उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

बेकारो के कष्ट-निवारण की एक अलग समस्या है । इससे हम सामाजिक बीमा योजना की समस्या पर पहुचते है, जिसका क्षेत्र न केवल बेकारी के लिए ही वरन् मजदूरो की अन्य कठिनाइयो को भी दूर कर सकता है।

---

1 Chapman, Op Cit., p 358.

१६. सामाजिक बीमा (Social Insurance)—सामाजिक बीमा, कोहोन (Cohon) के शब्दो मे "बीमा के सारे क्षेत्र का वह अग है, जिसमे मजदूरो की उन सकटो से रक्षा होती है, जिनमें या तो वह मजदूरी का ऐसा सौदा करने में असमर्थ रहता है, जिसमें वह अपने एव अपने परिवार का सतोषजनक जीवन निर्वाह कर सके अथवा शारीरिक असमर्थता के कारण सौदे के अपने अश को पूरा नही कर सकता।" ऐसे मुख्य खतरे (क) अस्थायी असमर्थता जैसे दुर्घटना, रोग अथवा बेकारी (ख) अयोग्यता अथवा बुढापे के कारण स्थायी असमर्थता, तथा (ग) मृत्यु, जिसमें विधवाओ अथवा बच्चो के लिए कोई भविष्य निधि नही छोडी गई है, से उत्पन्न होते है।

सामाजिक बीमे की परिभाषा इस प्रकार है कि "यह एक सहकारी युक्ति है, जिसका बेरोजगारी, बीमारी तथा दूसरे आपात कालो मे बीमा कराये हुए लोगो के लिए उचित सहायता का प्रबन्ध करना है, जिससे न्यूनतम जीवन-निर्वाह-स्तर सुनिश्चित हो सके। ऐसी सहायता त्रिपक्षीय (tripartite) निधि से मिले जिसे श्रमिको के, मालिको के तथा राज्य (सरकार) के अशदान से मिला कर बनाया जाता है। साथ ही ऐसी सहायता बिना किसी परीक्षा के, उन व्यक्तियो को अपने अधिकार के रूप में मिले।"

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हमें सामाजिक बीमे के सम्बन्ध मे मुख्य बातें सहज ही में मालूम हो जाती है। वे इस प्रकार है (i) सामाजिक बीमे का उपबन्ध अनिवार्य रूप से होता है, (ii) यह सभी दलो की ओर से अशदान के रूप में है, (iii) इससे प्राप्त होने वाली सुविधाए अधिकार-स्वरूप मिलती है तथा उनके आत्म-सम्मान को कोई ठेस नही पहुचती तथा (iv) सुविधाओ को सीमा में रखने के लिए वे सिर्फ न्यूनतम जीवन-निर्वाह-स्तर बनाए रखने के लिए होती है। इसके अलावा, श्रमिको का अशदान इतना होता है जिसकी अदायगी वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार कर सके। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक बीमा आपात काल (emergency) में सहायता तो कर सकता है लेकिन आपात काल की स्थिति पैदा होने से रोक नही सकता।

ब्रिटेन में सामाजिक बीमे कई प्रकार के है, जहा इस ओर काफी प्रगति हुई है। ये इस प्रकार है बेकारी बीमा (Unemployment Insurance), (ii) स्वास्थ्य बीमा (Health Insurance), (iii) वार्धक्य-निवृत्ति-वेतन योजना (Old-age Pension Scheme), तथा (iv) विधवा तथा अनाथ निवृत्ति वेतन योजना (Widows' and Orphans Pension Scheme)।

भारत में 'सामाजिक बीमा' के सम्बन्ध में जो वृद्धि हुई है उसका वर्णन हम निम्नलिखित विभाग समाजिक सुरक्षा में करेंगे।

१७ सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—आधुनिक राज्य की आर्थिक चेष्टाओ के अन्तर्गत 'सामाजिक सुरक्षा' वाक्याश बहुत प्रचलित हुआ है। 'समाजिक बीमा' वाक्याश की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत है। उपर्युक्त वर्णित सामाजिक बीमा के अलावा इसमें सामाजिक सहायता (social assistance) भी शामिल है। सामाजिक बीमा उनकी सुविधा के लिए है जो अंश दान देते

है और इसकी (सुविधा की) अधिकार रूप में माग कर सकते है। इसके विपरीत सामाजिक सुरक्षा का उपबन्ध सरकारी निधि में से सरकार की ओर से मुफ्त होता है। सामाजिक बीमे में परीक्षण (test) लेने का कोई तरीका नही है। किन्तु सामाजिक सहायता सिर्फ उन्हे दी जानी है जो कुछ निर्दिष्ट शर्ते पूरी करते है। कई जोखिम (risks) का सर्वोत्तम सरक्षण तो सामाजिक बीमे के अन्तर्गत ही होता है। लेकिन कुछ आकस्मिकताए (contingencies) सामाजिक सहायता के लिए ही उचित है। प्राय, यदि सामूहिक निधि (common fund) के दुरुपयोग की आशका है तो अथवा गलत क्लेम (दावो) का डर रहता है तो ऐसी स्थिति मे सामाजिक बीमा ही सर्वोत्तम है। सामाजिक बीमे के अन्तर्गत, बेकारी, बीमारी, वार्धक्य का उपबन्ध होता है। इसके विपरीत सामाजिक सहायता का सम्बन्ध अस्पतालो, सेनिटोरियो, प्रसूति-केन्द्रो, बाल-कल्याण-केन्द्रो तथा स्कूल आदि सस्थाओ से है। किसी देश की सामाजिक सुरक्षा प्रणाली वहा की सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सहायता योजनाओ को मिलाकर बनती है।

सामाजिक सुरक्षा की भावना का उदय राज्य (सरकार) के इस दायित्व के प्रति सजग होने से हुआ कि कुछ आपदाओ से बचने के लिए नागरिको का उचित उपबन्ध होना चाहिए। इससे पूर्व राज्य गरीब नागरिको के अभाव तथा निर्धनता का उपबन्ध मात्र करके अपने कर्त्तव्य को पूरा हुआ मानता था। किन्तु, सर विलियम बेविरिज के अनुसार "अभाव पुर्ननिर्माण के मार्ग पर पाँच दैत्यो में सिर्फ एक है, तथा कई अर्थों में, इस पर आघात करना सब से सहज है। दूसरे दैत्य है, बीमारी (disease), अज्ञान (ignorance), गन्दगी (squalor) तथा आलस्य (idleness)" सामाजिक सुरक्षा का ध्येय इन विशाल तथा भयावह दैत्यो से रक्षा करना है। इस ओर सब से अधिक ध्यान देने का श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I L O) को है जिसके इस ओर रुचि लेने से ही विभिन्न राज्यो में समाजिक सुरक्षा की भावना ने उन्नति की है। द्वितीय महायुद्ध से भी विभिन्न देश के राजनेताओ के अन्त करण में इस भावना की जागृति हुई कि नागरिको के लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाए। ये सुविधाए सिर्फ श्रमिको तक ही सीमित न रहें और इनका लाभ विशद तथा विस्तृत स्तर पर हो। युद्धोत्तर-काल में, इस बात पर विचार किया गया कि जनसाधारण का कल्याण किया जाए, और उसकी मजबूरी तथा निर्धनता से पैदा होने वाली अनेको चिन्ताओं का निवारण किया जाए। तदनुसार, सयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा, तथा न्यूजीलैण्ड आदि देशो में तथा दूसरे देशो में भी जहाँ जनसाधारण के कल्याण की ओर ध्यान दिया जाता था, सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा जैसी बडी-बडी योजनाओ का सूत्रपात किया गया। कई देशो में इस ओर बहुत काम हुआ जिनमें ब्रिटेन की बेविरिज योजना, कनाडा की सामाजिक सुरक्षा के लिए माश रिपोर्ट तथा सयुक्त राज्य अमरीका का मरे डिंगल विधेयक (Murray Dingell Bill) विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

किन्तु भारत मे सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में इतना काम नही हुआ जितना जरूरी था। इसका एक मुख्य कारण तो यह है कि हमारा देश एक उप-महाद्वीप के समान है

और यहां की विशाल जनसंख्या तथा लोगों की गरीबी किसी भी योजना के लिए बाधक सिद्ध होती है जिसे अंशदान के आधार पर चालू किया जाए। इसलिए काफी अर्से तक सामाजिक बीमा योजना सिर्फ बौद्धिक स्तर पर सोच-विचार और वाद-विवाद का विषय बनी रही। बेवरिज योजना के प्रकाशित होने से भारत में बड़ी रुचि उत्पन्न हुई। स्वाधीनता के आगमन, श्रमिक वर्ग में चेतना उत्पन्न होने तथा साम्यवादी विचारों के प्रसार से भारत में भी सामाजिक सुरक्षा के उपायों को भारत में लागू करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। भारत में मजदूरी कम है, रोग आदि का प्रकोप अधिक होता है, बेकारी बड़े पैमाने पर फैली है तथा जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ है। श्रमिक अपनी सारी आय से दैनिक जरूरियात की वस्तुएं कठिनाई से जुटा पाता है। ऐसी दशा में उसके लिए यह असम्भव है कि वह कुछ बचा पाए और विभिन्न आकस्मिकताओं का उपबन्ध कर सके। इस कारण से सामाजिक सुरक्षा योजना भारत के लिए बहुत जरूरी हो जाती है।

श्रमिक को जिन आकस्मिकताओं का अपने जीवनकाल में सामना करना पड़ता है उनमें से किसी के भी पूरे-पूरे निवारण का उपबन्ध नहीं हुआ है। यह सही है कि औद्योगिक दुर्घटनाओं की क्षतिपूर्ति के लिए अधिनियम (Acts) बने हैं, साथ ही प्रसूति सहायता तथा हाल ही में स्वास्थ्य बीमा योजनाएं भी बनी हैं। लेकिन उन्हें किसी भी रूप से सामाजिक सुरक्षा योजना नहीं कहा जा सकता। इस ओर १९४८ में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act, 1948) तथा कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२ पास करके कुछ काम हुआ है। इनमें पहले का वित्तपोषण कर्मचारी राज्य बीमा निधि से होगा जिसे मालिकों तथा कर्मचारियों के अंशदानों और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अनुदानों (grants) से मिला कर बनाया जाता है। प्रशासकीय खर्चे (administrative expenses) के दो-तिहाई के लिए केन्द्रीय सरकार पहले पांच सालों के लिए प्रतिवर्ष अनुदान देती है और साथ ही राज्य सरकारों को औषधीय खर्चों की लागत का भार उठाना पड़ता है। मालिकों तथा कर्मचारियों के द्वारा साप्ताहिक अंशदान की एक निश्चित रकम दी होती है। बीमारी, प्रसूतावस्था, अंगहानि (disablement), आश्रितों को सहायता तथा औषधीय सहायता आदि के लिए सहायता का उपबन्ध (provision) है। अब यह योजना (१९५५ से) कानपुर, पंजाब के सात नगरों नागपुर, बम्बई, कोइम्बटूर, मध्य-भारत के चार केन्द्रों, हैदराबाद, सिकन्दराबाद, कलकत्ता (जिसमें ९॥ लाख मजदूरों को फायदा पहुंचता है), आदि में लागू की गई है। कर्मचारी बीमा भविष्य निधि अधि-नियम (Employees' Insurance Provident Fund Act) के अन्त-र्गत एक रुपये में एक आना कर्मचारियों को तथा एक आना मालिकों को अंशदान के रूप में जमा करना पड़ता है। इसके अन्तर्गत (१९५५ से) छः बड़े उद्योगों में उस हर श्रमिक के लिए उपबन्ध है जिसने एक वर्ष लगातार नौकरी की है और जिसकी मूल मजदूरी (basic wage) ३००रु० प्रति मास से अधिक नहीं है। भविष्य निधि योजना से १९०० कारखानों में काम करने वाले १५ लाख कर्मचारियों को फायदा हुआ है।

१९५५ में भविष्य निधि की कुल रकम सरकारी प्रतिभूतियो (gvoernment securities) के रूप में ३२ करोड रुपये थी।

अब यह आशा की जाती है कि इस प्रकार के प्रारम्भिक सामाजिक सुरक्षा के उपायो से भविष्य के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यापक योजना तैयार करना सम्भव होगा।

निर्देश पुस्तकें

Keynes, J M —General Theory of Employment, Interest and Money

Davison, Sir R —Social Security

Beveridge, W —Social Security Scheme

Hicks, J R —Theory of Wages, 1932

Dobb, M —Wages (Rev Edition), 1946

Industrial Relations Handbook (His Majesty's Stationery Office),

Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 16

Tarshis, L —Elements of Economics, 1946, Ch 39

अध्याय २९

ब्याज

(INTEREST)

१ सकल तथा शुद्ध ब्याज (Gross and Net Interest)—उधार ली गई रकम के उपभोग के एवज मे दी जाने वाली कीमत ब्याज है। यह एवज उत्पादन के तीसरे साधन अर्थात् पूजी की सेवाओं के लिए है। सामान्य रूप से व्याज उधार दी गई राशि पर प्रतिशत के अनुसार लगाया जाता है। अधिकतर ब्याज कही जाने वाली राशि पूजी की सेवाओं की कीमत नही होती। प्रायः ब्याज कही जाने वाली चीज वास्तव मे सकल ब्याज है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, शुद्ध ब्याज सकल ब्याज का छोटा सा अश होता है। ब्याज की दर में फर्क से इसी तथ्य का पता चलता है। विभिन्न कार्यों मे शुद्ध ब्याज की प्रवृत्ति समान होने की होती है यदि प्रतियोगिता (competition) खुली और पूर्ण रहे।

ऋणी साहूकार को जो पूरी रकम चुकाता है, उसे सकल ब्याज कहते है। परन्तु ऋणी जो सब रकम साहूकार को देता है, वह शुद्ध ब्याज नही होता, अर्थात् पूजी की सेवाओ की कीमत नही होती। उसमें अनेक अन्य अशो का समावेश होता है जिनमें से शुद्ध ब्याज केवल एक अश होता है। इसलिए कुल ब्याज मे निहित तत्वो का विश्लेषण आवश्यक है। वे निम्नलिखित हैं।

(क) **शुद्ध ब्याज** (Pure Interest)—यह पूजी अथवा उधार ली हुई रकम की सेवाओ के बदले की कीमत होता है।

(ख) **जोखिम या खतरे के लिए बीमा** (Insurance against Risk)—ऋणदाता जब रुपया उधार देता है तो वह कुछ खतरा उठाता है। इन खतरो के बदले में उसे कुछ रकम मिलनी चाहिए। यह खतरे दो प्रकार के होते हैं (i) व्यक्तिगत, जो ऋण लेने वाले के चरित्र की अविश्वसनीयता के कारण होते है, और दूसरे (ii) व्यापारिक खतरे जो रुपया लगाये जाने वाले किसी व्यवसाय के चढाव-उतार के कारण हो सकते है। इस प्रकार ऋणदाता को, एक तो यह भय हो सकता है कि ऋण लेने वाला शायद उसका रुपया और ब्याज वापस न करे, अथवा कर्जदार व्यापार में ही घाटा खा जाय। जितना ही अधिक इन बातो का भय होगा, उतना ही अधिक द्रव्य बीमा (insurance money) के रूप में ऋणदाता लेना चाहेगा।

(ग) **प्रबन्ध की मजदूरी** (Wages of Management)–भुगतान का कुछ अश प्रबंध की मजदूरी के रूप में हो सकता है। ऋणदाता को हिसाब-किताब रखना पडता है और थोडे-थोडे समय के लिए ऋण देने की व्यवस्था करनी पडती है, इस तरह रुपया उधार देना या साहूकारी करना उसका पूरे समय का धन्धा हो जाता है।

(घ) फिर, असुविधाओ के वदले मे भी कुछ भुगतान होता है। जव कोई अपना रुपया दूसरे को उधार देता है, तो एक अवधि तक वह उस रुपये के अधिकार से वचित हो जाता है। वह इच्छा भी करे, तो भी उसके उपभोग में असमर्थ रहता है। ऐसी दशा में लाभकारी अवसर (सयोग) हाथ से निकल सकते है। असुविधा दो प्रकार की होती है। हो सकता है, ऋणदाता उस समय रुपया वापस न पा सके, जव उसे आवश्यकता हो, और दूसरे से व्याज पर रुपया लेना पडे या उसे तव रुपया वापस मिले जव उसे सुरक्षापूर्वक लगाने का अवसर न हो, और इसलिए रुपया निष्क्रिय पडा रहे और उससे व्याज भी न मिल सके। इस प्रकार की हानियो के लिए उसे क्षतिपूर्ति मुआवजे के रूप में भी कुछ मिलना चाहिए। इसलिए वह शुद्ध व्याज के अतिरिक्त भी कुछ वसूल करता है।

इन वातो को ध्यान में रखने से यह वात स्पष्ट हो जायगी कि गाव के महाजन की व्याज की दरें प्रतियोगिता के होते हुए भी क्यो इतनी ऊँची हैं। आशकाए और असुविधाये वहुत है। उसी प्रकार वस्तुएँ बन्धक रखने वाले महाजन (pawn-brokers) वार्षिक आधार के अनुमान से वडी ऊँची व्याज दरें लेते प्रतीत होते है परन्तु उन्हें छोटे-छोटे अलग-अलग हिसाब रखने आदि में काफी असुविधाओ को सहना पडता है। इसी से यह भी ज्ञात हो जायगा कि सरकार, विशेष करके वह जिस की आर्थिक स्थिति अच्छी है, व्याज की वडी हल्की दरो पर रुपया उधार ले सकती है। उनमें ऋणदाता को भय या असुविधा वहुत कम रहती है और व्याज मुख्यत शुद्ध व्याज होता है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण ब्रिटिश सरकार की सचित वार्षिकी (Consols)[1]—ब्रिटिश सरकार की दीर्घावधि की प्रतिभूतियो पर मिलने वाला विशुद्ध व्याज है।

२ व्याज की दरो मे अन्तर (Differences to Interest Rates)—द्रव्य मार्केट में एकाधिकार प्रतियोगिता (monopolistic competition) इतनी सीमा तक होती है जितनी सीमा तक विभिन्न ऋण लेने वालो से व्याज की भिन्न दरें ली जाती है। यदि एक ही शेयर बाजार में एक ही अवधि में गिना जाय तो शुद्ध व्याज समानता की ओर चलता है। जो अन्तर ह, वे सकल व्याज में होते हैं। दूसरे शब्दो में व्याज की दरो में अन्तर ऋणदाता द्वारा उठाए गए खतरो और असुविधाओ के आधार पर होते है।

शुद्ध व्याज अलग-अलग उद्योगो में लगाने पर, जवकि बाजार एक ही न हो, निम्नलिखित कारणो से अलग-अलग हो सकता है —

(क) दूरी के कारण अन्तर (Differences due to Distance)—लोग दूरी की अपेक्षा निवास के निकट ही रुपया लगाना अधिक पसन्द करते है। इससे पूजी की अपेक्षाकृत गतिहीनता के कारण माग और पूर्ति में अन्तर पैदा हो सकता है।

---

1 *Consols = n pl.—Short word for consolidated annuities* = सचित वार्षिकी

(ख) **समय का अन्तर** (Differences due to Time)—यदि लोगो को अधिक लम्बे समय के लिए अपना रुपया देना पडता है, तो वे अन्य खतरो एवं असुविधाओ के होने पर भी व्याज की अधिक ऊची दर पाने की आशा करते हैं। यदि रुपया थोडी-थोडी अवधि के लिए वार-वार देना पडता है, तो प्रवन्ध की असुविधा के कारण सकल व्याज बढ जायगा। परन्तु वह शुद्ध व्याज नही होता।

(ग) **ऋण की मात्रा में अन्तर** (Differences due to the Amount of Loans)—साधारणतया व्याज की दर और ऋण की मात्रा में विपरीत सम्बन्ध है। जब ऋण की रकम अधिक होती है तो व्याज की दर कम होती है।

सकल व्याज में उपर्युक्त वातो के अतिरिक्त निम्नलिखित कारणो से भी अन्तर हो सकता है—

(i) **सामाजिक सम्मान में अन्तर** (Differences in social Esteem)—ईमानदारी के लिए अधिक विख्यात व्यक्ति नीची व्याज की दर पर ऋण ले सकता है। यह पहले वताए गए व्यक्तिगत खतरे के कम होने के कारण होता है।

(ii) **उत्पादन शक्ति में अन्तर** (Differences in Productivity)—जहा पर उत्पादक को पू जी से अधिक लाभ हो सकता है, वहा वह अधिक व्याज देने के लिए प्रस्तुत होगा। परन्तु ऐसे व्यापार अधिकाशत सट्टेवाजी के होते है और ऊँचा व्याज अधिक खतरो के कारण ही होता है। इसके अतिरिक्त **प्रतियोगिता की पूर्णता की अवस्था में, जैसा कि हम वतायेंगे, पू जी की सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा उसके कारण शुद्ध व्याज की दर समानता की ओर प्रवृत्त होती है।** किसी विशेष व्यवसाय की विशेष लाभ की सभावनाए, यदि अधिक खतरे एव असुविधाओ से उचित नहीं ठहरती, तो प्रतियोगिता की शक्ति से विलुप्त हो सकती है, परन्तु यदि प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तो इस प्रकार के अन्तर वने रह सकते है।

पू जी की उत्पादन शक्ति में विभिन्न देशो में अन्तर हो सकता है। उदाहरण के लिए नए देशो में पू जी की माग अधिक होती है और पूर्ति कम। इसमें पू जी की सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक होती है, इसलिए व्याज की दर भी ऊँची होती है। इसका कारण पहले वताई गई विभिन्न स्थानो में पू जी की गतिहीनता होती है। कुछ अश में वह अधिक खतरे के कारण भी होती है। इस दशा में सकल व्याज अधिक होगा, परन्तु शुद्ध व्याज नही।

इसलिए व्याज की दरो का अन्तर रुपया उधार देने के खतरो एव असुविधाओ के आधार पर होता है। इसका अपवाद केवल तव होता है, जब हमें किसी एक ही वाजार से व्यवहार नही करना होता। **एक ही वाजार में शुद्ध व्याज की दर लगभग एक ही होती है।**

सक्षेप में व्याज के स्वरूप की व्याख्या रिचार्ड यगडल[1] ने इस प्रकार की है—

---

1 Richard Youngdahl on "Structure of Interest Rates" Federal Review Bulletin, July, 1947.

"व्यक्तिगत रूप से व्याज की शर्तें ऋणदाता और ऋण लेने वाले के बीच परस्पर तय होती है। इसमें उधार लेने वाले व्यक्ति की उधार लेने की शक्ति आदि भी निर्णायक होते हैं। साथ ही उसकी दूसरी जगह से उधार लेने की शक्ति, उधार की रकम तथा अदायगी तिथि, व्यापार की स्थिति, व्यापार-क्षेत्र में सम्बन्ध तथा बैंक आदि प्रतिभूतियाँ (securities), सबका ध्यान रखा जाता है। इसके अलावा दूसरी कई बातें जिनका उधार लेने वाले अथवा उधार से सीधा सम्बन्ध नही होता बल्कि उधार देने वाले बैंक अथवा बैंकिग से सम्बन्धित व्यापारी आदि का होता है, उनका भी व्याज की दर पर प्रभाव पडता है। उधार देने वाले बैंक का यह आकार है। साथ ही उसका स्थापनकेन्द्र और वह देश जहाँ उधार दिया जाता है, महत्त्वपूर्ण है।

व्याज के सिद्धान्त
(THEORIES OF INTEREST)

३ व्याज का उत्पादन सिद्धान्त (Productivity Theory of Interest)---व्याज के स्पष्टीकरण के लिए कई सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ पुराने अर्थशास्त्रियों का विचार था कि व्याज उसी रूप में वस्तुओ का उत्पादन करता है, जिस प्रकार से भूमि द्वारा फसलो की पैदावार होती है। उनका मत था कि व्याज की विद्यमानता इस कारण से है कि पूजी द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो पाता है। निस्सन्देह, पूजी में उत्पादन शक्ति है। किंतु ठीक भेडो के एक झुड अथवा उपजाऊ भूमि की तरह उत्पादक नही होती। पूजी इस अर्थ में उत्पादनशील है कि श्रम पूजी द्वारा सहायता पा लेने पर, पूजी के अभाव की अपेक्षा, अधिक उत्पादन करता है। एक मछुआ जाल की सहायता से जितनी मछलियाँ पकड सकता है, उतनी उसके बिना नही। एक किसान जितना ट्रेक्टर की सहायता से उत्पन्न कर सकता है, उतना उसके बिना नही कर सकता।

किन्तु पूजीगत माल से तैयार होने वाले भौतिक उत्पादन से व्याज की व्याख्या नही होती। यदि उधार देने वाले बिना व्याज असीम राशि उधार देने लगें तो व्यापार उस सीमा तक बढेगा कि वस्तुओ के उत्पाद मे दूसरे खर्चे (charges) शामिल होंगे लेकिन व्याज नही। व्याज लागत में नहीं आएगा। लेकिन व्याज वह लागत है जिसे प्रत्येक उद्यमी को जोडना चाहिए, जिससे कालान्तर में कीमत में व्याज सहित सारी लागत आजाए। चूकि व्याज रहित पूजी की माग में वृद्धि होगी, और पूर्ति में कमी, व्याज का उदय होना स्वाभाविक है। यदि कुछ उधार देने वाले बिना व्याज देने को तैयार हो तो भी प्रतियोगिता के कारण यह उन्ही लोगो को मिलेगा जो व्याज अदा करेंगे न कि अदा न करने वालो को। अत व्याज की व्याख्या उत्पादन-शक्ति (productivity) न होकर दुर्लभता (scarcity) है।

उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उधार लेने वाले क्यो व्याज देते हैं, परन्तु उससे यह बात नही ज्ञात हो सकती कि व्याज दरें कैसे निर्धारित की जाती हैं। यदि व्याज केवल उत्पादन शक्ति पर (सीमान्त उत्पादन पर नहीं)

निर्भर होता, तो पूंजी की उत्पादन शक्ति के अन्तर के आधार पर ही ब्याज का अन्तर भी होता। परन्तु व्यवहार मे शुद्ध ब्याज की दर एक देश में एक-सी ही रहती है, और यदि पूंजी श्रम को अधिक उत्पादन करने में सहायक होती है, तो इस अतिरिक्त उत्पादन में से कितना पूंजी के कारण होता है और कितता श्रम से, क्योकि विना श्रम के पूंजी तो कुछ भी पैदा नही करती और फिर उपभोग के उद्देश्य के लिए दिए गए ऋणो को क्या मानना होगा ? वे उत्पादन तो करते नही किन्तु ब्याज तो उन पर भी देना ही होता है। इन पर हम वाद मे विचार करेंगे, किन्तु इन आपत्तियो पर विजय पाई जा सकती है, यदि हम केवल पूजी की उत्पादन शक्ति की वात न करके सीमान्त उत्पादन शक्ति पर भी ध्यान रखें।

४ ब्याज का त्याग अथवा प्रतीक्षा सिद्धान्त (Abstinence or Waiting Theory of Interest)—उत्पादन सिद्धान्त माग की दृष्टि से ब्याज की व्याख्या करने की चेष्टा करता है, और त्याग सिद्धान्त पूर्ति की दृष्टि से ब्याज की समस्या का समाधान करता है। सीनियर (Senior) ने सर्वप्रथम वताया कि वचत में त्याग का अश निहित है। वचत उपभोग के त्याग का एक कार्य है। चूकि त्याग करने में कष्ट होता है, इसलिए उसके लिए लोगो को कुछ प्रतिदान या पुरस्कार चाहिए। आय का एक अश व्यय करने की अपेक्षा वचत करने वालो को ब्याज के रूप में यह पुरस्कार मिलता है।

त्याग के सिद्धान्त की इस तर्क से आलोचना की गई है कि इसमें कष्ट उठाने का भाव सन्निहित है, जव कि वहुत से धनी लोग विना किसी प्रकार की असुविधा के ही वचत कर लेते है। इसलिए मार्शल ने 'त्याग' के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द रख कर वचत में प्रतीक्षा का भाव सन्निहित कर दिया। जव कोई व्यक्ति वचत करता है, तो वह उपभोग का सर्वदा के लिए परित्याग नही करता वरन् वह केवल वर्तमान उपभोग को किसी भावी समय या तिथि के लिए स्थगित कर देता है। इस वीच उसे प्रतीक्षा करनी होती है। किन्तु, चूकि अधिकाश लोग प्रतीक्षा करना पसन्द नही करते इसलिए इस उपभोग को स्थगित करने के लिए प्रोत्साहन रूप में किसी प्रलोभन की आवश्यकता होती है। ब्याज वह प्रलोभन है।

कुछ 'प्रतीक्षा' ब्याज प्राप्ति के प्रलोभन के विना भी हो सकती है। कुछ लोग ब्याज की नकारात्मक दर (negative rate) तक भी प्रतीक्षा कर सकते है। परन्तु इस प्रकार मी वचत पूजी की माग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही होती। अन्य लोगो को वचत के लिए प्रलोभन के रूप में ब्याज देना ही चाहिए और उस दशा में प्रतीक्षा करने में असुविधा होगी ही। वचत की सीमान्त वृद्धि या प्रतीक्षा को उत्पादन की माग की पूर्ति के लिए अग्रणी करने के निमित ब्याज की दर भी पर्याप्त ऊची होनी चाहिए। ब्याज की दर उसी स्तर पर नियत की जायगी, जिसमें प्रतीक्षा की पूर्ति माग के समान होगी।

इस सिद्धान्त में सचाई का पर्याप्त अश है, किन्तु यह उस शक्ति का स्पष्ट विश्लेषण नही करती जो कि पूजी के लिए माग के पक्ष में क्रियाशील है।

५. ब्याज का आस्ट्रियन या एगियो सिद्धान्त (The Austrian or Agio Theory of Interest)—इसको मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी कहते हैं। पहले इसे "जान रे" ने सन् १८३४ में प्रस्तुत किया और उसको अन्तिम रूप आस्ट्रिया के प्रमुख अर्थशास्त्री बाम बावर्क (Bohm Bawerk) ने दिया। बाद में साधारण संशोधनो के साथ यह सिद्धान्त फिशर आदि अन्य अमरीकन अर्थशास्त्रियो में भी लोकप्रिय हो गया।

बाम बावर्क के सिद्धान्तो का सार यह है कि ब्याज की उत्पत्ति इसलिए होती है कि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान सामग्री की अधिक इच्छा रखते हैं। इससे विद्यमान वस्तुओ का महत्त्व बढ जाता है। "नौ नकद न तेरह उधार" की कहावत इस बात की पुष्टि करती है। भविष्य के संतोष की अपेक्षा वर्त्तमान के संतोष को अधिक महत्त्व दिया जाता है। दूसरे शब्दो में, वर्तमान के दृष्टिकोण से देखने पर भविष्य के संतोष का मूल्य कम होता है। ब्याज इसी घाटे की पूर्ति करता है, जो जरूर दिया जाना चाहिए, जिससे लोग रुपया उधार देने अथवा वर्तमान संतोष को भविष्य की तिथि के लिए स्थगित करने के लिए आकर्षित या प्रलुब्ध किए जा सकें। ब्याज भविष्य के संतोष को वर्त्तमान संतोष के समकक्ष बनाने के उद्देश्य से दिया जाता है। इस समय किसी को सौ रुपये दे देने को आकर्षित करने के लिए वर्ष भर के बाद केवल सौ रुपये वापस करने का वचन देना पर्याप्त नही है। उधार लेने वाले को कुछ और अधिक देना होगा अन्यथा उधार देने वाला समझेगा कि वह घाटे में है। मानव मस्तिष्क की रचना ऐसी है कि भविष्य की क्रय शक्ति का अन्दाजा मौजूदा क्रय शक्ति की तुलना में घटाकर आंका जाता है।

लोग भविष्य की संतुष्टि की अपेक्षा वर्त्तमान की संतुष्टि को क्यो अधिक पसन्द करते है, बाम बावर्क ने इसके तीन कारण बताए हैं, एक तो "भविष्य के मूल्यांकन को कम करना है।" भविष्य स्वभावत वर्तमान की अपेक्षा कम निश्चित प्रतीत होता है। दूसरे, वर्तमान की आवश्यकताओ एवं प्रभावो का अनुभव भविष्य की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। परिणाम यह होता है कि वर्तमान वस्तुओ की मांग भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक होती है। तीसरे, भविष्य की अपेक्षा टेकनीकल रूप से वर्त्तमान माल का अधिक महत्त्व होता है" ऐसा इसलिए होता है कि समय उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणालियो के अधिक उपयोग का अवसर देता है, जिनसे वर्त्तमान से तुलना करते हुए भविष्य तक अधिक सामग्री का निर्माण किया जा सकता है।

६. फिशर द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन (Fisher's Statement of the Theory)—फिशर **"समय अधिमान"** (time preference) पर जोर देते हैं। लोग भविष्य की अपेक्षा उसी प्रकार के समान वर्तमान संतोष को अधिक पसन्द करते हैं। इस प्रकार वे अपनी आय को उसी समय व्यय करने के लिए व्यग्र रहते हैं। यह व्यग्रता की मात्रा, आय की मात्रा, आय के वितरण का काल तथा उससे भविष्य में संतोष पाने की निश्चिन्तता की मात्रा, व्यक्ति के स्वभाव एवं चरित्र पर निर्भर करती है। अधिक आय वालो की वर्तमान आवश्यकताओ का सन्तोष

अधिक पूर्णता के साथ हो सकता है, और इस प्रकार वे गरीबों की अपेक्षा भविष्य की दर कम आकेंगे।

आय के काल-वितरण के सबन्ध में तीन स्थितियों का अनुमान किया जा सकता है। किसी की आय जीवन-भर बराबर रह सकती है, आयु के साथ बढ़ सकती है, तथा आयु के साथ घट सकती है। यदि वह एक समान है तो व्यय करने की व्यग्रता भविष्य को बट्टा करने की दर, आय की मात्रा तथा व्यक्ति के स्वभाव से प्रभावित एव निर्धारित होगी। यदि आयु के साथ अधिक होती है, तो इसका अर्थ यह है कि भविष्य अच्छी तरह सुरक्षित है। तो उस दशा मे भविष्य की दर ऊची करने की प्रवृत्ति होगी। यदि आय उम्र बढने के साथ घटती है, तो इसके विपरीत होगा अर्थात् भविष्य का मूल्याकन अल्प दर से किया जायगा।

जहा तक निश्चितता की मात्रा का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि आय से भविष्य में सन्तोप पाने की जितनी ही अधिक निश्चितता होती है, उतनी ही अवधि अधिमान या भविष्य के मूल्याकन की मात्रा कम होती है और उससे विपरीत भी होता है।

व्यक्ति के आचरण का भी समय की पसन्दगी पर प्रभाव पडता है। एक भविष्यद्रष्टा व्यक्ति अपव्ययी की अपेक्षा भविष्य का मूल्याकन कम दर पर करेगा। जीवन-प्रत्याशा (expectation of life) का प्रभाव समय अधिमान की दर पर भी पडता है। यदि किसी व्यक्ति को लम्बी उम्र का भरोसा हो तो उसको मौजूदा समय में खरीदारी की कम इच्छा होगी। इसी भाति उस व्यक्ति की भी यही दशा होगी जो मरने के बाद धन-सम्पत्ति आदि छोडने का अभिलापी है।

किसी व्यक्ति के समय अधिमान की दर इस बात पर भी आधारित है कि उस की आय का कितना भाग उधार मागा जा रहा है। उधार का भाग जितना बडा होगा ब्याज की दर उतनी ऊची होगी, चूकि ऐसा करने में उधार देने वाले को अधिक नकदी का त्याग करना पड़ता है।

इस प्रकार, व्यक्तिगत अवधि-अधिमान इस तरह निर्धारित होने के बाद ब्याज की दर के समान हो जाती है। एक व्यक्ति, जो बाजार की ब्याज दर की अपेक्षा अवधि अधिमान की अधिक ऊची दर रखता है, वह अपनी तीव्र आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ऋण लेने को प्रेरित होता है। यदि उसकी अवधि-अधिमान की दर बाजार की ब्याज दर से कम होती है, तो वह ऋण देगा और इससे लाभ उठायेगा। इस प्रकार व्यक्ति अपनी आय धारा का प्रभाव उधार देकर या उधार लेकर परिवर्तित करेगा। इस क्रिया से ब्याज की दर अवधि-अधिमान अथवा समय की पसन्दगी की दर के समान हो जायगी।

७ नव-शास्त्रीय सिद्धात (New Classical Theory)—नव-शास्त्रीय अर्थवेत्ताओ का यह कहना था कि पूजी के सम्बन्ध में ब्याज की दर का वही कार्य है जो वस्तुओं के सम्बन्ध में कीमत का होता है—अर्थात् माग और पूर्ति के बीच साम्य स्थापित करना। किसी वस्तु के सम्बन्ध मे क्या होता है? मान लो गेहूँ की माग

पूर्ति की अपेक्षा अधिक है। इसका फल यह होगा कि कीमत गिरेगी और कम आवश्यक खरीदारो को एक तरह से चेतावनी मिल जायगी। इस प्रकार माग कम होकर पूर्ति के बराबर होगी। अब मान लो पूर्ति माग से अधिक है। इससे कीमत घटेगी और माग में वृद्धि होने से मडी से पूर्ति की मात्रा कम हो जायगी। इस प्रकार कीमत के घटने बढने से माग और पूर्ति एक दूसरे के बराबर हो जाते है। ठीक इसी प्रकार का कार्य ब्याज की दर करती है। यदि माग अर्थात् नियोजन (investment) पूर्ति से अर्थात् बचत (savings) अधिक है तो ब्याज की दर ऊची होगी। इससे नियोजन पर रुकावट होगी जिससे यह घट कर बचत के स्तर पर आ जायगा। इस प्रकार नि (नियोजन) ब (बचत) के समान हो जायगा। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि यदि माग में स्थायी रूप से वृद्धि हुई है तो इसकी पूर्ति के लिए नई पूजी का निर्माण होगा। लेकिन इसमें समय लगेगा। तब तक इसकी पूर्ति ब्याज की दर मे वृद्धि होने से होगी। इस प्रकार ब्याज की दर मे अन्तर से ही माग ओर पूर्ति में समानता होती है। इसके विपरीत यदि **नियोजन से बचत की मात्रा अधिक** है तो ब्याज की दर घटेगी। इससे बचत की मात्रा घटेगी और नियोजन में वृद्धि होगी। इस प्रकार ब्याज की दर बचत तथा नियोजन के बीच साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित करने का काम करती है। इस तरह नि (नियोजन) तथा ब (बचत) में साम्यावस्था स्थापित हो जायगी। सक्षेप में, ब्याज की दर उस स्थान पर स्थिर होगी जहा बचत और माग दोनो बराबर है।

इस सिद्धात की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की गई है

(1) कुछ बचत स्वेच्छा से हो जाती है। उस पर ब्याज की दर का कोई प्रभाव नही पडता। साम्य लाने के सम्बन्ध में ब्याज की दर की महत्ता बढाकर कही गई है। (ii) एक कडी आलोचना कीस (Keynes) द्वारा की गई है। उनका कहना है कि इन सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि समाज की आय उतनी ही बनी रहती है जो कि वास्तव में ठीक नही है। यदि आय दी हुई है तो यह सिद्धान्त ठीक है। उदाहरणार्थ, ब्याज की ऊची दर से बचत में वृद्धि होगी लेकिन इस बात को यहा भुला दिया जाता है कि इस ऊची दर का आय पर क्या प्रभाव पडेगा। ऊची दर के प्रभाव से पूजी का लगाना कम हो जायगा। इससे आय गिर जायगी और फिर बचत करने की शक्ति भी कम हो जायगी। कीस के कथनानुसार साम्य की स्थापना ब्याज की दर पर नही बल्कि आय के स्तर पर निर्भर है। उनका कहना है कि साम्य ब्याज की दर में परिवर्त्तन द्वारा नही होता। यह काम आय में परिवर्त्तन द्वारा होता है। उनका कहना है कि नि (नियोजन) तथा व (बचत) सदैव समान रहते है और यह समानता आय स्तर में परिवर्त्तन के कारण होती है, न कि ब्याज के दर में परिवर्त्तन से।

८ कीस का ब्याज सिद्धात—तरल अधिमान (Keynes' Theory of Interest—Liquidity Preference)—अपनी **"कार्य नियोजन, ब्याज तथा द्रव्य के सामान्य सिद्धात"** नामक युगान्तरकारी पुस्तक में स्वर्गीय लार्ड कीस ने ब्याज के सिद्धात को एक नया दृष्टिकोण दिया। उनके मतानुसार **"ब्याज एक निश्चित**

अवधि के लिए द्रवता के परित्याग का पुरस्कार है।"[1]

एक निश्चित आय वाले व्यक्ति को पहले यह निर्णय करना होता है कि वह कितना उपभोग करे और कितनी बचत। पहली बात कीस के शब्दों में, व्यक्ति की उपभोग-वृत्ति (propensity to consume) पर निर्भर करेगी। इस वृत्ति के पूर्ण होने पर व्यक्ति अपनी आय के कुछ अंश को बचाएगा। अब उसे दूसरा निर्णय करना होगा। क्या वह अपने साधनों को द्रव्य (money) के रूप में रखे जिससे किसी भविष्य समय पर वस्तुओं, सेवाओं तथा क्रय शक्ति पर वह तात्कालिक नियन्त्रण कर सके। अपने साधनों में से कितना वह चालू द्रव्य (नकद या बिना ब्याज के बैंक में अमानत) के रूप में रखेगा और कितना वह उधार देगा, यह कीस के कथनानुसार तरल अधिमान पर निर्भर होगा। उधार देने की जितनी ही कम इच्छा होगी उतना ही अधिक तरल अधिमान होगा। जैसा कि मेयर्स ने कहा है, "तरल अधिमान वह अधिमान है जिसमें दूसरे पर दावों की अपेक्षा समान राशि की नकदी हो।" यदि भविष्य की अपेक्षा मैं अत्र समान राशि का माल तथा नकदी रखना चाहूँ, तो मेरे अधिमान की दर सकारात्मक (positive) होगी। किन्तु यदि मैं समान राशि वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में लेना चाहूँ तो इसे अधिमान की नकारात्मक दर (negative rate of preference) कहेंगे।

किसी व्यक्ति विशेष का तरल अधिमान (liquidity preference) कई बातों पर निर्भर है। प्रश्न यह है कि लोग अपने साधनों को द्रव्य अर्थात् नकद रुपयों के रूप में क्यों रखते हैं, जब कि उधार देने से उनको ब्याज मिल सकता है। इसके कई कारण हैं (i) लोग नकद इसलिए रखते हैं, जिससे "आय की प्राप्ति और व्यय के बीच के समय का काम चलाया जा सके।" इसी का दूसरा नाम द्रव्य हेतु (money motive) है। अधिकांश लोगों को सप्ताह या महीने में आय मिलती है, जब कि खर्च हर दिन चलता रहता है। इसलिए नकद रुपया चालू भुगतान करने के लिए पास रहना जरूरी होता है। उसकी मात्रा व्यक्ति की आय, आय प्राप्त होने की अवधि, तथा स्थान विशेष में प्रचलित भुगतान के तरीकों पर निर्भर करती है।

(ii) व्यापारियों और उद्योगपतियों को भी अपने साधनों के कुछ अंश को नकद रूप में रखना होता है, जिससे विभिन्न प्रकार के भुगतान किये जा सकें। इस तरह द्रव्य का कार्य विनिमय करना है। कीस के अनुसार इसे "व्यापार हेतु" (Business Motive) कहते हैं।

इन दोनों हेतुओं को एक वर्ग अर्थात् "कार्य सम्पादन हेतु" (transaction motive) कह कर किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सौदा (कार्य-सम्पादन) तो उपभोक्ता तथा उद्यमी (entrepreneur) दोनों ही को करना पड़ता है।

(iii) अप्रत्याशित आवश्यकताओं के खर्च के लिए भी नकद रुपया रखा जाता

1. Keynes General Theory of Employment, Interest and Money, p. 167.

है। ऐसे मौको पर ऋण लेना शायद असभव हो अथवा उसके लेने से हानि की आशका को, जैसे कि सिक्युरिटियो को नुकसान में बेचना पडे। इस प्रकार द्रव्य रखने को कीस "पूर्वविधान हेतु" (Precautionary motive) कहते हैं।

(iv) द्रव्य को जमा करने का एक कारण और भी है। एकमुश्त रकम लगाने से पूर्व यह जरूरी है कि द्रव्य को धीरे-धीरे जमा किया जाए। इसलिए, कुछ समय के लिए पैसे को अपने पास रखना पडता है। सक्रमण काल (transition period) में पैसे को नक़दी के रूप में रखना जरूरी है, जबकि नियोजक (investor) ने एक किस्म की आस्तियाँ (assets) बेच दी हो और इसकी बजाए दूसरे काम में रुपया लगाने की देखभाल कर रहा हो। इस प्रकार पैसा रखने को "वित्तीय हेतु" (financial motive) कहते हैं।

कुछ लोग सट्टेबाजी के लिए भी नकद रकम रखते हैं। इसे "सट्टा हेतु" (speculative motive) कहते हैं। भविष्य में ब्याज की दर ऊची चढने की सभावना हो सकती है और ऋणदाता ऐसे अवसर से लाभ उठाने की प्रतीक्षा में हो सकता है। व्यापार में बडी अनिश्चितता है। इसलिए पैसा लगाने वाले तथा वित्तीय सस्थाए बडे सशय में रहते हैं और अपने पास नकद पैसा रखने के लिए बाध्य रहते हैं। ऐसी स्थिति १९३० की मदी में हुई।

सट्टे हेतु (speculative motive) के लिए द्रव्य रखने का विचार कीस के आधार पर नया विचार है। स्पष्ट ही, यह पूर्वविधान हेतु (precautionary motive) के अन्तर्गत मूल्य के भडार (store of value) को बताता है। किन्तु इसे बनाने का कारण दूसरा है। इस हेतु से रखा गया नकद पैसा सट्टेबाजी जैसे लाभ कमाने के लिए है और इस काम को बाड[1] आदि की सहायता से किया जा सकता है, जिनकी कीमत घटती बढती रहती है। यदि बाँड आदि की कीमत बढ़ने की आशा होती है, अर्थात् ब्याज के दर की गिरने की आशा होती है तो व्यापारी बाँड खरीदेंगे जिससे वास्तव में बढने पर बेच सकें। लेकिन, यदि, बाँड की कीमतो की गिरने की आशा है अर्थात् ब्याज के दर की चढने की, तो पूजी हानि से बचने के लिए व्यापारी बाँड बेचेगे। इस गतिशील ससार में कुछ भी निश्चित न होने से, विशेष रूप से जबकि भविष्य के बारे में सारे अदाज अनिश्चित आधार पर लगाए जाते हैं, बाँड की सभावित परिवर्तनशील कीमतो (अथवा ब्याज की दर) के लिए व्यापारी नकद रुपया सट्टे के कामो के लिए अपने पास रखेंगे जिससे लाभ कमाया जा सके।

इस हेतु के अन्तर्गत रखी जाने वाली धन की राशि, ब्याज की दर से निश्चित होगी। यदि ब्याज की दर गिरने की आशा है अर्थात् बाँड की कीमत चढ़ने की, तो व्यापारी बाँड इसलिए खरीदेंगे कि कीमत चढने पर उन्हें बेचा जाय। दूसरे शब्दो मे

---

1 All securities and other such papers which yield a fixed and known amount of interest over a period of time are known as bonds

सट्टे के लिए ब्याज की कम दर की अपेक्षा ऊची दर पर नकदी की माँग कम होगी। स्पष्ट शब्दो में स्थिति इस प्रकार होगी ब्याज की दर कम होने पर अधिक रखा जाएगा और ब्याज की दर ऊची होने पर कम रखा जायगा। अकगणित (Algebra) के अनुसार स्थिति यह होगी इस हेतु के अन्तर्गत द्रव्य की माग ब्याज की दर के अनुसार घटाता हुए कृत्य (decreasing function) है। निम्नलिखित रेखाचित्र में इस सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार किया गया है —

अ क्ष रेखा के साथ सट्टे के लिए द्रव्य की माग (कीस इसे 'क्रियात्मक शेष' 'active balances' के नाम से पुकारते है) दिखाई गई है, और अ य रेखा के साथ ब्याज की दर। ल प तरल अधिमान (liquidity preference) है, जिसे ढाल पर वक्र के द्वारा दिखाया गया है, और यह दाईं ओर को मुडता है। इससे ब्याज की ऊची दर का पता चलता है। सट्टे के लिए माग जितनी कम होगी वक्र की उपर्युक्त स्थिति होगी, तथा इसके विपरीत स्थिति वैसे ही वदल जाएगी। दाई ओर अनुसूची अधिक लोचदार होती है और ब्याज की वहुत कम दर पर वाड की कीमत बहुत ऊची है, और ब्याज की दर में जरा सी गिरावट से, सट्टे के लिए खरीदने की वहुत अधिक माग होती है, क्योकि कीमतो के किसी भी क्षण गिरने की आशका रहती है।



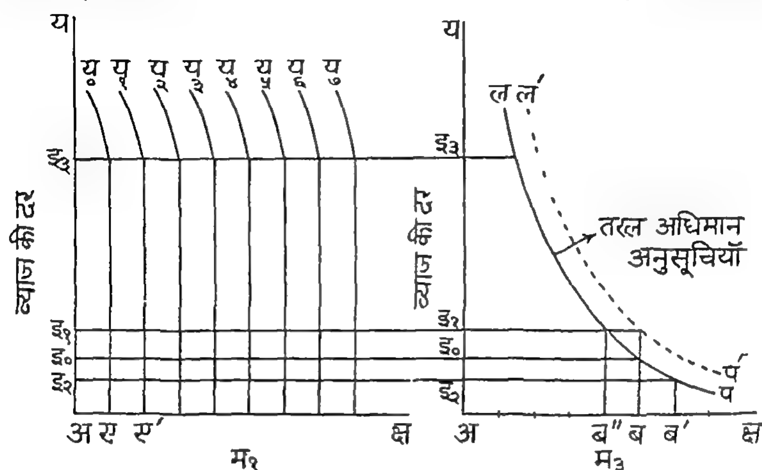
रेखाचित्र न० ७०

ये पाच हेतु परस्पर मिलकर द्रव्य की माग का निर्णय करते ह। कीस के अनुसार पहले तीन हेतुओ के अन्तर्गत रखा गया द्रव्य "अक्रियात्मक शेष' (inactive balance) कहलाता है और अन्तिम हेतु के अन्तर्गत रखा गया 'क्रियात्मक शेप'। इसके कारण स्पष्ट है। अक्रियात्मक शेय मुख्य रूप से आय का कृत्य है, लेकिन क्रियात्मक शेप ब्याज की दर (जैसा ऊपर दिखाया गया है) के कृत्य है। मान लीजिए कि हम पहले को म$_1$ तथा दूसरे को म$_2$ के नाम से पुकारते है। इसलिए, किसी विशेष समय में द्रव्य की कुल माग का स्वरूप म$_1$+म$_2$ होगा।

जहा तक द्रव्य की पूर्ति का प्रश्न है, वह किसी देश के सेंट्रल वैंक की नीतियो द्वारा निश्चित होता है। द्रव्य की कुल सप्लाई में, सिक्के (coins)+वैंक नोट+वैंक निक्षेप (deposits) शामिल होते है। इसे हम म कहते है।

अव हमारे सामने द्रव्य की माग का (रखना—to hold), तथा द्रव्य की पूर्ति का (रखना—to hold), स्पष्ट चित्र है। अव हमें यह देखना है कि वास्तव मे ब्याज की दर का निर्णय कैसे होता है। निम्नलिखित रेखाचित्र का ध्यान से अध्ययन कीजिए।

बाईं ओर के रेखा चित्र में अक्रियात्मक शेष दिखाया गया है अर्थात् $म_1$। यह आय कृत्य के रूप में है। जैसे आय य से $य_1$ की ओर बढ़ती है, $म_1$ की माग अ ए से बढ़कर अ ए'



रेखाचित्र न० ७१

हो जाती है, और यह क्रम इसी प्रकार चलता है। $म_1$ पर ब्याज की दर का प्रभाव नही पडता, प्रभाव तभी पडता है जब ब्याज की दर बहुत ऊची हो जाती है—अर्थात् $इ_3$ से अधिक जैसा कि हमारे रेखा चित्र से स्पष्ट है। इसीलिए $इ_3$ के बाद, $य_1$, $य_2$ ·· $य_7$ को पिछली ओर को ढालवा दिखाया गया है, अर्थात् ब्याज की दर में वृद्धि से $म_1$ की माग कम हो जाती है, जबकि आय वही रहती है।

दाईं ओर के रेखा चित्र द्वारा क्रियात्मक शेष दिखाया गया है, अर्थात् $म_2$ में।

इन दोनो रेखा चित्रो का साथ अध्ययन करने से निम्नलिखित बातो का पता चलता है।

(1) विशिष्ट द्रव्य पूर्ति (अ ए+अ ब) तथा विशिष्ट आय ($य_0$), ऐसी स्थिति मे ब्याज की दर जितनी ऊची होगी, तरल अधिमान भी उतना ही अधिक होगा और ब्याज की दर जितनी कम होगी, तरल अधिमान भी उतना ही कम होगा। उपर्युक्त रेखाचित्र मे, आय के य स्तर पर, द्रव्य की पूर्ति अ ए+अ ब होने से, जब तरल अधिमान ल प है, तो ब्याज की दर इ है। लेकिन जब तरल अधिमान बढ कर ल' प' हो जाता है, ब्याज की दर बढकर $इ_1$ हो जाती है, यदि दूसरे हालात समान रहें। इसी प्रकार, जब तरल अधिमान गिरता है, तो ब्याज की दर भी कम होगी, यदि दूसरे हालात समान रहें।

(ii) विशिष्ट तरल अधिमान (ल प) पर, तथा विशिष्ट आय ($य_0$) पर, द्रव्य की पूर्ति जितनी अधिक होगी, ब्याज की दर उतनी ही कम होगी। और द्रव्य की पूर्ति जितनी कम होगी, ब्याज की दर उतनी ही अधिक होगी। उपर्युक्त रेखाचित्र में जब

$य_0$ आय स्तर पर, तरल अधिमान को ल प द्वारा दिखाया गया है, द्रव्य की पूर्ति अ ए + अ व से बढकर अ ए + अ व' हो जाती है, तो व्याज की दर $इ_0$ से गिर कर $इ_2$ हो जाती है। इसी तरह, यदि सब हालात समान रहें तो, पूर्ति मे घटोतरी होने से व्याज की दर बढ जायगी।

(iii) विशिष्ट तरल अधिमान (ल प) होने पर, और विशिष्ट द्रव्य की पूर्ति अ ए + अ व होने पर, आय जितनी अधिक होगी, व्याज की दर भी उतनी ही अधिक होगी, तथा आय जितनी कम होगी, व्याज की दर उतनी ही कम होगी। उपर्युक्त रेखाचित्र मे, अ ए + अ व द्रव्य की पूर्ति की स्थिति में, तरल अधिमान को ल प वक्र द्वारा दिखाया गया है, तो आय $य_0$ से बढकर $य_1$ हो जाती है, व्याज की दर $इ_0$ से बढकर $इ_1$ हो जाती है। यह इसलिए होता है कि सट्टे हेतु के लिए व्य की पूर्ति मे घटोतरी होती है। द्रव्य की कुल पूर्ति अ ए + अ व रहती है, आय मे $य_0$ से $य_1$ वृद्धि होती है जिससे $म_1$ के अन्तर्गत बढकर ए ए' हो जाती है। $म_2$ से व व'' राशि निकाल ली जाती है। इससे व्याज की दर बढ जाती है। अत आय में परिवर्तन होने से व्याज की दर पर, द्रव्य की सापेक्ष माग के कारण, $म_1$ तथा $म_2$ के लिए, प्रभाव पडता है।

सक्षेप में यह स्पष्ट है कि तरल अधिमान सिद्धात के अनुसार, तरल अधिमान द्वारा, एक ओर तो व्याज की दर का निर्धारण होता है और दूसरी ओर द्रव्य की पूर्ति। आय को सतत (constant) मान कर, तरल अधिमान, अथवा द्रव्य की माग, का निर्देश उस माग से है जो सिर्फ सट्टेबाजी के लिए है। इस प्रकार, तरल अधिमान जितना अधिक होगा, विशिष्ट द्रव्य पूर्ति पर, व्याज की दर उतनी ही अधिक होगी, तथा स्थिति के अनुकूल इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा। यानी द्रव्य की पूर्ति अधिक होने पर, विशिष्ट तरल अधिमान में, व्याज की दर कम होगी, तथा स्थिति के अनुकूल इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा। अत सट्टेबाजी के हेतु यह द्रव्य की माग है जो द्रव्य की पूर्ति के साथ मिलकर व्याज की दर निर्धारण करती है। आय के लाने पर, द्रव्य की माग का निर्देश $म_1 + म_2$ से होता है।

९. कीस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Keynes' Theory)—कीस ने व्याज की व्याख्या वास्तविक शक्ति के रूप मे न करके शुद्ध द्रव्य शक्ति के रूप में की है। वे इस बात से सहमत थे कि पूजी की शुद्ध सीमान्त उत्पाद की प्रवृत्ति व्याज की चालू दर के समान होने की है, लेकिन व्याज की दर का निर्णय सीमान्त शुद्ध उत्पाद से नही होता। उसके अनुसार व्याज बचत का मुआवजा नही है, बल्कि बचत में से (एक हिस्सा) दूसरे को देने का है। व्याज की दर बचत तथा नियोजन के समान नही होना चाहती। समानता तो आय के स्तर में परिवर्तन से पैदा होती है। कीन्स के सिद्धान्त की एक कठिनाई उनके द्वारा बताई गई "द्रव्य" की परिभाषा में उपस्थित होती है। उनका कहना है कि द्रव्य का विस्तार (co-extension) बैंक में जमा रकम के साथ होता है। दूसरी ओर राबर्टसन के साथ किए गए विचार-विनिमय में वह अपनी तालिका से साख (credit) को बहिष्कृत करते हुए

प्रतीत होते है।

दूसरे, कीन्स व्याज की दर को नियोजन रकम की माग से स्वतन्त्र मानते है। वास्तव में वह उतना स्वतन्त्र नही होता। व्यवसायियो के रोकड वाकी पर पू जी लगाने के लिए धन की माग का वडा प्रभाव पडता है। पू जी की माग उसकी पू जी की सीमान्त उत्पादन शक्ति पर निर्भर करती है और इस प्रकार व्याज की दर पू जी की सीमान्त उत्पादन क्षमता से स्वतन्त्र होकर निर्धारित नही की जा सकती।

कीन्स का सिद्धात किसी सीमा तक वाम वावर्क (Bohm Bawerk) के एगियो के सिद्धान्त से मिलता है, जिसे वाम वावर्क "भविष्य का कम मूल्याकन करना" कहते हैं और फिशर (Fisher) जिसे "समय अधिमान" कहते हैं, उसी को कीन्स "उपभोग की प्रवृत्ति" का नाम देते है। वास्तव में उन दोनो का आशय वर्त्तमान वस्तुओ की प्राप्ति को भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक पसन्द करने से है। एक व्याज को विद्यमान वस्तुओ पर अधिमूल्य (premium) मानता है, दूसरा उसे नकदी के परित्याग (parting with liquidity) का पुरस्कार समझता है। सार दोनो का एक ही है।

परन्तु जहा वाम वावर्क अप्रत्यक्ष रूप से पू जी की उत्पादक शक्ति को एक निर्णायक तत्त्व स्वीकार करते है, वहा कीन्स ऐसा नही मानते। कीन्स के मत में चालू पू जी के इतने महत्त्वपूर्ण अग नही होते कि उन्हें व्याज की दर का निर्णायक तत्त्व माना जाय। वास्तव में उन पर व्याज का प्रभाव पडता है।

इसलिए सब मिलाकर कीन्स का सिद्धान्त व्याज को स्पष्ट करने के लिए अपर्याप्त है क्योकि उसमें केवल द्रव्य के अग को विचार में लिया गया है। वह वास्तविक द्रव्य सम्बन्धी शक्तियो (ऋणीय कोष से पृथक् पू जी की माग और पूर्ति) की क्रिया को प्रकाश में नही लाते। अब हम पू जी की माग और उसकी पूर्ति के पीछे काम करने वाली शक्तियो का निरीक्षण करेंगे।

१० ब्याज का नियोजक निधि सिद्धान्त (The Investible Funds Theory of Interest)—इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जे एस बेन द्वारा उनकी पुस्तक **"कीमत, वितरण तथा नौकरी"** नामक पुस्तक मे हुआ है।[1] उनका कहना है कि किसी दिये हुए समय मे व्याज की दर नियोजन निधि की कुल माग तथा कुल पूर्ति के साम्यावस्था द्वारा निर्धारित की जाती है। ऐसी निधि की माग नियोजन तथा नकद रकम की माग होती है और पूर्ति वचत की मात्रा तथा नकद रकमो से पैदा होती है।

यह आवश्यक नही है कि व्याज की इस दर पर वचत और नियोजन एक समान हो। इन दोनो के वीच का अन्तर धन गाढने अथवा न गाढने से होता है। उदाहरण के लिए यदि वचत नियोजन से अधिक है, तो वह रकम जमा कर ली जायगी, और यदि नियोजन वचत से अधिक है, तो वह रकम जमा से निकलेगी।

हम किसी भी समय में तीन प्रकार की माग तथा पूर्ति सूची प्राप्त कर सकते है

1 Bain, J S—Pricing, Distribution, and Employment 1948, p 384-395

जिनको रेखा चित्रो मे इस तरह दिखाया जा सकता है :

(१) वि रेखा विनियोग (investment)[1] की रेखा है जो विनियोग तथा उपभोग के लिए आवश्यक माग प्रकट करती है, और प वचत की पूर्ति की रेखा है जो नियोजन तथा होर्ड (hoard) करने के लिए उपलब्ध है। ब्याज की एक दर पर वि (विनियोग) और व (वचत) वरावर होगे। इस चित्र में यह दर ट₁ म₁ के द्वारा दिखाई गई है, जो वि तथा प वक्रो के काटने के स्थान पर पडता है।

रेखाचित्र न० ७२

(२) निधि माग की दूसरी अनुसूची म ल रेखा से दिखाई गई है जो इस वात को प्रदर्शित करती है कि नकदी के रूप मे रखने के लिए कितनी मात्रा की माग है; (अर्थात् वि कुल खर्च न करने के लिए) और प ल पूर्ति की रेखा है जो इस वात को वताती है कि नकदी कोप से कितनी मात्रा उपलब्ध है। ब्याज की एक दर पर दोनो (अर्थात् नकदी के लिए माग तथा नकदी की पूर्ति) वरावर होगे। यह दर ट₂ म₂ होगी जो म ल और प ल रेखाओ के एक दूसरे को काटने के विन्दु पर मिलती है।

(३) दाईं ओर की अनुसूचियों में, माग तथा पूर्ति दोनो को ही, उपर्युक्त दोनो अनुसूचियो के कुल योग (total) के रूप मे प्रदर्शित किया गया है। जिसमें कुल माग अनुसूची द्वारा नियोजन के लिए मागी गई राशि का प्रदर्शन होगा (जैसाकि उपर्युक्त अनुसूची न० १ में है)+(न० २ अनुसूची में) तरल शेष (liquid balance) के लिए माँगी गई राशि। दूसरे शब्दो मे हम इसे इस प्रकार रख सकते है, वी+म ल। इसको कुल माँग वक्र ए म (काली लाइन) द्वारा दिखाया गया है। इसी प्रकार ए प (काली लाइन) कुल पूर्ति वक्र है जो कि नियोजन योग्य कुल निधि की पूर्ति प्रदर्शित करता है, अर्थात् वचत में से (जैसाकि न० १ मे ऊपर दिखाया गया है)+तरल शेष में से (जैसा न० २ मे ऊपर दिखागा गया है) ट म ब्याज की वास्तविक दर, वह होगी जिस पर नियोजन योग्य कुल निधि की माँग नियोजन योग्य कुल निधि की पूर्ति के वरावर हो (जैसा कि उपर्युक्त परिभाषा मे वतलाया गया है)। और जैसा कि रेखा चित्र में दिखाया गया है यह ए म कुल माग अनुसूची तथा ए प

---

१ अंग्रेजी के 'investment' शब्द के लिए 'विनियोग' तथा 'नियोजन' दोनो शब्दो को पर्यायवाची के रूप मे लिया है।

कुल पूर्ति अनुसूची के काटने वाले विन्दु पर होगी। ट पर दो दरो के वीच की होगी अर्थात् $ट_1$ $ट_2$ के जैसा कि अनुसूची से स्पष्ट है। तथा यह वह दर नही है जिस पर वचत और नियोजन समान होते हैं। दोनो के वीच का भेद (discrepency) साठेवाजी (hoarding) अथवा साठेवाजी न करने (dishoarding) जैसे स्थिति हो, की समान राशि से सतुलित होता है। वचत और नियोजन में असमानता (disparity) के कारण एक काल (period) से दूसरे तक द्रव्य आय में परिवर्तन होगा। उदाहरण के लिए, यदि वचत की तुलना में नियोजन अधिक है, तो इससे द्रव्य आय मे वृद्धि होगी, और वचत नियोजन से अधिक हो तो दूसरे काल में द्रव्य आय कम होना जरूरी है। द्रव्य आय की घटती वढती तव तक चलेगी जव तक वचत और नियोजन समान हो।

११ सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory)—'मूल्य' शब्द की किसी भी रूप में उचित व्याख्या देना वडा कठिन है, जव तक हम इसके पीछे माग तथा पूर्ति की शक्तियो का अध्ययन नही करते। व्याज की सवसे सन्तोषजनक व्याख्या सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धात है, जवकि मूल्य का कोई अन्य कारण। सीमान्त उत्पादन शक्ति उस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है जो एक ओर तो दुर्लभता (पूर्ति) की मात्रा में तथा दूसरी ओर वस्तु अथवा सेवा (माग) को वैकल्पिक उपयोगो में लगाया जा सकता है। जव हम इसे व्याज पर लागू करते हैं, अथवा पूजी से उठाई गई कीमत, तो इसके अन्तर्गत माग और पूर्ति दोनो ही आ जाते है।

माग का विश्लेषण (Analysis of Demand)—माग पक्ष में यह वात ध्यान देने योग्य है कि उधार की जरूरत दो कामो के लिए है। (1) उपभोग, तथा (11) उत्पादन। उधार लेने वालो में उपभोग की माग समय अभिमान पर आधारित है। दूसरे शब्दो मे यह इस वात पर आधारित होगी कि वे अपनी भविष्य की मागो को कितना महत्त्व देते है। यदि वे मौजूदा माग को पूरा करना ज्यादा जरूरी समझें, तो वे व्याज की ऊची दर पर भी उधार लेने को तैयार होगे।

लेकिन उपभोग के लिए उधार की माग उत्पादक कार्यों की तुलना में महत्त्वहीन है। उत्पादक अथवा उद्यमी जो व्याज की दर देना चाहेंगे वह लाभ की **प्रत्याशित दर** पर आधारित होगा और यह पूजी के सीमान्त उत्पादन मूल्य पर निर्भर रहेगा। किसी समुदाय के उपलब्ध पूजी स्रोतो को कई कामो में लगाया जा सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में, पूजी की एक मात्रा का वितरण इस प्रकार होता है कि जिससे इसकी सीमान्त उपयोगिता अथवा उत्पादन शक्ति विभिन्न उपयोगो में समान हो जाए। यदि किसी उपयोग विशेष में पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक है, यदि उसे वहा अधिक प्राप्ति (return) होती है, तो पूजी का आकर्षण उस ओर तव तक वना रहेगा जव तक इसकी सहायता से तैयार माल कीमत न गिरा दे। इसलिए पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति यह उपयोग है। यह क्रम तव तक चलता है जव तक इस उपयोग से होने वाली प्राप्ति औरो के समान न हो जाए। यह वात दोहराने की आवश्यकता है कि पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति वह अतिरिक्त (additional) भाग है

जो कुल पैदावार मे अतिरिक्त इकाई लगाकर होता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है किसी क्षण विशेष में पूजी की कुल पूर्ति की धारणा कर ली जाय। इस पूर्ति का उपयोग वे करते है जो इसे इस तरह लगाते हैं जिससे पूजी की सीमान्त लागत तथा इसके उपभोग से होने वाली सीमान्त प्राप्ति समान हो जाय। जहाँ तक किसी उत्पादक का प्रश्न है, सीमान्त लागत का पता ब्याज की प्रचलित दर से लगता है। वह अपनी पूजी उस बिन्दु तक लगाता है जहाँ प्राप्त किए गए सीमान्त शुद्ध आय (marginal net revenue) ब्याज की प्रचलित दर के समान हो जाए। यदि ब्याज की दर गिरती है तो वह और पूजी लगायेगा और यदि दर बढती है तो कम पूजी लगायेगा। किसी उधार लेने वाले को बाजार की प्रचलित दर से ज्यादा ब्याज देने की जरूरत नही होगी, उसकी प्राप्ति की दर चाहे जो हो। साथ ही, प्रतियोगिता पूर्ण मार्केट में ब्याज की दर प्राप्ति की दर से अधिक समय तक ज्यादा नही रह सकती।

उधार लेने वाला व्यक्तिगत रूप से ब्याज की दर निर्धारित नही करता। ब्याज की दर तो सीमान्त ऋणदाता और ऋण लेने वाले तय करते है, और यह ऐसी होनी चाहिए जिस पर पूजी की कुल माग और उसकी पूर्ति साम्यावस्था मे हो। वास्तव में व्यक्तिगत माग की बजाय यह कुल माग ही है जो महत्त्वपूर्ण है। यदि पूजी के लिए कुल माग में वृद्धि होती है, तो ब्याज की दर में वृद्धि होगी, और इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा। पू जी की अधिक माग का अर्थ है एक निर्दिष्ट पूर्ति की ऊँची सीमात उत्पादन शक्ति और कम मागो का अर्थ है कम सीमान्त उत्पादन शक्ति। इन अर्थों मे सीमान्त उत्पादन शक्ति ब्याज की दर निश्चित करती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि माग पक्ष अथवा उद्यमी की ओर से, प्राप्ति की **प्रत्याशित दर** न कि **वास्तविक दर** महत्त्वपूर्ण है, जो दीर्घावधि में, ब्याज की दर के समान हो। **वास्तविक प्राप्ति प्रत्याशित** प्राप्ति से ऊची नीची हो सकती है। यदि यह ऊची है तो प्रतियोगिता के कारण यह कम हो जायगी और यदि यह कम है तो प्रतियोगिता न होने से यह ऊची हो जायगी। जिससे दीर्घावधि में प्राप्ति की दर तथा ब्याज की दर दोनो समान हो जायें। लेकिन यह प्रवृत्ति कभी पूरी नही होती।

पूर्ति का विश्लेषण (Analysis of Supply)—लेकिन पूर्ति के विषय में क्या कहा जा सकता है? अभी तक हमने पूर्ति को दिया हुआ मान लिया था। थोडी अवधि के लिए हम पूर्ति को प्रदत्त मान सकते है, क्योकि पूजी की नई पूर्ति में समय लगता है। तो पू जी की पूर्ति पर किन बातो का प्रभाव पडता है? उधार मिलने वाली रकम की सप्लाई (पूर्ति) इस बात पर आधारित है कि उधार देने वालो का समय तथा तरल अधिमान (time and liquidity preference) के सम्बन्ध मे क्या विचार है। इससे इस बात का निर्णय भी होगा कि वे अपने निजी व्यापार में कितना पैसा लगाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि, बाजार से रुपया उधार लेने में उन्हें ब्याज की ऊची रकम देनी पडती है, जो उनके समय और तरल अधिमान से अधिक है, तो वे बाजार से उधार न लेकर अपने पैसे को अपने व्यापार मे ही लगायेंगे। इसके

विपरीत, यदि उनके समय तथा तरल अभिमान से बाजार में व्याज की दर कम है तो वे बाजार से उधार लेंगे।

जैसा कि एक पिछले अध्याय में बताया गया है, पूंजी की पूर्ति एक तो (क) बचत की शक्ति तथा दूसरे (ख) बचत की इच्छा पर निर्भर करती है। **बचत की शक्ति** तीन बातों पर निर्भर करती है (i) कुल उत्पादन, (ii) जीवन-स्तर को कायम रखने के लिए निम्नतम आवश्यकताएं और (iii) बैंकिंग प्रणाली का विकास।

बचत की इच्छा-शक्ति चार बातों पर निर्भर करती है—१ विधि और व्यवस्था २ देश में उपलब्ध बैंकिंग की सुविधाएं, ३ ब्याज की दर की आशाएं, तथा ४ अपने तथा अपने कुटुम्ब की भावी सुरक्षा का विचार।

जब बचत व्यक्तियों की अपेक्षा सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा की जाती है, तो बचत की रकम अन्य बातों के अतिरिक्त उनकी नीति के ऊपर भी निर्भर करेगी।

बैंक की साख से भी द्रव्य की पूर्ति होती है।

ब्याज की दर और बचत के बीच के सम्बन्ध को भी समझ लेना चाहिए। कुछ लोग एक समान रकम बचायेंगे, चाहे ब्याज की दर कम हो या अधिक। वे लोग कंजूस हो सकते हैं, या गरीब। अन्य लोग, ब्याज की चाहे जो कुछ दर हो, बचत नहीं करेंगे। वे लोग बहुत गरीब हो सकते हैं, या अपव्ययी। कुछ ऐसे होंगे, जो कि ब्याज की दर जब कम होगी, तब अधिक बचायेंगे और जब अधिक होगी तब कम बचायेंगे। परन्तु सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि देश में ब्याज की दर ऊंची [illegible] में बचत को प्रोत्साहन मिलता है, और कम दर का विपरीत प्रभाव होता है [illegible] ाज की [illegible] इतने लम्बे समय तक ऊंची रहती है जिससे बचत के लिए प्रेरण [illegible] ो पूंजी पूर्ति बढ़ेगी, उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति घटेगी और ब्याज [illegible] कम हो जायेगी।

उधार देना वन्द करके अथवा सिक्युरिटियां वेचकर घटा सकते ह। सेण्ट्रल वैंक वैंक दर निश्चित करता है और सारी अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालता है। जव तक वैंक के पास सिक्युरिटिया वेचने और खरीदने के साधन है वे व्याज की कोई भी दर वनाए रख सकते है। वेन के शब्दो में, "सेण्ट्रल वैंक द्वारा विनियमित वैंकिग व्यवस्था, व्याज की दर निर्धारित करने में समर्थ है, और जव वह ऐसा करता है, व्याज की दर निश्चित कीमत वन जाती है, तथा द्रव्य की मात्रा विभिन्न हो जाती है, जो नियोजन के लिए निधि की माग, तथा तरल शेप (liquid balances), और वचत की पूर्ति आदि जैसे विभिन्न कामो के लिए अपने आपको अनुकूल वनाती है।

१२. अनिवार्य एव ऐच्छिक वचत (Forced Saving and Voluntary Saving)—हम ऊपर देख चुके है कि पूंजी की पूर्ति वचत पर निर्भर करती है। स्वेच्छा से की गई वचत और विवशता से की गई वचत में कभी-कभी कुछ अन्तर समझा जाता है। स्वैच्छिक वचत से तात्पर्य व्यय से वच रही आय से होता है। यह वचत की सामान्य कल्पना है। लोग इस प्रकार की वचत स्वय करते है। वे अपनी आय वडाने तथा व्यय कम करने की कोशिश करते हैं और इस प्रकार वचत करते है। यह सव स्वेच्छा से होता है और वचत का सवसे अविक स्वाभाविक मार्ग मालूम होता है।

परन्तु अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रकम और द्रव्य की शब्दावली में एक नई कल्पना प्रविष्ट हुई है। वह है **अनिवार्य वचत** की। इस वचत का सम्वन्ध **मुद्रा-प्रसार** (inflation) से है। मुद्राप्रसार केवल नोट और द्रव्य वनानेवाले अधिकारियो द्वारा अधिकाधिक नोट प्रचलित करने से नही वढता वरन् वैंको द्वारा उधार देने की प्रथा से भी उनमे वृद्धि होती है। वैंक ऋण देकर साख की सृप्टि करते है। वैंक का प्रत्येक ऋण निक्षेप (deposit) की सृप्टि करता है। निक्षेप की यह कृत्रिम वृद्धि उधार लेने वालो के हाथो में अधिक रकम दे देती है। इससे समुदाय (community) मे अतिरिक्त क्रयशक्ति की सृप्टि होती है। इस प्रकार चाहे मुद्रा-प्रसार सरकारी नीति का परिणाम हो, चाहे वैंक प्रथा का, उससे कीमत वढ सकती है। कीमतो में वृद्धि से "स्थायी आय वालो को वचत के लिए वाध्य" होना पडता है। अनिवार्य वचत का अर्थ यह नही होता कि लोग मुद्रा-प्रसार के कारण वढी हुई आय की रकम से वचत करते है। वह तो स्वेच्छा की वचत होगी। वाध्य वचत का प्रत्यक्ष आशय यही है कि वधी हुई आय वालो को वस्तुओ की कीमत वढने के कारण विवश होकर उपभोग मे कमी करनी पडती है।

स्वेच्छा की वचत अनिश्चित काल तक विना किसी हानिकारक प्रभाव के चलती रह सकती है। स्वेच्छा की वचत स्वागत करने योग्य है और उसको प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक उपाय किया जाना चाहिए। परन्तु वाध्य वचत एक कृत्रिम वस्तु है। मुद्रा-प्रसार में वडी सकटपूर्ण सभावनाए निहित रहती है। जो राष्ट्र मुद्राप्रसार का सहारा लेता है, वह एक वडे जटिल चक्र में फस जाता है और फिर उससे निकलना कठिन हो जाता है। अत्यधिक मुद्राप्रसार से आर्थिक व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त नही हो जाती वरन् उससे राज्य की सुस्थिरता तक खतरे में पड जाती है। इसलिए अनिवार्य वचत को सकट-रहित सीमा के अन्तर्गत ही रखना चाहिए, जवकि स्वेच्छापूर्ण वचत की कोई सीमा निर्धारित

विपरीत, यदि उनके समय तथा तरल अधिमान से बाजार में व्याज की दर कम है तो वे बाजार से उधार लेंगे ।

जैसा कि एक पिछले अध्याय में बताया गया है, पूजी की पूर्ति एक तो (क) बचत की शक्ति तथा दूसरे (ख) बचत की इच्छा पर निर्भर करती है । **बचत की शक्ति** तीन बातो पर निर्भर करती है (i) कुल उत्पादन, (ii) जीवन-स्तर को कायम रखने के लिए निम्नतम आवश्यकताए और (iii) बैंकिंग प्रणाली का विकास ।

बचत की इच्छा-शक्ति चार बातो पर निर्भर करती है—१ विधि और व्यवस्था २ देश मे उपलब्ध बैंकिंग की सुविधाए, ३ व्याज की दर की आशाए, तथा ४ अपने तथा अपने कुटुम्ब की भावी सुरक्षा का विचार।

जब बचत व्यक्तियो की अपेक्षा सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा की जाती है, तो बचत की रकम अन्य बातो के अतिरिक्त उनकी नीति के ऊपर भी निर्भर करेगी।

बैंक की साख से भी द्रव्य की पूर्ति होती है ।

व्याज की दर और बचत के बीच के सम्बन्ध को भी समझ लेना चाहिए। कुछ लोग एक समान रकम बचायेगे, चाहे व्याज की दर कम हो या अधिक । वे लोग कजूस हो सकते है, या गरीब । अन्य लोग, व्याज की चाहे जो कुछ दर हो, बचत नही करेंगे । वे लोग बहुत गरीब हो सकते है, या अपव्ययी । कुछ ऐसे होगे, जो कि व्याज की दर जब कम होगी, तब अधिक बचायेंगे और जब अधिक होगी तब कम बचायेंगे । परन्तु सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि देश में ब्याज की दर ऊची होने से बचत को प्रोत्साहन मिलता है, और कम दर का विपरीत प्रभाव होता है । यदि व्याज की दर इतने लम्बे समय तक ऊची रहती है जिससे बचत के लिए प्रेरणा होगी तो पूजी की पूर्ति बढेगी, उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति घटेगी और व्याज की दर आगे चल कर कम हो जायेगी ।

बैंको का व्याज पर क्या प्रभाव होता है (How banks effect interest)—यह कहना बडी भूल है कि उधार का एकमात्र स्रोत व्यक्तिगत रूप से बचत करने वाले है । यह तो स्पष्ट ही है कि व्यापारी ऐसे लोगो से उधार नही लेते। वे बैंको से उधार लेते है । बैंको की ओर से समय अधिमान (time preference) नही होता । चूकि वे नकदी के रूप मे उधार नही देते बल्कि निक्षेप (deposit) बनाने में सहायक होते है, वे उधार देने की ओर आकृष्ट होते है और अपनी प्राप्ति (earning) बढाते है । इस तरह स्वेच्छा अथवा अनिवार्य बचत के कारण मुद्रा-स्फीति (inflation) की स्थिति पैदा हो जाती है । यद्यपि बैंक के लिए समय अधिमान का कोई महत्त्व नही है, लेकिन तरल अधिमान का है । उधार देने के लिए किये गये वायदो को पूरा करने के लिए उसके पास काफी तैयार पैसा होना जरूरी है । इससे वे शक्ति से ज्यादा उधार देने (over-lending) से बचे रहते है ।

सैण्ट्रल बैंक, जो समस्त देश की बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण करता है, बैंक साख को नियमित करके इस स्थिति में है कि व्याज की दर निश्चित करे । वे सिक्युरिटिया खरीद कर अथवा उधार देकर नये द्रव्य का सृजन कर सकते है, और द्रव्य की मा॰।

उधार देना बन्द करके अथवा सिक्युरिटियां बेचकर घटा सकते है। सेण्ट्रल बैंक बैंक दर निश्चित करता है और सारी अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालता है। जब तक बैंक के पास सिक्युरिटिया बेचने और खरीदने के साधन है वे ब्याज की कोई भी दर बनाए रख सकते है। बेन के शब्दो मे, "सेण्ट्रल बैंक द्वारा विनियमित बैंकिंग व्यवस्था, ब्याज की दर निर्धारित करने में समर्थ है, और जब वह ऐसा करता है, ब्याज की दर निश्चित कीमत बन जाती है, तथा द्रव्य की मात्रा विभिन्न हो जाती है, जो नियोजन के लिए निधि की माग, तथा तरल शेष (liquid balances), और बचत की पूर्ति आदि जैसे विभिन्न कामो के लिए अपने आपको अनुकूल बनाती है।

१२. अनिवार्य एव ऐच्छिक बचत (Forced Saving and Voluntary Saving)—हम ऊपर देख चुके है कि पूजी की पूर्ति बचत पर निर्भर करती है। स्वेच्छा से की गई बचत और विवशता से की गई बचत में कभी-कभी कुछ अन्तर समझा जाता है। स्वैच्छिक बचत से तात्पर्य व्यय से बच रही आय से होता है। यह बचत की सामान्य कल्पना है। लोग इस प्रकार की बचत स्वय करते है। वे अपनी आय बढाने तथा व्यय कम करने की कोशिश करते है और इस प्रकार बचत करते है। यह सब स्वेच्छा से होता है और बचत का सबसे अधिक स्वाभाविक मार्ग मालूम होता है।

परन्तु अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रकम और द्रव्य की शब्दावली मे एक नई कल्पना प्रविष्ट हुई है। वह है **अनिवार्य बचत** की। इस बचत का सम्बन्ध **मुद्रा-प्रसार** (inflation) से है। मुद्राप्रसार केवल नोट और द्रव्य बनानेवाले अधिकारियो द्वारा अधिकाधिक नोट प्रचलित करने से नही बढता वरन् बैंको द्वारा उधार देने की प्रथा से भी उनमे वृद्धि होती है। बैंक ऋण देकर साख की सृष्टि करते है। बैंक का प्रत्येक ऋण निक्षेप (deposit) की सृष्टि करता है। निक्षेप की यह कृत्रिम वृद्धि उधार लेने वालो के हाथो में अधिक रकम दे देती है। इससे समुदाय (community) मे अतिरिक्त क्रयशक्ति की सृष्टि होती है। इस प्रकार चाहे मुद्रा-प्रसार सरकारी नीति का परिणाम हो, चाहे बैंक प्रथा का, उससे कीमत बढ सकती है। कीमतो मे वृद्धि से "स्थायी आय वालो को बचत के लिए बाध्य" होना पडता है। अनिवार्य बचत का अर्थ यह नही होता कि लोग मुद्रा-प्रसार के कारण बढी हुई आय की रकम से बचत करते है। वह तो स्वेच्छा की बचत होगी। बाध्य बचत का प्रत्यक्ष आशय यही है कि बधी हुई आय वालो को वस्तुओ की कीमत बढने के कारण विवश होकर उपभोग में कमी करनी पडती है।

स्वेच्छा की बचत अनिश्चित काल तक बिना किसी हानिकारक प्रभाव के चलती रह सकती है। स्वेच्छा की बचत स्वागत करने योग्य है और उसको प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक उपाय किया जाना चाहिए। परन्तु बाध्य बचत एक कृत्रिम वस्तु है। मुद्रा-प्रसार में बडी संकटपूर्ण संभावनाए निहित रहती है। जो राष्ट्र मुद्राप्रसार का सहारा लेता है, वह एक बड़े जटिल चक्र में फस जाता है और फिर उससे निकलना कठिन हो जाता है। अत्यधिक मुद्राप्रसार से आर्थिक व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त नही हो जाती वरन् उससे राज्य की सुस्थिरता तक खतरे में पड जाती है। इसलिए अनिवार्य बचत को सकट-रहित सीमा के अन्तर्गत ही रखना चाहिए, जबकि स्वेच्छापूर्ण बचत की कोई सीमा निर्धारित

नही की जा सकती।

हम लोग इन दोनो में एक और अन्तर देखते है। अनिवार्य बचत की परिस्थिति में उपभोग रुकता है, इसलिए उपभोग की सामग्री का उत्पादन कम होने लगता है, परन्तु वस्तुओ की कीमत बढने से व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और अधिक कारखाने खडे किये जाते है। इसलिए उत्पादन की सामग्री (पूजीगत माल) में वृद्धि होती है।

अन्तत वाध्य बचत (मुद्रा-प्रसार) कीमतो में सभी ओर वृद्धि करती है। उपभोग की वस्तुओ तथा पूजी सामग्री दोनो की कीमतें बढती है। परन्तु स्वेच्छा की बचत से उपभोग की वस्तुओ की माग कम होती है और उत्पादको की अर्थात् पूजी सामग्री की माग बढती है। इसलिए उसकी कीमतें उपभोग की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक बढती है।

कुछ लोगो का विचार है कि मुद्रा-प्रसार (जिससे वाध्य बचत की अवस्था उत्पन्न ोती है) उत्पादन सक्रियता (productive activity) को प्रोत्साहित करता है ौर वास्तविक सम्पत्ति को बढाता है। जैसा कि डा० हेक (Dr Heyek) कहते है निश्चित आय वालो की वाध्य बचत की क्षतिपूर्ति किसी सीमा तक सम्पत्ति की बढती हो जाती है, जिसका आशय उस सम्पत्ति से है, जिसकी उपयोगिता का मूल्य बढ ाता है।"[1] वेनहम (Benham) भी इसी प्रकार कहते है, "मुद्रा बढाने से जैसे ुद्रा प्रसार होता है सरकार बडी मात्रा में वास्तविक सम्पत्ति की वृद्धि करने ी शक्ति का विकास होता है।" यद्यपि सयोजित आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार ृत्रिमता से "उत्पन्न" किये हुए द्रव्य का उपयोग आर्थिक विकास के लिए किया जा ाकता है, तथापि असीमित मुद्राप्रसार अन्तत विनाशक ही होता है। समृद्धि ेवल दिखावटी ही होती है और देश की वास्तविक सम्पत्ति में कोई वृद्धि नही ोती।

१३ ब्याज का निर्धारण (Determination of Interest)—माग और पूर्ति (बचत की प्रेरक शक्तियो का अध्ययन किया जा चुका है। अब यह देखना है कि इन शक्तियो से व्याज की दर कैसे निर्धारित होती है। व्याज का निर्धारण पूजी की सीमान्त उत्पादक शक्ति (Marginal Productivity) से होता है। सीमान्त उत्पादन शक्ति पर माग और पूर्ति दोनो का ही प्रभाव पडता है। माग के प्रभाव को जानने के लिए हम अपनी सुविधा के लिए मान लेते है कि पूर्ति दी हुई है। वास्तव मे दुनिया मे माग और पूर्ति के रूप वदलते रहते हैं। पर यह सच है कि जव समय थोडा होता है तो माग की पूर्ति सहज और जल्दी नही हो सकती। यदि व्याज की दर ऊची रहती है तो माग की पूर्ति वचत की वृद्धि से होती है। यदि व्याज वहुत समय तक कम दर पर रहता है तो उपभोग वृद्धि के कारण वचत कम होती है। साम्यावस्था में व्याज की दर ऐसी होती है कि माग और पूर्ति समान स्तर पर रहते हैं।

हम एक साम्यावस्था (equilibrium) की स्थिति से आरम्भ करते हैं। मान

---

1 Quoted by Brij Narain in Principles 1945 P 336

/

लो कि बचत मे आकस्मिक वृद्धि होती है और इस प्रकार पूजी की पूर्ति वढ जाती है। उससे ब्याज की दर कम हो जायगी, क्योकि पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति कम हो जायगी, अर्थात् पूजी ऐसे कामो के लिए उपलब्ध होगी, जिनमें उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कम होगी। ब्याज की दर का गिरना उस समय रुकेगा जवकि दर वहाँ तक पहुच जायगी जहा कि उसके गिरने से माग में जो वढती हुई हो, वह पूर्ति के समान हो जाय। इसके विपरीत तव होगा जवकि पूजी की पूर्ति मे कमी होगी। पूजी अपेक्षाकृत दुर्लभ होने पर ऐसे ही कार्यों में प्रयुक्त होगी, जिनमे उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक ऊची होगी। तव ब्याज की दर वढ जायगी। माग और पूर्ति ऊचे ब्याज की दर पर साम्यावस्था में होगे।

माग की वृद्धि का असर वही होता है, जो पूर्ति में कमी का होता है। और माग की कमी का वही असर होता है, जो कि पूर्ति में वृद्धि का होता है।

ब्याज की मार्केट दर वह होगी जिस पर कि पूजी की माग और पूर्ति साम्यावस्था में है अर्थात् वह विन्दु जिस पर सकल उधार देने वालो की राशि सकल के उधार लेने वालो की राशि के समान वैठती है।

ब्याज और दुर्लभता का सिद्धान्त (Interest and Scarcity Principle)—वास्तविक स्रोतो (resources) की दृष्टि से ब्याज की उत्पत्ति एक ओर तो दुर्लभ साधनो से तथा दूसरी ओर उनके हो सकने वाले अनेक प्रकार के वैकल्पिक उपयोगो के सम्बन्ध से होती है। इस वास्तविक अर्थ में पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति उन वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता से उत्पन्न होती है जिनके उत्पादन के लिए पूजी (अन्य साधनो के सहित) की सेवाए प्राप्त की जाती है। निर्दिष्ट स्रोत तथा प्रतियोगी माग आमने सामने आ जाते है। इन स्रोतो को दूसरे सर्वोत्तम कामो में लगाने के लिए कीमत चुकानी ही चाहिए। अन्तत ब्याज की दर से कमी की वह मात्रा ज्ञात होती है, जो उत्पादन के अन्य तत्वो के सम्बन्ध से पूजी की होती है, जव कि वह उपभोक्ताओ की विभिन्न प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ की प्रतिद्वन्द्वी मागो मे सहायक होती है।

१४. अल्पावधि और दीर्घावधि की दरे (Short-term and Long term Rates)—उपर्युक्त विवेचन से यह समझना सहज है कि ब्याज की दर मे क्यो परिवर्तन होता है। यदि पूजी की अपेक्षाकृत कमी (scarcity) होती है, तो ब्याज की दर में साधारणतया वृद्धि होगी। अपेक्षाकृत कमी माग की वृद्धि अथवा पूर्ति की कमी से होती है। ब्याज की दरो में परिवर्तन के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अल्पावधि प्रभावो तथा दीर्घावधि प्रभावो मे अन्तर रहता है। पहले हम **अल्पावधि की दरो** (short-term rates) को लेगे। अल्पावधि मे सामान्य रूप से यह दुर्लभता माग से आरम्भ होगी। यदि व्यापारियो को उद्योग वृद्धि अथवा अधिक ऊचे दामो और लाभ की आशा होती है, तो अल्पकाल में ब्याज की दर वढेगी, क्योकि पूजी के लिए माग अधिक होगी। औद्योगिक शेयरो का मूल्य वढ जायगा, जवकि स्थिर ब्याज वाली प्रतिभूतियो की कीमत गिर जायगी, जिससे उनकी प्राप्ति मे वृद्धि होगी। यही परिणाम तव भी होते है, जव नये आविष्कारो से पूजी के उपयोग के नये और अधिक लाभप्रद

दर भी बढेगी।

परन्तु ऐसा होता नही। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ हमारी बचत की शक्ति और इच्छा भी काफी बढ जाती है। उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता है। बैंक और बीमा कम्पनियो के विकास से लोगो को रुपया लगाने के अच्छे अवसर मिल जाते है। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, शिक्षा में उन्नति आदि से बचत करने की इच्छाए और प्रबल हो जाती हैं। इन सब का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि पूजी की पूर्ति माग की अपेक्षा बहुत अधिक बढ जाती है। इसलिए ब्याज की प्रवृत्ति लगातार गिरने और घटने की ओर होती है। इगलैंड अथवा अमेरिका जैसे उन्नतिशील देशो मे कतिपय ऋणो (certain types of loans) पर तो व्याज की दर घट कर ¼ प्रतिशत अथवा ½ प्रतिशत रह गई है।

जैसे-जैसे कोई देश उन्नति करता है, रकम गाढ कर रखने की भावना (साठेबाजी hoarding) कम होती जाती है और रुपया उद्योग में लगाने की इच्छा बढ़ती है। जैसे जैसे उद्योग में लगाने के लिए पूजी की पूर्ति बढती जाती है, वैसे ही सीमान्त उपयोगिता और उसके कारण ब्याज की दर गिरती है।

क्या ब्याज की दर शून्य भी हो सकती है ? (Can the Rate of Interest fall to Zero ?)—सिद्धाततः ब्याज की शून्य दर की कल्पना की जा सकती है। जैसे जैसे समय बीतता जाता है, लोगो की बचत की शक्ति और इच्छा बढती जाती है। शक्ति इसलिए कि उत्पादन-सामर्थ्य बढता है और इच्छा इसलिए कि उन्नत [illegible] मे दूरदर्शिता तथा भविष्य की नीची दर पर बट्टा करने की प्रवृत्ति [illegible] जाती है। एक ऐसी अवस्था की कल्पना की जा सकती है, जिसमें पूजी का सग्रह पूजी की माग से अधिक हो जाय और इससे पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति शून्य हो जाय और उसे नकारात्मक कर दे अर्थात् लोग अपनी बचत को सावधानी से रखने के लिए कुछ भुगतान करने लगें।

परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था का आना, यदि पूर्णतया असभव नही, तो कठिन अवश्य है। पहली बात तो वह है कि जनसख्या के बढने के साथ पूजी के लिए माग भी बढेगी और लोगो की आवश्यकताओ में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ पूजी की माग बढेगी, क्योकि उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणालियो का उपयोग अधिकाधिक बढता जायगा। यह सच है कि नये आविष्कारो से पूजी की मितव्ययता के तरीके निकलते आयेंगे, इससे व्याज की दर में कमी हो सकती है। परन्तु पूजी की सीमान्त उपयोगिता फिर भी वास्तविक रहेगी, इसलिए ब्याज की दर भी वास्तविक रहेगी।

पूर्ति की दृष्टि से देखें तो हम इसी परिणाम पर पहुचते है। कुछ लोग बचत करेंगे चाहे व्याज की दर नकारात्मक अर्थात् शून्य ही हो। परन्तु यदि उपभोग को कम करने के लिए कोई क्षतिपूर्ति नही होगी तो अधिकाश बचतो मे बडी कमी आ जायगी, जिससे पूजी की अपेक्षाकृत कमी हो जायगी।

इस प्रकार व्याज की दर शून्य होने की कोई सम्भावना नही।

हम व्याज की शून्य दर तभी लागू कर सकते हैं जबकि पूंजी के अभाव की दशा समाप्त हो जाय। परन्तु जैसी कि स्थिति है, पूजी माग की अपेक्षा कम रहती है। अनेक कार्यों में पूजी का उपयोग हो सकता है। व्याज की दर इस बात का निर्णय करती है कि पूंजी का उपयोग किस लिए किया जाय।

समाजवादी राज्य और व्याज (Interest in a Socialist State)—समाजवादी व्यवस्था में भी व्याज को हटाया नही जा सकता, भले ही वह व्यक्तियो को भुगतान न किया जा सके। वहा भी उसके जरिये पूजी के सीमित साधनो के विभिन्न उपयोगो के लिए प्राथमिकताओ का निर्णय करना पडेगा। समाजवादी राज्य मे सभवतः प्राथमिकताओ का क्रम पूजीवादी समाज से विभिन्न होगा, परन्तु व्याज अपना कार्य फिर भी करेगा। उसका वही काम है जो कीमत का है। वह माग का उपलब्ध पूर्ति से हिसाब बैठाता है। वह पूजी को वैकल्पिक उपयोगो के लिए होने वाली प्रतिद्वन्द्विताओ के बीच ठीक हिसाब से वितरण करता है। व्याज के द्वारा ही पूजी के जिस उपयोग से अधिक लाभ की आशा होती है, उसको प्राथमिकता दी जाती है। यह ठीक है कि पूजीवादी व्यवस्था में अधिक से अधिक लाभ की कल्पना समाजवादी व्यवस्था से अलग प्रकार की होगी। पहली दशा में उद्योग में रुपया लगाने वाले व्यक्ति को अधिक से अधिक लाभ का विचार होगा और दूसरे में योजना बनाने वाले अधिकारियो के लाभ का, और उसी के अनुसार प्राथमिकता का क्रम निर्धारित होगा। व्याज को समाप्त नही किया जा सकता। इसका समाजीकरण (socialisation) कर सकते हैं. बशर्ते कि आप पूजी का समाजीकरण कर डालें। जब तक पूजी का समाजीकरण नही होगा, तब तक पूजी के निर्माण के लिए व्याज अवश्य देना होगा। इसलिए व्याज अवश्य दिया जाना चाहिए क्योंकि उधार लेने वाला उसे दे सकता है और यदि उसको पूजी की आवश्यकता है तो वह ऋणदाता को अवश्य दिया जाना चाहिए।

१७ **व्याज और लगान** (Interest and Rent)—अब हम व्याज और लगान के अन्तर को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

(i) सभ्यता और आर्थिक प्रगति के साथ व्याज की दर कम होती है जबकि लगान की दर बढती है। यह इसलिए होता है कि पूंजी की पूर्ति लगातार बढती रहती है। परन्तु भूमि की मात्रा सीमित है और बढाई नही जा सकती जबकि उसकी माग जनसख्या की वृद्धि के साथ बढती जाती है।

(ii) उर्वरा शक्ति तथा स्थितियो में विभिन्नता होने से भूमि के लगान में भी अनेक अन्तर होते हैं। भूमि के गुणो के अन्तर स्थायी होते हैं। जितनी ही अधिक प्रतियोगिता होगी, उतना ही अधिक लगानो में अन्तर होगा। भूमि की गतिहीनता के कारण उसको एक उपयोग से दूसरे उपयोग में परिवर्तित नही किया जा सकता, इसलिए लगान के अन्तर स्थायी होने की ओर प्रवृत्त रहते हैं।

दूसरी ओर, व्याज की प्रवृत्ति समानता की ओर होती है। केवल 'सकल' (gross) व्याज मे खतरे तथा असुविधाजनक तत्वों के कारण अन्तर होता है। पूजी उससे कही अधिक गतिशील (mobile) होती है और इसलिए शुद्ध व्याज के

दर भी वढेगी।

परन्तु ऐसा होता नही। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ हमारी वचत की शक्ति और इच्छा भी काफी वढ जाती है । उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता है। वैंक और वीमा कम्पनियो के विकास से लोगो को रुपया लगाने के अच्छे अवसर मिल जाते है। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, शिक्षा में उन्नति आदि से वचत करने की इच्छाए और प्रवल हो जाती है। इन सव का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि पूजी की पूर्ति माग की अपेक्षा वहुत अधिक वढ जाती है । इसलिए व्याज की प्रवृत्ति लगातार गिरने और घटने की ओर होती है। इगलैंड अथवा अमेरिका जैसे उन्नतिशील देशो मे कतिपय ऋणो (certain types of loans) पर तो व्याज की दर घट कर $\frac{१}{४}$ प्रतिशत अथवा $\frac{१}{२}$ प्रतिश्त रह गई है।

जैसे-जैसे कोई देश उन्नति करता है, रकम गाढ कर रखने की भावना (साठेवाजी hoarding) कम होती जाती है और रुपया उद्योग में लगाने की इच्छा वढती है। जैसे जैसे उद्योग में लगाने के लिए पूजी की पूर्ति वढ़ती जाती है, वैसे ही सीमान्त उपयोगिता और उसके कारण व्याज की दर गिरती है।

क्या व्याज की दर शून्य भी हो सकती है ? (Can the Rate of Interest fall to Zero ?)—सिद्धाततः व्याज की शून्य दर की कल्पना की जा सकती है। जैसे जैसे समय वीतता जाता है, लोगो की वचत की शक्ति और इच्छा वढती जाती है। शक्ति इसलिए कि उत्पादन-सामर्थ्य वढता है और इच्छा इसलिए कि उन्नत लोगो मे दूरदर्शिता तथा भविष्य की नीची दर पर वट्टा करने की प्रवृत्ति वढ जाती है। एक ऐसी अवस्था की कल्पना की जा सकती है, जिसमें पूजी का सग्रह पूजी की माग से अधिक हो जाय और इससे पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति शून्य हो जाय और उसे नकारात्मक कर दे अर्थात् लोग अपनी बचत को सावधानी से रखने के लिए कुछ भुगतान करने लगें।

परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था का आना, यदि पूर्णतया असभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। पहली वात तो वह है कि जनसख्या के वढने के साथ पूजी के लिए माग भी वढेगी और लोगो की आवश्यकताओ मे वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ पूजी की माग वढेगी, क्योकि उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणालियो का उपयोग अधिकाधिक वढता जायगा। यह सच है कि नये आविष्कारो से पूजी की मितव्ययता के तरीके निकलते आयेंगे, इससे व्याज की दर में कमी हो सकती है। परन्तु पूजी की सीमान्त उपयोगिता फिर भी वास्तविक रहेगी, इसलिए व्याज की दर भी वास्तविक रहेगी।

पूर्ति की दृष्टि से देखें तो हम इसी परिणाम पर पहुचते है। कुछ लोग वचत करेंगे चाहे व्याज की दर नकारात्मक अर्थात् शून्य ही हो। परन्तु यदि उपभोग को कम करने के लिए कोई क्षतिपूर्ति नही होगी तो अधिकाश वचतो मे वडी कमी आ जायगी, जिससे पूजी की अपेक्षाकृत कमी हो जायगी।

इस प्रकार व्याज की दर शून्य होने की कोई सम्भावना नही।

दर भी बढेगी।

परन्तु ऐसा होता नही। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ हमारी बचत की शक्ति और इच्छा भी काफी बढ जाती है। उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता है। बैंक और बीमा कम्पनियो के विकास से लोगो को रुपया लगाने के अच्छे अवसर मिल जाते है। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, शिक्षा में उन्नति आदि से बचत करने की इच्छाए और प्रबल हो जाती है। इन सब का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि पूजी की पूर्ति माग की अपेक्षा बहुत अधिक बढ जाती है। इसलिए ब्याज की प्रवृत्ति लगातार गिरने और घटने की ओर होती है। इगलैंड अथवा अमेरिका जैसे उन्नतिशील देशो मे कतिपय ऋणो (certain types of loans) पर तो ब्याज की दर घट कर ½ प्रतिशत अथवा ½ प्रतिशत रह गई है।

जैसे-जैसे कोई देश उन्नति करता है, रकम गाढ कर रखने की भावना (साठेबाजी hoarding) कम होती जाती है और रुपया उद्योग में लगाने की इच्छा बढती है। जैसे जैसे उद्योग में लगाने के लिए पूजी की पूर्ति बढती जाती है, वैसे ही सीमान्त उपयोगिता और उसके कारण ब्याज की दर गिरती है।

क्या ब्याज की दर शून्य भी हो सकती है ? (Can the Rate of Interest fall to Zero ?)—सिद्धान्तत ब्याज की शून्य दर की कल्पना की जा सकती है। जैसे जैसे समय बीतता जाता है, लोगो की बचत की शक्ति और इच्छा बढती जाती है। शक्ति इसलिए कि उत्पादन-सामर्थ्य बढता है और इच्छा इसलिए कि उन्नत लोगो में दूरदर्शिता तथा भविष्य की नीची दर पर बट्टा करने की प्रवृत्ति बढ जाती है। एक ऐसी अवस्था की कल्पना की जा सकती है, जिसमें पूजी का सग्रह पूजी की माग से अधिक हो जाय और इससे पूजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति शून्य हो जाय और उसे नकारात्मक कर दे अर्थात् लोग अपनी बचत को सावधानी से रखने के लिए कुछ भुगतान करने लगे।

परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था का आना, यदि पूर्णतया असभव नही, तो कठिन अवश्य है। पहली बात तो यह है कि जनसख्या के बढने के साथ पूजी के लिए माग भी बढेगी और लोगो की आवश्यकताओ में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ पूजी की माग बढेगी, क्योकि उत्पादन की चक्रपूर्ण प्रणालियो का उपयोग अधिकाधिक बढता जायगा। यह सच है कि नये आविष्कारो से पूजी की मितव्ययता के तरीके निकलते आयेंगे, इससे ब्याज की दर में कमी हो सकती है। परन्तु पूजी की सीमान्त उपयोगिता फिर भी वास्तविक रहेगी, इसलिए ब्याज की दर भी वास्तविक रहेगी।

पूर्ति की दृष्टि से देखें तो हम इसी परिणाम पर पहुचते है। कुछ लोग बचत करेंगे चाहे ब्याज की दर नकारात्मक अर्थात् शून्य ही हो। परन्तु यदि उपभोग को कम करने के लिए कोई क्षतिपूर्ति नही होगी तो अधिकाश बचतो मे बडी कमी आ जायगी, जिससे पूजी की अपेक्षाकृत कमी हो जायगी।

इस प्रकार ब्याज की दर शून्य होने की कोई सम्भावना नही।

हम ब्याज की शून्य दर तभी लागू कर सकते हैं जबकि पूंजी के अभाव की दशा समाप्त हो जाय। परन्तु जैसी कि स्थिति है, पूंजी माग की अपेक्षा कम रहती है। अनेक कार्यों में पूंजी का उपयोग हो सकता है। ब्याज की दर इस बात का निर्णय करती है कि पूंजी का उपयोग किस लिए किया जाय।

समाजवादी राज्य और ब्याज (Interest in a Socialist State)—समाजवादी व्यवस्था में भी ब्याज को हटाया नही जा सकता, भले ही वह व्यक्तियो को भुगतान न किया जा सके। वहा भी उसके जरिये पूंजी के सीमित साधनो के विभिन्न उपयोगो के लिए प्राथमिकताओ का निर्णय करना पडेगा। समाजवादी राज्य मे सभवत: प्राथमिकताओ का क्रम पूंजीवादी समाज से विभिन्न होगा, परन्तु ब्याज अपना कार्य फिर भी करेगा। उसका वही काम है जो कीमत का है। वह माग का उपलब्ध पूर्ति से हिसाब बैठाता है। वह पूजी को वैकल्पिक उपयोगो के लिए होने वाली प्रतिद्वन्द्विताओ के बीच ठीक हिसाब से वितरण करता है। ब्याज के द्वारा ही पूंजी के जिस उपयोग से अधिक लाभ की आशा होती है, उसको प्राथमिकता दी जाती है। यह ठीक है कि पूजीवादी व्यवस्था में अधिक से अधिक लाभ की कल्पना समाजवादी व्यवस्था से अलग प्रकार की होगी। पहली दशा में उद्योग मे रुपया लगाने वाले व्यक्ति को अधिक से अधिक लाभ का विचार होगा और दूसरे में योजना बनाने वाले अधिकारियो के लाभ का, और उसी के अनुसार प्राथमिकता का क्रम निर्धारित होगा। ब्याज को समाप्त नही किया जा सकता। इसका समाजीकरण (socialisation) कर सकते है, बशर्ते कि आप पूंजी का समाजीकरण कर डाले। जब तक पूजी का समाजीकरण नही होगा, तब तक पूजी के निर्माण के लिए ब्याज अवश्य देना होगा। इसलिए ब्याज अवश्य दिया जाना चाहिए क्योकि उधार लेने वाला उसे दे सकता है और यदि उसको पूजी की आवश्यकता है तो वह ऋणदाता को अवश्य दिया जाना चाहिए।

१७ **ब्याज और लगान** (Interest and Rent)—अब हम ब्याज और लगान के अन्तर को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

(i) सभ्यता और आर्थिक प्रगति के साथ ब्याज की दर कम होती है जबकि लगान की दर बढती है। यह इसलिए होता है कि पूंजी की पूर्ति लगातार बढती रहती है। परन्तु भूमि की मात्रा सीमित है और बढाई नही जा सकती जबकि उसकी माग जनसख्या की वृद्धि के साथ बढती जाती है।

(ii) उर्वरा शक्ति तथा स्थितियो में विभिन्नता होने से भूमि के लगान में भी अनेक अन्तर होते हैं। भूमि के गुणो के अन्तर स्थायी होते है। जितनी ही अधिक प्रतियोगिता होगी, उतना ही अधिक लगानो मे अन्तर होगा। भूमि की गतिहीनता के कारण उसको एक उपयोग से दूसरे उपयोग में परिवर्तित नही किया जा सकता, इसलिए लगान के अन्तर स्थायी होने की ओर प्रवृत्त रहते है।

दूसरी ओर, ब्याज की प्रवृत्ति समानता की ओर होती है। केवल 'सकल' (gross) ब्याज मे खतरे तथा असुविधाजनक तत्त्वो के कारण अन्तर होता है। पूंजी उससे कही अधिक गतिशील (mobile) होती है और इसलिए शुद्ध ब्याज के

अन्तर यदि कुछ होते भी है तो प्रतियोगिता के कारण उनके लोप होने की सम्भावना रहती है।

(iii) लगान-रहित भूमि (no-rent land) भी होती है परन्तु ब्याज-हीन पूजी (no-interest capital) नही हो सकती। पूजी का निर्माण मनुष्य द्वारा होता है और उसकी पूर्ति की एक निश्चित कीमत होती है। पूजी के प्रत्येक अश पर कुछ न कुछ ब्याज अवश्य होगा। परन्तु कुछ भूमि इतनी अनुपजाऊ या अनुपयोगी हो सकती है कि उस पर कोई लगान न हो। भूमि प्रकृति की देन है और कुछ न मिलने पर भी इसे हटाया नही जा सकता।

१८ ब्याज, लगान और अर्ध-लगान (Interest, Rent and Quasi-Rent)—कुछ अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार नही करते कि लगान, अर्ध-लगान तथा ब्याज में कोई अन्तर है। उनका तर्क है कि भूमि के बारे मे कोई विचित्रता नही है और यदि है भी तो उसे बहुत बढा-चढा कर कहा जाता है। भूमि की तरह और भी अनेक वस्तुए है जो सीमित है। उत्पादन के अन्य साधनो मे भी अन्तर का तत्त्व रहता है। इसलिए यह तर्क पेश किया जाता है कि पूजी लगाने से होने वाली आय चाहे वह भूमि-सदृश स्थायी वस्तुओ में लगाई जाय अथवा अर्धस्थायी या नष्ट होने वाली वस्तुओ में लगाई जाय, अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो की क्रिया की दृष्टि में, यह सब समान है। दुर्लभता का सिद्धान्त मूल्य के निर्धारण करने में हर अवस्था में लागू होता है।

परन्तु इन समानताओ के कारण हमें ब्याज, लगान अथवा अर्ध-लगान के अन्तर को नही भुलाना चाहिए। सबसे बडा अन्तर परिवर्तन तत्त्व की पूर्ति की रकम पर होने वाली प्रतिक्रिया का होता है। लगान बढ सकता है या घट सकता है परन्तु भूमि की पूर्ति अप्रभावित रहती है और अर्ध-लगान की दशा मे भी कुछ समय के लिए पूर्ति अपरिवर्तित रहती है।। परन्तु शीघ्र पुनरुत्थान की जाने वाली चीजो (पूजी) के अर्जन में परिवर्तन होने की प्रतिक्रिया बडी शीघ्र उसकी पूर्ति पर होती है। बात यह है कि भूमि की दुर्लभता उसका स्थायी लक्षण है, जबकि और वस्तुओ की दुर्लभता अपवाद-स्वरूप और स्थायी होती है।

किसी साधन की पूर्ति की लोच (elasticity) और उसका सतुलन समायोजन (adjustment) के लिए आवश्यक समय के कारण लगान, अर्ध-लगान और ब्याज मे अन्तर होता है। यदि किसी साधन की पूर्ति स्थिर होती है,जैसी कि भूमि की अल्प तथा दीर्घकाल दोनो के लिए होती है, तो उससे होने वाली आय लगान के तौर पर होती है। यदि पूर्ति अल्पावधि के लिए लोचहीन (inelastic) होती है, जैसे कि मशीनो की होती है तो आय अर्ध-लगान कहलाती है। परन्तु यदि किसी साधन की पूर्ति अल्प तथा दीर्घ दोनो कालो मे लोचपूर्ण है, तो उससे होने वाली आय ब्याज कहलाती है।

परन्तु मार्शल जैसे कुछ अर्थशास्त्री कहते है कि ये अन्तर मात्रा के है, प्रकार के नही। वे कहते है कि "धीरे-धीरे चल पूजी पर ब्याज और पुरानी पूजी के लगाने से प्राप्त अर्ध-लगान एक दूसरे मे मिल जाते है। भूमि का लगान भी स्वय कोई स्वतन्त्र

वस्तु नही है, वरन् एक बडी जाति की ही एक शाखा है।"[1] परन्तु मात्रा का यह अन्तर भी व्यावहारिक नीति और कर के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। इनसे सामाजिक और वित्तीय महत्त्व की बडी समस्याए उत्पन्न होती है।

१९ ब्याज पर द्रव्य के मूल्य मे परिवर्तन होने का प्रभाव (Effect of Changes in the Value of Money on Interest)—द्रव्य के मूल्य का अर्थ होता है उसकी क्रय-शक्ति, जो फिर कीमतो के स्तर पर निर्भर है। यदि कीमतें बढती है, तो द्रव्य कम खरीद सकता है अर्थात् द्रव्य का मूल्य कम होता है। इसके विपरीत जब कीमतें गिरती है, तो द्रव्य का मूल्य बढता है।

अब हमें देखना चाहिए कि द्रव्य के मूल्य मे (अथवा कीमतो मे परिवर्तन) होने से ब्याज की दर पर क्या प्रभाव पडता है।

जब कीमते ऊची है, तो व्यापारियो को बडा लाभ होता है। पूजी की माग बढती है और ब्याज की दर भी बढती है। कीमतें बढने पर ऋणदाता को घाटा होने से वे अपनी क्षतिपूर्ति करने का प्रयत्न ब्याज की दर बढा कर करेंगे। फिर कीमतो में निरतर वृद्धि होते रहने से वर्तमान में वस्तुओ की प्राप्ति को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार आट्रियन (एगियो) सिद्धात की दृष्टि से ब्याज की दर बढेगी। जब वस्तुओ की कीमत बढने के साथ द्रव्य का मूल्य घटता है, तो पूजीपतियो को रुपया बचाने के लिए आकर्षित करने को प्रलोभन की आवश्यकता पडती है। जब तक वह प्रलोभन नही होगा अर्थात् जब तक ब्याज की दर नही बढती तब तक पूजी की पूर्ति कम बनी रहेगी। माग वही रहने पर, ब्याज की दर में वृद्धि अवश्य होगी।

दूसरी ओर जब कीमते गिरती है, तो साधारणतया ब्याज की दरें भी गिरने लगती है। द्रव्य की क्रय-शक्ति बढने से ऋणदाता ब्याज की कम दर पर भी सन्तोष कर लेंगे। ऋणी भी अधिक ब्याज देने में समर्थ नही होंगे, क्योकि जब कीमतें गिरती है, तो ऋण का बोझ बढता है। कीमतें गिरने से व्यापार मे रुपया लगाने में हतोत्साह होता है। पूजी की माग कम होती है और ऐसी दशा में ब्याज की दर गिरेगी।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि उल्टे रूप से ब्याज की दर द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन के अनुसार तथा प्रत्यक्षत वस्तुओ की कीमत के स्तर मे परिवर्तन के अनुसार बदलती है।

२० ब्याज की दर मे परिवर्तन के परिणाम (Consequences of Changes in Interest rates)—ब्याज की दरो मे बढती और घटती होने से कई प्रतिक्रियाए होती है। ब्याज की दर में वृद्धि होने के कुछ परिणाम, सक्षेप में, ये है —(१) ब्याज की दर बढने से वस्तुओ का स्टाक अधिक महगा हो जाता है। सट्टेबाज और बिचौलिए (middlemen) हतोत्साह होते है। कच्चे माल तथा अर्धनिर्मित माल की माग कम हो जाती है और परिणामस्वरूप उनकी कीमते गिरने लगती है। (२) ब्याज की दरें बढने पर उत्पादन लागत भी बढ जाती है। यदि

1. Principles p 421.

मकानो का किराया नही बढता तो गृह-निर्माण कम होने लगता है। जब तक लाभ की दरें नही चढती, तब तक कारखानो के लिए भी माग नीचे गिरती रहेगी। (३) ब्याज की दर बढने पर पूजीपति भी तब तक कम ही उधार लेंगे जब तक उन्हें बहुत बडे लाभ की आशा न होगी। इससे औद्योगिक एव व्यावसायिक विकास में बाधा पडेगी। (४) ब्याज की दर बढने से बचत करने का प्रोत्साहन मिलेगा और कालातर मे पूजी की पूर्ति मे वृद्धि होगी। (५) बाडो की कीमतो में कमी हो जायगी क्योकि ऊचे ब्याज पर अपेक्षाकृत कम रकम लगाने से भी वचनपत्रो से उतना ही ब्याज मिलेगा।

ब्याज की दर कम होने से विपरीत परिणाम होगे —(१) स्थिर ब्याज के बाड की कीमत बढ जायगी। (२) बचत करने का उत्साह कम होगा। (३) सट्टेबाजी की वृद्धि होगी और कच्चे माल अथवा अर्धनिर्मित वस्तुओ की माग बढ जायगी, क्योकि स्टॉक की कीमत उस अवस्था में कम होगी। (४) औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रगति में सहायता मिलेगी, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल ब्याज की दर गिरने से यह नही होगा। अधिक लाभ होने की आशा अवश्य होनी चाहिये, नहीं तो केवल ब्याज की दर कम होने से व्यवसायी उधार लेने के लिए आकर्षित न होगे। घोडे को जल के पास ले जाया जा सकता है, परन्तु उसे पानी पीने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। (५) भवन-निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा। (६) यदि ब्याज की दर स्वैच्छिक बचत के कारण गिरी होगी तो उपभोक्ता सामग्री की माग कम होगी और उत्पादन सामग्री के लिए बढेगी। उत्पादन के साधन उत्पादन सामग्री के उद्योग की ओर प्रवाहित होगे। (७) यदि ब्याज की कम दर पूजी की पूर्ति अधिक होने से है, तो उत्पादन कि अन्य साधनो के साथ पूजी का अधिक उपयोग होने से उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति में वृद्धि होगी। इससे लगान और मजदूरी बढेगी। (८) कारखानो में वस्तुए अधिक बनने से चीजें सस्ती होगी और इससे उपभोक्ता को लाभ होगा।

निर्देश पुस्तकें

Keynes, J M —General Theory of Employment, Interest and Money

Benham, F —Principles of Economics

Marshall, A —Principles of Economics Readings in the Theory of Income Distribution, pp 355-499

Readings in Business Cycle Theory

Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 17

Tarshis, L —Elements of Economics, 1946 Ch 25

Bain, J S —Pricing, Distribution and Employment 1948, pp 384—395

Fisher, J —The Nature of Capital and Interest

Cassel, G —Nature and Necessity of Interest

Stigler, G J —Production and Distribution Theories

Wilson, T —Fluctuations in Income and Employmeut, Chs 1, 2 and 3

Lakshmi Narasimhan, S —Theories of Interest

अध्याय ३०

लाभ

(PROFITS)

१ लाभ का स्वरूप (Nature of Profits)—लाभ उद्यमी कार्यों की अपेक्षा उद्यमी का पुरस्कार है। ड्रूकर (Druker) के शब्दो में "पिछली लागत पर वर्तमान आय की बढौती को लाभ कहते हैं। यह वर्तमान आय की पिछले औसत से तुलना करके मापा जाता है यह भूतकाल पर वर्तमान का आगे निकला स्वरूप है।" व्यापारिक दृष्टि से लाभ का यही अर्थ होता है। परन्तु औद्योगिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है, यह व्यक्तिगत होने के बजाय सास्थीय (corporate) है। उत्पादन एक विस्तृत विधि है जब कि व्यापार अति सन्निहित विधि है। अतएव औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था भूत की अपेक्षा भविष्य पर अधिक ध्यान देती है। औद्योगिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से लाभ वर्तमान लागत तथा वर्तमान उत्पादन की भिन्नता से मालूम किया जाता है और यह व्यवसाय में रुके रहने के लिए भावी लागत पर एक प्रकार का पारितोषिक है। और भावी लागत का आशय व्यवसाय में होने वाले विभिन्न प्रकार के जोखिमो से है।

लाभ का अध्ययन कठिनाइयो से परिपूर्ण है। "लाभ का कोई सरल सिद्धान्त (नियम) बनाना कठिन है, जिसमे इसके अन्तर्गत छोटे स्वतन्त्र व्यापारी, बडे मालिक, कम्पनियो के हिस्सेदार आदि सभी सम्मिलित किए जाएं और उत्तरदायी प्रबन्धको को अलग रखा जाए।"[1]

लाभ अन्य साधनो के प्रतिफल से तीन मुख्य बातो में भिन्न होता है—(क) लाभ बची हुई आय है, न कि अन्य साधनो को मिलने वाली एक बंधी आय। (ख) अन्य साधनों के पारिश्रमिक की अपेक्षा लाभ में बहुत अधिक उतार-चढाव होता है। (ग) लाभ ऋणात्मक (negative) भी हो सकता है, लेकिन लगान, मजदूरी और व्याज ऐसा कभी नही हो सकते।

२ सकल लाभ का विश्लेषण (Analysis of Gross Profits)—लाभ का वास्तविक स्वरूप समझने का सब से अच्छा उपाय यह है कि उद्यमी की सकल आय का उसके विभिन्न भागो में विश्लेषण कर लिया जाय। उद्यमी को जो कुछ प्राप्त होता है, उस सब को "सकल लाभ" कहा जाता है कि सिर्फ उसके कृत्यो से होने वाला। यह कई तत्त्वो का सम्मिश्रण है। प्रो० वॉकर पहले अर्थशास्त्री हुए है जिन्होंने इस जटिल अवस्था में से लाभ और व्याज में फर्क करने की कोशिश की। उनके

1. Briggs & Jordan, op. cit. p 466

अनुसार, उद्यमी की आय सिर्फ दो तत्वो से बनी है, अर्थात् ब्याज तथा लाभ । आधुनिक काल में इस विषय मे और अधिक छान-बीन हुई है, जिससे पता चलता है कि शुद्ध लाभ तो बहुत-सी मदो में से एक मद है जो सिर्फ उद्यमी कृत्यो (entrepreneurial functions) से प्राप्ति के रूप में मिलती है। व्यापार से होने वाली कुल प्राप्तियो में से उस रकम को निकाल देना चाहिये, जो ठेकेदारी के आधार पर प्रयुक्त उत्पादन के विभिन्न साधनो को पारिश्रमिक रूप में दी गई है। इस प्रकार भूमि का लगान, मजदूरो का वेतन और पू जी का ब्याज घटा देना चाहिये । इसके बाद जो धन बचता है, वह व्यापार का सकल लाभ अथवा सकल आय होती है । इनका निम्नलिखित रूपो में विश्लेषण किया जा सकता है —

(i) **प्राय व्यापार में लगी हुई उद्यमी की निजी पू जी के ब्याज** को श्रम से लाभ में शामिल कर दिया जाता है। लेकिन यह लाभ नही है, क्योकि उद्यमी अपनी पू जी को किसी अन्य को ऋण के रूप में देकर उससे ब्याज पा सकता है। इसलिए हमें ब्याज की चालू दर के अनुसार कुल प्राप्ति में से रकम घटा देनी चाहिए।

(ii) **उद्यमी की निजी भूमि के किराये** को भी लाभ में नही शामिल करना चाहिए । वह अपनी भूमि को किसी दूसरे किरायेदार को देकर उससे किराया ले सकता था । अस्तु, उस प्रकार की भूमि का जो चालू किराया हो उसके बराबर कुल आय में से कटौती कर देनी चाहिए।

(iii) **प्रबन्ध-व्यवस्था पर वेतन के रूप में उद्यमी पर होने वाला व्यय**—यह प्रबन्धक के रूप में उद्यमी द्वारा किये गये श्रम का पारिश्रमिक है। वह किसी दूसरी सस्था में वेतन पर यही काम कर सकता था । इसलिए उसे वेतन दिया ही जाना चाहिये और इसको उसका वेतन समझा जाना चाहिये, न कि उसका लाभ।

उक्त तीनो तत्त्व वस्तुत , उद्यमी के पुरस्कार नही है, बल्कि पू जीपति, जमीदार व प्रबन्धक के प्रतिफल है जो बिना उद्यमी हुए भी वह इतना प्राप्त कर सकता है ।

(iv) **जोखिम उठाने वाले रूप में उद्यमी का पुरस्कार**—जोखिम उठाने का कार्य उद्यमी को स्वय करना होता है। दुर्घटना, आग लगना आदि जैसे कुछ जोखिमो का तो बीमा किया जा सकता है लेकिन अनेक ऐसे जोखिम है जिनका बीमा नहीं हो सकता और वे सब उद्यमी को ही उठाने पडते है।

(v) मजदूर, पू जीपति, जमीदार, कच्चे माल की पूर्ति करने वाले तथा उपभोक्ताओ के साथ सौदा करने की अधिक योग्यता होने के कारण होने वाला उद्यमी का लाभ भी शामिल है।

(vi) तत्पश्चात् एकाधिकार लाभ का भी अश हो सकता है (देखिए विभाग ६)। यह लाभ अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होते है जिसके अन्तर्गत उद्यमी अधिक कीमत लेकर अथवा प्रयुक्त साधनो को कम पारिश्रमिक देकर अपने लाभ को बढा सकता है।

(vii) **सयोगवश होने वाले लाभ**—यह लाभ परिस्थितियो के कारण भाग्यवश अचानक हो जाते है, जैसे युद्ध छिड जाने पर युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओ के उत्पादको तथा अन्य वस्तुओ के उत्पादको को भी बडे परिमाण में लाभ होते

है। युद्धकाल मे अनेक उद्यमियो ने चीजो की माग और फलस्वरूप कीमत बढ जाने के कारण भारत तथा अन्य देशो में बहुत बडे परिमाण मे लाभ उठाया था। आकस्मिक लाभ केवल कीमत के तुरन्त ही बढने से नही होता। वे स्वाद में परिवर्तन अथवा वस्तु के नये प्रयोग के पता लगने से माग में आकस्मिक वृद्धि से भी हो सकते हैं। आकस्मिक लाभ जनसख्या में परिवर्तन से भी होगा।

अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री लाभ-सम्बन्धी अमरीकी दृष्टिकोण को मानते हैं कि लाभ उद्यमी के उन कार्यों का पारिश्रमिक है जो वेतनभोगी प्रबन्धको को नही सौंपा जा सकता। **कुछ अर्थशास्त्री जोखिम उठाने व सौदेबाजी से होने वाले लाभ को उद्यमी का "शुद्ध लाभ" मानते हैं** जो सकल लाभ से भिन्न है, जैसा कि ऊपर गिनाया गया है। शुद्ध लाभ "वह रकम है, जो उद्यमी को ऐसे जोखिम उठाने से प्राप्त होती है, जिन्हे माग की आशा मे उत्पादन की प्रणाली के अन्तर्गत समस्त व्यापार से अलग नही किया जा सकता।" "यह वह भुगतान है, जिसे विशेषत जोखिम उठाने के निमित्त किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि उद्यमी "कुछ" ऐसा कार्य करता है जिसे केवल वही कर सकता है। यह सबसे आवश्यक कार्य माना जाता है। यह "कुछ" प्रबन्ध-कार्य नही हो सकता क्योंकि प्रबन्धक वेतन पर रख जा सकते है। न यह कोई ऐसा कार्य हो सकता है जिसे उद्यमी किसी अन्य को सौप सके। अस्तु, यह कहा जाता है कि लाभ वह पुरस्कार है जो उद्यमी को **अन्तिम उत्तरदायित्व** को अपने ऊपर लेने के लिए मिलता है।"[1] वह उत्तरदायित्व जो दूसरो पर नही डाला जा सकता।

अब हम यहा लाभ के कुछ सर्वविदित सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे।[2]

३ लाभ, जोखिम उठाने का एक पुरस्कार (Profits, a Reward for Risk-bearing)—बहुत से ऐसे लोग है, जो जोखिमो का ध्यान रखते है और मैदान मे आने से पहले हिचकिचाते हैं। व्यापार मे जितना ही अधिक जोखिम होता है उतनी ही अधिक लाभ की आशा रहती है। सभी व्यापार में कम या अधिक जोखिम होती है। अत. जब तक जोखिम उठाने वाले को पर्याप्त मात्रा में पुरस्कृत नही किया जायगा, व्यापार नही प्रारम्भ होगा। चूकि जोखिम हतोत्साहित करने वाला होता है, इसलिए उद्यमियो की सख्या कम रहती है और जो जोखिम उठाते है, उनकी आय पूजी पर होने वाले साधारण प्रत्याय से बहुत अधिक होती है। इसलिए लाभ को जोखिम उठाने के लिए पुरस्कार माना जाता है।

लाभ का यह सिद्धान्त "हाले" (Hawley)[3] के नाम से सम्बन्धित है। उनके अनुसार "लाभ उद्यमी द्वारा जोखिम उठाने तथा उसके उत्तरदायित्व का पुरस्कार होता है।" ड्रकर चार प्रकार के जोखिम बताते है, पुन स्थापना (replacement) जोखिम (risk proper), अनिश्चितता (uncertainty), तथा प्रयोग से हटना

1 S E Thomas—Elements of Economics, 1939 p 293-294,
2 For history of the theories of Profits see Knight, F H—Risk, Uncertainty and Profit, 1940 Ch II
३. Hawley, F B—Enterprise and the Productive Process, 1907.

(obsolescence)। पुनःस्थापना को आमतौर पर अवमूल्यन (depreciation), कहते है, इसको गिना जा सकता है और लागत के रूप में माना जाता है। 'प्रयोग से हटने' को गिना (calculate) नही जा सकता परन्तु यह लागत की मुख्य मद है। जोखिम (अर्थात् उत्पाद के बाजार में बेचने की जोखिम) तथा अनिश्चितता लागत नहीं है, परन्तु लाभ के व्यय स्वरूप है। यह व्यवसाय में रुके रहने की लागत कहे जा सकते है। प्राकृतिक जोखिम जैसे आग, [दुर्घटना आदि की बीमे से रक्षा की जा सकती है। इसलिए इनको लागत में गिना जाता है। लेकिन कई जोखिम ऐसी है जिनका पूर्वाभास नही हो सकता। इसलिए उनके बारे में निश्चित नही हो सकते। इन जोखिमो को उठाने के परिणामस्वरूप ही उद्यमी को पुरस्कार मिलता है।

इसके विपरीत एक यह भी विचार-धारा है कि यद्यपि लाभ में जोखिम उठाने का कुछ पुरस्कार सम्मिलित है तथापि उद्यमी को जो भारी लाभ होता है, उस सबको जोखिम के साथ नही जोडा जा सकता। उठाये गये जोखिम के साथ उनका आनुपातिक सम्पर्क किसी भी प्रकार नही होता। इसके विपरीत कारवर (Carver) का कहना यह है कि केवल जोखिम उठाने से लाभ नही होता बल्कि लाभ इसलिए होता है कि अच्छे उद्यमी जोखिम को कम करने में समर्थ होते हैं।[1] हमको यह विरोधाभास प्रतीत होता है कि लाभ इसलिए नही होते क्योकि जोखिम होता है, परन्तु इसलिए होते है कि जोखिम को हटा दिया जाता है और उससे कोई सम्बन्ध ही नही रह जाता। इस पर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि शुद्ध लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है।

४ लाभ का गतिशील सिद्धात (Dynamic Theory of Profits)—यह सिद्धान्त अमरीकी अर्थशास्त्री श्री जे बी क्लार्क (J B Clark) के नाम से सम्बन्धित है। इनका कथन है कि स्थिर विश्व में जहा जनसख्या, पूजी, मानव इच्छाओ का परिमाण व गुण, उत्पादन की प्रणालिया, टैकनीकल ज्ञान, व्यापार का सगठन आदि एक सी स्थिति में रहते है, वहाँ प्रतियोगिता के प्रभाव से लाभ की प्रवृत्ति लोप होने की ओर रहती है। लाभ विक्रय मूल्य व लागत के बीच के अन्तर का प्रतिनिधित्व करता है। यह लागत के ऊपर का आधिक्य या अतिरेक होता है। लेकिन सघर्षणहीन ढग पर प्रतियोगिता चलती रहे तो यह आधिक्य लुप्त हो जाता है। जहा कही आधिक्य होगा, उत्पादन में वृद्धि होने से कीमत घटेगी। इस प्रकार आधिक्य लुप्त हो जायगा। "स्थिर अवस्था में प्रत्येक साधन को जो वह पैदा करता है प्राप्त कर लेता है, और चूकि लागत तथा विक्रय कीमत सदैव समान रहती है, मजदूरी के अलावा जो निरीक्षण कार्य है,[2] कोई लाभ नही होगा।" स्थिरता की स्थिति में लोग हर बात को जानते है और जान सकते है। ऐसी स्थिति में कोई जोखिम या अनिश्चितता नही होती और इसलिए लाभ नहीं होना।

परन्तु हम स्थिरता की स्थिति में नही रह रहे है। हमारा विश्व गतिशील है और

1 Carver—Distribution of Wealth, p 274
2. Knight, F H—Risk, Uncertainty and Profit, 1940, p 33

इसमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। कुशल उद्यमी पहले से ही इन परिवर्तनो को जानता है। वह अग्रगामी है। वह आविष्कारो या अन्य किसी प्रकार से लागत को घटाकर लाभ प्राप्त करता है। दूरदर्शी, साहसी और कुशल उद्यमियो के लिए अपने अनुकूल स्थिति बना कर लाभ करने के निमित्त परिवर्तनशील विश्व मे असीम अवसर होते है। इनके लिए आगे बढना और लाभ प्राप्त करना केवल इसीलिए सम्भव है कि विश्व गतिशील है। स्थिरता की स्थिति में लाभ गायब हो जायेंगे और उद्यमी व्यवस्था का वेतन ही प्राप्त करेंगे।

प्रोफेसर नाईट का यह मत है कि केवल उन्ही परिवर्तनो से लाभ होगा, जिनके विषय मे पहले से कुछ नही जाना जा सकता और जिनके लिए पहले से कोई व्यवस्था नही की जा सकती। अन्य परिवर्तनो से लाभ नही होगे। उनका कहना है "ऐसे को परिवर्तन न कहेंगे जिसको पहले से जाना जा सकता है। क्योकि यदि 'परिवर्तन' पहले से जान लिया जायेगा, जैसा कि बहुधा होता है, तो लाभ न होगे। 'परिवर्तन' ऐसी परिस्थिति ला सकता है जिसमें लाभ हो परन्तु यह तभी होगा जब वह भविष्य के विषय मे अज्ञान लायेगा।"[1] अतएव नाईट के अनुसार परिवर्तन के बजाय यह भविष्य का अज्ञान अथवा अनिश्चितता है जिससे लाभ होते है।

५. लाभ, अनिश्चितता का भार उठाने का पुरस्कार (Profits, a Reward for Uncertainty-bearing)—प्रोफेसर नाईट के अनुसार जोखिम उठाने (जो उद्यमी का विशेष कार्य है) के बजाय अनिश्चितता वहन करना ही वह कारण है जिससे लाभ होता है। हम यह देख चुके है कि कुछ जोखिम ऐसे है, जो पहले से ही विदित होते है और जिनके लिए व्यवस्था कर ली जाती है। मृत्यु के जोखिम और अग्निकाड, जहाज डूबने जैसी दुर्घटनाओ के जोखिम ऐसे है, जिनको पहले से निश्चित किया जा सकता है। बीमा कम्पनिया प्रीमियम के रूप में प्राप्त होने वाले धन के बदले इन जोखिमो को अपने ऊपर ले लेती है। इस प्रीमियम के भुगतानो को उत्पादन की लागत में शामिल कर लिया जाता है। इन जोखिमो के बदले में उद्यमी को लाभ नही मिलता। इसलिए जोखिम उठाने का काम उद्यमी का नही बल्कि बीमा कम्पनियो का हो सकता है।

लेकिन प्रोफेसर नाईट उन जोखिमो को जोखिम नही मानते जिनके विषय में पहले से नही जाना जा सकता। वे उन्हे 'अनिश्चितता' मानते है। जोखिम उन्ही खतरो को कहा जाता है, जिनके विषय में पहले से जानकारी रहती है या जिन्हें पहले से जाना जा सकता है। उद्यमी को अनिश्चितताओ को वहन करने का पुरस्कार मिलता है न कि जोखिम उठाने का।

जिस प्रकार प्रतीक्षा करना (पूजी) उत्पादन का साधन माना गया है, उसी प्रकार अनिश्चितता वहन करने को भी उत्पादन के साधन का दर्जा दिया गया है। उत्पादन के अन्य साधनो के समान अनिश्चितता वहन करने का भी एक पूर्ति-मूल्य होता है,

---

1. Ibid., p 3

अर्थात् जब तक निश्चित प्रत्याय की आशा नही होती, किसी भी उद्यमी को अनिश्चितता का सामना करने के लिए प्रलोभन नही दिया जा सकता । एक साहसी और धनवान उद्यमी, जिसने अपने धन के बडे भाग को उद्योग मे लगाने का इरादा कर लिया है बडी अनिश्चितता वहन कर सकता है । एक उद्यमी जो कि अपनी पूजी के छोटे भाग की अपेक्षा बडा भाग उद्योग मे लगाने के लिए तैयार है, उसके लिए यह आवश्यक है कि उसे अधिक लाभ हो ।

यह सदैव ध्यान मे रखना चाहिए कि अनिश्चितता वहन करने और पूजी के मिलने से ही उद्यमी को अच्छे लाभ के रूप में पुरस्कार मिलता है। अकेली पूजी निर्जीव है और बिना पूजी के अनिश्चितता वहन करना अर्थहीन है। केवल पूजी ही जोखिम पर लगाई जा सकती है। इन दोनो का योग मुश्किल से ही होता है। कल्पनाशील मस्तिष्क के उद्यमी के पास थोडी ही पूजी हो सकती है । दूसरी ओर एक व्यक्ति असाधारण रूप में धनी हो सकता है । किन्तु सम्भव है वह डरपोक हो ।

लाभ के एक कारण के रूप में "अनिश्चितता वहन करने" के इस सिद्धात की निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की जाती है —

(१) अनिश्चितता ही केवल-मात्र वह कारण नही है जो उद्यमियो की पूर्ति को सीमित करता है। पूजी, ज्ञान एव अवसर का अभाव, आर्थिक सघर्ष का होना आदि कुछ ऐसे कारण है जो उद्यमियो की पूर्ति को सीमित करते है।

(२) अनिश्चितता वहन करना ही उद्यमी का कार्य नही है। जो लाभ वह प्राप्त करता है, वह अनेक प्रकार की सेवाओ का प्रतिफल होता है । वह उद्योग को स्थापित करता है, सगठित करता है, सौदे करता है ।

अनिश्चितता वहन करने को उत्पादन के साधन का दर्जा नही दिया जा सकता यह धन की लागत से भिन्न उस वास्तविक लागत का एक अग है, जिसका अर्थ शक्ति लगाना, आत्मत्याग, बलिदान आदि हो सकता है। सामान्यत वास्तविक लागत के रूप मे लागत को नही आका जाता । हम जानते है कि पूजी उत्पादन का एक साधन है किन्तु पूजी बचाने के लिए आत्मत्याग आवश्यक नही है ।

६ एकाधिकार और लाभ (Monopoly and Profits)—अभी तक हमने यह माना है कि नियोजक (employer) प्रतियोगिता की स्थिति में काम कर रहा है। दीर्घावधि मे पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लाभ नही होता। जब प्रतियोगिता नही है या अधूरी अथवा दोषयुक्त है, तब उद्यमी अपनी वस्तुओ की पूर्ति या साधनो की माग पर प्रतिबन्ध लगाकर, यदि ऐसे साधनो को खरीदने का उसको एकाधिकार है, अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर सकता है। एकाधिकारी व्यापार क्षेत्र में नई फर्मों के प्रवेश पर नियन्त्रण लगा कर, करार (agreements) तथा पेटेंट (एकस्व) आदि द्वारा, तथा ऐसे ही अन्य उपायों से एकाधिकार लाभ उठाने की स्थिति में रहता है । लेकिन एकाधिकार लाभ का सबसे सामान्य लाभ एकाधिकार प्रतियोगिता अथवा उत्पाद विभेद (product differentiation) में है ।

"एकाधिकार लाभ का तत्व नवप्रवर्तन लाभ (innovation profit) अथवा

पहल करने के कारण भी होता है। वह फर्म जो नया माल तैयार करती है, या किसी प्रकार के नये माल (material) की खोज की है, अथवा कोई नई मण्डी खोजी है तो वह उस दशा मे तब तक लाभ कमाती रहेगी जब तक दूसरे प्रतिद्वदी नही खडे होते। चूकि प्रतियोगिता का अभाव रहता है, आशिक अथवा पूर्णरूप मे नवप्रवर्तन अथवा पहले से होने वाले लाभो को एकाधिकार लाभ माना जा सकता है।

वास्तविक जगत् में चूकि परम एकाधिकार (absolute monopoly) दुर्लभ है, इसलिए अपूर्ण प्रतियोगिता के बहुत से केस सामने आते है। इसलिए एकाधिकार लाभ इतना दुर्लभ नही है जितना माना जाता है। वास्तव में इसके तत्त्व प्रत्येक व्यापार मे पाए जाते है।

७ लाभ और मजदूरी (Profits and Wages)—लाभ और मजदूरी के सम्बन्ध का दो दृष्टिकोणो से अध्ययन किया जा सकता है। प्रथम दृष्टिकोण समाजवादियो का है, और वह यह है कि लाभ **मजदूरी के परिश्रम के फल का केवल एक निकाला हुआ भाग है**। इस विचारधारा के अनुसार लाभ न्यायपूर्ण नही है, क्योंकि वे वेतन प्राप्त करने वालो पर प्रभाव डालकर उपार्जित किये जाते है। दूसरी विचारधारा प्रोफेसर टासिग की है। वे लाभ को मजदूरी का केवल एक विशेष रूप मानते है।

जहा तक समाजवादी दृष्टिकोण का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक ही प्रकार के श्रम की मजदूरी की दर एक ही उद्योग में समान होती है, जिससे नियोजक को लाभ नही होता। वह भी उतनी ही मजदूरी देता है जितनी ऊँचे लाभ पाने वाला देता है। अच्छा और योग्य नियोजक इसलिए ऊँचे लाभ उपार्जित नही करता कि वह कम मजदूरी देता है वह ऐसा प्रतियोगिता की दशा मे नही कर सकता, वल्कि वह अपनी अधिक अच्छी सगठन योग्यता और अनिश्चितता वहन करने की शक्ति के कारण अधिक लाभ प्राप्त करता है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से कम लागत पर उत्पादन कर सकता है।

अब हम प्रोफैसर टासिग (Taussig) के इस मत पर विचार करेंगे कि लाभ केवल एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए दी गई मजदूरी के समान है। टासिग का कथन है कि "लाभ मजदूरी का एक सर्वमान्य रूप है।"

टासिग के इस विचार को क्यो नही स्वीकार किया जा सकता। मजदूरी और लाभ मे अनेक मौलिक अन्तर है जो इस प्रकार है —(१) लाभ जोखिम और अनिश्चितता का भार वहन करने का पुरस्कार है। मजदूर यह जोखिम नही उठाता। मजदूरी या पुरस्कार मुख्यत उसके द्वारा किए गये श्रम के लिए है। नियोजक की जोखिम की तुलना में उसका जोखिम महत्त्वहीन है। (२) मजदूरी की बजाय लाभ में सयोग का तत्त्व अधिक होता है। मजदूरी निर्दिष्ट और निश्चित आय है जब कि लाभ अनियमित और अनिश्चित होता है। इस प्रकार मजदूरी लाभ से अधिक यथार्थ अर्थ मे 'अर्जित' आय है। (३) लाभ का एक बडा भाग प्रतियोगिता की अपूर्णताओ के कारण होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जब कि लाभ की प्रवृत्ति बढाव की ओर होती है, तो मजदूरी की प्रवृत्ति गिरावट की ओर रहती है। इसके कारण पहले बताये

जा चुके है।

८ क्या लाभ लगान का एक रूप है ? (Is Profit a Kind of Rent ?)—लाभ के सम्बन्ध में एक दूसरी विचारधारा के अनुसार इसे लगान से मिलता-जुलता माना गया है। लाभ का "लगान सिद्धान्त" अमरीकी अर्थशास्त्री एफ ए वाकर द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अग्रेजी अर्थशास्त्र सिद्धान्त में उसने सर्व-प्रथम पूजीपति और नियोजक में भिन्नता के मत को निश्चित किया। उद्यमी के लिए पूजीपति होना आवश्यक नही है। वह बिना अपनी पूजी का प्रयोग किये किसी व्यापार को प्रारम्भ कर सकता है।

वाकर लाभ को योग्यता का लगान स्वरूप मानते है। जिस प्रकार भूमि के विभिन्न वर्ग है, ठीक उसी प्रकार उद्यमियो के भी भिन्न-भिन्न वर्ग है। कम योग्यता का उद्यमी, जिसे वर्तमान माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन क्षेत्र में रहना है, अपने उत्पादन की लागत को ही केवल निकाल पाता है। उसके ऊपर विभिन्न श्रेणी की योग्यता के श्रेष्ठतर उद्यमी है। जिस प्रकार सीमान्त भूमि से श्रेष्ठतर भूमि में पार्थक्यपूर्ण सुविधा होती है, उसी प्रकार लाभ भी अलाभकर्ता उद्यमी या सीमान्त उद्यमी से अधिक योग्य उद्यमी को पार्थक्यपूर्ण योग्यता के लिए प्राप्य पुरस्कार है। इसी प्रकार लाभ भी लगान के समान है और लगान की भाति कीमत में शामिल नहीं होता। व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन लाभ नही है। सीमान्त नियोजक केवल व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन अर्जित करता है, और कुछ नही। कीमत और लागत में थोडा भी विपरीत हेरफेर होने पर वह नियोजक की अपेक्षा कर्मचारी के रूप में कार्य करना अधिक पसन्द करेगा। इस प्रकार उद्यमियो की पूर्ति को जारी रखने के लिए व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन का भुगतान करना ही होगा। अस्तु, इस प्रकार वेतन कीमत में शामिल होता है।

इस सिद्धान्त में भी वही कमजोरी है, जैसा कि "रिकार्डो" के लागत सिद्धान्त में है। जो नियोजक परिस्थितियो में तनिक सी विपरीत उलट-फेर होने पर ही व्यापार छोड देता है, उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह कम योग्य हो। वह योग्यता में और अधिक ऊँचा हो सकता है तथा और अधिक लाभप्रद दूसरा काम उसे आकर्षित कर सकता है।

विशेषत यह सिद्धान्त लाभ के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या नही करता। यह केवल लाभ का एक माप-दण्ड उपस्थित करता है।

यह कहना गलत है कि लाभ कीमत में शामिल नही होता। अल्पकाल में ऐसा नहीं होता, किन्तु दीर्घकाल मे लाभ कीमत में शामिल होता है। उद्यमी जोखिम उठाने का आवश्यक कार्य करता है। और जब तक वस्तु की कीमत इतनी ऊँची नही होती कि वह इसके लिए नियोजक की क्षतिपूर्ति करे, नियोजको की पूर्ति घट जायगी। जब तक कि जोखिम उठाने की सेवाओ के लिए भुगतान करने की कीमतें पर्याप्त ऊँची नही हो जाती।

कुछ नियोजको को भारी लाभ हो सकते है और कुछ दूसरो को भारी क्षति का सामना करना पड सकता है। दीर्घ अवधि में जब औसत लिया जाता है तब कल्पित

आधिक्य गायब हो जाता है।

अन्त मे लाभ की मात्रा स्पष्ट करने में भी यह सिद्धान्त असफल रहता है। श्रेष्ठतर नियोजको के अभाव के कारण लाभ की भिन्नता होती है। पर ऐसा अभाव होता क्यो है ? भूमि के अभाव का कारण प्राकृतिक सीमाएँ है। उद्यमियो के बारे में ऐसी सीमाए नही है। लाभ के सिद्धान्त को इस प्रकार के अभाव का स्पष्टीकरण करना ही चाहिए।

इस प्रकार लगान की भाति लाभ में भिन्नता के तत्त्व होने से श्रेष्ठतर उद्यमी उच्चतर लाभ अर्जित करते है, लेकिन सामजस्यता का अन्त यही हो जाता है। बिना लगान की भूमि रह सकती है, किन्तु बिना लाभ के उद्यमी नही रह सकते। लगान कीमत में शामिल नही हो सकता परन्तु साधारण लाभ हो सकते है। इस कारण भूमि की पूर्ति होगी, चाहे लगान हो या न हो, लेकिन उद्यमियो की पूर्ति को तब तक कायम नही रखा जा सकता, जब तक कि लाभ का भुगतान न हो। यद्यपि प्राप्त लाभ कीमत मे शामिल नही होते, तथापि लाभ की आशाये या प्रत्याशित लाभ कीमत मे शामिल होते है। लेकिन दीर्घावधि में लाभ की आशाओ को प्रभावित करके प्राप्त लाभ भी कीमत में शामिल हो जाते है।

९. सामान्य या साधारण लाभ (Normal Profits)—कुछ लेखक साधारण लाभ के दृष्टिकोण को व्यवहार में लाते है। अनिश्चितता और अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण जो आधिक्य होता है, वह गतिशील या परिवर्तनशील स्थिति की घटना है। जैसा कि प्रोफैसर नाईट सकेत करते है कि साधारण लाभ समता की परिस्थिति से सम्बन्धित है और उनका सम्बन्ध ऐसी स्थिति से होता है, जिसमें परिवर्तन हो रहे है, जिसकी आशा पहले से की जा सकती है। परिवर्तन से पूर्णत खाली विश्व की कल्पना करना कठिन है। लेकिन हमारे अनेक समाज, विशेषत पुराने स्थापित समाज ऐसे हो सकते है जिनमे स्थितिया स्थिर होती है और व्यवसाय के तरीके दैनिक कार्यों जैसे हो जाते है।

साम्यावस्था या स्थिर समाज मे साधन, कम या अधिक, निश्चित हो जाते है और उनका विभिन्न उद्योगो में इस प्रकार वितरण होता है कि उनको एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाने का उद्देश्य ही नही रह जाता। किसी फर्म को उद्योग में प्रवेश करने अथवा छोडने की प्रवृत्ति नही होती। अस्तु, न्यूनतम अनिश्चितता और पूर्ण प्रतियोगिता रहेगी। ऐसी दशा में शुद्ध लाभ की प्रवृत्ति प्राय समाप्त होगी और उद्यमी लोग केवल निरीक्षण का वेतन अर्जित करेंगे। अत व्यावहारिक रूप में साधारण लाभ केवल व्यवस्था-सम्बन्धी आय रह जायगी। किसी उद्यमी को उद्योग में बनाए रखने के लिए ये कारण पर्याप्त है।

यदि प्रतियोगिता पर कोई रोक न हो और परिवर्तन के बारे में पहले से आशा लगाई जा सके तो प्रगतिशील स्थिति मे भी इससे मिलते-जुलते परिणाम हो सकते है। चूकि परिवर्तनो में समता नही होती, इसलिए उद्यमी कुछ उद्योगो मे अन्य उद्योगो से अधिक उच्चतर लाभ अर्जित करने में समर्थ हो सकते है।

यदि अनिश्चितता की स्थिति न भी हो तो भी गतिशील विश्व में आधिक्य लाभ (surplus profits) हो सकते है। यदि अवधि अल्प हो तो यह केवल अस्थायी दशा होगी। साधारण से अधिक लाभ देने वाले उद्योग, उद्यमी की क्षमता के अन्य साधनो को आकर्षित करेंगे। ऐसे उद्योगो के लाभ के दर गिरने लगेंगे। जिन उद्योगो में ऐसे साधन नष्ट होने लगते हैं, उनमे लाभ की वृद्धि तब तक होगी जब तक उसका साधारण स्तर नहीं स्थिर हो जाता। किन्तु गतिशील विश्व में यह आवश्यक नही है कि साधारण लाभ ठेके पर रखे गये प्रबन्धक के वेतन के समान हो, भले ही उसमें अनिश्चितता न भी हो? परिवर्तन का अस्तित्व बना रहने का अर्थ उद्यमी पर स्थिर राज्य से अधिक उत्तरदायित्व का भार रहना होगा, भले ही उसके विषय में पहले से ही आशा लगाई गई हो। उद्यमियो की पूर्ति को जारी रखने के लिए उनको ऐसा भार वहन करने का प्रोत्साहन दिया ही जाना चाहिए। लेकिन व्यवस्था सम्बन्धी व्यय के ऊपर उस अतिरिक्त भुगतान को प्रतियोगिता की शक्तियो की सकीर्ण सीमा के अन्दर रखा जायगा।

गतिशील विश्व म, प्रतियोगिता में भी अनिश्चितता के तत्त्व के साथ लाभ को स्थायी रूप में साधारण स्तर से ऊपर रखा जा सकता है। जहा एकाधिकारी के हाथो में पूर्ति है और माग लोचदार नही है, वहा साधारण लाभ भी स्थायी रूप में हो सकते है, चाहे अनिश्चितता की स्थिति रही हो या नही।

यह ध्यान देने की बात है कि अनिश्चितता कोई स्थायी नही है। अनिश्चितता की श्रेणिया (degrees) होती है। अनिश्चितता की जितनी ऊची श्रेणी होगी, उतना ही लाभ अधिक होना चाहिये, जिससे उद्यमियो के जोखिम उठाने की क्षतिपूर्ति हो सके।

१० क्या लाभ मे समानता की ओर प्रवृत्ति होती है? (Do Profits tend to Equality?)—यहा भी हम सीधा उत्तर नही दे सकते। यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर करेगा। समता की स्थिति में निरीक्षण के वेतन के अर्थ मे लाभ समान हो जायगा। शुद्ध लाभ लोप हो जायगा। ऐसे समाज मे, जिसमें परिवर्तन उपस्थित है, किन्तु अनिश्चितता नही है, लाभ समानता की ओर जायगे, जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है। योग्यता में भिन्नता होने के कारण भिन्नताए भी पूर्णत अनुपस्थित रहेगी। लेकिन प्रतियोगिता की शक्ति के द्वारा इन भिन्नताओ को सकीर्ण रखा जायगा। अत यह कहा जा सकता है कि जितना ही अधिक उद्योग का दैनिक कार्य जैसा स्वरूप होगा, उतना ही अधिक लाभ का झुकाव समानता की ओर होगा। यदि समय लम्बा हो और प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध न रहे, तो अल्पकाल में असमानताए रह सकती है।

परन्तु जब हम परिवर्तनशील समाज के विषय में विचार करते है, जहाँ अनिश्चितता मुख्य है, तो दीर्घावधि मे भी लाभ का झुकाव समानता की ओर नही होता। यहा लाभो में पर्याप्त विभिन्नताए हो सकती है।

११ लाभ तथा सीमान्त उत्पादन-शक्ति (Profit and Marginal Productivity)—क्या हम लाभ पर सीमान्त उत्पादनशक्ति का सिद्धान्त लागू कर सकते है? सामान्यत हा। सीमान्त उत्पादनशक्ति, जिसकी हम व्याख्या कर चुके

है, दुर्लभता तथा माग के बीच के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है। उद्यमियो का अभाव क्यो है तथा उनकी पूर्ति बढाना क्यो सरल नही है। उत्पादन की आधुनिक दशाओ में उद्यमियो, विशेषत: अद्भुत योग्यता वाले उद्यमियो की माग बढी है। उद्यमियो की सीमान्त उत्पादनशक्ति ऊची है, और इसीलिए लाभ ऊचे है। जितना ही अधिक अनिश्चितता रहेगी, व्यापार को सफल बनाने के लिए पर्याप्त ऊची योग्यता के नियोजको का उतना ही अधिक अभाव रहेगा, और फलस्वरूप उतने ही ऊचे लाभ होगे।

अन्य साधनो की तुलना मे उद्यमियो की सीमान्त उत्पादनशक्ति के सिद्धान्त को लागू करने में केवल यही अन्तर है कि यहा प्रतियोगिता की शक्तिया प्रत्यक्षरूप में काम करती है, जब कि अन्य साधनो के मामलो में वे नियोजको के द्वारा कार्य करती है। अन्तिम सारतत्व वही है। समाज की प्रतियोगितापूर्ण मागो को सन्तुष्ट करना आवश्यक है और इस प्रकार उद्यमी-विषयक योग्यता के वैकल्पिक प्रयोग हो सकते है। प्रतियोगिता की शक्तिया समान योग्यता के नियोजको के लाभ को समान करती है।

यह सिद्धान्त जितना स्पष्ट रूप में मूल्य के अन्य विषयो पर लागू होता है, उतना स्पष्ट रूप में लाभ पर नही लागू किया जा सकता। ऐसा इस कारण से कि नियोजक जटिल कार्यों को सम्पादित करता है तथा अनिश्चितता के नियोजक भी होते है, जिनको सीमान्त कहा जा सकता है। इस अर्थ में कि वे इस सन्देह में रहते है कि नियोजक बने रहे या वेतन-भोगी प्रबन्धक बन जायें—तथापि एक वर्ग के रूप मे नियोजको के अभाव के कारण लाभ व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन (मजदूरी) के स्तर पर नहीं पहुचते।

लाभ के निर्धारण-सम्बन्धी निष्कर्ष (Conclusions regarding the Determination of Profits)—अन्त मे, लाभ के निर्धारण के विषय मे हम यह कह सकते है कि कोई भी सिद्धात लाभ की व्याख्या करने के लिए उपयुक्त नही है। भिन्न-भिन्न विचार, उद्यमी के कार्यों के भिन्न-भिन्न अगो पर जोर देते है। वास्तविक कठिनाई इस बात से उपस्थित होती है कि लाभ एक ही प्रकार की आय नही है। यह उद्यमी के कार्यों के मिले-जुले रूप के कारण मिली-जुली आय है। उदाहरणार्थ, उपक्रमी जोखिम उठाता है, अनिश्चितता वहन करता है, योजना बनाता है, सूत्रपात करता है, निर्णय करता है, आदि अनेक प्रकार के कार्य करता है। इनमे से कोई भी कार्य लाभ के वास्तविक रूप की व्याख्या नही कर सकता। विभिन्न कार्यों के, जिसके लिए लाभ भुगतान होते है, अनुसार लाभ के भागो में इसका विश्लेषण करने मात्र से भी लाभ के निकलने की व्याख्या नही की जा सकती। एक सही सिद्धान्त को इस बात का स्पष्टीकरण करना चाहिए कि सगठन-संबंधी योग्यता का इतना अभाव क्यो है? इसका कारण यह है कि उद्यमी-विषयक विलक्षण योग्यता के लिए माग को देखते हुए इसी अभाव के हेतु वह आधिक्य निकलता है, जिसे अनिश्चितता और परिवर्त्तन के आधुनिक विश्व में शुद्ध लाभ कहा जाता है। सफल उद्यमी के लिए अति आवश्यक योग्यताओ (कल्पना, सगठन, क्षमता, निर्णय, साहस आदि) का इतना अभाव क्यो है, इस बात का स्पष्टीकरण ऐसे सिद्धान्त को अवश्य करना चाहिए। कहा तक यह सीमा प्राकृतिक कारणों से है तथा कहा तक वातावरण के कारण? इस सिद्धान्त को एकाधिकार के

तत्त्व और सयोगवश होने वाली प्राप्तियो के कारण होने वाले अलौकिक लाभो की भी व्याख्या अवश्य करनी चाहिए। विशेषतया मुद्रासबधी साधनो की भी उपेक्षा नही की जा सकती और न हम समाज के वर्तमान अगो की भिन्नता के प्रभाव की, जो गतिशीलता और अवसर को सीमित करता है, उपेक्षा कर सकते है। इन जटिलताओ के कारण अभी तक लाभ का कोई विस्तृत सिद्धान्त नही निकाला गया है।

१२ लाभ के कार्य (The Functions of Profit)[1]—साधारणतया यह सोचा जाता है कि लाभ उद्यमी को होता है तथा इसका भार उपभोक्ता अथवा साधारण जनता पर पडता है। यह अनुमान किया जाता है कि व्यक्तिगत उद्यमी तथा सामाजिक हितो मे अथवा, पीगू के शब्दो में, व्यक्तिगत उत्पादन और सामाजिक उत्पादन के हितो के बीच सघर्ष होना स्वाभाविक है।

परन्तु ऐसा विचार केवल एक भ्रम है। सघर्ष के बजाए, दोनो के बीच अर्थात् उद्यमी क्या पाता है और समाज क्या देता है, बडी अनुरूपता है। झगडा केवल दिखावट के लिए है। समाज का रूप चाहे जिस प्रकार का हो—पूजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद अथवा फासिज्म—लाभ बडा महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य करता है।

परोपकार से प्रभावित उद्यमी समाज के क्षेत्र को बढाने में अपने कर्त्तव्य, उनके साथ श्रमिक बनकर काम करने वालो तथा बजाय लाभ लेने के "जनता को सुखी बनाने में अपने कर्त्तव्य के विषय में चाहे जो कुछ कहे, परन्तु आर्थिक उद्यम का सबसे पहला कर्त्तव्य आर्थिक प्रयोग (कार्य) है, जिसका अर्थ प्रतिपादित साधनो को बनाए रखना है।" सामूहिक उद्यम का इन साधनो को बनाए रखना अपनी ओर तथा समाज की ओर पहला कर्त्तव्य है। यदि इसमें वह असफल होता है तो यही नही कि वह अपने अतिजीवन की शक्ति को नष्ट करता है बल्कि समाज को भी कमजोर बनाता है।" उद्यमी को अपने साधनो को बनाए रखने के लिए हानि न होने देना चाहिये तथा लाभ के साधारण दर के लिए कार्य करना चाहिये।

हर व्यक्तिगत उद्यमी का अपने अतिजीवन के सघर्ष में (१) व्यवसाय की वर्तमान लागत और, (२) व्यवसाय में रुकने के कारण बताए गए चार प्रकार के जोखिमो (पुन स्थापना, जोखिम, अनिश्चितता तथा प्रयोग से हटाना) को पूरा करने का कर्त्तव्य है। परन्तु इसके अतिरिक्त दो कर्त्तव्य और है जिनको लाभ प्राप्त करने वाले उद्यमी को पूरा करना चाहिये। (३) एक तो ड्रकर के अनुसार 'ड्राई होल्स' भरना चाहिए, अर्थात् सामाजिक दृष्टिकोण से एक सफल उद्यम (enterprise) को अकुशल उद्यम की हानि को पूरा करना चाहिए। "जिस प्रकार कि एक उत्पादक तेल के कुए को सूखे छिद्र में ले जाए गये नल तथा श्रम की लागत को पूरा करना पडता है, इसी प्रकार एक सफल कम्पनी को दूसरी असफल कम्पनी की हानि को पूरा करना चाहिये।" यह बीमा का सिद्धान्त है। व्यक्तिगत उद्यमी इन 'ड्राई होल्स' की चिन्ता चाहे न करे, परन्तु ऐसा समाज नही कर सकता (४) इसीलिये लाभदायक उद्यम को

---

1 See P F Drucker on "The Function of Profit" in Fortune, March, 1949

'ड्राई होल्स' की हानियो को पूरा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त लाभ को एक और कार्य करना चाहिये। वह है सामाजिक भार का उत्तरदायित्व। सफल औद्योगिक उपक्रमो को सामाजिक सेवाओ अथवा सामाजिक सुरक्षा उदाहरणार्थ शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाए, गरीबो की सहायता, बुढापे की पेंशन, मातृत्व सहायता, रक्षा, नागरिक राज्य शासन आदि की लागत का भार सहना चाहिये।

लाभ को यह चार कार्य आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए करने पडते हैं। परन्तु कोई भी आधुनिक समुदाय केवल इससे सतुष्ट नही होते कि वे केवल जीवित अथवा बने रहें। उनकी उत्तरोतर वृद्धि तथा उन्नति के लिए इसका प्रबंध करना चाहिए। अर्थव्यवस्था को उत्पादन के केवल नये साधनो के प्रयोग से ही नही, बल्कि वर्तमान साधन के अच्छे प्रयोग से विस्तृत करना चाहिये। यह साधारण ज्ञान की बात है कि यान्त्रिक कला में सुधार से उद्योग की सभी शाखाओ में प्रति मनुष्य कई गुना उत्पादन बढ गया है। यह सब लाभ के परिणाम हैं।

अन्त में हम यह कह सकते हैं लाभ का दर इस बात का सूचक है कि समुदाय के साधन किस ओर प्रयोग मे लाए जायें। यह पर्याप्त साधन के अनुकूलतम बटवारे (optimum allocation) का मार्गदर्शक है। आर्थिक पद्धति चाहे जैसी हो, कोई भी समुदाय अपने साधनो से अधिकाधिक लाभ उठाने की आवश्यकता को अवश्य मानेगा। बिना हानि उठाए इसे भूलाया नही जा सकता। यह हानि अर्थ-व्यवस्था का अस्त-व्यस्त होना है। साम्यवादी समाज मे भी साधन सीमित और आवश्यकताए असीमित होती हैं। लाभ की दर चाहे जिसकी जेब मे जाए, विनियोग (investment) का मार्गदर्शक है। अतएव समाजवादी अथवा साम्यवादी व्यवस्था में लाभ को बडा महत्त्वपूर्ण कार्य करना पडता है।

निर्देश पुस्तके

Schumpetir, J —Theory of Economic Development.
Knight, J —Risk, Uncertainty and Profit
Taussig, F W.—Principles, Vol II.
Benham, F —Economics
Readings in the Theory of Income Distribution, pp 547—571.
Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 19.
Summer, M Stitcher—An article entitled "Are Profits Too High ?" Atlantic Monthly, July 1948
Peter F. Daucher—"The Function of Profit" in Fortune.
Knight, F. H —Article on "Profit" in Encyclopaedia of Social Sciences.

अध्याय ३१

विनिमय की कार्यविधि

(MECHANISM OF EXCHANGE)

द्रव्य का रूप तथा कार्य

(The Nature and Functions of Money)

१ द्रव्य का अर्थ (Meaning of Money)–वस्तुओ के विनिमय अथवा म्ल्य के निर्धारण के विपय में हम पहले ही अध्ययन कर चुके है। हमने द्रव्य को भी मान लिया है। अव हम द्रव्य तथा द्रव्य-व्यवस्था के वारे में विचार करेंगे। द्रव्य क्या है? उसका क्या कार्य है? उसे चलन में कौन लाता है तथा उसकी क्या शर्तें होती है? यह वे कुछ प्रश्न है जिन पर अव हम विचार करेंगे।

"भिन्न-भिन्न लेखको ने द्रव्य (money) की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ कहते है कि **"द्रव्य वह है जो द्रव्य का कार्य करता है।"** दूसरे शब्दो में जो भी द्रव्य का कार्य करते है, वे द्रव्य है। व्यापक रूप में द्रव्य विनिमय का आधार है। सोना, चादी, तावा, कागज, चेक, व्यावसायिक विल्स आफ एक्सचेज अर्थात् हुडी, आदि। यह व्याख्या काफी विस्तृत है। चेको, विलो आदि को **प्रतिनिधि द्रव्य** (representative money) कहा गया है क्योकि वे मूल्य के मापदण्ड के सुविधाजनक प्रतिनिधि है। कुछ लेखक व्याख्या को सीमित कर देते है। और वे उसी वस्तु (अर्थात् सोना) को सम्मिलित करते है, जो मूल्य का कार्य कर सके। यह द्रव्य की सूची से वैक नोटो, सरकारी करेंसी नोटो आदि को पृथक् कर देता है। तर्क की दृष्टि से इन्हें पृथक् नही किया जा सकता क्योंकि हम फिलहाल देखेंगे कि उनमें अच्छे द्रव्य के सभी गुण पाये जाते है। साधारणतया स्वीकृत मत यह है कि **"भुगतान और विनिमय के प्रत्येक माध्यम को जिनका ऋण के भुगतान में कानूनन प्रयोग हो लकता है, द्रव्य कहा जा सकता है।"**

इस प्रकार चैक, हुडी (Bills of Exchange) तथा भुगतान के ऐसे ही दूसरे साधनो को द्रव्य की अनुसूची में नही रखा जा सकता। उनके लिए हम "साख के सावन" (Credit Instrument) शब्दो को प्रयोग में लाते है, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। द्रव्य की विशेपता यह है कि वह साधारणत ग्राह्य होता है। चैक तथा हुडियो का भुगतान नियमित नही होना और किसी व्यक्ति को भुगतान के लिए उन्हें स्वीकार करने के लिए वाध्य नही किया जा सकता। सावारणतया वैकनोट ग्राह्य होते है, अतएव उन्हें द्रव्य कहा जा सकता है।

द्रव्य की साधारणतया स्वीकृत विशेपता यह है कि वह विनिमय का माध्यम होने के अतिरिक्त मूल्य-निर्धारण का भी कार्य करता है। **किसी वस्तु को द्रव्य माना जाय**

अथवा नहीं, इसके परीक्षण का उपाय यह है कि यह देखा जाय कि उसकी मात्रा में परिवर्तन का साधारण मूल्य स्तर पर प्रभाव पडता है अथवा नही।

क्या नोट के बराबर बुलियन को कोष में रखा जाता है ? नहीं। नि सदेह नोटो को धातु मे परिवर्तित किया जा सकता है और वह दोनो धातु आपस मे परिवर्तनीय हैं। किंतु नोट द्रव्य होते हैं जब कि बुलियन नही है। साधारणतया विनिमय में बुलियन को स्वीकार नही किया जाता। क्रय शक्ति के रूप मे वह प्राप्य नही है।

क्या बैंक की जमा रकम (deposits) द्रव्य है। जिनका बैंक मे धन जमा होता है उनकी दृष्टि मे वह द्रव्य ही रहता है। किंतु वास्तव में जब तक वह बैंक मे रहता है, उसे द्रव्य नही कहा जा सकता। अतएव बैंक मे जमा धन के उस अश को ही द्रव्य माना जा सकता है जिसे चलने का माध्यम बना लिया गया हो और जो विनिमय में व्यवहार म आता हो।

"द्रव्य का अर्थ मूल्य के मान और भुगतान के साधनो से है। यह हिसाब खाता का आधार है, और साथ ही विनिमय का माध्यम है।"[1]

२ वस्तु विनिमय की कठिनाइयां (Difficulties of Barter)—क्या किसी समाज का अस्तित्व बिना द्रव्य सभव है ? आदि काल मे बहुतेरे प्रारम्भिक समाज द्रव्य का प्रयोग नही करते थे। जब द्रव्य के बिना विनिमय होता है, हम उसे वस्तु विनिमय (Barter) कहते है। जब सामाजिक व्यवस्था श्रम-विभाजन की सकीर्णता तथा मनुष्य की मागो में वृद्धि के कारण अधिक पेचीदा हो गई, तब यह प्रतीत हुआ कि वस्तु-विनिमय के द्वारा विनिमय सतोषजनक उपाय नही है —

वस्तु-विनिमय मे तीन आधारभूत कठिनाइयाँ है —

(i) आवश्यकताओ की दोहरी अनुरूपता (Double Coincidence of Wants)—वस्तु-विनिमय में आवश्यकताओ की दोहरी अनुरूपता की आवश्यकता पडती है। यदि अ के पास एक गाय है और वह उसके बदले में घोडा चाहता है, तो उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी होगी जिसके पास न केवल घोडा हो वरन् जिसे गाय की भी आवश्यकता हो। मान लीजिए उसकी ब व्यक्ति से भेंट होती है जिसे गाय की जरूरत है लेकिन बदले में देने के लिए सिर्फ एक भेड है। अ को तब ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसे भेड की जरूरत है, और यह क्रम काफी लम्बा हो जायगा। इस तरह कई सौदो के बाद उसे अपनी जरूरत की चीज मिलेगी। यह स्पष्ट है कि इस साधन मे अनगिनत कठिनाइया और खतरे है।

(ii) मूल्य के मापदण्ड का अभाव (Lack of Common Measure of Value)—कठिनाइयो का यही पर अन्त नही होता। यदि दो व्यक्ति, जिन्हे एक दूसरे की वस्तु की चाह है मिल भी जाये तो भी एक दूसरी परेशानी उपस्थित हो जाती है। किस अनुपात मे दोनो वस्तुओ का विनिमय हो ? दूसरे शब्दो मे वस्तु-विनिमय की

1 Coulborn, W A L.—A Discussion of Money, 1950, p 2

अर्थ-व्यवस्था (barter economy) के अन्तर्गत माग और पूर्ति में सतोषपूर्ण समानता नही मिलेगी। मूल्य निर्धारण का कोई समान मापदण्ड नही होता। अनुपात इच्छा से निर्धारित किया जायगा तथा उसका आधार दोनो पक्षों की आवश्यकता तथा उनकी परस्पर मागो की तीव्रता होगी। इन परिस्थितियो में यह आवश्यक है कि एक पक्ष को हानि हो क्योकि प्रत्येक विनिमय मे लेन-देन पृथक् रूप में होता है।

(iii) **कतिपय वस्तुओं की अविभाज्यता** (Indivisibility of Certain Articles)—यदि विनिमय के अनुपात के सम्बन्ध में समझौता हो भी जाय तो उन वस्तुओ के सम्बन्ध में एक तीसरी परेशानी उपस्थित हो जाती है कि वे विभाजित नही हो सकती। मान लिया, एक व्यक्ति अपनी गाय के आधे मूल्य के बराबर गेहू लेना चाहता है। दूसरे आधे मूल्य के बदले मे वह कपडा लेना चाहता है, जो तीसरे व्यक्ति के पास है। गाय का विभाजन कैसे हो? इसी प्रकार की कई दूसरी परिस्थितियो की हम कल्पना कर सकते है।

वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो का उदाहरण हम एक फ्रामीनी सगीतज्ञ से ले सकते हैं, जिसने एक ऐसे द्वीप में अपने सगीत का प्रदर्शन किया जहा द्रव्य का चलन नही था। उसे सूअरो, मुर्गियो, बकरियो, सेब, केले आदि में भुगतान किया गया। बकरियो और सूअरो ने फलो और दूसरे खाद्य पदार्थों का सफाया कर दिया और अपने सूअरो और बकरियो को जीवित रखने के लिए उसे कई अन्य प्रदर्शन देने पडे। उसे क्या लाभ हुआ? कुछ भी नही। यदि उसे द्रव्य में भुगतान किया जाता तो वह धनी हो जाता।

विनिमय-क्षेत्र में वस्तु-विनिमय की इन कठिनाइयो के अतिरिक्त धन (wealth) को समुचित रूप से जोडा नही जा सकता, क्योकि समय के साथ अधिकाश वस्तुए खराब हो जाती हैं और यदि वे खराब न भी हों और उनका पूर्व-सा ही रूप रहे, तो भी उनके मूल्य में अन्तर पड जाता है।

३ **द्रव्य का विकास** (Evolution of Money)—शीघ्र ही यह परिणाम निकला कि विनिमय में बडी सुगमता लाई जा सकती है बशर्ते कि विनिमय का आधार किसी एक वस्तु को बना लिया जाये। इस वस्तु द्वारा सभी पदार्थों का मूल्याकन किया जा सकता था और उसके द्वारा व्यक्ति वाछित वस्तु का क्रय-विक्रय कर सकता था।

इस रूप में अनेक प्रकार की वस्तुओ को भिन्न-भिन्न सफलता के साथ अपनाया जा चुका है। दास, पशु, पत्थर, खाल, तीर, अनाज, कौडी आदि को अपनाया गया। किसी विशेष समाज के आर्थिक विकास के लिए यह उस युग पर आधारित था कि द्रव्य का क्या रूप हो। शिकारी स्वभावत खाल और तीर को साधन मानते थे, बनजारे पशु और किसान अनाज को द्रव्य का रूप देते थे। अभी कुछ ही दिनो पूर्व तक हमारे ग्रामों मे क्रय के लिए अनाज और कपास को काम में लाया जाता है।

अन्ततोगत्वा, किसी भाति यह पता चला कि सोना और चादी जैसे मूल्यवान धातु इस काम के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रारम्भ में सोना और चादी को धातु के टुकडो के रूप

(bullion) में प्रयोग में लाया गया। इससे असुविधा होती थी और प्रत्येक वार जब वह एक हाथ से दूसरे में जाते थे, उनकी जाँच में गलती की सम्भावना रहती और वजन आदि करना पडता था। तदनन्तर सरकारो ने उन्हे करेंसी में सिक्को का रूप दिया, जिससे उन्हें ग्रहण करने वालो को उसकी किस्म (quality) और उसके वजन का कुछ भरोसा रहे। कुछ समय वाद धातु के सिक्को (metallic coins) के साथ कागजी मुद्रा (paper currency) का प्रचलन शुरू हुआ जिसे धातु-मुद्रा में वदला जा सकता है। वहुत-सी दशाओ में सिक्के, विशेषकर वे जो प्रमाणित (standard) होते थे, सरकार अथवा केन्द्रीय वेंक द्वारा प्रचलित कागजी मुद्रा के सम्मुख लोप हो जाते थे और कागजी मुद्रा ही अकेली करेंसी शेष रह जाती थी।

वस्तु-विनिमय अर्थ-व्यवस्था (barter economy) से वस्तु-द्रव्य (commodity money), वस्तु-द्रव्य से कागजी-मुद्रा (paper currency), और कागजी मुद्रा से वेंक-द्रव्य अथवा साख अर्थ-व्यवस्था (credit-economy)—द्रव्य की उन्नति तथा उसका विकास इस प्रकार होता रहा है। क्राउथर (Crowther) के शब्दो में केवल "सामान्य स्वीकृति ही मुख्य आवश्यकता है। द्रव्य का . स्वय मूल्यवान होना आवश्यक नही। यह वास्तव मे अपेक्षाकृत सीमित होना चाहिए। परन्तु, यदि इसको अपेक्षाकृत न्यून रखने और मात्रा में अपेक्षाकृत स्थिर रखने की सावधानी न रक्खी जाय तो द्रव्य में ऐसी वेकार वस्तुए पाई जाने लगेंगी जैसे कागज के फटे हुए टुकडे अथवा वेंक की पुस्तको में किसी क्लर्क के कलम द्वारा किए हुए निशान।"[1]

द्रव्य के जारी करने से वह सभी असुविधाए दूर हो गई हैं जो वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होती थी। विनिमय के लिए दुहरी अनुरूपता की आवश्यकता नही रही। इच्छा के अनुसार वस्तु का विभाजन और विनिमय आसानी से हो सकता है। समाज को विनिमय का ऐसा माध्यम मिल गया जो साधारणतया सभी को मान्य था और सरलता से एक हाथ से दूसरे हाथ में जा सकता था। मूल्य के निर्धारण के लिए एक विश्वस्त माप-दण्ड (Standard) लोगो को मिल गया। क्रय-शक्ति का सचय करना अथवा स्थानान्तरित करना सुगम हो गया। ऋण का लेन-देन निर्विघ्न सम्भव हो गया।

उपभोक्ता को द्रव्य के चलन से अनगिनत लाभ हुए हैं। द्रव्य के हाथ मे होने से वह दूसरो की वस्तुओ तथा सेवाओ पर अपना अधिकार प्रकट कर सकता है। वह अपनी सुविधा के अनुसार उन वस्तुओ को किसी स्थान पर तथा किसी समय भेजने का आदेश दे सकता है। द्रव्य से उसकी क्रय-शक्ति व्यापक हो गई है। द्रव्य के अभाव में उपभोक्ता के लिए यह कठिन था कि वह अपने क्रय की विभिन्न दिशाओ मे सम-सीमान्त उपयोगिता (equi-marginal utility) प्राप्त कर सकता। इस प्रकार वह अब अधिकतम सन्तोष प्राप्त कर लेता है।

उत्पादक के लिए भी द्रव्य के जारी करने से कम लाभ नही हुआ है। अब वह

---

1 Crowther, G—An Outline of Money, 1950, p 21

अपने कार्य को अधिक कुशलता और मितव्ययिता से सगठित कर सकता है। उसे उत्पादन के लिए कई साधनो को किराये पर लेना होता है। वह उन्हे वेतन के रूप मे द्रव्य दे देता है, जिससे जिस प्रकार चाहें व्यय करके वे अपनी इच्छाओ को पूर्ण कर लें। उत्पादक भी द्रव्य के द्वारा जिन साधनो को अपने उत्पादन-कार्य में प्रयोग कर रहा है, उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को बराबर करके। अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

समाज पर द्रव्य के प्रादुर्भाव से काफी लाभ हुआ है। इसी के आधार पर साख का विशाल भवन निर्मित हुआ है। राष्ट्र के आर्थिक विकास में साख और बैंक-प्रथा के विस्तार से बडी सहायता मिली हे। यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि वर्तमान युग ने द्रव्य की जो सुविधाए दे रखी है, उनके अभाव में उद्योग और व्यवसाय कैसे विकसित हो सकते थे। आर्थिक साधनो का अनुकूलतम वितरण (optimum distribution) तथा आधुनिक आर्थिक पद्धति का कुशल सचालन बिना मुद्रा-विपयक प्रणाली के नही हो सकता है।

४ द्रव्य के कार्य (The Functions of Money)––हमने देखा है भिन्न-भिन्न समयो में कि भिन्न-भिन्न वस्तुओ को द्रव्य चुना गया है और सोना-चादी तथा बाद मे कागज श्रेष्ठ द्रव्य सिद्ध हुए है। श्रेष्ठ किस बात के लिए ? द्रव्य के कार्यो को पूर्ण रूप से करने के लिए श्रेष्ठ।

द्रव्य क्या कार्य करता है ? उसके पाच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है––

(क) वह विनिमय का माध्यम (medium) है।

(ख) वह मूल्य सचय (store) करने के लिए प्रयोग में आता है या आधुनिक व्याख्या के अनुसार साधनो को द्रवता का गुण (liquidity) देने में सहायक होता है।

(ग) वह मूल्य का मापदण्ड (measure) है।

(घ) ऋण के लेन-देन का वह एक स्थिर साधन होता है।

(ङ) वह मूल्य को स्थानान्तरित (transfer) करता है।

द्रव्य विनिमय के माध्यम के रूप में (Money as Medium of Exchange)––अभी हमने उन विभिन्न असुविधाओ की चर्चा की जो वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होती है। द्रव्य द्वारा यह सब असुविधायें दूर हो जाती है। द्रव्य की अर्थ-व्यवस्था मे यह आवश्यक नहीं होता कि इच्छाओ की अनुरूपता हो। व्यक्ति को, जो गाय के बदले मे घोडा चाहता है, अब उसे ऐसे घोडे वाले को ढूढने की आवश्यकता नहीं, जिसे गाय की आवश्यकता हो। वह अपनी गाय को बाजार में बेच सकता है और इस प्रकार जो द्रव्य मिले, उससे कपडा खरीद सकता है। जिस समय व्यक्ति अपनी सेवाओ अथवा वस्तुओ को अपूर्ण अवस्था में बेचना चाहता है, उसे बडी सुविधा रहती है। वह उन्हें सरलता से द्रव्य के रूप मे परिवर्तित कर सकता है। कतिपय वस्तुओ की अविभाज्यता का प्रश्न भी समाप्त हो गया है। द्रव्य की इकाइया विभिन्न मूल्य की होती है। और उनसे किसी भी प्रकार की खरीदारी की जा सकती है जो वस्तु-विनिमय मे सम्भव न थी।

द्रव आस्तियो के रूप में द्रव्य (Money as Liquid Assets)—द्रव्य मूल्य-सचय का कार्य सम्पादित करता है या यह कहना उचित होगा कि वह व्यक्ति को अपनी आस्तियो के एक अश को द्रवत्व गुण देने के योग्य बना देता है। तरल आस्तिया (liquid assets) वह साधन है जो किसी भी समय किसी भी व्यवहार में आ सकता है। आधुनिक जगत् में अधिकाश व्यक्ति अपनी जेबो मे करेंसी नोट रखते है अथवा उन्हें घर पर रखते है या बैंक मे चालू खाते जमा रखते है और जिस समय चाहते है चेक के द्वारा निकाल सकते है। यह इसलिए आवश्यक होता है कि आय और व्यय का क्रम समान गति मे नही चलता। नियोजको को मजूरी आदि का भुगतान एक अवधि में करना होता है, कभी-कभी दैनिक भी। लेकिन उसे अपनी आय इसी रूप में नही मिलती। मूल्य-सचय के रूप में रखा गया सबसे अच्छा है।

द्रव्य मूल्य का प्रामाणिक मापदण्ड (Money as a Standard Measure of Value)—वस्तु-विनिमय की एक यह कठिनाई भी अनुभव की गई है कि उसमें मूल्य का साधारण मापदण्ड नही था, जिसके अनुसार दूसरे मूल्यो को प्रकट किया जा सकता, जोडा जा सकता अथवा हिसाब-खाता रखा जा सकता। द्रव्य ने यह कठिनाई भी दूर कर दी है। द्रव्य के रूप में हम मूल्य और सेवाओ की सुगमता से तुलना कर सकते है। मूल्यो का कीमतो में प्रकटीकरण हमें उन्हे जोडने तथा व्यक्ति अथवा वस्तु के धन का अन्दाज लगाने मे सहायक होता है। विनिमय के लिए मूल्य के रूप में एक सामान्य मापदण्ड होने से सौदे करना सरल और उचित हो जाता है।

द्रव्य विलम्बित भुगतानो का आधार (Money as Standard of Deferred Payments)—द्रव्य ऐसे भुगतानो के आधार का भी स्तर कायम रखता है जिनका भुगतान कुछ समय बीत जाने पर किया जाता है। जब कोई ऋणदाता अपने साधनो को उधार देने लगता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उसे यह भरोसा रहे कि उसके साधन नियत ब्याज सहित उसे वापिस मिल जायेगे। अतएव लेन-देन अवश्य ही किसी वस्तु के रूप मे होगे, जिनका स्थायी मूल्य होगा। बहुत-सी वस्तुए समय के साथ नष्ट हो जाती है। किन्तु यदि द्रव्य का उचित चुनाव हुआ है और उसका उचित प्रबन्ध रखा जाता है, तो उसका मूल्य दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थायी रहता है। भावी भुगतानो के लिए एक प्रामाणिक मापदण्ड का कार्य करने के कारण, द्रव्य ऋण लेने देने के खतरे को कम कर देता है। इस प्रकार यह सब प्रकार की आर्थिक कार्यवाहियो को सतुलित रखता है जिनका आधार ऋण होता है।

द्रव्य के कार्यो को सक्षेप मे इस प्रकार कह सकते है।

"माध्यम (a medium), मापदण्ड (a measure) प्रामाणिकता (a standard) तथा एकत्रीकरण (a store)।"

"Money is a matter of functions four
A medium, a measure, a standard, a store"

यह ध्यान में रखना चाहिए कि द्रव्य के यह चारो काम परस्पर स्वतन्त्र नही है।

ऋण के भुगतान के लिए द्रव को द्रव्य आस्ती के रूप में रखा जाता है। यह विनिमय के माध्यम का कार्य करता है। यह विनियम के माध्यम के रूप में इसलिए स्वीकार किया जाता है कि इसका मूल्य अपेक्षाकृत स्थायी रहता है। इसी कारण से यह भावी भुगतान का साधन तथा मूल्य का मापदण्ड माना जाता है।

द्रव्य मूल्य को हस्तातरित करने का साधन (Money as a Means of Transfering Value)—द्रव्य के द्वारा एक और महत्त्वपूर्ण कार्य भी होता है। कोई भी व्यक्ति एक स्थान पर अपनी चल और अचल सम्पत्ति को वेच सकता है और दूसरे स्थान पर खरीद सकता है। इस प्रकार मूल्य हस्तातरित हो सकता है। इस तरह के मामले भारत में विभाजन के बाद बहुत पाये गये।

५ अच्छे द्रव्य पदार्थ के गुण (Qualities of Good Money Materials)—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने कार्यों को भली भाति सम्पन्न करने के लिए द्रव्य पदार्थ में कुछ गुण अवश्य होने चाहियें।

(क) **सर्वमान्यता** (General acceptability)—वह वस्तु, जो सर्वसाधारण को ग्राह्य न हो, समुचित रूप से द्रव्य का कार्य सम्पन्न नही कर सकती। लोग एक वस्तु को या तो इस विश्वास पर स्वीकार कर लेते है कि दूसरे लोग उसे स्वीकार कर लेंगे या इस विश्वास पर कि वह उसे किसी दूसरे उपयोग में ला सकेंगे। सोना और चादी सर्वसाधारण को ग्राह्य रहते हैं। करेंसी नोट इसलिए ग्राह्य रहते है, कि लोगो को विश्वास है कि उनसे क्रय कर सकते है या उन्हें जारी करने वालो से उनके समान मूल्य पा सकते है आदि।

(ख) **वहनीयता** (Portability)—जो पदार्थ प्रयोग में आए, वह सहज वहनीय होना चाहिए। दूसरे शब्दो में, थोडी मात्रा म उसका अधिक मूल्य होना चाहिए। उदाहरण के लिए कोयला अच्छा द्रव्य पदार्थ नही है जबकि सोना, चादी, कागज, आदि अच्छे द्रव्य पदार्थ हैं।

(ग) **सुगमता से पहचान** (Cognizability)—द्रव्य के लिए यह एक आवश्यक गुण है। इसवे अर्थ है कि वह सुगमता से पहचान में आ सके। यदि आप को द्रव्य की प्रमाणिकता के लिए विशेष खोजवीन करनी पडे तो इसमे बढी असुविधा होगी। सिक्को और कागजी मुद्रा, जिनका आकार प्रकार पहचान योग्य होता है, उनके प्रचलन में यह असुविधा दूर हो जाती है।

(घ) **समरूपकता** (Homogeneity)—पदार्थ को एक ही अनुरूप का होना चाहिये। यदि उसके गुण (quality) अनुरूप नही है, तो उनका मूल्य भी समान नही रहेगा।

(च) **विभाज्यता** (Divisibility)—पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि विना अपना मूल्य खोये वह छोटे-छोटे टूकडो में विभाजित हो सके। उदाहरण के लिए यदि एक हीरे के दो हिस्से कर दिये जाते हैं तो उनका वही मूल्य नही रहता जो पहले था। जानवरों को उस समय तक विभाजित नही किया जा सकता जब तक कि वे जानवर रहते है। सोना और चादी विभाज्य हैं।

(छ) स्थायित्व (Durability)—नाशवान वस्तुए द्रव्य का कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकती। एक समय बाद उनका मूल्य समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए जानवर बीमार पड सकते हैं, कमजोर हो सकते हैं और मर सकते हैं। जल्दी नाश होने वाली वस्तुओ की स्थिति भी ऐसी ही है।

(ज) सब से खास बात तो यह है कि द्रव्य अपेक्षाकृत स्थिर मूल्य का (stable in value) होना चाहिए क्योकि वह दूसरे मूल्यो को निर्धारण करने के लिए प्रामाणिक मापदण्ड होता है। सोना और दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थिर मूल्य की होती हैं क्योकि वह स्थायी होती है और इन पदार्थों को बडी मात्रा मे प्राप्त किया जा सकता है, फिर भी इतनी अधिक मात्रा मे नही, जिनसे उनका मूल्य बहुत गिर जाय। इनका वार्षिक उत्पादन उनके कुल परिमाण मे बहुत थोडी वृद्धि करता है जिससे इनके मूल्यो पर अधिक प्रभाव नही पड पाता।

कागज की क्रय-शक्ति की स्थिरता का आधार उसके सम्बन्ध में बनावटी नियत्रण पर अवलम्बित रहता है। अतएव सुप्रबन्धित कागजी मुद्रा, इन सब में श्रेष्ठ है। दूसरी बातो के अलावा इससे द्रव्य-सम्बन्धी पद्धति सस्ती रहती है।

६. सिक्के और टकण (Coins and Coinage)—मोटे तौर पर द्रव्य को दो रूपो में विभाजित किया जा सकता है, पहला धातु-द्रव्य और दूसरा कागजी द्रव्य।

धातु करेंसी अथवा सिक्के एक विशेष वजन और देश की सरकार की मोहराकित धातु के टुकडे होते हैं। ऊचे मूल्य की मुद्राओ के किनारे साधारणतया खुदे रहते हैं, जिससे वे नष्ट होने से बची रहे और उनके साथ की गई चालबाजी का आसानी से पता चल सके। अच्छ टकन के मुख्य सिद्धान्त यह हैं—(क) सिक्के सुविधाजनक माप के होने चाहियें, (ख) वे इस प्रकार के बनने चाहिये कि चलन के कारण उनमें कम से कम छीजन हो, (ग) उनका स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिये कि उनका प्रतिरूपण तथा छाटना असम्भव हो जाय, (घ) उन पर कलात्मक सरकारी मोहरें होनी चाहियें।

पिछली लड़ाई के पहले हमारे चादी के रुपये मे १८० ग्रेन चादी रहती थी। ११।१२ भाग शुद्ध। शुद्धता (fineness) शब्द का अर्थ है किसी सिक्के मे खोटे की तुलना में खरे द्रव्य की मात्रा। प्रतिकार भत्ता (remedy allowance) वह सीमा है जिसके अन्दर रहते हुए मुद्रा की टकन अथवा वजन मे अन्तर होते हुए भी, वे विधिमान्य रहते हैं। इसे टकसाल की सहनशीलता (tolerance of the mint) भी कहते हैं। जहा तक हमारे रुपये का प्रश्न है, वजन मे १।५००० तथा गढन १।२००० प्रतिकार होता है।

टकण मुफ्त या स्वतन्त्र (gratuitous or free) हो सकता है। पहली दशा में टकण का कोई मूल्य नही लिया जाता। दूसरी दशा मे टकण पर कोई प्रतिबन्ध नही रहता। कोई भी व्यक्ति धातु को टकसाल मे ले जाकर मुद्राङ्कन करा सकता है। भारत में १८९३ के पूर्व निर्मूल्य मुद्राकन प्रचलित था। कोई भी व्यक्ति टकसाल में चादी को

ले जाकर सिक्के ढला सकता था। किन्तु निर्मूल्य मुद्रांकन का निष्कारण (gratuitous) होना आवश्यक नही है। अधिकारी टंकण का मूल्य ले सकता है। यदि यह मूल्य धातु को टंकण करने के मूल्य के समान है, तो उसे टकसाली (mintage) अथवा ब्रासेज (brassage) कहेंगे। यदि यह इस मूल्य से अधिक है, तो उसे प्रभुत्व (seigniorage) कहते हैं। यह प्रभुत्व मुद्रा मे सीधा मूल्य लेकर अथवा उसमें मिश्रण करके वसूल किया जा सकता है।

सांकेतिक मुद्रा (Token Coins)—धात्विक मुद्रा पूर्ण मुद्रा अथवा सांकेतिक मुद्रा हो सकती है। पूर्ण मुद्रा वह मुद्रा होती है, जिस पर अंकित मूल्य (face value) उसमें मिली हुई धातु के मूल्य के बराबर हो। सांकेतिक मुद्रा में उस पर लिखा हुआ मूल्य धातु के मूल्य से अधिक होता है। भारतीय रुपया एक सांकेतिक सिक्का है। उसमें मिली धातु का मूल्य रुपये के मूल्य से कम है। सन् १८९३ के पूर्व भारतीय रुपया पूर्ण मुद्रा था। यदि उसे गलाया जाता तो एक रुपये के मूल्य के बराबर धातु निकलती।

कभी-कभी सांकेतिक मुद्रा में निहित धातु की कीमत इतनी बढ़ जाती है कि यह पूर्ण मुद्रा वाला सिक्का हो जाता है। उस समय उसे साठेबाजी (hoard) करने अथवा गलाने का भय रहता है। उदाहरण के लिए सन् १९२७ में चांदी का मूल्य बढ़ जाने से भारतीय रुपया सांकेतिक मुद्रा न रहा और बाजार से वह गायब होने लगा। सरकार को उसके लिए विनिमय का समुचित माध्यम पूर्ति करने मे काफी परेशानी उठानी पड़ी। इसी प्रकार सन १९४० मे १८० ग्रेन्स ११/१२ श्रेष्ठ मुद्रायें प्रचलन से गायब होने लगी। सरकार ने तब नई मुद्राएं चालू की, जिनमें चांदी कम थी। उनमें ११/१२ के बजाय १/२ चांदी थी। उन्हे संचय (hoard) करने का भय नगण्य है। पुराना प्रामाणिक रुपया सिक्का बाहर कर दिया गया। उसे ऋण के भुगतान में नही दिया जा सकता। सन् १९४६ में निकल का रुपया प्रचलित हुआ।

साधारणतया सांकेतिक मुद्रा सहायक मुद्रा होती है। किन्तु जैसा कि भारतीय रुपये मे है, मुख्य मुद्रा भी सांकेतिक मुद्रा हो सकती है। सहायक मुद्राएं छोटे भुगतानो के लिए होती है। उदाहरणार्थ पैसा, इकन्नी, दुअन्नी और चवन्नी सहायक मुद्राएं हैं।

सीमित तथा असीमित विधिमान्य मुद्रा (Limited and Unlimited Legal Tender)—मुद्राएं सीमित विधिमान्य मुद्रा अथवा असीमित विधिमान्य मुद्रा हो सकती हैं। विधिमान्य मुद्रा वह होती है जिसके अन्तर्गत विधिवत् भुगतान किये जा सकते हैं। विधिमान्य मुद्रा को अस्वीकार करना अपराध है।

जब किसी भी मात्रा में द्रव्य का भुगतान हो सकता है, तब उसे असीमित विधिमान्य मुद्रा कहते हैं। वह यदि एक सीमा के अन्दर ही भुगतान किया जा सकता है तो उसे सीमित विधिमान्य मुद्रा कहेंगे। उदाहरण के लिए भारत मे रुपया और रुपये के नोट असीमित विधिमान्य मुद्रा है और यही हाल अठन्नी का भी है। किन्तु इससे छोटे मूल्य की मुद्राएं सीमित विधिमान्य मुद्रा हैं। वे दस रुपये तक ही विधिमान्य रहती हैं।

जब एक मुद्रा पुरानी हो जाती है और वह एक निश्चित सीमा से अधिक हल्की हो जाती है, तब वह विधिमान्य मुद्रा नही रहती। एक रुपये और आठ आने की मुद्राए जब प्रामाणिक वजन से २० प्रतिशत कम हो जाती है, तो वे विधिमान्य मुद्रा नही रहती।

सरकार चाहे तो वह मुद्रा की विधिमान्यता को समाप्त कर सकती है। उदाहरण के लिए, १८० ग्रेन्स $\frac{11}{12}$ श्रेष्ठ वाली रुपये की मुद्रा भारत मे अब विधिमान्य मुद्रा नही है। सन् १९४६ मे सरकार ने ५०० रुपये और उससे अधिक मूल्य के करेन्सी नोटो को विधिमान्य मुद्रा नही रखा। इसका साधारण उद्देश्य ऐसी करेन्सी को जो साठेबाजी (hoard) के रूप मे है बाहर लाना है।

प्रामाणिक द्रव्य (Standard Money)—प्रामाणिक द्रव्य वह द्रव्य है जिसके सकेत से द्रव्य की दूसरी किस्मो का मूल्य मापा जाता है। यह द्रव्य का अति उत्तम रूप है। या तो इसमें मुद्रा-विषयक प्रमाण है या यह उसका निकट प्रतिनिधि है। साधारणतया एक धातु को चुन लिया जाता है, और द्रव्य की इकाइया उनमे बदली जा सकती है। कभी २ दो धातुए यह कार्य करती हैं। जब प्रामाणिक धातु एक होती है तो उस प्रणाली को एक-धातु-मान (Monometallism) कहेंगे। जब दो प्रामाणिक धातुए होती हैं तो उसे द्विधातुवाद (Bimetallism) कहेंगे। इसी प्रकार यदि सोना धातु को चुना जाय तो उसे स्वर्ण धातुवाद अथवा स्वर्णमान (Gold Standard) कहेंगे। और यदि धातु रजत है तो उसे रजतमान (Silver Standard) कहेंगे।

कभी २ कोई एक देश अपनी करेन्सी का मूल्य विदेशी करेन्सी के मूल्य के रूप मे निर्धारित करता है। उसे विनिमय मान (Exchange Standard) कहेंगे। यदि विदेशी मान स्वर्ण पर होता है तब सम्बन्धित देश की करेन्सी स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) होती है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत ने अपने रुपये को अग्रेजी करेन्सी मे सम्बन्धित कर लिया। इगलैंड स्वर्णमान वाला देश है। इस प्रकार भारत स्वर्ण विनिमय मान वाला देश हुआ। जब सन १९३१ के सितम्बर मास मे इगलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तो भारत का सम्बन्ध स्टर्लिंग से हो गया। तब भारत स्टर्लिंग विनिमय मान वाला देश बन गया। जब से भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) से सम्बन्ध स्थापित किया है, भारतीय रुपये के विनिमय मूल्य को खत्म (सिद्धान्त मे) कर दिया गया है।

७ **कागजी द्रव्य (Paper Money)**—'कागजी द्रव्य' के अन्तर्गत बैंक नोट और सरकारी नोट आते है, जो हाथो हाथ बिना रोक-टोक चलते है। इसके अन्तर्गत चैक तथा हुडिया नही आती, जिनका सीमित प्रचलन है।

कागजी द्रव्य दो किस्म का होता है—परिवर्तनीय (convertible) तथा अपरिवर्तनीय (inconvertible)। पहले किस्म की मुद्रा उसके स्वामी की इच्छा अनुसार प्रामाणिक सिक्के (प्रामाणिक धातु) में बदली जा सकती है, लेकिन दूसरी इस रूप मे नही बदली जा सकती।

कागजी द्रव्य का परिवर्तित होना इसलिए आवश्यक है कि उससे लोगो को भरोसा रहे और वे एक निश्चित सीमा में प्रचलित रहे। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे,

द्रव्य की पूर्ति मे वृद्धि यदि उपभोग की वृद्धि के अनुरूप न हुई तो उसका मूल्य उसी भाति घट जाता है जैसा कि अन्य किसी जिन्स का । इसलिए कागजी द्रव्य का प्रचलन सरकार की विधियो के अन्तर्गत नियन्त्रित रहता है। इसका एक उपाय नियन्त्रण का यह होता है कि उसे मुद्रा अथवा प्रामाणिक धातु मे परिवर्तित किया जा सके।

अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य में एक सबसे बडा खतरा यह रहता है कि वह अधिक-प्रचलित (over-issue) हो सकती है। सरकार के लिए यह लाभप्रद होता है कि वह सकट काल में, जैसे युद्ध के समय, अपने साधनो मे वृद्धि के लिए अधिक नोट छाप ले और उनकी क्रय-शक्ति से लाभ उठाये। ससार के करेंसी इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं जब नोटो का अधिक प्रचलन (over-issue) हुआ। जर्मनी पहले विश्वयुद्ध मे इसका प्रमाण है। गत कुछ वर्षो (१९३९–४५) में भी अधिक नोट प्रचलित हुए।

पाठको को यह स्पष्ट होना चाहिये कि कागजी द्रव्य का सोने व चादी से विनिमयत्व ही इसको अधिक मूल्यवान बनाता है। द्रव्य को जो मूल्य देती है वह है सरकारी मोहर और जो उसके मूल्य को स्थिर रखती है वह है उसकी मात्रा पर नियन्त्रण।

८ बैंक द्रव्य (Bank Money)—बैंक द्रव्य में विभिन्न साख-पत्र (instruments of credit) सम्मिलित रहते हैं। कीन्स (Keynes) के शब्दो में, "बैंक-द्रव्य केवल निजी कर्जे की स्वीकृति है जो कि लेखा-द्रव्य (money of account) में प्रसारित की जाती है। लेन-देन के निबटारे के लिए यह एक आदमी से दूसरे आदमी के पास वास्तविक मुद्रा के रूप मे आती जाती रहती है।"

बैंक-द्रव्य के कई रूप है। इनमें से कुछ चेक हुडी, बैंक ड्राफ्ट आदि हैं। इनका वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल यह समझ लेना चाहिये कि साख-पत्र (credit instruments) द्रव्य नही है, क्योंकि वे सामान्य रूप से स्वीकृत नही किये जाते। बैंक-द्रव्य अथवा 'बैंक द्वारा उत्पन्न किया हुआ द्रव्य' समस्त आधुनिक सम्प्रदायो मे परिमाणित रूप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार धातु द्रव्य ने अन्य द्रव्य की वस्तुओ का प्रतिस्थापन किया और कुछ ही समय के अन्दर कागजी द्रव्य ने उसको प्रतिस्थापित किया था उसी प्रकार बैंक-द्रव्य ने आधुनिक काल में सभी प्रकार के द्रव्यो को प्रस्थापित किया है। चेक तथा बैंक-द्रव्य अन्य प्रकार के द्रव्यो से इसलिए अधिक अच्छे हैं कि डाक द्वारा ले जाने में, खरा पैसा देने में, काउन्टर फायल के रूप मे, रसीदो के देने में, तथा चुरा लिये जाने अथवा खोये जाने के प्रति सुरक्षित होने के कारण सुविधाजनक हैं।

९ लेखा या हिसाब की मुद्रा (Money of Account)—इसके पूर्व कि हम द्रव्य के रूप पर इस अध्याय को समाप्त करें, कुछ शब्द लेखा मुद्रा की विवेचना के विषय मे कहना उचित होगा। लेखा मुद्रा वह इकाई है जिसमें किसी देश का लेखा तैयार किया जाता है और लेन-देन होता है। स्टर्लिंग, डालर फ्रैंक और मार्क क्रमश ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्तराष्ट्र, फ्रान्स और जर्मनी की लेखा मुद्रा हैं।

उपर्युक्त देशो मे क्रमश यही सब इकाइयाँ चलन का माध्यम है। किन्तु यह

आवश्यक नही है कि ऐसा हो ही। लेखा मुद्रा किसी देश मे प्रचलित द्रव्य से भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए, मुद्रास्फीति (inflation) के कारण सन् १९२२-२४ में जर्मनी के मार्क का मूल्य अधिक गिर गया। लोगो का उस पर से विश्वास उठ गया क्योकि लोग नही जानते थे कि अगले दिन या अगले घन्टे मार्क का क्या मूल्य होगा। यह बडा अरक्षित था कि इतनी अनिश्चित मूल्य की करेन्सी द्वारा लेन-देन किया जाय। अतएव मार्क लेखा-शोधन मुद्रा नहीं रहा। उस समय अमेरिकन डालर सर्वाधिक सनुलित द्रव्य था। अतएव लोगो ने लेन-देन में उसे अपना लिया। यद्यपि भुगतान मार्कों में होता था किन्तु सौदा डालरो में तय किया जाता था। डालरो की एक निश्चित सख्या मार्कों के विपरीत निश्चित कर दी जाती थी, अतएव इस प्रकार जर्मनी मे डालर ने लेखा-शोधन मुद्रा का रूप ले लिया। इगलैंड में गिनीस (Guineas) और भारत मे पाइयाँ (pies) नही चलती है और विनिमय के माध्यम का काम नही करती। वे केवल 'लेखा-द्रव्य' (Money of Account) है। कीन्स (Keynes) ने द्रव्य (money) तथा लेखा द्रव्य (money of account) मे इस प्रकार अन्तर किया है "लेखा द्रव्य वर्णन (description) अथवा टाइटल (Title) है और द्रव्य वह वस्तु है जो कि उस वर्णन का उत्तर देता है।"[1]

यह याद रखना चाहिए कि लेखा द्रव्य मे निरन्तरता होना आवश्यक है। जहाँ तक हो सके इसका नाम नही बदलना चाहिए, परन्तु जब नाम मे परिवर्तन हो तो नई इकाई का पिछली से अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिये, अन्यथा, भ्रम हो जायगा। केवल एक आपत्ति ही जो कि समस्त प्रचलित सौदो को एक साथ समाप्त कर देगी, लेखा द्रव्य की निरन्तरता में आरम्भ से बाधक हो सकती है।

१० द्रव्य के कुछ अन्य रूप (Some other Forms of Money)—कुछ और भी शब्द है जो कि वाद-विवाद के समय द्रव्य के सम्बन्ध मे प्रयोग किये जाते है। वे वस्तु द्रव्य (commodity money), फिएट द्रव्य (fiat money) तथा प्रबन्धित द्रव्य (managed money) है। कीन्स (Keynes) ने उनकी निम्नलिखित परिभाषाये की है[2] —

वस्तु द्रव्य (commodity money)—किसी विशेष असीमित मात्रा मे प्राप्त उस नैकाधिकार वस्तु की वास्तविक इकाइयो से बना है, जिसकी अधिक अभिरुचि द्रव्य के स्पष्ट कार्यों के करने के लिए की गई हो, परन्तु उसकी पूर्ति का निर्धारण—अन्य वस्तुओ के अनुसार—दुर्लभता (scarcity) तथा उत्पादन व्यय (cost of production) से हो।

फिएट द्रव्य (fiat money), प्रतिनिधि द्रव्य (representative money) है (अर्थात् भौतिक पदार्थ का कुछ असली मूल्य, जो कि उसके मुद्रा-विषयक अंकित मूल्य (monetary face value) से पृथक् कर दिया गया है)—अब

---

1 Keynes, J M —A Treatise on Money, 1950, Vol I, pp 3 4
2 Ibid, p 7.

छोटी मज्ञा (denomination) के सिवा अधिकतर कागज का बनता है—जिसको सरकार बनाती अथवा निकालती है। परन्तु यह कानून के अनुसार अपने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से बदलने योग्य नहीं है और बाहरी विनिमय के सम्बन्ध मे इसका कोई निश्चित मूल्य नही है।

प्रबन्धित द्रव्य (managed money), फिऐट द्रव्य (fiat money) के समान है। केवल अन्तर यही है कि राज्य इसके इस प्रकार चलाने की व्यवस्था का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लेता है, कि चाहे बदलने योग्य हो या नही, किसी बाहरी वस्तु के प्रमाण के सम्बन्ध मे इसका मूल्य नियत रहे।

यह वस्तु द्रव्य तथा फिऐट द्रव्य के बीच मे एक दोगले के समान है। वस्तु द्रव्य के अनुसार इसका सम्बन्ध मूल्य के बाहरी प्रभाव से है और फिएट द्रव्य के अनुसार यह केवल प्रतिनिधि द्रव्य है और कोई निजी असली मूल्य नहीं रखता।

११ ग्रेशम का सिद्धान्त (Gresham's Law)—टकन के सिलसिले मे रानी ऐलिजाबेथ (Queen Elizabeth) के आर्थिक सलाहकार सर टॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम से सम्बोधित एक अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। रानी एलिजाबेथ इस बात के लिए उत्सुक थी कि वह अंग्रेजी करेन्सी में, जिसका मूल्य उनके पिता हैनरी अष्टम ने घटा दिया था, सुधार करे। किन्तु वे परेशान थी कि ज्यो ही वे किसी नई मुद्रा को चलन मे भेजती वह लोप हो जाती थी। तब सर टॉमस ग्रेशम से कहा गया कि वह इस पर प्रकाश डाले। उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उन्हीं के नाम पर एक सिद्धान्त बन गया।

ग्रेशम के सिद्धान्त को सक्षेप मे हम इस प्रकार कह सकते है —

"बुरा द्रव्य, अच्छे द्रव्य को चलन के बाहर कर देता है।" (Bad money drives good money out of circulation)

यह कैसे कार्य करता है? ग्रेशम का सिद्धान्त तीन रूपों में कार्य करता है।

(क) अच्छा द्रव्य जमा कर लिया जाता है, (ख) अच्छे द्रव्य को गला डालते है, (ग) अच्छे द्रव्य को निर्यात कर देते है। इस प्रकार अच्छा द्रव्य चलन मे बाहर हो जाता है।

अच्छे द्रव्य (Good Money) से हमारा तात्पर्य प्रमाप, वजन और श्रेष्ठता पूर्ण मूल्य वाली मुद्राओ से है और बुरे द्रव्य (bad money) से हमारा अर्थ उनसे है जिसका मूल्य कम कर दिया गया हो, अथवा जो पुराना हो गया हो, जिससे उनके मूल्य में अन्तर पड जाय।

ग्रेशम का सिद्धान्त कब लागू होता है? (When does Gresham's Law operate?)—यह सिद्धान्त तीन दशाओ मे लागू होता है। (क) जब पूर्ण मूल्य वाली मुद्रा और कम मूल्य, जाली अथवा पुरानी मुद्राये साथ-साथ चलन मे हो, (ख) जब धातु-द्रव्य और कम मूल्य वाला कागजी द्रव्य साथ-साथ प्रचलित हो और (ग) द्विधातुवाद हो अर्थात् जब दो प्रामाणिक मुद्राये प्रचलित हो व दोनो असीमित विधि ग्राह्य दोनो निर्मूल्य मुद्रांकन के अधीन हो और दोनो

का अंकित मूल्य धातु के बराबर हो। द्विधातुवाद के अन्तर्गत ग्रेशम के सिद्धान्त के प्रभाव हम अगले अध्याय मे देखेंगे।

नियम की सीमायें (Limitations of the Law)—यह नियन लागू नहीं होगा यदि (क) करेंसी मे कमी हो और (ख) बुरे द्रव्य के विरुद्ध जनमत हो, जिसके कारण बुरे द्रव्य को चलन के बाहर जाना ही होगा।

१२ भारतीय द्रव्य प्रणाली (Indian System of Money)—भारत में मुख्य मुद्रा रुपया है, जो लगभग पूर्णतया निकिल का बना होता है। इसका मूल्य वास्तव में २-३ आन से अधिक नही होता। रुपया हिसाब और मूल्य निर्धारण का मान है। दूसरी मुद्रा अठन्नी है जिसका रूप रुपये के समान है। दोनों ही असीमित विधिमान्य मुद्रा है। हमारी मुद्राओं मे चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा और पाई भी सम्मिलित है। पाई का प्रयोग केवल हिसाब-खाते (accounting) मे होता है और उसे व्यावहारिक प्रचलन मे नही पाया जाता। यह मुद्रायें दस रुपये तक विधिमान्य मुद्रा है।

हमारे यहा कोई पूर्ण मुद्रा नही है अर्थात् वह मुद्रा, जिसका अंकित मूल्य (face value) अथवा सरकारी मूल्य (official value) धातुमूल्य (metallic value) के बराबर हो। हमारी कोई भी मुद्रा पूर्ण मुद्रा नही है। वह सभी प्रतीक या सांकेतिक मुद्रायें है। उनका धातु मूल्य उनके अंकित मूल्य (face value) से बहुत कम है। उसे 'चांदी पर मुद्रित नोट' कहा जाता था। अब यह कहना अधिक उचित होगा कि यह 'निकिल पर मुद्रित नोट' है। इस प्रकार हमारा रुपया सांकेतिक (token) और प्रामाणिक (standard) मुद्राओ का मिश्रण है।

धातु मुद्रा (metallic money के अतिरिक्त हमारे यहा कागजी करेन्सी भी प्रचलित है। हमारे नोट १००), १०), ५), २), और १) रुपये के है। भारत में सन् १८३९ में सर्वप्रथम तीन प्रेसीडेन्सी बैंकों—बैंक आफ बाम्बे, बैंक आफ मदरास और बैंक आफ बगाल ने करेन्सी नोट जारी किये थे। सन् १८६१ में नोट जारी करने का कार्य भारत सरकार ने अपने हाथो मे ले लिया। सर्वप्रथम नोटो को जारी करने का प्रत्यक्ष भाग चार करोड निश्चित रुपये किया गया। और उसके बाद शत-प्रतिशत सुरक्षित कोप रखना पड़ता था। यह सीमा क्रमश बढा दी गई। हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) ने अनुपात सुरक्षित प्रणाली (Proportional Reserve System) को स्वीकार करने की सिफारिश की। सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) ने नोट जारी करने का काम अपने हाथ में ले लिया। रिजर्व बैंक ऐक्ट के अनुसार कागजी करेंसी के पीछे रुपये के सिक्के, भारत सरकार की रुपये वाली सिक्योरिटिया, स्वर्ण मुद्रा (Gold Coins), तथा (ब्रिटिश सरकार की) स्वर्ण सिक्योरिटियो का अवश्य ही पूर्ण सहारा होगा। किन्तु स्वर्ण, और स्वर्ण सिक्योरिटिया प्रत्येक दशा में पूर्ण सुरक्षित कोष का ४० प्रतिशत हो और स्वर्ण मुद्रा तथा धातु की मात्रा कम से कम ४० करोड रुपये हो। सभी नोट, केवल एक रुपये के नोट को छोड़कर, परिवर्तनीय है।

निर्देश पुस्तकें

Crowther, G —An Outline of Money, 1950, Ch I
Cole, G D H —Money, Its Present and Future
Cole and Others—What Everybody Wants to Know about Money
Brij Narain—Money and Banking (S Chand & Co)
Coulborn, W A L —A Discussion of Money, 1950, Chs I—IV
Keynes, J M —A Treatise on Money, 1950, Chaps I, II and III
Wicksell, K —Lectures on Political Economy, Vol II, Chaps I and II
Kemmer, E W —Money, 1935, Ch I
Badford, F A —Money and Banking, 1936, Chs I and II
Dowrie, G W —Money and Banking, 1936, Chs I and II
Leffler, R. V — Money and Credit, 1935, Chs I, II and III
Halm, G N —Monetary Theory, 1949 Chs 1 and 3
Robertson, D N —Money, 1948
Wither, H —Meaning of Money, 1935

अध्याय ३२

मुद्रा प्रणालियाँ

(MONETARY SYSTEMS)

१ द्विधातुमान (Bimetallism)—समय-समय पर कई प्रकार की मुद्रा प्रणालियो अथवा मुद्रा मानो को अगीकार (adopted) किया गया है। ये प्रणालिया इस प्रकार है—(क) द्विधातुमान (Bimetallism), (ख) एकधातुमान (monometallism), (ग) रजतमान अथवा स्वर्णमान, तथा (घ) पत्रमान (Paper Standard)।

द्विधातुमान में सोने और चादी के सिक्के साथ-साथ चलते है। दोनो धातुओ के बीच एक विशेष अनुपात स्थिर कर दिया जाता है और दोनो ही धातुओ के बने सिक्के असीमित विधिमान्य मुद्रा होते है। कभी-कभी दोनो प्रकार के सिक्के असीमित विधि-मान्य मुद्रा होते हुए भी स्वतन्त्र-मुद्रा निर्माण केवल एक प्रकार के सिक्के मे होता है। फ्रास में द्विधातुमान के समय में चादी के फ्रैंक का स्वतन्त्र मुद्रा निर्माण नही था। इस प्रकार की निर्माण प्रणाली को लग मान (Limping Standard) कहते है।

सन् १८०३ मे फ्रास ने द्विधातुमान अपनाया। सोने और चांदी मे प्रति औस सोने पर १५½ औंस चादी का अनुपात रखा गया। पचास वर्ष तक फ्रास ने यह अनुपात निभाया। पर सन् १८४८–५० में सोने की खानो के अनुसधान के कारण चादी के सम्बन्ध में सोने का भाव गिर गया। मार्केट अनुपात मे भेद होने से ग्रेशम का सिद्धात, जिसके अनुसार सस्ती धातु महगी धातु को चलन से हटा देती है लागू होने लगा। किसी एक देश के लिए दो धातुओ में, लम्बे अर्से तक अनुपात बनाए रखना कठिन होता है। कई देश मिलकर तो इसे निभा सकते है।

इसी ध्येय से फ्रास, बेलजियम, इटली और स्विटजरलेंड ने १८६५ मे एक मुद्रा सघ (monetary union) स्थापित किया। कुछ वर्ष बाद यूनान, सर्बिया, रोमानिया, तथा दक्षिणी अमरीका के कुछ राज्य भी इस संघ में सम्मिलित हो गये। पर यह सघ द्विधातुमान को स्थिर रखने में सफल नही हो सका और फलस्वरूप १८७४ मे चादी का भाव गिरने के कारण यह समाप्त हो गया।

१९ वी शताब्दी के अन्त की ओर अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान स्थापित करने के कई प्रयत्न किये गये। पर चूकि इगलेंड ने साथ नही दिया, इसलिये यह प्रयत्न भी सफल नही हो सके। इगलेंड अपना द्रव्य मान बदलना नही चाहता था।

अमरीका अपने देश की चादी के विचार से द्विधातुमान के पक्ष मे था। भारत ने १८९३ में अपने यहा चादी का स्वतत्र टकन बद कर दिया और इस प्रकार चादी के मूल्य मे भारी कमी पैदा हो गई। १८९७ में भारत के सामने यह प्रश्न आया

कि यदि अमरीका और फ्रास अपने यहा स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई प्रारम्भ कर दें तो क्या भारत भी अपनी टकसालो को स्वतत्र कर देगा। पर भारत ने ऐसा करना पसन्द न किया और फलस्वरूप फ्रास व सयुक्तराज्य अमेरिका में भी चादी का स्वतत्र टकन बद रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित करने का एक दूसरा उद्देश्य यह भी था कि किसी प्रकार मुद्रा की पूर्ति बढ जाय। जब दो धातु के सिक्के एक साथ विधिमान्य मुद्रा होते है, तो मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है। पर बैंक प्रणाली के विकास और पत्र-मुद्रा व साख-पत्रो के प्रयोग से यह कमी पूरी हो गई। परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की आशा सदैव के लिए समाप्त हो गई।

द्विधातुमान के गुण तथा अवगुण (Merits and Demerits of Bimetallism)—द्विधातुमान के गुण निम्नलिखित है —(१) इस प्रकार की मुद्रा की पूर्ति आसानी से बढाई जा सकती है चूकि दो धातुओ से मुद्रा बनाई जाती है। (२) ऋण के लिए बैंक उचित मात्रा में नकद रुपया सरलता से रख सकते हैं। चूकि चादी या सोना दोनो धातुओ के सिक्के असीमित विधिमान्य मुद्रा होते है। (३) सरकार को भी कुछ आर्थिक लाभ होते हैं। एकधातुमान की अपेक्षा इसमें सरकार अधिक सुगमता से नकदी की आवश्यकताओ की व्यवस्था कर सकती है। (४) द्विधातुमान से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बडी सुविधा हो जाती है क्योकि इस मान के अन्तर्गत प्रत्येक से विनिमय दर स्थापित की जा सकती है। (५) यदि केवल सोने का एकधातुमान रक्खा जाय तो इसके लिये सोना पर्याप्त मात्रा में नही मिल सकेगा। इसलिए द्विधातुमान अधिक उपयोगी होता है। (६) १९वी शताब्दी के अन्त की ओर चादी के भाव मे कमी हो जाने के कारण द्विधातुमान अपनाने पर अधिक जोर दिया जाने लगा। यह विचार किया गया कि यदि द्विधातुमान नही अपनाया गया तो चादी प्रयोग करने वाले देशो को हानि होगी और ऐसी दशा मे, उन देशो के व्यापार पर जो चादी के देशो के बाजारो पर निर्भर करते है, बुरा असर पडेगा।। (७) लोगो का यह विश्वास था कि यह मान अधिक स्थिर रहेगा क्योकि एक धातु की कीमत गिरने की कमी दूसरे धातु की कीमत की वृद्धि से पूरी हो जायगी।

द्विधातुमान के अवगुण—पर इन सब गुणो के होते हुए भी द्विधातुमान स्थापित करने के सारे प्रयत्न विफल हुए। सब को विश्वास था कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान की स्थापना न होगी, तब तक सफलता पाप्त नही हो सकती। और इसकी कोई आशा न थी। यदि केवल एक देश इसे अपनाता तो ग्रेशम के नियम के कारण वह सफल न होता।

इनके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा के चलन के कारण अब धातुओ के अपर्याप्त होने का भी डर नही रहा। सरकार भी पत्र-मुद्रा द्वारा अपनी कठिनाइया हल कर सकती है। पत्र-मुद्रा के कारण सरकार भी वित्तीय कठिनाई के समय को गुजार सकती थी।

और फिर विदेशी विनिमय की प्रणाली अब इतनी विकसित हो चुकी है कि बिना द्विधातु के भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार हो सकता है।

पत्र-मुद्रा ने द्विधातु-मान के प्रचलन के विचार को सदैव के लिए समाप्त कर दिया है।

जिस प्रकार दो मदान्ध व्यक्तियो की अपेक्षा एक गम्भीर व्यक्ति अधिक स्थिर पग रख सकता है, इसी भाति यह देखा गया कि सोना अथवा चादी के एकधातुमान में अधिक स्थिरता होती है।

टकसाली अनुपात तथा मार्केट अनुपात में प्रतिदिन विकर्षण (divergence) होने से व्यापार में गडवड, भ्रम तथा कई प्रकार की जटिलताएँ पैदा होती है। "यह (द्विधातुमान का कार्यवहन) वाणिज्यिक कार्यवाही तथा राष्ट्रीय स्पर्द्धा का सूचक है, जिस से वाणिज्यिक व्यवस्था तथा देशभक्ति की भावना को ठेस पहुँच सकती है।"[1]

क्या द्विधातुमान में सोना व चादी के बीच सरकारी अनुपात स्थिर रक्खा जा सकता है ?—द्विधातुमान के समर्थको का कहना है कि इस मान मे प्रतिकरात्मक क्रिया (compensatory action) होती है क्योकि टकसाल के भाव और वाजार भाव के अनुपात में किसी भी प्रकार के परिवर्तन से ऐसी दशायें पैदा हो सकती है जिनसे अनुपात स्वय ठीक हो जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

मान लीजिये कि सोने और चादी में १ १५ का अनुपात है । अब यदि यह मान लिया जाय कि वाजार में दोनो धातुओ का अनुपात वदल कर १ . १६ हो जाय तो किसी भी व्यक्ति के लिए यह अधिक लाभप्रद होगा कि वाजार में जाकर एक सोने के सिक्के के वदले १६ चादी के सिक्के प्राप्त कर एक सिक्के को तो अपने पास रक्खे और १५ सिक्को से टकसाल में जाकर फिर एक सोने का सिक्का ले ले और ऐसा करता रहे। यदि वहुत से लोग यही करना शुरू कर दें तो वाजार में चादी की माँग वढ जायगी और उसकी कीमत वढ जायगी। ऐसा उस समय तक होता रहेगा जव तक कि चादी की कीमत इतनी न वढ जाय कि अनुपात फिर १ : १५ हो जाय। इसके विपरीत यदि सोना सस्ता हो जाय जिससे अनुपात १ १५ की वजाय १ १४ हो जाय, तो इससे सोने की माग वढ जायगी और पिछला अनुपात कभी न कभी स्थापित हो जायगा। इसी को द्विधातुमान के समर्थक प्रतिकरात्मक क्रिया कहते है।

प्रतिकरात्मक क्रिया सिद्धात रूप में पूर्ण लगती है। लेकिन यह एक निरन्तर गतिमान झूले के समान रहेगी। मार्केट में भाव सदा वदलते रहेगे। जिनके फलस्वरूप कभी सोने के और कभी चादी के सिक्के चलन से निकलते रहेंगे। इस सिद्धांत मे मुद्रा मान का कोई जिक्र नही है। इसलिए इस मत के वहुत कम समर्थक है। वास्तव में यह वाद अव जीवित भी नहीं रहा।

२ रजत मान (Silver Standard)—रजत मान में द्रव्य की इकाई का मूल्य चाँदी में निश्चित किया जाता है। अक्सर एक निश्चित भार व शुद्धता के सिक्के स्वतन्त्र टकन प्रणाली के अनुसार वनाये जाते है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में

---

1 A Discussion of Money, 1950, p 125

१८३५ से १८९३ तक रजत मान रहा। भारतीय रुपये का भार १८० ग्रेन होता था और इनमें ११/१२ के अनुपात में शुद्धता थी।

इस प्रणाली के चलन की वृद्धि या सकुचन स्वचालित तो अवश्य हो गया पर १८७४ में जब चाँदी का भाव तेजी से गिरने लगा तो सरकार को बडी कठिनाई का सामना करना पडा। मूल्य की यह कमी बहुत कुछ तो इस कारण थी कि चाँदी की पूर्ति बढ गई और इसकी माग कम होने लगी। हमारे आयात पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडा क्योकि पौंड के बदले में पहले से अधिक रुपये देने पडने लगे, और परिणाम यह हुआ कि इगलैंड के प्रति भारत के रुपये से इगलैंड में होने वाला व्यय का भार बहुत बढ गया। भारतीय बजट के सतुलन में बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा। अन्त मे हर्शल कमेटी के सुझाव के अनुसार भारतवर्ष मे चाँदी का स्वतन्त्र टकन बन्द कर दिया गया और इस देश मे रजत मान की समाप्ति हुई।

रजत मान व स्वर्ण मान की कार्य-प्रणाली प्राय एक-सी है। पर स्वर्ण मान इसलिए अधिक ठीक रहता है कि चाँदी की अपेक्षा इसके मूल्य में कम परिवर्तन होते है।

३ स्वर्ण परिचलन मान (Gold Circulation Standard)—इसको पूर्ण स्वर्ण मान भी कहते हैं। जिस देश में स्वर्ण केवल मूल्य के मान के रूप में ही नही वरन् सिक्को के रूप मे भी प्रचलित होता है, उस देश का मान स्वर्ण परिचलन मान कहलाता है। १९१४ के पहले इग्लैंड, फ्रास, जर्मनी और सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे स्वर्ण मान प्रचलित था। ऐसी प्रणाली मुद्रा के लिए एक ठोस तथा स्पष्ट प्रतिभूति (tangible security) उपस्थित करती है। यह उन लोगो के लिए भी बहुत सुविधाजनक होता है जो विदेश में भ्रमण करते है क्योकि वे अपनी मुद्रा ले जा सकते हैं और ससार के किसी भी भाग में स्वीकार किये जाने की निश्चित आशा रख सकते हैं। यह बहुत ही पुरानी द्रव्य प्रणाली है। इसको हम पुरातन प्रणाली कह सकते है।

स्वर्णमान की प्रणाली को हम १९१४ के पूर्व के ब्रिटेन के उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। उस देश में एक निश्चित भार के स्वर्ण के सिक्के सावरेन के रूप में चला करते हैं। इस सिक्के में विशुद्ध सोने (११३ १/६२३ ग्रेन भार) के अतिरिक्त थोडा मिश्र-धातु भी होता था। सावरेन का असली भार १२३ २७४४७ ग्रेन होता था और इसमें ११/१२ विशुद्धता होती थी। दूसरे शब्दो में, अग्रेजी मुद्रा के अनुसार ११/१२ विशुद्धता का एक औंस सोना ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैंस में प्राप्त किया जा सकता था। वास्तव में ऐसे १ औस सोने के बदले बैंक केवल ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैंस देता था। पर बैंक से १ औस सोना खरीदने के लिए ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैन्स देने पडते थे। इस प्रणाली के अनुसार ब्रिटिश सावरेन का कभी भी मूल्य १२३ २७४४७ ग्रेन से अधिक ऊपर या नीचे नही हो सकता था।

४ स्वर्ण धातु मान (Gold Bullion Standard)—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य सोने में अकित रहता था और इस चल मुद्रा (currency) को सोने (बुलियन अथवा सिक्के) में परिवर्तित किया जा सकता था और इसके विप-

रीत भी ऐसा ही सम्भव था। पर सोना सिक्को के रूप मे प्रचलित नही होता ।

संयुक्त राष्ट्र (U K.) मे बैंक ऑफ इग्लैंड ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैंस (११/१२ विशुद्धता) प्रति औंस सोना खरीद कर ४०० औंस तक सोना ३ पौड १७ शिलिंग १०½ पैंस के हिसाब से बेचना था। यह वही दर थी जो १९१४ से पहले प्रचलित थी। सोने का निर्यात अथवा आयात स्वतन्त्र रूप से हो सकता था पर सोने के सिक्के नही चलते थे। इसका आशय विदेशी भुगतानो के लिए सोना सुरक्षित रखने से था।

भारत मे १९२७ मे हिल्टन यग कमेटी के सुझावो पर स्वर्ण-धातु मान अपनाया गया। इसके अनुसार राज्य को पूर्व-घोषित दरो पर कम से कम ४०० औंस सोना खरीदना व बेचना पडता था। कमीशन का दावा था कि इस प्रकार के मान मे केवल स्वर्ण मान की हानिया नही होती परन्तु लाभ सब होते है, जो इस प्रकार है—

(i) यह प्रणाली किफायती थी, चूकि इससे सोने के सिक्के बनाकर चलन मे देने की जरूरत न थी। जनता रोज के चलन मे सस्ती मुद्रा जैसे कागजी मुद्रा अथवा रुपये का प्रयोग कर सोने को बचा लेती है।

(ii) इससे राज्य का सम्मान बना रहता है क्योकि सोने का स्वतन्त्र आयात अथवा निर्यात हो सकता है। स्वर्ण विनिमय मान की भाति केवल विनिमय के लिए ही सोने का प्रयोग नही होता।

(iii) स्वर्ण धातु मान के अन्तर्गत कागजी मुद्रा स्थिर रहती है, क्योकि इसे सोने मे बदला जा सकता है। लेकिन स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत एक साकेतिक मुद्रा (नोट) को दूसरी साकेतिक मुद्रा (रुपये) मे बदला जा सकता है।

(iv) यह भी कहा जा सकता है कि इस मान मे मुद्रा की वृद्धि अथवा सकुचन अपने आप होता रहता है, क्योकि मुद्रा की वृद्धि तब होगी जब सोना अधिकारियो को बेचेगी और सकुचन तब होगा जब जनता सोना खरीदेगी।

(v) ऐसा विचार किया जाता है कि केन्द्रीय बैंक में सचित होना, अधिक उपयोगी होता है और राष्ट्रीय मुद्रा को उस सोने से अधिक सहारा देता है जो कि परिचलन में होता है।

(vi) स्वर्ण धातु मान जनता को सोना प्राप्त करने की योग्यता तथा उसको गलाने या आयात करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

पर यह लाभ वास्तविक नही है। कम से कम भारत के लिए तो यह लाभप्रद सिद्ध नही हुआ क्योकि साधारण मनुष्य इतने कागज के नोट कभी भी जमा न कर सकता था कि ४०० औंस सोना (४०० औंस=१०६५ तोला) बदले में ले सके। स्वर्ण धातु मान में मुद्रा के विस्तार और सकुचन को स्वचालित नही रखा जा सका।

१९३१ में इग्लैण्ड और भारत ने स्वर्ण-धातु मान को छोड दिया और स्वर्ण धातु-मान की समाप्ति हो गई। इस प्रकार स्वर्ण-धातु-मान पूर्णतया लुप्त हो गया।

५ स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)—[1]

---

[1] See "International Currency Experience", League of Nations, 1944, Ch II

पहिला देश जिसने स्वर्ण विनिमय अपनाया हालैण्ड है, जिसने १८७७ में इस प्रणाली को अपनाया। रूस ने इसके बाद १८९४ मे इसको अपनाया। इसी समय इसको आस्ट्रिया और हंगरी ने भी ग्रहण किया। तो भी इसको पूर्ण तथा सुचारु रूप से अपनाने का श्रेय भारतवर्ष को है जहा यह १९०७ मे चलना शुरू हुआ। फिलीपाइन द्वीप ने इसको कुछ वर्षो पहिले ग्रहण किया। जेनेवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने जो १९२२ मे हुआ, एक प्रस्ताव द्वारा स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने की सिफारिश की। १९१४-१८ के युद्ध के समय भारत में यही प्रणाली प्रचलित थी।

इस मान के अन्तर्गत देशीय मुद्रा चादी के रुपयो में थी, जो कि साकेतिक सिक्को व कागज के नोटो की होती थी, पर विदेशी भुगतान के लिए एक विशेष दर पर रुपयो के बदले ब्रिटिश मुद्रा का प्रयोग किया जाता था। लदन में राज्य सचिव, परिषद् विपत्र (council bill) को (रुपये) उन लोगो के भुगतान के लिए दिया करता था जो भारत में सौदो की अदायगी करना चाहते थे। भारत सरकार जब भारत मे राज्य सचिव के विकर्ष (draft) बेचती थी तो वे प्रति-परिषद् विपत्र (Reverse Council Bill) कहलाते थे। इस क्रय-विक्रय की दर ऐसी होनी थी कि स्टर्लिंग व रुपये का अनुपात १ शिलिंग ४ पेंस अथवा इसके आसपास रहे।[1]

स्वर्ण विनिमय मान में यह आवश्यक होता है कि दो प्रकार के रिजर्व रखे जाय। एक तो उस देश में, जो इसे अपनाये और दूसरा विदेश में। यदि यह रिजर्व पर्याप्त होंगे तो प्रणाली सफल रहेगी। इसी उद्देश्य से भारत सरकार एक स्वर्णमान रिजर्व रखा करती थी। जो देश इस मान को अपनाता था वह उस देश पर, जिसकी मुद्रा से अपनी मुद्रा को सबधित करता था, आश्रित होता था। भारत सरकार इस आशय के लिए एक रिजर्व रखती थी, जिसे स्वर्ण-मान-रिजर्व कहते थे।

प्रथम महायुद्ध में चादी की कीमत और रुपयो की माग बढ जाने के कारण यह प्रणाली समाप्त हो गई। चादी की कीमत बढ जाने से रुपया जमा किया जाने लगा और गलाया जाने लगा। सरकार पुराने भाव पर रुपया नही दे सकती थी। पहले सरकार ने रुपये का भाव बढा दिया। पर बाद मे स्टर्लिंग में रुपये को स्थिर रखने का प्रयत्न छोड दिया गया

सन् १९२० में फिर स्वर्ण विनिमय मान को २ शिलिंग (सोना) प्रति रुपया अपनाने का प्रयत्न किया गया पर असफल रहा। इस बार इसकी असफलता का कारण यह था कि चादी की कीमत एक दम गिर गई और आयात निर्यात से बढ जाने के कारण विदेशो में भुगतान के लिए स्टर्लिंग की माग अधिक हो गई। सरकार दो शिलिंग स्वर्ण प्रति रुपये के भाव मे अथवा दो शिलिंग स्टर्लिंग के भाव से रुपये नही बेच सकी और स्वर्ण विनिमय मान स्थापित करने का प्रयत्न असफल रहा।

स्वर्ण विनिमय मान की कुछ विशेपताए ये है (१) द्रव्य मान प्रत्यक्ष अथवा

1. Before the war of 1914-18 the selling and buying rates of the Rupee were 1 s 4⅛ d and 1 s 329/32d respectively, the former in London (Council Bills) and the latter in India (Councils)

अप्रत्यक्ष रूप से सोने की कुछ मात्रा में स्थिर कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ भारतीय रुपया ७ ५३ ग्रेन के बराबर बनाया गया था। (२) स्थानीय मुद्रा को विदेशी मुद्रा मे बाध दिया जाता है और स्थानीय टकसाल मे स्वतन्त्र ढलाई नही होती ताकि उसका मूल्य बनाये रखने मे कोई अडचन न पडे। (३) यह आवश्यक है कि दूसरे देश में एक स्वर्ण रिजर्व रहे और पीछे चलने वाले देश मे स्थानीय मुद्रा का रिजर्व रहे ताकि मुद्रा का विनिमय मूल्य घटे-बढे नही। (४) दोनो देशो में ड्राफ्ट (draft) स्वतन्त्रता से बेचे जाते है ताकि वास्तविक विनिमय दर में स्थिर दर से अधिक परिवर्तन न हो।

स्वर्ण विनिमय मान के बहुत से लाभो मे से एक लाभ यह भी है कि इसके अन्तर्गत पूर्ण स्वर्ण मान के सपूर्ण लाभ प्राप्त होते है जबकि वास्तव में सोने के सिक्के नही चलाने पडते। इस तरह यह तरीका किफायती है। इसके अतिरिक्त भारत के रुपये पर स्टर्लिंग से सम्बन्ध हो जाने से कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार भारत को लाभ हुआ है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे सुविधा हो गई और विश्व व्यापार में भारतीय रुपये का सम्मान बढ गया। इस प्रणाली से होने वाले सामान्य लाभ यह है (१) यह किफायती होता है। (२) यह विदेशी व्यापार को सहायता पहुचाता है। (३) यह मुद्रा के बाहरी मूल्य को स्थिर रखता है। (४) इससे कीमतो का तुलनात्मक स्तर भी स्थिर रहता है।

स्वर्ण विनिमय मान के अवगुण (Defects of the Gold Exchange Standard)—स्वर्ण विनिमय मान की या इससे मिली-जुली व्यवस्था की जो, युद्ध के बीच के काल मे कार्य करती थी, बडी आलोचना की गई है एक तो इस पर मुद्रा-प्रसार के बढाने का दोष रक्खा जाता है। पर यह मुद्रा-प्रसार के बढाने के बजाय मुद्रा-सकुचन की विधि थी। दूसरे केन्द्रीय बैंक, स्वर्ण की अपेक्षा विनिमय रिजर्व पर अधिक भरोसा रखने मे एक समान रीति न मानते थे। अत उनके पृथक् कार्य आर्थिक अशान्ति पैदा कर देते थे। तीसरे, किसी विदेशी मुद्रा में रिजर्व रखना राष्ट्रीय गौरव को धक्का पहुचाना है। चौथे, चूकि यह अग्रेजो का दास समझा जाता था, इसलिए बहुत से देश इसको पसन्द नही करते थे। पाचवें, इसमें विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन (depreciation) का भय था जिसमें रिजर्व रखे जाते थे। छठे, यह कहा जाता था कि स्वर्ण गति के विपरीत विदेशी विनिमय रिजर्व में गति से मुद्रा-सकुचन व मुद्रा-प्रसार न होता था।

जहा तक इस मान का सबध भारतवर्ष से है, हिल्टन यग कमीशन ने इसकी कटु आलोचना की है। इस सम्बन्ध में निम्न बाते उल्लेखनीय है.

(i) यह प्रणाली सरल नही है और 'अशिक्षित जनता की समझ मे नहीं आती।' ऐसी प्रणाली जिसे शिक्षित भारतीय भी अधिक नहीं समझते हो, जनता की विश्वास-पात्र नही हो सकती। इससे लोगो के हृदय मे अधिकारियो के प्रति शक उत्पन्न हो गया।

(ii) भारत मे इस प्रणाली के अन्तर्गत कई प्रकार के रिजर्व दो स्थानो पर रखने पडते थे। भारत मे ऐसे तीन रिजर्व थे, जिनके प्रतिरूप इगलैण्ड में होते थे। यह

रिजर्व इस प्रकार थ (a) स्वर्णमान रिजव (Gold Standard Reserve), (b) पत्र चल मुद्रा रिजर्व (Paper Currency Reserve) और (c) भारत सरकार के भुगतान (Government of India's Balances)

(iii) प्रणाली स्वचालित नही थी क्योकि इसकी कार्यप्रणाली चलमुद्रा अधिकारियो की इच्छा पर निर्भर थी।

(iv) इसमें लोच का सर्वथा अभाव था। यह अवश्य था कि परिषद् विपत्र (council bills) को पूरा करने के लिए जब रुपये निर्गमन (issued) किये जाते थे तो मुद्रा का विस्तार होता था। किन्तु बुराई यह थी कि एक वार निर्गमन होने के पश्चात् इनका चलन जारी रहता था। कोई ऐसा उपाय न था जिससे मुद्रा का सकुचन भी हो सके।

(v) सब से बडी बात यह थी कि इस प्रणाली से एक देश की मुद्रा-नीति दूसरे देश की मुद्रा-नीति पर आश्रित हो जाती थी। भारतीय रुपये को अंग्रेजी मुद्रा की सब मुसीबतो में हाथ बटाना पडता था।

(vi) हिल्टन यग कमीशन का विचार था कि इस मान मे कुछ जन्मजात बुराइया है जिन्हें सुधारा नही जा सकता और इसलिए उन्होने इसे समाप्त कर स्वर्ण-बुलियन मान अपनाने की राय दी।

६ स्वर्ण समहिता मान (Gold Parity Standard)—स्वर्ण मान की सूची में सबसे बाद में आने वाला **स्वर्ण समहिता मान** है। यह वह मान है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अध्यक्षता के अधीन प्रचलित है। इस प्रणाली में सोने के सिक्के नही चलाये जाते। सोना विनिमय का माध्यम नही होता। देश की करेन्सी में नोट तथा कुछ धातु के सिक्के होते है लेकिन सोने के नही और न यह नोट सिक्को मे बदले जा सकते हैं जैसे पूर्ण स्वर्ण मान में, न स्वर्ण धातु में जैसा कि स्वर्ण धातु मान में होता है और न स्वर्ण विनिमय मान की तरह दूसरी स्वर्ण पर आधारित विदेशी मुद्रा में। इस प्रणाली मे सोने का कार्य केवल यह है कि मुद्रा अधिकारी देश की मुद्रा की विनिमय दर को सोने की एक निश्चित मात्रा मे स्थिर रखने का भार अपने ऊपर लेता है। यह वह स्वर्ण माप है जिसको अ० मु० को० के सदस्य देश मानते है।

६ स्वर्ण मान के लाभ तथा हानिया (Advantages and Disadvantages of Gold Standard)—स्वर्णमान के, विशेषत जब यह अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर अपनाया जाय तो कई लाभ होते हैं—

(१) इसके ऊपर सरकार की अथवा चलमुद्रा अधिकारियो की वस्तुपरक (objective) नीति का कोई प्रभाव नही पडता।

(२) इसमे देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति दीर्घकाल मे स्थिर रहती है। इसका कारण यह है कि देश की मुद्रा और साख स्वर्ण पर आधारित होती है।[1]

(३) स्वर्ण मान का एक बहुत बडा लाभ यह है कि इससे मुद्रा का वाह्य मूल्य

---

१ केन्द्रीय बैक अध्याय देखिये।

(विनिमय दर) स्थिर रहता है।[1] वास्तव मे स्वर्ण मान से विनिमय स्थिर हो जाता ह और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन हो जाता है।

(४) स्वर्णमान से अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर मूल्य का माप प्राप्त हो जाता है। फाऊलर कमेटी (Report on Indian Currency in 1898) के समक्ष मार्शल ने यह कहा था कि स्वर्णमान को अपनाना रेल लाइनो को मुख्य लाइनो से मिलाकर एक रेल सघ की स्थापना करने के समान है। क्योकि विनिमय दर मे परिवर्तन होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वाधा पडती है।[2] इससे विदेशी व्यापार में वडी सुविधा मिलती है।

(५) स्वर्ण मान से विभिन्न देशो के बीच भुगतान की रकमे स्वय स्थिर हो जाती है। यह वात छोटे से उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि इगलैण्ड और अमेरिका दोनो में स्वर्णमान है और दोनो मे आपस में व्यापार होता है। अव यदि इग्लैड की ओर से अमेरिका का कुछ भुगतान वाकी है, तो ऐसी दशा में इग्लैण्ड से अमेरिका को सोना भेज दिया जायगा। अग्रेजी केन्द्रीय वैंक को इससे हानि होगी। और फलस्वरूप इगलैण्ड में मुद्रा का सकुचन हो जायगा जिससे इगलैण्ड में कीमते गिर जायेंगी। अमेरिका में मुद्रा का विस्तार होने के कारण मूल्य वढ जायेंगे। ऐसी दशा मे इगलैण्ड मे क्रय में लाभ रहेगा और विक्रय में हानि। इसके विपरीत अमेरिका मे विक्रय में लाभ रहेगा और क्रय में हानि, इगलैण्ड का निर्यात वढ जायगा और आयात कम हो जायगा और अमरीकी निर्यात कम हो जायगा व आयात वढ जायगा। साम्यावस्था होने तक भुगतान इग्लैण्ड के हक मे होगा। सोने का आदान प्रदान इस प्रकार कीमतो तथा व्यापार पर प्रभाव डालकर स्वर्णमान देशो मे साम्यावस्था वनाए रखता है। इसके विपय में आगे चर्चा करेंगे।

(६) इससे जनता मे राज्य की ओर विश्वास पैदा होता है और विदेशो में देश का सम्मान वढता है। जव तक "दस व्यक्तियो में से नौ व्यक्ति हर देश मे स्वर्णमान को अच्छा समझते है तो वह सर्वोत्तम ही है।"

हानियां (Disadvantages)—

(i) यह वहुत महगी होती है और लागत भी फिजूल होती है। हमें केवल विनिमय का माध्यम ही चाहिए और यह माध्यम सोने का वना हुआ क्यो हो यह तो विलास मात्र की भावना है। 'पीली धातु को केवल असभ्य जातिया ही पसन्द करेंगी।'

(ii) स्वर्ण का मूल्य भी दीर्घकाल में पूर्णत स्थिर नही रहता।

(iii) स्वर्णमान मे चल मुद्रा को आवश्यकतानुसार वढाया नही जा सकता क्योकि चल-मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण की पूर्ति पर निर्भर करती है जिसका कि सवध खानो से है और खानो के ऊपर उद्योग अथवा व्यापार के विस्तार का कोई प्रभाव नही पडता।

हाल मे स्वर्णमान भी प्रबंधित (managed) मान रह गया है। केन्द्रीय वैंकिंग प्रणाली को स्वर्णमान पर नियन्त्रण करने का भार सौंपा गया। ऐसी दशा में यह मान स्वचालित नही रहा।

---

१ विदेशी विनिमय का अध्याय देखिये।

2 Report, Fowler Committee, para 34

(iv) स्वर्णमान वाह्य स्थिरता प्राप्त करने के लिए आन्तरिक स्थिरता की आहुति देता है, चूकि इस मान में अन्तर्देशीय विनिमय पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(v) इसके अतिरिक्त "स्वर्ण की गति से व्याज की दरो में परिवर्तन हो जाता है। जिससे केवल आय को वढाने अथवा घटाने के लिए विनियोजन (investment) की उन्नति अथवा अवनति होती है।" (बैनहम)

(iv) स्वर्णमान के देश की स्वतन्त्र नीति नही हो सकनी। स्वर्णमान स्थिर रखने के लिए देश को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी कभी कभी अपनी मुद्रा का सकुचन (deflate) करना पडता है। इस प्रकार का सकुचन देश के लिए बडा हानिकर होता है। क्यो कि इससे देश में बेकारी फैलती है और उद्योग आदि को हानि पहुचती है।

८ व्यावहारिक रूप में स्वर्णमान (Gold Standard in Practice)—स्वर्णमान के लाभ केवल सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक नही। इनको तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि स्वर्णमान का देश इसके नियमो का सदैव पालन करता रहे।[1] प्रथम महायुद्ध तक स्वर्ण-मान सफल रहा, क्योंकि उस समय तक देशो ने इसके नियमो का पालन किया। इसके अतिरिक्त, क्योकि सोने के सिक्के भी चलते थे, इसलिए केन्द्रीय वैंक के सोने और भुगतानो के माध्यम के बीच घनिष्ठ सम्वन्ध था।

किन्तु युद्ध के पश्चात् स्वर्ण धातुमान ने केन्द्रीय बैंक को करेन्सी में घट-बढ करने की अधिक शक्ति दे दी क्योकि साख और द्रव्य के लिए रखे गये रिजर्व के अनुपात मे काफी परिवर्तन लाया जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण-मान ने, स्वचालित न रह कर, "प्रबधित" चलन प्रणाली का रूप ले लिया है।

६ स्वर्णमान के नियम (Rules of Gold Standard) —स्वर्णमान की सफलता के लिए चलमुद्रा अधिकारियो को कुछ नियमो का पालन करना पडता है।

एक तो देश में वहुत अधिक व्यापारिक स्वतत्रता होनी चाहिए जिससे भुगतानो की असाम्यावस्था (disequilibrium) वस्तुओ की गति से व्यवस्थित हो जाय। स्वर्ण को केवल अल्पकाल में गतिशील होना चाहिए।

दूसरे, स्वर्णमान के देशो की आर्थिक व्यवस्था में काफी लोच होनी चाहिए जिससे कीमत और मजदूरी अपने को सोने के साथ व्यवस्थित कर ले।

तीसरी वात यह है, और यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी है, कि राज्य व केन्द्रीय वैंक को सोने की गति के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। जिस देश में सोने की हानि हो वहा पर कीमतो को गिरने देना चाहिये। और जिस देश में सोना अधिक हो वहा कीमतो को वढने देना चाहिए। जव सोना देश में आय तव मुद्रा का विस्तार करना चाहिए और जव सोना देश से वाहर जाय तव मुद्रा का सकुचन करना चाहिए। जैसा क्राउथर (Crowther) कहते है "स्वर्ण मान का स्वर्ण

---

1 Report, Committee on Finance and Industry, 1913, pp, 23—24

नियम यह है जब सोना आता हो तो साख को बढ़ाओ और जब सोना बाहर जाता हो तो साख को घटाओ।"[1]

प्रथम महायुद्ध के बाद ये शर्ते पूरी नही हो सकी और स्वर्ण मान के देशो ने इन नियमो का पालन नहीं किया।

१०. स्वर्णमान क्यो समाप्त हो गया? (Why Gold Standard Broke Down?)—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् थोडे ही दिनो बाद एक के बाद दूसरे देश मे स्वर्ण मान समाप्त होता चला गया। इसके कई कारण थे।

यह बात बडे महत्त्व की है कि राजनैतिक अनिश्चितता के कारण बहुत से योरोपीय राज्य अपनी पूजी के कुछ भाग विदेशी बैंको, विशेषकर इग्लैन्ड में रखने लगे। इन पूजियो को किसी समय भी तनिक से भय के आभास-मात्र से निकाला जा सकता था। चूकि फ्रास ने ब्रिटेन में अपनी पूजी का भाग निकलवा लिया, इसलिए इगलैन्ड मे १९३१ में स्वर्ण मान समाप्त हो गया। बैंक आफ इगलैण्ड इतने कम समय में इतना अधिक सोना खो देना न सह सका।

इसके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व (International Obligations) व युद्ध क्षतिपूर्ति (Reparations) दायित्व पैदा हो गये। क्योकि महाजन देशो ने वस्तुओ के रूप में भुगतान लेने से इन्कार कर दिया और अधिक ऋण देना भी पसन्द न किया, इसलिये ऋणी देशो को स्वर्ण द्वारा इस ऋण का भुगतान करना आवश्यक हो गया। परिणाम यह हुआ कि ससार के सोने का ¾ भाग सयुक्त राष्ट्र अमेरिका व फ्रास में जमा हो गया। जो सोना और देशो मे बचा वह इतना नही था कि वह सफलतापूर्वक स्वर्ण मान को स्थापित रख सकता।

इस मान के असफल होने का तीसरा कारण यह था कि जिन देशो को सोना प्राप्त हुआ उन्होंने स्वर्ण मान नियमो का पालन नहीं किया। उन्होंने (विशेषतया यू एस ए) अपने देश में प्रचलित कीमतो को इस आए हुए सोने से प्रभावित नहीं होने दिया—फलस्वरूप सोना प्रभावहीन (sterilised) हो गया और स्वर्ण मान स्वचालित रूप से काम न कर सका। यदि इन देशो में कीमतें बढती तो आयात को प्रोत्साहन मिलता और निर्यात पर रोक रहती और इस प्रकार व्यापार संतुलन हक में न होने से सोने की गति दूसरी ओर हो जाती। चूकि ऐसा नही होने दिया गया, स्वर्ण मान स्वय ही बन्द हो गया।

और फिर प्रथम महायुद्ध के बाद हर देश का आर्थिक ढाचा अत्यधिक लोचहीन हो गया था। इसके कई कारण थे। राज्यो तथा स्थानीय अधिकारियो के ऊपर ऋण होने के कारण दीर्घकाल के व्याज की किश्तो का भुगतान आवश्यक हो गया और दूसरे आवश्यक व्यय कम नही किये जा सके। अब ट्रेड यूनियन भी अधिक शक्तिशाली हो गए थे। एकाधिकार व गुटबन्दी के कारण कच्चे माल के मूल्य भी निश्चित रूप से स्थिर हो चुके थे। फलस्वरूप स्वर्ण गति के अनुसार कीमतें उस दिशा मे न चल सकी और

1. Crowther, G—An Outline of Money, 1957 p 304

पुराने ढग पर साम्यावस्था को न लाया जा सका।

यही नही, इस मान की सब से बडी कमजोरी यह थी कि सकट के समय यह मान सदैव असफल हो जाता था। इसलिए अक्सर यह मान अनुकूल समय मान (fair weather standard) के नाम से पुकारा जाता था।

और अन्तिम कारण यह था कि स्वर्ण गति के कारण व्याज की दरो में अनावश्यक परिवर्तन होते रहते थे। उदाहरण के लिए मान को स्थिर रखने के लिए सकट के समय मुद्रा सकुचन करना आवश्यक हो जाता है, पर इस प्रकार के मुद्रा-सकुचन का प्रभाव बहुत बुरा होता है। गिरते हुए मूल्य का सरकार व निश्चित भुगतान करने वाले लोगो पर बुरा असर पडता है। और फिर मूल्यो के गिरने से बेकारी आदि फैलती है और व्यापार को भी आघात पहुचता है।

यही कारण है कि सब देशो ने यह स्वर्ण मान छोड दिया।

११ स्वर्ण मान का भविष्य (Future of Gold Standard)—इन अनुभवो के बाद अब शायद कोई भी देश स्वर्ण मान अपनाना पसन्द न करेगा। १९१४ के पूर्व के व्यापार की दशाओ में इस मान ने लगभग स्वयचालित होकर काम किया पर लडाई के बाद के अनुभवो ने यह सिद्ध कर दिया कि इसकी सफलता के लिए समुचित सगठन व बहुत अधिक सहयोग की आवश्यकता है। पर आर्थिक प्रणाली की दृढता के कारण मूल्य व व्यय में ऐसी व्यवस्था नही हो सकी जिससे कि यह मान सफल रहता। युद्ध काल के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया कि स्वर्ण मान में पर्याप्त व्यवस्था (management) की जरूरत है, तथा दूसरे स्वर्ण-मान स्तर वाले देशो के अधिकाधिक सहयोग की भी। "स्वर्ण मान उसी दशा में कार्यशील होगा जब प्रत्येक साथ पग बढा कर साथ-साथ चलने के लिए तैयार रहे।" जब तक स्वर्ण मान के नियमो का पालन नही किया जायगा, यह सफलतापूर्वक काम नही करेगा। आर्थिक चेष्टाओ की कठोरता भी कीमतो और लागतो के स्तर के समायोजन (adjustment) में बाधक रही जो इसके सुचारु रूप से चलने में इतनी जरूरी थी।

और फिर विभिन्न देशो के बीच इसका वितरण भी ठीक नही था। अमरीका के पास १९३९ में ससार का ८०% सोना था और इसका वितरण तब तक नही हो सकता था जब तक कि वस्तुए स्वतन्त्र गति द्वारा फिर से व्यवस्थित न हो जाये। इन सब बातो के लिए बहुत अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है। यदि किसी प्रकार ऐसा सहयोग प्राप्त हो जाय तो एक ऐसी सगठित प्रणाली को, जिसमे सोने की इतनी महत्ता नही होगी जितनी कि स्वर्ण मान में, कार्यान्वित किया जा सकता है। लोगो को इस बात पर विश्वास नही रहा कि सोना कीमतो अथवा विनिमय के स्तर को स्थिर रख सकता है। इसके विपरीत दूसरे देशो में प्रबन्धित चल-मुद्रा प्रणाली बडी सफल रही, उदाहरण के लिए इगलैण्ड मे।

इसके विपरीत अमरीका व दक्षिणी अफ्रीका आदि स्वर्णोत्पादक देश किसी भी ऐसी प्रणाली का समर्थन नही कर सकते थे, जिसमें सोने का कोई भाग न हो। और फिर कोई भी सगठित प्रणाली, जो स्वर्ण की दृढ नींव पर स्थिर न हो, विश्वासपात्र

नही हो सकती।

फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष[1] की ब्रेटनवुड्स स्कीम मे एक मध्यम मार्ग निकाला गया। इस स्कीम का ध्येय अन्तर्देशीय सहयोग द्वारा स्वर्ण-मान की हानियो को दूर कर उसके सम्पूर्ण लाभ प्राप्त करना है। इस प्रबन्ध का भी आधार स्वर्ण होगा, पर उसका वह प्रमुख महत्त्व नही रहेगा जो स्वर्ण मान के अन्तर्गत था। इस प्रबन्ध का अध्ययन हम विदेशी विनिमय के अध्याय मे करेगे।

१२ स्वर्ण मान के कार्य (Functions of Gold Standard)—स्वर्ण-मान के विषय को समाप्त करने से पहिले हम देख सकते है कि आधुनिक स्वर्ण-मान दो कार्य करता है —

(१) मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का स्थायित्व (Stability of Internal Value of Currency)[2]—पहिला कार्य मुद्रा के आन्तरिक मूल्य अथवा घरेलू कीमतो के स्तर का स्थायित्व है। हर प्रकार के स्वर्ण मान मे मुद्रा सोने से जुडी रहती है। इस कडी के द्वारा देश मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखता है तथा उसकी व्यवस्था करता है। इगलैण्ड में सन् १९३९ मे विश्वासनिष्ठ निर्गम (Fiduciary Issue) जो कि कुल नोट निर्गम का ४/५ था, ४० करोड पौण्ड था। चूकि इसके अतिरिक्त नोटो के बदले मे १०० प्रतिशत सोना रखना पडता था, इसलिए नोटो का निर्गम बगैर सोने की वृद्धि के नही बढाया जा सकता था। इस प्रकार सोना नोटो के निर्गम पर रोक लगाता था। युद्ध काल मे विश्वासनिष्ठ निर्गम में समय-समय पर वृद्धि की गई। यहा तक कि १९४७ मे वह नोटो के निर्गम के बराबर हो गया और सोने का सहारा बिल्कुल जाता रहा। इससे अधिक नोटो का निर्गम नियम-विरुद्ध होता यदि साथ-साथ केन्द्रीय बैक के पास सोना न बढाया जाता। रिजर्व के बारे मे कोई भी नियम क्यो न हो कोई भी केन्द्रीय बैक बगैर नियम भग किये अपने पास के सोने से अधिक नोट निर्गम नही कर सकता। इस प्रकार स्वर्ण मान यह निश्चित करता है कि देश की मुद्रा एकबारगी तथा बिना सोचे समझे बढा ली जाय। इससे कीमतो के स्तर मे स्थायित्व आ जाता है।

(२) बाह्य मूल्य का स्थायित्व (Stability of External Value)—स्वर्ण मान का दूसरा कार्य आधुनिक समय मे मुद्रा के बाह्य मूल्य का स्थायित्व है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक पर यह प्रतिबन्ध लगाकर किया जाता है कि वह एक निश्चित दर पर असीमित मात्रा मे सोना बेचे व खरीदे। अतएव एक निश्चित दर पर खरीद सकने वाला खरीदार सोने की कीमत निश्चित करने योग्य रहता है। जब तक इस नियम का सुधार या खडन नही किया जाता तब तक सोने की धातु की बाजार खरीदार की दया पर रहती है। हर देश मे जहा यह नियम लागू होता है मुद्रा की एक इकाई तथा एक औस सोने मे निश्चित अनुपात रहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उपबन्ध (provisions) के अनुसार है। सोने के द्वारा सारे देशो की मुद्रा मे एक निश्चित अनुपात स्थापित हो

---

1 Chapter XLI
2 See Crowther, G—An Outline of Money, 1950, pp 281 85

जाता है। जैसा क्राउथर (Crowther) कहते हैं "स्वर्ण मान यह निश्चित करने का एक उपाय है कि विनिमय बाजार में एक मुद्रा की माग तथा पूर्ति सदैव एक होगी।" इस प्रकार स्वर्ण मान उद्वन्धन (pegging) का एक विशेष नमूना हो जाता है।

स्वर्णमान की आधुनिक स्थिति यह है कि यह स्वर्ण मान की अपेक्षा डालर मान अधिक है। इसका कारण यह है कि रूस को छोडकर २९ बडे देशो के सोने का ३/४ भाग सयुक्त राष्ट्र अमरीका में है। कुछ समय के लिए, अमरीका की वस्तुओ की माग अधिक रहने के कारण दूसरे देश अमरीका को अधिक सोना देगे और इस प्रकार इनके पास कम से कम सोना रह जायगा। अनुकूल व्यापाराधिक्य (favourable balance of trade) द्वारा उनको सोना प्राप्त करने की बहुत कम आशा है। क्या ससार सोने के चिन्ह को छोडकर डालर का चिन्ह अपनायेगा या नही ? यह सच है कि स्वर्ण मान की अपेक्षा डालर की पूर्ति ही मुख्य देशो की मुद्राप्रणाली में प्रभुत्व रखेगी। जब तक सोने का वर्तमान असमान वितरण ठीक न किया जायगा, जिसके लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता है, स्वर्ण मान के रहने की तनिक भी आशा नही है। अमरीका की वस्तुओ की वेलोच माग के कारण अन्य मुद्राओ का डालर में अवमूल्यन (devaluation) कोई विशेष सहायक न होगा।

१३ स्वर्ण की गतियो के कारण (The Causes of Gold Movements)—'स्वर्ण मान के नियमो' में स्वर्ण के वाहर जाने व अन्दर आने का वर्णन किया गया था। अब हम यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि इस गति के कारण क्या हैं। वेनहेम ने इसके निम्न कारण बताये है।[1]

(१) मुद्रा-सबधी नीति (Monetary Policy)—यदि कोई देश अपने देश में मुद्रा प्रसार कर दे, और दूसरे देश न करें तो इस देश में कीमतें बढ जायगी। इससे निर्यात कम हो जायेगे और आयात बढ जायगे। और यदि स्वतन्त्र स्वर्ण मान हुआ तब सोना वाहर चला जायगा।

(२) पूजी की गति (Capital Movement)—यदि कोई देश दूसरे देशो में रुपया उधार देता है, तब सोना देश से वाहर जायगा पर जब ऐसा होता है और स्वर्ण मान के नियम माने जाते हैं, तो मुद्रा-सकुचन प्रारम्भ हो जाता है (अथवा द्रव्य आय कम हो जाएगी)। फलस्वरूप मूल्य गिरने लगते है, आयात कम हो जाते हैं और निर्यात बढ जाते हैं। ऐसी दशा में स्वर्ण लौटने लगेगा। जिस देश को स्वर्ण मिलेगा उसकी द्रव्य मे आय बढ जायगी (चलमुद्रा में फैलाव होगा) और वहा कीमतें भी बढ जायगी। ऐसे देशो में आयात बढ जायगे और निर्यात कम हो जायेंगे। इससे व्यापार का सतुलन हक में न रहने से ये सोना वाहर चला जायेगा।

(३) वस्तुओ की पारस्परिक माग व पूर्ति (Reciprocal Supply and Demand of Goods and Services)—जिस देश में वस्तुओ और सेवाओ का अधिक निर्यात होता है, उसके पास स्वर्ण अधिक होगा, तथा हालात के अनुसार

[1] Benham, F —Economics, 1940, pp 456 59

विपरीत अवस्था में भी ऐसा ही होगा।

(४) **जनसंख्या में परिवर्त्तन** (Changes in Population)—यदि जनसख्या आप्रवास (immigration) के कारण बढ जाती है तो द्रव्य की माग बढ जायगी और उसके मूल्य बढने से कीमतें कम हो जायेंगी। निर्यात बढने लगेगे, आयात कम हो जायेंगे और सोना देश के अन्दर आने लगेगा। जनसख्या कम होने से इसके विपरीत प्रभाव होगे।

(५) **पूजी में परिवर्त्तन** (Changes in Capital)—जिस देश मे बचत अधिक होगी, वहा पूजी का सचय अधिक होगा। इससे उत्पादन बढ जायगा, कीमतें कम हो जायेंगी, निर्यात बढेगे, आयात कम हो जायेगे और सोना देश में आने लगेगा।

(६) **उत्पादन-प्रणाली में परिवर्त्तन** (Changes in Technique)—उत्पादन-प्रणाली में उन्नति होने से उत्पादन सस्ता हो जायगा। निर्यात बढ जायेंगे, आयात कम हो जायेंगे और सोना देश में आने लगेगा।

(७) **माग में परिवर्त्तन** (Changes in Demand)—यदि किसी कारण विदेशो में देश की वस्तुओ की माग कम हो जाती है, तो निर्यात कम हो जायेगे और सब बातें समान रहने पर सोना बाहर जाने लगेगा।

"यह ध्यान रखना चाहिये कि इस सबध मे दूसरे देशो से संबंधित परिवर्त्तन ही है न कि निरपेक्ष (absolute) परिवर्तन, जो महत्वपूर्ण होने हैं।" (Benham)

१४. कागजी मान या प्रबधित कागजी मान अथवा चलमुद्रा विनिमय मान (Paper Standard or Managed Paper Currency or Currency Exchange Standard)—इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी द्रव्य प्रमुख द्रव्य होता है। देश के चलमुद्रा अधिकारी कागजी द्रव्य का सोने मे विनिमय करने का उत्तरदायित्व नही लेते। विश्वव्यापी मदी के पश्चात् बहुत से देशो को, जिनमे भारत और ब्रिटेन भी थे, स्वर्णमान छोडना पडा। इस प्रकार इन देशो ने कागजी मान अपनाया।

भारत में मुद्राकन का अधिकार रिजर्व बैंक आफ इडिया को है। इस बैंक ने स्टर्लिङ्ग के सम्बन्ध में रुपये के मूल्य का अनुपात १ शि० ६ पेंस रक्खा है। यह स्टर्लिङ्ग को १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पें० प्रति रुपये के हिसाब से खरीदता है और १ शि० ५$\frac{63}{64}$ पे० प्रति रुपये के हिसाब से बेचता है। किन्तु यह क्रय-विक्रय की मात्रा £१०००० से कम होनी चाहिए। देश की करेन्सी मे रुपये (साकेतिक) के नोट व सिक्के सम्मिलित है।

यह प्रणाली द्रव्य विनिमय-मान की प्रणाली है क्योंकि इसमे मुद्रा सोने पर आधारित न होकर एक देश की मुद्रा पर आधारित है। यदि यह देश फ्रास होता तो यह मान फ्रैंक विनिमय मान कहलाता और यदि अमेरिका होता तो वह डालर विनिमय मान कहलाता।

आजकल ब्रिटेन मे भी कागजी द्रव्य मान है, यद्यपि ब्रिटिश स्टर्लिङ्ग को डालर के मूल्य से सबधित कर दिया गया है। १९४९ की सितम्बर मे डालर के हिसाब में स्टर्लिङ्ग का मूल्य लगभग ३० प्रतिशत कम हो गया।

यद्यपि १९३१ से ब्रिटेन ने स्वर्णमान छोड दिया है और स्टर्लिङ्ग सोने में वदला नहीं जा सकता तब भी इस देश की मुद्रा १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार स्वर्ण के रिजर्व द्वारा व्यवस्थित रहती है।

स्टर्लिङ्ग के बाह्य मूल्य मे परिवर्त्तनो को रोकने के लिए एक **विनिमय समकारी लेखा** (Exchange Equalization Account) बना दिया गया है। इस हिसाब का नियन्त्रण ब्रिटिश ट्रेजरी द्वारा होता है। पर वास्तव में यह बैंक ऑफ इगलैण्ड का एक भाग है। जब ब्रिटेन मे विदेशी मुद्रा बहुत आ जाती है तो स्टर्लिङ्ग की माग बढ जाती है और फलस्वरूप उसका मूल्य भी जाता है। पर इन मुद्राओ को विनिमय समकारी निधि (Exchange Equalization Fund) प्राप्त कर लेता है। और इस प्रकार स्टर्लिङ्ग के मूल्य मे वृद्धि रुक जाती है। इसी प्रकार जब मुद्रा इग्लैंड के बाहर जाती है, तब स्टर्लिङ्ग का मूल्य गिर जाता है और तब यह विनिमय सरकारी लेखा सोने के भुगतान करके स्टर्लिंग के मूल्य में परिवर्त्तन होने से बचाता है।

१५ सर्वोत्तम मुद्रा प्रणाली (The Best Currency System)—अब प्रश्न यह है कि सबसे अच्छी मुद्रा-प्रणाली कौन-सी है। इसका उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योकि विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न मानो ने काफी सफलता से काम किया है। इसलिए इस प्रश्न को रखना अधिक उचित होगा अच्छी चलमुद्रा प्रणाली की क्या परीक्षा है।

एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली मे निम्नलिखित गुण होने चाहियें —

(i) यह देश में कीमत की स्थिरता रखने में समर्थ होनी चाहिए। दूसरे शब्दो में इसका आन्तरिक मूल्य (अथवा सम्बन्धित देश में माल खरीदने अथवा सेवा लेने की क्रय शक्ति) मे बहुत अधिक बहुत परिवर्त्तन नही होने चाहिये। जैसा कि हम अध्ययन करेंगे, इसके अर्थ यह है कि देश में व्यापार व उद्योग की आवश्यकताओ के अनुसार प्रचलित मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण होना चाहिये।

(ii) इसे मुद्रा के बाह्य मूल्य को भी स्थिर रखना चाहिए। इसके अर्थ यह है कि इसका विदेशी मुद्रा के निश्चित परिमाण पर इतना दबाव कि इसकी विदेशो मे वस्तुओ तथा सेवाओ पर क्रय-शक्ति एक सी रहे। पर यह विदेशी विनिमय की समस्या है जिसका अध्ययन हम बाद मे करेंगे।

(iii) यह किफायती होनी चाहिए। विनिमय का महगा माध्यम राष्ट्रीय अपव्यय है।

(iv) प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिए जिससे कि यह व्यापार की आवश्यकताओ के अनुरूप चलमुद्रा विस्तृत अथवा सकुचित हो सके।

(v) प्रणाली बहुत सरल होनी चाहिए जो साधारण मनुष्य की भी समझ में आ जाय।

निर्देश पुस्तकें

F Mlynarsky—Functioning of Gold Standard
Robertson, J H—Money, 1948, Ch I and II
Crowther, G—An Outline of Money, 1950, Ch IX

अध्याय ३३

द्रव्य का मूल्य

(THE VALUE OF MONEY)

१ भूमिका—पिछले अध्याय में हम देख चुके है कि सबसे अच्छी मुद्रा प्रणाली वह होती है जिसमे द्रव्य का बाह्य व आन्तरिक मूल्य स्थिर रहे। अब प्रश्न यह है कि 'द्रव्य के मूल्य" का अर्थ क्या है ?

"द्रव्य का मूल्य" शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे होता है। अस्तु, (i) स्वर्ण अथवा रजत के एक निश्चित वजन तथा खरेपन के अनुसार इसका अधिकार, जैसा कि स्वर्ण या रजत मान के अन्तर्गत होता है अथवा (ii) विदेशी मुद्रा की इकाइयाँ जिनका यह क्रय कर सकता है। उदाहरण के लिए इस समय स्टर्लिंग मे रुपये का मूल्य १ शि० ६ पें० है (iii) देश में वस्तुओ की क्रय-शक्ति। इसे द्रव्य की (आन्तरिक) क्रय-शक्ति कहते है। जब हम बिना किसी दूसरे पद के जोडे हुए "द्रव्य का मूल्य" शब्द का प्रयोग करते है, तो हमारा आशय इस तीसरे अर्थ से होता है।

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि द्रव्य का मूल्य अथवा इसकी क्रय-शक्ति का देश के अन्दर प्रचलित कीमतो से एक विशेष, यद्यपि उलटा (inverse) संबंध होता है। जब सामान्य कीमतो का स्तर बढ जाता है तो द्रव्य का मूल्य कम हो जाता है। जब कीमतो का स्तर कम होता है तो यह मूल्य बढ जाता है। इस अध्याय मे हम द्रव्य के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन के कारणो पर विचार करेंगे।

२ द्रव्य का परिमाण सिद्धांत (The Quantity Theory of Money)—इटली के १६वी शताब्दी के एक लेखक डवनजाटी (Davanzatti) इस द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के निर्माण करने वाले थे। इसको लॉक (Locke) तथा ह्यूम (Hume) ने प्रचलित किया तथा बाद में उसको प्रतिष्ठित (classical) अर्थशास्त्रियो ने अपने हाथ मे लिया। सरलतम शब्दो मे द्रव्य का परिमाण सिद्धात यह बताता है कि द्रव्य के मूल्य मे इसके परिमाण के विपरीत परिवर्तन होता है। "यदि द्रव्य का परिमाण द्विगुणित हो जाय और यदि अन्य बातें समान रहें तो वस्तुओ की कीमत पहले से दुगुनी हो जायगी और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा। यदि परिमाण आधा कर दिया जाय तो, अन्य बातो के समान रहने पर कीमतें पहले से आधी रह जायेगी और द्रव्य का मूल्य दुगुना हो जायगा।"[1]

कीमत का स्तर द्रव्य की मौजूदा राशि के सीधा अनुपात में होता है। यदि किसी वस्तु की वृद्धि होती है, तो इसका मूल्य कम हो जायगा, और यदि मात्रा मे वृद्धि होती है, तो इसका मूल्य अधिक हो जायगा। लेकिन द्रव्य में यही एक विशेषता

---

1 Taussig, F W—Principles of Economics, Vol I

है जो द्रव्य तथा दूसरी वस्तुओ मे भेद उत्पन्न करती है कि द्रव्य की मात्रा (quantity of money) तथा वस्तु कीमतो (commodity prices) मे आनुपातिक सम्बन्ध (proportionality) है। इस सिद्धात की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

द्रव्य के परिमाण में वृद्धि होने से उसका मूल्य **उसी अनुपात में** गिर जाता है (और कीमते वढ जाती है)। इसके विपरीत **यदि अन्य वस्तुए समान** रहें, तो द्रव्य के परिमाग मे निर्दिष्ट वृद्धि से द्रव्य का मूल्य उसी **अनुपात** में बढ जाता है और कीमत-स्तर गिर जाता है।

अब प्रश्न यह है कि "अन्य वस्तुए समान रहने के क्या अर्थ है"? इस पद के अर्थ यह है कि निम्नलिखित बातो में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

(१) **द्रव्य के चलन का वेग (Velocity)**–द्रव्य के चलन के वेग का आशय द्रव्य की इकाई जितनी वार उपयोग में आती है उससे होता है। उदाहरण के लिए यदि एक निश्चित समय मे पाच रुपये का एक नोट पाच बार उपयोग में आता है, तो द्रव्य का परिणाम २५) रुपये हुआ न कि ५) रुपये।

(२) **साख-पत्रो का द्रव्य की भाति प्रचलन**—यदि साख-पत्रो के प्रयोग में वृद्धि (अथवा कमी) हो जाय, जैसे चेक आदि, तो यह समझना चाहिये कि प्रचलित द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि (अथवा कमी) हो गई है। इसी प्रकार साख-पत्रो के चलन के वेग की स्थिति है।

(३) **वस्तु विनिमय के सौदे**—यदि कुछ सौदे बिना द्रव्य के प्रयोग के किये जायें, तो उन्हे या तो बिल्कुल अलग कर देना चाहिये अथवा द्रव्य के परिमाण (पूर्ति) में वृद्धि समझना चाहिये अथवा सौदो की मात्रा (द्रव्य की माग) में कमी समझनी चाहिये।

(४) **व्यापार का परिमाण स्थिर रहना चाहिये**—इसके अर्थ यह है कि द्रव्य द्वारा जो काम या सौदे होने है, वह सदैव समान रहें। केवल विनिमय की हुई वस्तुएँ ही नही वरन् उनके प्रचलन का वेग भी स्थिर (constant) रहना चाहिये।

एक शब्द म द्रव्य का मूल्य उसकी मात्रा के प्रतिकूल और वस्तुओ तथा सेवाओ की राशि के अनुकूल बदलता है।[1]

३ प्रोफेसर इरविंग फिशर के विनिमय का समीकरण (Professor Irving Fisher's Equation of Exchange)—प्रोफेसर इरविंग फिशर ने द्रव्य के परिमाण व उसके मूल्य के सम्बन्ध को एक सूत्र (formula) के रूप में प्रकट किया है जिसे वह विनिमय का समीकरण कहते है। यह इस प्रकार है—

$$प = \frac{म\,व + म'\,व'}{ट}$$

1 In a word, the value of money varies inversely with its quantity and directly with the volume of goods and services in existence

यहा प=कीमतो का स्तर या $\frac{१}{प}$=द्रव्य का मूल्य........;

ट=द्रव्य द्वारा होने वाले सौदे।

म=धातु का द्रव्य म'=साख द्रव्य

व=द्रव्य का चलन वेग

व'=साख द्रव्य का चलन वेग

इस सूत्र द्वारा द्रव्य की पूर्ति उसकी माग के बरावर हो जाती है। कीमत-स्तर को सौदो से गुणा कर देने से कुल सौदे निकल आते है, जिसका अर्थ द्रव्य की माग है (प ट)। यह द्रव्य की पूर्ति के बरावर है, जिसमे नकद व साख अपने प्रचलन प्रवेग के साथ सम्मिलित है (म व+म' व')।

अस्तु, प ट=म व+म' व'

$$प = \frac{म\ व + म'\ व'}{ट}$$

प्रोफैसर फिशर का कहना था कि अल्पकाल में ट, व, व', सदैव स्थिर रहते है। म' और म का अनुपात भी स्थिर रहता है, इसलिए प का म के साथ परिवर्तन सीधे अनुपात में होता है। दूसरे शब्दो में १/प (द्रव्य का मूल्य) म अथवा प्रचलित द्रव्य के परिमाण के उल्टे अनुपात में होता है।

अव प्रश्न यह है कि 'दूसरी वस्तुए' (ट, व, व' और म' का म के साथ अनुपात) स्थिर क्यो रहती है, प्रोफेसर फिशर का मत है कि —

सौदे अथवा द्रव्य द्वारा होने वाला काम अल्पकाल में स्थिर रहता है। क्योकि जनसख्या नही वदलती, प्रति व्यक्ति के हिसाव से उत्पादन नही वदलता, उत्पादको द्वारा उपभोग की प्रतिशत मात्रा नही वदलती, अदल-वदल द्वारा विनिमय की प्रतिशत मात्रा नही वदलती, और वस्तुओ के चलन की तीव्र गति नही वदलती। इस सम्वन्ध मे उत्पादन के ढग व लोगो की आदते विल्कुल स्थिर रहनी है। अस्तु, द्रव्य की माग स्थिर रहती है।

जहा तक पूर्ति (Supply) का सम्वन्ध है, मुद्रा तथा साख के चलन का वेग लोगो की आदतो व रीति-रिवाजो पर निर्भर करता है। म' का म के साथ अनुपात बैंको की नीति पर निर्भर करता है। अल्पकाल में इन वातो में विशेष परिवर्तन नही होते। इसलिए द्रव्य का मूल्य अपनी मात्रा के उल्टे अनुपात में होता है।

४ परिमाण सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Quantity Theory)—परिमाण सिद्धात की कडी आलोचना हुई है। "अन्य वातें समान रहें" के पद के साथ यह सिद्धात सिवा अनावश्यक सत्य के और कुछ भी नही है। सच तो यह है कि अन्य वस्तुए कभी समान रहती ही नही। इनमें दीर्घ-काल मे ही नही, अल्पकाल में भी परिवर्तन होते रहते है। जनसख्या, प्रतिव्यक्ति के हिसाव से सौदे, चलन का वेग, साख की नकद के अनुपात में नीति, इन सभी वातों में परिवर्तन होते रहते है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि फिशर का विश्वास है, यह बातें स्वतन्त्र नही हैं। उदाहरण के लिए, म में किसी प्रकार के परिवर्तन से व में भी परिवर्तन हो जायगा और प में म की अपेक्षा अधिक अनुपात से परिवर्तन होगा। पिछले महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी के मार्क का मूल्य तेजी से गिरने लगा। लोगो का इसमें से विश्वास उठ गया और फलस्वरूप मार्क के बदले में वह वस्तुए लेने लगे। अस्तु, द्रव्य के प्रचलन की गति (व) बढ गई, यहा तक कि वह नोटो के प्रचलन (म) के सब अनुपातो से अधिक हो गई। इसी प्रकार म में किसी प्रकार के परिवर्तन से ट में भी परिवर्तन हो जाता है और प का परिवर्तन म में परिवर्तन कर देता है। द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि होने से कीमतें और फलस्वरूप लाभ बढ जाते हैं, जिससे उत्पादन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है और कीमतो में मदी प्रारम्भ होती है। इसके अतिरिक्त अधिक ऊचे कीमत-स्तर यह आवश्यक कर देते हैं कि द्रव्य की पूर्ति बढ जाय जिससे सौदे चलते रहें। इस प्रकार ऊँचा कीमत-स्तर द्रव्य के परिमाण का परिणाम नही वरन् कारण होता है। फिर म का सम्बन्ध समय के एक क्षण से है और व का सम्बन्ध समय के एक काल से है तथा दो भिन्न वस्तुओ को गुणा करना गलत है (जैसे म व)।

द्रव्य परिमाण सिद्धान्त दो ऐसी कल्पनाओ पर आधारित है जिनकी सम्पूर्ण प्रबलता अनिश्चित है (1) कीमतें कुल व्यय के साथ उसी अनुपात में बदलनी है। (11) कुल व्यय मुद्रा की कुल मात्रा के साथ उसी अनुपात में बदलता है। सेमुअलसन का कहना है "यदि हम यह अवास्तविक कल्पना कर लें कि कुल उत्पादन समान रहता है और लोगो में बेकारी नही होती तब कुल व्यय में वृद्धि से कीमतें उसी अनुपात में बढ जायेंगी मदी के स्तर से कुल व्यय में वृद्धि से पैदावार में अधिक वृद्धि होती है और कीमतो में अनुपात से कम वृद्धि होती है।"[1] कुल व्यय तथा द्रव्य के स्टॉक में भी अनुपात के साथ परिवर्तन नही होता क्योंकि द्रव्य का चलन वेग भी करीब-करीब स्थिर नही रहता। जैसा कि सेमुअलसन कहते हैं "परिमा (dimensionally) के हिसाब से व्यय का द्रव्य की मात्रा से वही सम्बन्ध है जो कि एक झील में पानी के बहाव का झील से है।"[2] ✓

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त का मूल दोष यह है कि यह मान लेता है कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि वस्तुओ तथा सेवाओ के खरीदने में लगाई जाती है। यही कारण है कि इससे कीमतें बढ जाती हैं। परन्तु इसके स्थान पर अधिक द्रव्य बैंको में जमा किया जा सकता है, तिजोरियो में बेकार पडा रह सकता है, सिक्योरिटी में विनियोजन किया जा सकता है अथवा बीमा कराने में प्रयोग में लाया जा सकता है। इस हद तक उसका कीमतो पर कोई प्रभाव नही पडेगा।

कुछ लेखको ने चलन-वेग के विचार की आलोचना की है। मार्शल का कहना है कि "परिमाण सिद्धान्त उन बातो की, जिनसे चलन की तीव्रता निर्धारित होती है, कोई व्याख्या नही करता।" बजाय चलन वेग में वृद्धि अथवा कमी के कुछ लेखक द्रव्य की माग

1 Economics, 1948 p 292
2 Samuelson, 'Dimensionally speaking, spending bears the same relationship to the stock of money that a flow of water through a lake bears to the lake itself"

मे वृद्धि अथवा कमी का वर्णन करते है । हम इसका अध्ययन आगे करेंगे ।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त एक दीर्घकालीन घटना की व्याख्या ही नही है । यह उस अल्पकालीन ससार की घटनाओ की व्याख्या करने मे असमर्थ है जहा साम्यावस्था (equilibrium) मे विघ्न डालने वाले कई कारण लगातार कार्य करते रहते है और जो एक सक्रमण काल (transitional period) के सूचक है । परन्तु चूकि हमारा वास्तविक ससार शाश्वत रूप से सक्रमण अवस्था मे है, सिद्धान्त की केवल सीमित उपयोगिता है । वह दीर्घकालीन साम्यावस्था जिसकी व्याख्या परिमाण सिद्धान्त करना चाहता है कभी भी प्राप्त नही होती । "साम्यावस्था कल के समान है—यह कभी नही आती क्योंकि जैसे ही सुवह की भूरी लकीरे दीख पडने लगती है, कल के अर्थ कुछ और हो जाते है ।"

द्रव्य की मात्रा तथा सामान्य कीमत-स्तर के बीच साधारण और प्रत्यक्ष सम्वन्ध तभी ठीक होता है जब कि अर्थ-व्यवस्था एक साम्य की दशा में है । जैसा कि कीन्स (Keynes) कहते है "साम्य मे—अर्थात् जब उत्पादन के साधन पूर्णरूप से कार्य करते है, जब जनता सिक्योरिटियो के लिये न तो तेजी वाली और न मन्दी वाली प्रवृत्ति रखती है और अपने कुल धन के असामान्य अनुपात से न तो अधिक और न कम भाग बचत-जमा (savings deposits) के रूप में रखते है और जब बचत की मात्रा नये विनियोग की लागत तथा प्रकृति दोनो के बराबर होती है—मुद्रा की मात्रा उपभोग वस्तुओ की कीमत स्तर तथा उत्पादन में एक विचित्र सम्वन्ध इस प्रकार का होता है कि यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी हो जाती है तो कीमतो का स्तर दुगुना हो जाता है"[1] कौन कह सकता है कि ऐसा साम्य प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार मुद्रा परिमाण सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक रूप में बेकार तथा धोखा देने वाला है ।

प्रोफेसर हायक[2] का विचार है कि इस सिद्धान्त ने व्यर्थ मे द्रव्य के सिद्धान्त मे इतना प्रमुख स्थान पा लिया है। उनका यह भी विश्वास है कि जिस विचार ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया है, उससे आगे की उन्नति में बाधा पडती है । "इस सिद्धान्त का एक बहुत बुरा प्रभाव यह है कि यह अर्थशास्त्र से द्रव्य के सिद्धान्त को पूर्णत पृथक् कर देता है ।"

लार्ड कीन्स को इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सब से बडा विरोध यह है कि यह समस्या का उचित अध्ययन नही करता । "द्रव्य के सिद्धान्त की वास्तविक समस्या केवल साख्यिक समीकरण मात्र स्थापित कर देना ही नही है । उदाहरण के लिए द्रव्य के कुल परिमाण का द्रव्य के बदले मिलने वाली वस्तुओ से सम्बन्ध है । इस सिद्धान्त का असली कार्य तो यह है कि वह विभिन्न तत्वो का विश्लेषण करे कि वह तमाम कारण, जिनसे कीमत-स्तर निश्चित होते है और वह उपाय जिनमे साम्यावस्था में फेर-फार होते है, स्पष्ट हो जायें ।"[3] विट्टेकर के शब्दो मे "परिमाण सिद्धान्त इस अर्थ मे तो बडा अच्छा है कि यह कीमत-स्तर की प्रणाली स्पष्ट कर देता है किन्तु जहा तक कारणो की

---

1 A Treatise on money, 1950, Vol I, pp 146-47
2. Prices and Production, Lecture 1
3 Keynes · A Treatise on Money

व्याख्या का सम्बन्ध है, इसमें वडी कमियाँ है ।"[1]

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को उसके प्रारम्भिक रूप में माना नही जा सकता। कुछ प्रश्न इसकी गलत प्रकृति को स्पष्ट कर देंगे। क्या एक व्यापारी अपनी वस्तुओ की कीमत केवल इसलिए वढा सकता है कि केन्द्रीय वैंक ने अधिक नोटो को छाप दिया है? क्या प्रत्येक मनुष्य जितना द्रव्य उसके पास है खर्च करने को तैयार है? इसका जवाव नही में है। क्या यह सभव नही है कि नई मुद्रा अधिक उत्पादन को सुविधा दे और इस प्रकार कीमतो को वढने से रोके। सिद्धान्त वस्तुओ की पूर्ति की लोच पर ध्यान नही देता। जव पूर्ति लोचदार है तो ट प से अधिक वढ सकता है। फिशर का समीकरण समय (element of time) का ध्यान नही रखता। मुद्रा एकबारगी वढाई जा सकती है, परन्तु व्यापार की मात्रा तथा वेग एक काल में फैले होते हैं।

व्यापार की मात्रा तथा उसके चलन वेग को ध्यान में रखते हुए सिद्धान्त को सुधरे हुए रूप में इस प्रकार रख सकते हैं **कीमतों का सामान्य स्तर मुद्रा की मात्रा तथा उसके चलन वेग के अनुकूल और द्रव्य द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा के प्रतिकूल बदलता है।"** पुराने तथा अधूरे परिमाण सिद्धान्त के इस आधुनिक वर्णन में कीमतो पर प्रभाव डालने वाले तीन मुख्य साधनो अर्थात् मुद्रा की मात्रा, उसके वेग तथा व्यापार की मात्रा अथवा सौदो पर ध्यान दिया गया है। कोई भी अर्थशास्त्री अव यह विश्वास नही करता कि मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमतो के स्तर के वीच कोई स्थिर तथा अचेत सम्बन्ध है। इस प्रकार सिद्धान्त वदल गया है, केवल नाम मात्र रह गया है। आधुनिक अर्थशास्त्री ने एक तरह से नई शराब पुरानी बोतल मे रख दी है।

अव यह वात मान ली गई है कि "वास्तव में, द्रव्य का मूल्य, द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा कुल आय के परिणामस्वरूप है।" कीमतो में होने वाले उतार-चढाव का कारण व्यक्तिगत आय में होने वाले उतार-चढाव के कारण होता है। मन्दी के समय पैसा अधिक मात्रा में होता है किन्तु आय कम होती है और इसलिए कीमतें भी कम होती है।

किन्तु परिमाण सिद्धान्त पूर्णत वेकार नही है। आर्थिक सिद्धान्त की हैसियत मे यह वहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता यह है कि इससे हमें यह पता चल जाता है कि मुद्रा-प्रसार की परिस्थितियो में अथवा वैंक के साख के कम विस्तार की दशा में अथवा व्यापार की वृद्धि की दशा में कैसा प्रभाव होगा। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरी वातो (साधनो) का भी ध्यान रक्खें। अधिकारी वर्ग जव मुद्रा-प्रसार करते है अथवा मुद्रा-सकुचन करते है, तो इसी सिद्धान्त के अनुसार काम करते है। सिद्धान्त मुद्रा-प्रसार के काल मे आर्थिक घटनाओ तथा भूतकाल में कीमतो की अस्थिरता की व्याख्या करने में वहुत सहायक है।

५ द्रव्य की माग व पूर्ति का सिद्धात (Supply and Demand Theory of Money)—द्रव्य के मूल्य निर्धारण मे माग तथा पूर्ति के नियम लागू

1 Whittaker op cit, p 660

होते है। हम जानते है कि कीमतो के सामान्य स्तर की तरह द्रव्य के मूल्य मे उल्टा परिवर्तन होता है। किन्तु कीमतो का स्तर एक ओर तो द्रव्य की माग (अर्थात् बेचे जाने वाले माल की मात्रा) पर निर्भर करता है और दूसरी ओर द्रव्य की पूर्ति (अर्थात् मात्रा) पर। इस सिद्धान्त के अनुसार "द्रव्य का मूल्य दूसरी वस्तुओ के मूल्य की भाति इसकी माग और पूर्ति पर निर्भर करता है।" द्रव्य की माग व पूर्ति का वर्णन परिमाण सिद्धान्त में भी है किन्तु वह सिद्धान्त माग व पूर्ति की शक्तियो की व्याख्या करने मे सफल नही हुआ।

मुद्रा की पूर्ति (The Supply of Money)—वर्तमान समाज में मुद्रा की पूर्ति में बहुत-सी बातें सम्मिलित हैं। (क) धातु की मुद्रा अर्थात् सोना और चादी, (ख) विधिमान्य मुद्रा, जिसका प्रचलन सरकार करे अथवा सरकार के नियमो के अन्तर्गत हो, (ग) साख-पत्र जैसे चेक, ड्राफ्ट, बिल ऑफ एक्सचेंज आदि।

इनमें से प्रत्येक पूर्ति का साधन विभिन्न परिस्थितियो पर निर्भर है। (क) धातु की मुद्रा इन बातो पर निर्भर है —

(i) खान खोदने के उपायो मे उन्नति, (ii) नयी खानो की खोज, (iii) अमुद्रा (non-monetary) प्रयोगो से अधिक सोने का आना।

(ख) विधिमान्य मुद्रा व दूसरे छोटे सिक्को की मात्रा निम्नलिखित बातो पर निर्भर है—(१) सिक्का ढलाई व सुरक्षित रखने के विषय में सरकारी नियम। (२) सरकार की मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताए। (३) फुटकर सौदो का परिमाण।

(ग) "बैंक मुद्रा" की पूर्ति निम्नलिखित बातो पर निर्भर करती है—(i) बैंक डिपॉजिट्स की मात्रा, (ii) बैंको की साख नीति, (iii) देश में आर्थिक विकास की दशा।

इस विषय में हमे प्रत्येक भाति के द्रव्य के चलन के वेग और तीव्र गति का भी ध्यान रखना चाहिए। द्रव्य की वास्तविक पूर्ति सरकार की ऋण-नीति, गाढने की आदत आदि से भी प्रभावित होती है।

इन बातो से यह स्पष्ट है कि जिन देशो में धातु के सिक्के ही मुद्रा का एकमात्र स्वरूप है, वहा इतनी सरलता से मुद्रा की पूर्ति नही बढाई जा सकती जितनी उन देशो मे, जहा साकेतिक सिक्के अथवा कागज के नोट मुद्रा के रूप मे चलते है। यदि कागज के नोट धातु के सिक्को में विनिमय-साध्य न हो और यदि उनके विषय मे कोई सख्त सरकारी नियन्त्रण न हो, तो उनका चलन करेंसी-अधिकारियो की इच्छा पर निर्भर होगा। जिन देशो में बैंक मुद्रा का चलन होता है, वहा मुद्रा की पूर्ति किसी सीमा तक भी बढाई जा सकती है। पर आम तौर से बैंको में नकद रुपये का कुछ भाग रिजर्व के रूप में रख लिया जाता है। चूकि यह अनुपात लोचपूर्ण होता है, इसलिये पूर्ति किसी हद तक भी घटाई या बढाई जा सकती है।

बैंक ब्याज की दर घटाकर उधार को प्रोत्साहन दे सकते है अथवा बढाकर हतोत्साह कर सकते है। पर यह अक्सर केन्द्रीय बैंक के नेतृत्व मे होता है। बैंक और विशेषकर केन्द्रीय बैंक सिक्योरिटी खरीदकर मुद्रा की क्रय-शक्ति बढा सकते है और

सिक्योरिटी बेचकर इसे घटा सकते है। पर उनकी विस्तार अथवा सकुचन की शक्ति व्यापार की दशा पर निर्भर होती है, मन्दी के दिनो में बेंक उद्यमियो को उधार लेने को बाध्य नही कर सकते क्योकि ऐसी परिस्थितियो में विनियोजन लाभप्रद नही होता। यदि वह बाजार में सिक्योरिटी खरीदे भी तब भी उस धन का कोई विनियोजन नही होगा। इससे केवल द्रव्य ठहर (holding of money) जायगा। अस्तु, वढी हुई पूर्ति को बढी हुई माग से उदासीन (neutralize) कर देना चाहिये। पर द्रव्य की माग क्या है ?

मुद्रा की माग (Demand for Money)—आरम्भ में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मुद्रा की माग के क्या अर्थ है ? मुद्रा की माग से हमारा तात्पर्य आय अथवा धन की माग से नही है इसका अर्थ है नकदी अथवा तरल स्रोतो (liquid resources) की माग। यह इसलिए मागी जाती है कि इसकी क्रय-शक्ति होनी है अतएव द्रव्य की माग वास्तव में उसकी क्रय-शक्ति की इकाइयो की माग है। फिशर के सूत्र के अनुसार द्रव्य की माग (प ट) कुल सौदो के मूल्यो के बराबर होती है जो किसी समय में पूरे हो। माग का यह विचार न तो सही है, न वैज्ञानिक। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर कैनन का कहना है —

"यह विचार ऐसे विचार के समान लगता है जैसे कि यह कहा जाय कि मकानों की माग उन व्यक्तियो द्वारा नही होती है जो उनमें रहें वरन् उन लोगो द्वारा होती है जो कि उन्हें खरीदकर वेच दें। मकानो की प्रभावी (effective) माग उन लोगो द्वारा होती है, जो उन्हें पास रखना चाहते है। सट्टेबाज भी कुछ समय के लिये मकान अपने पास ही रखना चाहते हैं। "मकानो की ले वेच मण्डी" में केवल थोडी-सी गतिविधि से—केवल माग में उसी प्रकार वृद्धि हो जाती है जिस प्रकार रद्द करने वाली प्रवृत्ति के कारण पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। इन वाक्याशो के सही प्रयोग के विषय में चाहे कुछ भी कहा जाय, यह तो स्पष्ट है कि जिस माग का मूल्य पर अत्यधिक प्रभाव पडता है, वह मकान में रहने की माग है।"[1]

इसी प्रकार द्रव्य की माग इसका उपभोग (consume) करने के लिये इतनी नही होती जितनी कि उसे रखने (hold) के लिये। यह प्रवृत्ति मुद्रा के वेग के प्रतिकूल है। व्यक्ति, व्यापारिक सगठन और लोक-सस्थाये सभी प्रकार के लोग रुपया रखना चाहते है। इसके कई कारण है। साधारण उपभोक्ता तो रुपया केवल इसलिए रखना चाहते है कि इससे उनकी वस्तुएँ खरीदने की प्रतिदिन की आवश्यकतायें पूरी होती रहें। उद्यमी मजदूरी और दूसरे प्रकार के व्यय करने के लिये रुपया चाहते हैं। इसी प्रकार के कारणो से प्रभावित हो लोक-सस्थाए भी रुपया रखती है। कभी-कभी रुपया केवल इसलिए रक्खा जाता है, कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा लाभदायक विकल्प नही होता। रुपया रखने का एक और कारण यह भी है कि इसे या तो वस्तुओ के क्रय में व्यय कर

---

1 Quoted by Stevenson and Branton in Economics of Banking, Trade and Finance, p 15

परिमाण सिद्धान्त के चलन के 'वेग' की प्रोफैसर कैनन व दूसरे लोगो ने कडी आलोचना की। यह विचार अनिश्चित है। जब इसे द्रव्य की माग के रूप में प्रकट किया जाय तो यह अधिक सही हो जायगा। उदाहरण के लिए, बढती हुई कीमतो के समय मे अथवा चलार्थ की कमी मे द्रव्य के चलन वेग की वृद्धि हो जाती है। हम यह भी कह सकते है कि द्रव्य की माग कम हो गई। ऐसे समय में हर व्यक्ति रुपया व्यय ही करना चाहता है। जब कीमते गिरने लगती है तब इसका उल्टा होता है। मदी के दिनो मे यह कहने के बजाय कि द्रव्य का चलन वेग कम हो गया हम यह कहते है कि द्रव्य की माग बढ गई।

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि और वस्तुओ की भाति मुद्रा का मूल्य भी माग व पूर्ति की शक्तियो द्वारा निश्चित होता है। माग व पूर्ति ही कीमत और फलस्वरूप द्रव्य का मूल्य निर्धारित करती है। यदि पूर्ति के साथ-साथ द्रव्य की माग जो मुद्रा के मूल्य का निर्धारण करती है बढ जाय तो सामान्य कीमत-स्तर बढ जायगा। निश्चित पूर्ति की अवस्था में, माग मे वृद्धि से द्रव्य के मूल्य में वृद्धि होती है अथवा सामान्य कीमतें कम हो जाती है, जैसा कि मदी के दिनो में होता है। इसके विपरीत यदि द्रव्य की पूर्ति बढ जाय तो उसका मूल्य कम हो जायगा और कीमतें बढ जायेंगी जैसा कि व्यापार के खूब चलने के समय हुआ। पूर्ति और माग जब साम्यावस्था पर पहुँच जाते है तो कीमते स्थिर हो जाती है।

६ कैम्बिज मुद्रा समीकरण[1] (The Cambridge Monetary Equation)—मुद्रा की मात्रा तथा उसके मूल्य (अथवा कीमत स्तर) के बीच के सम्बन्ध की समस्या दो प्रकार से हल की जा सकती है। इससे दो परिमाण सिद्धान्त उठ खडे हुए है। एक मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त है, जो लेन-देन वाला सिद्धान्त कहलाता है जिसका विवेचन हम विभाग २ में कर चुके है और जिसकी व्याख्या फिशर के समीकरण से हुई है। यह सिद्धान्त अमरीका में अधिक प्रचलित है। दूसरा सिद्धान्त जिसको नकद आधिक्य वाला भी कहते है और जो यूरोप में, खास कर इगलैड में अधिक प्रचलित है, केम्ब्रिज समीकरण से प्रस्तुत होता है।

दूसरे प्रकार का समीकरण पहले परिमाण समीकरण से इसलिए सुधरा हुआ है कि यह राष्ट्रीय आय पर आधारित है और इसके अन्तर्गत तरलता (liquidity) की धारणा को भी शामिल किया गया है। ये दोनो ही कीस की अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आते है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कैम्ब्रिज समीकरण मुद्रा के मूल्य के बारे में रोकड बाकी (cash balance) वाला सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।[2] यह केवल यह कहता है कि मुद्रा का मूल्य रोकडबाकी विभाग की माग तथा पूर्ति पर निर्भर करता है। पिछले विभाग में हम मुद्रा की माग तथा पूर्ति के निर्धारण करने वालो के बारे में विवेचन कर चुके है। यहा हम विद्यार्थी का ध्यान माग की तरफ एक बात पर डालना

---

१ यह विभाग ऑनर्स तथा एम० ए० के विद्यार्थियो के लिए है।

2 Marshall, A —Money, Credit and Commerce, 1, iv, 3

3 Robertson, D M —Money, 1932, Ch II and Appendix A.

चाहते हैं। मुद्रा की माग केवल मात्रनो अथवा विनिमय की जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा पर ही निर्भर नही करनी परन्तु उस समय पर भी निर्भर करती है जिसमे व्यापार होता है। गेहू के उपभोग करने वाले को लो। उसके लिए क्या यह आवश्यक है कि वह सारे साल का गेहूँ एक साथ खरीद ले या काफी नकद रुपया सारे साल की आवश्यकता के लिए खरीदने को रख ले। नही, यह आवश्यक नही है। बहुत कम उपभोक्ता ऐसा करेंगे। एक उपभोक्ता महीने-महीने खरीदना तै कर सकता है। तब उसको यह आवश्यक होगा कि वह साल भर की आवश्यकता के $\frac{1}{12}$ के बराबर नकद रख ले। इसी प्रकार वह इतना नकद रखेगा जो कि उसको दूसरी वस्तुओ तथा सेवाओ के खरीदने के लिए किसी निश्चित समय के लिए आवश्यक हो न कि पूरे साल के लिए।

यदि एक समुदाय के लोगो का स्वभाव दीर्घकाल में क्रय पूरा करने के लिए नकद रखने का है, तो नकद की माग अधिक होगी। कुल आय का केवल एक हिस्सा नकदी मे रखा जाता है, शेष का विनियोग (invest) कर दिया जाता है। न तो नकद अधिक रखना चाहिये क्योकि अधिक नकद रुपया रखना खतरे के अतिरिक्त एक प्रकार की हानि भी है, हालाँकि अधिक नकद आधिक्य व्यापार को सरल तथा शान्त रूप बनाता है। और न नकद कम ही रखना चाहिए क्योकि व्यापार के अनुसार यह आपत्तिजनक हो सकता है। जैसा कि मार्शल कहते हैं —"एक व्यक्ति अपनी आय का उचित भाग नकद रखने तथा अपने साधनो को इस रूप में रखने की हानियो से जिसमें उनसे कोई प्रत्यक्ष आय या अन्य लाभ नही होता सतुलन करके स्थिर करता है।" एक व्यक्ति इस प्रकार अपनी आय का केवल एक अश ही नकद रुपयो मे रखता है ताकि उसका व्यापार शांतिपूर्वक चले तथा सकट-काल में रक्षा हो। मान लो ऐसे अश को क सूचित करता है।

समीकरण को प्राय इस रूप में रखा जाता है—

म=क प र,

इसमें म द्रव्य की मात्रा है और यह फिशर के विनिमय के समीकरण वाले म के समान है। र वास्तविक राष्ट्रीय आय है अर्थात् माल तथा सेवाओ का कुल योग है जिसे मंडी में लाकर द्रव्य के बदले बेचा जाता है, जैसे रुई र के अन्तर्गत नही आती किन्तु दर्जी द्वारा तैयार किए गए सूट आदि इस र के अन्तर्गत आते हैं। इसी तरह इसके अन्तर्गत रोटी तो आती है किन्तु गेहूँ नही आता।

प राष्ट्रीय आय का वास्तविक औसत कीमत, स्तर है। अर्थात् इसके अन्तर्गत वे सब माल तथा सेवाएँ आती हे जिनका उपभोग जनता करती है जैसे भोजन, वस्त्र तथा मकान आदि।

इस प्रकार प र मुद्रा राष्ट्रीय आय है।

मुद्रा राष्ट्रीय आय (monetary national income) का एक भाग समाज द्वारा नकदी के रूप में रहता है। इस भाग को क द्वारा दिखलाया गया है और यह जनता की तरल ससाधन (liquid resources) के रूप मे बचा रखने

की प्रवृत्ति को बताता है। इसे खरीदारी के लिए रखा गया तरल साधन (liquidity factor) कहते हैं। यदि सारा द्रव्य सिर्फ एक बार ही परिचालित हो तो वाछित धन की राशि वही होगी जो मुद्रा राष्ट्रीय आय की। यदि मुद्रा वर्ष में दो बार परिचालित (circulate) हो तो यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय उत्पाद (national product) खरीदने के लिए प र के आधे की जरूरत होगी, अर्थात् द्रव्य राष्ट्रीय आय के लिए जैसा कि प र द्वारा उपर्युक्त सूत्र में दिखाया गया है। राष्ट्रीय उत्पाद को एक वर्ष के भीतर खरीदने के लिए द्रव्य का जितनी बार परिचालन होता है उसे $व_1$ द्वारा दिखाया गया है, अर्थात् द्रव्य के परिचालन की आय गति (income velocity of circulation of money)। क द्रव्य राष्ट्रीय आय का वह भाग ह जो जनता नकदी के रूप में अपने पास रखना चाहती है। इस प्रकार प र राष्ट्रीय उत्पाद खरीदने के लिए द्रव्य की मांग है। यह जरूरी तौर पर द्रव्य पूर्ति (money supply) के समान होती है।

$म^1$ × द्रव्य परिचालन की गति = म $व_1$

$$म = क\ प\ र \quad \text{इसमें} \quad क = \frac{इ}{व^1}$$

हम फिशर के विनिमय समीकरण को सरलतम रूप में समझ चुके है।

$$म = \frac{प\ ट}{व\ ट} = \frac{इ}{व\ ट} \times प\ ट$$

कैम्ब्रिज समीकरण के अनुसार

$$म = क\ प\ र$$

अत जिस प्रकार $क = \dfrac{इ}{व^1}$

$$म = \frac{इ}{व_1}\ प\ र\ ।$$

दो समीकरणो का भेद निम्न प्रकार है —

(1) फिशर के समीकरण (equation) में ट कुल सौदो (total sum of transactions) के लिए है, जिसमें र अन्तिम उत्पाद मात्र है जो मार्केट में आती है। उदाहरण के लिए, फिशर ट के अन्तर्गत रुई के उत्पादन तथा विक्रय, सूत के विक्रय, कपडे के विक्रय तथा मिले हुए कपडो (अन्तिम रूप से सिले हुए तैयार कपडे) को शामिल करते है, जिसमें र के अन्तर्गत अन्तिम रूप से तैयार माल (अर्थात् सिले हुए कपडे) जिसे मार्केट में लाया जाता है शामिल है।

(ii) इसी भांति प्रथम समीकरण में प द्वारा प्रत्येक माल तथा सेवाओ के उत्पादन की हर स्टेज पर औसत कीमत-स्तर का निरूपण है और सारे सौदो का औसत कीमत-स्तर शामिल है। कैम्ब्रिज समीकरण मे प सिर्फ उस माल का कीमत, स्तर है जिन्हें अन्तिम रूप मे मार्केट मे लाया जाता है। इनका उतार-चढाव एक दिशा में होना तो सम्भव है किन्तु दोनो समान नही है।

(iii) इन दोनो में व अर्थात् परिचलन की गति के अर्थों में भी परस्पर भेद है। फिशर के समीकरण में इसे व ट अर्थात् सौदो के परिचालन की गति (Transaction Velocity of Circulation) के रूप में दिखाया गया है। यह इस बात का निरूपण (प्रतिनिधित्व) करता है कि एक वर्ष की अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत द्रव्य की एक इकाई सारे सौदो की ले-बेच के लिए कितनी बार परिचालन में आती है। इसके विपरीत व, सिर्फ परिचालन की आय गति है और इस बात का निरूपण करता है कि द्रव्य की एक इकाई अन्तिम राष्ट्रीय उत्पाद की खरीद के लिए कितनी बार परिचालन में आती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कम्ब्रिज समीकरण राष्ट्रीय आय के कीमत-स्तर तथा जनता की तरल (liquidity) की माँग पर बल देती है। कीस ने राष्ट्रीय आय की धारणा जिसे आधुनिक कीस विश्लेषण में लिया गया है उपयोग किया है। इसमें आधुनिक व्यापार-चक्र, अर्थशास्त्री तथा सरकार अन्तिम माल तथा पैदावार (final goods and output) की कीमत-स्तर में होने वाले उतार-चढाव (fluctuations) से सम्बन्धित है। तरलता की धारणा, जिसका थोडा-सा शोधन किया गया है, कीस ने व्याज की दर तथा विनियोजन के सिद्धान्त के लिए उपयोग किया है, जो कुल उत्पादन का निर्धारण करता है।

लेकिन कीस और भी कई अधिक जरूरी साधनो को मानते है जिन पर राष्ट्रीय आय आधारित है। वे है विनियोजन (investment) से होने वाले लाभ तथा फालतू खर्च। कैम्ब्रिज समीकरण में इनका ध्यान नही रखा गया है। इसलिए आजकल विश्लेपण में इनका उपयोग नही किया जाता।

७ द्रव्य की माग की लोच (Elasticity of Demand for Money)—जब हम कहते है कि द्रव्य का मूल्य बिल्कुल अपने परिमाण (quantity) (अर्थात् मद्रा दुगनी होने से उसका मूल्य आधा रह जाता है, और मुद्रा आधी होने से उसका मूल्य दुगना हो जाता है) पर निर्भर करता है तो वह केवल इसलिए कि यह मान लिया गया है कि द्रव्य की माँग की लोच ऐक्य (unity) के बराबर है।

द्रव्य की माग वस्तु-विनिमय, साख और सौदो के परिमाण पर निर्भर करती है। यह मान लिया गया है कि एक निश्चित समय में द्रव्य की माग म थोडा परिवर्तन होता है। (अर्थात् माग वक्र मे कोई परिवर्तन नही होता।) यदि द्रव्य की माग समान रहे तो उसकी पूर्ति (मात्रा) उसका मूल्य निर्धारित करेगी। द्रव्य के परिमाण में किसी प्रकार के परिवर्तन से उसके मूल्य मे भी उसी अनुपात में परिवर्तन होता है। यदि द्रव्य के परिमाण में शत-प्रतिशत वृद्धि हो जाय तो कीमतो मे भी शत-प्रतिशत वृद्धि हो जायगी और यदि द्रव्य के परिमाण में शत-प्रतिशत कमी हो जाय तो कीमतो में भी शत-प्रतिशत कमी हो जायगी। वस्तुओ के सम्बन्ध मे ऐसा नही होता। यदि गेहूँ की पूर्ति शत-प्रतिशत बढ जाय तो उसके मूल्य में उसी अनुपात में कमी नही होगी। एसा क्यो ?

ऐसा माना जाता है कि द्रव्य केवल एक टिकट मात्र है, जिसके द्वारा केवल विनिमय होता है। इसका दूसरी वस्तुओ की भाति उपभोग नही किया जा सकता। जब

वस्तुए अधिक तथा सस्ती होती है, तो उनका अधिक उपभोग होगा। परन्तु मुद्रा का इस प्रकार उपभोग नही हो सकता। इसलिए यदि यह बढ जाय तो उसका विनिमय वस्तुओ के बदले होगा। मान लीजिये, किसी देश में १०० वस्तुएँ है और १०० सिक्के हो तो १०० सिक्को के बदले में १०० वस्तुएँ मिलेंगी और प्रति वस्तु की कीमत एक सिक्का होगी। अब यदि द्रव्य का परिमाण बढ जाय तो २०० सिक्को के बदले में १०० वस्तुएँ मिलेंगी। २०० सिक्को और १०० सिक्को की क्रय-शक्ति बराबर है। इसलिए कुछ लेखको का यह विश्वास है कि द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन का कोई महत्त्व नही होता। यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि माँग की लोच ऐक्य (unity) है। "इसका अर्थ है कि मुद्रा के मूल्य में वृद्धि से उसकी माग में उसी अनुपात मे कमी होगी और मुद्रा के मूल्य में कमी से उसकी माग में उसी अनुपात में वृद्धि हो जावेगी।"[1]

किन्तु क्या द्रव्य की माग की लोच वास्तव में ऐक्य (unity) है ? नही।

वास्तविक जगत् में हम यह नही पाते कि द्रव्य के परिमाण में किसी प्रकार के परिवर्त्तन से कीमतो में भी उसी अनुपात मे परिवर्त्तन हो जाय। जर्मनी में प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् मुद्रा-प्रसार के दिनो में कीमते प्रचलित माध्यम से कही अधिक बढ गई थी। मुद्रा-प्रसार के पश्चात् और अधिक मुद्रा-प्रसार आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में द्रव्य की माग भी बढती रहती है। लोगो का मुद्रा से विश्वास उठ जाता है। प्रतिदिन कीमतें बढती है। लोग आगे की कीमतें वसूल करने लगते है। अस्तु, जब द्रव्य का परिमाण बढ जाता है तब उसका मूल्य अनुपात के अनुसार ही नही वरन् और भी अधिक कम हो जाता है। इसी प्रकार मदी के दिनो में कीमतें गिरती ही जाती है, चाहे द्रव्य के परिमाण में कोई परिवर्त्तन न हो। बीसवी शती के प्रारम्भ में मदी के दिनो में यद्यपि बहुत से देशो में मुद्रा बढाकर कीमतें बढाने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु वह असफल रहे।

सच तो यह है कि यह एक बडी अद्‌भुत घटना है, जिस पर द्रव्य का परिमाण प्रभाव डालने वाला एक अग है। इसीलिए यह सोचना कि द्रव्य के परिमाण में हर प्रकार के परिवर्त्तन से कीमतो में उसी अनुपात में परिवर्त्तन होता है, गलत है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि द्रव्य की माग की लोच ऐक्य (unity) के बराबर नही होती।

पर यह बिल्कुल उल्टी बात है कि व्यापार की समृद्धि के दिनो में सौदो की सख्या बढ जाती है। जिसके अर्थ यह है कि द्रव्य की माग बढ जाती है। अस्तु, द्रव्य का मूल्य भी बढ जाना चाहिये और कीमतें गिरनी चाहिए। इसके विपरीत जब व्यापार मदा पड जाता है तो द्रव्य की माँग बहुत कम हो जाती है, इसका मूल्य गिरना चाहिए अर्थात् कीमते घटनी चाहिएँ। लेकिन होता इसके बिल्कुल विपरीत है। इसका क्या कारण है ?

इसका उत्तर यह हुआ कि साख का परिमाण व्यापारिक दशाओ के अनुरूप घटता-बढता है। समृद्धि के दिनो में आशावादी भावनाओ के कारण साख खूब बढ जाती है।

1　Coulborn, W A —A Discussion of Money, 1950, p 89

यहां तक कि व्यापार से अधिक अनुपात में बढ जाता है। परिणाम यह होता है कि समुदाय की क्रय-शक्ति बढ जाती है और कीमतो में वृद्धि हो जाती है। मदी के दिनो में साख कम होने से और व्यापार जरूरत से ज्यादा सिकुडने से, कीमतें गिरने लगती हैं।

निर्देश पुस्तके

Hayek—Prices and Production, Lecture 1

Keynes, J. M.—A Treatise on Money, 1950, Book II, The General Theory of Employment, Interest and Money, 1936, Tract on Monetary Reforms, 1924

Weiser—Natural Value

Crowther, G —An Outline of Money, 1950, Ch III.

Cole, G D H —Money, Its Present and Future, What Everybody Wants to Know Abont Money

Fisher, Irving—The Purchasing Power of Money

Brij Narain—Money and Banking (S Chand & Co)

Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 22

Chandler, L V —An Introduction to Monetary Theory, 1950, Chs. II—IV

अध्याय ३४

मुद्रा और कीमतें

(MONEY AND PRICES)

इस अध्याय में हम कीमतो में होने वाले हेरफेर (fluctuations) के बारे में अध्ययन करेंगे। पहले हम मुद्रा-स्फीति (inflation), मुद्रा ह्रास (deflation) आदि वाक्याशो का जिक्र करेंगे।

१ **मुद्रा स्फीति, मुद्रा ह्रास आदि (Inflation, Deflation etc)**—आगे बढने से पहले कुछ शब्दो के अर्थ बतला देना आवश्यक है। यह शब्द उस समय प्रयोग में लाया जाता है जबकि हमारा अभिप्राय कीमतो में असामान्य परिवर्तन से होता है। जब कीमत का सामान्य स्तर अत्यधिक बढ जाता है, जिसका कारण साधारणत मुद्रा की पूर्ति का बढना और माग का उसी के अनुसार बढना नही होता तो उस दशा को स्फीति (inflation) कहते है। जब सोने की अधिक पूर्ति से कीमते बढ जाती है तो हम स्वर्ण स्फीति कहते है। यदि मुद्रा के बढने से कीमते बढ जाती है तो, उसको मुद्रा स्फीति कहते है। और जब कीमतें साख (credit) के अत्यधिक बढ जाने से बढती है तो उसको साख स्फीति (credit inflation) कहते है। केवल 'स्फीति शब्द से हमारा मतलब कीमतो के अत्यधिक बढ जाने से होता है जो कि ऊपर दिये हुए किसी एक या सब कारणो से हुआ हो। स्फीति उस दशा में भी उत्पन्न हो सकती है जब कि मुद्रा की माग कम हो जाए परन्तु पूर्ति वैसी ही बनी रहे। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद योरोप के कई देशो में स्फीति का कष्टप्रद अनुभव हुआ था। कुछ समय चीन भी एक ऐसे ही वातावरण मे था जबकि वहाँ एक जूते का दाम कई लाख डालर देना पडता था। जर्मनी में भी स्फीति इस स्तर पर पहुँच गई थी कि वहा के मार्क का मूल्य करीब-करीब नहीं के बराबर हो गया था। दिन-प्रतिदिन उसका मूल्य कम होता जाता था और इसीलिए उसको कोई लेना नही चाहता था। यह हिसाब लगाया गया था कि उस समय यदि जर्मनी के सपूर्ण राष्ट्रीय ऋण को किसी एक मनुष्य को दे दिया जाता तो भी वह उससे एक समय का खाना भी नही खरीद सकता था, शायद वह सिगरेट का एक पैकेट खरीद सकता।

जर्मनी के दो भाइयो की दशा से जो कि अपने पिता की बहुत बडी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए थे, यह ज्ञात होता है कि अत्यधिक स्फीति से समाज में कैसा उलट-फेर हो जाता है। एक भाई ने अपने धन को बैंक में जमा करा दिया और उसको व्यय नही किया तथा दूसरे ने अपना सारा धन शराब पीने में लगा दिया। जब स्फीति का आविर्भाव हुआ तो मितव्ययी भाई क्या देखता है कि उसकी लाखो मुद्राओ की क्रय-शक्ति लगभग बिलकुल नहीं के समान हो गई जब कि उसका खर्चीला भाई अपनी

खाली बोतलो को बेचकर लखपती बन गया।

मध्यम श्रेणी के लोगो पर स्फीति का प्रभाव बहुत ही हानिकारक हुआ। उनका तो अस्तित्व ही मिट गया। मुद्रा स्फीति के समय में एक दक्षिण के रहने वाले ने कहा, "हम दूकान पर मुद्रा को जेब मे रखकर ले जाते थे और अपनी टोकरियो में खाना लेकर आते थे। अब हम मुद्रा टोकरियो मे ले जाते है और खाना जेबो मे लेकर वापस आते है।" मुद्रा स्फीति सकीर्ण स्थिति पैदा करती है। उत्पादन अव्यवस्थित हो जाता है। प्रत्येक वस्तु, सिवाय मुद्रा के, न्यून हो जाती है। इसलिए इस पर नियन्त्रण अवश्य करना चाहिये।

मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए हम निम्न उपाय बता सकते है (1) बैंक दर या विवृत बाजार रीति (open market operations) के द्वारा केन्द्रीय बैंक का मुद्रा सकुचन, (ii) बैंक साख पर नियन्त्रण, (iii) कर बढाकर, (iv) राष्ट्रीय सचय को प्रोत्साहन देकर, (v) सार्वजनिक व्यय में मितव्ययिता, (vi) मूल्य नियत्रण (vii) तथा उत्पत्ति की मात्रा बढाकर।

संकुचन (Deflation) स्फीति का उल्टा है। इसका अभिप्राय कीमतो के अत्यधिक गिरने से है, जो कि मुद्रा की कमी के कारण हो अथवा उसकी अधिक माग के कारण हो। यह स्फीति से भी अधिक विनष्टकारी समझा जाता है।

संस्फीति (Reflation) औसत मात्रा मे नियत्रित स्फीति को कहते है। जब वस्तुओ की कीमते इतनी अधिक गिर जाती है कि आर्थिक कार्यों में कोई लाभ नही होता तो उस समय द्रव्य अधिकारी कुछ ऐसे उपाय कर सकते है, जिससे कि मुद्रा परिचलन मे अधिक आ जाय, जिसके कारण कीमतें बढ जाय तथा आर्थिक क्रियाओ में उन्नति हो। जो लोग ऐसा सोचते है कि मदी का मुख्य कारण मुद्रा ही है, तो उनके अनुसार मदी का सामना करने का यह भी एक साधन है। व्यापारिक-चक्र (trade cycles) के अध्याय में इसके बारे में और अधिक प्रकाश डाला जायगा।

अस्फीति, मुद्रा-सकुचन (Disinflation) द्वारा कीमतो के गिराने की एक प्रवृत्ति को कहते है जब कि वे (कीमते) मुद्रा स्फीति के कारण अनियमित रूप से बढ़ गई हो। सस्फीति तथा अस्फीति शब्द अप्रिय भाव से रहित है।

यहा पर यह ध्यान देना चाहिए कि केवल ऊची या नीची कीमतो से कोई विशेष अन्तर नही होता। यदि सब वस्तुओ की कीमत और सारी सेवाओ के दाम एकाएक दुगुने हो जाते है या आधे हो जाते है तो मनुष्यो की आर्थिक दशा मे कोई परिवर्तन नही होता। परन्तु ऐसा कभी नही होता। होता यह है कि वास्तव में भिन्न-भिन्न वस्तुओ की कीमत भिन्न-भिन्न मात्रा में बदलती है। यह हो सकता है कि कुछ वस्तुओ की कीमत बिल्कुल न बदले या कुछ वस्तुओ की कीमत गिर भी जाय। साधारणतः, कीमतो के बढने से यह अभिप्राय है कि कीमतो का औसत स्तर ऊचा हो जाता है।

साधारणत किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन उस वस्तु की माग या पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण होता है। परन्तु जब अधिकतर वस्तुओ के दाम बढ़ जाते है और कम समय मे बढते है तो उसका कारण साधारणत मुद्रा ही होता है, अर्थात् मुद्रा

की पूर्ति म वृद्धि । इसके विपरीत जब अधिकतर कीमतें एकाएक गिरती ह तो उसका कारण साधारणत मुद्रा की माग बढ जाना है । यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि ऊपर समझाया जा चुका है ।

२ कीमतो मे परिवर्तन होने के परिणाम (Consequences of Changing Prices)—कीस ने अपनी पुस्तिका "Tract on Monetary Reform" में समुदाय को तीन भागो में विभाजित किया है। (१) विनियोजन करने वाला वर्ग, (२) व्यापारी वर्ग, और (३) अर्जन करने वाला वर्ग । उन्होने यह अध्ययन किया है कि द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन किस प्रकार से इन तीनो वर्गों के लोगो पर असर डालता है। विनियोजन करने वाले वर्ग में अथवा उन वर्गों में, जिनकी आमदनी निश्चित है, इसका प्रभाव सबसे अधिक होता है। ये वे लोग होते हैं जिन्होने कि अपनी असली सपत्ति को किसी काम में लगा दिया है, जिसके बदले में उन्हें समय-समय पर एक निर्धारित मात्रा मे धन मिलता है और सदैव मिलता रहेगा या किसी खास समय तक उन्हे बदले में थोडा-थोडा धन मिलेगा और मूल धन एक अवधि के अन्त में मिल जायगा जैसे कि बधक (mortgage) बॉड्स (bonds), ऋण-पत्र (debentures) और अधिमान अश (preference shares) कीमतो के सामान्य स्तर के ऊचे होने में इस वर्ग के लोगो को काफी हानि होती है । वे अपनी स्थायी आय से पहले से कम वस्तुए खरीद सकेंगे ।

कीमतो के बढने से व्यवसायी वर्ग या उद्यमी वर्ग को लाभ होता है क्योकि वस्तुओ के बेचने के दाम तो बढे हुए होते हैं परन्तु उत्पादन का खर्च सामान्यत कम ही रहता है । चूकि मजदूरी पहले से ही निर्धारित होती है, वह उसी समय नही बदलती । भूमि का किराया और ब्याज भी नही बदलते, इसलिये उत्पादक-वर्ग को लाभ होता है ।

मजदूरी कमाने वाले वर्ग को भी नुकसान रहता है, क्योकि उनकी मजदूरी या तनख्वाह वस्तुओ की महगाई के अनुपात में नही बढती। इस प्रकार उनकी असली मजदूरी कम हो जाती है। परन्तु चूकि कीमतो के बढने के समय व्यवसाय और उद्योग मे उन्नति होती है, इसलिये इस वर्ग के लोगो को एक यह फायदा होता है कि उनकी नौकरी बनी रहती है।

अब हमें देखना है कि उधार देने और लेने वालो पर क्या प्रभाव पडता है। जब कीमतें बढती हैं तो ऋणी लोगो को लाभ होता है। ऋण का भुगतान वस्तुओ या सेवाओ को बेचकर किया जाता है। यदि ऋणी व्यक्ति उत्पादक है तो वह ऋण के भुगतान करने के लिये कम मात्रा में वस्तुओ को बेच कर ऋण अदा कर सकेगा। और यदि वह श्रमजीवी है तो भी उसको अपना ऋण अदा करने के लिये कम काम करना पडेगा ।

जब कीमतें बढती हैं तो आमतौर पर उपभोक्ता वर्ग को हानि होती है । जब कि सभी वस्तुए महगी हो जाती हैं तो व्यापारी, सट्टेबाज और चोरबाजारियो को छोडकर अन्य सब वर्गों के उपभोक्ताओ को हानि होती है ।

कीमतो के नीचे की ओर गिरने से इन वर्गों के लोगों पर प्रभाव इसका उल्टा

होता है। विनियोजन करने वाले वर्ग तथा मजदूरी करने वाले वर्ग दोनो को लाभ होता है, क्योंकि अपनी स्थिर आमदनी में पहले से अधिक मात्रा में वस्तुए और सेवायें ले सकते है। परन्तु यदि लगातार मदी बनी रहती है तो श्रमजीवी को हानि होती है क्योकि उस समय बेरोजगारी (unemployment) बढ जाती है। कुछ ही भाग्यशाली व्यक्ति जिनकी नियुक्ति बनी रहती है, इसका लाभ उठा पाते है। व्यापारी वर्ग को मदी से हानि होती है। एक तो कीमतो के गिरने के कारण उनको अपने व्यवसाय मे आमदनी कम हो जाती है, दूसरे उनके व्यवसायी खर्चे जैसे मजदूरी वगैरा यदि कम भी हुए, तो भी धीरे-धीरे ही कम होते है। इस प्रकार उनका व्यापारिक लाभ बहुत कम हो जाता है।

कीमतो के गिरने से ऋणी लोगो को भी नुकसान होता है क्योकि उस समय उनको अपने ऋण को अदा करने के लिये अधिक मात्रा मे वस्तुए और सेवाये देनी पडती है। सन् १९३० के बाद के प्रारम्भिक वर्षों मे भारतीय किसान पर लगान का बोझ बहुत अधिक बढ गया था क्योकि उस समय खेती की उपज का दाम बहुत ही कम हो गया था। परन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति रुपया उधार दे चुके है, उनको लाभ होता है क्योकि जो धन उन्हे वापिस मिलता है उससे पहले की अपेक्षा वे अब अधिक वस्तुए खरीद सकते है।

कीमतो की कमी से आम तौर पर उपभोक्ताओ को फायदा होता है। वे अपने रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठा सकते है।

सक्षेप में, हम कह सकते है कि ऋणी लोगो को कीमतो के बढने से फायदा होता है और उनके गिरने से हानि क्योकि उनके निश्चित धन-सम्बन्धी दायित्व वस्तुओं और सेवाओ मे बढ जाते है, जब कि कीमते गिरती है और यह दायित्व उस समय कम हो जाते है, जब कि दाम बढते है। इनके विपरीत उधार देने वालो को दामो के बढने से नुकसान होता है और गिरने से लाभ।

कीमतो के परिवर्तन का प्रभाव कृषि और व्यवसाय पर उसी मात्रा में नहीं होता। महान् मन्दी (great depression) मे हमे मालूम हुआ कि कृषि उपज की कीमतें व्यावसायिक वस्तुओ की कीमतो की अपेक्षा अधिक जल्दी गिरती है, परन्तु धीरे-धीरे ऊपर उठती है। यह माग और पूर्ति की विभिन्न दशाओ के कारण होता है। खेती की उपज धीरे-धीरे ही प्राप्त होती है क्योकि अनाज वगैरह के उत्पन्न होने और उनके बाजार मे लाए जाने मे अधिक समय लगता है। इसके अतिरिक्त कृषि-उत्पादन के इधर-उधर फैले होने के कारण पूर्ति पर नियत्रण रखना भी कठिन हो जाता है। खेती की उपज की माग भी निर्मित वस्तुओ की माग की अपेक्षा कम लोचदार होती है। व्यवसाय मे उत्पादन-कार्य अधिक सुगमता से नियन्त्रित किया जा सकता है तथा उत्पादन को नियमबद्ध बनाया जा सकता है।

हम को मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने का प्रभाव राज्य अथवा राजस्व पर भी देखना चाहिये। राज्य को निश्चित आय वालो की श्रेणी मे रखा जा सकता है और इस प्रकार जब मुद्रा का मूल्य बढता है (अर्थात् जब कीमते गिरती है) तो इसको लाभ

होता है और जब मुद्रा का मूल्य गिरता है (अर्थात् कीमतें बढ़ती है) तो इसको हानि होती है। परन्तु राज्य के साथ बात इतनी साधारण नही है। जब मुद्रा का मूल्य गिर रहा हो (अर्थात् कीमतें बढती हो) तो राज्य को लाभ होगा क्योकि आगम बढेगा। यदि कर की दर समान रहती है तो भी उनसे प्राप्ति अधिक होगी। दूसरी ओर यदि मुद्रा का मूल्य धीरे-धीरे बढ रहा हो (अर्थात् कीमतें गिर रही हो) तो आगम दृढ रह सकता है। परन्तु यदि धीरे-धीरे गिरने वाली कीमतें मदी में विकसित हो जावे तो राष्ट्रीय आय और फलस्वरूप राज्य आगम कम हो जायगा। इन स्थितियो मे यदि आय-व्ययक को सतुलन करने का प्रत्येक प्रयत्न केवल मदी को बढायेगा अतएव घाटे का वित्तपोषण (deficit financing) ही अधिक उचित होगा।

यदि मुद्रा का मूल्य राज्य द्वारा मुद्रा मे राशिपातन (dumping) के कारण शीघ्रता मे गिर रहा हो, तो राज्य का मुद्रा बढाने का उद्देश्य असफल होगा। जब तक राज्य के आगम आयेगे, कीमते बढ जायेंगी। इसलिये क्रय-शक्ति कम हो जावेगी। राज्य को उतनी ही वस्तुए तथा सेवाए खरीदने के लिये अधिक मुद्रा बनानी पडेगी। इस प्रकार मुद्रा स्फीति मुद्रा स्फीति को पालती है और सरकार एक दुष्ट चक्र में फँस जाती है। परन्तु यह एक तरह से प्रसाद रूप होगा। राज्य इस प्रकार एक बडे राष्ट्रीय ऋण का भुगतान करने के योग्य हो जायगा। यह तरीका माननीय होने के अतिरिक्त अधिक लाभकर होगा। व्यवहार में इसका अर्थ राष्ट्रीय ऋण का विलोपन होगा।

किसी भी दिशा की ओर अत्यधिक उथल-पुथल आर्थिक क्रियाओ के लिए हानिकर है क्योंकि इससे भविष्य अनिश्चित हो जाता है। अतएव अधिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि कीमतो में अपेक्षाकृत स्थिरता बनी रहे। इस कार्य को करने के लिए कीमत-स्तर सूचक अक का ध्यान रखने की जरूरत होती है।

३ सूचक अक (Index Numbers)—मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन को मापने के लिए कीमतो का सूचक अक तैयार किया जाता है। इस प्रकार सूचक अक बनाने के लिये जिन-जिन बातो की आवश्यकता होती है, वे नीचे दी जाती है —

(i) आधार वर्ष (Base Year) **का निर्धारित करना**—पहली आवश्यकता यह होती है कि आधार वर्ष को चुना जाय। आधार वर्ष का मतलब उस वर्ष से है जिस वर्ष की कीमतो की तुलना और दूसरे वर्षो की कीमतों से प्रतिशत में दिखलाते है। यह एक औसत वर्ष होना चाहिए जिसमें कि आर्थिक दृष्टिकोण से न तो बहुत तेजी हो और न बहुत मदी हो। कभी-कभी कई वर्षो की कीमतो के औसत को ही आधार मान लिया जाता है।

(ii) वस्तुओं का चुनाव (Selection of Commodities)—दूसरा काम यह है कि उन वस्तुओ को छाटा जाय जिनकी कीमतें सामान्य कीमत स्तर का निरूपण करें। वे वस्तुए वास्तव में प्रतिनिधि रूप की होनी चाहियें और साथ ही ऐसी होनी चाहियें जो कि काफी मात्रा में प्राप्त हों। इन वस्तुओ का निरूपण उस उद्देश्य पर भी निर्भर रहता है, जिसको कि ध्यान में रखकर सूचक अक बनाया जाता है।

(iii) इनके बाद हर वस्तु के मूल्य की सूची ली जाती है—इसके लिए

ज्यादा अच्छा यह है कि उन वस्तुओ की औसत थोक कीमत कई एक प्रतिनिधि बाजारो में ली जाये। ये कीमते आधार वर्ष (या वर्षों) के लिए मालूम की जाती है और दूसरे वर्षों के लिए भी जिनका सूचक अक हमें बनाना है।

(iv) उसके पश्चात् दूसरा काम यह करना है कि प्रत्येक वस्तु के आधार वर्ष की कीमत १०० के बराबर मान ली जाय और उन सब वस्तुओ के दूसरे वर्षों की कीमत आधार वर्ष की कीमतो के प्रतिशत में निकाली जायें। उदाहरणार्थ यदि आधार वर्ष मे गेहू की कीमत ४ रुपये मन है, जिसको कि सौ मान लिया जाता है, तो दूसरे वर्ष में जब गेहूँ की कीमत ८ रुपये मन हो जाती है तो वह २०० कहलायेगा। इसी प्रकार हर वर्ष मे हरेक वस्तु की कीमत होगी।

(v) आखिरी काम यह है कि प्रत्येक वर्ष मे प्रत्येक वस्तु के औसत अक निकाले जायें। आधार वर्ष मे तो औसत १०० ही होगा। दूसरे वर्षो में ये औसत अक १०० से अधिक या कम होगे। यदि कीमते बढी है तो १०० से अधिक होगे और गिरी है तो कम।

नीचे दी हुई तालिका से मालूम होता है कि सूचक अक किस प्रकार बनाये जाते है।

वस्तुए	आधार वर्ष के दाम १९३९	आधार वर्ष का सूचक अक १९३९	सन् १९४५ के दाम	सन् १९४५ का सूचक अक
	(रु० प्रतिमन)		(रु० प्रतिमन)	
गेहूँ	४—०—०	१००	१०—०—०	२५०
चावल	३—८—०	१००	१४—०—०	४००
कपास	१५—०—०	१००	२२—८—०	१५०
शक्कर	८—०—०	१००	१६—०—०	२००
घी	६०—०—०	१००	१५०—०—०	२५०
औसत		१००		१२५०÷५=२५०

ऊपर दिये हुए सूचक अक के हिसाब से सन् १९४५ के दाम सन् १९३९ के दामो के मुकाबिले मे १५० प्रतिशत बढे। इसका अर्थ यह हुआ कि १९४५ में भारत मे द्रव्य का मूल्य सन् १९३९ के मूल्य का ⅖ हो गया, अर्थात् ६० प्रतिशत कम हो गया।

गुरुकृत सूचक अंक (Weighted Index Numbers)—ऊपर जिस प्रकार का सूचक अक दिया गया है वह (unweighted index number) सरल सूचक अक है, जिसमे हर एक वस्तु को बराबर महत्व दिया गया है। परन्तु वास्तव में उपभोक्ता के लिये किसी वस्तु की कीमत मे थोडी वृद्धि किसी दूसरी वस्तु की कीमत में अधिक वृद्धि से अत्यन्त हानिकारक हो सकती है क्योंकि पहली वस्तु की उपयोगिता उसके घरेलू खर्च में दूसरी वस्तु की उपयोगिता से अधिक हो सकती है। इसका महत्त्व उस समय और भी बढ जाता है जब हम रहन-सहन के खर्च का सूचक अक बनाना चाहते है, अर्थात् रहन-सहन के सूचक अक से हमारा मतलब है किसी एक श्रेणी के रहन-

सहन के खर्चे के परिवर्तनो को मापना।

मान लीजिये कि उपर्युक्त वस्तुए किसी एक अमुक श्रेणी के लोगो द्वारा प्रयोग की जाती है और हम यह जानना चाहते है कि युद्ध-काल में उन लोगो के रहन-सहन के खर्च पर क्या प्रभाव पडा। यह आवश्यक नही है कि इन उपभोक्ताओ के लिये इन सब वस्तुओ का महत्व एक ही हो। इन वस्तुओ के सापेक्ष महत्व को दिखलाने के लिये हम हर एक वस्तु को 'भार' या वजन दे सकते है। इसके लिये हमे हर एक वस्तु के सूचक अक को उसके महत्व के अनुसार किसी सख्या से गुणा करना होगा। यह सख्या साधारणत पारिवारिक बजट में वस्तुओ के ऊपर किये खर्च के अनुसार होती है।

नीचे दी गई तालिका से मालूम होता है कि गुरुकृत सूचकाक किस प्रकार बनाया जाता है। इसमें वही सख्याए ली गई है जो पहली तालिका में थी।

वस्तुए	आधार वर्ष की कीमत १९३९ (रु० प्रति मन)	सूचक अक १९३९	सन् १९४५ में कीमतें (रु० प्रति मन)	सूचक अक १९४५
गेहू	४-०-०	१००×३=३००	१०-०-०	२५०×३=७५०
चावल	३-८-०	१००×१=१००	१४-०-०	४००×१=४००
कपास	१५-०-०	१००×१=१००	२२-८-०	१५०×१=१५०
शक्कर	८-०-०	१००×२=२००	१६-०-०	२००×२=४००
घी	६०-०-०	१००×१=१००	१५०-०-०	२५०×१=२५०
जोड		८००		१९५०
औसत		१००		२४३ ७५

यहा पर हमने चावल के मुकाबिले में गेहूँ को तीन गुना महत्व दिया है और शक्कर आदि को घी के मुकाबिले मे दुगुना आदि।

इस प्रकार से निकाला हुआ रहन-सहन के खर्च का सूचक अक उतना नही बढ़ा है जितना कि सरल सूचक अक। ये अक तो केवल उदाहरण के लिये दिये गये है। वास्तव में एक ही सूचक अक कीमतो के स्तर के परिवर्तन और रहन-सहन के खर्च के परिवर्तन को नापने के काम मे नही लाया जा सकता। इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणियो के लोगो के रहन-सहन के खर्च के परिवर्तन को नापने के लिये काम मे लाई जाने वाली वस्तुएँ एक न होगी। इसके लिये हमें देखना होगा कि किस श्रेणी के लोग किस प्रकार की वस्तुओ का उपभोग करते है।

यहा तो हमने थोडी सी ही वस्तुएँ चुन ली है। वास्तव में इन वस्तुओ की सख्या अधिक होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, भारत सरकार के कमर्शियल इटेलीजेन्स डिपार्टमेंट (Commercial Intelligence Department of the Government of India) के बनाये हुए सूचक अक की माला (series) सबसे पुरानी है। इसमें २८ निर्यात की जाने वाली और ११ आयात होने वाली वस्तुएँ है। इस माला में गुरुकृत सूचक अक नही है और १८७३ को आधार वर्ष माना है, सूचक

अंको की दो और मालायें हैं—एक बम्बई की जिसमें ४० वस्तुएं हैं और दूसरी कलकत्ते की जिसमें ७२ वस्तुएँ हैं।

महत्त्व का अंग परोक्ष रूप से भी लाया जा सकता है यदि हम किसी वस्तु के एक से अधिक गुण लें। उदाहरणार्थ गेहूँ की ३ किस्म, रुई की २ और चाय की ३ आदि।

भारत में विभिन्न महत्त्वपूर्ण नागरिक स्थानों से १९ प्रकार के रहन-सहन के खर्च के सूचक अंक प्रकाशित होते हैं।

४ सूचक अंकों के लाभ तथा सीमाएँ (Uses and Limitations of Index Numbers)—सूचक अंकों से हम केवल कीमत के स्तर के परिवर्तनों को ही नहीं नाप सकते हैं बल्कि हम द्रव्य के मूल्य और रहन-सहन के खर्च के परिवर्तनों को तथा प्रत्येक मात्रिक (quantitative) परिवर्तन को भी नाप सकते हैं। मजदूरी, आयात, निर्यात, व्यावसायिक क्रियायें, नौकरी, कृषि की भूमि के क्षेत्र के परिवर्तन और जनसंख्या के परिवर्तनों आदि के भी सूचक अंक बनाये जा सकते हैं। इन चीजों के माप से हमें सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों का ज्ञान होता है जिससे कि आवश्यकतानुसार उपयुक्त नीति बनाई जा सकती है।

उदाहरणार्थ, रहन-सहन के खर्च के सूचक अंक से हमें मजदूरी को कीमत के अनुसार बदलने में सहायता मिलती है। थोक कीमत के सूचक अंक से मुद्रा प्राधिकारी को कीमत के स्तर और विनिमय के स्थायीकरण करने में सहायता मिलती है

हम सूचक अंकों की सहायता से किसी श्रेणी के मनुष्यों की किन्हीं दो विभिन्न समय की आर्थिक दशाओं का माप कर सकते हैं।

सूचक अंकों की सहायता से हम बहुत से करारों (agreements) का, जैसे कि उधार देना और उधार लेना, समान भुगतान कर सकते हैं। जब कीमतें बढ़ती हैं तो उधार देने वाले को हानि होती है क्योंकि जो धन अब उसको वापिस मिलता है उसकी क्रय-शक्ति कम होती है। यह अधिक न्यायसंगत होगा यदि उधार देने वाले को वही क्रय-शक्ति वापस मिले। ऐसा करने के लिये मूलधन (principal) को उसी मात्रा में बढ़ा देना आवश्यक होगा जिस मात्रा में कीमतें बढ़ गई हों। इसी प्रकार जब कीमतें गिर गई हों तो उधार लेने वाले को चाहिये कि वह उसी तरह कम धन दे, नहीं तो ऋण का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के हिसाब से उसी मात्रा में बढ़ा हुआ होगा जिस मात्रा में कि कीमतें गिर चुकी हैं।

सीमाएँ (Limitations)—इस प्रकार हम देखते हैं कि सूचक अंक अति लाभदायक ही नहीं हैं बल्कि वर्तमान शासन के लिये उनका बनना अति आवश्यक है क्योंकि बगैर इनके राज्य की आर्थिक नीतियों का मतलब केवल अँधेरे में भटकना ही होगा। परन्तु यहां यह भी देखना आवश्यक है कि सूचक अंक की कुछ सीमायें भी हैं। सबसे पहले तो वे केवल अनुमान (approximations) ही हैं। उनको हम बिल्कुल सही मार्ग दिखलाने वाला नहीं मान सकते। उनके आंकड़े भी बिल्कुल सही नहीं माने जा सकते और उनका मतलब भी विभिन्न लगाया जा सकता है। दूसरे, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना विभिन्न आधारों, विभिन्न वस्तुओं की मात्रा और गुणों में अन्तर होने के कारण

यदि असम्भव नही, तो कठिन तो अवश्य ही है।

तीसरे, विभिन्न समय में उनकी तुलना करना भी सरल नही होता। अधिक समय में कुछ सामान्य वस्तुए भी बदल जाती है। कभी-कभी बिल्कुल ही नई वस्तु काम में लाई जाने लगती है या वस्तु वही हो केवल उसका नाम बदल दिया जाता है। हो सकता है कि नई और पुरानी वस्तु में बडा अन्तर हो। आधुनिक रेल के इजन और पहले के इजन की तुलना कीजिये। सन १९५२ की फोर्ड कार और सन् १९४२ की फोर्ड कार में बडा अन्तर है।

चौथे, सूचक अको से केवल एक ही प्रकार की कीमतो के स्तर की माप हो सकती है। एक सूचक अक जो किसी विशेष उद्देश्य से बनाया गया है उसको दूसरे काम में नही लाया जा सकता। एक ऐसा सूचक अक जो कि मिल मजदूर या रेलवे हमालो (porters) की आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिये बनाया गया है, कालेज के अध्यापको की आर्थिक दशा जानने के लिये बिल्कुल बेकार होगा। उनके लिये पूर्णतया भिन्न प्रकार की वस्तुओ का प्रयोग करना होगा। विभिन्न प्रकार के लोग विभिन्न वस्तुओ का उपभोग करते है और उनकी क्रय-शक्ति भी विभिन्न होती है इसलिए कीमत स्तर में परिवर्त्तन का प्रभाव विभिन्न श्रेणी के मनुष्यो पर अलग-अलग होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही सूचक अक से यह नही प्रतीत हो सकता कि पृथक्-पृथक् वर्ग के मनुष्यो पर कीमत के स्तर में परिवर्त्तन का क्या प्रभाव पडा।

यह भी हो सकता है कि किसी वस्तु को एक प्रकार के महत्त्व देने का प्रभाव कुछ और दूसरे प्रकार के महत्त्व का फल दूसरा हो। इससे मालूम होता है कि सूचक अक मे महत्त्व देना केवल स्वैच्छिक ही है।

जैसा कि काल्बोर्न (Coulborn) ने कहा है, "इस प्रकार कोई भी सामान्य कीमत-स्तर नही सग्रह किया जाता क्योकि भिन्न-भिन्न कीमतो के इकट्ठा करने की व्यावहारिक कठिनाइया तथा आधार वर्ष के उचित और अगले वर्षों के अनुरूप उनका महत्त्व निकालने की कठिनाइया ऐसी है जो व्यवहार मे दूर नही की जा सकती।"[1]

५ कीमत का स्थायीकरण (Price Stabilisation)—क्योकि द्रव्य मूल्य (या सामान्य कीमत स्तर में) एकाएक परिवर्त्तन होने से, सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल के अतिरिक्त, आर्थिक चेष्टाओ को भी धक्का लगता है, और वे अनिश्चित हो जाती है, इसलिये कीमतो के स्थायीकरण की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। कीमतों के स्थायीकरण का अर्थ यह नही है कि उनको पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार की व्यवस्था न तो सभव है और न उसकी आवश्यकता ही है। कीमतो मे थोडे-थोडे समय के उतार-चढाव को बिल्कुल रोका नही जा सकता, चाहे वे कुछ थोडी सी वस्तुओ की कीमते हो या सामान्य कीमत-स्तर। इसके अतिरिक्त दीर्घावधि मे होने वाले कीमतो के परिवर्त्तनो से भी अधिक हानि नही होती। दीर्घावधि, जैसे कि २० वर्ष, मे होने वाले कीमतो के परिवर्त्तन सरलता से मालूम किये जा सकते है।

1 A Discussion on Money, 1950, p 79

कीमतो के ऐसे उतार-चढाव को न्यूनतम करने का प्रयत्न करना चाहिये । ऐसे उतार-चढाव का निरूपण समय-समय पर होने वाली तेजी (boom) और मदी (depression) से होता है। एक दूसरे अध्याय में हम इन पर प्रकाश डालेंगे।[1]

कीमतो का स्थायीकरण दो प्रकार से हो सकता है (1) कुछ आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति और माग के साधनो पर प्रभाव डालकर उनकी कीमतो का स्थायीकरण करना।

(ii) दूसरी रीति यह है कि द्रव्य की पूर्ति को उनकी माग के अनुसार बनाकर कीमतो के सामान्य स्तर की समस्या को सुलझाना। इसके लिए विभिन्न अधिकारियों ने भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये है और कुछ स्वर्ण-मान पद्धति (gold standard system) को अच्छा समझते है और कुछ ऐसी व्यवस्था चाहते है जिसमे नियन्त्रित पत्र-मुद्रा हो।

वर्तमान जगत् मे कोई भी देश अपने को बिलकुल जुदा नही रख सकता।

कीमत का स्थायीकरण सदैव आवश्यक नही है (Price Stabilization not always Desirable)—इन सब कठिनाइयो के अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि कीमतो का स्थायीकरण एक उद्देश्य समझकर सदैव आवश्यक नही समझा जाता। एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था के लिए, जो कि स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता पर खडी हुई हो कीमतो का उतार-चढाव एक विशेष काम करता है। इसी यन्त्र के द्वारा उत्पादन के साधन काम मे लगाये जाते है, जिसमे अधिक से अधिक लाभ हो। कीमतो से जनता की सापेक्षित माग का पता चलता है। कीमतो के परिवर्तन से यह मालूम होता है कि कही न कही कोई गडबडी है और उसको ठीक करने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि ग्रेगरी (Gregory) और हेक (Hayek) ने बतलाया है, स्थायी कीमतो मे अर्थ-व्यवस्था मे समय-समय पर गडबडी होने का डर रहता है जैसा कि अमेरिका ने सन् १९२३ से १९२९ के बीच अनुभव किया था। यदि सामान्य कीमत-स्तर स्थायी रहता है तो भी कुछ विशेष वस्तुओ के दामो मे परिवर्तन से आर्थिक जीवन में गम्भीर उथल-पुथल हो सकती है।

अन्त में हम देखते है कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी स्थायी कीमतें सदैव सब से अच्छी नही मानी जा सकती। इस दशा मे एक स्थायी परिमाण मे वस्तुएँ उधार के लेन-देन मे रह सकती है। अधिक उपज के समय में उन्ही वस्तुओं की निश्चित मात्रा के प्रति स्वार्थ त्याग थोडा होगा और आविष्कारो के कारण औद्योगिक उत्पादन अधिक होगा। न्याय की दृष्टि मे ऐसे समय मे कीमतो को गिर जाने देना चाहिए। इसके प्रतिकूल दशा में भी यह सब बातें ठीक होंगी।

जिस समय हमारा उद्देश्य यह होता है कि सोना संचित किया जाय, विनिमय का स्थायीकरण किया जाय और व्यापारिक चक्रो (business cycles) से बचा जाय, उस समय भी हमारे सामने ऐसी ही समस्याएँ आती है। आजकल वस्तुओ और सेवाओं का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय होने लगा है।

---

1 Chapter XLIII.

६ कीमत नियत्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Price Control)—हम कीमत नियत्रण तथा इसके दोषो से तो परिचित हो ही गए हैं। साधारणत यह समझा जाता है कि किसी देश का केन्द्रीय बैंक साख पर नियन्त्रण करके कीमत के स्तर को नियन्त्रित कर सकता है। यह अनुमान कुछ मानी हुई धारणाओ पर निर्भर है परन्तु यह धारणायें ठीक नही होती। यह धारणायें इस प्रकार है (i) मूल्यो के सूचक अको का ठीक-ठीक और शीघ्रता से बना लेना और उनसे पथ-प्रदर्शक का काम लेना सम्भव है। सूचक अको की विभिन्न कठिनाइयो को हम पहले ही बतला चुके हैं। इस प्रकार के सूचक अको मे पूर्णरूप से प्रतिनिधि वस्तुएँ होनी चाहियें। उनका महत्त्व भी ठीक होना चाहिये और वे ऐसी वस्तुए होनी चाहियें जो कि आसानी से मिल सकें। साधारणत इन सब बातो का होना असम्भव ही है। (ii) दूसरी धारणा यह है कि द्रव्य की मात्रा और कीमतो के स्तर में सदैव एक दृढ सम्बन्ध रहता है। द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धान्त (quantity theory of money) समझाते समय यह बतलाया था कि वास्तव में ऐसे सम्बन्ध का अस्तित्व होता ही नही। साख अर्थ-व्यवस्था में यह अधिक ठीक होता है। पहले तो हम देखते हैं कि केवल बैंक-साख ही उधार लेने की एक रीति नही है। दूसरे, उधार लिया हुआ धन केवल वस्तुओ के खरीदने में ही नही लगाया जाता। यह वास्तविक सम्पदा (estate) जैसे कि भूमि और घर आदि और प्रतिभूतियाँ (securities) तथा सेवाए खरीदने के काम में भी लाया जा सकता है। सम्पदा तथा प्रतिभूति की कीमत बढने के कारण बैंक की साख मे वृद्धि होने से वस्तुओ का स्तर गिर सकता है। इसके विपरीत, उधार में कमी होने से सम्पदा और प्रतिभूति की कीमतो में कमी हो सकती है जब कि वस्तुओ की कीमतो पर कोई प्रभाव न पडे या वे बढ भी जायें। उदाहरण के लिए, लेविन्सकी (Lewinski) के कथनानुसार पोलैंड मे सन् १९१३ और सन १९२५ के बीच मे प्रचलित द्रव्य का परिमाण आधा हो गया था जब कि थोक दामो का सूचक अक ३६% बढ गया। इसके अतिरिक्त सन् १९२३-२९ में अमेरिका मे बैंकों की साख द्रव्य बहुत अधिक बढ गयी थी परन्तु वस्तुओ की कीमतो में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ था। स्टाक विनिमय की प्रतिभूतियाँ (Stock Exchange Securities) और वास्तविक सम्पदा की कीमतें अधिक बढ गई थी।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि द्रव्य के चलन का वेग उल्टी दिशा की ओर हो और वह बैंक द्वारा की गई साख की बढती या कमी को प्रतितुलन (counter-balance) कर दे। केन्द्रीय बैंक इस वेग को अधिक नियन्त्रित नही कर पाता। कुछ ऐसे भी कारण हैं जो कि द्रव्य से सम्बन्धित नही हैं। परन्तु वे वस्तुओ के मूल्य पर प्रभाव डालते हैं जैसे कि जलवायु, राजनैतिक और व्यावसायिक उथल-पुथल, उत्पादन की रीतियो में परिवर्तन, फैशन मे परिवर्तन, जनसख्या और मनुष्यो के स्वभाव आदि मे परिवर्तन आदि। इन सब कारणो से उस बैंक के कार्य असफल हो सकते हैं।

दूसरे महायुद्ध तथा उसके बाद में कीमत नियत्रण ने इस नीति की त्रुटियो को स्पष्ट कर दिया है। लडाई मे कीमते लगातार बढती रहती हैं और एक उचित स्तर रखने के

लिये कीमत-नियन्त्रण की पद्धति स्थापित की जाती है। ऊंची कीमतें गरीबों पर अधिक प्रहार करती हैं तथा उनको जीवन की अनिवार्यताओं से वंचित रखती हैं। जनता की नैतिक व्यवस्था को ठीक रखना पड़ता है। कीमतों पर इसलिए भी नियन्त्रण किया जाता है ताकि सरकारी नौकर ऊंची तनख्वाहें न मांगें। लड़ाई में मांग तथा पूर्ति के बीच का सन्तुलन जाता रहता है। नागरिकों की मांग के अतिरिक्त युद्ध के कार्यों के लिये भी वस्तुओं की मांग होती है। दूसरी ओर, पूर्ति कम हो जाती है क्योंकि साधनों को युद्ध का सामान बनाने के लिये हटाना पड़ता है तथा आयात गिर जाते हैं। मुद्रा स्फीति तथा उसका वेग बढ़ जाने के कारण कीमतें बढ़ जाती हैं और अमीर-गरीब के बीच की खाई चौड़ी हो जाती है। इस सामाजिक असमानता को कम करने तथा रोकने के लिये कीमतों पर नियन्त्रण रखना सरकार का कर्तव्य हो जाता है।

युद्ध में लगे हुए सारे देशों में कीमत-नियन्त्रण के उपाय[1] लागू किये गये और युद्ध के बाद भी जारी रहे। पहले समस्या का हल टुकड़ों में किया गया तथा कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर नियन्त्रण किया गया। जब सरकार ने अधिक अनुभव प्राप्त कर लिया तो कीमत-नियन्त्रण दृढ़ तथा विस्तृत कर दिया गया। माल जमा करने तथा अनुचित लाभ (hoarding and profiteering) उठाने के विरुद्ध कानून बनाये गये। बहुत-सी वस्तुओं की कीमतें एक निश्चित मात्रा के ऊपर बढ़ने से रोक दी गईं। कुछ दशाओं में नई कीमतों को युद्ध के पहले की कीमतों से २% बढ़ा दिया गया।

यह उपाय पहले असफल रहे। जैसे ही एक वस्तु की कीमत पर नियन्त्रण किया गया, वह चोरबाजार में गायब हो गई। कीमत नियन्त्रण असफल रहने के मुख्य कारण ये थे—(१) कीमत स्थिति को हल करने में देरी, (२) अधिकारियों में अनुभव का अभाव, (३) सरकारी नौकरों में निष्ठा का अभाव; (४) जन-सहयोग की कमी, (५) सही तथा आधुनिक अंकों की कमी, तथा (६) कीमत-नियन्त्रण के उपायों का एकीकरण न होना (un-coordinated) तथा उनका योजना-रहित होना।

भिन्न-भिन्न जिलों में भिन्न-भिन्न कीमतें निर्धारित की गई थीं। कभी-कभी भिन्न-भिन्न जिलों में परिवहन की लागत का खयाल न करके एक ही कीमत रख दी जाती थी। कभी-कभी फुटकर कीमतें ही निश्चित करके थोक विक्रेताओं को ऊंचे दाम लेने के लिए छोड़ दिया जाता था। कीमत पर नियन्त्रण था लेकिन पूर्ति पर कोई नियन्त्रण न था। सब वस्तुओं पर नियन्त्रण होने के बजाय कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर नियन्त्रण था जिसके कारण नियन्त्रण न की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें बढ़ गईं और नियमित वस्तुओं पर नियन्त्रण रखना कठिन हो गया। इसका ध्यान कभी भी न रखा कि अधिकतर वस्तुओं की कीमतें एक दूसरे से जुड़ी थीं। नियन्त्रण के नियम इतने सामान्य थे कि उनका बनाना सरल था परन्तु उनका चलाना बहुत कठिन था।

किन्तु सब से महत्वपूर्ण बात मनुष्यों के स्वभाव से सम्बन्धित है। कीमत नियन्त्रण उन देशों में सफल हुए जहाँ जनता का नैतिक स्तर ऊंचा था तथा मनुष्य ईमानदार थे।

1, For a discussion of State regulation of competitive prices see Pigou, A C — Economics of Welfare Part II, Ch XII

पर जहाँ इन गुणो का अभाव था, वे असफल रहे।

७ कीमत का कार्य (Function of Price Mechanism)—हम ऊपर यह अध्ययन कर चुके है कि कीमतो के स्थायीकरण की कहा तक आवश्यकता है और हमने यह बतलाया था कि स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता पर निर्मित आर्थिक पद्धति में कीमत-यत्र रचना एक विशेष काम करती है। अब हम कीमत-यत्र रचना का कुछ और अध्ययन करना चाहते है।

कीमत यत्र-रचना इस प्रकार चलती है कि आर्थिक पद्धति का समायोजन (adjustment) अपने आप होता रहता है और किसी केन्द्रीय प्राधिकार को कोई आज्ञा देने की या सकेत करने की आवश्यकता नही पडती। कीमत उत्पादन और उपभोग दोनो का प्रबन्धक है। उपभोक्ता जो कीमत देने के लिये तैयार होते है उनसे उनकी रुचि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार जो कीमत उत्पादक लेने के लिये तैयार होते है उनसे वस्तुओ की कमी या अधिकता मालूम होती है। कीमत के बढने से माग कम होती है और पूर्ति बढती है, इसी तरह इसके प्रतिकूल भी है। यदि किसी वस्तु की माग पूर्ति से ज्यादा है, तब कीमत के बढने से दोनो में समायोजन होगा। इसके प्रतिकूल यदि पूर्ति माग से ज्यादा है तो कीमत गिर जायगी और दोनो के बीच साम्य स्थापित हो जायगा।

वितरण में भी, जब कि हमारा सम्बन्ध उत्पादन के साधनो की सेवाओ को पारिश्रमिक देना है, हम देखते है कि इसी प्रकार की क्रियाए होती है। लगान (rent), मजदूरी (wages), ब्याज (interest) ओर लाभ (profits) ऐसी कीमतें है जो कि उत्पादन के साधनो को दी जाती है। यदि श्रमिको की पूर्ति अधिक है तो उनकी मजदूरी गिर जायगी और वह नियोजको (employers) को अधिक मजदूर काम मे लगाने को उत्साहित करेगी। इसके विपरीत, यदि युद्ध या बीमारी के कारण मजदूरो की पूर्ति कम हो गई है तो मजदूरी बढ जायगी और नियोजको के लिए यह श्रमिको की कमी एक चेतावनी का सकेत होगा।

किसी वस्तु या सेवा की कीमत एक तरह की आमदनी है, जो कि अपनी क्रय-शक्ति से आर्थिक क्रियाओ की दिशा और सीमा बतलाती है। इसलिये यदि हम वर्तमान आर्थिक पद्धति को "कीमत के द्वारा शासन" कहे, तो ठीक होगा।

ऐसा समझा जाता है कि कीमत-व्यवस्था उपभोक्ता और उत्पादक दोनो के हित मे साम्य स्थापित करती है। बेनहम के शब्दो में "इसकी प्रवृत्ति ऐसी है कि उद्यमी की लाभ की इच्छा और उपभोक्ताओ को दिये हुए उत्पादन के साधनो द्वारा अपनी आवश्यकताओ की अधिक से अधिक पूर्ति की इच्छा, दोनो की समता से सतुष्टि करती है।" परन्तु वास्तव में यह समता देखने मे नही आती। ऐसा देखा जाता है कि या तो उपभोक्ताओं का शोषण होता है, या उद्यमी लोग नुकसान उठाते है। कभी तो उपभोक्ताओ को सस्ते उत्पादन का लाभ मिलता है तो कभी जान-बूझ कर उनको धोखा दिया जाता है और वे एकाधिकारी की इच्छा पर रहते है, जो कि उनका पूर्ण रूप से शोषण करने में जरा भी नही हिचकिचाते। इसके अतिरिक्त एक सयुक्त मिश्रित पूजी वाली कम्पनी को उसके सचालको के कार्य कुशल न होने के कारण हानि हो सकती है, या यह हो सकता है कि

सचालक अपने को धनी बनाने में लगे रहें जब कि कम्पनी की हानि होती रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव में उत्पादकों और उपभोक्ताओं के हितों में भिन्नता है न कि समता, क्योंकि कीमत-व्यवस्था प्राय स्वतन्त्रता और सरलता से काम नहीं करती।

इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कीमत-व्यवस्था के बिना पूँजीवादी व्यवस्था चल ही नहीं सकती। कीमत-व्यवस्था से ही आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न भागों का समायोजन होता है। यह सोचना ही कठिन है कि मूल्य-व्यवस्था के बिना आर्थिक क्रियायें किस प्रकार की जा सकती हैं। यहाँ पर हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि आर्थिक व्यवस्था सरलता और न्याय के आधार पर चल रही है। परन्तु यह ठीक है कि कीमत-व्यवस्था के कारण आर्थिक व्यवस्था बगैर किसी बड़ी अड़चन के प्राय चलती रहती है।

८ महँगी मुद्रा बनाम सस्ती मुद्रा (Dear Money versus Cheap Money)—द्रव्य के विवेचन को समाप्त करने के पहिले हम यह आवश्यक समझते हैं कि हम मुद्रा के विषय की नीति पर केन्द्रित विवाद पर विचार करें।

जब अर्थ-व्यवस्था युद्ध में नष्ट हो जाती है अथवा मंदी में छिन-भिन्न हो जाती है तो एक ही विवाद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है—अर्थात् देश एक महँगी मुद्रा वाली नीति अपनाए या सस्ती मुद्रा वाली नीति को।

किन्तु महँगी मुद्रा अथवा सस्ती मुद्रा के क्या अर्थ हैं? कुछ विद्यार्थी ऐसा समझते हैं कि महँगी मुद्रा का यह अर्थ है कि उसका मूल्य वस्तुओं तथा सेवाओं में अधिक है अर्थात् कीमत नीची है तथा सस्ती मुद्रा का अर्थ है कि द्रव्य का मूल्य (अथवा उसकी क्रय-शक्ति) नीची है और कीमतें ऊँची हैं। इस प्रकार महँगे द्रव्य का सम्बन्ध नीची कीमतों से हो सकता है और सस्ते द्रव्य का ऊँची कीमतों से। परन्तु महँगी तथा सस्ती मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार नहीं दी जा सकती। द्रव्य की कीमत जिसकी तरफ 'महँगे' और 'सस्ते' शब्द सकेत करते हैं उसकी विनिमय-कीमत या क्रय-शक्ति के शब्दों में नहीं है। द्रव्य की कीमत का उचित अर्थ वह दर है जिस पर द्रव्य उधार लिया जा सकता है। इस प्रकार महँगी मुद्रा का अर्थ यह है कि उधार लेने की दर ऊँची है तथा सस्ती मुद्रा का अर्थ यह है कि ब्याज की दर नीची है। सक्षेप में द्रव्य की कीमत ब्याज की दर है।

कभी-कभी हम अर्थशास्त्रियों को महँगी बनाम सस्ती मुद्रा के वाद-विवाद में भाग लेते पाते हैं। कुछ महँगी द्रव्य की नीति अपनाते हैं और कुछ सस्ती द्रव्य की नीति का समर्थन करते हैं। इनमें से कौन ठीक है, यह उस आर्थिक स्थिति पर निर्भर है जिसका हमें सामना करना पड़ता है। किसी आर्थिक नीति को चलाने के लिए ब्याज की दर एक महत्त्वपूर्ण हथियार है। कुछ समय ऐसे होते हैं जब कि उचित आर्थिक नीति के लिये यह आवश्यक है कि द्रव्य के बाजार में ब्याज की दर नीची रखी जाये तथा कभी ब्याज की दर ऊँची रखनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, जब मुद्रा का अधिक प्रसार हो, जब सट्टेबाजी अधिक हो, जब उद्योगपति विनियोग (investment) अधिक मात्रा में करते हों, जब बैंकों ने सीमा से अधिक साख बढ़ा रखी हो, जब भुगतान शेष (balance of payment) देश के प्रतिकूल हो, तो महँगी द्रव्य की नीति उचित होती है।

यह मुद्रा सकुचन (deflationary) वाली गति है। यह निर्बुद्धि पूजी विनियोग पर रोक लगायेगी, यह बैंको द्वारा साख के बढाए जाने को रोकेगी, यह कीमतो को बढने मे भी रोकेगी, सट्टेबाजी के वेग को कम करेगी और अन्त मे भुगतान शेष की स्थिति को एक दृढ अवस्था मे कर देगी।

सस्ती मुद्रा की नीति प्रतिकूल स्थितियो मे प्रकट होती है। उदाहरणार्थ जब मदी का बुरा प्रभाव व्यापार व्यवसाय पर पड रहा हो, जब बैंक उधार देने मे हिचकते हो, जब नीचा कीमत-स्तर आर्थिक उद्दीपक को नष्ट कर रहा हो, जब अधिक बेकारी हो, और जब विस्तृत निर्माण-कार्य चालू हो तो सस्ती मुद्रा नीति अथवा नीची व्याज दर विनियोग को प्रोत्साहन देती है, बेकारी के भार को कम करती है, औद्योगिक यन्त्र के पहियो में तेल डालती है। सक्षेप में, यह मदी के पर्दे को उठाकर उसके बुरे प्रभावो को दूर करेगी।

सस्ती मुद्रा नीति (अर्थात् साख का सस्ता होना) (क) मदी को रोकने, (ख) बेकारी को दूर करने तथा (ग) विकास कार्यक्रम की व्यवस्था मे एक साधन का कार्य करती है। जब सस्ती मुद्रा नीति अपनायी जाती है तो सरकार को खुले बाजार मे उधार लेना पडता है। यदि साख की कमी है तो प्रतिभूतियो की कीमत बढ जायगी और उनकी माग गिर जायगी। सरकार को सस्था सम्बन्धी विनियोग करने वालो का आश्रय लेना पडेगा। सस्ती मुद्रा नीति का अर्थ सार्वजनिक ऋण का मुद्रा-निर्माण है अर्थात् सार्वजनिक ऋण को तरल-नकदी (liquid cash) मे बदलना है। यदि पूर्ण रोजगारी की अवस्था आ गई हो, तो इसका अर्थ स्फीतिकारी वित्त-व्यवस्था होगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह राज्य के अधिकार मे है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा या दूसरे प्रकार से मुद्रा को सस्ता या महगा रखने के लिये व्याज दर पर नियत्रण रखे? क्या व्याज की दर माग तथा पूर्ति के प्राकृतिक प्रभाव से निर्धारित नही होती। जैसे कि पहले समझाया जा चुका है इस सिद्धान्त की अब निन्दा की गई है कि व्याज की दर सचित धन की माग तथा पूर्ति में साम्य लाती है। जैसा कि सर विलियम बेवेरिज (Sir William Beveridge) ने बतलाया है "व्याज की दर माग तथा पूर्ति मे साम्य स्थापित करने का कार्य नही कर सकती क्योकि पूजी व्यय उसी सचय को जन्म देता है जिसकी आवश्यकता उसके अर्थ-प्रबन्ध में होती है। एक को दूसरे की समता मे लाने का प्रश्न ही नही उठता क्योकि वे आय के स्तर मे परिवर्तन होने से समता में रहते है।"[1] यदि व्याज की दर नीची है तो विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। समुदाय द्वारा ऋण लेकर या रिजर्व से किया हुआ व्यय अधिकृत आय लाता है और बचत के नये उद्गम पैदा करता है। इस प्रकार व्याज की नीची दर बचत करने के उत्साह को भग नही करती परन्तु यह व्यय तथा विनयोग को प्रोत्साहित करती है और अधिक बचत को सभव बनाती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री अब इस बात को मानते है कि राज्य को व्याज की नीची दर

---

1 Full Employment in a Free Society, 1945, p 307

स्थिर करने तथा बनाये रखने का अधिकार है और दर किन्हीं प्राकृतिक साधनों द्वारा निर्धारित नहीं होती। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध-काल तथा युद्ध-काल के बाद ऋण के लिए बढ़ती हुई माँग ब्याज की नीची दर पर सन्तुष्ट हुई। यह स्पष्ट रूप से बताता है कि ब्याज की दर पर नियन्त्रण रखना सम्भव है। हम को देखना चाहिए कि यह कैसे होता है। ब्याज की दर पर नियन्त्रण बचत पर नियन्त्रण द्वारा हो सकता है। इसके लिए बचत के भिन्न-भिन्न रूपों का जानना आवश्यक है। मनुष्य अपने सञ्चित धन को चार तरह से रख सकता है अर्थात् नकद, बैंक (डिपॉजिट्स) बिल (अल्पकालीन विनियोग), तथा बाँड (दीर्घकालीन विनियोग)। सरकार देश की पूर्ण आर्थिक स्थिति को सोचते हुए एक विशिष्ट ब्याज दर स्थिर करने का निश्चय कर सकती है और तब बचाने वाली जनता को उस दर पर अपने सञ्चय तथा जिस रूप में वह अपने सञ्चित धन को रखना चाहती है ठीक करती है। जैसा कि बेवेरिज ने कहा है "सरकार को दीर्घकालीन बाँड तथा अल्पकालीन पत्र अवश्य निकालना चाहिए ताकि बचाने वालों की इच्छानुसार सञ्चित धन उनमें आये।"

यदि यह देखने में आता है कि सरकार इच्छित धन को घोषित की हुई दर पर प्राप्त नहीं कर सकती और जनता का अल्पकालीन व दीर्घकालीन अंशदान अपूर्ण है तो सरकार आधिक्य को केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर सकती है। जैसे-जैसे सरकार का व्यय आगे बढ़ता है, नई बचतें होती जाती हैं और बैंक का नकद आधिक्य बढ़ जायगा। नयी बचत किसी न किसी रूप में रहनी चाहिये तथा बैंक अपना व्यावहारिक अनुपात भी रखेंगे। इस प्रकार धन कर के रूप में आ जायेगा। बचत जिसको जनता नकद तथा बैंकों में जमा करके रख सकती है, व्यापार की विक्रय राशि पर निर्भर करती है। वे अपनी आधिक्य बचत को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन पत्रों में भी विनियोजन कर सकते हैं।

इस प्रकार ब्याज की एक स्थायी दर निश्चित करने की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। सरकार को केवल दर निश्चित करनी होती है और तब जनता को प्रस्ताव किया जाता है कि वह इस दर पर कितना रखना चाहेंगे। बचाव का केवल एक मात्र उपाय यही है कि दर में परिवर्तन धीरे-धीरे हो। यही कारण है कि शून्य दर निश्चित करना तथा उसको ऊपर की भाँति बनाये रखने का प्रयत्न करना सम्भव नहीं होगा। दर के अचानक घटा दिये जाने पर, पूँजी तथा दीर्घकालीन ऋण बढ़ जायेंगे। इससे सामाजिक तनाव उत्पन्न हो जायगा। परम प्रतिभूतियों का स्रोत सूख जायगा और बैंक तथा बीमा कम्पनियों जैसी आर्थिक संस्थाओं की क्रियाओं की नींव टुकड़े-टुकड़े हो जायगी।

अब हमको यह देखना चाहिये कि आधुनिक आर्थिक स्थिति में भारत को कौन सी नीति अपनानी चाहिए। हम भ्रमजाल में पड़ जाते हैं और हमको दोनों विपरीत नीतियों में सन्तुलन कर लेना चाहिए। हमको मुद्रा स्फीति से लड़ना है। यह महँगी मुद्रा नीति की ओर संकेत करती है। यही कारण है कि बैंक दर ३ प्रतिशत से ३॥ प्रतिशत कर दी गई है। दूसरी ओर यह सोचकर कि दूसरे महायुद्ध में तथा उसके बाद औद्योगिक

-सामग्री बहुत अधिक घिस गई थी और उसकी मरम्मत भी नही हो सकी थी, इस कारण उसका नए सिरे से सुधार होना चाहिये। इस काम को पूरा करने के लिए द्रव्य की जरूरत होगी। आर्थिक विकास के प्रत्येक क्षेत्र में हमें कई और योजना आदि करनी है। इसलिए हमें साख सस्ती करनी चाहिए और 'सस्ती साख नीति' को अपनाना चाहिए।

इन दोनों उद्देश्यो में साम्य किस प्रकार स्थापित हो? हम क्या करें? हमारा प्रस्ताव है कि मुद्रा-प्रसार की पीठ टूट गई है। परन्तु मुद्रा-प्रसार के देव को केवल हल्की चोट ही लगी है, वह मरा नही है। वह फिर अपना सिर उठा सकता है। अतएव हमको सावधान रहना चाहिए। ऐसी सावधानी रखते हुए हमको यह देखने का साहस करना चाहिए कि पचवर्षीय योजनाओ के लिये द्रव्य का प्रवाह पर्याप्त मात्रा में हो। यह आवश्यक नही है कि सस्ती द्रव्य-नीति का प्रभाव मुद्रा-प्रसार हो। सर ह्यूबर्ट हेन्डर्सन (Sir Hubert Henderson) इकनामिक जरनल[1] में लिखते है "मेरी राय में सस्ती द्रव्य-नीति मुद्रा-प्रसार पर बहुत कम प्रभाव डालती है।" उनका इगलैंड के लिए नुस्खा जो भारत को भी लागू होता है, यह है, "मेरा मत है कि सब बातो को सोचते हुए दीर्घकालीन नियोजन-कार्य बड़े पैमाने में आरम्भ करना उचित होगा। मकानों की कमी जिससे लोगो को उपभोग किये जाने वाली वस्तुओ की कमी की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाना पडता है इतने दिनो तक बिना पूरा किये नहीं रह सकती जब तक कि अर्थशास्त्री सकेत करें कि 'समस्त मांग की कमी है सार्वजनिक कार्यो की ओर ध्यान दें।'[2] इसमे हम यह जोड सकते है कि हम अपनी दशा में अपने भूखे भाइयों के शातिपूर्वक तमाशबीन नही हो सकते। हमको अपने नीचे जीवन-स्तर को उठाना ही पडेगा। इसके लिये सस्ता द्रव्य आवश्यकतानुसार पर्याप्त होना चाहिए।

६ तटस्थ मुद्रा नीति (Natural Money Policy)[3]—हमने ऊपर महँगी बनाम सस्ती मुद्रा के बारे में विवेचन किया है परन्तु तीसरा उपाय भी है। वह है तटस्थ मुद्रा नीति। यह नीति यथेच्छा-कारिता नीति (*laissez-faire* policy) पर आधारित है। परन्तु व्यवहार में यह उससे पृथक् है क्योंकि तटस्थ मुद्रा नीति अपनाने के लिये मुद्रा सम्बन्धी शक्ति को सचेष्ट नीति खोजनी पडेगी। तटस्थ मुद्रा सिद्धान्त प्रोफेसर एफ० ए० हेयक (Prof F A Hayek) के नाम से जुडा हुआ है। इस सिद्धान्त के मानने वालो का विश्वास है कि आर्थिक अस्थिरता का मुख्य कारण मुद्रा में परिवर्तनो को रोकने से अर्थ-व्यवस्था स्थिर तथा सुव्यवस्थित हो जाती है।

तटस्थ मुद्रा नीति क्या है? यह वह नीति है जो एक ओर मुद्रा-प्रसार के कारण और दूसरी ओर इसके सकुचन मे विघ्न डालने वाले प्रभावो को तटस्थ करने अथवा

---

1 September, 1947

2 The Economic Journal, September, 1947 p 268

3 See Halm, G N —Monetary Theory, 1946 pp 122 31 Study also Hayek, F A —Prices and Production —Monetary Theory and Trade Cycles

हटाने का प्रयत्न करती है। नई मुद्रा बढाव मे मुद्रा स्फीति होती है तथा मुद्रा के हटाने तथा सकुचन से अस्फीति। मुद्रा स्फीति सस्ते द्रव्य से तथा मुद्रा अस्फीति महगे द्रव्य मे जुडी हुई है। आर्थिक स्थिरता अथवा कीमतो, उत्पत्ति तथा रोजगार के दृष्टिकोण से मुद्रा स्फीति तथा अस्फीति दोनो बुरे समझे जाते है। हम को दो में से एक को भी अपनाना न चाहिये। हम को तटस्थ रहना चाहिये। मुद्रा को न तो महगी होनी चाहिये और न सस्ती।

इस भाति तटस्थ द्रव्य-नीति मुद्रा स्फीति तथा अस्फीति के शून्य चिन्ह के समान है। यह ऐसी स्थिति पैदा कर देती है जैसे कि मुद्रा है ही नही अथवा सारा विनिमय वस्तुओ द्वारा ही होता है। परन्तु चूकि मुद्रा बिल्कुल लोप नही होती, अदला-बदली की बुराइया भी नही रहती। तटस्थ मुद्रा नीति अपनाने मे मुद्रा सम्बन्धी शक्ति को मुद्रा की पूर्ति की ऐसी व्यवस्था करनी पडती है कि उत्पादन स्तर, मूल्य स्तर तथा व्यापार की मात्रा ऐसी है जैसे कि समुदाय किसी भी द्रव्य का उपयोग नही करता। यह मान लिया जाता है कि यदि चलने वाले माध्यम के टेढे-मेढे प्रभाव को पृथक् रखा जाय, तो ऐसी काल्पनिक बिना मुद्रा वाली समुदाय की अर्थ-व्यवस्था प्रतियोगिता के प्राकृतिक प्रभावो द्वारा स्थिर रखी जायगी।

तटस्थ मुद्रा नीति के लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? हमने देखा है कि तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य क्या है। अब प्रश्न यह है कि यह उद्देश्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? हमको यह ध्यान रखना चाहिये कि इस नीति के अन्तर्गत मुद्रा स्फीति तथा सकुचन दोनो को रोकना पडेगा। क्या हम ऐसे द्रव्य की पूर्ति को अचल रख कर कर सकते है ? नही, बिल्कुल नही। हम जानते है कि कीमतो मे परिवर्त्तन केवल द्रव्य की पूर्ति मे परिवर्त्तन होने से होता है परन्तु ऐसे कारणो द्वारा भी जैसे जनसख्या मे परिवर्तन, यन्त्र कला में तथा यातायात मे सुधार, द्रव्य के चलन के वेग मे परिवर्त्तन आदि। वे भी तटस्थ होने चाहियें। यदि मुद्रा की पूर्ति दृढता से स्थिर रखी जाय, तो एक पीढी में आर्थिक उन्नति तथा उत्पादन की कार्य-कुशलता मे सुधार से कीमते बहुत गिर जायगी और यही एक तटस्थ मुद्रा नीति नही चाहती। इस प्रकार केवल मुद्रा बढाने तथा घटाने से तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य प्राप्त नही किया जा सकता।

तब मुद्रा सम्बन्धी प्राधिकारी को क्या करना चाहिये ? यदि जनसख्या बढती है तो द्रव्य की माग बढेगी, और इस माग की सन्तुष्टि होनी चाहिये, नही तो द्रव्य की कमी से मुद्रा अस्फीति का प्रभाव पडेगा। इससे तटस्थ मुद्रा नीति अलग रहेगी। यदि द्रव्य के चलन का वेग बढ जाता है, तो यह मुद्रा स्फीति होगी, और इसके रोकने के लिये मुद्रा की वृद्धि की चाल धीमी करनी पडेगी। यदि आविष्कारो तथा दूसरे यान्त्रिक सुधारो अथवा साधनो की कार्य-कुशलता में सुधारो के कारण उत्पादन की मात्रा बढ जाती है तो ऐसी दशा मे द्रव्य की मात्रा को बढाया नही जा सकता क्योकि कीमतो मे कमी भयकर नही है। यदि परिवहन मे सुधार होने से व्यापार में उन्नति होती है तो बढे हुए ट्रैफिक का सामना करने के लिये द्रव्य की मात्रा बढानी होगी। यदि व्यापार मे सगठन होता है तो द्रव्य की माग घट जायगी। द्रव्य अधिकारियो को इसका भी ध्यान रखना होगा। इनको एकाधिकार पर भी नियत्रण रखना होगा ताकि कीमते उचित स्तर पर

रहे। सक्षेप में इनको द्रव्य की पूर्ति स्थिर रखने की अपेक्षा कीमत-स्तर पर ध्यान रखना होगा।

यह नीति फलोत्पादक कैसे हो सकती है? कागज पर सिद्धान्त सरल मालूम होता है और तटस्थ मुद्रा नीति सीधी दिखाई देती है। पर वास्तव मे इसमे बहुत सी उलझनें हैं। यह सिद्धान्त गलती से यह मान लेता है कि व्यापार चक्र को निर्धारित करने वाली बातें मुख्यत द्रव्य से सम्बन्धित हैं। कीमत-स्तर, उत्पादन मात्रा तथा रोजगार पर प्रभाव डालने वाले साधन इतने भिन्न हैं कि किसी प्रकार की द्रव्य-व्यवस्था उनमें स्थिरता नही ला सकती। आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानने को तैयार नही हैं कि व्यापार चक्र केवल द्रव्य सम्बन्धी घटना है। इस प्रकार तटस्थ मुद्रा नीति की बहुत सी सीमाए हैं।

तटस्थ मुद्रा-नीति कीमत-स्थिरता नीति से कितनी भिन्न है? तटस्थ मुद्रा-नीति तथा कीमत स्थिरता नीति में भेद करने के लिये हम को दो कीमत-स्तरो का ध्यान रखना चाहिए, एक **सामान्य** (general) कीमत स्तर, और दूसरा **सापेक्षित** (relative) कीमत स्तर। एक तरह से इन दोनो नीतियो का उद्देश्य एक ही है। दोनो मुद्रा को तटस्थ बनाना चाहते हैं, और यह चाहते हैं कि वह एक ऐसा कार्य करे कि यदि कोई भी आर्थिक परिवर्तन हो तो द्रव्य का दोष न माना जाय। दोनो का उद्देश्य आर्थिक परिवर्तनो के एक मुख्य कारण को हटाना है। दोनो का अन्तर यह है। कीमत-स्थिरता की नीति का उद्देश्य सामान्य कीमत-स्तर मे परिवर्तनो को रोकना है ताकि मुद्रा हिसाब की इकाई की तरह तटस्थ रहनी है। तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य सापेक्ष कीमतो के ढांचे को स्थिर रखना है। इस कार्य के लिये यह द्रव्य की कुल मात्रा की व्यवस्था करना चाहती है ताकि मुद्रा विनिमय का एक माध्यम होते हुए अर्थ-व्यवस्था में कोई गड़बड़ी न डाल सके।

१० मुद्रा नीति के उद्देश्य (Objectives of Monetary Policy)[1]

—मुद्रा नीति के कई उद्देश्य बताये गये हैं। इनमें से हम द्रव्य के प्रबन्ध के निम्नलिखित खास उद्देश्यो को बता सकते हैं —

(१) विनिमय स्थिरता,
(२) कीमत स्थिरता,
(३) तटस्थ मुद्रा, तथा
(४) आर्थिक स्थिरता।

कुछ ऐसे अधिकारी हैं जो विदेशी विनिमय की दर को स्थिर रखना अधिक

---

1 For detailed discussion See Chandler, L V —An Introduction to Monetary Theory, 1950, Ch viii
Durbin, E F M —The Problem of Credit Policy, 1935
Gayer, S D —Monetary Policy and Economic Stabilization, 1937
Royal Institute of International Affairs—The Future of Monetary Policy 1935, Ch XLII.

महत्त्वपूर्ण समझते हैं। विदेशी व्यापार के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण सुविधा होगी और यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिम को कम कर देगा। विनिमय स्थिरता के बारे में हम अगले अध्याय में विवेचन करेंगे।

इस अध्याय में हम कीमत-स्थिरता की समस्या का विवेचन कर चुके हैं। कीमतों में तीव्र परिवर्तन अर्थ-व्यवस्था पर विघ्न डालने प्रभाव डालते वाले हैं। इनके अतिरिक्त वह कुछ लोगों को कष्टदायक होते हैं तथा कुछ को लाभ पहुचाते हैं। परन्तु एक दृढता-पूर्वक बँधा हुआ कीमत-स्तर न तो सम्भव ही है और न उचित।

हमने तटस्थ मुद्रा नीति तथा उसकी सीमाओं का अभी विवेचन किया है और हम समझते हैं कि हम उसको मुद्रा नीति के उचित उद्देश्य की सिफारिश नहीं कर सकते।

मुद्रा नीति का सब से उचित लक्ष्य आर्थिक स्थिरता है। इससे ऐसा आर्थिक विकास हो कि पूर्ण अर्थ-व्यवस्था शान्तिपूर्वक चल सके। सयुक्त राज्य फेडरल रिजर्व सिस्टम (U S Federal Reserve System) के बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors) ने आर्थिक स्थिरता की परिभाषा इस प्रकार की है "देश की उत्पादन-शक्ति तथा श्रम का ऐसा अधियोजन जो लगातार रह सके।" इस लक्ष्य को हम राष्ट्रीय साधनो की अधिकतम उपयोगिता भी कह सकते हैं। मुद्रा नीति के उद्देश्यो का वर्णन करते हुए बोर्ड ने यह निर्णय दिया है "बोर्ड विश्वास करता है कि सार्वजनिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता की अपेक्षा आर्थिक स्थिरता होना चाहिये। इसका दृढ विश्वास है कि यह उद्देश्य केवल मुद्रा नीति से नहीं प्राप्त किया जा सकता परन्तु मुद्रा नीति तथा सरकार की दूसरी बडी नीतियो के एकीकरण से जिनका प्रभाव व्यापारिक क्रिआओ तथा कर, व्यय, उधार, विदेशी विनिमय, खेती तथा श्रम से सम्बन्धित विशेष नीतियो पर पडता है।"[1] देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता पर मुद्रा नीति का क्या प्रभाव पडता है, इसका अगले अध्याय में विवेचन किया जायगा।[2]

निर्देश पुस्तकें

Whittlesey, C R—Money and Banking, 1948, Ch XXV.
Halm, G N—Monetary Theory, 1946, Ch 8
Keynes, J M—Essays in Persuasion
Layton, W, and Crowther, G—Introduction to the Theory of Prices
Cannan, E—Money, 1935, Part I, Chs II and III.
Crowther, G.—An Outline of Money, 1950, Ch III
Cole, G D H—Money, Its Present and Future.
Brij Narain—Money and Banking (S Chand and Co)
DeKock—Central Banking, 2nd Edition (1946)
Fisher, Irving—The Purchasing Power of Money, 1926, Chs. IX and X
—The Making of Index Numbers, 1923.

1. International Currency Experience, 1954, pp 109-10
2. Chapter XLII

अध्याय ३५

साख

(CREDIT)

१ साख क्या है ? (What is Credit ?)—द्रव्य के रूप बताते समय हमने साख अथवा बैंक द्रव्य की ओर सकेत किया था। साख का अर्थ किसी मनुष्य के "सचाई, स्थिरता, योग्यता तथा गुण"[1] पर आधारित अच्छे विचार से होता है। साख से किसी व्यक्ति के द्रव्य देने की इच्छा तथा योग्यता में विश्वास का अभिप्राय माना जाता है। किसी मनुष्य की साख तीन बातो पर निर्भर रहती है—चरित्र, योग्यता तथा पूजी। इसको दूसरे मनुष्यो से व्यवहार में निष्कपट तथा न्याय-युक्त होना चाहिये, उसमें इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह व्यवसाय को सफल बना सके, तथा वह व्यक्ति धनी हो। इस प्रकार साख ऋणी का विशेषण होता है।

२ साख-पत्र (Credit Instruments)—आधुनिक व्यवसाय में साख का बहुत बडा महत्त्व है, और यह साख-पत्र के प्रयोग द्वारा होता है। साख-पत्र कई प्रकार के होते है जैसे खाता साख (Book Credit), वचन-पत्र (रुक्का–Promissory Note), विनिमय के बिल या हुडिया (Bills of Exchange), बैंक नोट (Bank Note), चैक (Cheque) और ड्राफ्ट (Draft)।

बैंक नोट (Bank Note)—ये साधारणतया साख-पत्र नही कहलाते जब तक कि वे किसी साधारण बैंक द्वारा बिना सरकार की आज्ञा के न चालू किये गये हो। अब केवल एक बैंक को, जिसे केन्द्रीय बैंक कहते है, नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त है।

वचन-पत्र (रुक्का-Promissory Note)—यह सब से सरल साख-पत्र होता है। इस में क्रेता द्वारा विक्रेता को द्रव्य की निश्चित राशि प्राप्त कीमत के बदले में देने की प्रतिज्ञा होती है। ऐसा प्रलेख निजी अथवा वाणिज्य व्यवहार में प्रयोग किया जा सकता है। विनिमय पत्र केवल वाणिज्य व्यवहार में प्रयोग किये जाते है।

विनिमय-पत्र (Exchange Bills)—यह एक आदेश होता है, जिसका भुगतान मागने पर (On demand) अथवा निश्चित भविष्य में करने को सामान्यत ऋणदाता द्वारा ऋणी, या खरीदार को किया जाता है, जिसमे खरीदार को यह आज्ञा होती है कि वह द्रव्य की उस मात्रा का भुगतान ऋणदाता या वाहक (Bearer) अथवा निर्दिष्ट किये हुए तीसरे व्यक्ति को करे।

किसी हुडी का बट्टा उस पर अकित मूल्य पर जितने समय तक पत्र की मान्यता होता है, प्रचलित दर पर ब्याज का अनुमान लगाकर, अकित मूल्य से घटाकर किया जाता है। यह वह कीमत है जिस पर बिल रखने वाला किसी समय बिल को बेच सकता है।

---

1 "Veracity, integrity, ability and virtue"

विनिमय पत्र (bill of exchange) का रूप साधारणतया इस प्रकार होता है --

£ 100 Delhi

January 12, 1956,

Three months after the date pay to the Order of the State Bank of India Ltd £ 100 for value received

F Jones & Sons G. Lall,
London

जी लाल ने दिल्ली से लन्दन के एफ जॉन्स एण्ड सन्स को १०० पौंड के मूल्य के बराबर वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात किया है। बिल १२ जनवरी १९५१ मे तीन महीने तथा तीन दिन के पश्चात् अथवा १५ अप्रैल १९५१ को परिपक्व हो जायगा। इस समय में यह एक पक्ष से दूसरे पक्ष को पृष्ठांकन (endorsement) के पश्चात् जा सकता है।

बिल के चलन का क्षेत्र स्वीकर्ता (acceptor) की साख पर निर्भर करता है। लोग अपने बिल या हुंडियो को अच्छी फर्म जो इस व्यवसाय मे विशेषोपयुक्त होती है, द्वारा कराते है और इस प्रकार अपने बिलो को बडे क्षेत्र मे चलने के योग्य बनाते है।

विनिमय पत्र व्यवसायी को बिना नकद भुगतान के वस्तुओं को क्रय करने के योग्य बनाता है। इसके पहिले कि बिल परिपक्व (mature) हो, वस्तुओं को बेच कर तथा द्रव्य पाकर दायित्व को पूरा किया जा सकता है। अतएव बिना अधिक पूंजी के उपयोग के व्यापार किया जा सकता है। दूसरी ओर यह विधि निर्यातकर्ता (विक्रेता) को, बिल के पृष्ठांकन के, यदि वह द्रव्य तुरन्त चाहता है, योग्य बनाता है। दूसरे, विनिमय बिल देशों के बीच बहुमूल्य धातु के परिवहन व्यय को बचाता है। अतएव यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान को सस्ती तथा सरल विधि है। तीसरे, विनिमय बिल हर निर्यातकर्त्ता को अपने देश के द्रव्य मे निर्यात का भुगतान पाने के योग्य बनाता है। विदेशी व्यापार के वित्त पोषण मे यह बात बहुत महत्वपूर्ण है। चौथे, तरल निधि (liquid funds) के विनियोग (investment) के लिए विनिमय बिल एक अत्यन्त साधारण विधि है। यदि वह द्रव्य चाहता है, तो उसे वह सर्दव किसी भी बैंक से भुना सकता है। यह विधि बैंक द्वारा साधारणतया अपनी संचित तरल निधि को नकद के रूप मे रखने के लिए प्रयोग मे लाई जाती है। बिल को केन्द्रीय बैंक से भुना सकते है।

हुण्डी—भारतवर्ष में बहुत समय से विनिमय बिल का प्रयोग होता रहा है। इसको हुंडी कहते है। हुंडी आन्तरिक विनिमय बिल होता है। यह आन्तरिक व्यापार की अर्थ-व्यवस्था तथा द्रव्य के भुगतान मे सहायता देता है। हुंडी दो प्रकार की होती है (i) दर्शनी हुंडी—जो करीब-करीब चेक की तरह होती है और उसको तुरन्त मांगने पर भुगतान करना होता है। (ii) मुद्दती हुंडी—जिसका एक निश्चित समय के पश्चात् भुगतान करना होता है। यह विनिमय बिल की भांति होती है।

चेक—चेक बैंक पर ग्राहक, जिसने उस बैंक मे द्रव्य जमा किया हो, मागने पर चेक के ले जाने वाले अथवा उसके आदेश पर, निर्दिष्ट किया हुआ भुगतान करने की आज्ञा देता है। पहले प्रकार के चेक को बेयरर चेक और दूसरे प्रकार को आर्डर चेक कहते है। जब चेक क्रॉस होता है (अर्थात् उसके एक किनारे पर दो समान्तर रेखाएँ खीचकर) तो उसका भुगतान उसके खाते में किया जाता है। ऐसा चेक प्रत्यक्ष रूप से भुनाया नही जा सकता। बेयरर चेक क्रॉस नही होता और इसलिए खो जाने पर उसको कोई भी भुना सकता है। यदि यह "आर्डर चेक" है, तो सही व्यक्ति को भुगतान देने का उत्तरदायित्व बैंक पर होता है।

चेक का लाभ यह है कि यह द्रव्य की बचत करता है। सभी बैंक चेक की चलन कर सकते हैं, जबकि बैंक नोट का चलन केन्द्रीय बैंक द्वारा ही हो सकता है। चेक किसी भी मूल्य के बनाये जा सकते है। उदाहरणार्थ, १०० रु० १० आ० ६ पा०। चेक का उपयोग क्लियरिंग हाउस (Clearing House) की व्यवस्था से बहुत सरल हो गया है। इसका वर्णन नीचे किया जाता है।

ड्राफ्ट (Draft)—एक बैंक द्वारा दूसरे पर धनादेश की आज्ञा को ड्राफ्ट कहते हैं। यह अपने देश के बैंक के लिए अथवा विदेशी बैंक के लिए जिसका भुगतान विदेशी मुद्रा में होना है, हो सकता है।

३ क्लियरिंग हाउस (Clearing House)—यह ऐसी सस्था है, जिसमें अनेक बैंको पर दिये गये चेको का एक दूसरे के विपरीत रद्द (cancellation) किया जाता है तथा केवल शेष (balance) का भुगतान होता है। क्लियरिंग हाउस का कार्य-सचालन नीचे दिये हुए उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिए कि कुल ४ बैंक अ, ब, स, द है जिनका हिसाब एक क्लियरिंग हाउस द्वारा किया जा रहा है। हर एक बैंक अपना एजेंट चेको की निकासी (clearance) के लिए भेजता है।

यह भी मान लीजिए कि किसी समय इन बैंको के परस्पर क्लेम्स इस प्रकार हैं—

बैंक अ—बैंक ब के नाम चेक देता है	= ५००० रु०
बैंक स के ,, ,, ,,	= ४००० रु०
बैंक द के ,, ,, ,,	= २००० रु०
योग	= ११००० रु०
बैंक ब—बैंक स के	= ५००० रु०
,, द ,,	= १००० रु०
,, अ ,,	= ४००० रु०
योग	= १०००० रु
बैंक स—बैंक द के	= ५००० रु
,, अ ,,	= ६००० रु
,, ब ,,	= ३००० रु
योग	= १४००० रु

बैंक द—बैंक अ के = ३००० रु
„ ब „ = १००० „
„ स „ = ५००० „
योग = ९००० „

सभी चेको के द्रव्य का जोड जिसका हिसाब तै करना है, ४४००० रु है। यदि प्रत्येक बैंक के समाकलन तथा विकलन (Credit and Debit) को देखे, तो स्थिति इस प्रकार होगी —

बैंक		(Credit) समाकलन	(Debit) विकलन	शेष (Balance) + या —
अ	—	११००० रु	१३००० रु	—२००० रु.
ब	—	१०००० „	९००० „	+१००० „
स	—	१४००० „	१४००० „	× निल
द	—	९००० „	८००० „	+१००० „

अतएव यदि बैंक अ, बैंक ब को १००० रु. और द को १००० रु दे दे तो सारा हिसाब ठीक हो जायगा। ४०००) रु. का हिसाब केवल २०००) रु. के दे देने से हो जाता है। यह भी भुगतान नकद नही किये जाते बल्कि केन्द्रीय बैंक को चेक देकर किए जाते है। यह लाभ क्लियरिंग हाउस की व्यवस्था द्वारा होता है।

भारतवर्ष मे क्लियरिंग हाउस की सुविधाए कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि में राज्य बैंक के कार्यालयो में मिलती है।

इस पर भी चेक सीमित मनुष्यो के बीच, जो एक दूसरे को अच्छी तरह जानते है, चल सकते है। चेक विधिमान्य मुद्रा (Legal Tender) नही होते।

४. साख के विस्तार के कारण (Factors on which the Volume of Credit depends)—साख का आशय उधार लेने तथा उधार देने की क्रिया से होता है। कभी-कभी उधार लेने तथा देने की क्रियाए बहुत बढी होती है। यह साख के विस्तार का समय होता है। पर कभी कभी ऋणदाताओ तथा ऋण लेने वालो की कमी हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, साख की कमी हो जाती है। अतएव साख का विस्तार अथवा उसकी कमी ऋणदाताओ की देने तथा ऋणी के लेने की इच्छा पर निर्भर करती है। यह इच्छा बाह्य स्थितियो पर आधारित रहती है, जिनमे से मुख्यत यह है —

(i) व्यापार की दशाएं (Trade Conditions)—यदि व्यापार अच्छा है, तो ऋणी उधार लेने को उत्सुक होते है। ऋणदाता उधार देने के प्रतिकूल नही होते, क्योकि बढे-चढे व्यापार के समय व्याज के दर ऊचे होते है। वह दिये हुए द्रव्य के लौटने पर निश्चिन्त होते है क्योकि ऐसे समय में सभी को लाभ होता है। पर मदी के समय साख की कमी हो जाती है। पूजी भी कम हो जाती है। व्यापारी

१. (+) का चिन्ह अपने पक्ष मे है, और (—) का विरोध में।

विनियोग की जोखिम उठाने को तैयार नही होते। यद्यपि सभी बैंक ऋण देना चाहे, तो भी उद्योगी उधार नहीं लेना चाहते। आप घोडे को पानी के पास तक ले जा सकते है, पर उसको पानी पीने को बाध्य नही कर सकते।

(ii) राजनीतिक दशाए (Political Conditions)—व्यापार आधुनिक समय में राजनीतिक घटनाओ से सचेत रहता है। जब युद्ध के बादल छाये होते है तो बहुत कम नये व्यवसाय करने का साहस करते है। पजाब की वर्तमान स्थितिया व्यवसायो को बढाने वाली नही है। प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ का डरा देने वाला व्याख्यान पूजी को व्यवसाय में लगाने से हटा देगा। शान्ति तथा सुव्यवस्था साख को बढाती है।

(iii) सट्टेबाजी (Speculative activity)—साख का विस्तार तथा सट्टेबाजी की क्रियाये साथ-साथ चलती है। जब सट्टे का कार्य अधिक होता है तो साख का विस्तार होता है और जब सटोरिये हानि उठाने लगते है, तो साख की कमी होती है। परन्तु साख केवल सट्टे का परिणाम ही नही वरन् उसका कारण भी है।

(iv) मुद्रा की स्थिति (Currency Conditions)—साख के विस्तार के लिये मुद्रा की उत्तम प्रणाली अत्यन्त सहायक होती है। जब मुद्रा की दशाये ठीक नहीं होती, उदाहरणार्थ मुद्रा की मिलावट (debasement) अथवा अवमूल्यन (depreciation) हो जाता है, तो साख की कमी हो जाती है। मुद्रा साख का यत्र है और जब स्वय यन्त्र बुरे हो, तो साख नही बढ सकती। उसका कम होना स्वाभाविक होगा।

५ साख के कार्य तथा उसकी उपयोगिता (Utility and Functions of Credit)—ऊपर के दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि साख देश की आर्थिक उन्नति के लिये बहुत से उपयोगी कार्य करती है। अत —

(i) यह धातु-द्रव्य के उपयोग में बचत करती है। साख-पत्र सिक्को की जगह ले लेते है और इस प्रकार बहुत से अनावश्यक व्यय मे बचत करते है।

(ii) यह व्यवसायियो को अधिक ऋण देकर उद्योगो के विकास में सहयोग देती है।

(iii) यह पूजी की उत्पादन-शक्ति को बढाती है। अनुपयोगी द्रव्य बैंक द्वारा उन लोगों को प्राप्त हो जाता है, जो उसका अच्छे ढग से उपयोग कर सकते है।

(iv) साख द्वारा बैंक थोडी सी रकम नकद में रखकर अधिक उधार दे सकते है।

(v) साख-पत्र मुख्यत विनिमय बिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान करने में सहायक होते है। बिना सिक्को तथा कोष के हस्तातरण के कितना भी भुगतान किया जा सकता है।

६ साख की बुराइयाँ (Dangers of Credit)—हम यह ऊपर बता चुके है कि साख व्यापारी वर्ग के लिए एक बहुत बडा उपहार है। परन्तु इसकी कुछ बुराइया भी है। साख अत्यन्त हानिकारक तथा खतरनाक साधन होता है और इसलिए इसका उपयोग बडी सावधानी के साथ किया जाता है। इसकी निम्नलिखित कुछ बुराइया है —

(i) साख-स्फीति (Over-issue of Credit)--मुद्रा अधिकारी स्फीति का आश्रय ले सकते है, अथवा बैंक उदारता से उधार दे सकते है। ऐसी दशा में कीमतो का बढना शुरू हो जायगा। व्यवसाय मे अनिश्चितता आ जायगी। आर्थिक उन्नति के लिए अनिश्चितता का तत्त्व शत्रु के समान होता है। कीमतो की अनुचित वृद्धि से, जो साख के अत्यधिक प्रसार के कारण होती है, लोग अपने को धनी समझने लगते है और विलासिताओ पर धन व्यय करने लगते हैं। आधिक्य का उत्तरदायित्व साख की सबसे बडी हानि है।

(ii) साख से लोग अमितव्ययी हो जाते है। एक मनुष्य उधार लिये हुए धन को उतनी सावधानी से व्यय नही करता, जितना कि अपने कमाये धन को करता है। लोग अनुचित तथा प्रमत्त जोखिम उठाते है। अतएव साख क्षय को प्रोत्साहन देती है।

(iii) साख ऐसे व्यवसायो की, जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होती, सहारा देने का साधन हो सकती है। साथ ही साथ उसके सहारे के विना उनका विनाश भी हो सकता है। इस बुरे लक्षण से वे कभी दूर नही की जा सकती है।

(iv) साख व्यक्तियो तथा सस्थाओ के पास उनकी इच्छानुसार व्यय करने के लिए बहुत-सी पूजी का प्रवन्ध कर देती हैं। इस प्रकार बहुत बडी-बडी फर्मो का जन्म होता है। और उनमें उपभोक्ताओ व श्रमिको के शोषण तथा व्यापारिक लेन-देन मे अनुचित रीतियो के प्रयोग का भय होता है।

७ साख तथा कीमत (Credit and Price)--साख कीमत पर किस प्रकार प्रभाव डालती है? क्या प्रभाव उसी प्रकार होता है जैसा कि साधारण मुद्रा का होता है? यह विवाद-सम्बन्धी विषय है। मिल तथा उसके कुछ अनुयायियो ने इस पर जोर दिया कि साख कीमत पर उसी प्रकार प्रभाव डालती हैं जिस प्रकार नकदी प्रभाव डालती है,, क्योंकि साख नकदी की ही तरह मुद्रा-क्रय-शक्ति रखती है। दूसरी ओर अमरीकी अर्थशास्त्री वाकर (Walker), लायलिन (Laughlin) आदि का मत था कि साख का कीमत पर कोई प्रभाव नही होता। उनका यह विश्वास था कि यद्यपि साख में क्रय-शक्ति होती है पर उसमे निस्तारण-शक्ति (liquidating power) नही होती। विक्रय को पूरा होने के लिए अन्त मे नकद भुगतान करना पडता है। उधार लेने के पश्चात् उनका भुगतान नकदी मे ही करना पडता है।

यह दोनो विचार दो अलग-अलग सीमाओ पर है, अतएव पूर्ण सत्य नहीं है। सत्यता तो इन दोनो के बीच में है। यदि साख-पत्र नकद द्रव्य के स्थानापन्न (substitute) है तो उनका प्रभाव कीमत पर नकदी के समान होगा। वास्तव मे लोगो का विश्वास साख-पत्र के बजाय नकद द्रव्य पर अधिक होता है। अतएव बैंक सदव अपने पास माग को पूरा करने के लिए कुछ अनुपात मे नकद द्रव्य रखते है। जब साख का विस्तार होता है तो परिचालन मे सचित नकदी का काम करने के लिए कुछ द्रव्य वापस कर लिया जाता है। इसलिए कीमत उतनी नहीं बढती जितनी कि नकद के वापस न करने पर बढती है। परन्तु विस्तृत साख की मात्रा की अपेक्षा बहुत कम मात्रा मे नकद द्रव्य वापस किया जाता है। साख की यह स्फीति यदि ठीक तरह से रोकी

न जाय तो मूल्य मे वृद्धि करती है, और यही साख से भय है, अर्थात् उसका अत्यधिक विस्तार ।

८ साख तथा पूजी (Credit and Capital) ---साख को गलती से पूजी मान लिया जाता है । यह वहुधा कहा जाता है कि साख-पत्र, चेक, विनिमय पत्र आदि व्यावहारिक अर्थ में द्रव्य के समान है तथा उनका व्यापार में प्रयोग होता है । अतएव प्रभाव के विचार से वे पूजी है । परन्तु ऐसा नही है । यह साख-पत्र स्वय द्रव्य नही है । वे केवल द्रव्य का स्थान पूर्ण करते है । यदि मैं किसी को चेक दू तो मैं उसको द्रव्य नकद मे नही देता । मै केवल उसे वैक में रखे हुए द्रव्य को पाने का अधिकार देता हूँ । अतएव साख पूजी नही है । यह केवल व्यवसायी को पूजी की वस्तुए जैसे कल तथा यत्र इत्यादि पर नियन्त्रण रखने के योग्य वनाता है ।

साख पूजी का निर्माण भी नही करती । यह केवल पूजी को एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास कर देती है । यह हस्तातरण समुदाय के भले के ही लिए होना है । साख द्वारा धन ऐसे मनुष्यो के पास से, जिनके पास यह वेकार होता है, ऐसे मनुष्यो के पास हस्तातरित हो जाता है, जो उसका अच्छा उपयोग कर सकते है । इस प्रकार साख निश्चय ही उत्पादन में सहयोग देती है परन्तु यह एक उत्पादन साधन नही है। यह केवल वैसे साधनो को इकट्ठा करती है और उनका ठीक से प्रयोग करती है । उदाहरणार्थ अ व को ५०००) रु० ऋण देता है । अ यह सोच सकता है कि वह ५०००) रु० का मालिक है तथा व यह सोच सकता है कि उसके पास ५०००) रु है । परन्तु यह ५०००) रु १००००) रु न हो जायेंगे । वहा धन की केवल एक मात्रा ५०००) रु है । साख ने ५०००) रु की अन्य मात्रा का निर्माण नही किया परन्तु इसने अ से व को ५०००) रुपये का हस्तातरण किया है । अतएव साख को एक उत्पादन का स्वतन्त्र साधन नही कहा जा सकता । **अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि साख पूजी नहीं है और न यह पूजी का निर्माण करती ह । यह केवल पूजी के हस्तातरण का एक साधन है ।**

निर्देश पुस्तके

Balogh, T —Financial Organisation
Sayers, R S —Modern Banking

अध्याय ३६

बैंक

(BANKS)

१. बैंको का विकास (Evolution of Banks)—बैंक वास्तव मे एक ऐसी संस्था है जो द्रव्य का व्यापार करती है। स्पष्ट रूप में बैंक उन लोगो से आधिक्य द्रव्य (surplus money) खींचते है, जो उस समय उसे प्रयोग मे न ला रहे हो और जो लोग उसे उत्पादक-कार्यो में लगा सकते है, उन्हें ऋण देते है। आधुनिक बैंको ने छोटी स्थिति से विशाल उन्नति की है। प्राचीन साहूकार सुनार थे। योरोप मे वे द्रव्य का अदल-बदल करते थे। ये एक प्रकार के द्रव्य को दूसरे प्रकार के द्रव्य के साथ बदलते थे क्योंकि वे मूल्यवान् धातुओ का व्यापार करते थे, उनको अपने कोष की रक्षा करने की व्यवस्था करनी पडती थी। धीरे-धीरे लोग, जिनके पास द्रव्य या सोना अधिक होता था, अपनी मूल्यवान् धातुओ को ऐसे व्यक्तियो के पास जमा करने लगे। यह आदि रूप मे निक्षेप बैंकिंग का प्रारम्भ था। वे सुनार धातुओ के जमा करने पर रसीदें दिया करते थे। चूकि हरेक व्यक्ति उनकी ईमानदारी पर विश्वास करता था, इसलिए समय बीतने पर अनुभव होने से ये रसीदें वगैर पहले सोने में परिवर्तन किये हुए एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास लेन-देन का भुगतान करने के लिए प्रयोग होने लगी। ये रसीदें ही आदि बैंक के नोट थे।

उन सुनारो ने शीघ्र ही अनुभव किया कि जमा करने वाले जमा की हुई धातु के केवल एक छोटे से भाग की ही माग करते थे। इसलिए उन्होने लोगो को, जमा (deposits) का एक भाग उधार देकर लाभ उठाना शुरु किया। उधार देते समय वे केवल सोना ही उधार नही देते थे, बल्कि रसीदें भी देते थे, जो लोगो मे इस तरह चलती थी जैसे कि सोना। इस प्रकार बैंक जमा की हुई धातु से कई गुना अधिक ऐसी रसीदे (नोट) चालू कर देते थे। क्राउथर[1] का कथन है कि आधुनिक बैंको के तीन पुर्खे थे: व्यापारी, साहूकार तथा सुनार। आधुनिक बैंको में इन तीनो का कोई न कोई अंश पाया जाता है। "कहा जाता है कि द्रव्य के दो गुण है। यह चपटा (flat) है, जिससे इसे जमा किया जा सकता है (piled up), तथा गोल होने के कारण परिचालन मे आ सकता है। साहूकार की मौजूदा नस्ल इस प्रकार के चपटे द्रव्य से सम्बन्धित है, अर्थात् जमा धन से, बचत से। सुनारो की नस्ल इस प्रकार के गोल द्रव्य से सम्बन्धित है अर्थात् परिचालन मुद्रा, नकद से।

क्रमश, बैंकिंग कारोबार व्यक्तियो से संयुक्त-पूजी संस्थाओं (joint stock Concerns) के पास चला गया। कुछ समय के बाद राज्य ने हर बैंक को नोट छापने

---

1 Crowther, G.—An Outline of Money, 1950 pp 24-25

की स्वतन्त्रता देने में खतरे का अनुभव किया। धीरे-धीरे नोट छपने का काम साधारण बैंको से ले लिया गया और विशेष नियमो के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंको को सौंप दिया गया।

इसी बीच बैंको ने क्रय-शक्ति के निर्माण करने की नई विधिया निकाली। उन्होंने अपने ग्राहको को उनके जमा पर चेक काटने की स्वतन्त्रता दे दी। यह जमा अवश्य ही वह धन था जो ग्राहको द्वारा वास्तव में "जमा किया गया था"। ये जमा बैंक द्वारा अधिविकर्षण की सुविधा देकर या जमानत पर ऋण देकर उत्पन्न किये जा सकते थे।

जब तक कि बैंक नकद रिजर्व (cash reserves) के सुरक्षित अनुपात पर विश्वास रख सकता था, उस समय तक वह ऋण या अधिविकर्षण की सुविधा देकर साख को एक ऊंचे शिखर तक पहुचा सकता था।

२ बैंको के भेद (Kinds of Banks)—बैंको मे उनके विभिन्न कार्यों के क्षेत्रो से सम्बन्धित विशेष उन्नति हुई है। मुख्य प्रकार के बैंक नीचे दिये जाते है —

(i) **व्यवसायी बैंक** (Commercial Banks)—ये बैंक विशेषकर आन्तरिक व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करने मे लगे हुए है तथा और भी साधारण साहूकारा व्यवसाय, जैसे कि जमा रखना, ऋण देना और हुन्डी का लेन-देन करना।

(ii) **औद्योगिक बैंक** (Industrial Banks)—ये संस्थाए उद्योग-धन्धो को वित्तीय सहायता देने में लगी होती है। जो व्यक्ति उद्यमी का कार्य करते है, उनको ये दीर्घ काल के लिये ऋण देती है।

(iii) **कृषि बैंक** (Agricultural Banks)—इस प्रकार के बैंक दीर्घकाल और अल्पकाल के लिये खेती के लिये ऋण देते है। दीर्घकालीन पूजी की, भूमि प्राप्त करने और उसकी उन्नति करने के लिये तथा भारी मशीनें खरीदने के लिये आवश्यकता होती है। अल्पकालीन पूजी की आवश्यकता बीज, खाद, मजदूरी आदि के चालू व्यय के लिए होती है। भारत मे इस प्रकार के बैंको ने अल्पकालीन उधार देने के लिए सहकारी समितियो (co-operative societies) का रूप ग्रहण किया है और दीर्घकालीन उधार के लिए भूमि-बन्धक बैंको (Land Mortgage Banks) का।

(iv) **विनिमय बैंक** (Exchange Banks)—इन बैंको का विशेष काम विनिमय पत्र, ड्राफ्ट, तार द्वारा सचार के रूप मे विदेशी मुद्रा, वल्कि विदेशी मुद्रा के स्वत्व का क्रय और विक्रय करना है।

(vi) **सेविंग्स बैंक** (Savings Banks)—ये संस्थाए साधारणतया थोडी पूजी के व्यक्तियो को धन सचित करने मे सुविधा देती है। भारत मे डाकखाने इन कामो को करते है। हाँ, दूसरे बैंक भी जमा करते है।

(vii) **केन्द्रीय बैंक** (Central Bank)—किसी देश की बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है। वास्तव मे यह प्रत्यक्ष रूप से और परोक्ष रूप मे अन्य समस्त बैंको की कार्रवाइयो का नियन्त्रण करता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये ऊपर दिये हुए बैंक अपने कार्यो के हिसाब से एक दूसरे पर छाये रहते है। उनके नामो से, केवल उनके आवश्यक कार्यो का जिनमें

उन्होंने विशिष्टता प्राप्त की है, आभास होता है। सामान्य साहूकारे का कार्य कुछ-न-कुछ सभी बैंकों में होता है।

३ साधारण बैंकिंग कार्य (General Banking Functions)—स्पष्ट रूप मे तीन ऐसे कार्य है जो कि बैंक (केन्द्रीय बैंको के अतिरिक्त) करते है (क) जमा रखना (holding deposits), (ख) ऋण देना (advancing loans), तथा (ग) पूर्व प्रापण अधिपत्र या हुडियो का भुनाना (discounting bills)।

(क) बचत को जमा रखना (Holding Deposits)—यह कार्य महत्त्व-पूर्ण है क्योकि बैंक विशेषकर उन जमा की रकमो पर निर्भर करते है जिनको कि जनता ने उनके पास जमा कर रखा है। निक्षेप तीन प्रकार के है —

(i) चालू खाते (Current Deposits) मे जमा की हुई रकमो पर बैंक साधारणत कोई व्याज नही देता। वे चेक के द्वारा एक अश मे या पूर्णरूप से बैंक से किसी समय भी निकाले जा सकते है। (ii) मियादी जमा (Fixed Deposits) इसलिए ऐसे कहे जाते है क्योकि वे एक निर्धारित समय के लिए बैंक के पास रहते है जिसके व्यतीत होने के पहले वे बिना उचित सूचना दिये निकाले नही जा सकते। ऐसी जमा की रकमो पर बैंक व्याज देता है। (iii) सेविंग्स के खाते मे जमा की हुई रकमे सप्ताह मे एक या दो बार निकाली जा सकती है। वास्तव में किसी विशेष समय पर केवल एक छोटा भाग ही निकाला जाता है। परन्तु क्योकि ग्राहक जमा वापिस ले सकते है और इसलिए बैंक को अपनी आस्तियाँ (assets) के एक भाग को नकदी मे रखना पडता है। बाकी सब विविध कार्य के लिए उधार दिया जा सकता है। अब हम बैंको के दूसरे कार्यों पर आते है।

(ख) ऋण देना (Advancing Loans)—इस दिशा मे बैंक को सबसे अधिक उत्तरदायित्व लेना पडता है। बैंक ऋण देकर लाभ उठाता है। परन्तु बैंक दूसरे व्यक्तियो के धन से व्यापार करता है, जो किसी भी समय निकाला जा सकता है। उधार देने और बचत को जमा रखने मे अति विचार-निर्णय की आवश्यकता रहती है।

यह ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि बैंक केवल उसी रकम को उधार नही देता जो कि वास्तव मे ग्राहक द्वारा जमा की गई है। बैंक स्वय जमा की उत्पत्ति करता है और इस प्रकार वह उधार दी हुई रकम को जमा की हुई रकम से कही अधिक बना लेता है। अपने को सतुष्ट करके वह कार्य जिसके लिए ऋण की आवश्यकता है और आर्थिक दृष्टि से उचित है, और जमानत आदि के द्वारा पूर्व सचेत होकर बैंक अपने ग्राहक को चेक देने का अधिकार दे देता है। सम्बन्धित व्यापारी का ऋण इस प्रकार उसके खाते मे जमा हो जाता है। यदि ग्राहक एक चेक या कई चेको द्वारा इस रकम को निकाल लेता है, तो इसका भुगतान किसी न किसी को कर दिया जाता है। यह चेक उस देश या प्रदेश के उसी बैंक या दूसरे बैंको के पास फिर आ जाते है। वह उन व्यक्तियो के खाते में जिनको कि भुगतान किए गए थे, जमा के रूप में आ जाते है। इसका अर्थ हुआ 'ऋण जमा को उत्पन्न करते है।" वर्तमान काल मे रोकड़ से जमा साख के जमा मे परिवर्तित हो गये है।

(ग) **हुन्डियों का भुनाना** (Discounting of Bills)—व्यावहारिक दृष्टि से हुन्डियो को भुनाने के पूर्व प्रापण का अर्थ है अल्प-काल के लिए उधार देना । उदाहरण के लिए, व्यापारी, जो व्यापार-कार्य में बडी रकम नही फँसाना चाहता, अपने ऋणी पर हुन्डी कर सकता है और जब वह उसके ऋणी द्वारा या उसकी ओर से स्वीकृत हो जाय तब वह अपने बैंकर द्वारा उसे भुना सकता है। इसमे व्यापारी को व्याज और बैंक के कमीशन को निकालकर बची हुई रकम तुरन्त मिल जाती है। हुन्डिया साधारणतया तीन महीने के लिए होती है। और जब वे पूरी हो जाती है तो बैंक उनके अंकित मूल्य का भुगतान कर देता है। इस प्रकार बैंक व्यापार को सुविधा देने के अतिरिक्त लाभ भी उठाता है। ये बिल अल्पकाल में पूरे हो जाते है और आवश्यकता पडने पर उनका पूर्व प्रापण हो सकता है। यह बैंक की सम्पत्ति (assets) के एक भाग को द्रव्य अवस्था मे रखने की एक साधारण युक्ति है। बैंकर हुन्डियो के लेन देन को एक अति उत्तम विनियोग (investment) समझते है। यही कारण है कि कहा जाता है बैंक का उत्तम सचालक एक बिल या हुन्डी (bill) और बधक (mortgage) के अतर को जानता है।

बैंको के मुख्य कार्यों का सकलन एक वाक्य में किया जा सकता है।

बैंक ऋण देने के लिये उधार लेते है—वे जमा के रूप मे उधार लेते है।(क) मियादी जमा (Fixed Deposits), (ख) सेविंग बैंक जमा (Savings Bank Deposits), तथा (ग) चालू खाते मे जमा (Current Deposits)। **बैंक तीन प्रकार से उधार देते है**

(क) विवृत लेखा या अधिविकर्षण पर (On Open Account or Overdraft)

(ख) रोकड साख के आधार पर ऋण (Loans on Cash Credit Basis)

(ग) बिल या हुन्डियो का भुनाना (Discounting of Bills)

बैंक थोडे समय के लिए उधार लेते है और अधिक समय के लिये उधार देते है। उनके दायित्व (देयधन) उनके कर्ज की अपेक्षा शीघ्र पूरे हो जाते है। उनका दायित्व द्रव्य होता है तथा आस्तियाँ (आदेय) कुछ द्रव्य होती है और कुछ द्रव्य के रूप में शीघ्र परिवर्तित होने वाला धन होता है। अतएव अपने आदेय पर आने वाला व्याज दायित्व पर देने वाले व्याज से अधिक होता है। "जितना ही द्रव्य-तुल्य द्रव्य के समीप होगा उतनी ही उसमे आमदनी कम होगी और जितना ही द्रव्य से अधिक दूर होगा उतनी ही उसमे आमदनी अधिक होगी।[1]

उपर्युक्त विशेष कार्यों के अतिरिक्त बैंक जनता की कई अन्य सेवाए भी करते है। चेक के प्रयोग से वे धन को एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास पहुचाने में सहायता देते है। कुछ बैंक अपने ग्राहको (clients) की ओर से बिल स्वीकार कर लेते है और इस प्रकार उनको अधिक सुगमतापूर्वक भुनाने

---

1 Crowther, G—An Outline of Money, 1950, P 66

योग्य बना देते हैं। वे अपने ग्राहकों को विनियोग सम्बन्धी सूचना और आदेश देते हैं। इसके अतिरिक्त वे और अनेक प्रकार की सेवाएं करते हैं, जैसे मूल्यवान् वस्तुओं और सिक्योरिटियों को सुरक्षित रखना, अपने ग्राहकों की ओर से एक एजेंट की भांति कार्य करना, उनकी ओर से हिस्सा-पत्रों और ऋण-पत्रों का क्रय-विक्रय करना, क्लब और धार्मिक संस्थाओं को नियमावधि चंदा आदि।

४ साख का उत्पादन और उसकी सीमाएँ (Creation of Credit and its Limitations)—साख का निर्माण आधुनिक बैंक के उच्चतम कार्यों में से एक है। कभी-कभी बैंक साख के निर्माण का एक कारखाना कहा जाता है। हमें देखना चाहिए कि साख निर्माण या उत्पादन का क्या अर्थ है ? बैंकों द्वारा इसका किस प्रकार निर्माण होता है और अंत में यह देखना है कि क्या बैंकों की साख निर्माण की शक्ति पूर्ण या असीमित है या कुछ सीमाओं के अन्तर्गत है ?

साख-उत्पत्ति क्या है ? (What is Credit Creation ?)—यह एक प्रत्यक्ष रहस्य है कि बैंक ग्राहकों की मांगों की पूर्ति करने के लिये जमा के हिसाब से शत-प्रतिशत सुरक्षित कोष (reserve) नहीं रखते। बैंक कोई सामान रखने की जगह (cloak room) नहीं हैं, जहां कि आप अपने नोट (Currency Notes) या मुद्रायें रख सकें और जब चाहें तब उन्हीं नोटों (Currency Notes) या मुद्राओं को वापस ले लें। सामान्यतः यह समझा जाता है कि बैंक में आया हुआ धन दूसरों को देने के लिए है। एक जमा करने वाले को, बैंक की केवल इस प्रतिज्ञा पर कि वह मांगने पर भुगतान कर देगा, संतोष करना पड़ता है। बैंक यह कार्य बहुत ही छोटे सुरक्षित कोष द्वारा कर लेते हैं क्योंकि सब ग्राहक अपना धन एक साथ नहीं निकालने आते। कुछ निकालते हैं, तो कुछ जमा करते हैं। एक बैंक में यह एक साधारण दृश्य होता है। इस प्रकार बैंक एक छोटी रोकड़ सञ्चिति (cash reserve) के द्वारा साख का बहुत विशाल भवन निर्माण करने में सफल होता है। बैंक बगैर रोकड़ दिये धन उधार देने में और उस पर व्याज लेने में समर्थ होता है और जैसा कि हमने ऊपर देखा है, बैंक का ऋण एक जमा का निर्माण करता है। वह उधार लेने वाले के लिए साख का निर्माण करता है।

इसी प्रकार बैंक सिक्योरिटियां खरीदता है और विक्रेता को अपने चेक द्वारा ही भुगतान करता है, जो रोकड़ नहीं होती, यह रोकड़ देने की केवल एक प्रतिज्ञा होती है। चेक किसी बैंक में जमा कर दिया जाता है और सिक्योरिटी के विक्रेता के लिए साख की उत्पत्ति कर दी जाती है। इसको साख की उत्पत्ति कहते हैं। बेनहम (Benham) के शब्दों में साख उत्पत्ति का संकेत इस व्यवस्था से है : "बैंक व्याज ले सकता है, केवल ग्राहकों को अपने लेखा से अधिक धन निकालने की अनुमति देकर या सिक्योरिटी खरीद-कर और अपने ही चेक से उनका भुगतान करके, जिससे कि बैंक में जमा का योग बढ़ेगा।"[1]

---

1 Benham, F—Economics 1940 p 354

साख की उत्पत्ति कैसे होती है ? (How is Credit Created ?)—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, दो ऐसी रीतियां हैं जिनके अनुसार बैंक साख उत्पत्ति करता है। (i) रोकड साख (Cash Credit) के आधार पर ऋण देकर या जमा से अधिक रकम उधार देने (Overdraft) की व्यवस्था करके, और

(ii) सिक्योरिटियाँ खरीदकर उनका भुगतान अपने ही चेक द्वारा करके।

इन दोनो अवस्थाओ में जमा की उत्पत्ति होती है या ऋणी के लिए साख की उत्पत्ति होती है और बैंक की साख किसी निश्चित लेन-देन मे लगा दी जाती है। बहुत सी थोडी रोकड सचिति (cash reserve) लेन-देन के दायित्व को पूरा करने के लिये बैंक मे रखी जाती है। इस प्रकार उत्पन्न की हुई साख एक बहुत बडी रकम के बराबर हो जाती है।

अब हम वास्तविक विधि का निरीक्षण करेंगे। मान लीजिये कोई ग्राहक किसी बैंक में १०००) रुपये जमा करता है। बैंक को उसे ब्याज देना पडेगा, इसलिये बैंक इस रकम को किसी सुरक्षित और लाभदायक विनियोग (investment) में लगाने का प्रयत्न करेगा। उसे धन किसी न किसी को उधार देना पडेगा। परन्तु यह रकम वास्तव में ऋणी को नही दी जाती, बैंक इसे लेन-देन के दायित्व अर्थात् उन जमा के भुगतान करने के लिए, जो रोकड चाहते है और उनके लिये जो चेक लिखते है, अपने पास रख छोडते है। बैंकर का अनुभव उन्हें बतलाता है कि इस काम के लिए रोकड-सचिति का सपूर्ण दायित्व या केवल एक विशेष भाग रखने की ही आवश्यकता होती है। इग्लैंड जैसे देशो मे, वह लगभग १० प्रतिशत रखते है। भारत जैसे देशो में, जहाँ बैंकिंग अभी पूरी तरह विकसित नही हुई है, दायित्व मे रोकड का अनुपात बहुत ऊचा है। मान लीजिये, वह बैंक, जिसमे किसी जमा करने वाले ने, १०००) रुपये जमा किये है, जमा करने वालो की माग पूरी करने के लिये २०% 'रोकड कोष' रखना है। इसका अर्थ है कि जैसे ही बैंक के पास १०००) रुपये आते है वैसे ही वह ५०००) रुपये तक अग्रिम ऋण देने के लिये तैयार हो जायगा (सचिति का केवल पाचवा भाग रखा जाता है) इसलिए जब कोई व्यापारी बैंक से ५०००) रुपये के ऋण की माग करता है, तो वह यह विश्वास कर सकता है कि उसको इस सीमा तक ऋण मिल जायगा बशर्ते कि उसकी साख ठीक है। हालाकि बैंक के पास केवल १०००) रुपये नकद है, फिर भी वह ५०००) रुपये उधार दे देता है। इस प्रकार वह साख क्षेत्र मे आ जाता है। ऋणी को साख नकद के रूप में नही दी जाती। केवल उसके नाम मे एक खाता खोल दिया जाता है और वह रकम उसके खाते में जमा कर दी जाती है। उसको केवल एक चेक-पुस्तक दे दी जाती है अर्थात् उसको इच्छानुसार किसी भी समय चेक द्वारा नकद लेने का अधिकार दे दिया जाता है। जब भी वह नकद बैंक से निकालता है, तो वह किसी दूसरे बैंक में भी जमा किया जा सकता है, क्योंकि व्यापारी लोग बक्स मे बन्द करके रखने के लिये नही, बल्कि अपना व्यापार चलाने के लिये और अपने साहूकारो को भुगतान करने के लिये ऋण लेते है। जब व्यापारी अपने साहूकारो को भुगतान करने के लिये बैंक को चेक लिखता है, तो ये चेक उन साहूकारो

के द्वारा उनके बैंकों में पहुँच जाते हैं और वहाँ वह रकम उनके बैंक क्लियरिंग पद्धति के द्वारा पूरा कर सकते हैं। इस प्रकार एक बैंक १०००) रुपए की नकद सचिति पर ५०००) की साख की उत्पत्ति करने में सफल होता है।

परन्तु साख उत्पत्ति की क्रिया यहाँ पर ही समाप्त नहीं होती। बैंक सामान्यतः अपना बचा हुआ नकद केन्द्रीय बैंक में रखते हैं। १०००) रु० का एक भाग इस प्रकार से, केन्द्रीय बैंक में जमा रहेगा, जो उसे फिर और अधिक साख की उत्पत्ति करने में प्रयोग में लायेगा। जिस प्रकार बैंक केन्द्रीय बैंक में जमा किए हुए नकद आधिक्य पर भरोसा रखकर, साख की उत्पत्ति किया करते हैं, उसी प्रकार शाखा बैंक भी मुख्य बैंक पर भरोसा रखकर अपने ग्राहकों को सन्तुष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार साख उत्पत्ति का कार्य चलता रहता है। साख उत्पन्न करने की यह एक रीति है।

साख उत्पत्ति की दूसरी रीति बहुत मामूली है। बैंक बिना नकद का भुगतान किये हुए सिक्योरिटी खरीद सकता है। वह क्रय मूल्य का भुगतान करने के लिए अपना ही चेक देता है। वह चेक या तो उसी बैंक में या किसी दूसरे बैंक में जमा कर दिया जाता है। और थोड़ी सी नकद-सचिति, जो बैंक अपने पास रखता है, ऐसे लेन-देन के दायित्व को पूरा करने के लिये पर्याप्त होती है। इस प्रकार नकद की एक छोटी-सी नींव पर साख के एक विशाल भवन का निर्माण किया जाता है।

परिमितताएं (Limitations)—साख-उत्पत्ति के उपर्युक्त वर्णन से, यह मालूम हो जाता है कि "बैंक बिना कुछ बोए ही फल प्राप्त करते हैं," वह बिना नकद दिए हुए उधार देते हैं या सिक्योरिटी खरीदते हैं। और उसी प्रकार वे अपने दिये हुए ऋण पर ब्याज लेते हैं और खरीदी हुई सिक्योरिटी पर लाभांश (dividends) प्राप्त करते हैं। यह अति आकर्षक है कि वह बिना नकद लगाये लाभ प्राप्त करते हैं। साख का यह एक जादू है। यह बैंक द्वारा निर्मित साख का जादू है, जो काम करता है। वह सचमुच, जितना अधिक हो सकता है, उतना अधिक लाभ उठाना चाहेंगे। परन्तु वह अनिश्चित काल के लिए साख का विस्तार नहीं कर सकते। अपनी ही रक्षा के लिए उन्हें रोकड़ लगानी पड़ेगी, और वे लगाते भी हैं, क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि बैंकों के लाभ बहुत अधिक नहीं होते। सबसे बड़ी परिमितता यह है कि बैंक को जमा करने वालों की माग के दायित्व को पूरा करना होता है।

बेनहम ने बैंकों की साख उत्पन्न करने की शक्ति की तीन परिमितताएँ बतलाई हैं—

(i) देश में नकद की कुल रकम, (ii) रकम की मात्रा, जो जनता चाहती है कि वह रक्खे, और (iii) नकद से जमा का न्यूनतम प्रतिशत जो बैंक सुरक्षित समझते हैं।

जहाँ तक (i) का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि नकद के आधार पर साख की उत्पत्ति की जा सकती है। नकद अर्थात् विधिमान्य मुद्रा साख जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही अधिक साख की उत्पत्ति की जा सकती है। परन्तु नकद की वह रकम जो बैंक के पास है, केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण के अन्तर्गत होती है। हम लोग दूसरे अध्याय में इस प्रकार के प्रभाव के बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहाँ पर यह बतला देना पर्याप्त है कि केन्द्रीय बैंक नकद निकालने पर एकाधिकार रखता है। वह

उसको बढा सकता है और कम कर सकता है और साख उसी के अनुसार विकसित या सकुचित होगी। केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नियन्त्रण शक्ति बैंको की साख उत्पन्न करने की शक्ति के क्षेत्र पर नियन्त्रणकारी प्रभाव रखती है।

दूसरी सीमा लोगो के नकद के प्रयोग से सम्बन्धित आदतो के कारण होती है। यदि स्वभाव से लोग नकद व्यवहार में लाते है और चेक नही, जैसे कि भारत मे, तो जैसे ही ऋणी को बैंक साख देता है, वैसे ही वह चेक का भुगतान करा लेगा और नक्द ले लेगा। जब बैंक का नकद इस प्रकार कम हो जाता है तो उसकी साख उत्पन्न करने की शक्ति भी क्रमश सकुचित हो जाती है। इसके विपरीत यदि लोग नकद का व्यवहार केवल छोटे-मोटे लेन देन के लिये ही करते हो, तो बैंको की नकद सचिति अधिक कम नही होती और उनकी साख उत्पन्न करने की शक्ति का भी ह्रास नही होता। अमरीका, इगलैड जैसे उन्नतिशील देशो में ऐसा होता है। वहाँ पर बैंक मुश्किल से १०% नकद सचिति रखते है।

तीसरी सीमा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी उत्पत्ति होती है नकद और दायित्व के परम्परागत सचित अनुपात के कारण जो बैंको को अपनी रक्षा के लिए और उचित मात्रा में द्रवता (liquidity) बनाये रखने के लिए अवश्य रखना चाहिए। यह बहुत ही सीधी-सी बात है कि जब कोई बैंक साख की उत्पत्ति करता है या ऋण देता है, तो वह दायित्व का भार अपने ऊपर लेता है। उसके दायित्व में वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप सचिति अनुपात में कमी होती है। बैंक उस अनुपात को एक विशेष न्यूनतम स्तर के नीचे नही गिरने देगा। जब यह न्यूनतम स्तर की दशा आ जाती है, तो बैंक की साख उत्पन्न करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। उस समय और अधिक ऋण देने में जोखिम रहती है, जब तक कि बैंक अनुभव यह न बता सके कि और अधिक छोटे अनुपात से हानि न होगी। तब वह उसकी सीमा हो जायगी।

इनमें चौथी सीमा जोडी जा सकती है। बैंक बिना आस्तियो (आदेय) के पाये साख का उत्पादन नही कर सकते। आदेय एक प्रकार का धन होता है। इस प्रकार बैंक केवल गतिहीन धन को गतिशील धन बना देता है। अतएव क्राउथर के शब्दो में, "बैंक हवा से द्रव्य का निर्माण नही करता—यह अन्य प्रकार के धन को द्रव्य के रूप में परिवर्तित कर देता है।[1]

अतएव साख के निर्माण के मूल गुण यह है कि बैंक को नए रोकड रिजर्व मिलें, वे उनको उधार देने को तथा व्यवसायी उधार लेने को तैयार रहें, और उधार लेने वाले कर्ज को वापस न लें, परन्तु बैंक में जमा के रूप मे पडे रहने मे सतुष्ट रहें। इसलिए अगुआई उधार लेने वालो के हाथ है। वास्तव में, निक्षेप उधार ली राशि से नही बनता बल्कि उस राशि मे जिसे बैंक से नही निकाला जाता।

६ सुरक्षित कोष का रखना (Maintenance of Reserves)—अच्छे बैंकिंग का रहस्य पर्याप्त कोष को बनाये रखने रखना और उसके साथ हिस्सेदारों

1 Crowther, G—An Outline of Money, 1950, P 30

(shareholders) के लिए लाभ प्राप्त करना है। हमने देखा है कि बैंक दूसरे लोगों के द्रव्य से व्यापार करता है, वह इस दृष्टि से कि वह द्रव्य सूचना देकर या विना सूचना के बैंक से निकाला जा सकता है। परन्तु अनुभव से बैंकर यह जानते है कि जमा का केवल छोटा भाग ही वास्तव मे निकाला जाता है। उनका उद्देश्य इसीलिये यह रहता है कि माग पूरी करने के लिये पर्याप्त कोष रखना और शेष धन को उधार देकर लाभ उठाना। इसमे पर्याप्त कुशलता की आवश्यकता होती है। एक चतुर बैंकर को तरलता (liquidity) तथा लाभ (profitability) के बीच उचित सतुलन बनाए रखना जरूरी है। अत्यधिक सावधानी का अर्थ होगा कम लाभ और अत्यधिक ऋण देने से बैंक सुरक्षित न रहेगा। दोनो मे सामजस्य लाना आवश्यक है, परन्तु यह काम आसान नहीं है। क्योकि चाहे जिस रूप तथा मात्रा में वे अपने रिजर्व को रखे वे सामान्य समय बेकार होगे और जमा करने वालो के विश्वास के हटने पर अपर्याप्त रहेंगे। बैंक में सुरक्षित कोष या रिजर्व का रखना निम्नलिखित बातो से निर्धारित होता है[1], (१) बैंक के जमा में रोज के उतार-चढाव। (२) ग्राहकों के उधार की आवश्यकता मे कमी-बेशी। (३) गौण कोष (secondary reserves) की प्रकृति, तथा बैंकिग प्रणाली में कोष व्यवस्था की प्रकृति।

साधारणतया बैंक अपनी सपत्ति को द्रव साधनो या नकद मे परिवर्त्तनशीलता के घटते हुए क्रम में रखता है। इसकी सुरक्षा की पहली लाइन जैसे कि कहा जाता है, एक विशेष मात्रा मे वास्तविक नकदी रखना है। यह नकदी या तो मुद्रा के रूप मे या नोटो के रूप में या केन्द्रीय बैंक मे बचत के रूप में रखी जाती है। नोट जारी करने का कार्य केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार है।

केन्द्रीय बैंक के आधिक्य (balances) सदैव विधि-मान्य मुद्रा के रूप में निकाले जा सकते है। बैंक इन आधिक्यो को इसलिए नकद की भाति मानते है। सभी मुख्य बैंक कानूनी तौर पर देश के केन्द्रीय बैंक में अपने दायित्व के एक विशेष भाग को रखने के लिए बाध्य होते है। यहाँ पर यह कह सकते हैं कि इस प्रकार के आधिक्य का अस्तित्व केन्द्रीय बैंक को दूसरे बैंकों की साख विस्तार पर नियंत्रण करने की शक्ति प्रदान करता है।

कोष या रिजर्व को कायम रखने के लिये सुरक्षा की दूसरी दीवार वह धन है जो अति अल्पकाल के लिये उधार दिया गया है। इसमे वे ऋण शामिल होते है जो बिलो या हुडियो के दलालो को दिये जाते है। स्टॉक एक्सचेंज को दिये जाने वाले ऋण भी इसमे शामिल होते है। इस प्रकार के ऋण माग पर या कुछ दिनो के अन्दर वापिस लिये जा सकते हैं।

इनके पश्चात् हुडियो के बट्टे का काम आता है। ज्योही वे पूरी होती है भुनायी जा सकती है। यह या तो सरकारी बिल होते है या व्यावसायिक हुंडिया।

इसके बाद विनियोग आता है। यह मुख्यतर सरकारी सिक्योरिटिया होती है।

---

1 Kilborne and Woodworth—Principles of Money and Banking, 1937 p 291

निर्धारित व्याज देने वाली सिक्योरिटिया इस कार्य के लिये बहुत लोक-प्रिय है क्योंकि इनमें वास्तव में कोई जोखिम नही होता।

अन्त में ग्राहकों के अग्रिम (advances) आते हैं। वे ऋण या अधिविकर्षणों (overdrafts) का रूप ले सकते हैं। वे सब से अधिक लाभ देते हैं, हालाकि उनमें जोखिम भी सब से अधिक है क्योंकि वे न्यूनतम अस्थिर होते हैं।

६. तरलता का महत्त्व (Importance of Liquidity)—वह अनुपात, जिसके अनुसार अनेक रूप में आदेय (assets) रखा जाता है, एक देश और दूसरे देश में, एक बैंक और दूसरे बैंक में और व्यापार की अवस्था के अनुसार अलग-अलग है। सपत्ति की तरलता जितनी ही अधिक होगी, उतना ही अधिक विश्वास उस पर किया जायगा परन्तु उसके लाभ उतने ही कम होंगे।

समस्त बैंकिंग व्यापार बैंक की माग पर, धन के वापस देने की योग्यता के ऊपर, लोगो के विश्वास पर निर्भर है। यदि किसी भी कारणवश यह विश्वास हट जाता है, तो बैंक के प्रति एक "दौड" शुरू हो जाती है। कोई भी बैंक यह "दौड" सहन नही कर सकता, क्योंकि समस्त जमा नकदी की अवस्था मे नहीं होता। बैंकिंग व्यापार समृद्धिकाल का व्यापार है। जब तक मौसम साफ है अर्थात् जब तक बैंक की साख बनी है और जमा कराने वालों का विश्वास बैंक पर है कोई भी अपना पैसा निकालना नही चाहता, और बैंक इस बात को गर्व से कह सकता है "जो चाहे अपना पैसा निकाल ले।" लेकिन जैसे ही विपत्ति आती है और इस घबराहट में लोग पैसा निकालने के लिए दौडते हैं, तो पैसा मिलना मुश्किल हो जाता है। यदि किसी एक बैंक पर भी ऐसी विपत्ति आ पडे तो वह बडी मुसीबत में पड जाता है और बैंक को अपनी आस्तियो को बदलना पडता है जिससे लोगो का भुगतान हो सके। किन्तु यदि विपत्ति बहुत भारी हो बैंक की हालत बिगड जाती है और जमा कराने वालो में से किसी को भी कुछ प्राप्त नही होता।

लोगो को अपनी आर्थिक दशा से सूचित रखने के लिये बैंको के लिए कानूनी रूप से यह आवश्यक है कि वे अपने चिट्ठे को प्रकाशित करें। किसी बैंक का स्थिति विवरण (Balance Sheet) उसकी आर्थिक दशा का विवरण है। साधारणतया इस प्रकार का विवरण आर्थिक वर्ष (financial year) के अन्त में निकाला जाता है। केन्द्रीय बैंक यह विवरण प्रति सप्ताह निकालता है। विवरण दो खानो में बनाया जाता है। बाई ओर वाले खाने में **बैंक का दायित्व** (liabilities) रहता है और दाई ओर के खाने में आस्तियाँ (assets)। दायित्व वह धन है, जो बैंक को देना है और आदेय वह है, जो दूसरो को बैंक को देना है और जो कुछ भी बैंक के पास उस समय हो।

साधारणत एक बैंक का चिट्ठा इस प्रकार होता है —

दायित्व (Liabilities)	आदेय (Assets)
पूजी (Capital) सुरक्षित कोष (Reserve Fund) जमा (Deposits) ग्राहकों के लिए स्वीकृतियाँ (Acceptance for Customers)	नकद (Cash) केन्द्रीय बैंक मे जमा नकद (Cash at Central Bank) माँगने पर तुरन्त मिलने वाला द्रव्य (Money at Call) भुनाए हुए बिल (Bills Discounted) ग्राहकों को अग्रिम (Advances to Customers) विनियोग (Investments) स्वीकृति के लिए ग्राहकों का दायित्व (Liabilities of Customers for Acceptance) फर्नीचर आदि। भवन तथा अन्य सम्पत्ति (Premises and other Property)

बैंक अपने विवरण मे यह दिखलाने का प्रयत्न करते है कि उनकी दशा अति दृढ है। यह कार्य वे एक बडी नकद सचिति रख कर या सचिति और दायित्व का उच्चतर अनुपात रख कर पूरा कर सकते है। इस उद्देश्य से वे उन रकमों को वापस मागते है, जो माग पर या अल्प सूचना पर वापस कर देने की शर्त पर दी गई थी और यह विश्वास दिलाते है कि दूसरे दिन फिर से वे उधार दे देंगे। इस प्रकार का एक सुन्दर दिखावा करने को "अभिविन्यासन" (window dressing) कहते है।

७. बैंको की उपयोगिता (Usefulness of Banks)—इस समय तक यह बात समझ मे आ जानी चाहिये कि बैंक आधुनिक समाज के लिये अति उपयोगी ही नही वरन् अनिवार्य भी है। "बैंकर, अस्थिर पूजी के जो हमारे व्यावसायिक और औद्योगिक क्रियाओं की जीवन-रक्त है, रक्षक तथा वितरक है और उनके प्रशासन की योग्यता पर ही हमारे राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि निर्भर है।"[1] इस प्रकार स्टीफनसन (Stephenson) और ब्रैंटन (Branton) ने बैंकों के महत्त्व के विषय में लिखा था। अधिक वास्तविकता से हम बैंकों की उपयोगिताओं को इस प्रकार सक्षेप में कह सकते है।

(i) वे बैंक नोट, चेक, बिल और ड्राफ्टों के रूप मे क्रय-शक्ति की उत्पत्ति

---

1 Economics of Banking, Trade and Finance, p 120

करते है और इस प्रकार मूल्यवान् धातुओ के व्यवहार में मितव्ययिता करते हैं।

(ii) वे उधार देने वालो और उधार लेने वालो को इकट्ठा करके और चेक, बिल और ड्राफ्टो के द्वारा निधियो को एक स्थान से दूसरे स्थान और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास सुविधापूर्वक और कम खर्चीले तौर पर ले जाने में सहायता देकर धन को अधिक गतिशील बनाते हैं।

(iii) वे लोगो में धन की बचत करने की आदत को प्रोत्साहन देते है और इस प्रकार छोटी-छोटी बचते, जो वैसे इधर-उधर बेकार पडी रहती, मिलकर बडी रकम हो जाती है और विभिन्न प्रकार के विनियोगो मे लगाई जा सकती हैं।

(iv) बचत और विनियोग को प्रोत्साहन देकर बैंक देश के साधनो की उत्पादन-शक्ति को बढाते हैं, जिससे कि सार्वजनिक उन्नति और कल्याण करने में वे सहायक होते हैं।

बिना बैंको के ससार में आर्थिक उन्नति के स्तर की कल्पना भी नही की जा सकती।

दुर्भाग्यवश, भारतवर्ष में बैंकिंग की सुविधाए बहुत कम है और यह अनेक कारणों में से एक है कि हमारे प्राकृतिक और मानवीय साधनो से उचित मात्रा में लाभ क्यो नही उठाया जा सका है।

कुछ ऐसे विशेष और अति महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो एक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाते है। अब हमें इनके अध्ययन की ओर ध्यान देना चाहिये।

निर्देश पुस्तके

Crowther, G —An Outline of Money, 1950, Ch II, p p 22 42

Benham, F —Economics, 1940, pp 348-358

Brij Narain—Money and Banking (S Chand & Co)

Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch 21

Samuelson, P A —Economics, 1948, Ch 14

Keynes, J M —A Treatise on Money, 1950, Vol I, Ch 3

Coulborn, W A L —A Discussion of Money, 1950, Ch VI

Sayers, R S —Modern Banking, 1947, Ch II

Bradford, F H —Money & Banking, 1936, Ch V

Dowrie, G W —oMney & Banking, 1936, Ch VIII

Foster, M B and Rodgers, R —Money and Banking, 1936, Ch. VIII and V

Steiner, N H —Money and Banking, 1933, Ch VII

Truptil, R J —British Banks and the London Money Market, 1936

अध्याय ३७

द्रव्य-बाजार तथा केन्द्रीय बैंक

(MONEY MARKET AND CENTRAL BANKS)

१ द्रव्य बाजार (Money Market)—हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र में "बाजार" शब्द का अभिप्राय किसी क्षेत्र या स्थान से नही होता वरन् उस समस्त प्रदेश से होता है जहा-जहा विक्रेता होते हैं। परन्तु 'द्रव्य बाजार' क्या है ? यह देखना है कि द्रव्य बाजार में क्रेता और विक्रेता कौन होते है ? तथा ये क्रेता और विक्रेता किस वस्तु का आदान-प्रदान करते हैं ? 'द्रव्य-बाजार' का तात्पर्य कोई विशेष बाजार या चौक नही है, जहा नगर के बैंकों के अधिकाश कार्यालय स्थित हो। "द्रव्य-बाजार" —यह शब्द भी किसी क्षेत्र की ओर सकेत नही करता वरन् विनिमय-सगठनो के समूहो की ओर सकेत करता है। द्रव्य को उधार लेने तथा देने वाले ही विनिमय कर्ता या विक्रेता है और द्रव्य ही क्रय-विक्रय की वस्तु है। उधार लेने वाले द्रव्य के खरीदार हैं। वे द्रव्य के उपभोग का अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। द्रव्य बाजार की माग का पक्ष ये ही लोग निर्मित करते हैं। द्रव्य को उधार देने वाले विक्रेता हैं। ये लोग पूर्ति का पक्ष बन जाते हैं। जिस ब्याज की दर पर द्रव्य उधार लिया या दिया जाता है, वही द्रव्य का मूल्य है। बैंक उधार देने वाले हैं (ये जनता से रुपया जमा करा कर उधार लेते भी है।) हुडी (बिल) स्वीकार करने वाले अभिकरण, कटौती घर, रुपया लगाने वाले तथा अन्य कारोबारी लोग—ये उधार लेने वाले हैं। इनमे से कुछ ऐसे होते है जो बैंको से उधार लेकर दूसरो को उधार देते हैं।

क्राउथर के शब्दो में "द्रव्य बाजार उन विभिन्न फर्मो तथा सस्थाओ का सामूहिक नाम है जो विभिन्न द्रव्य को व्यवहार मे लाते है।"[1] बैंक डिपॉजिट्स तथा विनिमय पत्र (bills of exchange) इस द्रव्य (near-money) के उदाहरण है। किन्तु ये द्रव्य की भाति स्वीकार नही किए जाते।

२ द्रव्य-बाजार के अंग अथवा सदस्य (The Constituents or Members of the Money Market)—द्रव्य-बाजार किन लोगो से बना है, तथा द्रव्य-बाजार के सदस्य कौन हैं ? द्रव्य-बजार किन लोगो का बनता है, यह तो हम सकेत कर चुके हैं। महाजन, दलाल, कटौती घर तथा रुपया लगाने वाले लोग—ये ही द्रव्य-बाजार के सदस्य हैं। सब से ऊपर केन्द्रीय बैंक है, जो देखभाल तथा नियन्त्रण का कार्य करता है।

भारतीय द्रव्य-बाजार निम्नलिखित से बना है—रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, तथा अन्य

---

1. Crowther, G —An Outline of Money 1950 p 66

ज्वाइट स्टॉक वैक, महकारी वैंक, भूमि-बन्धक वैक, सरकारी डाकखानो के सेविंग्स वैक, तथा अन्य पुरानी चाल के महाजन। भारतीय द्रव्य-बाजार के दो निश्चित विभाग हैं। एक तो देशी महाजन है, दूसरे आधुनिक वैंकिंग सस्थाए हैं।

भारतीय द्रव्य-बाजार पूर्ण रूप से विकसित नही है तथा इसका सगठन भी सुदृढ नही है। पुराने ढग के (देशी) महाजन जिनके हाथो में लगभग ९० प्रतिशत महाजनी कार्य होते है, अपना अलग अस्तित्व रखते है। दोनो विभागो मे कोई सहयोजन नही है। अत रिजर्व वैंक की आकलन को नियन्त्रित करने की शक्ति बिलकुल सीमित है। विनिमय की कई दरें प्रचलित रहती है तथा वित्त-विषयक सामयिक खीचा-तानी प्राय देखने में आती है। भारतीय द्रव्य-बाजार की एक और विशेषता यह है कि बिल-बाजार (bill market) का विकास नही हुआ है। द्रव्य बाजार में व्यावसायिक महाजनी का बोलबाला है, तथा औद्योगिक वित्त-आयोजन तथा दीर्घकालीन ऋणो की सुविधा बहुत कम है। साठेबाजी (hoarding) की आदत का होना तथा वैंक में जमा कराने की आदत का न होना—ये भारतीय द्रव्य-बाजार के समुचित विकास के मार्ग में कठिनाइया है।

३. केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—देश की आर्थिक स्थिरता को बनाए रखने वाली सस्था केन्द्रीय वैंक है। राष्ट्र की अन्तिम सचित निधि इसी के हाथ में होती है। क्रयशक्ति के प्रवाह का नियत्रण भी इसी के हाथ में होता है तथा यह सस्था राज्य के लिए बैंक-सम्बन्धी कार्य सम्पादित करती है।

पिछले वर्षों में केन्द्रीय वैंको का महत्त्व बहुत बढ गया है। इसके कई कारण है। विभिन्न देशो के भीतरी तथा उनके आपसी आर्थिक जीवन में स्वातन्त्र्य की वृद्धि, मुद्रा प्रवाह के प्रबन्ध तथा नियत्रण की अधिकाधिक आवश्यकता, सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-स्फीति तथा विनिमय-विषयक गडबडी, भारी मन्दी का युग तथा उसके परिणाम के रूप में यह जानकारी कि केन्द्रीय वैंको द्वारा द्रव्य की पूर्ति (supply) को नियन्त्रित करने से, भावो में घट-बढ का कुचक्र बहुत कुछ सवारा जा सकता है, हाल ही में विभिन्न देशो की आर्थिक पद्धतियो मे योजनानुसार नियम का प्रारम्भ किया जाना—इन्ही समस्त कारणो के आधार पर एक ऐसी सस्था का महत्व बढ गया है, जो उन जटिल तथा विरोधी विषयो को नियन्त्रित करे, उनका प्रबन्ध करे और उनमे सामजस्य स्थापित करे, जो विषय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिरता को प्रभावित करते रहे है।

इग्लैंड ने अपनी केन्द्रीय वैंक (वैंक ऑफ इग्लैंड) सन् १६९४ मे ही स्थापित कर लिया था। फ्रास तथा जर्मनी सरीखे अन्य महत्त्वपूर्ण राष्ट्रो ने अपने केन्द्रीय वैंक प्रथम महायुद्ध के बहुत पूर्व स्थापित कर लिये थे। सयुक्त राष्ट्र की फेडरल रिजर्व प्रणाली सन् १९१४ मे स्थापित हुई। केन्द्रीय वैंक का महत्त्व प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न होने वाली मुद्रा-विषयक कठिनाइयो के दिनो में विशेष रूप से समझा गया। यह आवश्यक हो गया कि वैंको की उन नीतियो को जो अधिकतर स्वार्थपूर्ण होती थी, नियन्त्रित रखने के हेतु एक वैंक रहे। सन् १९२० में ब्रुसेल्स मे एक आर्थिक

सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने आधुनिक समस्त देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना पर बहुत जोर दिया। फलस्वरूप अब लगभग प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक है। भारतीय केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक आफ इंडिया सन् १९३५ में स्थापित हुआ।

४. रिजर्व बैंक का संतुलन पत्र (Reserve Bank Balance Sheet)—रिजर्व बैंक आफ इंडिया भारत का केन्द्रीय बैंक है तथा द्रव्य-बाजार की आधार-शिला है। इसका पाक्षिक विवरण प्रकाशित होता है। इंग्लैंड मे बैंक आफ इंग्लैंड को द्रव्य-बाजार का मापयन्त्र माना जाता है। कारण यह है कि लन्दन का बाजार एक सुसम्बद्ध तथा गुथी हुई पद्धति का द्योतक है। भारत मे ऐसा नही है। अत भारतीय रिजर्व बैंक के विवरण को हम भारतीय द्रव्य-बाजार का सच्चा मापयंत्र नही कह सकते।

पाक्षिक रिजर्व बैंक विवरण के दो भाग हैं। निकासी विभाग से सम्बन्धित विवरण तथा महाजनी या बैंकिंग विभाग से सम्बन्धित विवरण। ३० दिसम्बर १९५५ को समाप्त होने वाले सप्ताह का रिजर्व बैंक विवरण निम्नलिखित है —

जारी करने वाला विभाग (Issue Department)

(रुपयों की संख्या लाखो में)

दायित्व		आस्तिया	
जारी किये गये नोट · बैंकिंग विभाग में	१२,०४	सोने का सिक्का तथा बुलियन (ख)	४०,०२
परिचालन में	१,३६१,९८	विदेशी सिक्योरिटिया (ग)	६८६,८८
		(ख+ग) का कुल योग	७२६,९०
		(ख+ग) (क) के प्रतिशत के अनुरूप	५२,९०
		रुपये के सिक्के	१०८,४४
		रुपये की प्रतिभूतिया	५३८,६७
जारी किए नोटो की कुल संख्या (क)	१,३७४,०१	कुल आस्तिया	१,३७४,०१

बैंकिंग विभाग (Banking Department)

(रुपयो की सख्या लाखो में)

दायित्व		आस्तिया	
निक्षेप —		नोट तथा सिक्के	१२,१६
केन्द्रीय सरकार	५०,९५	खरीदे गए तथा भुनाए गए बिल	१२,०७
अन्य सरकारें	१०,६२	विदेशो में लेना बाकी (balances held abroad)	४८,३०[1]
बैंक	५७,८७	सरकारो को दी गई उधार रकम तथा अग्रिम	३,६६
दूसरे	१५,८१	अन्य उधार तथा अग्रिम	४८,६३
कुल योग	१३८,३१	विनियोग	५०,५४
अन्य दायित्व	३६,१३	अन्य आस्तिया	१३,०९
कुल दायित्व	१८४,४५	कुल आस्तिया	१८४,४५

हम इनमे से प्रत्येक को समझाने का प्रयत्न करेगे। पहले निकासी विभाग को लीजिये।

जितने नोट निकाले जाते है सब निकासी विभाग के दायित्व के रूप में होते है। जब नोट का रुपया मागा जाय तभी नकद देना होगा। चाहे ये नोट जनता में चलते हो या बैंकिंग विभाग में, इन नोटो के सम्बन्ध में दायित्व निश्चित है। ये विधिमान्य (legal tender) है तथा बैंक इनका प्रयोग अपने दायित्वो के चुकाने मे कर सकता है। परन्तु यही नोट निकासी विभाग के दायित्व है, क्योकि उससे किसी समय उनके बदले में नकद रुपया देने को कहा जा सकता है।

दायित्व की दृष्टि से जितने नोटो की निकासी है, वह आदेय में दी हुई रक्षित निधि से चुकाई जा सकती है। सपत्ति में दी हुई रक्षित निधि मे निम्नाकित अश होते है जो मिलकर रक्षित निधि कहलाते है। ये दो प्रकार के होते है—(1) सुवर्ण मुद्रा और बुलियन तथा स्टर्लिंग सिक्योरिटी, तथा (ii) मुद्रा (रुपये) तथा रुपये के रूप में सिक्योरिटी। भारतीय सरकार की वैसी ही सिक्योरिटी है, जैसे ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिंग सिक्योरिटी होती है।

रिजर्व बैंक अधिनियम सन् १९३५ के अनुसार कम से कम ४० करोड का सुरक्षित (कोष) सुवर्ण मुद्रा तथा बुलियन में अवश्य होना चाहिये। प्रस्तुत सतुलन पत्र में ४० ०२ करोड है। अधिनियम में दूसरा उपबन्ध यह है कि कुल सुरक्षित कोष मे कम से कम ४० प्रतिशत सुवर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतिया होनी चाहियें। प्रस्तुत बैंक-विवरण में यह अनुपात ५६ प्रतिशत से अधिक है। इससे प्रकट होता है कि स्थिति बहुत दृढ है।

अब बैंकिंग विभाग को ले लीजिये—दायित्व का सबसे प्रमुख अश जमा रकम का

१ इनमें नकद तथा अल्पकालीन सिक्योरिटियाँ शामिल है।

है। इस रकम मे से अधिकतर सार्वजनिक (अर्थात् सरकारी जमा रकमे तथा अनुसूचित बैंको (scheduled bank) की जमा रकमे है। अन्य जमा रकमे फुटकर हैं जैसे कर्मचारी-गण के वेतन का अवितरित भाग अथवा अन्य कोई रकम, जिसका जमा-खर्च नहीं हुआ हो उदाहरणार्थ, स्टेट बैंक की कोई रकम।

'अन्य दायित्वो मे पूजी, रक्षित निधि, तथा हानि-लाभ का हिसाव मुख्य है।

आदेय मे नोट, रुपये तथा अन्य मुद्रा है। कटौती लगाये हुए विलो का अर्थ है वे विल जिनका मूल्य, बैंक ने अपनी कटौती काट कर, उनके तात्कालिक मूल्य के आधार पर चुका दिया है। जव इन विलो के भुगतान का समय आयगा, बैंक रुपया ले लेगा। 'balance held abroad' का अर्थ है वह रकम जो विदेशी बैंको में जमा है। 'अन्य ऋण तथा अग्रिम धन' का अर्थ है अनुसूचित बैंको को दिया गया रुपया। सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा खजाने के विल जो खरीदे गये हैं, 'विनियोग' (investment) है। अन्य आदेय अन्य दायित्वो के समानान्तर है तथा इसमें मेज, कुर्सी आदि, साज सामान, लेखन सामग्री तथा बैंक की अन्य सम्पत्ति है।

५ केन्द्रीय बैंकिग के सिद्धान्त (Central Banking Principles)– केन्द्रीय बैंकिग जिन सिद्धान्तो पर सचालित होती है, वे सामान्य बैंकिग सिद्धान्तो से विल्कुल भिन्न हैं। (i) साधारण बैंक लाभ के लिये चलाया जाता है। किन्तु केन्द्रीय बैंक देश की वित्त-विषयक तथा आर्थिक स्थिरता विषयक जिम्मेदारी निभाने के लिए चलाया जाता है। डी काक का कथन है कि "केन्द्रीय बैंक का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि उसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से तथा समूचे राष्ट्र के हितार्थ कार्य करना चाहिये तथा लाभ को प्रधानता नही देनी चाहिये।"[1] लाभ उपार्जन करना तो केन्द्रीय बैंक के लिये गौण विषय है। केन्द्रीय बैंक राज्य की विधि के अन्तर्गत कार्य करता है तथा किसी जोखिम वाले उद्यम मे रुपया नही लगा सकता।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक लाभ तथा लाभाश के पीछे पडने वाली सस्था नहीं है और न अन्य बैंको से प्रतियोगिता ही करता है। अत जमा रकम पर व्याज शायद ही कभी दिया जाय, और न अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर रुपया ही दिया जाता है। इस बैंक का प्रधान उद्देश्य होता है देश की समस्त बैंकिग व्यवस्था को मातबर बनाए रहना। अत इसको अपनी आस्तियाँ अधिक से अधिक नकद (liquid) रूप में रखनी पडती है।

(ii) केन्द्रीय बैंक सबसे बडा ऋणदाता है। समस्त बैंक तथा वित्तीय सस्थाये आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय बैंक का सहारा ले सकती है। परन्तु केन्द्रीय बैंक नकद रुपया माग कर अथवा विलो या प्रतिभूतियो को देकर किसी अन्य सस्था का सहारा नहीं ले सकता।

(iii) केन्द्रीय बैंक की नीति क्रियात्मक होनी चाहिये। जब मान-विषयक प्रबन्ध रचना में कहीं भी कोई गडबडी उत्पन्न हो जाय तो केन्द्रीय बैंक चुप बैठकर तमाशा नहीं देख सकता। इस स्थिति को संभालने के लिए केन्द्रीय बैंक को क्रियाशील होना पडता

1 De Kock Central Banking

है। इस अभिप्राय से केन्द्रीय बैंक दो अस्त्रो का प्रयोग कर सकता है—प्रथम, बैंक दर की नीति मे उलट-पलट, द्वितीय, खुले बाजार में किये गये कृत्य। इन अस्त्रो का कार्यवहन आगे समझाया गया है।

(iv) अपने कार्य-सचालन के हेतु केन्द्रीय बैंक के पास विशेष साज-सामान है (क) केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। (ख) केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक है। (ग) यह अन्य बैंको का भी बैंक है। इस प्रकार की स्थिति होने के कारण केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा साख को नियन्त्रित कर सकता है।

(v) केन्द्रीय बैंक को किसी राजनतिक दल के हाथो में न रहना चाहिए। केन्द्रीय बैंक को राजनैतिक प्रभाव से बिलकुल मुक्त रहना चाहिये जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र के हित साधन में बिना भय या पक्षपात कार्य किया जा सके। फिर भी बैंक तथा सरकार के बीच विशेष पारस्परिक सहयोग विद्यमान रहता है।

६ केन्द्रीय बैंक के कार्य (Central Banking Functions)—अर्थ-वेत्ताओ ने इस विषय पर बहुत विचार-विमर्श किया है कि कौन-से कार्य ऐसे है जो केन्द्रीय बैंक के ही, विशेषतया, माने जायें। हाटरे (Hawtry) का कथन है कि ऋण देने के विषय में केन्द्रीय बैंक को 'अन्तिम आश्रय' मानना चाहिए। वेरास्मिथ (Vera Smith) नोटो की निकासी के एकाधिकार पर जोर देते है, तथा शा (Shaw) के अनुसार साख को नियन्त्रित रखना ही "एकमात्र सच्चा परन्तु परिपूर्ण कार्यक्षेत्र है।" किश तथा एल्किन्स (Kish and Elkins)[1] के अनुसार द्रव्य-विषयक मापदण्ड के स्थायित्व को बनाये रखना केन्द्रीय बैंक का वास्तविक कार्य है। किसी एक कार्य को विशेष रूप से छाट लेना कठिन है। एक विद्वान[2] ने हाल ही में केन्द्रीय बैंक के निम्न-लिखित कार्य गिनाए है —

(१) कारोबार तथा जनसाधारण की आवश्यकताओ के अनुसार कागजी मुद्रा (नोटो) की निकासी। इसी हेतु केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार (चाहे कुछ सीमित भले ही हो) प्राप्त रहता है।

(२) राज्य के लिए बैंकिंग सेवाए, तथा अभिकरण के रूप मे सेवाए करना,

(३) व्यापारिक बैंको की नकद रक्षित निधियो की अभिरक्षा (Custody),

(४) राष्ट्र की धातु-मुद्रा की अभिरक्षा,

(५) व्यापारिक बैंको, विक्रेताओ तथा अन्य आर्थिक सस्थाओ द्वारा भेजे गये विनिमय बिल (Bills of Exchange), सरकारी बिल, तथा अन्य उपयुक्त कागजो पर पुन कटौती लगाना,

(६) अन्तिम आश्रय के रूप में ऋणदाता का दायित्व स्वीकार करना,

(७) बैंको के बीच जमा-खर्च की बाकियो का निपटाना, तथा

(८) साख के नियन्त्रण को कारोबार की आवश्यकताओ के अनुसार, अपने हाथ

---

1 Kisch and Elkins—Central Banks, p 74

2 De Kock—Op cit, p 15

मे रखना, जिससे राज्य द्वारा निर्धारित द्रव्य-विषयक मापदण्ड स्थिर बना रहे।

तदनुसार, केन्द्रीय बैंक के कार्य के सिलसिले मे उसकी हैसियत निम्नांकित है —

(i) नोट निकालने वाला अभिकरण।

(ii) राज्य के लिए बैंक।

(iii) बैंको के लिए बैंक।

(iv) साख पर नियंत्रण द्वारा द्रव्य-बाजार का अभिरक्षक।

इन कार्यो का अब हम विस्तृत विवेचन करेंगे।

७. केन्द्रीय बैंक नोट निकालने वाले अभिकरण के रूप मे (The Note-Issuing Agency)—बैंक पद्धति के प्रारम्भिक काल मे, लगभग प्रत्येक बैंक को नोट निकालने का अधिकार प्राप्त था। फलस्वरूप, गडबडी उत्पन्न हो जाती थी। अत्यधिक नोटो की निकासी से मुद्रा-स्फीति होकर, मुद्रा-प्रणाली में अव्यवस्था उत्पन्न होती तथा बुरे आर्थिक परिणाम होते थे। अत नोट निकालने पर सरकार को कठोर नियत्रण करना पडा। धीरे-धीरे राज्य के प्रधान बैंक—केन्द्रीय बैंक—को यह कार्य-भार सौंपा जाने लगा। अब लगभग प्रत्यक देश में केन्द्रीय बैंक को यह एकाधिकार प्राप्त है। इस एकाधिकार का बहुत महत्त्व है। इससे नोट की निकासी की प्रणाली मे समानता आ जाती है। केन्द्रीय बैंक के नोटो की साख अधिक होती है, तथा कभी-कभी जब स्थिति डावाडोल होती ह तब भी नोटो को मुद्रा के रूप में बदल कर दिये जाने की मांग बहुत कम होती है। सबसे बडी बात तो यह है कि इस एकाधिकार मे केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको पर ऋण-विषयक नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है क्योकि ऋण-विषयक प्रसार की सीमा को केन्द्रीय बैंक की नकद निधि ही निर्धारित करती है।

८. नोटों की निकासी के सिद्धान्त (Principles of Note-Issue)—नोट निकालते समय एक दूसरे के विपरीत दो उद्देश्यो में सामजस्य स्थापित करना पडता है। एक ओर तो नोटो की निकासी लचीली होनी चाहिये। व्यवसाय की आवश्यकतानुसार नोटो का चलन विस्तृत तथा सकुचित हो जाना चाहिये। दूसरी ओर नोटो का मुद्रा के रूप मे रूपान्तर करते रहकर नोटो में विश्वास की भावना बनाए रखना चाहिये। प्रथम लचीलेपन का है, तथा द्वितीय सुरक्षा से सम्बन्धित है। इसलिए नोटो की निकासी का सिद्धान्त उचित नियमन (regulation) आवश्यक ह।

मुद्रा सिद्धात बनाम बैंकिंग सिद्धात (Currency Principles vs Banking Principles)—इगलण्ड मे सन् १८४४ मे बैंक चार्टर एक्ट पास होते समय इस विषय पर बहुत मतभेद था कि नोटो के चलाने का सही सिद्धान्त क्या है? दो विचार पद्धतियां एक दूसरे का विरोध कर रही थी। एक मौद्रिक सिद्धान्त और दूसरी बैंकिंग सिद्धान्त की पक्षपाती थी।

मुद्रा सिद्धात का कहना था कि पूरा अर्थात् शत प्रतिशत मौद्रिक कोष का होना अनिवार्य समझा जाय। प्रत्येक नोट, जो निकाला जाय, उसके बदले की मुद्रा बैंक में रख ली जाए। इस प्रकार नोट को मुद्रा के स्थान पर सुविधाजनक साधन-मात्र माना गया था।

इसमें तो कोई सन्देह नही कि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा पर परिपूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। किन्तु इस प्रकार नोटो की निकासी लचीली नही रहती। उतने ही नोट निकाले जा सकते हैं जितने के सम्बन्ध में नोट निकालने वाला अधिकारी सोना या चादी जमा कर सके। इस प्रकार मुद्रा का विस्तार व्यावसायिक आवश्यकताओ पर अवलम्बित न रहकर खानो की निकासी पर अवलम्बित हो जाता है। व्यावसायिक आवश्यकताओ को अवश्य प्रधानता दी जानी चाहिये।

जो बैंकिंग सिद्धात के पक्ष मे थे, उनका कथन था कि नोटों की निकासी को पूर्णतया बैंको के स्वविवेक पर छोड दिया जाय। इस प्रकार वे व्यवसाय की आवश्यकतानुसार नोटो की निकासी को विस्तृत अथवा सकुचित कर सकेंगे। यदि अधिक नोट निकालेंगे तो नकदी की माग अपने आप बैंको से की जायगी। यदि बैंकों को अपने हित का ध्यान होगा तो वे अपने आप समुचित रक्षित निधि बनाये रखेंगे। बैंको पर विश्वास करके नोटो की निकासी का नियमन उन्ही पर छोडा जा सकता है।

इस सिद्धात के अनुसार नोटो की निकासी लचीली अवश्य हो गई परन्तु पद्धति अरक्षित रही। इगलैण्ड के बैंकिंग इतिहास में ऐसे अनेको उदाहरण है, जब लाभ के लोभ ने स्वविवेक को दबा दिया। अनेको बैंक बन्द हो गए, जिनसे वे स्वय तथा उनके अनेको आश्रित नष्ट हो गए।

अत अनुभव यह बतलाता है कि साधारण बैंको के हाथ मे नोटो की निकासी को छोड देना अच्छा नही। इस प्रकार मौद्रिक सिद्धान्त मे सुरक्षा है परन्तु लचीलेपन की कमी है, तथा बैंकिंग सिद्धान्त में लचीलापन है परन्तु सुरक्षा की कमी है। अत समस्त देशो में ऐसी पद्धतियाँ विकसित हो चुकी है जो इन दोनो सिद्धान्तो की सम्मिश्रण है। ये पद्धतियाँ है—(क) **निश्चित विश्वास-निष्ठ पद्धति या आशिक जमा पद्धति** (Fixed Fiduciary System or Partial Deposit System), **आनुपातिक सुरक्षित पद्धति** (Proportional Reserve System)

९ **विभिन्न देशो मे नोटो की निकासी की पद्धति (System of Note-Issue in Different Countries)**—ग्रेट ब्रिटेन में सशोधित बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार प्रथम पद्धति का प्रयोग किया गया। इस पद्धति के अनुसार नोटो की कुछ निश्चित मात्रा बिना धातु-रक्षण के रक्खे हुए निकाली जा सकती है। इस निश्चित मात्रा के समान सरकारी प्रतिभूतियाँ होनी चाहियें। यह निष्ठा की सीमा कहलाती है। इस सीमा से अधिक निकाले गए नोटो के बराबर सोना होना अनिवार्य है। इस प्रणाली की आलोचना करते समय यह कहा जाता है कि यह लचीली नही है। परन्तु यह अत्यधिक विस्तार पर रोक-थाम रखती है। असाधारण परिस्थितियो में कानून का सशोधन करके उक्त सीमा बढाई जा सकती है। सन् १९२८ में खजाने को यह अधिकार दे दिया गया कि निर्धारित सीमा को बढा सके। इससे पद्धति में कुछ लचीलापन आया। परन्तु यह कहा जाता था कि इस सीमा का बढाना आर्थिक कमजोरी का लक्षण समझा जाता है। इस प्रकार यह भी तर्क किया गया कि विश्वास में कमी करके लचीलापन लाना अच्छा नहीं। ऐसी आलोचना होने पर भी परम्परावश यह पद्धति बनी हुई है। जापान

तथा नार्वे ने भी यही पद्धति ग्रहण की है।

फ्रांस तथा जर्मनी में दूसरी पद्धति—आनुपातिक सुरक्षित निधि पद्धति—बरती जाती है। फ्रांस ३५ प्रतिशत तथा जर्मनी ४० प्रतिशत रक्षित निधि रखता है। संयुक्त राज्य की फेडरल रिजर्व प्रणाली में भी कुछ रूपान्तर सहित यही पद्धति ग्रहण की गई है। यह प्रणाली संसार के बड़े भाग में फैल गई है और इसका विशेष लक्षण यह है कि नोटों के चलन के निश्चित अनुपात से धातु के रूप में रक्षित निधि बनी रहे, यह अनुपात २५ प्रतिशत से ४० प्रतिशत तक हो सकता है, शेष के सम्बन्ध में व्यावसायिक बिल तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ हों, तथा यह उपबन्ध (provision) भी हो सकता है कि कुछ शर्तें तथा कुछ निग्रहों (penalties) को मानते हुए रक्षित निधि का अनुपात कानून द्वारा निश्चित न्यूनतम सीमा के नीचे भी गिराया जा सकता है।' (डी काक) यह द्वितीय पद्धति (आनुपातिक सुरक्षित निधि पद्धति) प्रथम से अधिक लचीली है। यदि केन्द्रीय बैंक चालीस रुपये का सोना प्राप्त कर लेता है तो द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत एक सौ रुपये के नोट निकाल सकता है। किन्तु प्रथम पद्धति के अन्तर्गत, निश्चित सीमा पर पहुंच जाने के पश्चात्, केवल चालीस रुपये के ही नोट निकाल सकेगा। किन्तु द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत सुरक्षा कम होती है।

कुछ लोगों का विचार है कि यदि राज्य की ओर से नोट निकाले जायें तो निकासी पर अधिक नियंत्रण रहता है। रिजर्व बैंक के यह कार्य-भार सम्भालने के पूर्व भारत में राज्य द्वारा ही नोट निकाले जाते थे। परन्तु आपत्तिकाल में तो नोट अधिक निकल ही जायेंगे, चाहे राज्य ऐसा स्वयं करे या केन्द्रीय बैंक पर अपने प्रभाव द्वारा कराये। सच तो यह है कि इस दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट की निकासी ही कुछ अच्छी रहती है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक द्वारा उन सरकारी प्रस्तावों का कुछ विरोध हो सकता है जिनके अनुसार द्रव्य के हेतु सरकार अधिक नोट छपवाना चाहे।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है रिजर्व बैंक को नोट की निकासी का एकाधिकार प्राप्त है। इसी अभिप्राय से रिजर्व बैंक में एक अलग निकासी-विभाग है, जैसा कि कुछ अन्य केन्द्रीय बैंकों जैसे बैंक आफ इंगलैण्ड में भी है। इस विभाग के आदेय (assets) को बैंक के दूसरे विभाग अर्थात् बैंकिंग विभाग के आदेय से अलग दिखलाया जाता है। निकासी विभाग की संपत्ति में चाँदी, मुद्रा के रूप में रुपये, भारतीय सरकार की रुपये के रूप में प्रतिभूतियाँ, सुवर्ण मुद्रा, सोना बुलियन, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ होती हैं। सुवर्ण मुद्रा तथा सोना चालीस करोड़ रुपये से मूल्य में किसी समय कम नहीं होता, तथा सोना तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को सम्पूर्ण रक्षित निधि का चालीस प्रतिशत होना अनिवार्य है। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर चालीस प्रतिशत की सीमा को सीमित काल के लिये, विशिष्ट कर देकर, घटाया जा सकता है। इस प्रकार भारत में जो प्रणाली प्रयुक्त है वह उल्लिखित दोनों पद्धतियों का सामंजस्य है।

द्वितीय महायुद्ध का अनुभव बतलाता है कि नोट की निकासी की जो प्रणाली भारत में प्रयुक्त है, उससे मुद्रा-स्फीति को रोका नहीं जा सका। स्टर्लिंग कोष बनाए रखने का उपबन्ध, जो अत्यधिक निकासी पर रोकथाम रखने के लिये लगाया गया था,

और भी अधिक मुद्रास्फीति का कारण बना। युद्धकाल में सरकार ने जो माल खरीदा था, उसके बदले में स्टर्लिंग प्राप्त हुआ। यह स्टर्लिंग लदन में रिजर्व बैंक के निकामी विभाग के हिसाब में ले जाया गया और उसी के आधार पर भारत मे नोट चालू हुऐ। यद्यपि कानून का अक्षरश पालन हुआ परन्तु नोटो का प्रसार बहुत अधिक हो गया। इस प्रकार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि १ सितम्बर १९३९ को १८२ करोड़ रुपये के नोटो का चलन हो रहा था और ४ जनवरी १९४६ को यह चलन बढ कर १,२१८ करोड़ हो गया। रिजर्व बैंक के निकामी विभाग में तत्स्थानीय स्टर्लिंग प्रतिभूतियां ५९ करोड से बढकर १,११० करोड हो गई।

१०. केन्द्रीय बैंक राज्य के बैंकर के रूप मे (Banker of the State)—केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य सरकार के लिए बैंक के रूप में कार्य करना है। देश की सरकार के समस्त शेष रोकड केन्द्रीय बैंक मे रखे जाने हैं। केन्द्रीय बैंक साधारणतया इन पर कोई व्याज नहीं देता। किंतु केन्द्रीय बैंक सरकार की कुछ सेवाए कर देता है। सामान्यत केन्द्रीय बैंक सरकार के वित्तीय अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करता है। तथा सरकार को मुद्रा, विनिमय तथा वित्त-विषयक परामर्श देता है। "केन्द्रीय बैंको के राज्य के लिए बैंक का कार्य करने का कारण केवल यही नही है कि ऐसा प्रवन्ध राज्य के लिए सुविधाजनक तथा मितव्ययता से युक्त होता है, वरन् यह भी है कि सार्वजनिक वित्त तथा द्रव्य-विषयक मामलो में घनिष्ट सम्बन्ध होता है।"[1] (डी काक) राज्य की विभिन्न वित्त-विषयक क्रियाओ द्वारा द्रव्य-बाजार, विनिमय की दरों, तथा केन्द्रीय बैंक की ऋण देने की नीति में हस्तक्षेप होता रहता है, अत राज्य के महाजनी कृत्यो का केन्द्रीय बैंक के हाथो मे ही रहना अच्छा होता है।

केन्द्रीय बैंक का राज्य से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण कार्य थोड़े समय के लिए ऋण देना होता है। केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाने के बिलो को, जो चाहे सीधे आए हो या अन्य बैंको द्वारा आए हो, कटौती पर ले लेता है। इस प्रकार ये ऋण थोडे समय के लिए दिए जाते हैं। यह इसलिए किया जाता है, जिसमें प्राप्त होने वाली आय के आधार पर, वह अपने चालू आर्थिक दायित्वो के भार से मुक्त हो सके। युद्ध-सरीखे आपत्तिकाल में सरकार को इस प्रकार दिए गए ऋण के फलस्वरूप बहुत अधिक मुद्रा स्फीति हो सकती है। १९१४-१८ में तथा इसके पश्चात् फ्रास, जर्मनी तथा योरोप में अन्यत्र ऐसा ही हुआ। "राज्य को दिये गये ऋण के कारण मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा के मूल्य में कमी होने के उदाहरणो से इतिहास भरा पडा है। अनुभव से ज्ञात होता है कि सरकार द्वारा अधिक ऋण लिया जाना चाहे वह केन्द्रीय बैंक से सीधा लिया जाय अथवा कटौतियो द्वारा लिया जाय, मुद्रा-स्फीति का सबसे सरल तथा कभी-कभी एक-मात्र साधन होता है।" (डी काक)।

जब केन्द्रीय बैंक खजाने के बिलो अथवा अन्य सरकारी प्रतिभूतियों के बदले मे सरकार को अग्रिम धन (advances) देता है, तब सरकार द्वारा खर्च किया हुआ

1 De Kock—op cit, p 64.

रुपया जिन लोगो को प्राप्त होता है, वह उसे पुन व्यावसायिक बैंको के पास जमा करा देते है। तदनुसार व्यावसायिक बैंको की केन्द्रीय बैंक मे जो रकम जमा होती है, वह बढती है। यह जमा रकम नकदी के समान ही समझी जाती है। और इसके आधार पर व्यावसायिक बैंक अपना ऋण तथा अग्रिम धन बढा लेता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति का प्रारम्भ होता है। अत यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक राज्य से अलग रहे जिसमें खतरे के समय धन की माग के रूप मे सरकारी दबाव का बैंक द्वारा विरोध हो सके। प्रथम महायुद्ध में तथा उसके पश्चात् कुछ देशो की सरकारो द्वारा ऋण लिये जाने के फलस्वरूप होने वाले विनाशकारी परिणामो को देखते हुए, हाल मे स्थापित कुछ केन्द्रीय बैंको (चिली, चेकोस्लोवेकिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत) पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगाए गए थे, जिसमें सरकार द्वारा लिए जाने वाले ऋण पर रोकथाम बनी रहे। परन्तु आपत्तिकाल में ये प्रतिबन्ध ढीले करने पडे।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया राज्य बैंक बन कर कई कार्य करता है। यह केन्द्रीय सरकार का तथा राज्यो की सरकारो का रुपया लेता है। उनकी जमा रकम की सीमा के अन्दर भुगतान करता है, उनका विनिमय तथा अन्य बैंक-विषयक कार्य सचालित करता है। राज्य को दिये गए अग्रिम धन के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक पर कोई रोक नही है, परन्तु वह अग्रिम-धन दिये जाने के तीन मास के अन्दर अवश्य वापस आ जाना चाहिये। बैंक किसी भी देश की सरकारी प्रतिभूतिया खरीद सकता है, किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि महाजनी विभाग में जितनी रकम की ऐसी प्रतिभूतिया हो, वह रकम कभी भी बैंक की शेयर-पूजी, रक्षित निधि तथा महाजनी विभाग के जमा सम्बन्धी दायित्वो के $\frac{3}{4}$ भाग के योग से अधिक न हो; साथ-साथ यह भी प्रतिबन्ध है कि वे प्रतिभूतिया, जो एक वर्ष में अथवा दस वर्ष मे पूरी होने वाली हो, किसी सीमा के बाहर न जायें।

११ केन्द्रीय बैंक बैंको के लिए बैंक के रूप मे (The Bankers' Bank)—केन्द्रीय बैंक महाजनो या अन्य बैंको के लिए बैंक के रूप मे तीन हैसियतो से कार्य करता है। (i) व्यावसायिक बैंको की नकद रक्षित निधि के अभिरक्षक की हैसियत से, (ii) ऋण देने के लिए अन्तिम आश्रय की हैसियत से, (iii) केन्द्रीय जमा खर्च, निपटारो तथा हस्तान्तरणो के लिए बैंक की हैसियत से।

(i) व्यावसायिक बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक में अपनी नकद रक्षित निधि जमा कराने की आदत का धीरे-धीरे विकास हुआ तथा इस आदत का केन्द्रीय बैंक के (सरकारी बैंक तथा नोट निकालने वाले बैंक के रूप में) कर्तव्यपालन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। केन्द्रीय बैंक के पास रक्षित निधि रखने में सुविधा होने का कारण यह था कि केन्द्रीय बैंको के नोटो पर सबसे अधिक विश्वास किया जाता था, तथा सरकारी बैंकिंग कार्य केन्द्रीय बैंक के द्वारा हुआ करते थे। पहले तो केन्द्रीय बैंक के पास नकद रुपया रखना (या नही रखना) अन्य बैंको की इच्छा पर निर्भर था। परन्तु बाद में अधिकतर देशो में यह एक कानूनी पाबन्दी कर दी गई

ऐसा करने से कई लाभ है। प्रथम, नकद धन के प्रयोग मे मितव्ययिता होती है। केन्द्रित होने पर राष्ट्र का नकद धन अधिक क्रियाशील हो जाता है। द्वितीय, व्याव-

सायिक बैंक अपनी रक्षित निधियो को, आवश्यकता पडने पर, केवल केन्द्रीय बैंक के बिलो में कटौती लगाकर बढा सकता है, तथा उन्हें स्वय अपने साधनो पर अवलम्बित नही रहना पडता। तृतीय, केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको को ऋण देने से सम्बन्धित नीति पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। ऐसा क्योकर होता है, यह आगे स्पष्ट किया जाता है।

भारत के अनुसूचित बैंको (Scheduled banks) (अनुसूचित बैंक वे है, जिनका नाम, उनकी चुकता पूजी तथा रक्षित निधि के आधार पर, रिजर्व बैंक अधिनियम की द्वितीय अनुसूची म समाविष्ट है) के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने माग-विषयक दायित्वो का कम से कम पाँच प्रतिशत तथा समय-विषयक दायित्वो का कम से कम दो प्रतिशत रिजर्व बैंक मे जमा रखे। वर्तमान काल में लगभग एक सौ अनुसूचित बैंक है।

(ii) केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के लिए ऋण-विषयक अन्तिम आश्रय है। जब व्यावसायिक बैंक अपने साधनो को समाप्त कर चुकते है तथा बाहरी साधनो से धन नही प्राप्त कर पाते तब केन्द्रीय बैंक का आश्रय ग्रहण करते है। केन्द्रीय बैंक पुन की हुई कटौतियो द्वारा यह कार्य सम्पन्न करता है।

सकुचित अर्थों मे, केवल प्रथम श्रेणी के व्यावसायिक तथा कृषि-सम्बन्धी बिलो की पुन कटौती (rediscounting) की जाती है। अर्थात् वे बिल, जो ऐसे व्यावसायिक बैंको, बिलो का लेन-देन करने वालो, या दलालो द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास लाये जाते है जिनको नकद रुपये की तात्कालिक आवश्यकता होती है और अपने किसी आदेश को नकद के रूप मे परिणत करना चाहते है। विस्तृत अर्थो मे, जोकि अब अधिकतर देशो मे मान्य है, पुन. कटौती करना "व्यावसायिक बैंको की लेनदारी को केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त दायित्व में परिणत करना है, चाहे ऐसा कार्य सीधा किया जाय या घुमाकर" (डी कॉक)। इस प्रकार पुन कटौती खजाने के बिलो तथा बैंको या अन्य अर्थ-केन्द्रो को दिये गये उन थोडी कालावधि वाले ऋणो पर भी लागू होती है जो केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलो, प्रामिसरी नोटो तथा सरकारी प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में दिये जाते है।

पुन कटौती की सुविधा के कारण व्यावसायिक बैंक अपना दैनिक कारोबार थोडी नकद रक्षित निधि द्वारा भी चला ले जाते है। क्योकि आपत्ति काल में वे केन्द्रीय बैंक का आश्रय ग्रहण कर सकते है। इससे व्यावसायिक बैंको की सम्पत्ति को अधिक लचीलापन तथा अस्थिरता प्राप्त हो जाती है। परन्तु पुन कटौती के क्रम का दुरुपयोग न होना चाहिए। केवल आपत्तिकाल में इसका उपयोग होना चाहिए, सामान्य व्यापारिक क्रियाओ मे नही। केन्द्रीय बैंक को भी कठिनाई के समय में सहायता देने को प्रस्तुत रहना चाहिए, किन्तु साधारणतया उदार नही होना चाहिये। व्यावसायिक बैंको में आत्म-निर्भरता बढाने के लिए यह आवश्यक है तथा आपत्तिकाल के लिए केन्द्रीय बैंक की शक्ति को संचित रखने के लिए भी यह आवश्यक है। केवल इतना ही भरोसा, कि आपत्तिकाल में केन्द्रीय बैंक से सहायता मिल सकती है, जनता मे व्यावसायिक बैंको का विश्वास जमाए रखने के लिए पर्याप्त है।

(iii) केन्द्रीय जमा-खर्च (Clearing) का कार्य सभी केन्द्रीय बैंक करते हैं। कुछ देशों में तो यह परम्परा अथवा सुविधा मात्र है, अन्य देशों में यह कानूनी पाबन्दी है। जबकि केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों की नकद रक्षित निधि के अभिरक्षक हैं, तो उनकी इस स्थिति का उपर्युक्त फल होना तर्कसंगत है जबकि अन्य बैंक, केन्द्रीय बैंक के पास नकद रक्षित निधि रखते हैं तो केन्द्रीय बैंक के खातों में जमा या नाम करा कर उनके आपसी निपटारे सुविधापूर्वक हो सकते हैं। कई देशों में तो बैंकों की आपसी तथा केंद्रीय बैंक से सम्बन्धित दायित्वों का खंडन करने के लिए अलग जमा-खर्च के केन्द्र होते हैं। इन देशों में, जो कुछ अंत में शेष निकलता है, वह बिना नकदी दिए व्यावसायिक बैंकों तथा केंद्रीय बैंक के खातों में जमा-खर्च मात्र से ही दिया-लिया जा सकता है। जमा-खर्च के फलस्वरूप किसी बैंक की केन्द्रीय बैंक के पास जमा निश्चित सीमा के नीचे भी गिर सकती है। ऐसी दशा में वह बैंक कुछ दिन के लिए पुनः कटौती के आधार का सहारा ले सकता है, जब तक कि कमी पूरी न हो जाय।

हिसाब निपटाने की प्रणाली सुविधाजनक होने के अतिरिक्त किफायती भी है। इससे, आपत्तिकाल में, बैंक से रकम उठाना कम हो जाता है, तथा बैंक द्वारा सम्पन्न होने वाली महाजनी पद्धति सुदृढ़ होती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक को यह पता रहता है कि व्यावसायिक बैंकों की सम्पत्ति की अस्थिरता के सम्बन्ध में उनकी दशा कैसी है। इस जानकारी से केन्द्रीय बैंक को देश में ऋण-विषयक फैलाव पर नियंत्रण रखने में सहायता मिलती है।

१२ साख का नियंत्रण (Control of Credit)—नियंत्रण के उद्देश्य (The Objectives)—केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर साख का नियंत्रण करता है —

(क) स्वर्ण के रूप में रहने वाले, रक्षित निधि को घटाने वाले भीतरी तथा बाहरी दबावों से उक्त निधि का बचाव,

(ख) भीतरी कीमतों पर स्थायित्व बनाए रहना,

(ग) विदेशी विनिमय का स्थायित्व प्राप्त करना, तथा

(घ) उत्पादन तथा रोजगार में घट-बढ़ (fluctuations) को दूर करना।

स्वर्ण-विषयक मापदण्ड बना रहने के कारण स्वर्ण निधि के बचाव की आवश्यकता उत्पन्न होती है। स्वर्ण मान देश (gold standard country) में सोने का स्वतंत्रता-पूर्वक आयात तथा निर्यात हो सकता है। तथा ऐसे देश की मुद्रा को कानून के अनुसार सोने या स्वर्ण मुद्रा के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है। ऐसे देश में साख के अत्यधिक विस्तार से मुद्रा-स्फीति हो जाती है। जब देश के अन्दर कीमतें बढ़ जाती है तब पहले तो बैंकों से अधिक नकदी निकाली जाती है तथा केन्द्रीय बैंकों से अधिक सोना निकाला जाता है, जिससे उच्च स्तर के सौदे निपट सकें। यह "निधि घटाने वाला भीतरी मार्ग" कहलाता है। दूसरी बात यह है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से देश के अन्दर कीमतें अधिक होती हैं तब आयात को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात हतोत्साह हो जाता है। व्यापार का सतुलन बिगड़ जाने के कारण सोने का निर्यात करना पड़ता है। इसको "निधि

घटाने वाला बाहरी मार्ग" कहते हैं। यदि विदेशी पूंजी लगाने वालों का मुद्रा के भविष्य में विश्वास उठ जाय और वे अपनी जमा वापस लेने लगें तो भी सोना बाहर जाने लगेगा। इन दशाओं में केन्द्रीय बैंक साख को सकुचित करेगा, कीमतों को गिराएगा, तथा स्वर्ण निधि घटाने वाले भीतरी तथा बाहरी मार्गों को बन्द करेगा।

दूसरा उद्देश्य आन्तरिक कीमतों में स्थायित्व बनाए रखना है। कीमतों की घट-बढ से होने वाली विभिन्न हानियों का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। कीमतों में स्थिरता न रहने से आर्थिक सम्बन्धों में गडबडी, विषमतायें तथा बुरे सामाजिक फल होते हैं। केन्द्रीय बैंक लोगों की आवश्यकतानुसार क्रय शक्ति की पूर्ति का नियन्त्रण करके घटबढ को बहुत कुछ कम कर सकता है।

विदेशी विनिमय (अर्थात् विदेश द्रव्य का देश के द्रव्य में मूल्य) में अस्थिरता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में गडबडी उत्पन्न होती है।

इस विषय पर मतभेद रहा है कि भीतरी कीमतों में स्थिरता या विनिमय की स्थिरता—इन दो उद्देश्यों में से कौनसा उद्देश्य लेकर केन्द्रीय बैंक को चलना चाहिये, जब कि अवसर ऐसा हो कि दोनों उद्देश्य एक साथ नहीं प्राप्त किये जा सकते हों। यदि समस्त सम्बन्धित देश स्वर्ण मान पर आरूढ हैं, तो भीतरी कीमतों के नियन्त्रण का फल अपने आप यह होगा कि विनिमय सकुचित सीमा[1] के अन्दर रहता हुआ स्थिर हो जायेगा। अत सन् १९१४ के महायुद्ध तक कीमत-स्तर में विशेष गडबडी उत्पन्न किये बिना ही, विभिन्न देश विनिमय को स्थिर बनाए रखते थे। किन्तु जिन दिनों में कागजी मुद्रा का रूपान्तर एक देश से दूसरे देश के बीच नहीं हो सका, उन दिनों में विभिन्न देशों की कीमतें अलग-अलग मार्गों पर चल पडी और फलस्वरूप एक देश तथा दूसरे देश के बीच कीमतों के स्तर में खाई हो गई। ऐसी परिस्थितियों में, विनिमय की स्थिरता चाहने वाले देश को अपने देश में कीमतों के स्तर में घट-बढ को विदेशी कीमतों के अनुरूप ही रखना पडा। ऐसा करने से उस देश की भीतरी आर्थिक व्यवस्था में बहुत उथल-पुथल हुई। अत आधुनिक काल में केन्द्रीय बैंकों ने भीतरी कीमतों की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया है, तथा विदेशी विनिमय को अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने के लिए छोड दिया है। अन्य विषयों में समानता न होने पर जिस देश की विदेशी व्यापार में अधिक रुचि होगी, (जैसे इगलैण्ड), वह विदेशी विनिमय पर अधिक ध्यान देगा, और जिस देश का तुलनात्मक दृष्टि से विदेशी व्यापार कम होगा (जैसे भारत) वह भीतरी स्थिरता पर अधिक ध्यान देगा। भारत सरकार की मुद्रा तथा विनिमय विषयक नीति की आलोचना के रूप में यह कहा जाता रहा है, कि यहाँ भीतरी कीमतों की स्थिरता पर कम ध्यान और विदेशी विनिमय की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया गया।

हाल ही के एक नये दृष्टिकोण के अनुसार विनिमय की स्थिरता तथा भीतरी कीमतों की स्थिरता इन दोनों उद्देश्यों की आवश्यकता नहीं है। विश्वव्यापी मंदी के दिनों

---

1 See "Specie Points"

के अनुभवो के आधार पर इस दृष्टिकोण ने जन्म लिया है। इसका कहना है कि केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य यही होना चाहिए कि व्यापारिक चक्र को रोके, उसे बढने न दे। उद्देश्य यह होना चाहिए कि व्यापार उचित रूप मे चलता रहे और उसमे ज्यादा मदी-तेजी (booms and slumps) न आए। बैंकिग नीति के औचित्य के विषय मे क्राउथर का कहना है कि "बैंकिग नीति अपने मे इतनी पर्याप्त नही होगी की आर्थिक पूर्ण समृद्धि (economic utopia) की स्थिति आजाए। इसका पहला काम तो जटिल साख पद्धति को उसकी प्राकृतिक अनिश्चितता से रोकना चाहिए जिससे आर्थिक घट-बढ मे वृद्धि न हो। इसका दूसरा काम ऐसी गडबड को कम करना है जिस पर इसका कोई वश नही चलता। किन्तु इन कारणो को हमे द्रव्य की सीमा से बाहर देखना चाहिए।"[1]

बहुत समय तक अर्थशास्त्री हाट्रे (Hawtrey) के इस विचार को मानते थे कि "बैंक-साख स्वत अस्थायी है"। इस विचार के अनुसार बैंक व्यापार-चक्र को और जटिल बनाते है। बैंक-साख स्फीति काल में स्फीति को प्रोत्साहन देती है और सकुचन के समय सकुचन को प्रोत्साहित करती है। प्रो विटलेसी (Whittlesey)[2] ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि बैंक के जमा स्थायी प्रभाव डाल सकते है। यह व्यापारिक बैंको के आदेश के रूप मे अन्तर पडने के कारण सम्भव हो गया है। पहले बैंको के अधिकाश आदेश व्यापारिक पत्रो (commercial papers) के रूप मे होते थे। लेकिन अब इनका अश घट गया है और सरकारी सिक्योरिटियो का अश बढ गया है जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है।

सन् १९४५ में अमेरिका मे सरकारी सिक्योरिटिया व्यापारिक बैंको के आदेय का ७५ प्रतिशत भाग थी। लडाई के बाद व्यापारिक पत्रो का अश बढ गया है लेकिन १९४८ मे सरकारी पत्र ५५ प्रतिशत थे जब कि सन् १९२९ मे केवल १० प्रतिशत थे।

१३ साख के नियंत्रण में कठिनाइया (Difficulties of Credit Control)—यदि केन्द्रीय बैंक उपर्युक्त उद्देश्यो मे से एक या अधिक को प्राप्त करना चाहे तो भी इस मार्ग मे भारी कठिनाइया है। प्रथम, साख का नियत्रण करने मे तो कठिनाइया है ही, द्वितीय, यदि साख को नियत्रण कर भी लिया जाय तो भी यह आवश्यक नही है कि उद्देश्य प्राप्त हो जायेंगे। साख के नियत्रण में कठिनाइया निम्न-लिखित है

(१) बैंक-साख ही का एकमात्र रूप नही है। अन्य प्रकार की व्यावसायिक साख जैसे विनिमय-पत्र, ऐसे प्रामिसरी नोट जिनकी बैंको द्वारा कटौती नही हुई है, खाता बाकी आदि होते है, जिन पर केन्द्रीय बैंक का नियत्रण नही के बराबर है।

(२) बैंक साख के मामले मे भी समस्त बैंको का केन्द्रीय बैंक से सीधा सम्बन्ध नही होता। उदाहरणार्थ, सयुक्त राज्य में व्यावसायिक बैंको मे से जिनके साधन सम्पूर्ण साधनो

1 Crowther—Op cit, p 201

2 Whittlesey, C.R—The American Economic Review, December 1949, pp. 192—98

का पाँचवाँ अश है, फेडरल रिजर्व प्रणाली के बाहर है। भारत मे तो पुराने ढग के महाजन, जो भारत के कुल महाजनी कारोबार का ९० प्रतिशत कारोबार करते है, अब भी रिज़र्व बैंक के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर है।

(३) यदि समस्त बैंक "सदस्य" बन जाये, तो भी व्यावसायिक बैंको के सदा सहयोग नही देने पर तथा निश्चित मार्ग पर न चलने पर वही प्रश्न शेष रह जाता है। बिना इस सहयोग के साख का नियन्त्रण हो ही नहीं सकता।

(४) देश के आर्थिक ढाचे में बैंको के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी हैं। अर्थात् वे परिस्थितियाँ, जो व्यापारी वर्ग के रुख को प्रभावित करती रहती है, केन्द्रीय बैंक के कार्य-क्षेत्र के परे है।

(५) साख का प्रयोग क्योकर और कैसे किया जायगा, इस पर केन्द्रीय बैंक को नियन्त्रण नही प्राप्त हो सकता। उदाहरणार्थ, पूर्ण व्यावसायिक ऋणो का प्रयोग सट्टे में किया जा सकता है।

इसका यह अर्थ नही कि केन्द्रीय बैंक द्वारा किये गये साख को नियन्त्रित करने के प्रयत्न का असफल होना अवश्यम्भावी है। ऊपर तो केन्द्रीय बैंक के कार्यक्षेत्र की सीमायें दी हुई है। बैंक के अधिकारियो को इनका ध्यान रखना पडेगा।

यदि बैंक साख को नियन्त्रित कर भी ले, तो भी इसका यह अर्थ नही कि कीमतो में स्थिरता, विनिमय स्थिरता आदि अपने आप आ जायेगी। इसमें भी कठिनाइयाँ उपस्थित होती है।

अब हम साख के नियन्त्रण की प्रणालियों पर विचार करेंगे—ये है · (i) बैंक-दर की नीति (ii) खुले बाजार के कृत्य (iii) साख की राशनिंग, (iv) अन्य प्रणालियाँ।

१४ बैंक-दर की नीति (The Bank-Rate Policy)—बैंक-दर वह दर है जिस पर किसी देश का केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के बिलो की कटौती करने को प्रस्तुत रहे। अत यह दर केन्द्रीय बैंक की कटौती की दर है। बाजार रेट या कटौती की दर वह दर है, जो द्रव्य-बाजार में अन्य ऋण देने वाली सस्थाओं में प्रचलित हो। केन्द्रीय बैंक अन्तिम आश्रय के रूप में ऋण देने वाला बैंक होता है, अत बैंक की दर बाजार की दर से ऊची होती है। 'ब्याज की दर'—ये शब्द अधिकतर लम्बी अवधि के लिये लगाये गए धन पर लागू होते है। 'अल्पकालीन दर' (call rate) ब्याज की उस दर को कहते है जो बिलो के दलालो को थोडे समय के लिए अग्रिम देने के लिए की जाती है। पूर्णतया विकसित द्रव्य बाजार में इन समस्त दरो का एक दूसरे से निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। उदाहरणार्थ, प्रथम महायुद्ध के पूर्व इग्लैण्ड में बैंक अपनी 'अल्पकालीन दर' को अधिकतर बैंक दर से लगभग १॥ प्रतिशत नीचा रक्खा करते थे तथा बिलो के दलालो आदि को बहुत छोटी अवधि के लिए दी गई रकमो के लिए साधारणतया जमा कराने की दर से ½ प्रतिशत ऊँची दर रक्खी जाती थी, जिसमें बैंक को लेन-देन में मुनाफा रहे। ग्राहको से अग्रिम धन में बैंक-रेट से लगभग एक प्रतिशत अधिक लिया जाता था, किन्तु पाच प्रतिशत न्यूनतम दर थी। कटौती की बैंक-दर तथा बाजारू दर का सम्बन्ध द्रव्य-बाजार की परिस्थितियो पर

निर्भर रहता था।

ऐसी परिस्थितियो मे बैंक-रेट के बदलने से अन्य सब रेट साधारणतया उसी ओर चल पडते थे, किन्तु सर्वदा ऐसे परिणाम उत्पन्न नहीं हुआ करते थे।

उन देशो मे जिनमे द्रव्य-बाजार इतनी भली भाति सुसगठित नही है, बैंक-दर तथा अन्य दरो का सम्बन्ध इतना निकट नही होता। अत केन्द्रीय बैंक कटौती की अपनी दरो या रेट मे परिवर्तन करके अन्य दरो मे परिवर्तन इसी सीमा तक नही कर पाता।

बैंक-दर की नीति का सिद्धात (The Theory of Bank-rate Policy)—इस सिद्धान्त के अनुसार केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर में परिवर्तन करने पर समस्त स्थानीय दरो मे परिवर्तन आ जाता है। यदि बैंक-रेट बढाया जाता है, तो बाजारू-दर तथा द्रव्य-बाजार की अन्य ऋण देने की दरे बढ जाती है, तथा जब केन्द्रीय बैंक अपना बैंक-रेट घटा देता है तब कटौती की बाजारू-दर तथा अन्य दरें भी गिर जाती है। इन परिवर्तनो का प्रभाव द्रव्य की मांग तथा पूर्ति पर पडता है। जब दरे बढ जाती है, ऋण लेना कम, तथा जब दरे घट जाती है, ऋण लेना बढ जाता है। अर्थात् प्रथम परिस्थिति मे साख सकुचित तथा द्वितीय परिस्थिति मे विस्तृत हो जाती है। विदेशी थोडी अवधि वाली पूजी का प्रवाह भी प्रभावित होता है। जब दरे ऊची होती है तब विदेशी निधि आने लगती है और जब नीची होती है तब जाने लगती है। साख के सकुचन से भीतरी कीमतो का स्तर गिरने लगता है तथा साख के विस्तार से भीतरी कीमतो का स्तर उठने लगता है। जब व्याज की दरें नीची होती है, तब व्यापारिक तथा औद्योगिक दोनो प्रकार की क्रियाएँ प्रोत्साहित होती है, तथा जब ऊँची होती है, तब हतोत्साह होती है। साख को सकुचित करके घरेलू लागत तथा कीमतो को गिराकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे समता लाई जा सकती है, क्योकि इसके फलस्वरूप निर्यात बढेगा तथा आयात घटेगा।

स्वर्णमान के अन्तर्गत बैंक-दर की नीति (Bank-Rate Policy under Gold Standard)—इस नीति का सिद्धात स्वर्ण मान के विशेषतया अनुकूल है। अत ब्रिटेन मे १९१४ के पूर्व इसने बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया। स्वर्ण मापदण्ड के अन्तर्गत व्यापार का असतुलन तब होता है जब विनिमय की गति उस स्थल पर पहुच जाती है जहा कि सोने का निर्यात सीमा पार हो जाय तथा सोना बाहर जाने लगे। ऐसा होने का कारण या तो पूजी का अत्यधिक निर्यात होना है या तैयार माल का अत्यधिक आयात होता है। इसके विपरीत जब भुगतान शेष (balance of apayment)[1] पक्ष में हो जाता है तब सोने का प्रवाह भीतर की ओर हो जाता है।

सोने का प्रवाह बाहर की ओर होने का कारण यह हो सकता है कि उत्पादन की घरेलू लागत अधिक हो, जिसके फलस्वरूप निर्यात हतोत्साहित हो जाय और

---

1 For "Balance of Payment" see Ch XLI.

आयात प्रोत्साहित हो जाये, या अपने देश की मुद्रा पर अविश्वास होने के कारण, विदेशो में पूजी अधिक लगा दी जाय या सट्टे का प्रभाव काम कर रहा हो। ऐसी परिस्थितियो मे बैंक-रेट बढाने का फल हुआ—साख का सकुचन। वस्तुओ तथा प्रतिभूतियो का विक्रय बढ गया, क्योकि व्याज की दर ऊची होने के कारण उनको पडी रहने में लागत अधिक हो गई, विभिन्न वर्गो की आय घट जाने के कारण घरेलू माग कम हो गई, सट्टा तथा नये काम मे पूजी लगाना कम हो गया, कीमतें और मजदूरी कम हो गई। अत फल यह हुआ कि निर्यात बढने लगा, विदेशी पूजी आने लगी, विदेशी पूजी जो लगी हुई थी, कम होने लगी आदि। इस प्रकार समयानुसार सतुलन पुन स्थापित हो गया। सोने का बाहर जाना बन्द हो गया। यदि इस नीति को काफी दिन तक बरता जाय तो सोना देश में आने लगेगा, साख का तनाव (credit stringency) कम हो जाएगा, द्रव्य की दरे गिर जायेंगी तथा कारोबार पुन जोर पकडेगा।

इस प्रकार बैंक-दर के ऊचा करने के दो प्रभाव पडते हैं (1) तात्कालिक (immediate) तथा अन्त्य (ii) (ultimate)। तात्कालिक फल तो यह होता है कि बिलो की कटौती महगी हो जाने के कारण ऋण लेना कम हो जाता है। द्रव्य बैंको के बाहर नही जा पाता। यही नही, बाहर की निधि भी आने लगती है, क्योकि बैंक-रेट के बढने पर महाजनो की रुपया जमा करने की दर भी बढ जाती है। अन्त्य का फल यह होता है कि जब सोना लगातार आता रहता है, तो केन्द्रीय बैंक बैंक-रेट को नीचा गिराता है। इससे द्रव्य का मूल्य कम हो जाता है, साख, व्यापार, उत्पादन, रुपया लगाना, तथा सट्टा ये सब प्रोत्साहित होते है, घरेलू कीमतें तथा लागत बढ जाती है। आयात प्रोत्साहित होता है तथा निर्यात हतोत्साहित होता है। विदेशो में रुपया लगाने को प्रोत्साहन मिलता है। यदि लम्बी अवधि तक यही नीति बरती जाती रहे तो भुगतान में असतुलन पैदा हो जायेगा और सोने का प्रवाह भीतर की ओर न रह कर बाहर की ओर हो जायेगा।

बैंक दर-नीति की सीमायें (Limiting Conditions of Bank Rate Policy)—विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि बैंक-दर नीति की सफल क्रियान्विति के लिये कई शर्तों का पालन आवश्यक हो जाता है—

(1) अन्य सब दरो की गति को बैंक-दर की गति का अनुगामी होना चाहिये, जिसमें यथासम्भव साख विस्तृत तथा सकुचित होता रहे।

(ii) देश का आर्थिक ढाचा लचीला होना चाहिये, जिसमें साख-विषयक परिवर्तन के फलस्वरूप मजदूरी, लगान, उत्पादन, व्यापार आदि मे भी तदनुसार परिवर्तन हो जाय।

ब्रिटेन सरीखे सगठित द्रव्य-बाजार में प्रथम शर्त परिपूर्ण होती है।

ब्रिटेन में ऐसी परिपाटी हो गई है कि अन्य सब दरो का सम्बन्ध बैंक दर से एक-सा ही चलता रहता है। कभी-कभी जब द्रव्य-बाजार में आवश्यकता से अधिक निधि सचित हो जाती है, बैंक-दर भले ही प्रभावशाली न रहे, और अन्य मार्ग ग्रहण करना पडे। बहुत से अन्य देशो में यह शर्त भी पूर्ण नही होती। अत वहाँ बैंक-दर-नीति को बहुत कम

सफलता प्राप्त होती है । दूसरी शर्त के सम्बन्ध मे भी ब्रिटेन की स्थिति विशेषतया सन् १९१४ के युद्ध के पूर्व, बहुत अच्छी थी । आर्थिक ढाचा बहुत लचीला था । द्रव्य की दरो तथा साख की परिस्थितियो मे परिवर्तन के अनुसार मजदूरी, लगान और उत्पादन में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाया करता था। कुछ समय पश्चात् ब्रिटेन के आर्थिक ढाचे का लचीलापन जाता रहा। इसके कई कारण थे, जिनमे स्वर्णमान का टूट जाना, मुद्रा का नवीन प्रबन्ध के अन्तर्गत आ जाना, तथा मजदूरी तथा कीमतो का नियमन प्रधान थे ।

अन्य देशो मे, बैंक-दर-नीति को बहुत कम सफलता मिली, क्योकि उपर्युक्त दोनो शर्तें विद्यमान नही थी । हाल में साख के नियन्त्रण का यह मार्ग ब्रिटेन मे भी गौण हो गया है। इसके महत्त्व में कमी का कारण है—द्रव्य-बाजार की परिस्थितियो मे परिवर्तन तथा आर्थिक ढाचे का कठोर हो जाना । द्रव्य-बाजार के विषय मे विकास के रूप में कई परिवर्तन हुए । घरेलू व्यापार अब बैंक ड्राफ्टो के आधार पर अधिक और विनिमय पत्रो के आधार पर कम चलता है । विदेशी हुडियो का महत्त्व भी कम हो गया है क्योकि लदन का आर्थिक स्तर आज इतना ऊचा है जितना १९१४-१९१८ के युद्ध के पूर्व था । इससे लदन मे कटौती के लिए आने वाली विदेशी हुडियाँ कम हो गई है, यही नही, थोडी अवधि की लागत के लिए खजाने के बिलो ने थोडी अवधि की हुडियो का स्थान ग्रहण कर लिया है। इससे द्रव्य-बाजार पर खजाने का प्रभाव बढ गया है। इस प्रकार के परिवर्तन बैंक दर नीति की क्रियान्विति के लिए उपयोगी नही होते ।

१५ बैंक-दर नीति के सम्बन्ध मे कीन्स का दृष्टिकोण (Keynes' View of Bank-Rate Policy)—स्वर्गीय लार्ड कीन्स के मतानुसार बैंक-दर के पुराने सिद्धान्त इस बात पर बहुत जोर देते थे कि बैंक-दर बैंक के द्रव्य की मात्रा का नियमन करने का तथा देश की स्वर्ण-निधि के रक्षण का साधन है । उन सिद्धान्तो में इस बात पर ध्यान नही दिया जाता था कि बचत को दृष्टिगत रखते हुए, रुपया लगाने की दर पर बैंक-रेट का क्या प्रभाव पडता है। रुपया लगाने तथा बचत—इन दोनो के सम्बन्ध में परिवर्तन का कीमतो, उत्पादन, काम धधे तथा मजदूरी पर क्या प्रभाव पडता है ।

कीन्स हाटरे की आलोचना करते है । हाटरे ने रुपया लगाए जाने के विषय पर जोर दिया था, किन्तु "केवल एक प्रकार से रुपया लगाए जाने पर (अर्थात विक्रेताओ और दलालों द्वारा अस्थिर वस्तुओ में रुपया लगाया जाना) बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव बतलाया जाता है, जिसका वास्तव में अस्तित्व नही है ।"[1] कीन्स के मतानुसार अल्पकालीन व्याज की दर मे तथा चालू पूजी वाली वस्तुओ के स्टाक मे परिवर्तन द्वारा आर्थिक स्थिति को प्रभावित नही किया जा सकता, वरन् दीर्घकालीन व्याज की दरो तथा निश्चित पूजी वाले माल द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव न केवल अल्पकालीन व्याज की दरो पर पडता है, वरन्

1 Keynes, A Treatise on Money; Vol I, p 193

दीर्घकालीन दरो पर भी पडता है क्योकि दोनो एक दूसरे से सम्बन्धित है। दीर्घकालीन दरो में परिवर्तन का प्रभाव रुपया लगाने वालो पर पडता है। रुपया लगाना दीर्घकालीन व्याज तथा लाभ की गुजाइश पर निर्भर है। यदि यह मान लिया जाय कि लाभ की गुजाइश उतनी ही रहेगी तो दीर्घकालीन दर जितनी ऊची होगी, रुपया लगाना उतना ही कम आकर्षक। जब उद्यमी निश्चित पूजी वाले माल पर कम खर्च करता है, तब वडे माल के व्यापार में काम कम हो जाता है। इसका फल होता है—कुल आर्थिक आय का सकुचन तथा चालू उपभोग व्यय में कमी। इसका फल यह होता है कि उपभोग्य माल के व्यापार में भी काम की कमी हो जाती है। उत्पादन तथा कीमतें चारो ओर से गिरने लगती है। इसके विपरीत जब व्याज की दरे गिरती है, तब फल उल्टा होता है।

अपनी हाल ही की कृति[1] मे कीन्स ने सामान्य आर्थिक स्थिरता के लिये बचत तथा रुपया लगाये जाने—इन दोनो में सतुलन बनाए रखने के महत्व पर और अधिक जोर दिया है किन्तु उसके मतानुसार खुले बाजार में सचालन (operation) द्वारा द्रव्य की मात्रा के नियमन को छोडते हुए, इस प्रकार की साम्यावस्था (equilibrium) बैंक-दर नीति द्वारा नही वरन् राज्य द्वारा, राज्य की ओर से रुपया लगाया जाना सगठित करके तथा मदी के काल में सार्वजनिक कार्य प्रारम्भ करवा कर किया जाना चाहिये। कीन्स का कथन है कि बैंक-दर नीति साख के नियन्त्रण की ऐसी रीति है, जो अब पुरानी हो चुकी है।

बैंक-दर-नीति का प्रयोग अब भी समाप्त नही हुआ है किन्तु इसका महत्व बहुत कुछ कम हो गया है। अब भी यह गलत प्रवृत्तियो को सुधारने तथा द्रव्य की पूर्ति तथा माग पर अपने प्रभाव द्वारा, सतुलन के पुन स्थापन का साधन है। इस नीति की क्रिया-पद्धति अल्पकालीन व्याज की दरो तथा अस्थिर माल मे रुपया लगाये जाने को प्रभावित करने के द्वारा है (जैसा कि हाटरी का कथन है), अथवा दीर्घकालीन व्याज की दरो, तथा वडे माल में रुपया लगाये जाने को प्रभावित करने के द्वारा है (जैसा कीन्स का कथन है)—यह पता लगाना कठिन है। चाहे रुपया अस्थिर माल में या बडे माल में लगाया जाय, व्याज तो केवल लागत के तत्वो में से एक तत्व-मात्र है। व्यापार तथा कीमतो की दशा पर बहुत से तत्वो का प्रभाव पडता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हाटरी तथा कीन्स ने क्रियाओ की जो व्याख्या की है, वह एक दूसरे से बिल्कुल असम्बद्ध नही है। अन्तर केवल जोर देने से हो जाता है। बैंक-दर में परिवर्तन के फल-स्वरूप स्टाक रखे जाने में भी परिवर्तन हो सकता है और निश्चित पूजी वाले माल में रुपया लगाये जाने में भी।

१६ खुले बाजार की नीति (Open-Market Operations)—विस्तृत अर्थो मे, खुले बाजार की नीति का अर्थ है—केन्द्रीय बैंक द्वारा ऐसे किसी कागज की खरीद या बिक्री, जिसका केन्द्रीय बैंक आदान-प्रदान करता है, जैसे सरकारी प्रतिभूतिया, या अन्य सार्वजनिक प्रतिभूतिया या व्यापारिक हुडिया आदि, किन्तु इस

1 General Theory of Employment, Interest and Money, p 164

गद का प्रयोग सरकारी प्रतिभूतियो की खरीद या बिक्री के सम्बन्ध में होना है, चाहे वह अल्पकालीन हो या दीर्घकालीन। यह खरीद या बिक्री केन्द्रीय बैंक की ओर से, जानबूझ कर बरती जाने वाली साख नीति के रूप में की जाती है। गत बीस या तीस वर्षो में साख के नियन्त्रण की इस रीति का महत्व अधिक हो गया है।

खुले बाजार मे सचालन का सिद्धान्त यह है—प्रतिभूतियो के विक्रय के फलस्वरूप साख सकुचित होती है तथा क्रय के फलस्वरूप साख का विस्तार। जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतिया बेचता है, उनको बदले मे किसी व्यावसायिक बैंक का चेक मिलता है। यदि खरीदार (क्रेता) कोई बैंक है, तो उसी बैंक पर ही चेक काटा जाता है। दोनो स्थितियो मे फल एक ही होता है। सम्बन्धित बैंक की वह रोकड बाकी, जो केन्द्रीय बैंक के पास रहती है, कम हो जाती है। रोकड घटने से बैंक को ऋण घटाना पडता है। इस प्रकार साख का सकुचन होता है। जब केन्द्रीय बैंक, प्रतिभूतिया खरीदता है तो अपने आप पर ही चेक काट कर अदायगी करता है। इससे व्यावसायिक बैंको की रोकड बाकी बच जाती है और वे साख का विस्तार कर सकते है। "विधिमान्य मुद्रा (legal tender money) का ध्यान रखो और साख स्वयं अपना ध्यान रखेगी" यही सूत्र है।

बैंक-दर-नीति को प्रभाव-युक्त बनाने के लिए यह रीति कभी-कभी ग्रहण की जाती है। यदि सदस्य बैंक, बैंक-दर के अनुसार अपनी दरो को न बढावे, क्योकि उनके पास अतिरिक्त निधि हो, तो केन्द्रीय बैंक इस अतिरिक्त निधि को प्रतिभूतिया बेचकर खीच सकता है, तथा इस प्रकार बैंको को अपनी दरे बढाने के लिए बाध्य कर सकता है। बाजार में निधि की कमी बैंको को बाध्य कर देती है कि वे सीधा या घूमकर केन्द्रीय बैंक से हुडियो को पुन कटौती करवा कर ऋण ले। यदि बैंक-रेट ऊँचा है तो बाजार-रेट तब नीचा कैसे रह सकता है?

सिद्धात की सीमाये (Limitations of the Theory)—यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त तभी काम करेगा जब कुछ शर्तें पूर्ण हो। ये शर्तें निम्नलिखित है—

(i) जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियो की खरीद करता है, तब सदस्य बैंको की नकद निधि बढ जाती है, तथा जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतिया बेचता है, तब सदस्य बैंको की नकद निधि घट जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि यह न हो। प्रतिभूतियो का विक्रय बैंको मे सोना आ जाने से, या चलन में रहने वाले नोट आ जाने के बराबर हो सकता है। प्रतिभूतियो की खरीद के साथ-साथ सोने की निकासी या एकत्रीकरण के लिए नोटो की खीच भी हो सकती है। दोनो दशाओ में सदस्य बैंको की नकद निधि प्रभावित नही होगी।

(ii) और यदि नकद निधि घट या बढ भी जाय तो भी बैंक तदनुसार साख का विस्तार या सकुचन न करे। रोकड और साख का अनुपात बिल्कुल निश्चित नही होता तथा बडी सीमाओ के अन्दर रहता हुआ भिन्न स्थिति मे भिन्न हो सकता है। बैंक केवल नकदी साधनो के आधार पर साख को विस्तृत या सकुचित नही करेगा वरन् विद्यमान आर्थिक तथा राजनैतिक दशा को देख कर।

(iii) तीसरी शर्त है कि जब व्यावसायिक बैंको के नकदी साधन बढेंगे तब ऋणो तथा अग्रिम धनो की माग भी बढेगी। विपरीत क्रिया का विपरीत फल होगा। परन्तु ऐसा होना भी आवश्यक नही है। आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के डावाडोल होने पर सस्ती दर पर भी ऋण लेने वाले न मिलें, यह सभव है। इसके विपरीत जब व्यापार चलता है, तथा लाभ की गुजाइश होती है, तब उद्यमी ऊँची दर पर भी ऋण लेगा।

(iv) अन्त में, बैंक की साख का चलन सम-गति (constant velocity) से चलना चाहिए। परन्तु बैंक में जमा होने वाली रकम की गति एक-सी नही होती। व्यापार की उन्नति के समय में जमा होने वाली रकम की गति बढ जाती है और मन्दी के दिनो में घट जाती है।

अत चलन की गति अधिक हो जाने से साख के सकुचन की नीति निष्फल की जा सकती है। इन सीमाओ के होते हुए भी, बैंक को साख के सकुचन तथा विस्तार में तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियो के विक्रय तथा क्रय में अच्छा खासा सम्बन्ध है।

बाजार में होने वाले सचालनो के लिए यह आवश्यक है कि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियो का बाजार बडा तथा चलता हुआ हो। इस प्रकार का बाजार ब्रिटेन और सयुक्त राज्य अमरीका में ही है, अत साख के नियन्त्रण की यह रीति इन दो देशो में बहुत प्रभावोत्पादक ढग से प्रयुक्त हुई है।

विशेषतया ब्रिटेन में इस रीति का प्रयोग बैंक दर को क्रियाशील बनाने के लिये, मौसमी गतिविधि (seasonal movements) के निधि पर प्रभाव का सामना करने के लिये, सोने के आने या जाने को प्रभावहीन करने के लिये तथा सस्ता द्रव्य प्राप्य बनाये रखने के लिए बहुत किया गया है।

१७ साख-सम्बन्धी राशनिंग (Credit Rationing)—साख की राशनिंग का अर्थ उन नियत्रणो से है, जो द्रव्य की कमी के समय मे केन्द्रीय बैंक द्वारा लगाये जाते है। प्रत्येक प्रार्थी की रकम सीमित कर देने से साख की राशनिंग हो जाती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक छोटी अवधि के पश्चात् पूरी होने वाली हुडियो की ही कटौती स्वीकार करता है। बैंक ऑफ इगलैण्ड द्वारा इस रीति का प्रयोग १८वी शताब्दी के अन्त तक किया गया जब कि व्याज-विषयक कानूनो द्वारा कटौती की दर पाच प्रतिशत से अधिक नही हो सकती थी। हाल ही मे, विशेषतया प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न होने वाली कठिन परिस्थितियो में रूस तथा जर्मनी सरीखे कई देशो ने साख की राशनिंग की नीति ग्रहण की।

इस रीति का दुष्प्रयोग बहुत हो सकता है अत इसको केवल आपत्तिकाल मे ही प्रयुक्त किया जाना चाहिये।

१८ अन्य रीतिया (Other Methods)—साख नियन्त्रण की अन्य रीतियो का सक्षेप मे विवेचन किया जा सकता है। सीधी कार्यवाही का एक मार्ग होता है। इसका अर्थ है दबाव डालने वाली नीति, अर्थात् जिन बैंको की साख नीति केन्द्रीय

बैंक की इच्छानुसार न हों, उनकी हुंडियो मे पुन कटौती करने से इन्कार करना। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सदस्य-बैंको से प्रार्थना कर सकता है तथा उन्हे समझा सकता है कि सट्टे या अनावश्यक अभिप्रायो के लिये ऋण को न बढ़ावें। कानून द्वारा केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह सदस्य बैंको की न्यूनतम रक्षित निधि को परिवर्तित कर सकें। अन्त मे, प्रचार का साधन भी प्रयुक्त होता है। पाक्षिक आकडे, निश्चित समय पर द्रव्य बाजार की दशा का पुनर्विलोकन, सार्वजनिक वित्त, व्यवसाय तथा उद्योग की तलपट के रूप मे आदेय तथा देनदारी का पाक्षिक विवरण आदि प्रकाशित करना।

सेन्ट्रल बैंक की साख नियन्त्रण शक्ति के विषय मे क्राउथर ने लिखा है "देश मे उपलब्ध द्रव्य मात्रा का नियन्त्रण करने की सेन्ट्रल बैंक की सीमा है। किन्तु ये सीमाएँ विस्तृत तथा लोचदार हैं। इसलिये जहा तक द्रव्य की मात्रा का सम्बन्ध है, सेन्ट्रल बैंक का आधुनिक समाज मे नियन्त्रण काफी भारी है। इस प्रश्न का, "मौजूदा द्रव्य की मात्रा कौन निश्चित करता है ?" उत्तर यह है "सेन्ट्रल बैंक की नीति, सामान्य रूप से जो कि अपना विवेक काम में लाते हैं उस सीमा के अन्दर, विस्तृत है , अपने क्षेत्र में केन्द्रीय बैंक स्पष्ट रूप से डिक्टेटर के समान है।"[1]

१६ अन्तिम ऋणदाता (Lender of Last Resort)—आपात काल में नकदी की माँग पूरा करने का काम केन्द्रीय बैंक का है। जब लोगो मे हलचल फैल जाती है और उनकी निष्ठा कम हो जाती है, जब दूसरे बैंको मे भी गड़बड़ होने लगती है तो सेन्ट्रल बैंक निर्भयता से सामने आता है और नकदी देकर उस भय को कम करता है। इतने तरल अधिमान की स्थिरता पर सिर्फ सेन्ट्रल बैंक ही काबू पा सकता है। इस स्थिति के लिए सेन्ट्रल बैंक के विधान में ऐसे उपबन्ध होने है कि वह नियमित राशि से अधिक नोट जारी कर सके।

इसके लिए हम रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया का उदाहरण पेश कर सकते है जिसने इस ओर बडा सफल कार्य किया है। कृषि वित्त की उन्नति, बैंक सुधार कार्य, कष्टग्रस्त बैंको की सहायता, महाजनो की बैंकिंग संस्थाओ को आधुनिक बैंको मे मिलाना आदि ऐसे कार्य हैं।

२०. केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Central Banks)—पिछले कुछ वर्षों मे कई केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इनमे बैंक आफ इग्लैण्ड तथा भारतीय रिजर्व बैंक प्रधान है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि ये बैंक सार्वजनिक संस्थाएं तो समझी ही जाती हैं। इनके भागीदारो के हित की अभिवृद्धि के स्थान पर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि होती है। केन्द्रीय बैंक एक निश्चित सीमा से अधिक लाभांश (dividend) नही घोषित कर सकता। हिस्सेदारो को उतना ही मिलता है जितना सरकारी प्रतिभूतियो मे रुपया लगाने वालो को। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बहुत कुछ राष्ट्रीय संस्थाये

1 An Outline of Money, 1950, p 58

होती है। यदि वास्तव में ये ऐसी है तो कानूनन उनको ऐसा क्यो न घोषित कर दिया जाय ?

दूसरे, सरकार हिस्सेदारो के हितो पर विशेष ध्यान रखे विना, राष्ट्रीय हित में और अधिक दृढता पूर्वक तथा सुचारु रूप से कार्य कर सकेगी। सचालकगण कुछ व्यक्तियो के प्रतिनिधि न होकर सरकार द्वारा मनोनीत (nominated) होगे। हिस्सेदारो के प्रतिनिधि होने की दशा मे उनको कुछ तत्सम्बन्धी वातो का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। किन्तु सरकारी तौर पर मनोनीत होने पर उनका दृष्टिकोण विल्कुल वदल जायेगा।

तीसरे, केन्द्रीय वैंक जमा रकम पर कोई व्याज नही देता, अत उसे वहुत लाभ होता है। राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यह लाभ समाज को होगा, हिस्सेदारो की सीमित सख्या को नही।

चौथे, केन्द्रीय वैंक प्रधानतया सरकारी काम करता है, करो आदि का सग्रहण (collection), सरकारी ऋणो का प्रवन्ध आदि। मुद्रा की निकासी पूर्णतया सरकारी कार्य है, जिसे केन्द्रीय वैंक करता है। जनता को ठोस तथा पक्की मुद्रा का दिया जाना महान् राष्ट्रीय महत्त्व का विषय है। अत यह उचित ही है कि केन्द्रीय वैंक सरकारी हो।

पाचवे, केन्द्रीय वैंक का कारोवार क्रमवद्ध होता है तथा एकाधिकार के रूप में है, अत राजकीय प्रवन्ध के अन्तर्गत सुचारु रूपेण चल जाता है।

आजकल समाजवाद की धूम है। केन्द्रीय वैंक के राष्ट्रीयकरण से जनता की इच्छाओ की पूर्ति होगी तथा समाजवाद की ओर कदम वढेगा।

राष्ट्रीयकरण के विरोधी नौकरशाही के भूत को सामने लाकर खडा कर देते है। वे कहते हैं कि वैंकिग व्यावसायिक उद्यम है, तथा उसका पूर्णतया व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार चलाया जाना जरूरी है। स्थायी राजकीय कर्मचारी ऐसा नही कर सकेंगे। उनका पद स्थायी होता है तथा सेवाकाल के आधार पर उनकी तरक्की होती है। अत अच्छा काम करने की सारी भावना तथा प्रेरणा मारी जाती है। ये लोग सरकारी घिस-पिस मे वधे रहते है।

इसके अतिरिक्त वैंकिग के कारोवार के लिये विशेष ज्ञान अपेक्षित है तथा सामान्य मत्री इसे नही समझ सकता। अत उसे अपने स्थायी कर्मचारियो के हाथ में रखना पडेगा।

यह भी कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता नही है, क्योकि केन्द्रीय वैंक पूर्णतया राष्ट्रीय हितो के आधार पर सचालित हो रहा है। शेयरहोल्डर्स को जो लाभाश मिलता है, वह वहुत अधिक नही है। केन्द्रीय वैंक के राष्ट्रीयकरण का सबसे वडा खतरा यह है कि केन्द्रीय वैंक को राजनीतिक दलवन्दी की चालो मे कही दाव पर न रख दिया जाय। विचारहीन मत्रिमण्डल द्वारा केन्द्रीय वैंक का उपयोग दल का मतलब गाठने के लिये किया जा सकता है न कि समूचे राष्ट्र के कल्याण के हेतु। श्नाइयर का कथन है, "पूर्ण सेन्ट्रल वैंक का मुख्य कार्य लोक भावना के विरुद्ध तैरना है,

जो कभी अति आशावादी होती है तो कभी अत्यधिक निराशावादी। राज्य की ओर से यदि सेन्ट्रल बैंक की नीति गणतन्त्र के लिए लोकप्रिय होने की रहे तो यह अन्त में हानिकारक होगी।" इस पर "अन्तिम रूप से सरकारी नियन्त्रण तो होना ही चाहिए। इसके अलावा अन्तिम नियन्त्रण का श्रेणीबद्ध कार्यक्रम विषय सही बात से लेकर दिन प्रति दिन हस्तक्षेप तक, जहा सेन्ट्रल बैंक की स्वतन्त्रता शुरू होती है, सिद्धान्त की बात न होकर कार्य-साधक होने का विषय है।"

सारी स्थिति को समझ कर हम यह कह सकते है कि केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण ने अपने औचित्य को सिद्ध कर दिया है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीयकरण के खतरो को अधिकतर बढा-चढा कर प्रदर्शित किया गया है।

२१ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)—सन् १९४५ में दूसरी लडाई खत्म हो चुकी थी, लेकिन लडाई के कारण जो विभिन्न देशो को महान क्षति पहुची थी, उसे दूर करना बाकी थी। आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य बहुत ही आवश्यक था। इस कार्य के लिये केवल राजनीतिक उपाय ही पर्याप्त न थे। इस समस्या के हल के लिये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सस्था (फ्रानिसको) और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सस्था (हवाना) तथा ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) सम्मेलन के फलस्वरूप दो सस्थाओ का जन्म हुआ—एक तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank of Reconstruction and Development)।

इस बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्ध-पीडित देशो के पुनर्निर्माण तथा पिछडे हुए देशो के विकास में सहायता पहुचाना है। इस कार्य के लिये यह बैंक दीर्घकालीन वित्त प्रदान करता है। अपनी पूजी से ही नही बल्कि बाड द्वारा सग्रह की गई पूजी से भी यह बैंक दीर्घकाल के लिये साख की व्यवस्था करता है। उसके बाड के बिकने में कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योकि इनके पीछे सभी सदस्य-देशो की गारटी है। इसके अलावा यह बैंक व्यक्तिगत सस्थाओ द्वारा दिये गये ऋणो पर ३/४ या १ प्रतिशत कमीशन के ऊपर गारटी दे सकता है। इससे विदेशो में पूजी-विनियोग के कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। यद्यपि बैंक पुनर्निर्माण कार्य के लिये दिये गये ऋण को प्राथमिकता देता है, फिर भी यह पिछडे हुए देशो की विकास योजनाओ की ओर काफी ध्यान देता है। व्यापारिक सम्बन्धो को बहुमुखी आधार पर पुन स्थापित करने में भी यह सहायक होगा।

ससार के ५० प्रमुख देश (रूस को छोड कर) इस बैंक के सदस्य है और इसकी कुल पूजी ९ बिलियन डालर[1] है। इसमे अमेरिका का हिस्सा एक-तिहाई है। भारत का अश ४०० मिलियन डालर है। अन्य देशो के हिस्से इस प्रकार है इगलैण्ड १०० मि. डा, चीन ६०० मि डा, फ्रास ४५० मि डा। सदस्य देशो ने अपने हिस्से का २०

१. ३१ मार्च, १९५२ मे इसके सदस्यो की सख्या ५४ थी।

प्रतिशत दे दिया है और अब निकट भविष्य में शायद उन्हें और न देना पड़े। इस २० प्रतिशत में हर सदस्य देश को १८ प्रतिशत अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में और शेष २ प्रतिशत सोने या डालर में देना पड़ता है।

बैंक की सहायता से सदस्य देश अपने उपलब्ध साधनों को पूर्ण रूप से उपयोग में लाकर जीवन-स्तर को ऊपर उठा सकते हैं। संसार के पिछड़े हुए क्षेत्र—एशिया, अफ्रीका, भारत, लेटिन अमरीका—अब अपने-अपने देशों में उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं।

बैंक के कार्य उचित व्यावसायिक सिद्धान्त के अनुसार चलाये जाते हैं। ऋण देने के पहले सब आवश्यक आर्थिक बातों और परिस्थितियों की पूरी जांच-पड़ताल कर ली जाती है। बैंक केवल यही बात नहीं देखता कि जिस काम के लिये ऋण मांगा जा रहा है, वह ठीक है या नहीं। वह यह भी देखता है कि उस देश की आर्थिक दशा किस प्रकार की है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बैंक केवल पत्रों आदि की ही जांच नहीं करता, वरन् कुछ कर्मचारियों को उस स्थान पर भेजता है जिससे वे स्वयं अपने आप वहां की स्थिति को समझें। बैंक उस समय तक उधार नहीं देता जब तक उसे यह निश्चय नहीं हो जाए कि (क) उधार लेने वाले देश की समूची आर्थिक व्यवस्था ठीक है, और वहाँ की नीति तथा व्यवहार से यह धारणा न बन जाए कि वहाँ बहुत जल्दी ही ठीक हालात पैदा हो जाएंगे, यदि वह देश संकट में से गुजर रहा हो, (ख) अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण तथा विकास की समूची योजना ठीक प्रकार बनी है और उन्हें इस प्रकार चलाया जा रहा है जिससे आर्थिक व्यवस्था ठोस होगी, तथा (ग) वे परियोजनाएँ (Projects) जिनका वित्त-पोषण बैंक द्वारा हो रहा है, उचित रूप में टैक्नीकल ढंग से तैयार हुई हैं और उनका निर्माण वित्तीय तथा आर्थिक रूप में न्यायसंगत है।

उधार लेने वाले देश के लिए यह बहुत जरूरी है कि वह अपने बजट की ओर से सतर्क रहे। मजदूरी तथा कीमतों के स्थायी सम्बन्ध को भी ध्यान में रखे। उपलब्ध भौतिक, परिवहन तथा शक्ति स्रोतों की भी क्रियाशील उपयोगिता बनी रहे। देश के भीतर सीमा में आने वाले माल का तथा आयात निर्यात होने वाली वस्तुओं की मात्रा आदि का, तथा राष्ट्रीय जीवन के ऐसे सभी विभिन्न अंगों का जिनसे स्वस्थ आर्थिक स्थिति का पता चलता है।

१९८३ में बैंक के उपाध्यक्ष श्री होर उधार के सिलसिले में भारत आए तो उन्होंने बैंक के कामों की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि बैंक इतना अवास्तविक नहीं है कि वह पूर्णता की आशा करे, बल्कि इसका काम तो तथ्यों की वास्तविकता की जांच करना है तथा ऐसी निश्चित और चातुर्य पूर्ण नीति का अनुसरण करना जिससे वह आगे बढ़कर किसी भी ऐसी आर्थिक व्यवस्था के मार्ग की बाधा दूर करे जो उसके स्वस्थ विकास में बाधक है। जहाँ तक किसी विशेष परियोजना के वित्त-पोषण का प्रश्न है, किसी परियोजना के विषय में वचन नहीं देना चाहिए, जब तक (क) यह सुरक्षित विकास के सामान्य ढांचे में पूरी नहीं उतरती, (ख) आवश्यक न हो, (ग) इसका पूरा होना सम्भाव्य न हो, (घ) सीमित काल में पूरा होने की आशा न हो तथा इससे प्राप्त

होने वाले लाभ इसके अभाव मे पाए गए विकल्पो से अधिक उपयोगी न हो, (ङ) दूसरी परियोजनाओ के साथ पूरक तथा स्पर्द्धायुक्त न हो, (च) सतुलन आदि विषयो का मूल्याकन तय न हो चुका हो जिनमे काम मे लगाए जाने वाले सलाहकारो, ठेकेदारो तथा इजीनियरो का हित सम्बन्धित है ।

थोडे से समय मे ही आई बी आर डी (I B. R D) ने कई महत्वपूर्ण ऋण दिए है । इसका पहला बडा ऋण जो २,५०० लाख डालर था, फ्रास को मिला । इसके पश्चात् २,६३० लाख डालर के ऋण नीदरलैण्ड, डेनमार्क, लक्सम्बर्ग तथा चिली आदि देशो को दिए गए । ३४० लाख डालर का ऋण मेक्सीको में विद्युत शक्ति विकास के लिए दिया गया । १९५२ के राजकोषीय वर्ष में, बैंक ने १९ ऋण २९४६ लाख डालर के दिए जबकि १९५०-५१ मे ३८५७ लाख डालर के मजूर किए गए थे । पिछले पाच वर्षो में (१९४७-५२ तक) बैंक ने ६८ ऋण २७ देशो को दिए जिसकी राशि १४१२-१/१० करोड डालर थी । इनके अलावा कई टेक्नीकल मिशन भी भेजे । ऋण की अवधि १५-२० वर्ष है । बैंक की व्याज दर २½% तथा ४½% है और १% कमीशन बैंक के विशेष रिजर्व के नाम जमा करनी पडती है । ये प्राय सभी ऋण कृषि उत्पाद की उन्नति के लिए दिए गए तथा कम विकसित देशो में आधारभूत उपयोगिताएँ पूरी करने के लिए । उद्योगो के लिए दिया गया ऋण अपेक्षाकृत कम है । कुल मिलाकर ३०० करोड डालर की राशि से २५० परियोजनाओ पर काम चालू है और इनमें से कुछ पूरी हो चुकी है । बैंक के अध्यक्ष श्री यूजिन ब्लैक ने १९५२ के सितम्बर मास में अपनी रिपोर्ट मे बताया कि बैंक शूमा योजना (Schuman Plan) की आर्थिक सहायता करने की सम्भावना की जाच करेगा जिसके अनुसार पश्चिमी यूरोप के कोयले तथा इस्पात उद्योगो के एकीकरण का प्रश्न है । यह बात माननी पडेगी कि जहाँ तक बैंक के स्रोतो का प्रश्न है वे युद्ध द्वारा नष्ट हुए देशो तथा अर्धविकसित देशो के विकास के लिए वित्तीय सहायता के रूप में अनन्त राशि देने में समर्थ है ।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने ३४० लाख डालर का ऋण इजिन खरीदने के लिए, १०० लाख डालर कृषि विकास तथा मशीनो, जैसे सेन्ट्रल ट्रैक्टर सगठन को मशीने खरीदने को दिया जिससे कान्स नामक गहरी घास को निकाल कर भूमि कृषियोग्य बनाई जा सके, और १८५ लाख डालर नदी घाटी योजनाओ के लिए दिया । इन योजनाओ की जाँच के लिए कई टेक्नीकल मिशन भेजे गए । १९५१ के अन्तिम महीनो में एक टेक्नीकल मिशन भारत का दौरा करने आया । उसका काम प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आयोजन, वित्त तथा निष्पादन आदि बातो के बारे में जानकारी हासिल करनी थी । मई १९५१ में बैंक के प्रतिनिधियो ने औद्योगिक वित्त निगम की सहायता के बारे मे विचार किया जो उद्योगो के लिए थोडे समय तथा दीर्घ अवधि के लिए ऋण का प्रबन्ध करे । जून १९५२ में बैंक स्टाफ का एक सदस्य दामोदर घाटी योजना के बारे में अध्ययन करने आया । एक अन्य मिशन भारत में लोहा तथा इस्पात उद्योग से सम्बन्धित टेक्नीकल और वित्तीय समस्याओ का अध्ययन करने आया । बैंक ने सिन्धु नदी घाटी योजना के प्रति भी कुछ रुचि प्रकट की है ।

अध्याय ३८

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

(THEORY OF INTERNATIONAL TRADE)

१ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धात क्यो ? (Why Separate Theory of International Trade)---अभी तक हम एक ही देश की वस्तुओ तथा सेवाओ के विनिमय की समस्याओ के विषय मे चर्चा कर रहे थे। अब हम उन समस्याओ का अध्ययन करेगे जो विभिन्न देशो में रहने वाले व्यक्तियो के बीच वस्तुओ तथा सेवाओ के विनिमय से सम्बन्धित है।

यह ध्यान रखना जरूरी है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर किस्म का भेद नही है बल्कि मात्रा (degree) का है। मूल सिद्धान्त दोनो में एक ही है। आन्तरिक व्यापार, दशीय व्यापार (home trade) की भांति, श्रम-विभाजन का फल है। व्यापारी लोग आन्तरिक व्यापार में उन वस्तुओं का उत्पादन करने मे विशेषता हासिल करने का प्रयत्न करते है, जिनमें अधिकतम तुलनात्मक लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी ऐसा ही होता है।

देशीय तथा विदेशी व्यापार में कुछ ऐसे भेद है जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त वनाने की आवश्यकता होती है।

पहला कारण यह कि देश में श्रम तथा पूजी की गतिशीलता विभिन्न देशो के बीच की अपेक्षा अधिक होती है। इस भिन्नता का बहुत महत्त्व है। इसके कई कारण भी है। श्रम के विषय मे एडम स्मिथ ने कहा है, "समस्त वस्तुओ में मनुष्य का परिवहन (transport) अत्यन्त कठिन है।" भाषा, परम्परा, धर्म, रीति-रिवाज, सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओ के अन्तर उनको अपने ही देश में रखते है। पूजी श्रम से अधिक गतिशील होती है, परन्तु इसे भी लोग अपने ही देश में विभिन्न कारणो से लगाना अधिक पसन्द करते है। पूजी लगाने वाले अपने देश में पूजी लगाने में अपने को अधिक सुरक्षित समझते है।

विभिन्न देशो में श्रम तथा पूजी की कम गतिशीलता के कारण प्रतियोगिता एक देश के विपरीत दूसरे देशो मे एक प्रकार की वस्तुओ की उत्पादन-लागत को समान रखने में असमर्थ रहती है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशो को भिन्न-भिन्न वस्तुओ के उत्पादन में असमान लाभ होता है। अतएव विभिन्न देशो के बीच प्रतियोगिता नही रहती। दो देशो के बीच मे श्रम तथा पूजी के गतिशील न होने का एक दूसरा परिणाम भी होता है। एक देश में किसी वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन-लागत के समान हो जाती है क्योकि श्रम तथा पूजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आ-जा सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसा नही होता। श्रम तथा पूजी के गतिशील न होने के कारण

कीमत तथा उत्पादन-लागत बहुत कम समान हो पाते हैं।

दूसरे, लाभ मे अन्तर प्राकृतिक कारणो जैसे भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु की दशाओ द्वारा भी हो सकता है। इससे उद्योगो का स्थानीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ देशो मे विशिष्ट खनिज पदार्थ जैसे कोयला, लोहा, तावा होते हैं। दूसरो मे जलवायु अथवा भूमि कुछ फसलो के योग्य होती है, जैसे बगाल प्रान्त में जूट। या तो यह लाभ दूसरे देशो को हस्तातरित नही किये जा सकते अथवा उनकी हस्तातरण लागत बहुत अधिक होती है।

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ समस्याए इस बात से उत्पन्न होती है कि वे देश स्वतन्त्र राज्य होते है और द्रव्य, वैंकिंग कानून, विदेशी ऋण, कीमत, मजदूरी आदि के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र नीति अपना सकते है। सीमाओ के बाहर जाने वाली वस्तुओं पर राज्यो द्वारा रोक लगाई जा सकती है, प्राकृतिक तथा सामाजिक बाधाओ के कारण भी वस्तुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाई जा सकती।

इन सब कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त है।

२. तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (The Theory of Comparative Costs)—रिकार्डो ने सब से पहले तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया था। उन्होने बताया कि एक ही देश में भिन्न-भिन्न व्यवसायो में लाभ समान होता है, परन्तु विभिन्न देशो में ऐसा नही होता। इसका कारण यह है कि देश के अन्दर श्रम गतिशील होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न देशो के बीच नही। गणित के उदाहरण द्वारा उन्होने बताया कि यदि पुर्त्तगाल, इगलैण्ड की अपेक्षा सस्ता कपडा तथा शराब पैदा कर सकता है, तो भी पुर्त्तगाल के लिए यह लाभदायक होगा कि वह शराब मे लगा रहे, जिसमे उसको अधिक तुलनात्मक लाभ है और कपडे का इंगलैण्ड से आयात करे। जे० एम० मिल ने यह बताया कि तुलनात्मक लागत की सीमाओं के बीच मे विनिमय दर हर देश की दूसरे देश की वस्तुओ की माग की शक्ति पर निश्चित होती थी, बशर्ते कि साम्य-स्थिति पर आयात निर्यात के बराबर हो।

जे० ई० केयरस ने रिकार्डो की इस कल्पना पर आक्षेप किया कि उत्पादन के साधन एक देश के अन्दर ही गतिशील होते है, कई देशो के बीच नही। तो भी, वह मानते थे कि एक देश के अन्दर प्रतियोगिता न होने वाले समूहो के होते हुए भी उत्पादन के साधनो की गतिशीलता लाभ को समान करने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु ऐसा विभिन्न देशो के बीच नही हुआ। इस भाति पुरातन सिद्धान्त केयरस द्वारा पूर्ण हुआ। अब यह विश्वास किया जाता है कि जब एक देश के अन्दर वस्तुओं का विनिमय दर उनकी लागत के अनुपात में होता है तो विभिन्न देशो मे एक दूसरे की माग इसे निश्चित करती है।

यद्यपि यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त प्रधानत आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा मान्य है, तो भी, उसकी दृढ़ता तथा व्याख्या करने मे कुछ सुधार कर दिये गये है। यह सुधार इस प्रकार है :

(i) पुरातन अर्थशास्त्रियो ने लागत का माप श्रम के अनुसार किया। आधुनिक लेखक सिद्धान्त को सीमान्त लागत में उत्पादन के साधनो की सापेक्ष न्यूनता की मात्रा का वर्णन करते हुए प्रस्तुत करते है।

(ii) रिकार्डो के सिद्धान्त ने यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थिर प्राप्ति का नियम लागू होता है। आधुनिक लेखको ने इस साधारण वर्णन का वृद्धि तथा ह्रास नियम के प्रभावों को दिखाते हुए विस्तार किया है। अतएव यदि उत्पादन के पैमाने में वृद्धि से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, तो तुलनात्मक लाभ बढ जायगा। दूसरी ओर, यदि अधिक उत्पादन से प्रति इकाई लागत बढ जाती है, तो तुलनात्मक लाभ घट सकता है अथवा समाप्त हो सकता है।

(iii) रिकार्डो के सिद्धान्त ने विनिमय की शर्तो की व्याख्या नही की। एडम स्मिथ प्रारम्भिक समर्थक बाजार के भाव 'मोल तोल' ('higgling') करने पर, जो एक अनिश्चित शब्द है, आश्रित थे। आधुनिक विश्लेषण के अनुसार विनिमय का अनुपात प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तुओं की माग की लोच से निश्चित होता है।

ऊपर लिखे हुए सुधारो के अनुसार अब हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (theory of comparative costs) का आधुनिक वर्णन करेंगे।

सारा व्यापार इसलिए होता है कि उत्पादन-लागत मे अन्तर होता है। ऐसे अन्तर तीन प्रकार के हो सकते है —

(i) लागतो में पूर्ण अन्तर,

(ii) लागतो मे समान अन्तर, तथा

(iii) लागतो में तुलनात्मक अन्तर।

व्यापार (i) तथा (ii) में सम्भव है, परन्तु (iii) में नही। हम इसको उदाहरण देकर समझा सकते है।

(i) पूर्ण अन्तर (Absolute Differences)

क देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ५ रु० प्रति मन है। कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।

ख देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है। कपास ,, ,, ,, ५ रु० ,, ,, ।

चूकि कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होती है, इसलिए क देश में १ मन गेहूँ, ½ मन कपास के बदले में दिया जायगा। और ख देश में १ मन गेहूँ का विनिमय २ मन कपास के बदले में होगा।

इस प्रकार —

		लागत अनुपात
क देश में	१ गेहूँ = ½ कपास	१ . २
ख देश में	१ गेहूँ = २ कपास	१ ½

इस प्रकार क को गेहूँ मे और ख को कपास में पूर्ण लाभ है। क गेहूँ के उत्पादन में तथा ख कपास के उत्पादन में लग जायगा। क को तब तक लाभ होगा, जब तक

कि वह १ मन गेहू के बदले ½ मन कपास से अधिक पा सकता है। ख को तब तक लाभ होगा, जब तक कि वह १ मन गेहूँ २ मन कपास से कम के बदले मे पा सकता है। विनिमय का अनुपात १ मन गेहूँ के लिए ½ तथा २ मन कपास के बीच में कही होगा। वास्तविक दर प्रत्येक पक्ष की दूसरे देश की वस्तुओ की माग की सापेक्षिक लोच पर निर्भर होगी। इस को हम आगे देखेंगे।

पूर्ण लाभ के कारण व्यापार समशीतोष्ण कटिबन्ध तथा अयनवृत्त वाले प्रदेशो मे पाये जाते हैं।

(ii) समान अन्तर (Equal Differences)

जब तुलनात्मक लाभ समान होता है, तो दोनो पक्षो के बीच कोई स्थायी व्यापार नही हो सकता। अस्तु,

क देश मे { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ५) रु० प्रति मन है। कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत १०) रु० प्रति मन है।

ख देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ४) रु० मन है। कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत ८) रु० प्रति मन है।

इस प्रकार

	लागत अनुपात
क देश मे गेहूँ की १ इकाई = ½ कपास की इकाई	१ २
ख देश मे · गेहूँ की इकाई = ½ कपास की इकाई	१ : २

उपर्युक्त दशाओ मे विशिष्टीकरण से किसी भी पक्ष को कोई लाभ न होगा। यदि क गेहूँ में विशिष्ट है और ख कपास मे, तो क को केवल तभी लाभ हो सकता है, जबकि १ मन गेहूँ उसको ½ मन से अधिक कपास प्रदान करता है। परन्तु ख १ मन गेहूँ के बदले ½ मन से अधिक कपास न देगा, क्योकि वह घर पर साधनो को कपास से हटाकर और गेहूँ मे लगाकर इतना उत्पादन कर सकता है। यदि व्यापार प्रारम्भ भी हो जाय, तो जैसा कि पहले बताया जा चुका है, व्यापार थोड़े समय मे समाप्त हो जायगा।

(iii) लागत मे तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences in Costs)—जब तुलनात्मक लाभ भिन्न हो तो व्यापार बढेगा और चलता रहेगा।

इस प्रकार

क देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ७) प्रति मन है। कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत १४) प्रति मन है।

ख देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ५) प्रति मन है। कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत ७) प्रति मन है।

ऐसी दशा मे ख देश, क देश की अपेक्षा गेहूँ तथा कपास क देश मे सस्ती उत्पन्न कर सकता है परन्तु तुलनात्मक लाभ कपास के उत्पादन में गेहूँ के उत्पादन से अधिक है।

दूसरी ओर क देश की दोनो वस्तुओ के उत्पादन में तुलनात्मक हानि है, परन्तु

हानि गेहूँ में कपास की अपेक्षा कम है।

इस प्रकार — लागत अनुपात

क देश में गेहूँ का १ मन = ½ मन कपास १ २

ख देश में १ मन गेहूँ = ५/७ अथवा ७१ मन कपास १ १२/५,

अतएव ख देश को कपास के उत्पादन में तथा क को गेहूँ के उत्पादन मे विशिष्ट होना अधिक लाभदायक होगा।

 ससे यह नही मान लेना चाहिये कि क देश में कपास तथा ख में गेहूँ का उत्पादन पूर्णतया बन्द हो जायगा। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल औसत लागत को बताता है। यदि ख मे हर कपास के खेत की लागत क के हर कपास के खेत की लागत से कम है, तथा यदि क में हर गेहूँ के खेत की लागत ख के हर गेहूँ के खेत की लागत से कम है, तो क में कपास और ख में गेहूँ का उत्पादन न होगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। क देश में कुछ ऐसे कपास के खेतो का होना आवश्यक है जिनकी लागत ख के कुछ कपास के खेतो से कम है। अतएव क में कुछ कपास और ख में कुछ गेहूँ का उत्पादन होगा।

व्यापार की क्या शर्तें होंगी?—ख को तव तक लाभ होगा, जब तक कि वह ७१ मन से कम कपास के वदले में १ मन गेहूँ पाता रहे। क को तव तक लाभ होता रहेगा, जब तक वह १ मन गेहूँ के वदले में ५० मन से अधिक कपास पाता रहे। विनिमय की दर इसके बीच में होगी—

१ मन गेहूँ = ५० मन कपास।

१ मन गेहूँ = ७१ मन कपास।

वास्तविक दर एक पक्ष की दूसरे पक्ष की वस्तुओ की माग की सापेक्षिक लोच (relative elasticities of demand) पर निर्भर करेगी।

यदि क की कपास की माग ख की गेहूँ की माग की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो विनिमय दर क के लिये अधिक अनुकूल होगी। यह इस कारण है कि क कपास के लिय इतना उत्सुक न होगा। दूसरी ओर इसके विपरीत विनिमय दर ख के लिये अधिक अनुकूल होगी।

जब विनिमय दर क के लिय अनुकूल होगी तो वह १ मन गेहूँ = ७१ मन कपास की सीमा के निकट होगी। जब दर ख के लिये अनुकूल होगी तो वह १ मन गेहूँ = ५० मन कपास की सीमा के निकट होगी।

इस उदाहरण में लाभ की सीमा अधिक सकुचित है। वास्तविक व्यवहार मे व्यापार उस समय होगा जब कि लाभ की सीमा अधिक विस्तृत होगी क्योकि ऐसा होने पर असुविधाओ का व्यापार पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ेगा। इस तर्क में दो देशो को लिया गया है, किन्तु इसके अन्तर्गत दो से अधिक वस्तुए तथा दो से अधिक देश विना मूल सिद्धान्तो को भग किए, शामिल किए जा सकते हैं।

तुलनात्मक लागत का यही सिद्धान्त है तो फिर विदेशी विनिमय के क्षेत्र में इसके प्रयोग मे कहा अन्तर पड़ता है?

हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि सव प्रकार का व्यापार लागत में अन्तर होने के कारण

होता है। एक ही देश में उत्पादन के साधनो के एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय तक सरलतापूर्वक गतिशील होने के कारण तुलनात्मक लागत में भेद के लोप हो जाने की प्रवृत्ति होती है। अतएव वस्तुए एक ही देश के अन्दर अपने उत्पादन की सीमान्त लागत के अनुसार विनिमय की जाती है। उत्पादन के साधनो के गतिशील न होने के कारण यह सामजस्य देशो के बीच में नही हो सकता। इस भाति तुलनात्मक लागत में स्थायी अन्तर हो जाता है, जिससे, जैसा कि ऊपर बताया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभप्रद हो जाता है। परन्तु तुलनात्मक लागत में ऐसे अन्तर एक ही देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे हो सकते हैं, क्योकि इन प्रदेशो के बीच उत्पादन-साधन गतिशील नही होते। इस प्रकार एक ही देश में प्रतियोगिता न होने वाले समूह ('non-competing groups') भी हो सकते हैं, उस दशा मे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त देशीय व्यापार मे भी लागू होगा। यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्री इस बात को नही मानते कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रस्तुत करने के लिये एक विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता है। परन्तु चूंकि तुलनात्मक लागत में अन्तर विभिन्न देशो में एक देश के भिन्न क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक पाया जाता है इसलिये राष्ट्रो के बीच व्यापार पर विचार करते समय इस सिद्धान्त पर विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।

हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को इस भाति सक्षेप में कह सकते है कि अमुक व्यक्ति बहुत से कार्य करने के योग्य है, परन्तु वह सब कार्य नही करता। वह केवल उसी कार्य को चुन लेता है, जिससे उसे सबसे अधिक लाभ होता है। एक चिकित्सक कम्पाउन्डर का भी कार्य कर सकता है, परन्तु वह ऐसा नही करता। एक वकील टाइप का कार्य कर सकता है पर वह उसे नही करता, तथा एक प्रोफेसर अपने लड़के को स्वय पढा सकता है, परन्तु वह ऐसा नही करता। इन सब मनुष्यो के लिये यह लाभदायक होता है। समाज का भी इसी में लाभ है कि कम महत्व के कार्यों को दूसरो पर छोड दिया जाये। ऐसी दशा में समय तथा शक्ति को अधिक लाभ के कार्यो में लगाया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। जलवायु, खनिज पदार्थो तथा अन्य प्राकृतिक साधनो का वितरण भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक बनावट का ध्यान रखते हुए, प्रत्येक देश कुछ वस्तुओ के उत्पादन के लिये दूसरो की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। यह प्रत्येक देश तथा समस्त संसार के लिये लाभदायक होगा कि हर देश उन वस्तुओ के उत्पादन में विशिष्ट हो, जिसमें उसको सापेक्ष लाभ है। ऐसी दशा में उस देश के उत्पादन के साधन पारितोषिक रूप से अधिक उपयोग में आ पायेंगे। उन बातो में जो यह निर्धारण करते है कि किन-किन वस्तुओ के उत्पादन में कोई देश लगेगा, हम विनिमय दर, एकाधिकारी तत्त्व, हस्तातरित लागत, साधनो की कीमतें तथा उनकी तुलनात्मक कार्य-क्षमता को शामिल कर सकते है। एक देश उन वस्तुओ के उत्पादन में लगेगा जिनमें हस्तातरित लागत और साधनो की कीमतें कम है लेकिन उत्पादन कार्य-क्षमता अधिक है।

साधारणत वस्तुए वहा पैदा की जाती है, जहां उत्पादन-लागत सबसे कम होती

है। परन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार नही है। वास्तव में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक देश कुछ वस्तुओ के उत्पादन में विशिष्ट हो और अन्य वस्तुओ का आयात करे चाहे वह उनको कम लागत पर उत्पन्न कर सकता हो। इगलैण्ड डेन्मार्क मे दूध के पदार्थों का आयात करता है, यद्यपि उनके उत्पादन की लागत इगलैड में कम है। कारण यह है कि इगलैण्ड श्रम तथा पूजी को अन्य दिशा में लगाकर अधिक लाभ कर लेता है, जैसे मशीनो आदि में, और पनीर तथा मक्खन के खरीदने मे जो हानि होती है, वह पूरी कर ली जाती है। अतएव तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस प्रकार लागू होता है कि प्रत्येक देश वही वस्तु उत्पन्न नही करता, जो दूसरे देशो की अपेक्षा सस्ती उत्पन्न कर सकता है, प्रत्युत वह वस्तुए जिनको वह **अधिकाधिक सापेक्ष** लाभ **अर्थात् कम से कम तुलनात्मक लागत** पर उत्पन्न कर सकता है।

दूसरे आर्थिक नियमों की भाति तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी केवल एक प्रवृत्ति का विवरण है। वास्तविक व्यवहार में सिद्धान्त का प्रयोग भाषा, रीति-रिवाज, धर्म के अन्तर तथा श्रम और पूजी के केवल आर्थिक महत्व से सचालन न होने के कारण ठीक तरह से नही होता। उन पर राजनीतिक प्रवृत्ति, व्यापारिक व्यवहारो तथा सामान्य सुरक्षा का भी प्रभाव पडता है। परिवहन की लागत तथा उत्पादन-लागत के व्यवहार दूसरे सीमित करने वाले अश है। विशिष्टता उत्पादन के परिमाण को बढाती है, परन्तु यदि उद्योग में बढती लागत का नियम लागू होता है, तो तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का लागू होना वन्द हो जायगा।

देश के पिछडे होने की स्थिति में (Case of a Backward Country)—यदि एक देश आर्थिक दृष्टि से इतना पिछडा हुआ है कि वह ससार को कुछ भी नही दे सकता और केवल क्रेता की दशा मे सासारिक व्यापार में घुस सकता है, तो ऐसी दशा में क्या होगा? वास्तविक ससार में ऐसा सभव नही है। हर एक देश चाहे जितना भी वह पिछडा हुआ हो, कुछ न कुछ पूर्ति करने की स्थिति में होगा। साधारणतया ऐसे देश में मजदूरी कम होगी, तथा उसकी मुद्रा की भी कीमत कम होगी ताकि दूसरे देशो को इस देश से आयात करने में लाभ हो। विधिवत् विनिमय दर ऐसी सीमा पर निश्चित होगी कि उस देश के लिये उन वस्तुओ का आयात करने में जिनके उत्पादन में उसे सापेक्ष हानि अधिक है तथा उन वस्तुओ का निर्यात करने में जिनके उत्पादन मे उसे सापेक्ष हानि कम है, लाभप्रद होता है। अतएव, 'एक ओर का व्यापार' वास्तविक ससार में एक अपूर्व घटना होगी, या यू कहिए कि पूर्णतया न होगी।

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय हमने उत्पादन की द्रव्य-लागत की ओर सकेत किया था, परन्तु द्रव्य-लागत उन वस्तुओ के बीच का विनिमय सम्बन्ध बताती है, जो इसके अन्तर्गत होती है। फिर वास्तविक लागत का क्या अर्थ है? रिकार्डो के लिए श्रम-लागत वास्तविक लागत है लेकिन उत्पादन की लागत के अन्तर्गत कई अश होते है।

वह लागत जो विनिमय-सम्बन्ध स्थापित करती है, अवसर अथवा सापेक्ष लागत

होती है। इन लागतो का कारण यह है कि एक देश के साधन उसकी माग की अपेक्षा सीमित होते हैं। यदि साधन एक कार्य के लिए प्रयोग मे लाये जाते है, तो उनको दूसरे प्रयोगो से हटाना होगा। मान लीजिए किसी देश मे १ मन गेहू पाने के लिए साधनो को कपास के उत्पादन से हटाना पडता है और इस भाति १½ मन कपास को त्यागना पडता है। अस्तु, उस देश मे १ मन गेहूँ की लागत १½ मन कपास है। १ : १½ का अनुपात दोनो वस्तुओ की लागत का अनुपात है। हम इसको तुलनात्मक लागत का अनुपात या अवसर-लागत का अनुपात अथवा हस्तातरित लागत का अनुपात कह सकते हैं। क्योंकि यह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की स्थानापन्न दर को बताता है।

यह प्रतिस्थापन (substitution) अनुपात देश-देश में भिन्न होते हैं। यह इस कारण होता है कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधन भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न मात्रा मे सीमित होते हैं। यदि यह साधन एक देश से दूसरे देश को स्वतन्त्रता-पूर्वक गतिशील हो सकते तो न्यूनता की यह मात्रायें सामान हो जाती। परन्तु क्योंकि, जैसा बताया जा चुका है, यह साधन देशो के बीच इतने गतिशील नही होते, इस कारण यह भिन्नता रहती है और इसीलिए तुलनात्मक लागत के अनुपात मे स्थायी भिन्नता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव होता है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रतियोगिता क्यो ? (Why Competition in International Trade)—तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश को उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्ट होना चाहिये, जिनमे उनको अधिकाधिक सापेक्ष लाभ हो। प्रत्येक देश की उत्पादक क्रियाओ का पृथक् क्षेत्र होगा; ऐसे विशिष्टीकरण से प्रतियोगिता की अपेक्षा सहयोग की आशा की जाती है, क्योंकि प्रत्येक देश अपनी विशिष्ट वस्तुओ की पूर्ति दूसरे देशो को करता है। परन्तु हम बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गलघोटू प्रतियोगिता पाते हैं, जिससे अधिकतर राष्ट्रीय स्पर्द्धा बढती है और उपरान्त युद्ध। इगलैंड और अमरीका का जापान मे विरोध होने का कारण उसकी औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रधानता थी। फिर इसका क्या कारण है ?

जैसा हमने ऊपर बताया है, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल एक प्रवृत्ति का वर्णन है, जिसका प्रयोग सघर्षो के प्रभावो से नष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त स्वतन्त्र व्यापार पर आधारित समझा जाता है, जो विद्यमान नही होता। आर्थिक राष्ट्रीयकरण के कारण आयात-कर, कोटा-पद्धति (quota system), विनिमय नियन्त्रण आदि जैसे उपाय प्रयोग मे लाये जाते हैं, जिससे वस्तुओ का स्वतन्त्र विनिमय नही हो पाता। अतएव विशिष्टीकरण पूर्ण नही होता तथा कुछ प्रतियोगिता का होना स्वाभाविक है।

दूसरे, तुलनात्मक लाभ ऐसा स्थापित तथ्य नही है, जिसका मान सभी देश करते हो। हम कदाचित् ही वह साम्यावस्था (equilibrium) अथवा स्थायित्व की दशा प्राप्त करते है, जब हम यह कह सके कि प्रत्येक देश ने कुछ वस्तुओ के उत्पादन मे निश्चित रूप से प्रधानता प्राप्त कर ली है। वास्तव मे प्रत्येक देश सदैव प्रधानता की

दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। प्रत्येक देश यह जानने का भी प्रयत्न करता है कि उसका तुलनात्मक लाभ कहा है। अतएव कुछ वस्तुए एक ही समय में विभिन्न देशो में उत्पन्न की जाती है जिसमे उनमें प्रतियोगिता होती है।

प्राप्ति के घटते हुए नियम के भय से किसी देश में एक वस्तु का उत्पादन रुक जाता है तथा उसका कुछ अश आयात करना पडता है। उस दशा में कुछ प्रतियोगिता होना स्वाभाविक है। यदि उद्योग में प्राप्ति का बढता हुआ नियम लागू होता है, तो तुलनात्मक लागत का क्षेत्र विस्तत हो सकता है।

४ **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ** (The Gain from International Trade)—सब व्यापारो की भाति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रम-विभाजन के कारण लाभ होते है। भिन्न देशो में श्रम-विभाजन सापेक्ष लागतो के अन्तरो और उत्पादन की पूर्ण लागत के अन्तरो के योग से उत्पन्न होता है। जब लागतो के अन्तर समान होते है तो शुद्ध लाभ प्राप्त नही होता। इसी अध्याय के विभाग २ मे दिये उदाहरण को यह दिखाने के लिये ले सकते है कि (i) और (iii) में कैसे लाभ हो जाता है, और (ii) में क्यो नही होता।

(i) **लागतो में पूर्ण अन्तर** (Absolute Differences in Costs)—क देश में (जैसा कि लागत अनुपात से स्पष्ट है) उत्पादन साधनो की एक इकाई या तो १ मन गेहूँ का उत्पादन करती है अथवा ½ मन कपास का। ख देश में साधनो की एक इकाई या तो १ मन गेहूँ का उत्पादन करती है अथवा २ मन कपास का। यदि इनमें से प्रत्येक देश उत्पादन-शक्ति की दो इकाइयो को विशेषता दिये विना लगाये तो सपूर्ण उत्पादन इस प्रकार होगा—

क = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास।
ख = १ मन गेहूँ + २ मन कपास।
क + ख = २ मन गेहूँ + २½ मन कपास।

यदि क देश केवल गेहूँ का उत्पादन करे और ख केवल कपास, तो उन्ही उत्पादन के साधनो से इस प्रकार प्राप्ति होगी

क = २ मन गेहूँ
ख = ४ मन कपास
क + ख = २ मन गहूँ + ४ मन कपास

इस प्रकार उन्ही उत्पादन साधनो के विशिष्टीकरण से १½ मन अधिक कपास की प्राप्ति होगी। यह व्यापार से लाभ है।

(ii) **लागतो में समान अन्तर** (Equal Differences in Costs)—दूसरी अवस्था में विशिष्टता के विना और विशिष्टता के साथ सपूर्ण उत्पादन समान है।

विशिष्टता के विना

क = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास
ख = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास
क + ख = २ मन गेहूँ + १ कपास

विशिष्टीकरण से : जबकि क सिर्फ गेहूँ का उत्पादन करता है और ख सिर्फ कपास का।

क = २ मन गेहूँ।

ख = १ मन कपास।

क + ख = २ मन गेहूँ + १ मन कपास।

(iii) लागतो में सापेक्ष अन्तर—(Comparative Differences in Costs) इस सूत्र में विशिष्टीकरण से आधिक्य (surplus) होता है।

विशिष्टता के बिना :

क = १ मन गेहूँ + ५० मन कपास

ख = १ मन गेहूँ + ·७१ मन कपास

क + ख = २ मन गेहूँ + १ २१ मन कपास

बिना विशिष्टता के : जबकि क गेहूँ पैदा करता है तथा ख सिर्फ कपास।

क = २ मन गेहूँ

ख = १·४२ मन कपास

क + ख = २ मन गेहूँ + १ ४२ मन कपास

आधिक्य = २१ मन कपास

अत व्यापार मे यही लाभ है।

५ लाभ की मात्रा निर्धारित करने वाले अंश (Factors Determining the Size of Gain)—ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कुल लाभ दोनो देशो मे लागत के अनुपात के अन्तर पर निर्भर करते हैं। जितना ही अधिक तुलनात्मक लागतो में अन्तर होगा, उतना ही अधिक कुल लाभ होगा। हैरड (Harrod) के शब्दो मे, "किसी देश को विदेशी व्यापार मे तब लाभ होता है, जब व्यापारी यह जान लेते है कि अन्य देशो में कीमत का अनुपात अपने देशो की अपेक्षा भिन्न है। वे वह वस्तुए क्रय करते है, जो उनको सस्ती दीख पडती है, और उन वस्तुओ को बेचते है, जो महगी दीख पडती है। जितना ही अधिक इन दोनो का अन्तर होगा, और जितनी ही अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु होगी, उतना ही अधिक व्यापार से लाभ होगा।"[1]

इस लाभ का विभाजन, जो दोनो पक्षो को मिलेगा, व्यापार की शर्तो पर निर्भर होगा, अर्थात् हमारे उदाहरण मे जिस अनुपात मे गेहूं कपास के लिये बदला जाता है, यह अनुपात, जैसा कि हम बता चुके है, एक देश के लिये दूसरे देश की वस्तुओ की माग की लोच अथवा दोनो की माग की तीव्रता पर निर्भर है। जो देश खरीदने या बेचने के लिये अधिक उत्सुक होगा, सौदे मे घाटा उठाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ सम्बन्धित देशो में द्रव्य-आय के स्तर द्वारा प्राप्त किया जायगा। यह स्तर यह भी बतलायगा कि कौन-सा देश लाभदायक सौदा कर रहा है।

1 Harrod—International Economics, P 31

यदि किसी देश की वस्तुओ की माग दूसरे देशो में निरतर बनी रहती है तो उस देश की द्रव्य-आय का स्तर ऊचा होगा। निर्यात करने वाले उद्योगो में, अधिक विदेशी माग के कारण, मज़दूरी बढ जायगी, ऐसे उद्योगो की सफलता दूसरे उद्योगा में भी मज़दूरी को प्रभावित करेगी। प्रतियोगिता इन उद्योगो को निर्यात करने वाले उद्योगो के बराबर मज़दूरी करने के लिए विवश करेगी। यदि ऐसा न होगा तो श्रम उन उद्योगो की ओर जायगा जिनमें अधिक मज़दूरी दी जा रही हो। इस भाति सब आय बढ जायगी। देश मे इस प्रकार द्रव्य-आय तो बढ जायगी लेकिन विदेशी वस्तुओ की कीमते कम रहेगी। इसलिए लोगो को विदेशी वस्तुओ के उपभोक्ता के रूप में लाभ होगा। इसके विपरीत उस देश में जिसकी विदेशी वस्तुओ की माग अधिक है, द्रव्य-आय कम हो जायगी, परन्तु विदेशी वस्तुओ के लिए उसे अधिक कीमत देनी पडेगी।

६ विदेशी व्यापार से लाभ (Advantages of Foreign Trade)—अब हम उन तमाम लाभो की ओर सकेत कर सकते है, जो विदेशी व्यापार करने वाले देशो को होते हैं —

(i) सर्वप्रथम वह लाभ है जो तमाम देशो मे श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के लागू होने से होता है। विदेशी व्यापार देशो को उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्ट होने के योग्य बनाता है, जिसके लिये वे पूर्णतया समर्थ है अथवा जिनके उत्पादन मे उनको सबसे अधिक लाभ है। इसके कारण वस्तुओ का उत्पादन अनुकूल दशाओ मे होता है और इस भाति ससार की कुल सपत्ति तथा तृप्ति बढ जाता है।

(ii) विदेशी व्यापार न केवल उपभोक्ताओ को उन विदेशी वस्तुओ के उपभोग करने योग्य बनाता है जिनका उत्पादन उनका देश नही कर सकता, वरन् वह अपनी आवश्यकताये ससार के सबसे सस्ते बाजार से प्राप्त करते है। वस्तुओ का विदेश से आयात होना यह बताता है कि उनकी कीमत उसी तरह की देश की वस्तुओ से सस्ती है।

(iii) अकाल के समय मे एक देश के लोग विदेश से खाद्य-पदार्थ का आयात करके अपने जीवन तथा स्वास्थ्य को बनाये रखने के योग्य होते है। विदेशी व्यापार न होने पर ऐसे अकालो से लाखो मनुष्यो की मृत्यु हो जाती है, जैसा कि सन् १९४३ में बगाल में युद्ध के कारण बर्मा से चावल न आ सकने पर हुआ।

(iv) विदेशी प्रतियोगिता के भय मे देशीय उत्पादको को अपना उत्पादन आधुनिक रीति से करने के लिए विवश होना पडता है। इसके अतिरिक्त यह एकाधिकार को रोक कर प्रतियोगिता बढाता है। अतएव उपभोक्ता के लिये कीमत कम हो जाती है।

(v) विदेशी व्यापार से वे देश जिनके पास कच्चा माल नही होता आयात द्वारा कच्चा माल प्राप्त कर सकते है। इससे उन उद्योगो के विकास में प्रोत्साहन मिलता है, जिनमें वे देश अन्यथा परिपूर्ण है। इनके अतिरिक्त कच्चे माल का उपयोग भली प्रकार हो सकता है।

७ विदेशी व्यापार से हानिया (Disadvantages of Foreign

Trade)--तो भी ऊपर लिखे हुए लाभ निम्नलिखित हानियो के कारण एक सीमा तक कम हो जाते है और फलस्वरूप विदेशी व्यापार के इतने लाभ नही रह जाते ।

(i) विदेशी व्यापार से देश के आवश्यक पदार्थ व खनिजो की समाप्ति हो जाती है जिनका प्रतिस्थापन नही किया जा सकता । उदाहरणार्थ, भारत के बहुत से प्रमुख खनिज-पदार्थ जैसे अभ्रक आदि हमारे देश से कच्चे माल के रूप में बाहर भेज दिये जाते है । भारत को उनसे बहुत कम लाभ हुआ है । यदि उन्हे सभाल कर रखा जाता तो उद्योगीकरण के पश्चात् भारत उनसे लाभ उठा सकता था ।

(ii) विदेशी व्यापार देशी उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता के अधीन कर देता है और कभी-कभी तो विदेशी वस्तुओ की कीमत कम होने लगती है । १९वी शती मे भारत की दस्तकारियो के पतन से हमारे आर्थिक ढाचे को बडा धक्का पहुचा और कृषि पर दबाव बढ गया । यह उस समय हुआ जब कि परिवहन की उन्नति आदि से विदशी प्रतियोगिता बढ गई । इसी विदेशी प्रतियोगिता ने भारतीय उद्योगो को आधुनिक रूप मे विकसित होने में रुकावटे डाली और फलस्वरूप हमारी आर्थिक व्यवस्था मध्यकालीन रह गई ।

(iii) विदेशी व्यापार हानिकर वस्तुओ के आयात द्वारा लोगो के उपभोग की आदतो को बदल देता है । पिछली शताब्दी में अफीम के व्यापार से चीन को बडी हानि पहुची ।

(iv) इसके अतिरिक्त तुलनात्मक लागत के नियम के कार्यान्वित होने से देश केवल कुछ वस्तुओ में ही अपने आपको विशिष्ट कर लेता है । इससे लोगो को प्राप्त होने वाले व्यवसाय कम हो जाते है । अस्तु, किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये देश में किसी एक उद्योग में अधिक विशिष्टता बुरी होती है ।

(v) अन्त में विदेशी व्यापार देश की आर्थिक व्यवस्था को दूसरे देशो पर निर्भर कर देता है । यदि युद्ध अथवा दूसरे कारणो से वस्तुओ का आयात-निर्यात स्वतत्रता से नही हो सकता, तब ऐसी दशा मे देश की आर्थिक व्यवस्था को बडा धक्का पहुचता है । इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवस्था अथवा उद्योग मे किसी प्रकार की गडबडी का प्रभाव उन सब देशो पर पडता है जिनका उस देश से व्यापारिक सम्बन्ध होता है । १९२९-१९३२ की मन्दी के विश्वव्यापी होने का कारण केवल यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्धो के कारण ससार के विभिन्न देश परस्पर-निर्भर हो गये थे ।

पर विदेशी व्यापार के लाभ इसकी हानियो से कही अधिक है । इनमे से अधिकतर लाभ तभी उठाये जा सकते है जबकि वस्तुओ का आयात-निर्यात स्वतत्रतापूर्वक हो सके । साथ ही साथ स्वतत्र व्यापार से बहुत सी हानिया भी होती है । इसलिये यह आवश्यक है कि स्वतत्र व्यापार और सरक्षण नीति (protection policy) का अच्छी तरह से अध्ययन किया जाय ।

निर्देश पुस्तक

Gordon, M. S —Barriers to World Trade

अध्याय ३९

स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण

(FREE TRADE VS PROTECTION)

१ स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धात (The Theory of Free Trade)—विभिन्न देशो के बीच वस्तुओ के अनियन्त्रित आदान-प्रदान की नीति को स्वतन्त्र व्यापार की नीति कहते हैं। पर देशीय उद्योगो को सरक्षण देने के लिये जो नियन्त्रण किये जाते है, वे सरक्षण की नीति के अन्तर्गत होते हैं। एडम स्मिथ के शब्दो में, "स्वतन्त्र व्यापार व्यावसायिक नीति की उस प्रणाली को कहते है, जिसमें देशी व विदेशी वस्तुओ में किसी प्रकार का भेद-भाव नही रखा जाता और इसलिये न तो विदेशी वस्तुओ पर अनावश्यक कर लगाये जाते है और न स्वदेसी उद्योगो को कोई विशेष सुविधायें प्रदान की जाती है।"[1] इसके यह अर्थ नही है कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओ पर किसी प्रकार के कर लगते ही नही। किन्तु जो भी कर लगें, वह केवल आय के लिये होने चाहियें, सरक्षण के लिये नही।

व्यावहारिक नीति के रूप में स्वतन्त्र व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उस सिद्धात पर आधारित है जिसका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। केयरस (Cairnes) के शब्दो में "यदि किसी विशेष लाभ के हेतु कुछ राष्ट्र परस्पर व्यापार करना आरम्भ कर दें तो उनके स्वतन्त्र व्यापारिक आदान-प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वंचित कर देगा।"[2] इससे कही पहले एडम स्मिथ ने लिखा था कि "यदि कोई बाहरी देश किसी वस्तु को हमारे उत्पादन की अपेक्षा अधिक सस्ती दे सकता है, तो इसमें हमे लाभ होगा कि हम किसी अन्य वस्तु को तैयार करें, जिसमें हमें अपेक्षाकृत अधिक सुविधायें प्राप्त हो और उसके विनिमय द्वारा विदेश की वस्तु को खरीदें।" आगे चल कर वे फिर लिखते है कि "यदि किसी देश को अन्य देशो की अपेक्षा कोई सुविधा प्राप्त हो, तो चाहे वह सुविधा प्राकृतिक हो अथवा प्राप्त की हुई, यह कोई विशेष महत्त्व की बात नही है, क्योकि जब तक उस देश को वे सुविधायें प्राप्त रहेंगी, उस समय तक दूसरे देशो के लिये बजाय स्वय उत्पादन करने के उस देश की वस्तुओ को खरीदना ही अधिक लाभप्रद होगा।"[3] इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ ने केवल प्रतिरक्षा सम्बन्धी (defence) उद्योगो का सरक्षण आवश्यक बताया है। क्योकि समृद्धि की अपेक्षा देश की प्रतिरक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्र व्यापार

---

1 Quoted by Palgrave in Dictionary of Political Economy, Vol II p 143

2 Cairnes Leading Principles of Political Economy, Pt III Chapter IV, Sec I

3 Wealth of Nations, Book IV Chapter II

का सिद्धांत श्रम-विभाजन के सिद्धांत का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विस्तारमात्र है। एडम स्मिथ के शब्दो में, "किसी देश के लोग अपने लाभ के लिये उन उद्योगो मे लगते है जिनमे उन्हे अपने पडौसियो की अपेक्षा अधिक सुविधाये प्राप्त होती है।" उनका यह विश्वास था कि "जो बात किसी घर के लिये बुद्धिमानी की होती है वह किसी बडे राष्ट्र के लिये बेवकूफी की बात नही हो सकती।" साराश यह कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति हर देश को उन उद्योगो में लगने योग्य बना देती है जो अपेक्षाकृत उसके लिये अधिक अनुकूल होते है।

२ संरक्षण नीति (Protectionism)—देश के उद्योगो को कुछ सुविधाए देकर अथवा विदेशी वस्तुओ पर ऊचे कर लगा कर प्रोत्साहन की नीति को संरक्षण की नीति कहते है। इसका ध्येय स्वदेशी उद्योगो की उन्नति करना होता है, चाहे इसमे कुछ समय के लिये उपभोक्ताओ के हितो को कुचलना भी पडे। संरक्षण की नीति में राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्य मिले रहते है। "आर्थिक स्वतन्त्रता स्थापित करना व विदेशी वस्तुओ के 'आक्रमण' से अपने देश की रक्षा करना आदि ऐसी दलीले है, जो संरक्षण के समर्थको द्वारा दी जाती है। ये दलीले ऐसी है, जिससे पता चलता है कि संरक्षण का विचार भयकर अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष के दिनो मे हुआ होगा।"[1] पर इस नीति का सबसे महत्वपूर्ण कारण राष्ट्रीयता के भावो का विकास है। "देशभक्त नागरिक के लिये देशीय उद्योगो का विकास उतना ही महत्व रखता है, जितना कि अपने देश का विदेशी आक्रमण से रक्षा का विचार।" इस प्रकार संरक्षण के कारण आर्थिक नही है बल्कि राजनीतिक है। "विभिन्नतापूर्ण उद्योगो के लाभ, राष्ट्रीय भावनो का विकास और ऐसे उद्योगो की रक्षा, जो स्वतन्त्र व्यापार मे लोप हो जाते है, आदि विचार आर्थिक नही है।"[2]

संभवत संरक्षण नीति का सर्वप्रथम उल्लेख अमरीकी राजनीतिज्ञ ऐलेक्जेन्डर हैमिल्टन ने सन् १७९१ मे अपनी एक रिपोर्ट मे किया। इस रिपोर्ट मे उन्होने यह सिफारिश की कि रोजगार में वृद्धि और विभिन्नता लाने तथा देश की सुरक्षा के लिये देशीय उद्योगो को प्रोत्साहन देना चाहिये।

संयुक्त राज्य अमेरिका मे १९वी शताब्दी के प्रारम्भ में कई कारणो से संरक्षण के समर्थन ने जोर पकडा। योरोप मे क्रातिपूर्ण व नैपोलियन युद्धो के कारण इगलैंड के व्यवसाय में अडचने उत्पन्न होने लगी। अभी तक इगलैड ही प्रमुख औद्योगिक देश था। पेनसिल्वेनिया मे हेनरी केरी के नेतृत्व में संरक्षण के समर्थको का एक प्रमुख समुदाय उत्पन्न हुआ। केरी संरक्षण का समर्थन इसलिये करता था कि उसका विश्वास था कि "इससे उद्योगो में विभिन्नता आ जाती है।" उसका यह भी कहना था कि अनाज के निर्यात से भूमि की उत्पादनशक्ति समाप्त हो जाती है। एस एन पैटन (१८५२-१९२२) ने भी संरक्षण के बारे मे इसी प्रकार की दलीले दी थी। जर्मनी मे संरक्षण का सबसे

---

1 Palgrave, op cit, p 234
2 Ibid

बडा समर्थक फ्रैडरिक लिस्ट था। जर्मनी की सरक्षण नीति उस देश की राष्ट्रवादी नीति का परिणाम थी। लिस्ट (List) ने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नही वरन् राज्य की भलाई पर जोर दिया। उनके विचार मे एडम स्मिथ एक अत्यन्त भौतिकवादी, व्यक्तिवादी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति था। वह राष्ट्र पर जोर नही देता था और यही कारण था कि लिस्ट ने एडम स्मिथ की आलोचना की। लिस्ट का यह भी कहना था कि यह आवश्यक नहीं कि जिस बात में इगलैंड की भलाई हो, उसी बात में दूसरे देश की भी भलाई हो। उसने इस बात पर जोर डाला कि प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार के उद्योग होने चाहियें। क्योंकि उसका विश्वास था कि "जो देश केवल खेती करता है, वह ऐसे व्यक्ति के समान है, जिसके एक हाथ नही होता।"[1]

अमरीका और जर्मनी से ये विचार दूसरे देशो में पहुचे। सरक्षण के पक्ष में जो तर्क दिये जाते है, उन्हे यहा प्रकट किया जाता है।

३ सरक्षण के पक्ष मे दलीलें (Arguments for Protection)--सरक्षण के पक्ष मे जो दलीलें दी जाती हैं, वे निम्नलिखित है —

(1) **प्रारम्भिक उद्योग** (The Infant Industry Argument)—इगलैड का जेम्स स्टुअर्ट मिल केवल इसी दलील को मानता था। मिल ने इस दलील की व्याख्या इस प्रकार की थी, "जो कर सरक्षण के लिये लगाये जाते हैं, वह यदि काफी समय तक रहे तो वह अपने प्रयोग के लिये (नये उद्योग चालू करने में) सबसे कम असुविधाजनक उपाय है, जिसे कोई भी राष्ट्र अपना सकता है। पर यह आवश्यक है कि सरक्षण केवल तभी दिया जाय जब यह विश्वास हो जाय कि कुछ समय पश्चात् सरक्षित उद्योग इससे मुक्ति पा सकेगा।"[2]

इस दलील को लगभग सभी अर्थशास्त्री मानते है। दलील यह है कि यदि किसी उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षित रखकर विकसित होने के लिये समय दिया जाय तो वह थोडे समय में विकसित होकर बडी मात्रा के उत्पादन के लाभो को उठा सके और आगे चल कर सरक्षण के बिना अपने पैरो पर खडा हो सकेगा।

यह दलील ऐसे देशो पर, जिनमें उद्योग देर से प्रारम्भ होता है, विशेष प्रकार से लागू होती है। ऐसे देशो में कुछ ऐसी सुविधायें होती हैं, जिनसे उस समय तक लाभ नही उठाया जा सकता जब तक कि विदेशी प्रतियोगिता को कुछ समय के लिये दूर न रखा जाय।

पर इस दलील को सर्व-स्वीकृति नही मिल सकी है। इसकी आलोचना दो कारणो से हुई है (क) एक बार सरक्षण मिल जाने पर उद्योग को स्वार्थ आ घेरता है और तब सरक्षण को हटाना असम्भव-सा हो जाता है। (ख) एक बार इस आधार पर सरक्षण दे देने से सब प्रकार के उद्योग सरक्षण मागने लगते है। परिणामस्वरूप राजनीतिक भ्रष्टाचार फैल जाता है।

---

1 F List The National System of Political Economy, p 130
2 J S Mill—Principles of Political Economy, Book V, Ch 10, Sec 1

पर इन कमजोरियो के होते हुए भी ससार के बहुत से देशो ने इसी दलील के आधार पर सरक्षण द्वारा अपना उद्योगीकरण किया है, जैसे अमरीका, बहुत से ब्रिटिश डोमीनियन और भारत ।

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक कहते है कि स्वतन्त्र व्यापार आदर्श होता है। सरक्षण से तो केवल अस्थायी रूप से काम निकाला जा सकता है।

(ii) उद्योग का विभिन्नता-सम्बन्धी तर्क (Diversification of Industry Argument)—जर्मनी के फ्रैडरिक लिस्ट व दूसरे लेखको ने यह दलील दी। इसके अनुसार किसी देश के पास उत्पादन व व्यवसाय के विभिन्न साधन होने चाहियें। सतुलित आर्थिक प्रणाली के लिये यह आवश्यक है। किसी एक अथवा थोडे से उद्योगो पर निर्भर रहना राजनीतिक व आर्थिक दोनो दृष्टियो से हानिकारक है। राजनीतिक दृष्टि से तो इसके अर्थ यह होते है कि ऐसी दशा मे राष्ट्र को विदेशी व्यापार पर अत्यधिक निर्भर रहना पडेगा, जो युद्ध के समय में समाप्त हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से यह इसलिए हानिकारक है कि ऐसा करने से कुछ परिस्थितियो में उस उद्योग में बडी गडबडी मच जाने के कारण देश में आर्थिक अव्यवस्था पैदा हो सकती है। क्योकि कृषि से आय कम होती है।

किन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इस दलील से तुलनात्मक व्यय का सिद्धान्त पूर्णत समाप्त हो जाता है, क्योंकि इसके अनुसार देश उन वस्तुओं का भी उत्पादन करता है जिससे उसे अपेक्षाकृत लाभ न हो।

(iii) रोजगार का तर्क (The Employment Argument)—यह कहा जाता है कि सरक्षण के द्वारा औद्योगिक विकास से देश में रोजगार बढ जाता है। यदि सरक्षण न मिले तो विदेशी प्रतियोगिता पुराने उद्योगो को भी समाप्त करके देश मे बेकारी फैला देगी। १९ वी शताब्दी मे विदेशी प्रतियोगिता के कारण भारतीय दस्तकारी का पतन और फलस्वरूप फैलने वाली बेकारी इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थको का कहना है कि सरक्षण से रोजगार बढता नही, वरन् उससे केवल रोजगार सरक्षित उद्योगो से आ जाता है। इसके अतिरिक्त यदि विदेशी प्रतियोगिता देशी उद्योगो की समाप्ति भी कर देती है, तो भी उस देश मे दूसरे निर्यात-सम्बन्धी उद्योग विकसित हो सकते है, अथवा वहा के लोग दूसरे स्थानो को जा सकते है। ऐसा यह मान कर कहा जाता है कि श्रम व पूजी आसानी से एक उद्योग से दूसरे उद्योग और एक देश से दूसरे देश को जा सकते हैं। वास्तव मे ऐसा बहुत धीरे-धीरे होता है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक यह भी मान लेते है कि देश के सारे उत्पादन-साधन पूर्वत पूर्णरूप से नियोजित है, जब कि वास्तविकता यह है कि भारत जैसे देश मे ऐसे साधनो का पर्याप्त रूप में नियोजन नही हुआ है।

(iv) राष्ट्रीय साधनो का अधिरक्षण (Conservation of Natural Resources)—कैरे और पैटेन के कथनानुसार स्वतन्त्र व्यापार का परिणाम यह हुआ कि अमरीका को भारी फ़सलो का निर्यात हुआ और भूमि की उत्पादन-शक्ति को क्षति पहुची। इग्लैड में जैवन्स ने कोयले के निर्यात के सम्बन्ध मे भी यही दलील

अपना पूरा सहयोग नही दे पाते और उत्पादन में कमी होने के कारण जीवन-स्तर नीचा होने लगता है, और इस प्रकार उन्नति रुक जाती है।

इस दलील का यह उत्तर दिया जा सकता है कि जब तक सासारिक नागरिकता आरम्भ नही होती तब तक आर्थिक रूप से शक्तिवान देशो की प्रतियोगिता से अपने हितो की रक्षा के लिए पिछडे हुए देशो को सरक्षण का सहारा लेना आवश्यक है। इसलिए हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि सिद्धात के रूप मे चाहे स्वतन्त्र व्यापार आदर्श हो, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से कुछ परिस्थितियो में सरक्षण आवश्यक होता है, विशेषकर भारत जैसे अर्ध-विकसित देशो में।

५ विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध (Barriers to Foreign Trade)—आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए देशो मे सरक्षणवाद के जोर पकडने से, विदेशी व्यापार पर, अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये है। विदेशी व्यापार पर कई प्रकार की रुकावटें हो सकती है। उनमें से कुछ ये है—(१) आयात अथवा निर्यात का निषेध, (२) विनिमय नियन्त्रण, (३) आयात-निर्यात कर, (४) अधिमान्य व्यवहार, (५) कोटा, (६) आयात के लिए लाइसेंस, (७) आयात-सम्बन्धी एकाधिकार।

(१) आयात निषेध (Import Prohibition)—कभी-कभी सरकार की ओर से कुछ विशेष परिस्थितियो में कुछ वस्तुओ का आयात बन्द कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए कही-कही पर "स्वच्छता के नियम" ("sanitary regulations") होते है। एक बार सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अर्जेन्टाइना के किसी प्रदेश से आने वाले गो-मास को बन्द कर दिया था क्योकि वहाँ पर जानवरो के मुह और पैर में बीमारी हो गई थी। बाद में यह निरोध सम्पूर्ण अर्जेन्टाइना पर लगा दिया गया। कभी-कभी कुछ देश परोक्ष रूप से आयात कम करने के लिए निर्यात करने से इन्कार कर देते है, जब तक कि उत्पादन का कुछ काम उसी देश में न होने लगे। रूमानिया इस शर्त पर अपने तेल का निर्यात करने को तैयार था कि उसे रूमानिया में ही साफ किया जाय। इसके विपरीत हगरी की यह शर्त थी कि वह तभी रूमानिया से तेल लेगा जब कि उसकी सफाई निर्यात के बाद हो।[1]

(२) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—जब राज्य की ओर से विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय में सरकारी हस्तक्षेप होता है, तो उसे "विनिमय नियन्त्रण" कहते है। इस प्रकार विदेशी व्यापार को कम करके दूसरी दिशाओ की ओर कर दिया जाता है। ऐसी दशा में सरकार एक निश्चित राशन के अनुसार व्यापारियों को दूसरे देशो में केवल सीमित रूप में क्रय करने का अधिकार देती है। यही नहीं, वह विनिमय को 'बिलकुल बन्द' (block) भी कर सकती है। उदाहरणार्थ, एक अमरीकन, जो जर्मनी की वस्तुओ का निर्यात करता है, उसे इस बात के लिए बाध्य किया जा सकता है कि वह वहा से मिले हुए मार्क सिक्के से जर्मनी में ही क्रय करे। दूसरे उपाय का नाम विनिमय 'क्लियरिंग' (exchange clearing) है। इस प्रकार

---

1 B W Knight Economic Principles in Practice, p 344

एक जर्मन जो अमरीका मे १,००० डालर का माल खरीदता है उसके लिए यह अ
श्यक होगा कि वह उस द्रव्य को जर्मनी में ही किसी बैंक के पास जमा कर दे
यदि कोई जर्मन उसी दाम का माल किसी अमरीकन को बेचता है तो उस बैंक
माल का भुगतान हो सकता है। इस प्रकार यह प्रयत्न किया जा सकता है कि
विदेशी विनिमय के विदेशी व्यापार चलता रहे।

(३) सीमा शुल्क (Customs Duties)—यह बहुत प्राचीन उपाय
जिसके अन्तर्गत आयात और निर्यात पर आयात व निर्यात कर लगाये जाते
निर्यात कर की अपेक्षा आयात कर अधिक प्रचलित है। जब कर परिमाण अ
माप के अनुसार लगाया जाता है तो वह निश्चित कर (specific duty) कहल
है। जैसे एक आना प्रति गज कपडा अथवा दो रुपये प्रति मन गेहू। जब यह
मूल्य के अनुसार लगता है तो इसे मूल्यानुसार कर (ad valorem) कहते हैं
१०% मोटरो पर अथवा रेडियो पर।

इस प्रकार के करो का उद्देश्य या तो राजस्व प्राप्त करना होता है अथवा
क्षण देना। सूती कपडे के उद्योग को संरक्षित करने के लिए कच्ची कपास के आयात
कर लगा कर उसे उत्पादक के लिए सस्ता बनाया जा सकता है अथवा सूती कपडो
आयात कर भी लगाया जा सकता है। बाद का उपाय अधिक प्रचलित है।

(४) अधिमान्य व्यवहार (Preferential Treatment)—कभी-
विभिन्न देशो की वस्तुओ के साथ लगने वाले करो पर पक्षपातपूर्ण बर्ताव होता
उदाहरण के लिए १९३२ के ओटावा-समझौते के अनुसार भारत मे अंग्रेजी वस्तुअ
साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता था। भारत की वस्तुओ के साथ भी ब्रिटेन मे पक्ष
पूर्ण व्यवहार होता था। इस प्रकार के समझौते से व्यापारिक दल बन जाते हैं
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस प्रकार कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो जा
कि जिन देशो की वस्तुओ पर अधिक कर लगे हो, वे अपने देशो मे बहुत ऊचे अ
कर लगा दे।

(५) कोटा प्रतिबंध (Quota Restrictions)—कोटा दो प्रकार
होते है (क) कस्टम्स कोटा (customs quota) और (ख) आयात
(import quota)। पहले प्रकार के कोटे के अनुसार किसी वस्तु की कुछ
कम कर पर ली जाती है और उस मात्रा के पश्चात् पूरा कर लिया जाता है
मात्रा समझौते द्वारा निश्चित की जाती है, जैसे अमेरिका कैनाडा की क्रीम व
वस्तुओ के साथ इसी प्रकार का व्यवहार करता है। आयात कोटे का प्रभाव व्य
के ऊपर अधिक गभीर होता है। इसमे एक मात्रा के बाद फिर उस वस्तु का आयात
निश्चित समय मे हो ही नहीं सकता।

आयात करो से राज्य को राजस्व प्राप्त होता है, पर कोटा-प्रणाली में विदेशी व
का और देशी कीमत का अन्तर आयात करने वाले की जेब में जाता है और कोटे के
सम्पूर्ण व्यवस्था का व्यय सरकार को भुगतना पडता है। यदि निर्यात करने वालो के
लाइसेन्स हो और वह सगठित हो तो यह रुपया उनकी जेब में भी जा सकता है।

कोटे बहुत लोचपूर्ण होते हैं क्योकि वे प्रशासन (administration) के अधीन न होकर विधान के अधीन होते हैं।

इस नियम से एक लाभ और भी है। वह यह कि इस प्रणाली में चूकि मात्रा निश्चित की जाती है, इसलिए देशी व्यापारी अपने उत्पादन की उस मात्रा के अनुसार उसे व्यवस्थित कर सकते हैं। कोटे की प्रणाली आयात करो की अपेक्षा कम बुरी समझी जाती है। इसके अतिरिक्त दूसरे देशो से व्यापारिक समझौते करते समय इनसे सौदे अच्छे हो सकते हैं। इसी समझौते के कारण जब आयात कर बढाना आवश्यक हो जाता है तो इन्हें सरक्षण बढाने के लिए कम भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक पक्षपातपूर्ण राष्ट्र का सिद्धान्त इसके द्वारा हट सकता हैं।

किन्तु कोटा-प्रणाली से बहुत सी हानिया भी है। देश का वाजार ससार के बाजार से पृथक् हो जाता है। यदि दूसरे देशो में कीमतें गिर रही हो तब भी उनका कोई प्रभाव देश के बाजार पर नही पडता। कोटा निश्चित होने के कारण और अधिक वस्तुए नही मँगाई जा सकती। पर आयात करो के विषय में ऐसा नही होता, क्योकि उसमें ससार की कीमतो के गिरने के साथ-साथ देश में भी कीमतें गिर जाती हैं। इसी प्रकार यदि विदेशी निर्यात करने वाले अपने व्यय कम कर देते है तो उससे आयात करने वाले देश के उपभोक्ता उतना लाभ नही उठा सकते जितना कि स्थिर आयात कर की दशा में उठा सकते है। कोटा-प्रणाली से सरकार को आय में बडी क्षति उठानी पडती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिकतर शक्ति नियम बनाने वालो के हाथ में रहती है, शासको के हाथ में नही।

(६) **आयात लाइसेंस** (Import Licence)—इस प्रणाली के अन्तर्गत बिना लाइसेंस के सरकार किसी प्रकार के आयात की आज्ञा नहीं देती। इस प्रकार आयात कम हो जाते है।

(७) **आयात एकाधिकार** (Import Monopolies)—कभी-कभी सरकार आयात कम अथवा भेदभाव करने के लिए, सरकारी एकाधिकार स्थापित कर लेती है, जैसा कि रूस में है।

दोनो युद्धो के बीच के समय मे, विशेषकर महामदी के दिनो में, विभिन्न देशो द्वारा आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना से इन प्रतिबन्धो का व्यापक प्रयोग हुआ था।

निर्देश पुस्तकें

Cairnes, J E —Leading Principles of Political Economy
Adam Smith—Wealth of Nations, Book IV, Ch II
Carey, H C —Principles of Social Science
List, F —National System of Political Economy
Mill J S —Principles of Political Economy
Viner—Tariff Questions and the Economist
Beveridge—Tariff
Benham, F —Economics

अध्याय ४०

भुगतान-शेष

(BALANCE OF PAYMENTS)

१ व्यापार का शेष तथा भुगतान शेष (Balance of Trade and Balance of Payments)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चाहे स्वतन्त्र हो, चाहे नियन्त्रित, यह किसी-न-किसी समय वस्तुओ और सेवाओ के आयात और निर्यात पर उसी मात्रा मे प्रभाव डालेगा जिस हद तक वह स्वतन्त्र है या नियन्त्रित । कोई भी देश निर्यात मे कमी किये बगैर आयात मे कमी नही कर सकता । यदि देशो को अपना अस्तित्व रखना है, तो उनके लेखे का सतुलन आवश्यक है, जैसे दो व्यक्तियो के बीच होता है ।

प्रत्यक्ष (visible) और अप्रत्यक्ष (invisible) आयात और निर्यात की मदो को समझना जरूरी है । जब वस्तुए, जिनमे निधि भी शामिल है, देश मे बाहर से लाई जाती है या देश के बाहर भेजी जाती है, तो बन्दरगाहो पर उनको खातो मे दर्ज किया जाता है । वह व्यापार की "प्रत्यक्ष" मदे कहलाती है । सेवाओ के आयात और निर्यात का कोई लेखा नही किया जाता । इसलिए वे 'अप्रत्यक्ष" वस्तुए कहलाती है । व्यापार के शेष का सम्बन्ध केवल वस्तुओ और निधि अर्थात् प्रत्यक्ष चीजो के मूल्यो से ही है जिनमें कोष (treasure) अथवा प्रत्यक्ष मदे शामिल है । भुगतान शेष (balance of accounts or balance of payments) का अर्थ समस्त विकलन (debits) या समाकलन (credits) से है, चाहे वह प्रत्यक्ष विषयो के कारण हो या अप्रत्यक्ष के कारण । विकलन और समाकलन का अन्त में सतुलन होना आवश्यक है । आयात और निर्यात व्यापार की वस्तुओ का सतुलित होना आवश्यक नही और ऐसा होता भी बहुत कम है ।

जब आयात निर्यात से अधिक होते है (एक वर्ष में), तब यह कहा जाता है कि व्यापार शेष विपरीत, अभावसूचक, निष्क्रिय या देश के लिए प्रतिकूल है, जब निर्यात अधिक होता है तो वह वास्तविक क्रियाशील तथा अनुकूल कहलाता है । यह शब्द इगलैंड की अठारहवी शताब्दी की वाणिज्य-प्रणाली (mercantilist school) के समय से चले आ रहे हैं । वे लोग आयात के ऊपर निर्यात की अधिकता को हितकर समझते थे, क्योंकि इस अधिकता के कारण उनके देश में अधिक सोना आता था। महत्वपूर्ण वस्तु व्यापार-शेष नही है, बल्कि भुगतान-शेष या लेखा-शेष है । किसी देश के लेखे का सतुलन अन्त मे होना ही चाहिए । निरन्तर प्रतिकूल भुगतान-शेष का अर्थ यह है कि वह देश दिवालिया होने जा रहा है ।

उक्त कथन के अनुसार एक अनुकूल सतुलन का अर्थ जरूरी तौर पर यह नही है

कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन (transactions) की अनुकूल स्थिति में है या वह उन्नतिशील है। वास्तव में इसकी विपरीत स्थिति की अधिक सम्भावना है। द्वितीय महायुद्ध के पहले ब्रिटेन का साधारणत व्यापार-शेष प्रतिकूल रहता था जबकि भारत का अनुकूल। ब्रिटेन भारत से कही अधिक समृद्धिशाली था। भारत के अनुकूल व्यापार-शेष से केवल यही स्पष्ट हुआ कि ब्रिटेन से आई हुई वस्तुओ और सेवाओ का सतुलन करने के लिये भारत को वस्तुओ के रूप में अधिक भुगतान करना पडता था। हो सकता है कि अनुकूल व्यापार-शेष किसी देश की केवल ऋणी स्थिति का प्रदर्शन करता हो। इसका धन या गरीबी से कोई सम्बन्ध नही। महत्व की बात व्यापार-शेष नही है बल्कि यह है कि किस प्रकार की वस्तुए देश में आती है और किस प्रकार की बाहर भेजी जाती है। भारतवर्ष का निर्यात अधिकतर कच्चा माल रहा है और आयात निर्मित वस्तुए। व्यापार-शेष के होते हुए भी इससे इस देश की पिछडी हुई आर्थिक दशा का पता चलता है।

३ भुगतान-शेष मे आने वाले विषय (Items Entering Balance of Payments)—किसी देश का भुगतान-शेष क्या है ? इसके अन्तर्गत विभिन्न मदें इस प्रकार हैं —

(क) मुख्य विषय वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है, जैसा कि बतलाया गया है। आयात और निर्यात के मूल्य की तुलना करने से हमें व्यापार-शेष का ज्ञान होता है।

(ख) इसके उपरान्त अप्रत्यक्ष आयात और निर्यात आते है। ऐसी सेवाए कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे परिवहन सेवाएँ, जहाजो का भाडा, यात्रियो का किराया, बन्दरगाह और नहर के किराये, पोस्ट, टेलीफोन तथा तार की शुल्क व्यावसायिक सेवाएँ (शुल्क तथा कमीशन), अर्थ-सम्बन्धी सेवाएँ (दलालो के शुल्क आदि), और यात्रियो की यातायात सम्बन्धी सेवाए।"[1] इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसमें से कोई भी सेवा दो बार न गिनी जाय। इस प्रकार यदि बाहर से किसी वस्तु को बढे हुए दाम पर बाहर भेजा जाता है, तो उस समय अप्रत्यक्ष निर्यात में आने वाली सेवाओ के कारण हुए अन्तर आयात और निर्यात के दामो द्वारा प्रदर्शित होगे। ऐसी दशा मे इसको अलग-अलग नही गिनना चाहिए।

अप्रत्यक्ष आयात का उदाहरण उन विभिन्न भुगतानो से दिया जा सकता है, जो भारत इगलैण्ड को करता था, जैसे कि भारत की सेवाओ में लगे हुए अग्रेजी और फौजी अफसरो की पेंशनें तथा भिन्न प्रकार के उपहार, छुट्टी तथा फर्लो के भत्ते, भारतीयो के लिए की गई जहाजो तथा बीमा की सेवाये, इगलैण्ड मे भारतीय यात्रियो तथा विद्यार्थियो पर किये गए खर्चे आदि।

(ग) कभी कभी व्यापार-शेष और सेवाओ का सतुलन एक साथ कर दिये जाते हैं और मास के सतुलन मे उनके अन्तर दिखलाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत एक ओर

---

1 Haberler Theory of International Trade, p 17

व्याज संतुलन (interest balance) है और दूसरी ओर पूंजी-संतुलन (capital balance) हो सकता है।

व्याज-संतुलन (interest balance) में निम्न बातें सम्मिलित हैं —

सरकारी, म्युनिसिपल तथा निजी ऋणों के नियत व्याज, परिवर्तनशील लाभ तथा लाभांश, लगान, आदि।

पूंजी-संतुलन (capital balance) में दीर्घावधि तथा अल्पावधि विनियोगों (investments) में अन्तर देखना आवश्यक होगा। दीर्घावधि पूंजी निर्यात में विदेशी उद्योगों के शेयर तथा विदेश में लिये गए ऋणों के पुनः भुगतान आते हैं। अल्पावधि पूंजी निर्यात में विदेश के बैंकों में जमा धन में कोई वृद्धि विदेशी हुंडी का रखना आदि आते हैं।

सन् १९३९-४५ के महायुद्ध के पहले भारत में रेलों तथा नहरों पर लगी हुई पूंजी के व्याज के रूप में इंगलैण्ड को भारी रकम का भुगतान करना पड़ता था। अब स्थिति बदल चुकी है। भारत अब ऋणदाता है और इंगलैण्ड ऋणी। लन्दन में भारत के खाते में लगभग १,७३३ करोड़ रुपये की स्टर्लिंग जमा हो गई थी। हमारा साख लेखा (credit account) इस प्रकार अनुकूल हो गया है।

(घ) अन्त में, कुछ ऐसी मदें भी हैं, जो भुगतान-शेष के अन्तर्गत माने जाते हैं। ये हैं सरकारी लेन-देन, जैसे कि कूटनीतिक प्रतिनिधियों (diplomatic representatives) के वेतन, आर्थिक सहायता (subsidies) युद्ध क्षति-पूर्ति (reparations), धन के उपहार जैसे कि उत्प्रवासियों (emigrants) द्वारा स्वदेश में भेजा गया धन, आदि।

ऐसी मदें हैं, जो भुगतान-शेष का पता लगाते समय साधारणतया ध्यान में रखना चाहिए। जो भी हो, इस शब्द का हमेशा एक ही अर्थ नहीं होता। इस प्रकार —

(i) किसी समय इसका अर्थ एक विशेष समय की अवधि में होने वाले विदेशी मुद्रा की खरीदी गई या बेची गई रकम से होता है। (ii) इस शब्द का अर्थ एक दिए हुए समय के विदेश को भुगतान की हुई रकम या विदेश से मिली हुई रकम से भी होता है। यह बात ऊपर दी हुई (i) जैसी नहीं है। भुगतान केवल विदेशी द्रव्य खरीद कर ही नहीं किया जा सकता बल्कि पूर्वतः रखे हुए विदेशी द्रव्य का हस्तान्तरण किया जा सकता है। (iii) इस शब्द का प्रयोग एक और अधिक सीमित अर्थ में भी होता है। जैसे, जब इसे आय-लेखा (income account) के भुगतान-शेष में प्रयोग करते हैं। इसके अन्तर्गत व्याज की तुला, व्यापार-तुला और सेवाओं की तुला आएंगे। (iv) ऊपर दिये हुए अर्थ से एक कदम और आगे बढ़ने पर इस शब्द का अर्थ "अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता" (international indebtedness) होगा, जो कि किसी नियत समय के अन्दर आने वाले दायित्वों के अन्तर्गत नहीं होता। यह किसी समय के दावों (claims) और दायित्वों (liabilities) की सम्पूर्ण मात्रा का प्रदर्शन करता है। (v) भुगतान-शेष का सबसे अधिक महत्त्व विनिमय की दर (rate of exchange) पर उसके प्रभाव द्वारा उत्पन्न होता है। विनिमय की दर का अर्थ है

स्वदेशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा या मुद्राओ की दृष्टि मे मूल्य। इस दृष्टिकोण मे यह पर्याप्त नही है कि हम किसी दिये हुए क्षण में या किसी समय की अवधि मे पूरे होने वाले दायित्वो का माप करें। ऐसी परिस्थिति में सब से अच्छी विधि तो यह है कि यहाँ पर माग और पूर्ति के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाय। स्वदेशी मुद्रा की दृष्टि से इसको विदेशी मुद्रा का दाम माना जा सकता है। भुगतान-शेष में ली गई मदें स्वदेशी मुद्रा (या विदेशी मुद्रा) की पूर्ति या माग बढाते हैं। हेबरलर (Haberler) का कहना है, "भुगतान-तुला शब्द का उपयोग उस समय पूर्ण माग या पूर्ति की दशा के अर्थ में होता है।"[1] इस अर्थ में हम इस शब्द का प्रयोग विदेशी विनिमय (foreign exchange) के अध्ययन के समय करेंगे।

भारत का सन् १९५४ का (प्रारम्भिक) भुगतान-शेष का लेखा नीचे दिया गया है।[2]

भुगतान का शेष
(Balance of Payments)

क चालू खाता		(करोड रुपयो में)		
		प्राप्ति	भुगतान	शुद्ध
१ व्यापार-वस्तुए (निर्यात एफ० ओ० बी० आयात सी० आई० एफ०)	—	५४८ ४	६२४ ५	—७५ ७
२ अद्राव्यिक स्वर्ण लेनदेन	—	—	—	—
३ विदेशी यात्रा[3]	—	१ ६	१० २	—४ २
४. परिवहन[4]	—	३२ ८	१० ४	+२२ ४
५ बीमा[5]	—	५ १	३ ९	+१ २
६ नियोजित आय[6]	—	२१ ९	२६ ७	—४ ८
७ सरकार, जिसे अन्यत्र शामिल नही किया गया	—	२३ ०	१५'४	+७ ६
८ विविध	—	२६ ६	१२ ४	+१४ २
९ दान	—	२६ ६	१५ ७	+१० ९
१० अवर्गीकृत	—	३९ २	२ ७	+३६'५
कुल चालू सौदे		७२५ ६	७२१ ९	+३ ७
भूल-चूक				+८ २

1 Haberler, Op Cit p 19
2 Reserve Bank Bulletin, April 1955, Pp 351-352
3 Data for receipts are incomplete.
4 & 5 The data given for two items in this table gives only a partial idea of the transactions on two accounts. The two items are more or less complete on the receipt side but in regard to the payments only a portion of expenditure is entered here Payments for imports shown under item 1 are mostly on a C I F basis and therefore incorporate all but a small portion of the expenditure incurred by the country on 'Transportation' and Insurance'
6 Remittances of accumulated profits hitherto treated as payments under this head have been classified as 'Private Long-term Capital (viz, item 11—Capital Account)

(ख) पूंजी खाता

शुद्ध लेनदेन वृद्धि (+), अथवा कमी (−)

(करोड़ रुपयों में)

निजी (बैंकिंग संस्थाओं को जुदा करके)		आस्तियां	दायित्व	शुद्ध आस्तियां
११ दीर्घावधि पूंजी	—	−६·८	−९·४	+२·६
१२ अल्पावधि पूंजी	—	+०·१	−५·३	+५·४
ऑफीशियल तथा बैंकिंग संस्थाएं—				
१३ दीर्घावधि पूंजी				
१. सरकारी ऋण	—	—	+०·९	−०·९
२ बैंक ऋण	—	—	—	—
३ पोर्टफोलियो सिक्योरिटिया	—	+०·२	+२·३	−२·१
४. वहीखाते (अमोर्टीजेशन)	—	−१६·१	−१०·९	−५·२
५ अन्य नविसा भुगतान	—	—	—	—
६ अन्य	—	—	−०·६	+०·६
१४. अल्पावधि पूंजी :				
१ भुगतान तथा क्लीयरिङ्ग करार	—	—	—	—
२ आई० एम० एफ० तथा आई० बी० आर० डी० के दायित्व	—		−२२·२	+२२·२
३. सरकारी तथा बैंकिंग संस्थाओं के अन्य दायित्व	—		+१५·४	−१५·४
४ अन्य	—	+१·१	−३·६	+४·७
१५ धन विषयक स्वर्ण	—	—	—	—
१६ पूंजी तथा धन-विषयक स्वर्ण का कुल सौदा	—	−२१·५	−३३·४	+११·९

३ भुगतान-शेष की साम्यावस्था (Equilibrium of Balance of Payments)—जिस समय किसी देश में भुगतान-शेष की साम्यावस्था होती है, उस स्थिति में स्वदेश की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होती है। इस प्रकार उस समय मांग और पूर्ति की परिस्थिति न तो अनुकूल ही होती है और न प्रतिकूल। यदि भुगतान-शेष किसी देश की प्रतिकूल दिशा की ओर बढ़ता है तो उस समय वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात या और दूसरे प्रकार के निर्यातों को प्रोत्साहन देकर या सब प्रकार के आयात को निरुत्साहित करके उसकी व्यवस्था करनी ही चाहिए। कोई भी देश सदैव प्रतिकूल भुगतान-शेष की स्थिति में नहीं रह सकता, जब कि यह सम्भव है और अनेक देशों में अक्सर ऐसा होता है कि उनका व्यापार-शेष सदैव प्रतिकूल रहे। देशों के सम्पूर्ण दायित्वों और सम्पूर्ण अदेयों (assets) का व्यक्तियों के दायित्वों

और आदेयो की भाँति, अतत सतुलन होना ही चाहिये ।

इसका यह अर्थ नही है कि किसी देश का भुगतान-शेष प्रत्येक दूसरे देश का, जिससे कि उसका व्यापारिक सबध है, अलग-अलग साम्यावस्था में रहे । यह आवश्यक भी नही है और न वास्तविक ससार में ऐसा होता ही है । व्यापारिक सम्बन्ध अनेक रूपो के होते हे । उदाहरण के लिए, भारत का भुगतान-शेष अमरीका के साथ क्रियाशील हो सकता है और इगलैड या दूसरे देशो के साथ प्रतिकूल । किन्तु इस दौड में प्रत्येक देश दूसरे देशो में निर्यात किए गए समाम माल से (सब देशो के निर्यात मिलाकर) अधिक मूल्य प्राप्त नही कर सकता ।

इस प्रकार भुगतान-शेष में साम्यावस्था उस देश की अर्थ-व्यवस्था की दृढता का प्रतीक है । परन्तु असमता थोडे समय या अधिक समय के लिए उत्पन्न हो सकती है । निरन्तर असमता सूचित करती है कि देश आर्थिक तथा वित्त-विषयक (financial) दिवालियापन की ओर बढ रहा है । इसलिए, हर एक देश को, अपने भुगतान-शेष के साम्य को बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए । यह जानने के लिए कि यह किस प्रकार किया जा सकता है, हमें असमता के कारणो का भी अध्ययन करना होगा ।

असाम्यावस्था के कारण (Causes of Disequilibrium)—किसी देश के भुगतान-शेष में असमता किस प्रकार हो सकती है ? विविध विषय, जो भुगतान शेष के अन्तर्गत हैं, हम पहले ही विस्तारपूर्वक बतला चुके हे । कोई भी कारण, जो उन विषयो को निरन्तर एक ओर ले जाता है, असमता उत्पन्न कर सकता है । उदाहरण के लिए, कुछ कारणो से व्यापारिक वस्तुओ के निर्यात में कमी हो सकती है और आयात वसा ही रहे या प्रतिकूल दिशा की ओर बढे । इसी प्रकार दूसरे विषयो के बारे में भी विभिन्न प्रकार के कारणो द्वारा निर्यात में कमी हो सकती है । उदाहरण के लिए व्यापारिक वस्तुओ को ले लीजिये । हमारे निर्यात में ऋतु-सम्बन्धी या दूसरे कारणो से गिरे हुए उत्पादन के कारण कमी हो सकती है । अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे हमारी वस्तुओ की माँग गिर सकती है क्योकि सम्भव है, इन वस्तुओ के उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति कम हो गई हो या भारत में इन वस्तुओ की उत्पादन-लागत अपेक्षाकृत बढ गई हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हमारी प्रतिद्वद्वी शक्ति को कम कर देती है । हमारे निर्यात विदेशियो के लिए विनिमय-दर के बढ जाने से महँगे हो सकते हे, जैसे कि रुपये का मूल्य बढ जाय, उदाहरणार्थ, १ शि० ६ पें० से १ शि० ८ पें० । यदि हम कृत्रिम रूप से रुपये का मूल्य, जितना कि आर्थिक स्थिति के हिसाब से न्याययुक्त है, उससे अधिक रखें (जिसका कि हम अगले अध्याय मे अध्ययन करेंगे) तो प्रतिकूल व्यापार-शेष और भुगतान-शेष का अस्तित्व बना रहेगा ।

इसी प्रकार सेवाओ के अत्यधिक आयात के कारण असमता उत्पन्न हो सकती है, जो न तो निर्यात से पूरी होती है और न पूजी के आयात, इत्यादि से ।

४ असमता किस प्रकार सुधारी जा सकती है (How Disequilibrium may be corrected)—जब किसी देश के भुगतान-शेष में कोई गभीर असमता उत्पन्न हो जाती है, उस समय यदि देश आर्थिक व्यवस्था दृढ रखता है, तो

असमता को सुधारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। प्रत्यक्ष है कि उन कारणो को, जो इस दशा की उत्पत्ति के कारण है, अवश्य ही हटा देना चाहिए। समायोजन के बारे मे "प्रतिष्ठावादी" विचार यह है "एक्टिव अथवा पेस्सिव सन्तुलन, जिसमे स्वर्ण का भीतर आना तथा बाहर जाना शामिल है, को सामान्य रूप से गृह-द्रव्य पूर्ति के विस्तार तथा सकुचन का परिणाम माना जाता था, इस विस्तार तथा सकुचन से यह माना जाता था कि गृह लागतो तथा कीमतो के स्तर में उतार-चढाव होगा। विस्तार से आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और निर्यात हतोत्साहित होगा। सकुचन से, आयात हतोत्साहित होगा और निर्यात प्रोत्साहित। स्वर्ण बाहर जाना, द्रव्य की मात्रा मे परिवर्तन तथा सापेक्ष कीमत-स्तर में परिवर्तन आदि समायोजन तन्त्र के मुख्य साधन है।"[1] हाल ही के चलमुद्रा सम्बन्धी अनुभवो से इस प्रतिष्ठावादी सिद्धान्त मे रूपभेद हुए है। अब यह माना जाता है कि आय के बहाव में परिवर्तनो से जो भुगतान के शेष से प्रलोभित है, साम्य साधन का कार्य करता है। "मुख्य बात यह है कि चालू सौदो का एक्टिव अथवा पेस्सिव सन्तुलन···देश के भीतर कुल द्रव्य आय के बहाव का विस्तार तथा सकोच प्रत्यक्ष रूप मे करता है ··भुगतान शेष से प्रलोभित होकर आय तथा व्यय पर होने वाले परिवर्तनो से विदेशी माल तथा गृह वस्तुओ की माग सतुलन पर साम्य रूप में प्रतिक्रिया करती है।"[2]

प्रतिकूल भुगतान-शेष को ठीक करने के लिए पाच महत्त्वपूर्ण विधिया है —

(१) निर्यात को प्रोत्साहित करना तथा/या आयात को रोकना (Stimulating Exports and/or checking Imports)—यदि निर्यात घट गया हो तो उसको बढाने के लिए यत्न करना चाहिए। सम्भव है कि निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए देश मे लागत के स्तर को गिराना पडे। हो सकता है कि इस काम के लिए मजदूरी, ब्याज की दरे और दूसरी आमदनी को कम करना पडे और कीमतो को गिराने के लिए मुद्रा को सकुचित करना पडे।

व्यवसायियो को सरकारी सहायता देकर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता है। आयातो को पूर्ण निषेध के द्वारा या आयात-कर लगाकर या नियत-अश-प्रणाली (quota system) के द्वारा निरुत्साहित किया जा सकता है।

(२) दूसरी विधि यह है कि स्वदेशी मुद्रा का बाहरी (विनिमय) मूल्य कम किया जाय, जिससे विदेशियो के लिए स्वदेश की वस्तुए सस्ती हो जाए। परन्तु इस मार्ग की विशिष्ट सीमाए है, क्योकि दूसरे देश भी वैसा ही करने लगेगे और विनिमय का "प्रतियोगी अवमूल्यन" (competitive depreciation) आरभ हो जायगा जैसा कि तीसवें दस-वर्षीय काल मे मदी के समय हुआ था।

(३) तीसरी विधि मुद्रा की अपस्फीति या संकुचन करना (Deflate the Currency) है। जब मुद्रा सकुचित होगी, तो दाम गिरेंगे, जिससे निर्यात को प्रोत्सा-

---

1 League of Nations—International Currency Experience, 1944 p, 98
2 Ibid, p 600

हन मिलेगा और आयात पर रोक लगेगी। परन्तु अपस्फीति की विधि अनेक खतरो से भरी हुई है। यदि दाम तेजी मे गिराये जाते है, परन्तु खर्चे, जो साधारणतया दृढ रहते है, (विशेषतर उन देशो की मजदूरी जहा श्रमिक सघ भली प्रकार सगठित है) उसी प्रकार कम नही होते, तो उस दशा में देश को एक बडी मदी और बेकारी का सामना करना पड सकता है। इसलिए भुगतान-शेष को सुधारते समय यदि एक बार भी असमता उत्पन्न हो गई, तो उसको ठीक करना कठिन हो जाता है।

(४) चौथी विधि **विनिमय अवमूल्यन** (devaluation) है। इसका प्रभाव वैसा ही है, जैसा कि मुद्रा का मूल्य कम करने का होता है। जब किसी मुद्रा का अवमूल्यन होता है (अर्थात् इसका धातु का भाग कम कर दिया जाता है) तो विदेशी मुद्रा में इसका मूल्य कम हो जाता है। इसका फल यह होता है कि विदेशी लोग अपनी मुद्रा के द्वारा हमारे देश में पहले से अधिक वस्तुए खरीद सकते है। इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब हम विदेशी वस्तुए खरीदना चाहते है, तो हमारी मुद्रा के सस्ते हो जाने के कारण, हमें अधिक भुगतान करना पडता है। इस प्रकार आयात निरुत्साहित किये जाते है और समय बीतने पर व्यापार-शेष हमारे अनुकूल हो जाता है और भुगतान-शेष को ठीक कर देता है।

(५) अत में एक विधि **विनिमय नियत्रण** की है। हम जानते है कि अपस्फीति भयकर है, अवमूल्यन का प्रभाव थोडे समय के लिए होता है। और उसके द्वारा दूसरो को भी अपस्फीति करने का उत्साह मिल सकता है, और अवमूल्यन देश के मान पर आघात करता है। इसलिए इन विधियो से बचने का प्रयत्न किया जाता है और इसके बजाय शासन द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रण किया जाता है। सब निर्यातकर्ताओ को आज्ञा दी जाती है कि वे अपने विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक के द्वारा करें और उसके बाद वह लाइसेंस प्राप्त आयातकर्ताओ को बाट दिये जाते है। इनके अतिरिक्त और किसी को वस्तुओ के आयात करने की आज्ञा नही दी जाती। इस प्रकार आयात को सीमा के अन्दर रखकर भुगतान-शेष ठीक कर दिया जाता है।

जिस समय अधिक देशो में स्वर्ण-मान (gold standard) ठीक कार्य कर रहा था, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की असमता अपने आप ठीक हो गई थी। यह १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले हुआ था। सन् १९१९-३९ अर्थात् दो युद्धो के बीच के काल के पहले भाग में स्वर्ण-मान फिर कार्यान्वित किया गया था जो कि महान् मदी के समय मे नष्ट हो गया, जिसके कारण हम पहले ही एक अध्याय में दे चुके है। स्वर्ण-मान का आप से आप प्रभावित होना बन्द हो गया इसलिए यह इस सम्बन्ध में बेकार है।

कई अर्थशास्त्रियो ने अभी हाल में यह विचार प्रकट किया है कि राष्ट्रीय आय में परिवर्तन लाकर साम्यावस्था पुन स्थापित की जा सकती है। निर्यात में वृद्धि से राष्ट्रीय आय बढ जाती है और फिर इससे विदेशी माल खरीदने की हमारी शक्ति बढ जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आयात मे भी वृद्धि होगी और फलस्वरूप आयात और निर्यात के बीच साम्य बना रहेगा। किन्तु आधुनिक आर्थिक विश्लेषण

से यह पता चलता है कि आयात मे थोडी वृद्धि होगी क्योंकि राष्ट्रीय आय का कुछ भाग वचत का रूप धारण कर लेगा । इसलिए पूर्ण साम्य की दृष्टि से मूल्य या विनिमय दर में परिवर्तन लाना आवश्यक है ।

हाल में साम्य बनाये रखने के लिए तथा टूटने पर फिर से इसे लाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना की गई है । इसका नाम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) है अगले अध्याय मे हम इसका अध्ययन करेंगे । यहाँ यह कहना काफी होगा कि अब किसी देश के लिए यह आवश्यक नहीं रह गया है कि असमता के कारणो को दूर करने के लिए मुद्रा-संकुचन का प्रयोग करे जैमा कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत आ करता था । "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष" नामक सस्था एक ऐसा साधन प्रस्तुत करती है जिससे विदेशी विनिमय दरो में उचित ढग से परिवर्तन लाया जा सकता है ।

निर्देश पुस्तके

League of Nations—International Currency Experience.
Haberler, G —Theory of International Trade
Whale, B —International Trade
Heuser—Control of International Trade
Crowther, G —Outline of Money, 1950 Ch X
Benham F —Economics, 1940, pp 425-35
Meade, J E —Balance of Payments
Tarshis, L —Elements of Economics
Samuelson, P A —Economics, 1948, Ch 16.

हन मिलेगा और आयात पर रोक लगेगी। परन्तु अपस्फीति की विधि अनेक खतरो से भरी हुई है। यदि दाम तेजी मे गिराये जाते है, परन्तु खर्चे, जो साधारणतया दृढ रहते है, (विशेषतर उन देशो की मजदूरी जहा श्रमिक सघ भली प्रकार सगठित है) उसी प्रकार कम नही होते, तो उस दशा में देश को एक बडी मदी और बेकारी का सामना करना पड सकता है। इसलिए भुगतान-शेष को सुधारते समय यदि एक बार भी असमता उत्पन्न हो गई, तो उसको ठीक करना कठिन हो जाता है।

(४) चौथी विधि **विनिमय अवमूल्यन** (devaluation) है। इसका प्रभाव वैसा ही है, जैसा कि मुद्रा का मूल्य कम करने का होता है। जब किसी मुद्रा का अवमूल्यन होता है (अर्थात् इसका धातु का भाग कम कर दिया जाता है) तो विदेशी मुद्रा में इसका मूल्य कम हो जाता है। इसका फल यह होता है कि विदेशी लोग अपनी मुद्रा के द्वारा हमारे देश में पहले से अधिक वस्तुए खरीद सकते है। इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब हम विदेशी वस्तुए खरीदना चाहते है, तो हमारी मुद्रा के सस्ते हो जाने के कारण, हमें अधिक भुगतान करना पडता है। इस प्रकार आयात निरुत्साहित किये जाते है और समय बीतने पर व्यापार-शेष हमारे अनुकूल हो जाता है और भुगतान-शेष को ठीक कर देता है।

(५) अत में एक विधि **विनिमय नियन्त्रण** की है। हम जानते है कि अपस्फीति भयकर है, अवमूल्यन का प्रभाव थोडे समय के लिए होता है। और उसके द्वारा दूसरो को भी अपस्फीति करने का उत्साह मिल सकता है, और अवमूल्यन देश के मान पर आघात करता है। इसलिए इन विधियो से बचने का प्रयत्न किया जाता है और इसके बजाय शासन द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रण किया जाता है। सब निर्यातकर्ताओ को आज्ञा दी जाती है कि वे अपने विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक के द्वारा करें और उसके बाद वह लाइसेंस प्राप्त आयातकर्ताओ को बाट दिये जाते है। इनके अतिरिक्त और किसी को वस्तुओ के आयात करने की आज्ञा नही दी जाती। इस प्रकार आयात को सीमा के अन्दर रखकर भुगतान-शेष ठीक कर दिया जाता है।

जिस समय अधिक देशो में **स्वर्ण-मान** (gold standard) ठीक कार्य कर रहा था, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की असमता अपने आप ठीक हो गई थी। यह १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले हुआ था। सन् १९१९-३९ अर्थात् दो युद्धो के बीच के काल के पहले भाग में स्वर्ण-मान फिर कार्यान्वित किया गया था जो कि महान् मदी के समय मे नष्ट हो गया, जिसके कारण हम पहले ही एक अध्याय में दे चुके है। स्वर्ण-मान का आप से आप प्रभावित होना बन्द हो गया इसलिए यह इस सम्बन्ध में बेकार है।

कई अर्थशास्त्रियो ने अभी हाल में यह विचार प्रकट किया है कि राष्ट्रीय आय में परिवर्तन लाकर साम्यावस्था पुन स्थापित की जा सकती है। निर्यात में वृद्धि से राष्ट्रीय आय बढ जाती है और फिर इससे विदेशी माल खरीदने की हमारी शक्ति बढ जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आयात में भी वृद्धि होगी और फलस्वरूप आयात और निर्यात के बीच साम्य बना रहेगा। किन्तु आधुनिक आर्थिक विश्लेषण

से यह पता चलता है कि आयात मे थोडी वृद्धि होगी क्योकि राष्ट्रीय आय का कुछ भाग वचत का रूप धारण कर लेगा । इसलिए पूर्ण साम्य की दृष्टि से मूल्य या विनिमय दर में परिवर्तन लाना आवश्यक है ।

हाल मे साम्य बनाये रखने के लिए तथा टूटने पर फिर से इसे लाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना की गई है । इसका नाम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) है अगले अध्याय मे हम इनका अध्ययन करेगे । यहाँ यह कहना काफी होगा कि अब किसी देश के लिए यह आवश्यक नही रह गया है कि असमता के कारणो को दूर करने के लिए मुद्रा-सकुचन का प्रयोग करे जैसा कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत आ करता था । "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष" नामक सस्था एक ऐसा साधन प्रस्तुत करती है जिससे विदेशी विनिमय दरो मे उचित ढग से परिवर्तन लाया जा सकता है ।

निर्देश पुस्तकें

League of Nations—International Currency Experience
Haberler, G —Theory of International Trade
Whale, B —International Trade
Heuser—Control of International Trade
Crowther, G —Outline of Money, 1950 Ch X
Benham F —Economics, 1940, pp 425-35
Meade, J E —Balance of Payments
Tarshis, L —Elements of Economics
Samuelson, P A —Economics, 1948, Ch 16

हन मिलेगा और आयात पर रोक लगेगी। परन्तु अपस्फीति की विधि अनेक खतरो से भरी हुई है। यदि दाम तेजी से गिराये जाते है, परन्तु खर्चे, जो साधारणतया दृढ रहते हैं, (विशेषतर उन देशो की मजदूरी जहा श्रमिक सघ भली प्रकार सगठित है) उसी प्रकार कम नही होते, तो उस दशा में देश को एक बडी मदी और बेकारी का सामना करना पड सकता है। इसलिए भुगतान-शेष को सुधारते समय यदि एक बार भी असमता उत्पन्न हो गई, तो उसको ठीक करना कठिन हो जाता है।

(४) चौथी विधि **विनिमय अवमूल्यन** (devaluation) है। इसका प्रभाव वैसा ही है, जैसा कि मुद्रा का मूल्य कम करने का होता है। जब किसी मुद्रा का अवमूल्यन होता है (अर्थात् इसका धातु का भाग कम कर दिया जाता है) तो विदेशी मुद्रा में इसका मूल्य कम हो जाता है। इसका फल यह होता है कि विदेशी लोग अपनी मुद्रा के द्वारा हमारे देश में पहले से अधिक वस्तुए खरीद सकते है। इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब हम विदेशी वस्तुए खरीदना चाहते है, तो हमारी मुद्रा के सस्ते हो जाने के कारण, हमे अधिक भुगतान करना पडता है। इस प्रकार आयात निरुत्साहित किये जाते है और समय बीतने पर व्यापार-शेष हमारे अनुकूल हो जाता है और भुगतान-शेष को ठीक कर देता है।

(५) अत में एक विधि **विनिमय नियत्रण** की है। हम जानते है कि अपस्फीति भयकर है, अवमूल्यन का प्रभाव थोडे समय के लिए होता है। और उसके द्वारा दूसरो को भी अपस्फीति करने का उत्साह मिल सकता है, और अवमूल्यन देश के मान पर आघात करता है। इसलिए इन विधियो से बचने का प्रयत्न किया जाता है और इसके बजाय शासन द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रण किया जाता है। सब निर्यातकर्ताओ को आज्ञा दी जाती है कि वे अपने विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक के द्वारा करें और उसके बाद वह लाइसेंस प्राप्त आयातकर्ताओ को बाट दिये जाते है। इनके अतिरिक्त और किसी को वस्तुओ के आयात करने की आज्ञा नही दी जाती। इस प्रकार आयात को सीमा के अन्दर रखकर भुगतान-शेष ठीक कर दिया जाता है।

जिस समय अधिक देशो में स्वर्ण-मान (gold standard) ठीक कार्य कर रहा था, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की असमता अपने आप ठीक हो गई थी। यह १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले हुआ था। सन् १९१९-३९ अर्थात् दो युद्धो के बीच के काल के पहले भाग में स्वर्ण-मान फिर कार्यान्वित किया गया था जो कि महान् मदी के समय में नष्ट हो गया, जिसके कारण हम पहले ही एक अध्याय में दे चुके है। स्वर्ण-मान का आप से आप प्रभावित होना बन्द हो गया इसलिए यह इस सम्बन्ध में बेकार है।

कई अर्थशास्त्रियो ने अभी हाल में यह विचार प्रकट किया है कि राष्ट्रीय आय में परिवर्तन लाकर साम्यावस्था पुन स्थापित की जा सकती है। निर्यात में वृद्धि से राष्ट्रीय आय बढ जाती है और फिर इससे विदेशी माल खरीदने की हमारी शक्ति बढ जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आयात में भी वृद्धि होगी और फलस्वरूप आयात और निर्यात के बीच साम्य बना रहेगा। किन्तु आधुनिक आर्थिक विश्लेषण

इगलैड के आयातकर्त्ता इगलैड के निर्यातकर्ताओ से भारतीय मुद्रा के स्वत्व खरीद कर भारतीय निर्यातकर्त्ताओ को भुगतान कर सकते है। इस तरह हर देश मे विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) खरीदने वाले या विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) बेचने वाले लोग होते है। दूसरे शब्दो में, विदेशी मुद्रा की माग भी रहती है और पूर्ति भी। विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति पर विनिमय की दर निर्भर है जिसके अनुसार विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है (या देशी मुद्रा बेची जा सकती है) और बेची जा सकती है (या देशी मुद्रा खरीदी जा सकती है) ये क्रेता और विक्रेता मिलकर विदेशी विनिमय बाजार बनाते है।

यह इस सिद्धान्त का अति सरल विवरण है। वास्तव में ससार में निर्यातकर्त्ता और आयातकर्त्ता प्रत्यक्ष रूप मे एक दूसरे से सम्बन्ध नही रखते। बैक (विनिमय बैक और दूसरे बैक, जो विनिमय मे सबधित है) बिचौलिए का काम करते है। आयातकर्त्ता विदेशी मुद्रा के स्वत्व बैको से खरीद लेते है और निर्यातकर्त्ता विदेशी मुद्रा के स्वत्व बैको को बेच देते है। बैक दोनो के बीच मध्यस्थ होकर लाभ उठाते है।

२ विदेशी मुद्रा के स्वत्व (Titles to Foreign Money)—अभी हमें "विदेशी मुद्रा के स्वत्व" के अर्थ को स्पष्ट करना है। इनके ये रूप हो सकते है—(i) विनिमय बिल, (ii) बैक ड्राफ्ट्स, अथवा (iii) तार द्वारा हस्तान्तरित (telegraphic transfers)। हमने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि विनिमय पत्र या हुडी क्या है और वही पर यह भी बतलाया गया है कि इससे विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध करने में क्या फायदे है। भारतीय निर्यातकर्त्ता अपनी वस्तुओ के इगलैड के आयातकर्त्ता के नाम पौड स्टर्लिंग से सबधित विनिमय-पत्र लिख देता है। वह बैक को यह पत्र बेच देता है या पारिभाषिक शब्दो में वह उसको भुना लेता है। पत्र का वर्तमान मूल्य उसको रुपयो मे मिल जाता है। भारत मे इगलैड की वस्तुओ का आयातकर्त्ता इस प्रकार के पत्र को रुपये देकर खरीद लेता है और उसको अपने इगलैड के निर्यातकर्त्ता के पास भेज देता है, जो उसको किसी बैक मे भुना लेता है या उसके पूरे हो जाने पर पौंड स्टर्लिंग में भुगतान पा लेता है।

ड्राफ्ट, जैसा कि हम देख चुके है, बैक से उसकी शाखा के लिए या दूसरे बैको के लिए जिनसे कि उनका हिसाब हो, किसी धारक को माग पर लिखित सख्या में मुद्रा देने के लिए एक आज्ञा है। सक्षेप मे, ड्राफ्ट एक ऐसा चेक है, जो एक बैक द्वारा किसी दूसरे बैक के लिए एक तीसरे व्यक्ति के हित में लिखा गया हो। आप एक ड्राफ्ट, जिसका कि अग्रेजी मुद्रा में भुगतान किया जा सकता हो, खरीद कर धन इगलैड भेज सकते है। यह ड्राफ्ट डाक से उस व्यक्ति के पास भेज दिया जाता है, जिसको भुगतान पाना है, और वह व्यक्ति उसे उस बैक को देकर, जिसके नाम ड्राफ्ट लिखा गया है, अपना भुगतान पा जाता है।

तार द्वारा हस्तान्तरण किसी बैक को एक निश्चित धन-राशि का, कथित व्यक्ति को, भुगतान करने का आदेश है। यह एक तार द्वारा भेजा गया ड्राफ्ट कहा जा सकता है। इस रीति से भुगतान तुरन्त कर दिये जाते है। इसलिए तार द्वारा हस्तान्तरण की

अध्याय ४१

विदेशी विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

१ विदेशी विनिमय क्या है? (Meaning of Foreign Exchange)—"विदेशी विनिमय" के निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं —

(क) विनिमय की दर, अर्थात् विदेशी द्रव्य की वह मात्रा है जो स्वदेशी द्रव्य की एक इकाई खरीद सकती है, अथवा

(ख) विदेशी विनिमय की चेष्टाए अथवा सौदे (व्यवहार), अर्थात् एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में बदलना या वह यत्र, जिससे विदेशी भुगतान किया जाता है, अथवा

(ग) विदेशी विनिमय (मुद्रा) कोष जो किसी देश के पास हो।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो विदेशी विनिमय भी न होता। यदि सारे ससार के लिए एक जैसी मुद्रा होती तो उस समय भी विदेशी विनिमय की कोई समस्या न होती। परन्तु जैसी दशा है, उसके अनुसार देशो के आर्थिक सम्बन्धो के कारण एक-दूसरे के बीच लेन-देन का प्रश्न उठता है, जिसको पूरा करना पडता है और विभिन्न देशो की मुद्राओ के रूप भिन्न-भिन्न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि आप १०० रु० की पुस्तके इगलैंड से मगाते है। भारत का रुपया इगलैंड के पुस्तक-विक्रेता के लिए किसी काम का नही। आपको उसी मुद्रा में भुगतान करना होगा, जो इगलैंड में क्रय-शक्ति रखती हो। इगलैंड की मुद्रा पौंड (£) स्टर्लिंग है। इसलिए आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने १००) रुपयो को पौंड स्टर्लिंग मे परिवर्तित करे (अथवा पौंड स्टर्लिंग के स्वत्व में)। यदि आपको सोना मिल सके और आप उसके परिवहन के व्यय को ठीक समझते हो, तो आप उसे भी भेज सकते है। इसी तरह एक अग्रेज व्यापारी भारतीय निर्यातकर्त्ता से चाय खरीदता है। उसे अपने पौंड स्टर्लिंग को रुपयो में बदलना होगा अथवा यदि सभव हुआ और बचत जान पडी तो सोना भेजना होगा, इसलिए हर एक देश में हर क्षण कुछ ऐसे व्यक्ति होते है, जो विदेशो को भुगतान करना चाहते है या ऐसे लोग, जो दूसरे देशो से भुगतान प्राप्त करना चाहते है। पहले बतलाये हुए लोगो ने वस्तुओ और सेवाओ का आयात किया है और बाद के लोगो ने निर्यात। स्पष्ट है कि भारत के निर्यात-कर्त्ताओ को इगलैंड के आयातकर्त्ताओ से भुगतान लेने का अधिकार है और भारत में आयातकर्त्ताओ को इगलैंड के निर्यातकर्त्ताओ को भुगतान करना पडेगा। भारतीय आयात-कर्त्ता भारतीय निर्यातकर्त्ताओ से इगलैंड की मुद्रा के स्वत्व (titles to English money) खरीद कर इगलैंड के निर्यातकर्त्ता को भुगतान कर सकता है। उसी प्रकार

इंग्लैंड के आयातकर्त्ता इंग्लैंड के निर्यातकर्ताओं से भारतीय मुद्रा के स्वत्व खरीद कर भारतीय निर्यातकर्त्ताओं को भुगतान कर सकते हैं। इस तरह हर देश में विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) खरीदने वाले या विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) बेचने वाले लोग होते हैं। दूसरे शब्दों में, विदेशी मुद्रा की माग भी रहती है और पूर्ति भी। विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति पर विनिमय की दर निर्भर है जिसके अनुसार विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है (या देशी मुद्रा बेची जा सकती है) और बेची जा सकती है (या देशी मुद्रा खरीदी जा सकती है) ये क्रेता और विक्रेता मिलकर विदेशी विनिमय बाजार बनाते हैं।

यह इस सिद्धान्त का अति सरल विवरण है। वास्तव में ससार में निर्यातकर्त्ता और आयातकर्त्ता प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखते। बैंक (विनिमय बैंक और दूसरे बैंक, जो विनिमय से सबधित हैं) बिचौलिए का काम करते हैं। आयातकर्त्ता विदेशी मुद्रा के स्वत्व बैंकों से खरीद लेते हैं और निर्यातकर्त्ता विदेशी मुद्रा के स्वत्व बैंकों को बेच देते हैं। बैंक दोनों के बीच मध्यस्थ होकर लाभ उठाते हैं।

२ विदेशी मुद्रा के स्वत्व (Titles to Foreign Money)—अभी हमें "विदेशी मुद्रा के स्वत्व" के अर्थ को स्पष्ट करना है। इनके ये रूप हो सकते हैं— (i) विनिमय बिल, (ii) बैंक ड्राफ्ट्स, अथवा (iii) तार द्वारा हस्तान्तरित (telegraphic transfers)। हमने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि विनिमय पत्र या हुडी क्या है और वही पर यह भी बतलाया गया है कि इससे विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध करने में क्या फायदे हैं। भारतीय निर्यातकर्त्ता अपनी वस्तुओं के इंग्लैंड के आयातकर्त्ता के नाम पौंड स्टर्लिंग से सबधित विनिमय-पत्र लिख देता है। वह बैंक को यह पत्र बेच देता है या पारिभाषिक शब्दों में वह उसको भुना लेता है। पत्र का वर्त्तमान मूल्य उसको रुपयों में मिल जाता है। भारत में इंगलैंड की वस्तुओं का आयातकर्त्ता इस प्रकार के पत्र को रुपये देकर खरीद लेता है और उसको अपने इंग्लैंड के निर्यातकर्त्ता के पास भेज देता है, जो उसको किसी बैंक से भुना लेता है या उसके पूरे हो जाने पर पौंड स्टर्लिंग में भुगतान पा लेता है।

ड्राफ्ट, जैसा कि हम देख चुके हैं, बैंक से उसकी शाखा के लिए या दूसरे बैंकों के लिए जिनसे कि उनका हिसाब हो, किसी बियरर को माग पर लिखित सख्या में मुद्रा देने के लिए एक आज्ञा है। सक्षेप में, ड्राफ्ट एक ऐसा चेक है, जो एक बैंक द्वारा किसी दूसरे बैंक के लिए एक तीसरे व्यक्ति के हित में लिखा गया हो। आप एक ड्राफ्ट, जिसका कि अग्रेजी मुद्रा में भुगतान किया जा सकता हो, खरीद कर बन इंगलैंड भेज सकते हैं। यह ड्राफ्ट डाक से उस व्यक्ति के पास भेज दिया जाता है, जिसको भुगतान पाना है, और वह व्यक्ति उसे उस बैंक को देकर, जिसके नाम ड्राफ्ट लिखा गया है, अपना भुगतान पा जाता है।

तार द्वारा हस्तान्तरण किसी बैंक को एक निश्चित धन-राशि का, कथित व्यक्ति को, भुगतान करने का आदेश है। यह एक तार द्वारा भेजा गया ड्राफ्ट कहा जा सकता है। इस रीति से भुगतान तुरन्त कर दिये जाते हैं। इसलिए तार द्वारा हस्तान्तरण की

अध्याय ४१

विदेशी विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

१ विदेशी विनिमय क्या है ? (Meaning of Foreign Exchange)—"विदेशी विनिमय" के निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं —

(क) विनिमय की दर, अर्थात् विदेशी द्रव्य की वह मात्रा है जो स्वदेशी द्रव्य की एक इकाई खरीद सकती है, अथवा

(ख) विदेशी विनिमय की चेष्टाएं अथवा सौदे (व्यवहार), अर्थात् एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा मे बदलना या वह यत्र, जिससे विदेशी भुगतान किया जाता है, अथवा

(ग) विदेशी विनिमय (मुद्रा) कोष जो किसी देश के पास हो।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो विदेशी विनिमय भी न होता। यदि सारे ससार के लिए एक जैसी मुद्रा होती तो उस समय भी विदेशी विनिमय की कोई समस्या न होती। परन्तु जैसी दशा है, उसके अनुसार देशो के आर्थिक सम्बन्धो के कारण एक-दूसरे के बीच लेन-देन का प्रश्न उठता है, जिसको पूरा करना पड़ता है और विभिन्न देशो की मुद्राओं के रूप भिन्न-भिन्न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि आप १०० रु० की पुस्तके इगलैंड से मगाते हैं। भारत का रुपया इगलैंड के पुस्तक-विक्रेता के लिए किसी काम का नही। आपको उसी मुद्रा में भुगतान करना होगा, जो इगलैंड में क्रय-शक्ति रखती हो। इगलैंड की मुद्रा पौंड (£) स्टर्लिंग है। इसलिए आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने १००) रुपयो को पौंड स्टर्लिंग मे परिवर्तित करें (अथवा पौंड स्टर्लिंग के स्वत्व में)। यदि आपको सोना मिल सके और आप उसके परिवहन के व्यय को ठीक समझते हो, तो आप उसे भी भेज सकते हैं। इसी तरह एक अग्रेज व्यापारी भारतीय निर्यातकर्त्ता से चाय खरीदता है। उसे अपने पौंड स्टर्लिंग को रुपयो में बदलना होगा अथवा यदि सभव हुआ और बचत जान पड़ी तो सोना भेजना होगा, इसलिए हर एक देश में हर क्षण कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो विदेशो को भुगतान करना चाहते हैं या ऐसे लोग, जो दूसरे देशो से भुगतान प्राप्त करना चाहते हैं। पहले बतलाये हुए लोगो ने वस्तुओं और सेवाओं का आयात किया है और बाद के लोगो ने निर्यात। स्पष्ट है कि भारत के निर्यातकर्त्ताओं को इगलैंड के आयातकर्त्ताओं से भुगतान लेने का अधिकार है और भारत में आयातकर्त्ताओं को इगलैंड के निर्यातकर्त्ताओं को भुगतान करना पड़ेगा। भारतीय आयातकर्त्ता भारतीय निर्यातकर्त्ताओं से इगलैंड की मुद्रा के स्वत्व (titles to English money) खरीद कर इगलैंड के निर्यातकर्त्ता को भुगतान कर सकता है। उसी प्रकार

इसलिए एक पौंड $= \frac{७३२२३८ \times २०}{५\cdot८०६४५}$ फ्रैंक

$= २५\cdot२२१५$ फ्रैंक।

इस प्रकार लन्दन और पेरिस के बीच टकसाली सममात्र २५.२२१५ फ्रैंक = १ पौंड था। यदि इन स्थितियों में विनिमय सममात्र है तो एक फ्रांसीसी आयातकर्त्ता को अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पेरिस में २५.२२१५ फ्रैंक देने पर लन्दन में १ पौण्ड मिलेगा। एक अंग्रेजी आयातकर्त्ता को लन्दन में १ पौण्ड देने पर पेरिस मे २५·२२१५ फ्रैंक मिलेंगे।

५. स्वर्णांक (Specie Points)—मान लीजिये कि फ्रांसीसियों को इंगलैण्ड के लोगो को उससे अधिक भुगतान करना पडता है, जितना कि इंगलैण्ड के लोग फ्रांसीसियो को करते है। फ्रास में इंगलण्ड की मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। फ्रैंक की दर मे पौण्ड का मूल्य बढ जायगा। फ्रांसीसी आयातकर्त्ता को लन्दन में एक पौण्ड लेने के लिए २५.२२१५ फ्रैंक देने पडेंगे। परन्तु वह कितना अधिक देने को तैयार रहेगा? हम यह पहले ही बता चुके है कि आयातकर्ता सोना भेजेगा, यदि वह उसे प्राप्त हो और उसे भेजना अधिक सस्ता समझे। स्वर्ण-मान के देश सदैव अपनी मुद्रा के बदले मे सोना दे देते है और उसको बाहर भेजने की आज्ञा भी देते हैं। परन्तु सोना बाहर भेजने में परिवहन-व्यय (जहाज का किराया, बीमा, व्याज आदि) लगता है। इसलिए फ्रास में आयातकर्ता उसी समय सोना भेजेगा यदि विनिमय सममात्र से पेरिस से लन्दन सोना भेजने के व्यय से भी अधिक है। मान लीजिये कि २५·२२१५ फ्रैंक के मूल्य के सोने का पेरिस से लन्दन भेजने का खर्च ·३ फ्रैंक है। यदि विनिमय की दर २५.५२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड से अधिक हो जाती है तो उस समय सोना भेजना उचित हो जायगा। यदि विनिमय वास्तव में इस बिन्दु के ऊपर उठ जाता है तो सोना फ्रास से इंगलैण्ड की ओर जाने लगेगा। इसलिए यह बिन्दु फ्रास के दृष्टिकोण से स्वर्ण-निर्यात-अंक (gold export point) और इंगलैण्ड के दृष्टिकोण से स्वर्ण-आयात-अंक (gold import point) कहा जायगा। यह अंक-विनिमय की टकसाली दर में परिवहन-व्यय जोड़ देने से मालूम होता है। इसे ऊपरी स्वर्ण-बिन्दु या ऊपरी स्वर्णांक भी कहते हैं।

इसी प्रकार फ्रांस के लिये नीची स्वर्णांक (lower specie point) या स्वर्ण आयात-अंक होता है और इंगलैंड के लिए निर्यात अंक। यह परिवहन व्यय को सममात्र टकसाल मे से घटा देने पर मालूम हो जाता है। ऊपर के उदाहरण मे इस प्रकार होगा २४.९२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड के। यदि विनिमय इस अंक के नीचे गिर जाता है तो इंगलैंड के आयातकर्ता फ्रैंक के स्वत्व खरीदने की अपेक्षा सोना भेजेंगे। इस प्रकार यदि सोना मिल सकता हो और उसको दो देशो (स्वर्ण-मान के अन्तर्गत) के बीच आने-जाने की स्वतन्त्रता हो, तो विनिमय-दर उन दो सीमाओं के बीच चलेगी, जो कि ऊपरी और नीची स्वर्ण-अंकों द्वारा निश्चित की गई है। यदि सोना न मिल सके तो विनिमय-दर-स्वर्णांको को पार कर जायगी। ये दो सीमाएं हैं, जिनके

दर, खरीदारो के लिए मामान्य ड्राफ्टो पर लगने वाले दरो के मुकाबले में अधिक प्रतिकूल होती है।

३ विनिमय की दरे (Rates of Exchange)[1]—विनिमय की दर मालूम करने के लिए अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। हमने देखा कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माग ही विनिमय की दर को निर्धारित करती है, ठीक वैसे ही जैसे वस्तुओ का बाजार-मूल्य पूर्ति और माग की शक्तियो द्वारा निश्चित होता है। हमने यह भी देखा कि विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति (या इसके विपरीत देशी मुद्रा की पूर्ति और माग) किस प्रकार उत्पन्न होती है। जब पूर्ति माग के बराबर होती है तो विनिमय सममान (par) होता है। यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति माग से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है।) और इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है। (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है।)

विनिमय की दर किस सीमा तक सममात्र के ऊपर उठ सकती है या नीचे गिर सकती है ? ये सीमाएँ विभिन्न दशाओ में विभिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है। विनिमय के सममात्र का अर्थ भी विभिन्न स्थितियो में भिन्न होता है।

४ स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय की दरे (Rates of Exchange under Gold Standard)—जब दो सम्बन्वित देश स्वर्ण-मान (Gold Standard) के अन्तर्गत होते हैं, उस समय, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, उनकी मुद्रा इकाई या तो सोने के सिक्के होते है या वे एक नियत दर पर सोने में परिवर्तित हो सकने वाली होती है। इसके अतिरिक्त सोना स्वतन्त्र रूप से देशो के बीच आता-जाता है। ऐसे देशो के बीच की विनिमय की दर को **'विनिमय की टकसाली दर'** कहते हैं। उन दो देशो की मुद्रा-इकाई में रहने वाले सोने को (या सोने की उस मात्रा को जो मुद्रा अधिकारियो ने उनके बदले में देना नियत किया हो) समीकरण करने से इसका निरूपण किया जा सकता है। एक स्वर्ण-मान के देश और रजत-मान के देश के बीच कोई विनिमय की टकमाली दर नही हो सकती।

उदाहरण के लिए, १९१४ से पूर्व इगलेड और फ्रास, दोनो स्वर्ण-मान प्रणाली के अन्तर्गत थे। उनके विनिमय के सममात्र टकसाल का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता था —

एक अग्रेजी पौंड	=७ ९८८०५ ग्राम ११/१२ शुद्ध सोने के।
	=७ ३२२३८ ग्राम शुद्ध सोने के।
एक फ्रासीसी नेपोलियन	=६ ४५१६१ ग्राम ९/१० शुद्ध सोने के।
(२० फ्रैंक)	=५ ८०६८५ ग्राम शुद्ध मोने के।

1 For diagrammatic representation of the determination of rate of exchange see Halm G N —Monetary Policy, 1945 pp 141-70

इसलिए एक पौंड $= \frac{७३२२३८ \times २०}{५८०६४५}$ फ्रैंक

$=$ २५·२२१५ फ्रैंक।

इस प्रकार लन्दन और पेरिस के बीच टकसाली सममात्र २५ २२१५ फ्रैंक = १ पौंड था। यदि इन स्थितियों में विनिमय सममात्र है तो एक फ्रांसीसी आयातकर्त्ता को अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पेरिस में २५·२२१५ फ्रैंक देने पर लन्दन में १ पौण्ड मिलेगा। एक अंग्रेजी आयातकर्त्ता को लन्दन में १ पौण्ड देने पर पेरिस मे २५·२२१५ फ्रैंक मिलेंगे।

५. स्वर्णांक (Specie Points)—मान लीजिये कि फ्रांसीसियों को इंगलैण्ड के लोगों को उससे अधिक भुगतान करना पड़ता है, जितना कि इंगलैण्ड के लोग फ्रांसीसियों को करते हैं। फ्रांस में इंगलण्ड की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। फ्रैंक की दर में पौण्ड का मूल्य बढ़ जायगा। फ्रांसीसी आयातकर्त्ता को लन्दन मे एक पौण्ड लेने के लिए २५·२२१५ फ्रैंक देने पड़ेंगे। परन्तु वह कितना अधिक देने को तैयार रहेगा? हम यह पहले ही बता चुके हैं कि आयातकर्ता सोना भेजेगा, यदि वह उसे प्राप्त हो और उसे भेजना अधिक सस्ता समझे। स्वर्ण-मान के देश सदैव अपनी मुद्रा के बदले मे सोना दे देते हैं और उसको बाहर भेजने की आज्ञा भी देते हैं। परन्तु सोना बाहर भेजने में परिवहन-व्यय (जहाज का किराया, बीमा, व्याज आदि) लगता है। इसलिए फ्रांस मे आयातकर्ता उसी समय सोना भेजेगा यदि विनिमय सममात्र से पेरिस से लन्दन सोना भेजने के व्यय से भी अधिक है। मान लीजिये कि २५·२२१५ फ्रैंक के मूल्य के सोने का पेरिस से लन्दन भेजने का खर्च ३ फ्रैंक है। यदि विनिमय की दर २५ ५२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड से अधिक हो जाती है तो उस समय सोना भेजना उचित हो जायगा। यदि विनिमय वास्तव में इस बिन्दु के ऊपर उठ जाता है तो सोना फ्रांस से इंगलैण्ड की ओर जाने लगेगा। इसलिए यह बिन्दु फ्रांस के दृष्टिकोण से स्वर्ण-निर्यात-अंक (gold export point) और इंगलैण्ड के दृष्टिकोण से स्वर्ण-आयात-अंक (gold import point) कहा जायगा। यह अंक-विनिमय की टकसाली दर में परिवहन-व्यय जोड़ देने से मालूम होता है। इसे ऊपरी स्वर्ण-बिन्दु या ऊपरी स्वर्णांक भी कहते हैं।

इसी प्रकार फ्रांस के लिये नीची स्वर्णांक (lower specie point) या स्वर्ण आयात-अंक होता है और इंगलेंड के लिए निर्यात अंक। यह परिवहन व्यय को सममात्र टकसाल मे से घटा देने पर मालूम हो जाता है। ऊपर के उदाहरण में इस प्रकार होगा २४ ९२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड के। यदि विनिमय इस अंक के नीचे गिर जाता है तो इंगलेंड के आयातकर्त्ता फ्रैंक के स्वत्व खरीदने की अपेक्षा सोना भेजेंगे। इस प्रकार यदि सोना मिल सकता हो और उसको दो देशों (स्वर्ण-मान के अन्तर्गत) के बीच आने-जाने की स्वतन्त्रता हो, तो विनिमय-दर उन दो सीमाओं के बीच चलेगी, जो कि ऊपरी और नीची स्वर्ण-अंकों द्वारा निश्चित की गई हैं। यदि सोना न मिल सके तो विनिमय-दर-स्वर्णांकों को पार कर जायगी। ये दो सीमाएं हैं, जिनके

दर, खरीदारो के लिए सामान्य ड्राफ्टो पर लगने वाले दरो के मुकाबले मे अधिक प्रतिकूल होती है।

३ विनिमय की दरे (Rates of Exchange)[1]—विनिमय की दर मालूम करने के लिए अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। हमने देखा कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माग ही विनिमय की दर को निर्धारित करती है, ठीक वैसे ही जैसे वस्तुओ का बाजार-मूल्य पूर्ति और माग की शक्तियो द्वारा निश्चित होता है। हमने यह भी देखा कि विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति (या इसके विपरीत देशी मुद्रा की पूर्ति और माग) किस प्रकार उत्पन्न होती है। जब पूर्ति माग के बराबर होती है तो विनिमय सममात्र (par) होता है। यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति माग से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है।) और इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है। (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है।)

विनिमय की दर किस सीमा तक सममात्र के ऊपर उठ सकती है या नीचे गिर सकती है? ये सीमाएँ विभिन्न दशाओ में विभिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है। विनिमय के सममात्र का अर्थ भी विभिन्न स्थितियो में भिन्न होता है।

४ स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय की दरे (Rates of Exchange under Gold Standard)—जब दो सम्बन्धित देश स्वर्ण-मान (Gold Standard) के अन्तर्गत होते है, उस समय, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, उनकी मुद्रा इकाई या तो सोने के सिक्के होते है या वे एक नियत दर पर सोने में परिवर्तित हो सकने वाली होती है। इसके अतिरिक्त सोना स्वतन्त्र रूप से देशो के बीच आता-जाता है। ऐसे देशो के बीच की विनिमय की दर को **'विनिमय की टकसाली दर'** कहते है। उन दो देशो की मुद्रा-इकाई में रहने वाले सोने को (या सोने की उस मात्रा को जो मुद्रा अधिकारियो ने उनके बदले में देना नियत किया हो) समीकरण करने से इसका निरूपण किया जा सकता है। एक स्वर्ण-मान के देश और रजत-मान के देश के बीच कोई विनिमय की टकसाली दर नही हो सकती।

उदाहरण के लिए, १९१४ से पूर्व इगलैंड और फ्रास, दोनो स्वर्ण-मान प्रणाली के अन्तर्गत थे। उनके विनिमय के सममात्र टकसाल का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता था —

एक अग्रेजी पौंड	=७ ९८८०५ ग्राम ११/१२ शुद्ध सोने के।
	=७ ३२२३८ ग्राम शुद्ध सोने के।
एक फ्रासीसी नेपोलियन	=६ ४५१६१ ग्राम ९/१० शुद्ध सोने के।
(२० फ्रैंक)	=५ ८०६४५ ग्राम शुद्ध सोने के।

---

1 For diagrammatic representation of the determination of rate of exchange see Halm G N —Monetary Policy, 1945 pp 141-70

इसलिए एक पौंड $= \frac{७३२२३८ \times २०}{५८०६४५}$ फ्रैंक

$=$ २५·२२१५ फ्रैंक।

इस प्रकार लन्दन और पेरिस के बीच टकसाली सममात्र २५·२२१५ फ्रैंक = १ पौंड था। यदि इन स्थितियों में विनिमय सममात्र है तो एक फ्रांसीसी आयातकर्त्ता को अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पेरिस में २५·२२१५ फ्रैंक देने पर लन्दन में १ पौण्ड मिलेगा। एक अंग्रेजी आयातकर्त्ता को लन्दन में १ पौण्ड देने पर पेरिस मे २५·२२१५ फ्रैंक मिलेंगे।

५. स्वर्णांक (Specie Points)—मान लीजिये कि फ्रांसीसियों को इंगलैण्ड के लोगों को उससे अधिक भुगतान करना पड़ता है, जितना कि इंगलैण्ड के लोग फ्रांसीसियों को करते हैं। फ्रांस में इंगलण्ड की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। फ्रैंक की दर में पौण्ड का मूल्य बढ़ जायगा। फ्रांसीसी आयातकर्त्ता को लन्दन में एक पौण्ड लेने के लिए २५·२२१५ फ्रैंक देने पड़ेंगे। परन्तु वह कितना अधिक देने को तैयार रहेगा? हम यह पहले ही बता चुके हैं कि आयातकर्ता सोना भेजेगा, यदि वह उसे प्राप्त हो और उसे भेजना अधिक सस्ता समझे। स्वर्ण-मान के देश सदैव अपनी मुद्रा के बदले में सोना दे देते हैं और उसको बाहर भेजने की आज्ञा भी देते हैं। परन्तु सोना बाहर भेजने में परिवहन-व्यय (जहाज का किराया, बीमा, व्याज आदि) लगता है। इसलिए फ्रांस मे आयातकर्ता उसी समय सोना भेजेगा यदि विनिमय सममात्र से पेरिस से लन्दन सोना भेजने के व्यय से भी अधिक है। मान लीजिये कि २५·२२१५ फ्रैंक के मूल्य के सोने का पेरिस से लन्दन भेजने का खर्च ३ फ्रैंक है। यदि विनिमय की दर २५·५२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड से अधिक हो जाती है तो उस समय सोना भेजना उचित हो जायगा। यदि विनिमय वास्तव में इस बिन्दु के ऊपर उठ जाता है तो सोना फ्रांस से इंगलैण्ड की ओर जाने लगेगा। इसलिए यह बिन्दु फ्रांस के दृष्टिकोण से स्वर्ण-निर्यात-अंक (gold export point) और इंगलैण्ड के दृष्टिकोण से स्वर्ण-आयात-अंक (gold import point) कहा जायगा। यह अंक-विनिमय की टकसाली दर में परिवहन-व्यय जोड़ देने से मालूम होता है। इसे ऊपरी स्वर्ण-बिन्दु या ऊपरी स्वर्णांक भी कहते हैं।

इसी प्रकार फ्रांस के लिये नीची स्वर्णांक (lower specie point) या स्वर्ण आयात-अंक होता है और इंगलैंड के लिए निर्यात अंक। यह परिवहन-व्यय को सममात्र टकसाल में से घटा देने पर मालूम हो जाता है। ऊपर के उदाहरण में इस प्रकार होगा २४·९२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड के। यदि विनिमय इस अंक के नीचे गिर जाता है तो इंगलैंड के आयातकर्ता फ्रैंक के स्वत्व खरीदने की अपेक्षा सोना भेजेंगे। इस प्रकार यदि सोना मिल सकता हो और उसको दो देशों (स्वर्ण-मान के अन्तर्गत) के बीच आने-जाने की स्वतन्त्रता हो, तो विनिमय-दर उन दो सीमाओं के बीच चलेगी, जो कि ऊपरी और नीची स्वर्ण-अंकों द्वारा निश्चित की गई है। यदि सोना न मिल सके तो विनिमय-दर-स्वर्णांकों को पार कर जायगी। ये दो सीमाएं हैं, जिनके

बीच में विदेशी मुद्रा अर्थात् हुडी ड्राफ्ट तार द्वारा परिवर्तन आदि की पूर्ति और माग में परिवर्तनो द्वारा उतार-चढाव होगा ।

६ **स्वर्ण तथा रजत मान के बीच विनिमय**—उपर्युक्त उदाहरण ऐसा है जहा कि सम्बन्धित दोनो देश स्वर्ण-मान के अन्तर्गत है। यदि एक स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हो, और दूसरा रजत-मान के अन्तर्गत, तो उस समय विनिमय-दर उस देश के, जो रजत-मान के अन्तर्गत है, चाँदी की मात्रा मे सोने के दाम द्वारा निश्चित की जायगी, और जो स्वर्ण मान के अन्तर्गत है, सोने की मात्रा में चादी के दाम द्वारा निश्चित की जायगी।

७ **अविनिमयसाध्य कागजी मुद्राओ के बीच विनिमय—क्रयशक्ति की समता (Exchange between Inconvertible Paper Currencies—Purchasing Power Parity)**—परन्तु सबसे कठिन समस्या उन देशो की है, जहा कि दोनो अपरिवर्त्य पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत है। मान लीजिये कि इगलैड और फ्रास दोनो धातु में न बदल सकने वाली कागजी मुद्रा के अन्तर्गत हो तब एक पौण्ड खरीदने के लिए कितने फ्रैंक देने पड़ेंगे ? स्पष्ट है कि उतने ही, जिनकी कि फ्रास में क्रय-शक्ति उतनी ही है, जितनी कि इगलैड में एक पौण्ड की है। यदि इगलैड में एक पौण्ड से 'क' वस्तुए खरीदी जा सकती है, तो एक पौण्ड से फ्रास में उतने फ्रैंक खरीदे जा सकेंगे, जो फ्रास में 'क' वस्तुए खरीद सकें, 'क' वस्तुओ के एक देश से दूसरे देश में ले जाने के खर्च को छोडकर। मान लीजिये कि इगलैड में एक पोण्ड 'क' वस्तुए खरीदता है। फ्रास, मे 'क' वस्तुओ का मूल्य २५ फ्रैंक है। तब विनिमय-दर इस प्रकार प्रवृत्तिशील होगी —

१ पौण्ड=२५ फ्रैंक ।

अब कल्पना कीजिए कि दोनो देशो मे कीमत-स्तर स्थिर रहता है परन्तु विनिमय किसी प्रकार बदल कर ऐसा हो जाता है

१ पौण्ड=३० फ्रैंक ।

इसका अर्थ हुआ कि फ्रास में पौण्ड की क्रय-शक्ति अधिक है, अर्थात् २५ फ्रैंक। लोगो को इस दर पर पौण्डो को फ्रैंको में परिवर्तित करने से लाभ होगा। वे फ्रास में २५ फ्रैंक देकर 'क' वस्तुए खरीद कर फिर उनको इगलैड में १ पौण्ड पर बेच देंगे। उस व्यापार मे वे ५ फ्रैंक प्रति पौण्ड का लाभ उठायेगे। इससे इगलैड मे फ्रैंक की माग बहुत बढ जायगी तथापि उनकी पूर्ति कम हो जायगी, क्योकि बहुत कम लोग इगलैड से फ्रास के लिए वस्तुओं का निर्यात करेंगे। पौण्ड की मात्रा में फ्रैंक का मूल्य बढता जायगा जब तक कि वह, १ पाउन्ड=२५ फ्रैंक के नही हो जाता। उस विन्दु पर फ्रास से किये हुए आयात से असामान्य लाभ नही होगा। यह दर (१ पौण्ड=२५ फ्रैंक) दो देशो की खरीदने की समशक्ति (parity) कहलाती है। "जब कि किसी मुद्रा-इकाई का मूल्य दूसरी मुद्रा की मात्रा में किसी विशिष्ट समय पर बाजार की माग और पूर्ति की स्थितियो में से निश्चित किया जाता है, दीर्घकाल में वह मूल्य दोनो मुद्राओ के सापेक्ष मूल्य से, जिसका कि ज्ञान उनकी वस्तुओ और सेवाओ के खरीदने की सापेक्षिक शक्ति द्वारा होता है, निश्चित किया जाता है। दूसरे शब्दो में, विनिमय के दर की प्रवृत्ति उस विन्दु पर स्थिर रहने की

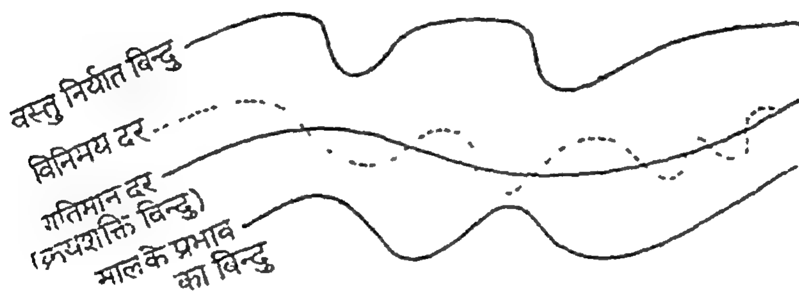
होती है, जो दोनो देशों की मुद्राओं की सापेक्षिक क्रय-शक्तियो में बराबरी दिखलाती है। यह बिन्दु क्रयशक्ति की समता कहलाता है।"[1]

ऊपर दिए गए उदाहरण के अनुसार यदि फ्रास में दाम दुगुने हो जाते है तो फ्रैंक का मूल्य बिलकुल आधा हो जायगा। नई समता दर होगी १ पौंड =५० फ्रैंक। यह स कारण होगा क्योंकि अब फ्रांस में ५० फ्रैंक 'क' वस्तु खरीदेंगे, जो पहले २५ फ्रैंक खरीदते थे। यहा हमने माना है कि इगलैंड में दाम वैसे ही रहते है जैसे पहले थे। परन्तु यदि दोनो देशो में दाम दुगुने हो जाते है, तब क्रय-शक्ति में कोई अन्तर न आयेगा।

इस प्रकार—२ पौंड=५० फ्रैंक। १ पौंड =२५ फ्रैंक।

परन्तु वास्तविक परिस्थिति में खरीदने की सम-शक्ति-दर वस्तुओं के एक देश से दूसरे देश तक के परिवहन-व्यय (कर आदि सहित) के कारण बदल जाती है।

इस प्रकार अविनिमयसाध्य कागजी मुद्रा वाले देशो के बीच टकसाली दर का स्थान क्रय-शक्ति की समता ले लेती है। दोनों में अन्तर यह है कि पहली तो एक स्थिर दर है, जब कि दूसरी उन दोनो देशो में होने वाले दामो के उतार-चढाव के साथ



रेखाचित्र न० ७३

बदलती रहती है। सम्बन्धित मुद्रा की पूर्ति और मांग में परिवर्तन होने के कारण इस समभाव के इर्द-गिर्द पहले की तरह उतार-चढाव होगा। इन उतार-चढाव की सीमायें एक देश से दूसरे देश को वस्तुएं ले जाने के परिवहन-व्यय द्वारा निश्चित होगी। इस-लिए ये सीमाए उतनी निश्चित न होगी, जितनी कि स्वर्णांक में। उपर्युक्त रेखाचित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

८. क्रय-शक्ति सिद्धात की आलोचना (Criticism of Purchasing Power Parity Theory)—प्रथम महायुद्ध के बाद स्वीडन के एक अर्थशास्त्री गुस्टव कैसल द्वारा यह सिद्धात प्रचलित किया गया था। कैसल ने लिखा था, "दो मुद्राओं के विनिमय की दर अवश्य ही उनकी आतरिक क्रय-शक्तियो के भागफल पर निर्भर होनी चाहिए।" इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि यदि हम इस बात पर विचार करते है कि विदेशी मुद्रा में दी गई कीमत अन्त में वही कीमत होनी है, जो देशी बाजार में वस्तुओं की कीमत से कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य

---

1 Thomas, S E.—Elements of Economics.

रखती है ।

यहा पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि क्रय-शक्ति ममता दोनो देशो की कीमत के सामान्य स्तर की तुलना करती है, न कि केवल उन वस्तुओ के कीमत-स्तर की, जो वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आती है । उपर्युक्त प्रकार की वस्तुओ की कीमतें हर देश मे उनके परिवहन व्यय, तट कर आदि का ध्यान रखते हुए, नि सदेह एक ही होती हैं । यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओ की कीमतो की केवल तुलना करें तो इस सिद्धात को प्रमाणित करना अति सुगम हो जायगा । वास्तव में जव हम इसे केवल इन्ही वस्तुओ पर लागू करते है तो यह सारहीन तथ्य रह जाता है जैसा कि प्रो० हाम लिखते है कि "यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओ की राष्ट्रीय कीमतो को यदि प्रचलित विनिमय दरो मे अकित किया जाय तो वे विभिन्न बाजारो में समानता की ओर चलेगी ।"[1] परन्तु जब हम उन सब वस्तुओ के दामो के सूचक अको की तुलना करने का प्रयत्न करते है जो सम्बन्धित बाजार में बेची जाती है, तो उस समय विनिमय की दर इस प्रकार से निश्चित किये गये अको के सदैव अनुरूप न होगी । यह इसलिए कि घरेलू वस्तुओ की कीमतें कम से कम अल्पकाल में हो सकता है कि उसी दिशा की ओर न बढें, जिस ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली वस्तुओ की कीमतें बढे । दीर्घकाल मे तो अवश्य ही विनिमय दर और कीमत-स्तर की वृत्ति एक ही दिशा की ओर जाने की होगी । इसलिए यह सिद्धात, केवल दीर्घकाल में ही लागू होता है । इसके अलावा उन वस्तुओ के बीच जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में शामिल होती है, और वे जो शामिल नही होती कोई स्थायी भेद नही होता । यह तो स्वय विनिमय की दर पर आधारित है । यदि विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ जाता है तो कुछ वस्तुओ का, जो अभी तक देश में ही रहती थी, निर्यात लाभप्रद हो जायगा तथा प्रतिक्रम भी ।

दीर्घकाल में भी यह सिद्धात केवल उसी समय लागू होगा जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यक परिस्थितियो में परिवर्तन नही होता परन्तु ये परिस्थितिया बहुत ही कम अपरिवर्तित रहती है । उदाहरणार्थ, व्यापार के वस्तु-विनिमय की शर्तें सदैव देशो के बीच विदेशी वस्तुओ की माग में परिवर्तनो के कारण या घरेलू वस्तुओ की पूर्ति की स्थितियो में होने वाले परिवर्तनो के कारण, निरन्तर बदलती रहती है । इससे अधिक, विदेशी ऋण की मात्रा में, परिवहन-व्यय में या अप्रत्यक्ष व्यापार-तुला के किसी मद मे परिवर्तन हो सकते है । वस्तु-विनिमय की शर्तों में इस प्रकार हुए परिवर्तन कीमत-स्तरो के बीच के सम्बन्ध को अस्त-व्यस्त कर सकते है और हो सकता है कि इन कीमत-स्तरो पर निर्मित समताए विनिमय-दर के अनुकूल न हो । जैसा कि श्री कैसल लिखते है, "दो देशो की आर्थिक स्थिति में विभिन्नता विशेषकर यातायात तथा तट-कर के सम्बन्ध में, साधारण विनिमय दर को, कुछ सीमा तक, मुद्राओ की क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित दर से दूर हटा सकती है ।"[2] यदि कोई देश तट-कर बढा देता है तो

1 Monetary Theory, 1946, p 224
2 Cassel, G —Money and Foreign Exchange After 1914, p 139

उसकी मुद्रा का विनिमय-मूल्य बढ़ जायगा लेकिन मूल्य-स्तर वही रहेगा।

कैसल का सिद्धान्त यह बतलाता है कि कीमतो के परिवर्तन विनिमय-दर में भी परिवर्तन लाते है लेकिन विनिमय-दर के परिवर्तन कीमतो मे कोई परिवर्तन नही लाते। यह दूसरी बात ठीक नही है क्योकि विनिमय के परिवर्तन आतरिक कीमतो पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य डालते है।

अन्त मे, हम कह सकते है कि क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर का निश्चय करने वाली तात्कालिक शक्तियो की अपेक्षा अन्तिम शक्तियो की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। अपनी त्रुटियो के होते हुए भी, क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त आजकल दीर्घकाल के विनिमय-दरो की अति सतोषजनक व्याख्या मानी जाती है। यह सिद्धान्त सब मुद्राओ पर लागू होता है। यह पुराने सिद्धान्त से जिसके अनुसार विनिमय दर ऋणत्व (balance of indebtedness) द्वारा निश्चित की जाती थी, अधिक उत्तम है। यह सिद्धान्त ऋणत्व-तुला के जड तक चला जाता है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि स्वर्ण व्यापार-तुला या ऋणत्व-तुला किस प्रकार निश्चित की जाती है। यह सिद्धान्त विनिमय-दर के निश्चित करने में कीमत-स्तर के प्रभाव को उचित महत्व देता है। किसी विशेष समय पर वास्तविक दर साम्य-दर से विचलित हो सकती है, जो उस समय के व्यापार की शर्तो या भुगतान-तुला पर प्रभाव डालने वाले साधनो के कारण क्रय-शक्ति समता-सिद्धान्त द्वारा सूचित होता है। ये साधन क्या है? इनका अध्ययन नीचे किया जाता है।

६ विनिमय-दर की अस्थिरता (Fluctuations of the Rate of Exchange)—दीर्घकाल-समता चाहे टकसाल-सममात्र हो जैसी स्वर्ण-मान के अन्तर्गत होती है या चाहे क्रय-शक्ति-समता हो, जैसे अपरिवर्तनीय, कागजी मुद्रा के अन्तर्गत होती है, अल्पकाल मे बहुत से ऐसे कारण है, जो इस साम्य-दर स्तर के नीचे या ऊपर विनिमय-दर को गिराते, उठाते है। ये कारण दो भागो मे विभाजित किये जा सकते है :

(1) जो विदेशी मुद्रा की माग या पूर्ति पर प्रभाव डालते है, और

(ii) वे, जो कि मुद्रा की स्थितियो को प्रभावित करते है।

पहले के सम्बन्ध में हम देखते है कि विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति तीन कारणो से उत्पन्न होती है —

(क) व्यापारिक दशाये,

(ख) स्टाक-विनिमय के प्रभाव ; तथा

(ग) बैंक कारोबार के प्रभाव।

(क) व्यापारिक दशायें—ये आयात और निर्यात पर प्रभाव डालती है और इसीलिये विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माग क्रमश: होती है। जिस समय हमारे निर्यात आयात से अधिक होते है, उस समय विनिमय की प्रवृत्ति हमारे हित की ओर बढने की होगी और विपरीत स्थिति मे इसकी प्रवृत्ति हमारे प्रतिकूल होगी। आयात और निर्यात के अन्तर्गत यहा पर केवल प्रत्यक्ष मद (visible items) ही नहीं है,

बल्कि अप्रत्यक्ष मद भी है ।

(ख) **स्टाक-विनिमय के प्रभाव**—इसके अन्तर्गत है ऋण का लेना, ब्याज और ऋण का भुगतान करना, विदेशी प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय, आदि । जब कोई देश किसी दूसरे देश को ऋण देता है तो विदेशी मुद्रा की माग बनती है और स्वदेशी मुद्रा के मूल्य की प्रवृत्ति गिरने की ओर होती है । जब देश के विनियोजक विदेशी प्रतिभूतिया खरीदते है या विदेशी विनियोजक स्वदेशी प्रतिभूतिया बेचते है तो उस समय भी ऐसा ही होता है। विनिमय किसी उस देश के हित में चलता है जब कि उसके ऋण का भुगतान हो रहा हो या जब विदेशी लोग उसकी प्रतिभूतिया खरीदते हो, क्योकि सरकार के कार्यों से स्वदेशी मुद्रा की माग की उत्पत्ति होती है।

(ग) **बैंक के प्रभाव**—बैंक ड्राफ्ट का क्रय-विक्रय, यात्रियो के साख-पत्र, अन्तरपणन (arbitrage operations) (अर्थात् विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय करके, विभिन्न केन्द्रो में उनकी दरो में अन्तर हो जाने के कारण लाभ उठाना) आदि इस वर्ग के अन्तर्गत है । किसी विदेशी केन्द्र में ड्राफ्ट का विक्रय विदेशी मुद्रा की माग की उत्पत्ति करता है और उसके मूल्य को बढाता है या स्वदेशी मुद्रा के मूल्य को गिराता है। बैंक-दर भी विनिमय-दर को प्रभावित करती है। ऊची बैंक-दर विदेशी केन्द्रो से धन को आकर्षित करती है और इस प्रकार स्वदेशी मुद्रा की माँग को बढ़ाती है और इसलिए उसके मूल्य को भी। इसके विपरीत स्थिति में उसका मूल्य गिर जाता है, क्योकि निधि देश के बाहर जाने लगती है और इस प्रकार विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाती है ।

(२) **मुद्रा-सम्बन्धी स्थितिया** (Currency Conditions)—वास्तविक या आशान्वित मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन भी विनिमय-दर को प्रभावित करते है। यदि मुद्रा बहुत अधिक बाहर निकाली गई है या उसकी आशा है, तो लोग उस देश में अपनी पूजी का विनियोजन करने के इच्छुक न होंगे। वास्तव में पूजी की प्रवृत्ति बाहर जाने की होगी। इसको "मुद्रा से भागना" कहते है। यदि लोग मुद्रा के अधिमूल्यन की आशा करते है तो उनकी प्रवृत्ति परिकाल्पनिक लाभ के लिए ऐसी मुद्रा खरीदने की होगी। पहली दशा में विनिमय-दर की प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की होगी और उत्तरोत्तर दशा में अनुकूल ।

१० विनिमय उतार-चढाव की सीमायें (Limits to Exchange Fluctuations)—परन्तु उतार-चढाव कुछ सीमाओ के अन्दर ही होता है। हम यह पहले ही देख चुके है कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत इन सीमाओ का निर्धारण स्वर्णाक या स्वर्ण-अको द्वारा होता है।

किसी देश के लिए **अनुकूल विनिमय-दर** उस समय होती है जब यह दर स्वर्ण आयात-अक के अधिक समीप हो, और उस समय **प्रतिकूल होती** है जब वह स्वर्ण-निर्यात-अक के अधिक समीप हो । यह दर उस समय अनुकूल कहलाती है, जब स्वदेशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ जाता है या जब आयात से निर्यात होने लगता है। यदि

स्वदेशी मुद्रा का मूल्य गिरता है या सोने की प्रवृत्ति देश के बाहर जाने की होती है तो विनिमय-दर प्रतिकूल कही जाती है।

फिर भी, याद रखना चाहिये कि "अनुकूल" और "प्रतिकूल" शब्द केवल पारिभाषिक शब्द है जो कि वाणिज्यवादी काल से चले आ रहे हैं। जिसे "अनुकूल" कहा जाता है, सम्भव है कि वह वास्तव में वैसा न हो। उदाहरण के लिये, भारत के लिये १ शि० ६ पें० की दर १ शि० ४ पें० की दर की अपेक्षा अधिक अनुकूल मानी गई है। क्योंकि इस दर पर स्वदेशी मुद्रा अधिक खरीदी जा सकती थी। परन्तु यह दर निश्चय ही देश के हित में न थी, क्योंकि इससे कृषि और औद्योगिक हितों को उस समय हानि पहुंची थी जब कि यह पहले पहल नियत की गई थी।

विनिमय स्वर्ण-आयात-अंक के ऊपर नहीं जाता (यह मानते हुए कि यह विदेशी मुद्रा में दिया गया है) क्योंकि विदेशी आयातकर्त्ता के लिये सोना भेजना हमारी मुद्रा खरीदने से अधिक सस्ता पड़ेगा। इसके विपरीत, विनिमय-दर स्वर्ण-निर्यात-दर के नीचे नहीं गिरती, क्योंकि स्वदेश के आयातकर्त्ताओं के लिये सोना भेज कर भुगतान करना विदेशी मुद्रा के खरीदने की अपेक्षा अधिक सस्ता पड़ेगा।

जब दोनों देश अविनिमयसाध्य कागजी मुद्रा के अन्तर्गत होते हैं, तो उस समय टकसाल की दर का स्थान क्रय-शक्ति समता ले लेती है। जैसा कि पहले अध्ययन किया जा चुका है, क्रयशक्ति-समता टकसाल सममात्रा की तरह स्थिर नहीं है, बल्कि एक गतिशील सममात्रा है। अतएव, विनिमय की चाल की कोई निश्चित सीमा नहीं है। जैसा कि पहले ही देखा गया है मुद्रा की मांग और पूर्ति के परिवर्तनों और मुद्रा की स्थितियों के परिवर्तनों के अनुसार तब्दीली होती है।

११. विनिमय की साम्य दर (Equilibrium Rate of Exchange)—उतार-चढ़ाव के बाद विनिमय दर अपेक्षाकृत एक ऐसे स्थायी स्तर पर पहुंच सकती है जिसे साम्य दर कहा जा सकता है। भारतीय मुद्रा के इतिहास में हमने १८ पें० और १६ पें० की विनिमय दरों का अध्ययन किया है। उनमें से कौन सा अनुपात ठीक था? दोनों दरों के बारे में यह कहा जाता था कि उन पर विभिन्न आर्थिक बातों का, जैसे कि कीमत, मजदूरी, ब्याज की आदि का मिलान था। अर्थात् वे साम्य दरें थीं। सब बातों को ध्यान में रखते हुए जो दर सब से उत्तम होती है, उसे साम्य दर कहते हैं। उस दर पर किसी प्रकार की विषमता व असमता (जैसे कीमत लागत असमानता) नहीं होती तथा अर्थ-व्यवस्था के किसी भी क्षेत्र में असाम्य तथा दुर्व्यवस्थापन का चिन्ह नहीं दीख पड़ता। इसकी परिभाषा इन शब्दों में की गई है "यह वह दर है कि जिस पर भुगतान साम्य की स्थिति में होता है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा रिजर्व में कोई वास्तविक घट-बढ़ नहीं होती।" इसकी परिभाषा इस प्रकार भी की गई है, "जो शेष संसार से अधिक बेरोजगार फैलाए बिना भुगतान-शेष का साम्य बनाए रखता है।"[1] इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि साम्य दर वह दर है जिस पर प्रत्येक मुद्रा

---

1. International Currency Experience, pp 124 and 126, respectively.

की माग उसकी पूर्ति के बराबर होगी। यह विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ के बीच साम्य का सकेत करती है। साम्य दर पर देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा के अनुपात में न तो अधिक मूल्य रखती है और न कम। यह न तो निर्यात को प्रोत्साहन देती है और न आयात को। यह तटस्थ रहती है।[1]

श्री हाम साम्य दर के बारे में निम्नलिखित बातें बताते हैं —

(i) इसे घरेलू स्थिरता के औसत अनुपात में होना चाहिए। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आन्तरिक बेकारी बाह्य बेकारी से अधिक न होनी चाहिए।

(ii) यह आवश्यक नहीं होना चाहिए कि इस दर को स्थिर रखने के लिए राष्ट्रीय स्वर्ण कोष पर अधिक बोझ पडे या विदेशी विनिमय की बचत को अधिकाधिक प्रयोग करना पडे। यदि इसके लिए देश की मुद्रा को कम करना पडे जिसके फलस्वरूप मदी की स्थिति आये या विकास मे रुकावट पडे तो वह साम्य-दर नहीं होगी।

(iii) इससे विदेशी व्यापार में कृत्रिम लाभ या हानि नहीं होनी चाहिए। विदेशी व्यापार से सबधित दूसरे देशो की माग, लागत व कीमत आदि बातो के सम्बन्ध में इसे निष्पक्ष रहना चाहिये।

१२ स्वर्ण-मान के अन्तर्गत असमता कैसे ठीक की जा सकती है? (Correcting Disequilibrium under Gold Standard?)—हमने स्वर्ण-मान का अध्ययन करते समय इसके गुणो मे से एक की व्याख्या करते हुए यह बतलाया था कि इसके अन्तर्गत भुगतान-शेष के साम्य में होने वाली किसी भी गडबडी की प्रवृत्ति इसको ठीक करने की ओर होती है। अब हम यह देखेंगे कि यह किस प्रकार होता है। एक पूर्ण आदर्श स्वर्ण-मान की कल्पना सैद्धान्तिक रूप से ही की जा सकती है। परन्तु सन् १९१४ से पहले की ब्रिटिश पद्धति इस आदर्श के निकट मानी जा सकती है।

मान लीजिये कि उस समय ब्रिटेन का आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक था और यह प्रतिकूल आधिक्य अप्रत्यक्ष निर्यात से भी पूरा नहीं हुआ। इससे विदेशी मुद्रा की माग बढ जायेगी। मान लीजिये फ्रास की मुद्रा की जो स्वर्ण-मान के अन्तर्गत थी जिससे कि स्टर्लिङ्ग का फ्रैंको में अवमूल्यन (depreciation) होगा। यही अवमूल्यन स्वय फ्रासीसियो के लिये ब्रिटिश वस्तुए अधिक सस्ती करेगा और फ्रासीसी वस्तुए अग्रेजो के लिए अधिक महँगी। निर्यात को इस प्रकार प्रोत्साहन मिलेगा और आयात को निरुत्साह, और व्यापार-तुला की प्रवृत्ति ब्रिटेन के हित मे जाने की होगी। इस प्रकार पहले की असमता ठीक हो जायेगी। यह उस समय भी होगा जब कि विनिमय एक अश में ब्रिटेन के प्रतिकूल भी जाय।

परन्तु मान लीजिये कि प्रतिकूल आधिक्य बहुत गम्भीर था और विनिमय इग्लैंड से स्वर्ण निर्यात अक को पार कर गया, तो सोना इग्लैंड से बाहर निकलेगा और फ्रास के भीतर जायेगा। इग्लड मे साख सकुचित होगी (केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनी तिथि को बचाने के कार्य से) और उसी तरह फ्रास में साख का प्रसार होगा। कीमतें और लागतें

---

1 Monetary Theory, 1946, p 219

इग्लैंड में गिरेगी और फ्रांस में बढ़ेगी। इग्लैंड खरीदने के लिए एक आकर्षक बाजार बन जायेगा और फ्रांस में इसके विपरीत होगा। इग्लैंड के निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात निरुत्साहित होंगे। इस प्रकार असमता के मूल कारण ठीक हो जायेंगे।

जैसा कि हम प्रारम्भिक अध्याय में देख चुके हैं, इस प्रकार की आत्मगतिक कार्य-वहन पद्धति के लिये कुछ शर्तें अवश्य ही पूरी होनी चाहियें जैसे कि सोने को बेरोक-टोक आने-जाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिससे वह दोनों देशों में कीमतों और लागतों को प्रभावित कर सके। इससे कीमतें और लागत उस देश में चढ़ेगी जो सोना प्राप्त करता है और उस देश में गिरेगी जो सोना बाहर भेजता है। इससे अर्थ-व्यवस्था के लचीले स्वभाव का और केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-मान का खेल करने की इच्छा का आभास होता है।

सन् १९१४ के पहले ऐसी स्थितियाँ बड़ी संख्या में पाई जाती थी। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद वे न रहीं। इस प्रकार यह देखा गया कि स्वर्ण-मान अन्तर्राष्ट्रीय असमता को अपने आप ठीक करने में समर्थ न रह सका।

१३ अविनिमयसाध्य मुद्रा के अन्तर्गत असमता का संशोधन (Correcting Disequilibrium Under Inconvertible Paper)– यदि वस्तुओं के एक देश से दूसरे देश में आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय तो उस दशा में भी अपरिवर्तनीय मुद्रा के अन्तर्गत ऐसे ही स्वयगतिक संशोधन की कल्पना की जा सकती है। सोने के चलन के स्थान पर वस्तुओं का चलन होगा और उससे दोनों देशों के सापेक्ष मूल्य-स्तरों पर प्रभाव पड़ेगा।

परन्तु वास्तव में देशों में होने वाले दामों के सापेक्ष परिवर्तनों का उस समय अधिक कठिनाई से आभास होता है जब कि सोने की अपेक्षा सम्बन्ध वस्तु या वस्तुओं द्वारा जोड़ा जाता है। उन वस्तुओं की अपेक्षा जिनकी माग बहुत से कारणों पर निर्भर है, सोना सर्वत्र मान्य होता है। इस तरह ऐसा हो सकता है कि वास्तविक विनिमय-दर क्रय-शक्ति समानता से दूर रहे और यह असमता सापेक्ष कीमत के स्तरों के परिवर्तनों द्वारा संशोधित न हो सके। ऐसी परिस्थिति में समता लाने का आम तरीका यह है कि विनिमय को स्वत मूल्य स्तर का समायोजन करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाय।

स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय और कागजी मुद्रा-मान के अन्तर्गत विनिमय के बीच एक और अन्तर यह है कि पत्र-मुद्रा का वर्तमान मूल्य उसके भविष्य के आशातीत मूल्य के विचारों द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होता है। यदि यह सामान्यत विश्वास किया जाता है कि सम्बन्धित मुद्रा के अवमूल्यन की आशा है तो लोग उसको किसी दूसरी मुद्रा में परिवर्तन करके उससे पीछा छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार इस मुद्रा का अवमूल्यन होगा, भले ही उन देशों के सापेक्ष मूल्य-स्तरों में कोई परिवर्तन न हुआ हो। इसी प्रकार इस तरह के परिकल्पी प्रभावों के कारण एक असमानता उत्पन्न हो जायेगी।

एक देश में दूसरे देश की वस्तुओं की परस्पर माग की तीव्रता का प्रभाव भी एक कारण है। यदि सापेक्ष मूल्य-स्तर स्थिर रहते हैं और किसी भी कारण से एक देश 'अ'

की माग देश 'ब' की वस्तुओ के लिये अपेक्षाकृत अधिक तीव्र हो जाती है, तो विनिमय दर देश 'अ' के विपरीत और देश 'ब' के अनुकूल उस सीमा से अधिक बढेगी जितना कि मूल्य-स्तरो के अन्तर के अनुसार आवश्यक है। यदि दोनो देश स्वर्ण-मान के अन्तर्गत है तो इस परिस्थिति का फल यह होगा कि सोना 'अ' देश से निकल कर 'ब' देश के पास तब तक जाता रहेगा, जब तक कि मूल्य-स्तरो के परिवर्तन टकसाली विनिमय-दर पर साम्य स्थापित नही करते।

हम यह कह सकते है कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत दो देशो के बीच समता की प्रवृत्ति सोने के चलन और सापेक्ष मूल्य-स्तरो द्वारा स्थापित होने की होती है तथा अविनिमय-साध्य कागजी मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय की दरो के परिवर्तन द्वारा।

१४ विनिमय स्थायित्व बनाम कीमत स्थायित्व (Exchange Stability Versus Price Stability)[1]—स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते है और सोने के चलन से समन्वय किया जाता है जिनका प्रभाव सापेक्ष मूल्य-स्तरो पर पडता है। अपरिवर्तनीय कागज मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय के परिचलन द्वारा समन्वय अधिक सरलता से हो जाता है। परन्तु कागजी मुद्रा के अन्तर्गत भी विनिमय कृत्रिम रूप से नियन्त्रित किये जा सकते हैं और स्थायी रखे जा सकते है। तब उन देशो के बीच समन्वय कीमतो और लागतो के एक दु खदायी सापेक्षिक परिवर्तन द्वारा करना होगा।

प्रश्न उठता है कि देश को किस नीति को अपना उद्देश्य बनाना चाहिये—विनिमय स्थायित्व या कीमत स्थायित्व ? इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। यह देश की आर्थिक दशा और उसके विदेशी व्यापार के विस्तार पर निर्भर होगा।

यदि देश बडा है और उसकी अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार का स्थान तुच्छ है और उसके मूल्य और लागतो का ढाचा लचीला नहीं है, तो उस समय उसके मूल्यस्तर के स्थायित्व को सुरक्षित रखना और विनिमय की दर की गतिविधि का उचित समन्वय करना उसके हित में होगा। इसके विपरीत एक छोटे देश के लिए, जिसका विदेशी व्यापार विस्तृत है और कीमतो और लागतो का ढाचा लचीला है, यह लाभदायक होगा कि वह अपने विनिमय की दर को स्थायी रखे और आन्तरिक कीमत और लागतो की गतिविधि द्वारा समायोजन होने दे। उदाहरण के लिये, भारत जैसे देश का लक्ष्य कीमतो का स्थायित्व और स्वतन्त्र विनिमय होना चाहिये जबकि ब्रिटेन के लिये अधिक आवश्यक उद्देश्य स्थायी विनिमय होना चाहिये।

इधर कुछ समय से मुद्रा-नीति का उद्देश्य इन दोनो से दूर हट गया है। उद्देश्य अब न तो विनिमय की स्थिरता है और न कीमत की स्थिरता। आर्थिक जीवन में स्थिरता लाना अथवा व्यापार चक्र को रोकना अब उद्देश्य बन गए हैं।

१५ अनिश्चित बनाम निश्चित विनिमय (Fluctuating Vs

---

1 See also Ch XXXVII, Sec 12

Fixed Exchange)[1]—क्या विनिमय-दरो को स्वतन्त्र छोड देना चाहिये, जिस ओर वे जाय जाने दिया जाय या उन्हे स्थिर रखना चाहिये ? दोनो पक्षो मे कुछ कहा जा सकता है। लोचदार विनिमय के समर्थको का कहना है कि स्वतन्त्र दर की प्रथा द्वारा कोई देश स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपना सकता है । देश को आन्तरिक स्थिरता की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिए और विनिमय-दर को स्वतन्त्र छोड देना चाहिये । इस प्रकार की नीति से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को बाहरी हस्तक्षेप से बचाया जा सकता है । विनिमय दर भुगतान-तुला को साम्य स्थिति पर लाती है और यह ठीक ही होगा कि इसे इस वक्त अपने आप स्वतन्त्रतापूर्वक रहने दिया जाय । यदि विनिमय-दर को स्थिर रखा जाता है, तो विदेश में उत्पन्न हुई मुद्रा-विस्तार और सकुचन की बुराइया आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे आ घुसती है। परिवर्तनशील विनिमय-दरे इन बुराइयो से बचा सकती है और यह भी पूछा जा सकता है कि "यदि माग पूर्ति के नियम सब आर्थिक क्षेत्रो में ठीक प्रकार कार्य कर सकते है तो विदेशी विनिमय में क्यो नही कर सकते ?"

इस प्रकार के तर्कों मे काफी सचाई है। फिर भी निम्नलिखित बातो के कारण स्वतन्त्र परिवर्तनशील विनिमय-दर की पद्धति को सर्वत्र त्याग दिया गया है —[2]

(१) चूंकि विनिमय की दरो में परिवर्तन का प्रभाव आयात और निर्यात पर पडता है, इसलिए परिवर्तनशील विनिमय-दर आन्तरिक स्थिरता में बाधा डालती है। इससे प्राकृतिक स्रोतो में लगातार परिवर्तन होगा जैसा कि आयात उद्योगो तथा निर्यात उद्योगो मे होता है, जिससे आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे गडबडी होने के अलावा बहुत कुछ अपव्यय भी होता है।

(२) उतार-चढाव वाली विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिमो को बढाकर उसके विकास मे बाधक है।

(३) उतार-चढाव वाली विनिमय की प्रथा में विदेशी मुद्राओ के सम्बन्ध में बहुत सट्टेबाजी होती है जिससे विनिमय की दरो में अत्यन्त अस्थिरता आ जाती है। यदि विनिमय में अवमूल्यन की शका है, तो इससे बहुत खतरा बढता है । पूजी दूर भागने लगती है। इस प्रकार उतार-चढाव वाली विनिमय दर समायोजन की वृद्धि के लिए उचित नही है।

(४) उतार-चढाव वाली विनिमय-दरो मे आकस्मिक लाभ और हानि होती है। विनिमय-दर में आकस्मिक परिवर्तन से लाभ उठाने के लिए व्यापारियो को अधिक मात्रा में नकदी रखनी होती है। इससे साख का संकुचन होता है, ब्याज की दर बढ जाती है और बेकारी फैलने लगती है।

(५) उतार-चढाव वाली दरो से दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन मे भी बाधा पडती है क्योंकि जिस बात से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हलचल मचती है उसका प्रभाव

1 See League of Nations—International Currency Experience, 1944, Pp 117-—22 and also Ch XI

2, See Halm, G N —Monetary Theory, 1946, pp 211—16.

पूजी लगाने वाले पर भी पडता है।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि न तो स्थायी और न अस्थायी दरो से काम चल सकता है। "यह सच है कि विनिमय फेरफार भुगतान-शेष की अल्पावधि की गडबडी को दूर करने का अनुचित तथा अवाछित उपाय है, लेकिन यह भी समान रूप से सही है कि आन्तरिक तथा बाह्य साधनो में बड़े परिवर्तन होने की दशा में निरपेक्ष (absolute) विनिमय दर हानिकारक है। सामान्य हित की दृष्टि से चलमुद्रा मूल्य का समय-समय पर पुनरीक्षण होना चाहिए जिसमे विभिन्न देशो के कीमत-स्तर तथा विनिमय दर में असमानता कम हो जाए।"

उतार-चढाव वाली विनिमय दर की जोखिमो तथा हानियो के कारण ही विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का चलन हुआ।

१६ विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control)[1]—प्रथम युद्ध से विभिन्न कारणो के फलस्वरूप सरकार ने विनिमय पर नियन्त्रण रखना प्रारम्भ कर दिया है।

विनिमय पर नियन्त्रण करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि इसे उस स्थान के बजाय जहा यह आर्थिक शक्तियो को स्वतन्त्र छोड देने पर निश्चित होता, दूसरे स्थान पर निश्चित किया जाय। यह सीमित रहे जब कि आर्थिक शक्तियो को पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया जाय। विनिमय पर नियन्त्रण तब होता है जब कि देश की आर्थिक स्थितियो में ससार अन्य देशो के समक्ष अधिक अन्तर पड जाता है। इससे देश का व्यापार विदेशियो के व्यापार से सन्तुलन न रखकर विषमता रखने लगता है। इसमे देश की पूजी का विदेशी पूजी के साथ द्वन्द्व होता है। इन तमाम कारणो से देश में विनिमय-नियन्त्रण करना आवश्यक हो जाता है।

वह देश जो विनिमय नियन्त्रण चाहता है इन तीन तरीको से चल सकता है (यह वहा की आर्थिक स्थिति पर आधारित है) (१) वह देश चल मुद्रा के मूल्य को कम कर सकता है (अथवा अवमूल्यन), (२) अतिमूल्यन (overvaluation), अथवा (३) उतार-चढाव से बच कर स्थिर दर बनाए रखने का निश्चय करे। अब हम प्रत्येक पर जुदा-जुदा विचार करेंगे।

जब कोई देश मूल्य में कमी करता हो अर्थात् स्वतन्त्र विनिमय की बाजार से कम मूल्य पर वस्तुओ को बेचता है तो आयात को धक्का लगता है और निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश की वस्तुओ की कीमत दूसरे देशो की अपेक्षा बढ जाती है। यह तरीका मन्दी के हटाने के लिये प्रयोग में आता है। किन्तु यह पूर्णरूप से सभव नही होता। इसमे आन्तरिक कीमतो के बढने के बजाय बाहरी कीमतें बढ जाती हैं। यह बडे-बडे देशो में ही घटित होती है, जैसे, भारत और अमरीका। मूल्य में न्यूनता कर देने की नीति उन देशो के लिए अच्छी है जहाँ पर खाद्य-सामग्री और कच्चे सामान

1 See International Currency Experience Ch VI and also Halm, G N—Monetary Theory, 1946, Ch XIV and League of Nations Report on Exchange Control, 1938 Crowther, G—An Outline of Money, 1950, Ch VIII

का निर्यात किया जाता है। मन्दी के समय इन मालो की कीमतो को बहुत दवा दिया जाता है किन्तु मूल्य की न्यूनता आयात को महगा कर देती है। खाद्य-सामग्री और कच्चे सामान के विक्रेताओ के मूल्य मे कमी हो जाती है। माल की कीमत को गिराने से बचाने के लिए यह बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है। महामन्दी के समय बहुत से देशो ने अवमूल्यन अथवा मूल्य में कमी कर देने वाला रास्ता स्वीकार किया।

विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य मुद्रा अधिमूल्यन अथवा दूसरी मुद्रा से ऊचा मूल्य निश्चित करना है। नियन्त्रण के न होने पर ऐसा नही हो सकता। यह रास्ता तभी अख्तियार किया जाता है जब व्यापार-तुला मे अधिक उतार-चढाव पाया जाता है। फलस्वरूप राष्ट्रीय मुद्रा की पूर्ति उसकी माग से कही अधिक बढ जाती है। ऐसी अवस्था में देश को विदेशी माल की अधिक आवश्यकता होगी या तो युद्ध की तैयारी के लिए अथवा युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के लिए। यदि ऐसी अवस्थाओं मे विनिमय की दरे कम कर दी जायेंगी तो आयात वस्तुओं की कीमत अधिक हो जायेगी अथवा आयात बन्द हो जायेगा। यदि किसी देश की आकस्मिक आवश्यकता किसी वस्तु को दूसरे देश से खरीदने की पड जाती है तो मुद्रा के मूल्य में वृद्धि लाना अधिक लाभप्रद पाया जाता है। यदि किसी देश में मुद्रास्फीति है तो राष्ट्रीय मुद्रा के विनिमय का मूल्य कम हो जायगा जब कि विनिमय स्वतन्त्र रूप से छोड दिया जायगा। यदि विदेशी व्यापार भली प्रकार से देश की आर्थिक अवस्था के लिए कार्य कर रहा है तो इसे अवश्य रोकना चाहिए नही तो आयात महगा हो जायगा और निर्यात को लाभ होगा। अधि-मूल्यन की नीति देश के लिए इस अवस्था में लाभदायक होती है, जब कि देश को किसी दूसरे देश को कर्ज अदा करना हो। यह अवस्था अपने देश के लिए लागू होती है। यदि विनिमय गिर जाता है तो विदेशी ऋण का भार बढ जायेगा।

'अतएव हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते है कि किसी देश को मुद्रा के मूल्य मे कमी करनी चाहिए अथवा वृद्धि। यह उस देश की स्थिति पर निर्भर है। कुछ देशो को अधिक मूल्य रखना लाभदायी हो सकता है और कुछ देशो के लिए अवमूल्यन लाभ-दायक हो सकता है। वही देश किन्ही परिस्थितियो मे अधिक मूल्य वाली नीति से लाभ प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार किन्ही अन्य परिस्थितियो मे वह हानिकारक सिद्ध हो सकता है। यही मत क्राउथर का भी है।[1] "इसलिए प्राय नियम इस प्रकार है युद्ध काल में तथा कमी के समय अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करो, और मन्दी तथा अधिकाई में अवमूल्यन।"

विनिमय नियन्त्रण का तीसरा रास्ता जो न तो अधिक मूल्य का है और न कम मूल्य का, वह है उतार-चढाव से बचाव। इसका तात्पर्य यह नही है कि विनिमय को कठोरता से एक सूत्र में बाध दिया जाय और वह तनिक भी हिल डुल न सके। इसका केवल तात्पर्य यह है कि विनिमय को आकस्मिक उतार-चढाव से बचाया जाय जिससे कि सर्वसाधारण के लिए लाभदायक सिद्ध हो सके। विनिमय साम्य का यही परिणाम

1. Crowther, G — An Outline of Money, 1950 p 240.

हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के स्थापित करने का यही उद्देश्य है।

विनिमय नियत्रण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय माल के विधिवत् घुमाव से रहता है अथवा किसी निश्चित दर से विदेशी सिक्के के क्रय और विक्रय में रहता है। विनिमय नियत्रण तभी फलीभूत हो सकता है जब कि विनिमय बाजार में प्रभावित माग के लिये पूर्ति हो। यह तटकर, ब्याज दरो में परिवर्तन आदि द्वारा **परोक्ष रूप** में किया जा सकता है। आयात कर और आयात मात्रा (कोटा) आने वाले माल को कम कर देगी। और विदेशी मुद्रा की माग और मूल्य भी कम हो जायेंगे। निर्यात कर, जो इतने साधारण नही है, इसके विपरीत प्रभाव डालते है। इसके विषय मे आर्थिक सहायता पृथक् प्रभाव डालती है। निर्यात सरकारी आर्थिक सहायता देशी सिक्को के मूल्य को बढा देती है और आयात आर्थिक सहायता देशी सिक्को के मूल्य में कमी कर देती है। व्याज की दर में वृद्धि विदेशी पूजी अपनी ओर खीच लाती है, देशी सिक्को की माग में वृद्धि लाती है तथा इसका मूल्य बढाती है, किन्तु इन साधनो से विनिमय **प्रभावित किया जाता है, नियन्त्रित नहीं**। यह ढग विनिमय पर नियत्रण करने के लिये प्रतिद्वन्द्वी देश के निमित्त प्रयोग मे नहीं लाये जाते है। यह ढग विनिमय पर नियन्त्रण करने के लिये आवश्यक रूप से नही स्वीकार किये जाते। और न यह ढग कुशल नियत्रण लाने के लिये पर्याप्त ही है। अत और बहुत मे प्रत्यक्ष साधनो के प्रयोग आवश्यक होते हैं।

साधारणतया केवल दो ही ढग है जिनसे विनिमय पर नियत्रण लगाया जा सकता है (१) शासन की आर से विनिमय की बाजार में विदेशी विनिमय के क्रय और विक्रय को साम्य स्तर पर लाने के लिये हस्तक्षेप किया जाता है। इस ढग को **हस्तक्षेप** कहते है और यह विनिमय उद्बन्धन (exchange pegging) की ओर बढाता है। (२) सरकार मुद्रा की माग और पूर्ति पर रोक लगा सकती है जिससे वे विनिमय बाजार तक न पहुँच सके। यह तरीका बहुत ही लाभदायक और प्रसिद्ध है, क्योकि पहला तरीका केवल अल्पकालीन अस्त्र है। और इसमें अधिक व्यय की आवश्यकता होती है। **विनिमय प्रतिबन्ध** वास्तविक विनिमय नियत्रण है। इसके लिये निम्नलिखित ३ बातो की आवश्यकता होती है (क)—प्रत्येक विदेशी विनिमय क्रिया को सेंट्रल बेक में केन्द्रित कर देना चाहिये। (ख) राष्ट्रीय सिक्के विनिमय के लिये बिना पूर्व-स्वीकृति के नही दिये जा सकते। (ग) अनधिकृत विदेशी विनिमय के लेन-देन में प्रवेश करने पर दड दिया जाता है। इसके लिये साधारण रास्ता यह होना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति जो बाहर माल भेजना चाहता है उसे सेंट्रल बैंक के पास प्रार्थना-पत्र तथा विदेशी सिक्को पर अपना अधिकार प्रस्तुत करना चाहिए और सेंट्रल बेंक को लाइसेंस-प्राप्त व्यक्तियो के पास विदेशी आये हुए माल को बाट देना चाहिए। इस प्रकार से विनिमय-नियन्त्रण पूर्ण रूप से आये हुए माल पर नियन्त्रण रखता है। सन् १९३९ तक जर्मनी ही विनिमय-नियन्त्रण में प्रमुख देश था। विनिमय-नियन्त्रण ने जो विभिन्न रूप अपनाये हैं, वे इस प्रकार है —

(1) **विनिमय "उद्बन्धन" (Exchange Pegging)**—यह विधि साधारणतया युद्ध के समय में विनिमय उतार-चढाव को कम करने के लिए काम में लाई जाती है। किसी मुद्रा के आतरिक मूल्य का मुद्रा-प्रसार के कारण अवमूल्यन हो सकता

है परन्तु सरकार अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को सुविधा देने के लिए इसके वाह्य मूल्य को जितना कि वह क्रय-शक्ति समता के अनुसार उचित है, उससे भी ऊँचा स्तर बनाये रखने का प्रयत्न कर सकती है। यह विधि इगलैंड के द्वारा प्रथम महायुद्ध मे, और फिर दूसरे महायुद्ध में भी काम मे लाई गई थी। सन् १९१६-१९ के बीच स्टर्लिंग कृत्रिम रूप मे ४·७६५ डालर—उस मूल्य पर जो कि स्टर्लिंग के असली मूल्य मे ऊंचा था—पर बन्धन रखा गया था। यह अमरीका में ऋण लेकर और उसमे ऊपर दी हुई दर के अनुसार लदन में विनिमय खरीद करके किया गया था। इस प्रणाली से सफलता इस बात पर निर्भर है कि अमुक राष्ट्र के पास कितने मसाधन है। विनिमय उद्बन्धन द्वारा अधिकाधिक उतार-चढाव कम किये जा सकते है किन्तु विनिमय दर की साम्यावस्था में मूल्य परिवर्तन सम्भव नही है।

(ii) **विनिमय-समकारी या क्षतिपूरक लेखा** (Exchange Equalisation Acccount)—विनिमय निधि का उदय अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान प्रचलन का अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण निर्णय प्रणाली[1] में रूपान्तर करना था, जो (यह परिवर्तित प्रणाली) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सोने को सन्तुलन मद के रूप में उपयोग करने लगी। इगलैंड द्वारा सन् १९३१ मे स्वर्ण-मान के बन्द किये जाने के बाद तीव्र विनिमय उतार-चढाव के रोकने की फिर आवश्यकता हुई। इस कार्य के लिए विनिमय समकारी लेखा-निधि (Exchange Stability Fund) को काम में लाया गया। (यह पहले अध्याय[2] में स्पष्ट कर दिया गया है)। "विनिमय समकारी लेखानिधि आस्तियो का सग्रह है जिसे केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत पृथक् किया जाता है। इससे विनिमय मार्केट मे ज्यादा उतार-चढाव पर नियन्त्रण रहता है।"[3] आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा का इस निधि की सहायता से क्रय-विक्रय किया गया और इस प्रकार अल्पकाल निधियो की इंग्लैंड के अन्दर जाने की या बाहर आने की अनिश्चित गतिविधियो के होते हुए भी विनिमय एक सकुचित क्षेत्र मे सीमित रखा गया। यह निधि मुद्रा मूल्य में दीर्घकाल समायोजन (adjustment) को रोकने के काम में नही लाई जाती। विनिमय समकारी लेखा निधि का विभिन्न देशो में भिन्न उपयोग हुआ है तथा एक ही देश में कई स्टेज पर भिन्न प्रयोग। "ब्रिटिश विनिमय समकारी निधि की रचना इस प्रकार हुई थी जिससे सामान्य धारा पर नियन्त्रण लगाए बिना, विनिमय में तीव्र उतार-चढाव कम हो सके, जो पूंजी की अनिश्चित गतिविधि तथा सटोरियो की चेष्टाओं के कारण उत्पन्न होते है। धीरे-धीरे निधि के उद्देश्यो को व्यापक कर दिया गया और इन्हें समय-समय पर होने वाली गड़बड़ को रोकने के लिए उपयोग मे लाया जाने लगा। दूसरी किस्म की निधियो को स्थापित करने का उद्देश्य सामान्य विनिमय धाराओं पर नियन्त्रण करना था। इनके मुख्य कार्य ये है (1) विनिमय की दरो

---

1 For characteristics of the Gold Settlement System, see International Currency Experience p 155
2 Chapter XXXII
3 League of Nations—International Currency Experience. 1944, p 143.

में अल्पकाल के उतार-चढाव को ठीक करना, (11) अल्पकालिक निधियो की गतिविधि और सट्टेबाजी की क्रियाओ के द्वारा उत्पन्न हुए विघ्नकारी प्रभावो से रक्षा करना। लगातार घटने-बढने वाले विनिमय व्यापार को भारी क्षति पहुचाते हैं। यह निधि इसलिये, विदेशी व्यापार के मार्ग को समतल बनाने के लिए होती है।

द्वितीय महायुद्ध के समय ऐसी ही विधियो से डालर स्टर्लिंग की दर १ पौण्ड= ४ ०३ डालर पर कायम रखी गई थी।

(111) **विनिमय नियत्रण** (Exchange Control Proper)—वास्तव में विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ उन अनेक युक्तियो से है, जिनमें से बहुत सी जर्मनी में नाजी शासन के समय शुरू की गई थी। उसके बाद दूसरे देशो ने भी उनमें से कुछ को अपनाया।

विदेशी व्यापार की बाधाओ के बारे मे समझाते हुए हमने इनमें से कुछ युक्तियो का अध्ययन किया है। यहा हम फिर विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण की अपेक्षा विदेशी विनिमय के दृष्टिकोण से उन पर प्रकाश डालेंगे। ये युक्तियाँ हैं (क) निष्कासन या निकासी समझौते (clearing agreements), (ख) यथापूर्व-स्थिति समझौते (standstill agreements), (ग) ट्रान्स्फर मॉरेटोरिया (transfer moratoria) और (घ) समावरुद्ध-लेखे (blocked accounts)।

दो देशो के बीच के **निष्कासन-समझौते** (clearing agreements) के अन्तर्गत आयात-कर्ता अपने-अपने केन्द्रीय बैंको में आयात की हुई सब वस्तुओ के क्रय-मूल्य को एक लेखे में जमा कर देते है। इस धन से फिर निर्यात-कर्त्ताओ का भुगतान कर दिया जाता है। मुद्राओ की दर साधारणतया समझौते की शर्तो के अनुसार निर्धारित की जाती है। इसका उद्देश्य है राज्य की इच्छानुसार आयात का नियमन करना, भुगतान-तुला में साम्य निश्चित करना और घटते-बढते हुए विनिमय की अनिश्चितता को दूर करना। इस प्रणाली की प्रवृत्ति बहुमुखी व्यापार के बजाय द्विमुखी व्यापार को प्रोत्साहन देने की है और इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इसका प्रभाव अवरोधक होता है। इसके अतिरिक्त यह राशिपातन (dumping) और मुद्रा-अवमूल्यन को निरुत्साहित करती है। सब प्रकार से देखते हुए यह प्रणाली निन्दित ठहराई जाती है। केवल युद्ध के समय की विशेष परिस्थितियो में या एक अस्थायी मुक्ति के तौर पर किसी देश की भुगतान-तुला की असमता की परिस्थिति पर काबू पाने के लिये उस समय तक इसका आश्रय लिया जाता है, जब तक कि असमता के कारण दूर नही हो जाते।

यथापूर्व-स्थिति समझौता (Standstill Agreement)—किसी देश को अपनी दशा सुधारने के लिए समय देने की एक युक्ति है जिससे कि उस देश से अति विशिष्ट विदेशी अल्पकाल ऋण के विलम्ब काल शोध (moratorium) के रूप में पूजी बाहर न जा सके। या तो अल्पकाल ऋण दीर्घकाल ऋण मे परिवर्तित कर दिया जाता है या उसके धीरे-धीरे भुगतान करने की व्यवस्था कर दी जाती है। यह युक्ति जर्मनी में सन् १९३१ के सकट के बाद प्रयोग में लाई गई थी।

हस्तातरण विलम्ब कालशोध (transfer moratoria)[1] उसी प्रकार की एक दूसरी युक्ति है। इस प्रणाली के अन्तर्गत आयातकर्त्ता और दूसरे लोग अपने विदेशी ऋण का भुगतान अपनी स्वदेशी मुद्रा मे एक निर्दिष्ट प्राधिकारी को करते है। जब विलम्ब कालशोध (moratorium) की समाप्ति हो जाती है, तो ये निधिया विदेशो को भेज दी जाती है। कभी-कभी एक विदेशी ऋणदाता को उस देश मे, जो विलम्ब कालशोध (moratorium) लागू करता है, अपनी निधि को सरकार द्वारा निर्दिष्ट ढग पर व्यवहार मे लाने की आज्ञा दे दी जाती है। जर्मनी में इस प्रणाली को १९३१ मे काम मे लाया गया।

पहले बतलाए हुए यथापूर्व-स्थिति समझौते और हस्तातरण विलम्ब कालशोध की युक्तियो से एक तीसरी युक्ति निकलती है जिसको कि समावरुद्ध लेखा या बँधे हुए खातो की प्रणाली (blocked accounts) कहते हैं। जिस समय केन्द्रीय बैंक को स्वदेशी मुद्रा में दिये गए विदेशी ऋण सरकार की आज्ञा के बगैर विदेश नही भेजे जा सकते उस समय समावरुद्ध लेखो का उदय होता है। चूकि देश मे पड़ी बेकार निधि साख को सकुचित करती है, इसलिए विदेशी उत्तमर्ण ऋणदाता उनको व्यवहार में लाने से बिल्कुल वचित नही किये जाते। परन्तु निधिया सरकार की निर्दिष्ट विधि के अनुसार ही व्यवहार में लाई जाती हैं। साधारणतया उनको स्वतन्त्र बाजार में बेचने की आज्ञा दे दी जाती हैं। अधिकतर वे ऊचे बट्टे पर बेची जाती है।

१७ वायदा विनिमय (Forward Exchange)—विनिमय में उतार-चढाव की जोखिम, विशेषकर अविनिमयसाध्य मुद्रा के अन्तर्गत, एक युक्ति से हटाई जा सकती है, जिसको कि "वायदा विनिमय" कहते हैं। इसके अनुसार वह व्यक्ति, जिसे भविष्य में कभी कोई भुगतान करना है, या लेना है, एक ऐसे बैंक से प्रसंविदा कर लेता है जो इस समय विनिमय की दर का निर्णय करता है। मान लीजिए कि किसी भारतीय आयातकर्त्ता को तीन महीने बाद इग्लैण्ड के एक निर्यातकर्त्ता को ५०० पौण्ड का भुगतान करना है। विनिमय की अनिश्चितता के कारण वह उस बात का निर्णय नही कर सकता कि समय आने पर उसको कितने रुपये देने होगे। बिना यह समझे हुए कि उसकी लागत कितनी हुई वह आयात की हुई वस्तु का मूल्य निर्धारित नही कर सकता। इस समय के किसी निश्चित दिये हुए दर पर अग्रिम (फॉर्वर्ड) स्टर्लिङ्ग खरीद कर वह इस सकट से मुक्ति पा सकता है। यह उसको विनिमय में उतार-चढाव की जोखिम से सुरक्षित कर देगा। इसी प्रकार भारतीय निर्यातकर्त्ता जिस को कि भविष्य में स्टर्लिङ्ग मे भुगतान मिलता है, एक निश्चित की हुई दर पर वस्तुएं बैंक को बेच सकता है। उसको विश्वास रहेगा कि भविष्य में उसको कितने रुपये मिलेंगे।

वायदा-विनिमय की दरे प्रचलित दर से दी जाती है, या 'तात्कालिक दर (spot

---

1 An emergency measure authorising the suspension of payments of debts for a given time; the period thus declared.

rate) में। यदि स्वदेशी मुद्रा को एक इकाई के बदले में विदेशी मुद्रा का एक थोडा भाग मिलता है, तो यह अग्रिम दर "अधिमूल्य" (at a Premium) पर होती है। यदि स्वदेशी मुद्रा की इकाई के बदले में अधिक भाग मिलता है तो उसको "अपहार" अथवा बट्टे पर होना कहते हैं।

किन परिस्थितियो में अन्तिम दर अधिमूल्य पर या बट्टे पर हो सकती है ? दूसरे शब्दो में, वे क्या कारण है जिनको बैंक अग्रिम दरो का मूल्याकन करते समय अपने ध्यान में रखते है। साधारतया तीन बातें ध्यान में रखी जाती है —

(1) **स्वदेश और विदेश में ब्याज की सापेक्ष दरें** (The Relative Rates of Interest at Home and Abroad)—यदि ब्याज की दर किसी विदेशी केन्द्र में स्वदेश से अधिक है तो बैंक को अपनी निधि विदेशी केन्द्र में भेजने से लाभ होगा। इस प्रकार वह अग्रिम विनिमय सस्ती दरो पर बेच सकता है। अग्रिम विनिमय का मूल्याकन बट्टे पर होगा। यदि स्वदेश में ब्याज की दर उच्चतर है तो निधि के विदेश भेजने में कोई आकर्षण न होगा। अग्रिम विनिमय का मून्याकन अधिमूल्य पर किया जायगा।

(ii) **सविदा का सतुलन** ('Marrying' a Contract)—निधियो को एक जगह से दूसरी जगह भेजने के बजाय बैंक एक लेन-देन को दूसरे लेन-देन से पूरा कर सकते है। कुछ व्यापारियो को विदेशी मुद्रा की भविष्य में आवश्यकता होगी और इसके विपरीत कुछ व्यापारी भविष्य में विदेशी मुद्रा बेचना चाहते है। बैंक उनके बीच में एक मध्यस्थ के तौर पर आ जाता है। वह एक से खरीदता है और दूसरे को बेचता है और लाभ अपने लिए निकाल लेता है। इसको सविदा का सन्तुलन (marrying a contract) कहते है। इसलिए यदि बैंक ने पहले से ही वायदा विनिमय खरीद लिया है तो वह उन लोगो को, जो उससे खरीदना चाहते है, उन्हें अच्छे दर पर बेच देगा। अग्रिम दरें, इस प्रकार, बट्टे पर मूल्याकित होगी, क्योकि बैंक पहले ही जोखिम उठा चुका होता है।

(iii) **मुद्रा की स्थितिया** (Currency Conditions)—यदि विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन की आशा है, तो बैंक उसको अग्रिम रूप से खरीदने के लिए तैयार न होगा और इस प्रकार अग्रिम दरें अधिमूल्य पर मूल्याकित की जायेंगी।

ऊपर कही गई बातो को ध्यान में रखकर देखने से यह समझना सरल हो जाता है कि अग्रिम विनिमय या भविष्य का लेन-देन, जैसा कि कहा जाता है, किस प्रकार विनिमय मे उतार-चढाव कम करने में सहायक होता है। ये लेन-देन केवल सच्चे व्यापारिक उद्देश्यो मे ही प्रयोग मे नही लाये जाते बल्कि सट्टेबाजी के उद्देश्यो से भी।

१८ **अन्तर-पणन** (Arbitrage Operations)—जब अग्रिम विनिमय से विनिमय उतार-चढाव समय की दृष्टि से कम हो जाती है तो अन्तर-पणन से विनिमय दरो के अन्तर स्थान की दृष्टि से कम हो जाते है। एक उदाहरण से यह भेद समझ में आ जायगा। मान लीजिये कि बम्बई के विनिमय बाजार में रुपया-स्टर्लिंग विनिमय की दर है १८ पें० प्रति रुपया और लन्दन में, किसी भी कारण से, दर बढ

कर १९ पैं० प्रति रुपया हो जाती है। प्रत्यक्ष है कि इस अन्तर के कारण लाभ कमाने का एक अवसर उत्पन्न हो जाता है। आप अपने इंगलैण्ड के बैंक को तार से १९ पैं० प्रति रुपया की दर पर स्टर्लिंग खरीदने का आदेश कर सकते हैं। आप उसको अपने भारतीय बैंक द्वारा १८ पैं० प्रति रुपया की दर पर बेचकर १ पैं० प्रति रुपया लाभ उठा सकते हैं। और लोग भी अवश्य ऐसा करेंगे। लन्दन में स्टर्लिंग की मांग बढ़ जायगी और विनिमय की दर १८ पैं० प्रति रुपया की ओर बढ़ने के लिए प्रवृत्तिशील होगी। इसके विपरीत भारत में स्टर्लिंग की पूर्ति बढ़ जायगी और रुपयों में इसका मूल्य गिरेगा। विनिमय की दर १९ पैं० की ओर बढ़ेगी। यह उतार-चढ़ाव तब तक चलता रहेगा, जब तक भारत और लन्दन में विनिमय दर लगभग एक-सी नहीं हो जाती। वास्तव में इतना ऊँचा अन्तर जितना कि यहाँ हमने माना है, असम्भव होता है, क्योंकि अन्तर-पणन अन्तर को न्यूनतम बनाये रहता है।

१६. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)[1]— आजकल एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना करके विनिमय उतार-चढ़ाव को दूर करने का एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न किया गया है। इस संस्था का जन्म सन् १९४४ में होने वाले ब्रेटन वुडस (Bretton Woods) सम्मेलन में हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष नामक संस्था के स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि विनिमय में स्थिरता आ जाय और परस्पर एक दूसरे देशों में विनिमय मित्रतापूर्वक हो जिससे भुगतान-तुला की विषमता मिट जाय।

इसी संस्था के अनुच्छेद १ के अनुसार इसके निम्नलिखित कार्य होंगे—

(१) एक स्थायी संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी कोष प्रोत्साहित करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साम्य रखना और सदस्य देशों में ऊँचे स्तर की नियोजन-व्यवस्था करना।

(३) विनिमय की प्रतिस्पर्धा को रोकना एवं विनिमय की स्थिरता में वृद्धि करना।

(४) एक सदस्य और विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में द्रव्य की अदायगी के लिये बहुमुखी पद्धति की पुष्टि के लिये सहायक होना।

(५) सदस्यों को पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध होने का विश्वास दिलाना जिससे वे अपने देशों की भुगतान-तुला को सही और ठीक रख सकें और जिससे राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति बरबाद न हो (जैसे अवस्फीति नीति)।

(६) इस उपर्युक्त कथन के आधार पर सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विषमता को ठीक किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) सदस्यों के चन्दे से बनाया गया, जिन्होंने कि उस कोष में भाग लेने का निश्चय किया था। चन्दे के भुगतान का कुछ भाग सोने में

1. See the excellent article on "The International Monetary Fund" by Alvin Hansen in America's Role in World Economy reprinted by Hess and others in "Outside Readings in Economics", pp 752-64. See also Halm, G N—Monetary Theory, Ch XV.

और अशत कुछ उस देश की मुद्रा में होता था। सदस्य देश को २५% अपना कोटा देना होता है अथवा सोने के भाग का १०%, जो भी कम हो। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधन, कुछ तो सोने में है और कुछ सदस्य-देशो की मुद्राओ में जो कि उन देशो के केन्द्रीय बैंको मे रखी जाती ह।

इस कोप का मुख्य कार्य सदस्य-देशो की मुद्राओ को एक दूसरे के लिए क्रय और विक्रय करना है। सदस्य-देशो को इस निधि से उनके कोटे का ७५% और इसके अतिरिक्त २५% प्रति वर्ष, और अधिक से अधिक उनके कोटे के २००% तक सहायता दी जा सकती है। कोष की इच्छा पर ये शर्तें ढीली की जा सकती हैं। इस कोष की सहायता से एक ऋणी देश सोने के निर्यात और उससे उत्पन्न हुई अप-स्फीति (जैसा कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हुआ था) से सुरक्षित रहता है।

ऋणदाता देश की मुद्राए जिनका निर्यात आधिक्य उनके कोटे के ७५ % से ऊपर है, दुर्लभ घोषित कर दी जाती है। इस प्रकार की मुद्राओ का सम-वितरण उन देशो के बीच कर दिया जाता है, जिनको उन मुद्राओ की आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष दुर्लभ मुद्राओ की पूर्ति को भी, या तो ऋण लेकर और या सोने के द्वारा खरीदकर, बढा सकता है। यदि तब भी ये मुद्राए पर्याप्त नही होती तो उस समय ऋणी देशो को ऋणदाता देशो से आयात अवश्य ही कम करना पडेगा, जिससे उनकी भुगतान-तुला में समता आ जावे।

जहा तक विनिमय की दरो का प्रश्न है, सदस्य देशो को अपनी मुद्राओ की सोने के साथ विनिमय दर निर्धारित करनी पडती है परन्तु ये दरें हर समय के लिए निर्धारित नही की जाती। उनमें पूर्णतया एकरूपी परिवर्तन उन सदस्य-देशो की राय से, जो अलग-अलग अपने अभ्यश का १०% प्रतिशत भाग देते है, किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सदस्य-देश अपनी मुद्राओ के विनिमय-मूल्य को १०% तक परिवर्तन कर सकते हैं। इस सीमा के परिवर्तन, इस कोष की स्वीकृति से केवल मौलिक असमता को ठीक करने के हेतु ही किये जा सकते हैं।

"इस प्रकार विनिमय के मूल्य में कमी, जो कि उक्त देश के लिए जिसका द्रव्य अधिक मूल्यवान है, बिना किसी वैमनस्य के पूरी की जा सकती है। इस प्रकार से मुद्राकोष किसी एक देश को थोडे ही समय तक नियत्रण में लाने के लिए सहायक नही होता है जबकि वह वह किसी भी प्रकार का विदेशी माल न निर्यात कर सके, किन्तु बहुत सी मुख्य कठिनाइयो को भी हल करना है। अपने सदस्य-देशो की कभी भी विनिमय के मूल्य में न्यूनता की प्रतिस्पर्धा को नष्ट करता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो में एक बहुत सुन्दर नापजोख का ढाचा तैयार हो गया है।"[1]

भुगतान-तुला में फिर से समता लाने के लिये यह निधि सदस्य-देशो की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नही करती। सदस्य केवल एक लिखित सूचना देकर इस कोष से अलग हो सकते हैं।

---

1 Tarshis, L —The Elements of Economics, 1946, p 619.

मुद्रा कोष का प्रबन्ध कार्यकारिणी मंडल के १२ सचालकों मे होता है जिसमें अमेरिका, भारत, चीन, इंग्लैंड प्रत्येक को स्थायी स्थान दे दिया गया है। दो स्थान लैटिन अमेरिका प्रजातन्त्र को दे दिये गए है और शेष ५ स्थानो की चुनाव द्वारा पूर्ति की जाती है।

यह प्रणाली विनिमय स्थायित्व लेखों से, जिनको कि मंदी के दिनो में पृथक्-पृथक् देशो ने निकाला था, मिलती-जुलती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त प्रयोग मे लाये गए है। यह निधि अन्तर्राष्ट्रीय-स्वर्णमान के उद्देश्य की प्राप्ति, उसकी त्रुटियो के बिना, करना चाहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त दिये गए वर्णन से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के तीन कार्य हो सकते हैं—

(१) यह अल्पकालीन साख संस्था के रूप में कार्य करता है। यदि किसी देश को कठिनाई है और व्यापार-तुला उसके प्रतिकूल है तो ऐसे समय पर उसकी मदद के लिये आगे कदम बढाता है। लेकिन यह उस देश की विदेशी विनिमय की प्रत्येक पूर्ति की जो वहा पर प्रयोग में आती है, जिम्मेदारी नही लेता। प्रत्येक देश में आशा की जाती है कि वे विदेशी विनिमय संचित रक्खे जिससे वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह संस्था प्रत्येक वस्तु की पूर्ति का उत्तरदायित्व नही लेती। वह तो केवल आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। कर्ज लेने वाले देश को व्याज देना पड़ता है और अपने कोटे को पूर्ण रखना पड़ना है। साधारणतया देशों को कर्ज न लेना चाहिये, क्योंकि जब सभी कर्ज लेने लगते है तो व्याज की दर बढ जाती है। कम व्याज उसी अवस्था मे लिया जाना है जब कर्ज थोड़े समय के लिये दिया जाता है। यदि कर्ज की दर पर व्याज ५% से बढ जाता है तो यह दर को किसी भी स्तर तक जुर्माने के रूप में बढा सकता है। इस प्रकार से विदित हुआ कि उत्तम व्यापारिक आधार पर इस संस्था के सिद्धान्त आधारित नही हैं। यह केवल अल्पकाल के लिये ही ऋण देते है।

(२) मुद्रा कोष दीर्घकालीन भुगतान-तुला की स्थिति में सुधार लाने की व्यवस्था करता है। यह केवल साधारण विनिमय दरो को बताता है। कोई भी सदस्य-देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो में प्रतिस्पर्धा नही कर सकता। जब कोई देश यह समझता है कि हमारी विनिमय की दरें कम है तो वह उन्हे परिवर्तित कर सकता है किन्तु देश और मुद्रा कोष के अधिकारियों के मान लेने पर ही। इस प्रकार से विनिमय दरों में कुछ निश्चित शर्तें है। इस प्रकार इस ढंग से आन्तरिक स्थिरता और संसार के पूर्ण धन्धे उच्च व्यापार के रूप में चलते है। प्रत्येक देश को उसकी उत्पादन-कुशलता पर विश्वास करना चाहिये। उसे विनिमय हास की कृत्रिम उत्तेजना पर भरोसा करके विश्व मार्केट में अपने बल पर चलना चाहिए।

(३) मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय विचार विनिमय के लिए साधन आयोजित करता है। इस संस्था में संसार के मुख्य-मुख्य देशो के प्रतिनिधि जाते है। उसमें केवल संसार की आर्थिक व्यवस्था पर ही विचार नही होता बल्कि संसार के प्रत्येक देश के व्यापार के विकास के विषय मे आयोजनाए बनाई जाती है। संसार के उत्पादन का भी लेखा-

जोखा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से प्रत्येक सदस्य देश के व्यवसाय-धन्धो और आय विकास पर विचार किये जाते है। यह सस्था इन सब समस्याओ को हल करने के लिए गहन अध्ययन और शोध-कार्य करने मे सतत प्रयत्नशील है।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो को सफल बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग ले सकता है। किन्तु अभी तक मुद्रा कोष अपने मुख्य उद्देश्य तक नही पहुच सका है। इसकी सातवी रिपोर्ट सितम्बर १९५२ में वितरित हुई थी। उस में लिखा है कि युद्ध समाप्त हुए सात वर्ष हुए, किन्तु व्यापार मे नाममात्र के लिए बहुत थोडा-सा सुधार हो सका है। यूरोप और अमेरिका मे कृषि-उत्पादन मे राज्य सम्बन्धी नीति लागू होती है। यह नीतिया मुद्रा-कोष के लिए अच्छी नही प्रतीत होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और आयात के पिछडे होने के कारण बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। रिपोर्ट में आन्तरिक आर्थिक स्थिरता को प्रमुख बताया गया है जिससे कि स्फीति समाप्त हो जाय। स्फीति को समाप्त करने की सूचना प्रत्येक सदस्य-देश को दे दी गई है, नही तो ससार भर में व्यापार पर रोक और मुद्रा की परिवर्तनशीलता पर हस्तक्षेप होगा।

सक्षेप में हम इसको अग्रेजी के छोटे से मुहाविरे में कह सकते है कि "too little and too soon" अर्थात् देखने में तो बहुत थोडा-सा प्रतीत होता है किन्तु कार्य अधिक और शीघ्र होता है। सन् १९४८ में फ्रास में ४४ प्रतिशत अवमूल्यन था किन्तु इसने सोने का बाजार अमरीका के डालर से स्वतन्त्र रखा था, क्योकि वह कोष के सिद्धातो से प्रतिस्पर्धा के योग्य न था। किन्तु फिर भी इस सस्था ने फ्रास के साथ सहानुभूति प्रकट की और इसके प्रबन्ध और सिद्धातो को कायम रखा। सितम्बर १९४९ में पौण्ड मे ३०५ प्रतिशत का अवमूल्यन हुआ। इसके अनुसार केवल मित्रराष्ट्रो के देशो में ही नही (पाकिस्तान को छोडकर) १३ अन्य देशो में भी अवमूल्यन हुआ। मुद्रा कोष इस महान् परिवर्तन पर हस्तक्षेप कर सकता था किन्तु उसने किया नही, क्योकि विषमता अर्थात् असमता को ठीक करने का यह एक सही रास्ता था। श्री आइवर रूथ (Ivar Rooth) प्रबन्ध सचालक ने सितम्बर १९५२ में रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा था कि पूर्व से ही द्रव्य की अदायगी की स्थिति बन्धेज द्वारा हुई थी। कौलबार्न (Coulborn) ने मुद्रा कोष के कार्यों का एक खाका दिया है जो निम्नलिखित है — "लगभग ५० देश हे जो अर्ध-स्वर्ण मान का खेल खेलना चाहते हे। जिसमें से ६ देश मुख्य हे। यह उसी प्रकार का जाल है और इसमें मुख्य भाग लेने वाले भी वही देश है जैसा कि चुनाव की तालिका से सूचित होता है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्वर्णमान विनिमय के लेखा को सम रखना चाहता है। यह अच्छा खेल है जो किसी हद तक वाशिंगटन मे देखा जा सकता है। यह यथोचित कल्पना होगी कि यह वर्तमान सगठन लाभप्रद सिद्ध होगा।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के पास इतना धन नही है कि आकस्मिक आवश्यकताओ को पूरा कर सके। इसके नियन्त्रण के

---

1 Coulborn—Discussion on Money, 1950, p 299

कोई भी साधन नही है । इसके लिए राष्ट्रीय बचत के साधन प्रयोग मे आते है ।

२० अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के साथ तुलना (Comparison with International Gold Standard)—ब्रेटनवुडस स्कीम जैसा कि यह व्यवस्था साधारणतया कहलाती है, कुछ बातो मे स्वर्ण-मान से मिलती है ।

(i) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हर एक देश अपने बाह्य लेखे का समन्वय सम्पूर्ण संसार से एकबारगी करता है, न कि पृथक्-पृथक् देशो से ।

इसको बहुपक्षपाद (multilateralism) कहते है । यह द्विपक्षपाद के विपरीत है, जो कि सन् १९३० की मदी के समय बहुत लोकप्रिय हो गया था । बहुपक्षपाद के अन्तर्गत एक देश का निर्यात-आधिक्य दूसरे देश के आयात-आधिक्य के भुगतान करने के काम मे लाया जा सकता है । इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत मुद्राए किसी विशेष समय पर निर्धारित की हुई दरो पर परिवर्तित की जा सकती है । इस प्रकार बहुपक्षी लेन-देन को प्रोत्साहन मिलता है ।

(ii) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत एक देश, जिसकी भुगतान-तुला घाटे मे है, इस कमी को सोने या विकर्षो के निर्यात से पूरा करता है । नई व्यवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कोटा इस कार्य को करता है ।

(iii) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत कोटा और प्रत्यक्ष विनिमय जैसी कोई बाधाए नही थी । ये बाधाए इस सिद्धात के असगत है कि व्यापार तुलनात्मक लागत के द्वारा शासित होना चाहिए । ये बाधाए व्यापार को उस मार्ग पर ले गई जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध था । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत भी ये बाधाए अन्तर्वर्ती काल के बीतने पर हट जायेगी और व्यापार फिर से स्वतन्त्र रूप से परिवर्त्य मुद्राओ और उचित स्थायी विनिमय द्वारा होने लगेगा ।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि के अन्तर्गत ये सब सुविधाए, बगैर स्वर्ण-मान की बुराइयो के मिल जाती है । हम एक दूसरे सम्बन्ध में स्वर्ण-मान की कुछ त्रुटियो को पहले बतला चुके है ।[1] हम यहा पर इस प्रणाली की दो सबसे बडी त्रुटिया बतलाते है, जो कि नयी व्यवस्था में नही पाई जाती ।

(i) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत किसी देश के सचित सोने पर चालू लेखे के अन्तर्गत आयात-आधिक्य (import surplus) (अर्थात् प्रतिकूल व्यापार-तुला) और पूजी के वापस लेने का प्रभाव लगभग एक-सा ही था । सोना बाहर गया और साख सकुचित हो गई । विनिमय-समकारी लेखे की प्रणाली द्वारा, जो घरेलू साख के आधार को अल्पावधि पूजी के आतरिक प्रवाह (inflow) तथा बाह्य-प्रवाह (outflow) से प्रभावित नही होने देती थी, यह त्रुटि बहुत कुछ दूर हो गई है । नयी प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से एक देश को, उसकी साख-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाले बिना प्रतिकूल आधिक्य का सामना करने के लिए शक्तियुक्त बनाती है ।

(ii) स्वर्ण-मान की दूसरी और अधिक महत्त्वपूर्ण त्रुटि यह थी कि विनिमय-

---

1 See Chapter XXXIII

स्थायित्व इस नीति का पहला उद्देश्य बनाया गया था और यह मान सोना बाहर भेजते रहने वाले देश के साख की अपस्फीति करके कायम रक्खा गया था। सिद्धातत जिस देश में सोना अन्दर जा रहा था उससे साख के विस्तृत होने की आशा थी। परन्तु इस व्यवस्था के नियमो के इस भाग का सदैव पालन नही किया गया। भुगतान तुला में समता कायम रखने की इस कोष ने, जिससे कि विनिमय समता रही, उस समय तक सरलतापूर्वक कार्य किया जब तक कि मजदूरी तथा दूसरी लागतें लोचदार रही, जिससे कि साख की अपस्फीति ने निर्यात वस्तुओ की कीमत को कम किया और समता के मौलिक कारणो को फिर उत्पन्न किया। परन्तु क्योकि विशेपकर व्यावसायिक सघो के मजदूरी कायम रखने के दबाव के कारण लागत अधिकाधिक दृढ होती गई इसलिए साख की अपस्फीति का अर्थ था आर्थिक व्यवस्था पर पक्षाघात और अपने सब दुष्परिणामो के साथ देश में वेकारी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्ण-मान की इन कटुताओ से बचने का प्रयास करता है, जैसा कि हमने देखा है। हालाकि विनिमय दरें सोने की मात्रा में सदस्य-देशो द्वारा निर्धारित की जाती हैं, परन्तु फिर भी किसी मूल असमता के आने पर सदस्यो द्वारा इन दरो में परिवर्तन करने की व्यवस्था है। हालाकि ये परिवर्तन इस कोष की आज्ञानुसार ही किये जा सकते हैं, परन्तु यह आज्ञा सच्चे मामलो म रोकी नही जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत भी सोना निम्नलिखित कार्य करेगा[1]—

(१) जब सोने की विनिमय दरें बदल जाती है, तो यह विनिमय दर को स्थिर रखने में सहायक होगा।

(२) जब अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में अल्पकालिक असमता आ जाती है, तो यह फिलहाल काम चलाने मे सहायता दे सकता है।

(३) यह विभिन्न मुद्राओ का मान है।

(४) चूकि मुद्रा कोप में सोने को निश्चित स्थान दिया गया है, इसलिए उन देशो को, जो सोना उत्पन्न करते है, इस कोष में शामिल होने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

हैम का कथन है "निधि के अन्तर्गत सोने का उपबन्ध दिखावा मात्र नही है। निधि की तरल आस्तियो के रूप में इसका भाग बडा महत्त्वपूर्ण है, और सदस्य-देशो के लिए लगर का काम करता है।"

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्ण-मान तथा स्वतन्त्र विनिमय के गुणो को मिलाता है। सोना अब भी मूल्य का अन्तिम मान है। परन्तु स्वर्ण-मान के नियन्त्रणो को दूर रखा गया है। फिर भी इस नई प्रणाली को चलाने के लिए अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है। निधि निर्माण में सदस्य-देशो का बडा हाथ है क्योकि चलमुद्रा को सोने के रूप मे माना जाता है।

---

1 See Halm, G N—Monetary Theory, 1946, Pp 208—209

अध्याय ४३

व्यापार-चक्र और संकट-काल

(TRADE CYCLES AND CRISES)

१ व्यापार-चक्र किसे कहते हैं ? (What is a Trade Cycle ?)—पिछले डेढ सौ वर्षों मे संसार ने महान् आर्थिक उन्नति का अनुभव किया है। पर यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि यह उन्नति सदैव समान व स्थिर रही है। सच तो यह है कि हर दस या बारह वर्ष बाद व्यवसाय को एक धक्का-सा लगता है, जिससे कई वर्ष के लिए उद्योगों की प्रगति रुक जाती है। अस्तु, व्यवसाय में प्रगति के साथ अवनति के भी दिन आते है और समृद्धि-काल के पीछे मन्दी का समय भी आया करता है। मन्दी व समृद्धि के इसी चक्र को व्यापार-चक्र कहते हैं।

इसके विपरीत संकटकाल उस काल को कहते है जब व्यवसाय मे कठिनाइयां उपस्थित होने लगती है। एडोल्फ वेगनर के शब्दो में "संकटकाल मे व्यवसायियो के सामने इस प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है कि वह अपने को ऋण चुकाने के लिए निरन्तर असमर्थ पाते है।" अथवा जे एस मिल के अनुसार, "जब बहुत से व्यापारी अपने व्यापार में अड़चनो का अनुभव करने लगते है तो वह अवस्था संकट की होती है।" जब यह कठिनाइयां केवल व्यापारियो तक ही सीमित रहती हैं तो संकटकाल व्यावसायिक होता है, पर जब यह अत्यधिक बढ़ जाती है और बैंक आदि बन्द होने लगते है, तो आर्थिक संकट पैदा हो जाता है।

२. व्यापार-चक्र का पथ (Course of Trade Cycles)—अब हम व्यापार-चक्रों के पथ का संक्षेप मे अध्ययन करेंगे। मन्दी के दिनो में जब व्यवसाय बिल्कुल शिथिल होता है, तो नौकरीपेशा लोगों की तनख्वाहें बिल्कुल कम हो जाती है। ऐसे समय मे द्रव्य की क्रय-शक्ति तो अवश्य बहुत अधिक बढ़ जाती है, पर व्यक्ति की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, जाति की सामान्य क्रय-शक्ति कम हो जाती है। इसलिए उत्पादन-कार्य, चाहे वह उपभोक्ताओं की वस्तुओं का हो अथवा उद्योगी वस्तुओं का, शिथिल हो जाता है। ऐसा लगता है मानो विश्व बहुत नीचे व्यवसाय व जीवन-स्तर पर स्थिर हो गया हो। अयोग्य उद्यमी ऐसी परिस्थितियों मे स्वयं नष्ट हो जाते है और संसार में कीमतों, लागतों और आयों के निम्न-स्तर की एक नई समता के आधार पर व्यापार की स्थापना होती है। इस प्रकार विश्व अपने आपको मंदी के अनुसार व्यवस्थित करके किसी प्रकार काम चलाता है। इस भांति की व्यवस्था या साम्य-स्थिति कई वर्षों तक रह सकती है।

पर यह परिस्थिति सदैव बनी नहीं रह सकती। थोड़े ही समय बाद आशा की क्षीण रेखायें प्रकट होने लगती हैं और मंदी के दिन समाप्त होने लगते हैं। कृषि साय

कुशल व्यक्तियो की भी तनख्वाहे कम होती है, इसलिये उनकी पूर्ति वढ जाती है। द्रव्य व उत्पादन के अन्य पदार्थ और साधन वहुत सस्ते होते है। यह अवश्य है कि मूल्य कम होते है पर साथ ही उत्पादन-व्यय तो वहुत ही कम हो जाता है। कभी-कभी तो उत्पादन-व्यय व लागतो में इतनी कमी हो जाती है कि लाभ का भाग उभर आता है और फलस्वरूप उद्यमी अपने प्रतियोगियो को पीछे हटाने के लिये अपने व्यवसाय में हर प्रकार की उन्नति करने का प्रयत्न करता है। रचनात्मक उद्योगो की उन्नति होती है और बेकार व्यक्ति उनमें खप जाते है। यह श्रमिक इस प्रकार मिली हुई अपनी नयी क्रय-शक्ति का उपयोग उपभोक्ताओ की वस्तुए खरीदने मे करते हैं, जिससे उद्योग को बढने का अवसर मिलता है। मदी में इन तमाम परिवर्तनो से व्यापार की दशा ही बदलने लगती है और उन्नति के लक्षण प्रकट होने लगते है।

यह उन्नति उत्तरोत्तर बढने लगती है और उद्योगो में वृद्धि होने लगती है। एक उद्योग दूसरे उद्योग को सहारा देता है। माग की वृद्धि से कीमते बढने लगती है। व्यापारी की आय आशातीत रूप से बढ जाती है, जबकि मजदूरी, व्याज व अन्य व्यय नीचे स्तर पर रहते है। लाभ वढ जाते है। बैंक अग्रिम देना आरम्भ कर देते है और इस प्रकार उधार व साख-प्रणाली बढ जाती है। व्यावसायिक लोग अधिकाधिक विनियोजन करना चाहते है। हर व्यक्ति अधिक से अधिक रुपया बनाने का प्रयत्न करता है। इस काल को समृद्धि काल कहते है, और मदी की भाति यह भी कई वर्षों तक चल सकता है।

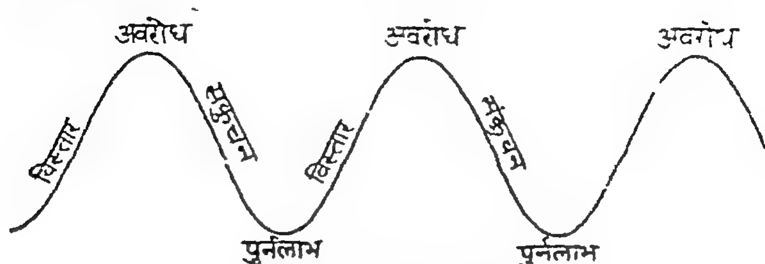
पर जिस प्रकार से मदी के वाद तेजी आती है इसी प्रकार तेजी की परिस्थितियो में भी कुछ समय वाद अडचनें आने लगती है। क्योकि सव प्रकार के लोग उद्योग में लग जाते है, इसलिए घटिया किस्म के श्रमिक काम पर लग जाते है। परिणाम यह होता है कि कम योग्य व्यक्ति भी अधिक वेतन पाने लगते है। व्याज व अन्य वस्तुओ की दरें भी बढ जाती है। फलस्वरूप व्यय बढ जाते है, जिससे लाभ का भाग कम होने लगता है। वेक अग्रिम देने में आनाकानी करने लगते है और अन्तत यह होता है कि समृद्धि का काल समाप्त हो जाता है।

फिर चक्र नीचे की ओर घूमता है। लाभ कम हो जाने से चतुर व्यापारी अपन व्यवसाय मे छँटनी करना प्रारम्भ कर देते है। सरकार नियत्रण लगाती है, बैंक भुगतान पर जोर देते है, चारो ओर जमा की हुई वस्तुओ को निकालने की भावना जोर पकड जाती है। मदी के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते है, बहुत से उद्योगी तो दिवालिए हो जाते है। व्यवसाय में चारो ओर अधकार दिखाई पडने लगता है। व्यापार-चक्र के इस पहलू को सकट-काल कहते है।

सकट-काल उद्योगो के लिये सवसे अधिक मुसीवत का समय होता है। पर समय के साथ वे अपनी कठिनाइयो को पार कर लेते है। किसी प्रकार वह अपने भुगतानो को निपटाकर अपना व्यवसाय चलाते है। यह मदी का समय होता है। लार्ड ओवरस्टोन ने व्यापार-चक्र की गति का वर्णन इस प्रकार किया है--"स्थिरता का समय--उन्नति--विश्वास-काल समृद्धि---उत्तेजना---अत्यधिक व्यापार--धक्का--निराशा--कठिनाई अथवा

मदी और अन्त में फिर स्थिरता।"[1]

मिचेल (Mitchell) के शब्दों के अनुसार हम व्यापार-चक्र के चार रूप बतला सकते हैं---अर्थात् विस्तार (ऊपर की ओर गति), अवरोध, संकुचन (नीचे की ओर गति) तथा पुनर्लाभ। इसको हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं।



रेखाचित्र न० ७४

३ व्यापार-चक्र की विशेषताएं (Characteristics of a Trade Cycle)---व्यापार-चक्र के अध्ययन से दो विशेषताओं का पता चलता है (१) इसका चक्रात्मक रूप (cyclic nature) अर्थात् आवधिकता (periodicity) और (२) इसकी सामान्य प्रकृति (general nature), अर्थात् समरूपता (synchronism)।

यह देखा गया है कि व्यापार-चक्र लगभग निश्चित समय के उपरान्त प्रकट होते रहते हैं। यह व्यापार-चक्र जिस नियन्त्रित रूप से प्रकट होते हैं, उससे हम इस अवधि की निश्चितता का पता लगा सकते हैं। लोगों का विचार है कि लगभग सात तथा दस वर्षों में व्यापार-चक्र पूरा हो लेता है। इसके विषय में किसी निश्चित अवधि को स्थिर नहीं किया जा सकता। पर यह अवश्य है कि जिस प्रकार रात के पश्चात् दिन होता है, इसी प्रकार मदी के बाद तेजी का होना आवश्यक है। व्यापारियों की अन्तर्दृष्टि इतनी तीव्र हो जाती है कि उनको यह पता चल जाता है कि किस समय मदी अथवा तेजी होगी। इससे हम वर्तमान काल में व्यापार की नियमित गति का अनुमान लगा सकते हैं।

व्यापार-चक्र की दूसरी विशेषता यह है कि यह सर्वव्यापक होता है। व्यापारिक विश्व एक सम्पूर्ण आर्थिक इकाई है, जिसमें किसी भाग पर धक्का लगने से सम्पूर्ण व्यवसाय को झटका लगता है। यदि किसी एक उद्योग में बुराइयां उत्पन्न हो जायें तो वह सारे उद्योग, जिनका उससे सम्बन्ध है, प्रभावित होंगे। इस प्रकार मदी एक उद्योग से दूसरे उद्योग में फैलती है। व्यवसाय जगत् में किसी एक उद्योग के बन्द होने से अन्य बहुत से उद्योग बन्द होने लगते हैं, निराशावादी भावनाओं में छूत का प्रभाव होता है और इसलिए बहुत कम व्यवसाय ऐसे हैं, जो मदी अथवा तेजी की परिस्थितियों से अछूते रह सकें। ऐसा समय आता है जबकि सारे देश में उद्योग तथा व्यावसायिक संस्थाएं निमग्न हो जाती हैं। इस बात से बहुत कम संस्थाएं बच पाती हैं। 'अमरीकन

---

1 Quoted by Marshall in Money, Credit and Commerce, p 245.

इकानामिक्म अमोसियेशन' के अनुसार व्यापार-चक्र के सावारण लक्षण इस प्रकार है–

(i) कृषि को छोडकर कीमत तथा उत्पादन की गति एक ही ओर को होती है।

(ii) उत्पादक तथा स्थायी वस्तुओ के कुल व्यय मे उपभोग तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ के कुल व्यय से अधिक परिवर्तन होता है। अतएव उन उद्योगो में, जो उत्पादक वस्तुओ तथा स्थायी वस्तुओ का उत्पादन करते हैं, अधिक तेजी से घटाव-बढ़ाव होते हैं।

(iii) व्यावसायिक आविष्कार पर प्रचलित व्यय कुल बिक्री से अधिक प्रतिशत दर से घटते अथवा बढते हैं।

(iv) द्रव्य (मुद्रा तथा साख द्रव्य) की मात्रा तथा चलन-वेग कुल उत्पादन तथा व्यवसाय के परिवर्तन के माथ प्रत्यक्ष रूप में बदलता है।

(v) निर्मित वस्तुओ की कीमतें सापेक्ष रूप म दृढ होती है जबकि कृषि उत्पादित वस्तुओ की कीमतें दृढ नही होती।

(vi) लाभ में दूसरे साधनो की आय की अपेक्षा अधिक घटाव-बढाव होता है।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्त

(Theories of Trade Cycles)

४ जलवायु-सम्बन्धी सिद्धान्त (Climatic Theory)––कुछ अर्थशास्त्रियो ने व्यापार-चक्र के कारण भौगोलिक बताए हैं। उनका विश्वास है कि जलवायु की परिस्थितियो के कारण ही व्यापार-चक्र उत्पन्न होते हैं। भारत में यह विश्वास है कि मानसून अच्छी और बुरी वर्षा के चक्र के अनुसार होती है। जलवायु का प्रभाव फसल पर पडता है और परिणाम यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति प्रभावित होती रहती है।

अच्छी फसल के उपरान्त बुरी फसल का समय आता है और फलस्वरूप तेजी और मंदी एक दूसरे के बाद आते रहते है। किसी देश मे यदि फसल खराब हो जाती है तो उसका प्रभाव संसार के अन्य देशो पर भी पडता है। यही नही कि कच्चे माल की केवल पूर्ति ही प्रभावित होती है, वरन् उत्पादको की भी क्रय-शक्ति कम हो जाती है, जिसका प्रभाव उस देश की अथवा दूसरे देश की बनी वस्तुओ की माग पर बुरा पडता है। यदि भारत में फसल खराब होने के कारण अकाल पड जाय तो बहुत सम्भव है कि जापान की कुछ सूती कपडो की मिलें बन्द हो जायें। इससे यह स्पष्ट है कि जलवायु का प्रभाव व्यापार-चक्र पर बहुत होता है।

जलवायु सिद्धात के समर्थको का विचार है कि जलवायु में परिवर्तन नियमित रूप में होते हैं, इसलिए, वे केवल इस सकट के होने की ही व्याख्या नही करना चाहते, प्रत्युत उसके पुन होने की भी। इसके लिये प्रमाण बहुत दुर्लभ है। इस प्रकार के सिद्धान्त के लिए कोई वैज्ञानिक आधार भी नही जान पडता। यह केवल कल्पना का विषय है।

इस सम्बन्ध में एक अग्रगामी सिद्धात बहुत ही प्रसिद्ध है, वह है जेवन्स का सूर्य-

विन्दु सिद्धांत (Sunspot theory)। प्रोफेसर जेवन्स का कहना है कि सूर्य पर नियमित रूप से कुछ विन्दु या धब्बे प्रकट हुआ करते है, जिनसे सूर्य की गर्मी पर बहुत प्रभाव पडता है और जो बदले मे वर्षा और फसल को प्रभावित करते है। इसके बाद फसल और उद्योग का सामान्य सम्बन्ध आता है, और मन्दी फैल जाती है। जलवायु के दूसरे सिद्धान्तों की भाँति जेवन्स का सिद्धान्त भी संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है।

हम केवल इतना ही कह सकते है कि जलवायु का प्रभाव व्यवसाय और उद्योग पर पडता तो अवश्य है किन्तु भौगोलिक अंग मे हमें व्यापार-चक्र के चक्रमय स्वरूप की पूर्ण एवं संतोषजनक व्याख्या नही मिलती। संसार मे कृषि का क्षेत्र इतना विस्तृत है और जलवायु की परिस्थितियां इतनी भिन्न है कि स्थानीय भिन्नताओं का केवल स्थानीय प्रभाव ही दिखाई पडता है।

५. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—लोगों का विश्वास है कि बाह्य कारणों से संकटकाल नही पैदा होते। इसलिए बहुत से लोग इस बात का समर्थन करते है कि व्यापार-चक्र मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होते है।

इस सिद्धांत के समर्थकों का यह कहना है कि अधिकतर व्यवसाय चतुर दूरदर्शिता पर निर्भर करता है और व्यापारिक लोग सदैव निराशा अथवा आशा की लहर से प्रभावित हुआ करते है। "वह तो स्वत उत्पन्न की हुई भूलों का समूह है।" आशा और निराशा दोनों ही इनकी बीमारियां है। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार यह विचार गलत है कि व्यक्तियों के मस्तिष्क अलग-अलग दिशाओं मे काम करते है। मनुष्यों मे सामूहिक प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिए उनकी मनोवृत्ति समूह के अनुसार चलने की होती है। व्यापारिक मन्दी का विस्तृत रूप से कारण मनुष्यों में पाई जाने वाली यही समूह मनोवृत्ति है।

कभी-कभी मनुष्य जोखिम लेकर व्यापार को विस्तार देने के लिये तैयार होते है किन्तु ऐसे समय भी आते है कि जब वह असफलता के भय से किसी प्रकार का जोखिम उठाना पसन्द नही करते। जब कोई व्यवसायी किसी सौदे मे हानि उठाता है, तो वह केवल रुपये की ही हानि नही उठाता वरन् वह हीन मनोवृत्ति वाला हो जाता है, जिस का और भी बुरा प्रभाव उसके व्यापार पर पडता है। किन्तु जब उसे लाभ होता है तो वह सोचता है कि व्यापार मे उत्कर्ष ही उत्कर्ष है, और बहुत से दूसरे लोग भी इसी विचार के भागीदार होते है, और अधिकाधिक लाभ करते है।

इसमे सन्देह नहीं कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में सचाई का अंश है। पर इस सिद्धान्त मे इस बात का कोई उत्तर नही मिलता कि मन्दी का आरम्भ किस प्रकार होता है और मंदी के बाद तेजी किस प्रकार आती है। मनोवैज्ञानिक सिद्धांत द्वारा व्यापार की इन 'जटिलताओं' की सन्तोषजनक व्याख्या नही होती, यद्यपि यह इस बात की सही-सही व्याख्या कर सकता है कि कैसे यह प्रवृत्ति ऊपर की ओर उठती है अथवा नीचे की ओर जाती है। यह वास्तविकता है कि व्यापार बहुधा अच्छी तरह चलता रहता है, चाहे भले ही व्यापार की समृद्धि करने वाले उद्दिष्ट हेतुओं का लोप हो जाय। इसी प्रकार, यह गिरता भी जारी रहता है, चाहे भले ही पतन करने वाले अंगों की

विद्यमानता न रहे। इसका विश्लेषण मानव की मनोदशा में निहित है।

६ द्रव्य-विषयक सिद्धान्त (Monetary Theory)—ऐसे भी लेखक है जो यह यकीन नही करते कि व्यापार-चक्र जलवायु के अशो पर निर्भर करते है अथवा मानव-प्रकृति की भिन्नताओ पर निर्भर करते है। वह वित्त सस्थाओ पर ही पूर्ण दोष डाल देते है अर्थात् बैंकिंग और साख-प्रणाली पर। आर० जी० हाट्रे इस सिद्धात पर दृढ विश्वास रखते थे। उनके अनुसार द्रव्य के बहाव में परिवर्तन पूर्ण रूप से व्यापारिक क्रियाओ को निश्चित करते है। इसके अतिरिक्त वे परिवर्तनशील पुनर्लाभ तथा मदी के समय लाते है। ऐसे मुद्राहीन कारण जैसे अनावृष्टि, बाढ, भूकम्प, सग्राम, हड़ताल, कुछ उद्योगो का विस्तार आदि केवल अपूर्ण मदी ला सकते है। इस सिद्धान्त के समर्थको का कहना है कि अधिकतर व्यवसाय उधार लिये धन से होता है।

उन्नत व्यापार की स्थितियो में बैंक उधार की खूब सुविधाये प्रदान करते है। यदि उधार की समुचित सुविधायें प्राप्त हुई तो व्यापारी हर प्रकार के जोखिम लेकर अपने व्यापार का निरन्तर विस्तार करता रहता है। इस कारण साख का बहुत बडा ढाचा खडा कर लिया जाता है, जिसको स्थिर रखने के लिए सस्ते द्रव्य का प्रचलन आवश्यक है। किन्तु हर देश में एक समय आता है, जब बैंक यह समझने लगता है कि और अधिक उधार देना ठीक नही होगा। ऐसे अवसरो पर वह और अधिक उधार देना बन्द कर देता है और पूर्वंत दी हुई पेशगियो को लौटाने की माँग शुरू कर देता है। उधार की सुविधाओ के इस प्रकार एकाएक समाप्त हो जाने से व्यवसाय को बडा धक्का लगता है।

व्यापारी वर्ग सदैव बैंक से प्राप्त सुविधाओ पर निर्भर रहता है। इससे बाजार मे मदी आ जाती है और जमा की हुई वस्तुओ को व्यापारियो की ओर से निकालने का प्रयत्न होता है। उन परिस्थितियो में आर्थिक दृष्टि से कमजोर काम बन्द होने लगते है। यही नही, बहुत सी बडी-बडी फर्में भी समय पर आर्थिक सहायता न मिलने के कारण बन्द हो जाती है।

इसका कारण सिर्फ यह है कि कभी-कभी बैंक इतनी सरलता से उधार देते है कि बाद में फर्मो को कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यह बैंक सट्टेबाजो को भी वित्तीय सुविधायें देते है, पर जब सकट आता है तो यह बैंक सट्टेबाजो को किसी प्रकार की सहायता करने से इन्कार कर देते है। सकटकाल में यदि बैंक थोडा भी सहायतापूर्ण रुख अख्तियार करें तो आर्थिक सकट से व्यापार की रक्षा की जा सकती है। परन्तु उन परिस्थितियो मे बैंक का प्रभाव अनुदार रहता है। अधिकाधिक फर्में दिवालिया होती चली जाती है। परिणाम यह होता है कि व्यापारिक सकट आर्थिक सकट का रूप धारण कर लेता है।

इससे इन्कार नही किया जा सकता कि व्यापारिक क्षेत्र में बैंको का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना कि सकट का निर्माण बैंक करता है, एक निर्दय आक्षेप के सिवाय और कुछ नही है। इनमे बैंक सकट को अधिक भयकर बना देते है। पहले तो वह खूब उधार देकर समृद्धि का निर्माण करते है और फिर उधार की सारी सुविधाए बन्द करके

मन्दी का समय लाते हैं। किन्तु मन्दी या तेजी का जन्म बैंकों के कारण नहीं होता। इसके अतिरिक्त नवीन मन्दी जैसी विश्व घटना को एक देश में नितान्त बैंकों पर ही नहीं डाला जा सकता। इसलिए यह कहना कि केवल द्रव्य की प्रणाली से ही व्यापार-चक्र पैदा होते हैं, ठीक नहीं।

७ प्रतियोगिता सिद्धान्त अथवा आधिक्य-उत्पादन सिद्धान्त (Competition Theory or Over-Production Theory)—कुछ लोगों का विश्वास है कि पूंजीवादी परिस्थितियों में प्रतियोगी शक्तियों के कारण व्यापार-चक्र उत्पन्न होते हैं। प्रतियोगिता दो प्रकार से व्यापार-चक्र पैदा करती है, (१) इसमें अत्यधिक उत्पादन हो जाता है, जिसे चैपमैन सकारात्मक पहलू (positive aspects) कहता है, (२) इसमें उत्पादन की लागतों में वृद्धि होती है, नकारात्मक पहलू (negative aspects)।

प्रतियोगिता की दशा में अत्यधिक उत्पादन हो जाता है, क्योंकि हर व्यवसाय में प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या अत्यधिक हो जाती है और प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी अधिकाधिक उत्पादन करके बाजार में जमने का प्रयत्न करता है। यही नहीं, ऐसी दशा में बहुत-सी नई फर्मों का भी जन्म होता है। ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि बाजार भर जाय और कीमतें गिरने लगें।

इसके विपरीत इन सब बातों का सामूहिक प्रभाव यह होता है कि लागतें बढ़ जाती हैं। उद्यमी उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न में अधिकाधिक उत्पादन के साधनों की माँग करते हैं। फलस्वरूप साधनों की कीमत बढ़ जाती है और इस प्रकार व्यय बढ़ जाता है। हम यह देख ही चुके हैं कि प्रतियोगिता में वस्तुओं की कीमतें गिर जाती हैं। इसलिए उद्यमियों का लाभ समाप्त हो जाता है।

फलस्वरूप छोटी-छोटी फर्में समाप्त हो जाती हैं जिससे चीजों की कीमतें कम होकर बढ़ने लगती हैं। मन्दी के दिनों में कीमतें गिर जाती हैं और परिस्थितियाँ आरोग्य के अनुकूल हो जाती हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रतियोगिता व्यापार की चक्रात्मक प्रगति होती है। चैपमैन के शब्दों में "जिस प्रकार हवा से समुद्र का पानी उठने लगता है, उसी प्रकार व्यवसाय में भी प्रतियोगिता की शक्तियों से व्यवसाय में समृद्धि आती है और जिस प्रकार पृथ्वी का आकर्षण हवा के प्रभाव को समुद्र पर कम कर देता है, उसी प्रकार प्रतियोगिता की प्रतिकूल शक्तियाँ मंदी उत्पन्न करती हैं। सारांश यह कि आर्थिक क्षेत्र में भी समुद्र की भाँति अच्छे व बुरे समय की लहरें आती हैं।" समाजवादियों का कहना है कि सारे संकट प्रतियोगी पूंजीवाद की देन हैं और जब तक संसार में पूंजीवाद रहेगा, संकट समाप्त नहीं हो सकेगा।

किंतु प्रतियोगिता से इसका कोई उत्तर नहीं मिलता कि ऐसे संकट निश्चित समय के भीतर क्यों आते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतियोगिता से अनावश्यक उत्पादन हो जाता है और परिणामस्वरूप मंदी पैदा हो जाती है, पर यह मंदी कितने समय तक रहती है और व्यापार-चक्र पूर्ण होने में कितना समय लगता है, इसका कोई समुचित उत्तर प्रतियोगिता सिद्धान्त से नहीं मिलता। एक बात और भी है, जो समझ में नहीं

आती और वह यह कि इस प्रकार की मदी अथवा तेजी के काल एक ही समय में सब प्रकार के व्यवसायो में कैसे प्रकट हो सकते ह। प्रतियोगिता द्वारा इसका कोई समुचित स्पष्टीकरण नही मिलता।

८ अतिरिक्त बचत अथवा कम उपभोग सम्बन्धी सिद्धान्त (Over-Saving or Under-Consumption)—समाजवादियो ने व्यवसाय-चक्र के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त की स्थापना की है। वह लोग इसे अतिरिक्त बचत अथवा कम उपभोग का सिद्धान्त कहते है। सर्वप्रथम इसको जे ए हौबसन ने प्रतिपादित किया है और मेजर डगलस ने उसे विस्तृत किया। इन लोगो का कहना है कि अमीरो और गरीबो की आय में अत्यधिक अतर होता है, जो समय के साथ बढ़ता ही चला जाता है। अमीर अपनी सारी आय खर्च नही कर सकते और परिणामस्वरूप बचत होती रहती है। अपनी इस बचत को वह उद्योग मे लगाते रहते है, जिससे उत्पादन में वृद्धि होती रहती है। किन्तु श्रमिक वर्ग, जो अधिकतर उपभोक्ता होते है, उद्यमियो की अपेक्षा कम आय पाते है। उत्पादन में तो वृद्धि होती रहती है किन्तु उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति मे उतनी वृद्धि नही होती। इस प्रकार माग और पूर्ति के मध्य एक प्रकार की असमता स्थापित हो जाती है, और यहा तक कि मूल्य बहुत अधिक गिर कर मदी की स्थिति उत्पन्न कर देते है।

सकट को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति उत्पादन व्यय के बराबर हो। किन्तु होता यह है कि उत्पादन व्यय उपभोक्ता तक पहुच ही नही सकता, क्योकि उत्पादक कम्पनी सम्पूर्ण लाभ को हिस्सेदारो मे बाटने के बजाय लाभ के बहुत बडे भाग को रिजर्व के रूप में अलग कर देती है। इस प्रकार उपभोक्ताओ को लागत की तुलना मे क्रय-शक्ति प्राप्त नही होती। यह अवश्य है कि जैसे-जैसे पूजी का सचय होता है, व्याज की दरे कम होती जाती है किन्तु सकट टालने के लिये यह कमी पर्याप्त नही होती।

समाजवादियो की दलील बहुत कुछ मान्य है, परन्तु यह सकट का केवल पक्षपातपूर्ण उत्तर है। इस दलील में एक गलती है। यदि क्रय-शक्ति को सचय न किया जाय तो वह उपभोक्ता तक अवश्य पहुचेगी। किन्तु बचत और सचय मे अन्तर है। बचत विनियोजन को कहते है और ऐसा होने पर यह क्रय-शक्ति का कुछ लोगो से दूसरो में परिवर्तन कर देती है और फिर केवल पूजी की वृद्धि ही व्यापार मे समृद्धि नही ला सकती। जब तक लाभ की आशा नहीं होती, उद्यमी अपनी पूजी बैको से नही निकालते। इसके बाद पुन पूजी के अधिक सचित हो जाने से व्याज की दरें कम हो जाती है और इस प्रकार लागतें न्यून होती है। जब तक कीमतो की अपेक्षा लागतें कम रहती है, तब तक मदी आ ही नही सकती। यह सच है कि पूजीवादी व्यवस्था में उत्पादको की सचय-शक्ति उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति की अपेक्षा अधिक तेजी मे बढती है। अमीर अधिक अमीर होने लगते है और गरीब अधिक गरीब। अमीरो द्वारा निर्मित बाजार में उपभोक्ताओ की सख्या अधिकतर गरीबो की होती है और गरीब होने के कारण वह सब वस्तुओ का क्रय नही कर सकते। परिणामस्वरूप सकट पैदा हो जाता है।

९. कीन्स का विचार (Keynes' View)—स्वर्गीय कीन्स का विश्वास था कि व्यापार में किसी प्रकार की मंदी बचत और विनियोजन की असमता के कारण होती है। किसी वस्तु के उत्पादन का व्यय उस आय को प्रकट करता है, जिन्होंने उस वस्तु के उत्पादन में भिन्न साधनों द्वारा लाभ प्राप्त किया है। सब वस्तुओं और सेवाओं के संयोजित उत्पादन-व्यय समाज के विभिन्न सदस्यों की आय प्रकट करते हैं। इस आय में से एक भाग वस्तुओं और सेवाओं के क्रय में लगा दिया जाता है और शेष भाग बच जाता है। यदि इस बचत का विनियोजन कर दिया जाय तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं की माँग बढ़ जायेगी। पर इसका यदि संचय किया जाय तो समाज की क्रय-शक्ति क्षीण हो जायगी और उत्पादित वस्तुएं अधिक लाभ से नहीं बेची जा सकेंगी। परिणामस्वरूप व्यवसाय में मंदी आ जायेगी। दूसरी ओर यदि बचत से विनियोजन अधिक होता है, तो बैंकों द्वारा साख की सुविधायें अधिक होने से कीमत बढ़ जाने के कारण व्यापार में समृद्धि आ जायेगी। इस प्रकार बचत और विनियोजन की असमता के कारण मंदी अथवा तेजी होती है। जब भी बचत बढ़ जाती है, तो ब्याज की दरें गिरने लगती हैं और विनियोजन को प्रेरणा मिलती है और इस प्रकार विनियोजन और बचत में संतुलन रहता है। दोनों में असमता होने से व्यापार अस्त-व्यस्त हो जायगा।

पर ब्याज की दर में कमी हो जाने मात्र से विनियोजन में वृद्धि नहीं हो जाती। उद्यमियों के लिये ब्याज की दर ही मुख्य विचार नहीं। उन्हें व्यापार की दशा का भी ध्यान अधिक रहता है। बेनहम के शब्दों में "उद्यमी केवल उसी दशा में अपने व्यवसाय का विस्तार करते हैं अथवा नये व्यवसाय प्रारम्भ करते हैं जब कि उन्हें यह आशा होती है कि उनकी वस्तुओं की माँग बढ़ जायेगी अथवा उत्पादन-व्यय इतना कम हो जायेगा कि वह अपनी वस्तु पहले की अपेक्षा कम दाम पर लाभ से बेच सकेंगे।" ब्याज की नीची दर उद्यमी को उधार लेने के लिए प्रेरणा नहीं देती। "आप घोड़े को पानी के पास ले जाकर भी उसे पानी पीने के लिये मजबूर नहीं कर सकते।" प्रोफेसर कीन्स का सिद्धांत व्यापार-चक्र की आवधिकता पर कोई प्रकाश नहीं डालता। पर इसके यह अर्थ नहीं कि विनियोजन में उतार-चढ़ाव[1] का व्यापारिक दशाओं के परिवर्तनों से कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं।

१० गुणक-सम्बन्धी विचार—(The Concept of the Multiplier)—व्यापारिक उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध में दो प्रकार के गुणकों का वर्णन हुआ है—विनियोजन गुणक (Investment Multiplier) और नियोजन गुणक (Employment Multiplier)।

विनियोजन गुणक (Investment Multiplier) का मत सर्वप्रथम

---

१. विनियोजन सम्पूर्ण अथवा शुद्ध हो सकता है। यह सम्पूर्ण विनियोजन निर्माता की वस्तुओं के उत्पादन और रक्षा पर व्यय हुई सम्पूर्ण राशि है। यदि आप इसमें से केवल पूंजी को स्थिर रखने के लिए व्यय (अर्थात् मरम्मत; और अवक्षयण के व्यय) की राशि को घटा दें, तो शेष शुद्ध विनियोजन रह जायेगा।

प्रोफेसर कीन्स ने प्रकट किया। प्रोफेसर कीन्स ने सम्पूर्ण विनियोजन व राष्ट्रीय आय में अनुपात की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। जब विनियोजन बढ जाता है तो उत्पादन-योग्यता में भी वृद्धि होती है और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। विनियोजन की वृद्धि और राष्ट्रीय आय की वृद्धि के अनुपात को विनियोजन गुणक कहते हैं। यह अनुपात समयानुसार बदलता रहता है। यह व्यापार की कार्य-कुशलता में उन्नति और उत्पादन-साधनो की क्षमता में वृद्धि अथवा साख, बैंकिंग और सचार तथा परिवहन के साधनो में प्रगति के साथ परिवर्तनशील होता है। यदि यह अनुपात अथवा विनियोजन गुणक 'अ' कहलाता है, तो सम्पूर्ण विनियोजन मे होने वाली वृद्धि आय में वृद्धि का कारण होगी, जो विनियोजन की 'अ' गुणा वृद्धि है।[1]

नियोजन गुणक (Employment Multiplier) का सम्बन्ध आर० एफ० काहन (R F Kahn) के नाम से है।[2] "नियोजन गुणक पूर्ण नियोजन की वृद्धि के अनुपात व प्रारम्भिक नियोजन की निश्चित वृद्धि के अनुपात को नापता है।" जब उद्योगी नवीन यत्र और मशीनो का क्रय करना प्रारम्भ करते हैं तो बहुमूल्य वस्तुओ का निर्माण करने वाले उद्योग उन्नत होगे। ऐसे उद्योगो में विनियोजित राशि प्रारम्भिक विनियोजन कहलाती है। इस प्रकार के विनियोजन से उन लोगो के विनियोजन की उत्पत्ति होती है, जो मशीनो के निर्माण में लगे होते हैं इस प्रकार के नियोजन को प्रारम्भिक नियोजन कहते हैं और जब मशीनें तैयार होकर बिक जाती हैं, तब उनका प्रयोग उपभोक्ताओ की वस्तुओ के निर्माण में किया जाता है। जब उत्पादन आरम्भ होता है तो नियोजन अधिक होगा। सम्भव है यह प्रारम्भिक विनियोजन तुरन्त न हो सके, क्योंकि प्रारम्भिक नियोजन और उपभोक्ताओं की वस्तुओ के उद्योगो के नियोजन के बीच सदैव कुछ समय का अन्तर होता है। प्रारम्भिक नियोजन की वृद्धि से पूर्ण नियोजन में भी वृद्धि हो जाती है और इन दोनो वृद्धियो के बीच के अनुपात को **नियोजन गुणक** कहते हैं।

गतिवर्धन नियम (Acceleration Principle)[3] —यह कहावत कि कभी-कभी हम को रुकने के लिए चलते जाना पडता है, आर्थिक ससार में जो गतियुक्त होता है, पूर्ण रूप से सत्य होता है। आर्थिक ससार में हमको वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के लिए तेजी से आगे बढना पडता है। यदि आर्थिक पद्धति को अपना कार्य बिना किसी रुकावट के कुशलतापूर्वक करना है तो विनियोजन माग को व्यापार, आय तथा बिक्री के क्रमागति फैलाव से ऊचा रखना होगा। इसी को **गतिवर्धन नियम** कहते हैं। जब आय तथा बिक्री बढ जाती है तो उससे जो समृद्धि होती है वह विनियोजन को बढाती है। विनियोजन को लाभदायक बनाये रखने के लिए बिक्री को तीव्र गति से

1 Brij Narain—Principles of Economics, 1945, p 266.

2. Ibid—pp 287

3. See Samuelson, P A —Economics, 1948, pp 405-407.

बढाना पडता है । उपभोग, आय तथा बिक्री के परिवर्तन का विनियोजन पर तीव्र गति से प्रभाव पडता है । इसी कारण से इसे गतिवर्धन अथवा तीव्र गति का नियम कहते हैं । यह नियम दोनो स्थितियो को काटता है । यदि आय तथा बिक्री का तीव्र गति से बढना बन्द हो जाता है तो व्यापार में कमी हो जायेगी । पूजी का विनियोजन शीघ्र ही समाप्त हो जायगा, क्योकि विनियोजन लाभदायक न होगा । यह याद रखना चाहिये कि यदि बिक्री में कोई कमी नही है तो भी मन्दी आ सकती है। ऐसा इसलिये है क्योंकि बिक्री मे बढती हुई वृद्धि वर्तमान उत्पादन तथा व्यवसाय को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। अत व्यापार-चक्र की नीचे की ओर चाल प्रारम्भ हो जायेगी चाहे बिक्री उतनी ही ऊँची रहे अथवा कम दर से बढे । गतिवर्धन नियम विनियोजन को प्रोत्साहित करता है ।

गतिवर्धन नियम का प्रयोग प्रो० जे० आर० हिक्स ने अपने व्यापार-चक्र के सिद्धात में किया है । परन्तु बहुत से अर्थशास्त्री इसको विश्लेषण के लिए एक अपरिपक्व तथा बडा अयोग्य औजार समझते हैं । इस नियम के अनुसार उत्पादन तथा पूजी का अनुपात किसी विशेष कारण से निश्चित होता है और इसीलिए इसमें अल्पकाल में कोई विशेष परिवर्तन नही होता । परन्तु यह अनुपात व्यापार-चक्र के साथ-साथ बराबर बदलता रहता है ।

११. डाक्टर हेयक का सिद्धान्त (Dr Hayek's Theory)—डाक्टर हेयक ने संकट का सारा दोष कृत्रिम रूप में अत्यल्प दर पर दी गई अत्यधिक साख पर रखा है । यह अल्प दर प्राकृतिक नही होती, क्योकि चालू बचतो में से आने वाली पूजी की वास्तविक पूर्ति से इसका कोई सम्बन्ध नही होता ।

जब स्वेच्छापूर्वक बचतें ही केवल पूजी की पूर्ति का स्रोत हैं, तो उचित सीमाओ से परे ऋण लेना सभव नही होगा, क्योकि साख के विस्तार पर रोक लगाने के लिए ब्याज की दर तेजी के साथ बढेगी। उत्पादन और खपत के बीच एक सतुलन को अधिक या कम रखा जायेगा ।

किन्तु बाध्य बचतो की अवस्था में साम्य बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो जाता है अर्थात् मुद्रा स्फीति द्वारा। चूकि साख का विस्तार बैंको की निजी इच्छा पर निर्भर करता है, इसलिए वह उन दरो की अपेक्षा अल्प दर पर उधार दे सकते है जो कि उस समय ली गई होती जब कि उन्हे स्वेच्छा बचतो पर निर्भर करना होता । सस्ती मुद्रा कीमतो को बढाती है। द्रव्य की अतिरिक्त पूर्ति उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो की ओर बढती है । उत्पादन की विधि "लम्बी" हो जाती है अथवा उत्पादन अधिकाधिक चक्करदार अथवा पूजीवादी हो जाता है । यह नया द्रव्य अन्तत उत्पादन के साधनो के भुगतानो द्वारा अन्तिम उपभोक्ताओ तक पहुँचता है। उपभोक्ताओ की वस्तुओ की कीमतें भी ऊँची हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप साधनो का उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्थाओ से अन्तिम अवस्थाओ की दिशा में परिवर्तन होता है । प्रारम्भिक अवस्था को साख के अधिक विस्तार द्वारा स्थिर रखा जा सकता था। किन्तु बैंक, निजी रक्षा के चिन्तित और केवल आत्मरक्षा के कारण, अधिक उधार देने से इन्कार

कर देते है और तव सकट उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्थाओ में वहा स्थिरता होती है। इस सकट से वचा जा सकता था, वशर्ते कि उत्पादन विधि को उपभोक्ता वस्तुओ की माग में वृद्धि प्रकट होने के समय के साथ ही पूर्ण कर दिया जाना, किन्तु यह सभव नही है। जव साधनो को चुकाये गये पारिश्रमिक से उनकी क्रय शक्ति वढ जाती है, तब भी उत्पादन जारी रहता है।

यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि समाज के साधन सीमित है। एक उद्देश्य केवल दूसरे के त्याग पर हो प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन के एक चरण को केवल तभी विस्तार दिया जा सकता है, जब कि दूसरे में छँटनी की जाय। जब उपभोक्ता वस्तुओ की वृद्धि पूर्ण माग के प्रत्युत्तर में अन्तिम चरण का विस्तार हो जाता है तो उस समय उन साधनो को प्रारम्भिक चरणो से हटा लेना चाहिए। नि सदेह, विशिष्ट साधनो को हटाया नही जा सकता, अस्तु, उन्हें वेकार रहना होगा, क्योकि विशिष्टताहीन उन साधनो को तो हटाया जा चुका होता है जिनके साथ वह काम कर सकते थे। उत्पादन के प्रारम्भिक चरण उखड जाते है और अलाभकर बन जाते है, क्योकि वेंक ऋण लेने वालो से पिंड छुडाने के लिए अत्यधिक ऊँची दरें वसूल करने लग जाते है। डाक्टर हेयक का विश्वास है कि इस सब अव्यवस्था का कारण वह ऋण है, जो उद्यमो को उचित सीमाओं का उल्लघन करके व्यापार स्थापित करने की प्रेरणा करते है।

डाक्टर हेयक ने अपने सिद्धान्त में यह मान लिया है कि बचत और विनियोजन में समता होती है, जो कि वैंको की नीति से अव्यवस्थित हो जाती है। परन्तु यह मान लेना ठीक नही है। हम देख चुके है कि प्रोफेसर कीन्स का सिद्धान्त इस सत्य पर निर्भर है कि बचत व विनियोजन में असमता होती है। इस सिद्धान्त में यह भी मान लिया गया है कि सब साधनो का पूर्ण नियोजन किया जाता है और उधार के कारण उत्पादन की कुछ प्रणालियो का दूसरी प्रणालियो की ओर परिवर्तन हो जाता हैं और इससे अव्यवस्था उत्पन्न होती है। किन्तु सचाई तो यह है कि सब साधनो का पूर्ण प्रयोग तो शायद ही कभी होता हो। अत्यधिक व्यस्त व्यापार के दिनो में भी कुछ न कुछ बेकारी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पादन बिना किसी दूसरे चरण को अव्यवस्थित किये भी किसी एक चरण में विस्तृत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धात के अनुसार उपभोक्ताओ की माग बढने के साथ-साथ उत्पादक वस्तुओ के निर्माण की माग नही बढती, यह बात सर्वथा असत्य है। अन्तत इस सिद्धान्त के अनुसार यह जान पडता है कि साख उत्पन्न करना सदैव हानिकारक है। नि सदेह साख के आधिक्य के बहुधा गम्भीर परिणाम होते है, तिस पर भी साख के साधन को कभी-कभी समाज के महान् लाभ में प्रयुक्त किया जा सकता है। सम्भवत जब देश आर्थिक स्थिरता की दशा में हो, ता व्याज की न्यून दर विनियोजन को विस्तार दे सकती है। इसके अतिरिक्त, डाक्टर हेयक का सिद्धान्त व्यापारिक मन्दी के चक्रात्मक रूप की व्याख्या नही करता।

१२. हिक्स का सिद्धान्त[1] (Hicks's Theory)—ऊपर दिये हुए सिद्धान्तों से यह पता चलता है कि व्यापार-चक्र पर विचार कितने भिन्न हैं। इन विरोधी सिद्धान्तों के बीच विद्यार्थी उलझन में पड़ जाता है कि किस सिद्धान्त को अपनाया जाय। सौभाग्यवश कीन्स के सिद्धान्त के प्रकाशित होने से व्यापार-चक्र पर विचार समान होने लगे हैं। आजकल अधिकतर व्यापार-चक्र के आधुनिक सिद्धान्त कीन्स के उत्पादन अथवा व्यवसाय की समता के मत के चारों ओर घूमते हैं और इस प्रकार आय तथा विनियोजन के परस्पर सम्बन्ध को बतलाते हैं। इनमें हम कैलेस्की (Kalecki), काल्डर (Kaldor), फ्रिश (Frisch), हारड (Harrod), सैमुल्सन (Samuelson) तथा हिक्स (Hicks) के सिद्धान्तों को शामिल कर सकते हैं।

हिक्स आय पर विनियोजन की निर्भरता लाभ आकांक्षा में सम्बन्धित परिवर्तन द्वारा बतलाने को गतिवर्धन नियम का प्रयोग करते हैं। वे विनियोजन को आय के परिवर्तन के बजाय आय में परिवर्तन के दर का कार्य समझते हैं। गतिवर्धक गुणक (accelerator co-efficient) दो प्रकार के होते हैं—सकुचित तथा असकुचित (linear and non-linear)। (गतिवर्धक गुणक विनियोजन के मूल्य में परिवर्तन, आय के मूल्य में परिवर्तन के अनुपात में बताता है।) सकुचित गुणक यह मानता है कि उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति (मल्टीप्लायर के आकार का) तथा गतिवर्धक स्थिर रहते हैं और असकुचित गुणक में स्वयं गुणक की कीमत उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ बदलते हैं। हिक्स के व्यापार-चक्र का प्रतिरूप असकुचित गुणक के विचार पर आधारित है यद्यपि वे सकुचित पद्धति के मत पर भी विश्वास रखते हैं। अतएव उनका सिद्धान्त "प्राथमिक हटाने वाले कार्य से बिना सम्बन्धित एक विशिष्ट विस्तार की अस्थिरता" बतलाने में समर्थ होता है। वे यह दिखलाते हैं कि अस्थिरता दो सीमाओं के बीच होती है। ऊपरी सीमा पूर्ण व्यवसाय से निश्चित होती है तथा नीचे की सीमा इस बात से निश्चित होती है कि स्वच्छ विनियोजन किसी एक सीमा से बाहर नहीं जा सकता। जब प्राथमिक गति इन सीमाओं के विपरीत उठती है तो चक्र गति का होना शुरू हो जाता है। "स्वाभाविक शीघ्रदाह्य चक्र स्थिर विस्तार के चक्र में बदल जाते हैं क्योंकि एक बार यदि ऐसी गति को सीमाओं से रोका गया तो क्रमबद्ध हल्कोरे उसी प्रकार की गति करेंगे।" अतः बाद वाली गति केवल पहले के पुनर्जन्म हैं। व्यापार चक्र के ऊपर की ओर की गति में गतिवर्धक गुणक तब तक कम होता चला जाता है जब तक कि वह पूर्ण व्यवसाय की सीमा पर अन्य नहीं हो जाता, तथा नीचे की ओर की गति में भी गुणक उसी प्रकार बदल जाता है।

काल्डर (Kaldor) के विचार से हिक्स के सिद्धान्त की वास्तविक निर्बलता गतिवर्धन सिद्धान्त के प्रयोग की है। गतिवर्धक यन्त्र-रचना से सत्याभासत परिणाम की

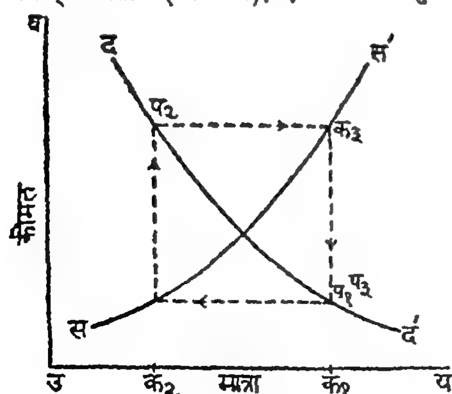
---

1. Hicks, J. R.—A Contribution to the Theory of Trade Cycle, 1950, See also article by Nicholas Kaldor on "Mr Hicks on the Trade Cycle" in the Economic Journal, December 1951, pp 833-47, This section leans heavily on this article.

आशा नही की जाती। जैसा कि काल्डर का कहना है, "यह मान लेना आवश्यक है कि पैदावार के परिवर्तन से किया गया विनियोजन उस उत्पादन के परिवर्तन का कोई गुणक है जो पूर्ण रूप के परिवर्तन से स्वतन्त्र है। यद्यपि वास्तव में व्यावसायिक सस्थाओ का विस्तार उनके आर्थिक साधनो से सीमित रहता है, जिसका अर्थ यह होता है कि वे बडे विनियोजन के अवसरो का लाभ इतनी शीघ्रता से नही उठा पाते जितना कि छोटे विनियोजन के अवसरो का · · ऐसा इसलिए नही होता कि किसी व्यावसायिक सस्था के लिए आर्थिक साधन काफी हो और किसी के लिए कम। ऐसा इसलिए भी होता है क्योकि छोटे परिवर्तनों से बडे परिवर्तनो से सम्बन्धित आकाक्षा लोचदार बहुत कम होती है।"

१३ जाल सूत्र[1] (Cobweb Theorem)—कुछ अर्थशास्त्रियो ने व्यापार-चक्र का एक ऐसा सिद्धान्त बनाया है जिसको यदि आकृति द्वारा प्रस्तुत किया जाय तो एक मकडी के जाले के समान दिखाई पडता है। यह सिद्धान्त उत्तरगामी समय के उत्पादन पर वर्तमान कीमत, फिर परिणाम की कीमत तथा उत्तरगामी उत्पादन आदि की प्रतिक्रियाओ पर निर्भर है। इसका सैद्धान्तिक वर्णन तीन अर्थशास्त्रियो द्वारा अलग-अलग किया गया था। उनके नाम ये है—इटली के अमबर्टो रिसी (Umberto Ricci), हालैण्ड के स्कल्टज (Schultz) तथा अमरीका के टिनबर्गन (Tinbergen)। 'जाल सूत्र' नाम सबसे पहले निकोलस काल्डर (Nicholas Kaldor) ने 'Review of Economic Studies, Feb 1934' में एक लेख मे दिया था।

उत्पादन कीमत तथा माग और पूर्ति वक्रो के बीच आगे व पीछे उत्पादन के क्रमबद्ध समायोजन तथा दुबारा क्रमबद्ध समायोजन से बने हुए जाल तीन प्रकार के हो सकते है अर्थात् लगातार (निरन्तर), एक केन्द्र पर झुकता हुआ (समवाय) तथा विभिन्न।



रेखाचित्र न० ७५

(१) लगातार (continuous type)—इस प्रकार के जाल में कुछ प्राथमिक एकीकरण के पश्चात् चक्र स्वय फिर से उसी प्रकार चालू हो जाता है। यह उसी ओर की गति होती है और करीब-करीब उसी प्रकार का उत्पादन तथा कीमत पैदा करती है। यह उस समय होता है जब कि माग वक्र पूर्ति वक्र के ठीक विपरीत होता है अर्थात् उनकी लोच एक-सी होती है। साथ दिये हु

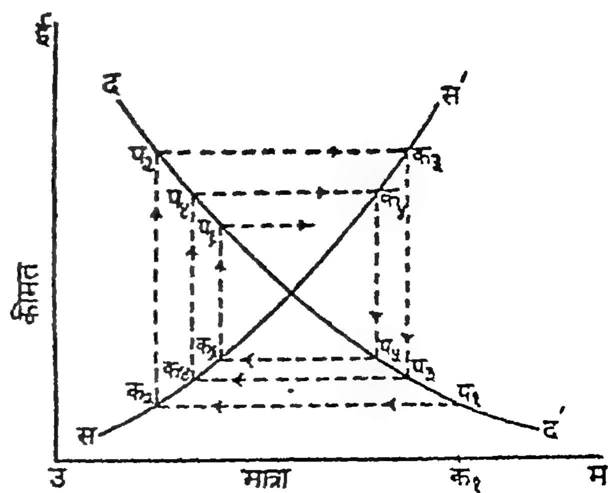
1 See article by Mordecai Ezekiel in the Quarterly Journal of Economics, February, 1938 Pp 255 80

रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार के जाल को प्रस्तुत करते हैं :—

हम उ क, बडी मात्रा से प्रारम्भ करते हैं। जहा यह माग वक्र को छूता है यह प, कीमत (कम) देता है। यह कम कीमत दूसरे समय मे कम उत्पादन उ क, करेगा। कम उत्पादन से कीमत प, तक बढेगी—इन ऊची कीमत से उत्पादन क, तक बढेगा और इसी प्रकार चक्र फिर से प्रारम्भ हो जायेगा।

(२) एक केन्द्र पर झुकता हुआ (convergent type)—इस प्रकार उत्पादन तथा कीमत की गति भी भीतर की ओर झुकती है और जाल छोटा होता जाता है। यह उस समय होता है जब पूर्ति माग से कम लोचदार होती है। यह नीचे दिये हुए रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

हम पहले की तरह क, बड़ी मात्रा से प्रारम्भ करते हैं। इससे प, कीमत आती है। क्योंकि प, कीमत कम है इसलिये दूसरे समय में उत्पादन क, तक कम कर दिया जायेगा। पर इससे कीमत प, तक बढ जायेगी और फिर उत्पादन क, तक बढ जायेगा। पैदावार के अधिक होने के कारण कीमत प, तक गिर जायेगी। उत्पादन क, तक घट जायेगा।



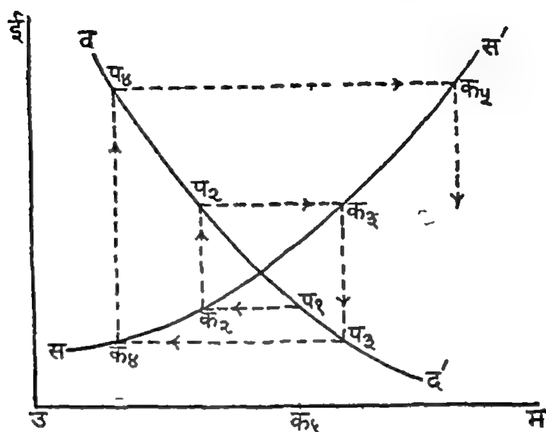
रेखाचित्र न० ७९

और कीमत प, हो जाएगी, इससे क, उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। इससे कीमत कम होकर प, हो जाती है। और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहेगा। कीमत और उत्पत्ति दोनो हर समय में घटते चले जायेंगे और इससे एक केन्द्र पर झुकता हुआ जाल बनेगा।

(३) विभिन्न प्रकार के जाल (Divergent type)—इस प्रकार में जाल बाहर की ओर बढता है। यह उस समय होता है जब कि पूर्ति माग से अधिक लोचदार होती है। इस प्रकार का जाल नीचे दिये हुए रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है —

ऐसी दशा में क, मात्रा प, कीमत पर बिकती है। कीमत के कम होने के कारण उत्पादन की मात्रा घटकर क, हो जाती है। मात्रा के घट जाने से कीमत प, तक बढ जाती है। ऐसी हालत में क, मात्रा का उत्पादन होता है। तो भी कीमत प, तक गिर जाती है। कीमत के गिरने से उत्पादन क, तक घट जाता है। पूर्ति घटने से कीमत बढ कर प, हो जाती है, जिससे उत्पादन बढ कर क, तक हो जाता है। इसी प्रकार जाल बाहर की ओर बढता जाता है। ये सिद्धान्त अर्थात् स्थायी, एक केन्द्र

पर झुका हुआ तथा विभिन्न प्रकार का, आर्थिक सिद्धान्त के अनुकूल नही है। इनका झुकाव साम्यावस्था की ओर है। ये सिद्धान्त साम्यावस्था की ओर जाने की वजाए



रेखाचित्र न० ७७

व्यापार-चक्र के बने रहने पर जोर देते है।

जाल सूत्र की कई सीमायें है। यह केवल इन दशाओ में लागू हो सकता है—(क) जब कि पर्याप्त पूर्ति से कीमत का निर्धारण होता है, (ख) जबकि उत्पादन स्वच्छ प्रतियोगिता में कीमत के विचार से निर्धारित होता है, तथा (ग) जब कि उत्पादन में विना एक समय के अन्त होने से पहले परिवर्तन नही किया जा सकता। उत्पादक एक वार जब किसी वस्तु के पैदा करने के विषय में निर्णय कर चुकते है तो वे पैदावार में कमी तो कर सकते है पर उसको बढा नही सकते। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु को पैदा करने में केवल उस वस्तु की कीमत पर ही ध्यान नही दिया जाता, वरन् उन साधनो की कीमतो पर ध्यान दिया जाता है जिनकी उस वस्तु के उत्पादन में आवश्यकता पडती है। उत्पादन प्राकृतिक दशाओ पर भी निर्भर रहता है। खेती के व्यवसाय में कीमत के गिरने से खेती के क्षेत्र मे तो तुरन्त कमी हो सकती है पर कीमत के बढने से क्षेत्र में बढती के लिए अधिक समय लगेगा। ऐसी दशा में वह कौन-सी वस्तु है जिसकी कीमत का निर्धारण केवल उस वस्तु की पूर्ति करती है? वहुत से ऐसे कारण है जिनसे वस्तु की कीमत के निर्धारण पर प्रभाव पडता है जैसे—उपभोक्ता की आय, मौसम, फैशन तथा प्रतियोगी वस्तुओ की पूर्ति में परिवर्तन, आयात-निर्यात कर, सरकारी रोक आदि। ऐसे विचार हमको इस निष्कर्ष पर लाते है कि जाल-सूत्र व्यापार-चक्र का सन्तोषजनक वर्णन प्रस्तुत नही करता।

१४ व्यापार चक्रो के कारण (Causes of Trade Cycles)—किसी विषय में इतना मतभेद नही है जितना व्यापार-चक्रो के विषय में है। हर सिद्धान्त में कुछ न कुछ सत्य है पर हम किसी एक सिद्धान्त पर पूर्णतया निर्भर होकर व्यापार की गतियो की चक्रात्मक प्रकृति अथवा सामान्यता का पता नही लगा सकते।

व्यापार-चक्र बडी जटिल घटना है। किसी भी सिद्धान्त में हमें व्यापार-चक्र की पूर्ण व्याख्या नही मिलेगी। व्यापार-चक्र विभिन्न प्रकार के बहुत से कारणो के फलस्वरूप होता है। जलवायु उत्पादन को रोककर अथवा उसकी सहायता करके व्यापार-चक्र का निर्माण करती है। दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक कारण आशावादी व निराशावादी लहरो को जन्म देते है। आर्थिक कारणो से गति में उत्थान और पतन होता है, प्रतियोगिता तथा अत्यधिक बचत, अत्यधिक उत्पादन व कम उपभोग की परिस्थितिया पैदा होती है। इस प्रकार अनेक बातें मिल कर सकट पैदा कर देती है। नट विक्सेल के अनुसार "चक्रात्मक उतार-चढाव के सिद्धान्त तथा पर्याप्त कारणो के लिए हमे इस ओर ध्यान देना होगा कि टेक्नीकल तथा वाणिज्यिक प्रगति में गति समान नही रहती। इसके विपरीत यह घटती-बढती है।" जब आर्थिक उन्नति होती है तो समृद्धि होती है और जब यह सुस्त होती है तो मदी।

एस. ई टामस[1] ने व्यापार-चक्र के कारणो को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया है —

(क) आकस्मिक कारण, जिनका प्रभाव कच्चे पदार्थों की पूर्ति पर पडता है।

(ख) माग व पूर्ति का अपूर्ण समन्वय।

(ग) वित्तीय कारणो से मूल्यो में भिन्नताएं।

(क) कच्चे पदार्थों की पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारण (Causes affecting the Supply of Raw Material)—बुरी जलवायु, बहुत अधिक या बहुत कम वर्षा, कीडे, भूचालो तथा युद्ध आदि का प्रभाव कच्चे पदार्थों की पूर्ति पर बुरा पडता है। यदि कोई आम हडताल बहुत दिनो तक रहे, तब भी व्यापार उखड जाता है। साथ ही साथ यदि कच्चे पदार्थों की कमी हो तो उत्पादक यन्त्र भी बेकार रहने लगेंगे। आधुनिक सकट केवल कच्चे माल की कमी से ही नही पैदा होता वरन् उनके आधिक्य से भी पैदा होता है। पिछले दिनो में होने वाली महान् मन्दी में जहा एक ओर बेहद अमीरी थी, वहा दूसरी ओर लोग भूखो मर रहे थे। इसका कारण मांग व पूर्ति के बीच समन्वय का न होना था।

(ख) मांग व पूर्ति का अपूर्ण समायोजन (Imperfect Adjustment of Demand and Supply)—आधुनिक उत्पादन एक बडी लम्बी-चौडी विधि है। विश्व के कोने-कोने में रहने वाले हजारो व्यक्ति बहुत मामूली-सी एक वस्तु के उत्पादन में सहायता देते है। इनके अतिरिक्त उद्यमियो के व्यक्तिगत प्रयत्नो से भी उत्पादन-कार्य नियन्त्रित होता है। इसलिए यदि उत्पादन कभी बहुत अधिक और कभी बहुत कम हो जाय, तो कोई आश्चर्य नही। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि सूती माल के उद्योग के सूत कातने की क्षमता कपडा बुनने की क्षमता से अधिक विस्तृत हो जाय। इससे सूत कातने के उद्योग में मदी पैदा हो जायगी, जो कभी बढेगी भी और कभी कम होगी। इसलिए यदि उत्पादन-कार्य

1. Thomas, S E—Elements of Economics.

सफलतापूर्वक चलता है तो उत्पादन की दोनो परिस्थितियो में पूर्ण रूप से सतुलन होना चाहिए। पर ऐसा होता नही और अधिकतर असमता रहती है। जब विभिन्न परिस्थितियो में उत्पादन विभिन्न व्यक्तियो के हाथ में होता है, तब यदि उत्पादन और माग में सतुलन स्थिर रहे, तो आश्चर्य की बात होगी।

(ग) **कीमत-स्तर में विभिन्नताए (Variations in the Price Level)**—मुद्रा-प्रसार के समय में कीमतें बढ जाती है। यह या तो इसलिए कि सरकार अत्यधिक मुद्रा जारी कर देती है या बैंक साख का बहुत विस्तार कर देते है। बढती हुई कीमतो की दशा में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है और यह सकट को आह्वान करता है। मुद्रा-स्फीति के बाद मुद्रा-सकुचन की नीति अपनायी जाती है।

१५. आर्थिक सकट को दूर करने के उपाय (Remedial Measures to fight Economic Crisis)—सकट के समय व्यवहार में आने वाली नीतियो के विषय में सकट के कारणो की अपेक्षा अधिक मतभेद है। अधिकतर अर्थशास्त्री अब इस विषय पर सहमत है कि वर्तमान आर्थिक अवस्था में सकट अवश्यम्भावी है। अधिक से अधिक उन्हें स्थगित मात्र किया जा सकता है, रोका नही जा सकता। अस्तु, इन सकटो का सामना करने के लिये हमें दो प्रकार के उपायो की आवश्यकता है—निवारक (preventive) और औपचारिक (curative)।

निवारक उपाय सकट की प्रकृति पर निर्भर करते है। कच्चे माल की पूर्ति पर जलवायु का जो प्रभाव होता है, उससे हम विमुख नही रह सकते। भारत जैसे देश के लिए, जहा दो-तिहाई से अधिक निवासी कृषि पर निर्भर करते है, यह आवश्यक है कि कृषि को वर्षा से स्वतन्त्र किया जाय। पानी की नियमित पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में कुओ, नहरो व तालाबो का निर्माण अति आवश्यक है। यह अवश्य है कि युद्ध, भूचाल व छूत की बीमारी जैसे वाह्य कारणो का कोई उपाय नही किया जा सकता पर इनका व्यापार-चक्र में कोई विशेष महत्त्व नही है। कम से कम यह नियमित रूप से तो कोई प्रभाव नही डाल सकते।

माग व पूर्ति की अपूर्ण व्यवस्था को फसलो की दशा, उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ की मात्रा, व्यवसाय की दशा, आयात व निर्यात, आय प्रति व्यक्ति, मूल्य व लागत सबधी देशनाको, व लाभ की दशा आदि की सही परिगणना करके सम्हाला जा सकता है। इसके द्वारा व्यापारी वस्तुओ की माग व पूर्ति के विषय में ठीक अनुमान लगा सकता है। इसके अतिरिक्त सूचना विभाग को अनुचित आशावादिता अथवा निराशावादिता को रोकने के हेतु समय-समय पर चेतावनिया प्रकाशित करते रहना चाहिये। समृद्धि के दिनो में कारखानो को लाभाश देते समय विशेष सावधानी से कार्य करना चाहिए।

मुद्रा-नीति (Monetary Policy)—पर केवल इतने निवारक उपाय ही पर्याप्त नही है। इसके अलावा तेजी व मदी को रोकने के लिए देश को सदैव उचित बैंकिंग नीति को अपनाना चाहिए। नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि यदि किसी भाति आर्थिक सकट उपस्थित भी हो जाय तब भी कम से कम उनकी तीव्रता तो कम हो जिससे शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक स्थिरता स्थापित हो सके।

मुद्रा-नीति साख के विस्तार को प्रभावित करके देश में प्रचलित कीमतों व आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके है। यहा केवल इतना याद रखना पर्याप्त है कि इस नीति को दो उपायो से प्रभावशाली बनाया जा सकता है—बैंक-दर को व्यवस्थित करके और खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा। जब समृद्धि की परिस्थितिया होती है तो बैंक-दर को बढ़ाकर व्यापारिक क्रियाओ में और अधिक विस्तार को रोक दिया जाता है। इसी प्रकार मंदी के दिनो में सस्ती मुद्रा की नीति से व्यापारिक विनियोजन को प्रोत्साहन दिया जाता है और इस प्रकार पुनर्जीवन में सहायता होती है।

बैंक की साख नीति मे दो प्रकार के नियंत्रण होते है—परिमाण-सम्बन्धी तथा गुण-सम्बन्धी (quantitative and qualitative)। परिमाण-सम्बन्धी नियंत्रण से अभिप्राय साख-पद्धति को सामान्य, दृढ तथा ढीला करने से है। यह बैंक के कोष को प्रभावित करके किया जाता है। गुण-सम्बन्धी नियंत्रण एक विशिष्ट प्रकार के साख को नियंत्रित करता है। यह स्पष्ट है कि मुद्रा-नीति बड़ी सफल नीति है और इसी कारण अभी कुछ ही वर्षों तक यह सर्वसुन्दर व्यापार-चक्र-विरोधी उपाय समझा जाता था।

पर इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि बहुत-सी मानी हुई बातें सही हो। उदाहरणार्थ, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अन्य बैंक किस सीमा तक केन्द्रीय बैंक का अनुकरण करने को तत्पर है, कहा तक बैंक अपने ऋणियो को रुपये का उचित विनियोजन करने के लिये बाध्य कर सकते है, कहा तक इन परिवर्तनो के लिये मुद्रा-सम्बन्धी कारण उत्तरदायी है और अन्त में व्यापारिक वर्ग परिवर्तित दर पर विनियोजन करने को तत्पर है या नही।[1] लेकिन, यह बातें सर्वथा सत्य नही है, इसलिये इस प्रकार की व्यवस्था पूर्णतया सफल नही हो सकता। मंदी के दिनो में विशेष तौर से यह नीति सर्वथा असफल रहती है, क्योकि इन दिनो मे व्यापारी वर्ग निराशा में ऐसा जकडा होता है कि दरो में अत्यधिक कमी होने पर भी वह नवीन विनियोजन करने अथवा अपने व्यापार का विस्तार करने की हिम्मत नही करता। द्रव्य अधिकारी व्यापार के लिए प्रोत्साहन मात्र दे सकते है, वे व्यापारियो को उधार लेकर व्यापार चालू करने के लिए मजबूर नही कर सकते। कम ब्याज की दर का परिणाम केवल अस्थिर धन की दशा बनाने का है। भारी सरकारी ऋण ने मुद्रा-सम्बन्धी नियंत्रण को कठिन बना दिया है। लेकिन आधुनिक मुद्रा विशेषज्ञ मुद्रा नीति पर अधिक भरोसा नही करते जो आर्थिक नीति को अपनी उचित सज्जा में बनाए रखे।

राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)—मुद्रा नीति के अपर्याप्त होने के कारण दूसरे उपायो की खोज हुई। इनमें सब से महत्वपूर्ण उपाय राजकोषीय नीति का उपाय है। यद्यपि "इस उपाय की खोज केवल मुद्रा-नीति की सहायता के लिए की गई थी किन्तु अब वह उसी नीति को बिल्कुल स्थानापन्न करना चाहती है।"

---

1 Chapter XXXVII.

(विलियम्स) चूंकि राज्य से होने वाले खर्च की मात्रा बहुत अधिक होती है इसलिए यह कुल राष्ट्रीय आय का बडा भाग है। इस तरह राजकोषीय नीति से कीमत स्तर प्रभावित होता है। इसके अलावा उत्पादन और नौकरी पर भी प्रभाव पडता है, चाहे ऐसी नीति जान-बूझ कर अपनायी गई हो या वैसे ही।

आयात-निर्यात-कर में यह बातें सम्मिलित है—(क) राजकीय व्यय (Public spending) अथवा सार्वजनिक कार्यों की नीति और (२) उचित कर प्रणाली (appropriate taxation)। हम यह देख चुके हैं कि कीन्स के सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र बचत व विनियोजन के बीच असमता के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए यदि राज्य और सार्वजनिक सस्थाओ के विनियोजनो का विभिन्न व्यक्तिगत विनियोजनो से समन्वय कर दिया जाय तो असमता उत्पन्न होने से रोकी जा सकती है। और इस प्रकार आर्थिक स्थिरता स्थापित की जा सकती है। और यदि किसी भांति असमता उत्पन्न भी हो जाय तो सार्वजनिक व्यय के समायोजन द्वारा उसकी व्यवस्था की जा सकती है। इसलिए व्यापारिक स्थिति के अनुसार सार्वजनिक व्यय को परिवर्तित करते रहना पडता है। मदी के दिनो में जब व्यक्तिगत विनियोजन बहुत शिथिल होता है तो उसकी कमी पूरी करने के लिए राज्य को बडी मात्रा में विनियोजन करना पडता है। इसके विपरीत यदि समृद्धि का काल हो तो राज्य को अपने व्यय कम करने पडते हैं। इस प्रकार मदी के दिनो में राज्य को अपने चलित राजस्व की सीमा से परे खर्च करने को तैयार रहना चाहिए। दूसरे शब्दो में मदी के दिनो में राज्य को घाटे के बजटो के लिए उद्यत रहना चाहिए और असाधारण समृद्धि के दिनो में बजट अतिरेक के लिए। अस्तु, राज्य को बजट सतुलन की नीति अपनानी चाहिए।

जहा तक राज्य के राजस्व का प्रश्न है राज्य को मदी के दिनो में कर कम कर देने चाहियें और तेजी के दिनो में अधिक। यही नही, मदी के दिनो में राज्य की ओर से कई प्रकार की उदार रियायतें और दूसरी सुविधाए दी जानी चाहिए।

इस प्रकार राजकोषीय नीति का सचालन सार्वजनिक राजस्वो और सार्वजनिक व्यय द्वारा हो सकता है। इसे राजस्व का चक्र विरोधी सगठन भी कहते हैं। इन दोनो में व्यय वाला सिद्धान्त अधिक सफल है, क्योकि इससे व्यापारिक क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त राजस्व वाला ढग विशेष लाभ का नही होता क्योंकि इससे विनियोजन उचित रूप से नही हो सकता। पर सबसे अधिक सफलता तब प्राप्त की जा सकती है जब दोनो ढगो के सहयोग से काम लिया जाय।

राजकीय व्यय अथवा सार्वजनिक कार्यों की नीति (Public Spending or Public Works Policy)—यह नीति अधिक सफल हुई है। मदी के दिनो में जब आर्थिक क्रियाएँ पूर्णत शिथिल हो जाती हैं, और फलस्वरूप बेकारी बढ जाती है, तो वस्तुओ के उपभोग में कमी आ जाती है। यह बात बडे महत्त्व की है कि उपभोग की ओर रुचि बढाने का प्रयत्न किया जाय। यदि किसी प्रकार सार्वजनिक कार्यों द्वारा कुछ नवीन नियोजन पैदा किया जा सके तो लोगो की क्रय-शक्ति बढ जायगी और उपभोग की मात्रा भी बढ जायगी, जिससे गुणक के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत विनियोजन

को प्रोत्साहन मिलता है। अस्तु, सार्वजनिक कार्यों पर सरकार की ओर से व्यय किये गए धन से व्यक्तिगत विनियोजन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार किसी देश की आर्थिक क्रिया मे राज्य जीवन-सचार का कार्य करता है।

इससे मदी रोकी जा सकती है। पर सार्वजनिक व्यय से एक और भी काम होता है—वह यह कि इससे आर्थिक क्रिया में दीर्घकाल में स्थिरता आ जाती है और वह मदी व तेजी से सुरक्षित हो जाती है। इस उद्देश्य को व्यक्तिगत विनियोजनो के अनुसार सार्वजनिक विनियोजनो का समन्वय करके प्राप्त किया जा सकता है। इसे आर्थिक नीति का क्षतिपूरक पूर्णात्मक कार्य (compensatory action) कहते हैं। 'अमरीकन इकानामिक्स एसोसियेशन' के अनुसार "ऐसी राज्य-व्यवस्था मे जहा अधिकाश लोग प्राइवेट कार्यों में लगे हैं सरकारी नीति यह होनी चाहिए कि सामान्य आर्थिक दशा मे परिवर्तन किया जाए जिससे प्राइवेट (निजी) व्यापार आदि मे विलम्बित उतार-चढाव में कुछ कमी हो और ऐसे हालात मे सुधार हो।" चक्र की अस्थिरता को रोकने के लिए सरकारी नियन्त्रण निम्नलिखित हैं —

(१) व्यक्तिगत उत्तेजना मे परिवर्तन लाने के लिए कर दर तथा कर के ढांचे में परिवर्तन।

(२) कुल आय में सरकारी अश का हस्तान्तरित भुगतान द्वारा (उदाहरणार्थ employment benefit) परिवर्तन।

(३) राजकीय कार्यों में तथा अन्य सरकारी व्यय में परिवर्तन।

(४) लागत तथा बैंक साख की प्राप्ति मे परिवर्तन लाने के लिए मुद्रा-सम्बन्धी नियन्त्रण।

(५) जनता के ऋण चुकाने योग्य सपत्ति में परिवर्तन के लिए ऋण अथवा मुद्रा सम्बन्धी नीति।

(६) विनियोजन निर्णय तथा उत्पादन और व्यवसाय से सम्बन्धित निर्णय को प्रभावित करने के लिए सरकारी नीति की ठीक समय मे घोषणा।

(७) कीमत तथा मजदूरी-निर्धारण पर प्रभाव डालने वाले कारण।

(८) उचित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति।

आर्थिक स्थिरता को पाने के लिए दो मूल नियम बतलाए गए हैं —

(१) सरकारी करों से प्राप्त आमदनी (राजस्व) को पूर्ण व्यवसाय के समय में ऊंचा तथा बेकारी के दिनों में अपेक्षाकृत कम होना चाहिए।

(२) पूर्ण व्यवसाय के समय में द्रव्य तथा साख सापेक्ष-दर मे अधिक दृढ़ हो और व्यापक बेकारी के समय ढीला होना चाहिए।

पर अब भी अर्थशास्त्रियों में इस बात का मतभेद है कि सार्वजनिक व्यय की नीति द्वारा बचत व विनियोजन में समता रखी जा सकती है अथवा नहीं। इसके विपरीत यह सब मानते हैं कि आयात-निर्यात-कर नीति चक्रात्मक परिवर्तनों से बचने में बड़े उपयोगी हैं।

मंदी के दिनो में विनियोजन में सहायता देने के अतिरिक्त इससे राज्य को एक

मूल्य में सार्वजनिक सेवा के कार्य करने में सहायता मिलती है। मजदूरी, कीमत व ब्याज की दरें मदी के दिनो में कम हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त राज्य के शुद्ध व्यय तो और भी कम होते है, और फिर यदि यह नीति नही अपनायी जाती तो बेकारी के भत्ते देने आवश्यक हो जाते है। इसलिए सार्वजनिक कार्यों का शुद्ध व्यय उनके पूर्ण व्यय में से बेकारी के भत्ते निकालकर होता है जो कि अन्यथा दिया जाना होता।

पर राजकोषीय नीति में कुछ कमजोरिया भी है। बहुत से सार्वजनिक कार्य ऐसे भी है, जिन्हें मदी की प्रतीक्षा में स्थगित नही किया जा सकता। उनमे से बहुतो का सबध तो व्यवसाय की गति से होता है और इसलिए उनके द्वारा सुधार नही हो सकता। फिर श्रम की गतिहीनता के कारण कभी-कभी नीति अतिरिक्त नियोजन का निर्माण करने में असफल रहती है। जैसे सडक बनाने के काम में सूती मिल के बेकार मजदूर नही लगाये जा सकते। एक जनतन्त्रामत्क राज्य में जनता समृद्धि के दिनो में बचत के बजटो का विरोध करती है और करो में कमी की माग करती है। इसके अतिरिक्त राज्य को इस बात का भी ध्यान रखना पडता है कि वह ऐसे क्षेत्रों में व्यय करे, जहा व्यक्तिगत विनियोजन की सभावना न हो, अन्यथा राज्य का विनियोजन व्यक्तिगत विनियोजन को स्थानापन्न मात्र कर देगा। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि राज्य के सार्वजनिक व्यय से उत्पादन-व्यय बढ जाने के कारण व्यक्तिगत विनियोजन की कठिनाइया भी कही बढ़ न जायें।

इन सब बातो के होते हुए भी राजकोषीय नीति बहुत अच्छा व्यापार-चक्र विरोधी शस्त्र है। यदि इसके साथ समुचित द्रव्य-व्यवस्था भी हो तो यह और भी अधिक सफल हो सकती है। "मदी से निकलने के लिए कमी का बजट आय के नवीन साधन निकालकर और सस्ते द्रव्य को अपनाकर अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है तथा समृद्धि के दिनो में मुद्रा की नीति अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है।"

विनियोजन पर राज्य-नियत्रण (State Control of Investment)—कुछ वर्षों से व्यापारिक परिवर्तनो से बचाव के लिए अर्थशास्त्री राज्य-विनियोजन के अतिरिक्त और भी उपाय सोचगे लगे हैं। उनका कहना है कि व्यक्तिगत विनियोजन के ऊपर राज्य की ओर से नियत्रण होना चाहिए। कुछ देशो में सन् १९३० से यह नियत्रण लागू है। यद्यपि पहले यह केवल सकट से बचाव के लिये लगाये गये थे तो भी, लडाई के दिनो मे यह नियत्रण और भी बढा दिए गए। पर इनका उद्देश्य केवल युद्ध के साधनों को व्यवस्थित करना था। युद्ध के पश्चात् यह नियत्रण कम कर दिये गए पर अर्थशास्त्री अब इस बात पर जोर देते हैं कि आर्थिक स्थिरता के लिए यह नियन्त्रण आवश्यक है। किन्तु इस नीति में भय यह है कि राज्य के बहुत अधिक हस्तक्षेप से व्यक्तिगत विनियोजन समाप्त हो जायगा। पर व्यक्तिगत विनियोजन को पूर्णत स्वतन्त्र छोड देना भी भयकर है। अस्तु, एक मध्यम मार्ग की आवश्यकता है। कीन्स का विश्वास है कि इस प्रकार का मार्ग निकाला जा सकता है और यदि ऐसा हो गया तो आर्थिक स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)—अभी तक हमने

केवल उन उपायो का अध्ययन किया है जो व्यक्तिगत राष्ट्रो की ओर से किए जाते है। पर व्यापार-चक्र की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय है। कोई देश ससार के दूसरे भागो मे पृथक् नही रह सकता। इसकी यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति नियन्त्रण को जटिल बना देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर व्यापार-चक्र को रोकने के लिये जिन उपायो का सुझाव रखा गया है वह इस प्रकार है—अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियंत्रण (International Production Control); अन्तर्राष्ट्रीय निरोध स्कंध (International Buffer Stocks); अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियंत्रण (International Investment Control)। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियन्त्रण के अन्तर्गत उत्पादन की प्रमुख वस्तुओ की कीमतो पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण में बडी कठिनाइया होती है। भारत जैसे देशो मे कृषि बहुत छोटे पैमाने के व्यवसाय के रूप मे नही वरन् जीवन की आवश्यकता के रूप में होती है। फलस्वरूप यदि कृषि लाभप्रद न भी रहे तो भी उसे छोडा नही जा सकता। पर उत्पादन नियन्त्रण और स्कन्ध-निरोधक पूर्ति के अचानक परिवर्तनो को रोककर कीमतो के उतार-चढाव को रोक सकेगा।

पिछडे हुए प्रदेशो के विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर विनियोजन नियन्त्रण करने से वहा के लोगो का जीवन-स्तर उठाया जा सकेगा और विभिन्न देशो के लोगो के जीवन-स्तर में असमानता दूर हो जायगी, परिणामस्वरूप स्थिरता बढ़ेगी। प्रेसिडेन्ट ट्रूमैन का चतुर्थ-योजना सूत्र (Point-Four Programme), कोलम्बो योजना तथा आई बी आर डी. इसी दिशा में किये गये प्रयत्न है।

पर यह उपाय बहुत अधिक सफल नही हो सके। अभी तक भी व्यापारिक संकट की कोई अचूक दवा नही खोजी जा सकी है। वास्तव में आवश्यकता तो इस बात की है कि हमारे आर्थिक ढाचे को पूर्णत बदल दिया जाय। यह सम्पूर्ण सकट पूजीवाद की देन है, और ससार में जब तक पूजीवाद रहेगा यह सकट भी रहेंगे। इसलिए समाजवाद के किसी रूप की आवश्यकता है।

किन्तु उत्पादन के सगठन में समाजवादी राज्य से भी गलती हो सकती है। क्योकि उसे भी माग के अनुसार चलना पडेगा। कोई मानवीय संगठन सम्पूर्ण नहीं हो सकता। पर यदि आर्थिक क्षेत्र को समुचित रूप से सगठित कर दिया जाय तो आर्थिक क्रियाएं कुछ इतनी सुव्यवस्थित हो जायेंगी कि सकट कम हुआ करेंगे और यदि इस प्रकार के सकट होगे भी तो राज्य उनका मुकाबला कर सकेगा—व्यक्तिगत कारखाने बन्द नही होगे और हानिया पूरी की जा सकेंगी। सन् १९३० के आसपास जब सारे विश्व में मदी व बेकारी का अन्धकार था, तब रूस के आर्थिक क्षितिज पर इस प्रकार के काले बादल नही दिखाई देते थे। अस्तु, सकट से लडने का सबसे अच्छा उपाय आयोजित आर्थिक नीति ही है।

अध्याय ४३

सार्वजनिक अर्थशास्त्र

(PUBLIC ECONOMICS)

१ आर्थिक क्षेत्र मे राज्य-हस्तक्षेप की आवश्यकता (Necessity of State Intervention in the Economic Sphere)—राज्य एक राजनीतिक समाज है। इसका अन्तिम उद्‌देश्य मानव-कल्याण की वृद्धि है। इसलिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने नागरिको की आर्थिक क्रियाओ पर दृष्टि रखे। विभिन्न कार्यों में वह कार्य, जिनका रूप आर्थिक है, मानव-कल्याण के लिये अत्यावश्यक है। कोई भी राज्य अपने नागरिको के आर्थिक कार्यों की उपेक्षा करके इस उद्‌देश्य की ओर सतोषजनक रूप से नही बढ सकता।

हम इस बात को नही मानते कि राज्य स्वत एक लक्ष्य है। कुछ अर्थशास्त्री कहा करते थे कि अर्थशास्त्र राजनीति की कठपुतली है। किन्तु इस कथन में अधिक सचाई है कि राजनीति अर्थशास्त्र की कठपुतली है। आर्थिक उद्‌देश्य—जनकल्याण करना—एक अधिक आवश्यक उद्‌देश्य है, इसलिए आर्थिक ढाचा इस प्रकार का बनाना चाहिए कि जिससे यह उद्‌देश्य पूरा किया जा सके। उदाहरण के लिए हम भारत से गरीबी मिटाना चाहते है। इसलिए इस देश की सवैधानिक व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि जो हमें इस उद्देश्य की ओर बढने में सहायता दे। यदि भारत की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए आर्थिक योजनाओ के बनाने की आवश्यकता है, तो सविधान में ऐसी व्यवस्था होनी ही चाहिए, जिससे देश का केन्द्रीय शासन आर्थिक कार्यों के विभिन्न अगो का आवश्यकतानुसार सचालन कर सके।

अब तो यह आम तौर पर माना गया है कि राज्य का आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप और नियन्त्रण सामान्य कल्याण के लिए आवश्यक है। ऐसा अनुभव किया जाने लगा है कि आर्थिक क्रियाओ को सुचारू रूप से चलाने के लिए तथा उनको फलदायक बनाने के लिए राज्य को इस क्षेत्र में अवश्य उतरना चाहिए। राज्य का ध्यान, समुदाय के स्रोतो की अनुकूलतम उपयोगिता की ओर जाना चाहिए।

२ राज्य की गतिविधि की सीमा (Extent of State Activity)—यह ठीक ही कहा गया है कि "राजनीतिक सिद्धात परिस्थितियो पर आश्रित है।" यह देखा गया है कि जैसे-जैसे परिस्थितिया बदलती है, वैसे ही राज्य की गतिविधि के उचित क्षेत्र के विचार भी बदलते गये है। राज्य के हस्तक्षेप की सीमा और रूप के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारको में असमता रही है। हम यहा पर कुछ राजनीतिक विचारो के मुख्य रूपो का भेद उपस्थित करते है।

अराजकतावादी (The Anarchists)—ये लोग शासन-तन्त्र न होने में

विश्वास करते हैं। वे सोचते हैं कि एक ऐसी अवस्था आयगी, जब मनुष्य नैतिकता के इतने ऊंचे स्तर पर पहुंच जायगा कि शासन अनावश्यक हो जायगा और "उसका अन्त हो जायगा"। समाज स्वयं अपने को नियमित कर लेगा। राजनैतिक विचारकों का यह केवल स्वप्न-मात्र है।

साम्यवादी (The Communists)—दूसरे छोर पर साम्यवादी हैं, जो विश्वास करते हैं कि राज्य का हटाना तो दूर की बात है, राज्य को जीवित रहना होगा और उसे आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली साधन के रूप में दृढ़ होना होगा। साम्यवादी व्यक्तिगत आर्थिक चेष्टाओं पर दृढ़ नियन्त्रण रक्खेंगे। प्रत्येक वस्तु राज्य की होगी और शासन सब तरह की आर्थिक गतिविधियों की व्यवस्था करेगा। व्यक्ति तो केवल शतरंज के खेल में एक प्यादे के समान है। कुछ लोग इसको आर्थिक दासता कहेंगे। यह अवस्था अभी व्यावहारिक राजनीति से दूर है।

इन दो चरम धारणाओं के बीच में दो अन्य विचारधाराएं हैं, जिन्होंने वास्तव में राजनीतिक नीतियों को प्रभावित किया है। इनमें से एक विचारधारा वह है, जिसको व्यक्तिवाद (individualism) या आर्थिक उदारता (economic liberalism) कहते हैं, दूसरी है समूहवाद (collectivism)।

व्यक्तिवादी (Individualists)—व्यक्तिवादी राज्य को एक बुराई समझते हैं, और यह बुराई अनिवार्य है। उनका विश्वास है कि मानव-कल्याण उस समय सब से अधिक होगा, जब आर्थिक गतिविधि राज्य के हस्तक्षेप के बिना निर्बाध रुकावट और अड़चन-रहित दशा में होगी। फ्रांस के एक फिजियाक्रेट (Physiocrat) फ्रेंकोस क्वेज्ने (Francois Quesnay) के शब्दों में "प्रतियोगिता की असीमित स्वतन्त्रता आन्तरिक तथा बाह्य वाणिज्य का सबसे उत्तम संरक्षण है, यह बहुत ही ठीक है और राष्ट्र और राज्य, दोनों के लिए अति लाभदायक है।" इंगलैंड में ऐडम स्मिथ की आर्थिक विचारधारा के अनुसार सरकार को कम से कम कार्य करने चाहिए। यह एक पुलिस राज्य होगा और नियमों का पालन कराना और शान्ति स्थापित रखना ही केवल इसका काम होगा। कारखानों के नियम और सामाजिक सुरक्षा के लिए इसमें कोई स्थान न होगा। यह स्पष्ट है कि यह विचारधारा समाज की उचित आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं देती। व्यक्तिवाद को राजनीतिक सिद्धान्त और राज्य कार्यों के लिए एक पथ-प्रदर्शक के रूप से भी दोषी ठहराया गया है। व्यक्तिवाद की नींव कभी की नष्ट हो चुकी है। अब कोई भी यह सचाई में विश्वास नहीं करता कि हर व्यक्ति अपने हित को ठीक-ठीक समझता है या उसके पाने की शक्ति रखता है। यहां तक कि जे० एस० मिल को भी, जो 'यथेच्छाचारिता' (laissez faire) के प्रबल समर्थक हैं, कुछ क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी। जीवित रहने का संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया है। सारी पृथ्वी बस गई और अब "पड़ोसी के कुत्ते की आवाज सुनकर वहां जाने तक की जगह नहीं रह गई है।" समुद्र तक में कहीं जगह नहीं रह गई है। आज के ऐसे संसार में उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद का कोई भी स्थान नहीं है। व्यक्तिवाद के दिन पूर्णतया चले गये हैं। एक कवि के

शब्दो मे —

"The Moving Finger writes, and having writ,
Moves on nor all your Piety nor Wit,
Shall lure it back to cancel half a line,
Nor all your tears wash out a word of it"[1]

समूहवादी या समाजवादी विचारधारा (The Collectivist or the Socialist View)—समूहवादियो ओर समाजवादियो की विचारधारायें बिल्कुल भिन्न है । समाजवादी समाज के हित पर ज्यादा जोर देते है और व्यक्तियो के अधिकारो और विशेषाधिकारो पर कम। राज्य को एक अनिवार्य बुराई समझना तो दूर रहा, वे इसको एक अति आवश्यक और उपयोगी सस्था मानते है और वे उसको बहुत-सी सीमा-रहित शक्तिया देना चाहते है । वे राज्य के हर प्रकार के हस्तक्षेप को उचित मानते हैं बशर्ते कि उसके द्वारा सामाजिक कल्याण में उन्नति होनी है । राज्य के हस्तक्षेप की कोई सीमा नही है किन्तु उसका ध्येय मानव-कल्याण की प्रगति होनी चाहिए ।

आधुनिक काल की विचारधारा समाजवाद या समूहवाद की ओर दृढता से झुकी हुई है । आज के नीतिज्ञ शासन के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की कोई सीमा निश्चित नही करते । वे केवल यही देखते हैं कि राज्य के कार्य प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से समाज के हित में होते है या नही। लियोन ड्यूइट (Leon Duguit) ने अपनी पुस्तक 'Law in the Modern State' में कहा है, "जो कुछ भी समाज की सरलता-पूर्वक उन्नति करने के लिये आवश्यक है, वह सार्वजनिक सेवा है ।"

कुछ समय तक राज्य-कार्य पर आर्थिक विचारो का शासन रहा । लाभ ही उनकी कसौटी समझी जाती थी । राज्य के सब कार्यों पर एक प्रश्न किया जाता था, "क्या उससे लाभ होता है ?" निम्नलिखित अवतरण में इस विचारधारा को अच्छी तरह अकित किया गया है ।"[2]

"जे० एम० कीन्स ने उन्नीसवी शताब्दी को एक लेखा परीक्षक का कुस्वप्न कहा है । ऐसा कोई काम नही किया जाता जब तक कि उससे "लाभ" न हो, प्रत्येक गतिविधि आर्थिक गणना के अन्तर्गत रखी जाती थी । हम लोगों ने झोपडे बनाये, क्योकि उनसे अच्छे मकानो के मुकाबले में अधिक लाभ होता था । हमने जमीन के रूप को बिगाडा, नदियो के तलो को बर्बाद किया, जगलो को नष्ट किया, कुछ तो अज्ञान के कारण परन्तु अधिकतर इसलिये कि ऐसा करने से हमें क्षणिक लाभ होगा । हमने बेकार व्यक्तियो को सरकारी कार्यों में न लगाया, क्योकि उससे हमें लाभ न होता । हमें गरीब रहना होगा, क्योकि धनी होने से लाभ नही होगा। हमें गदे झोपडो में रहना होगा, इसलिए नही कि हम महल बनवा नही सकते, बल्कि इसलिए कि हम उनको लाभकारी नही समझते। वित्तीय सगणना के इस स्वय-नष्टकारी नियम ने जीवन के हर क्षेत्र पर शासन किया ।"

---

1 See Samuelson, P. A —Economics, 1948 pp 152—53

2 Kincey—Government of Economic Life, 1936, pp 11—20

निःसन्देह यह अत्यन्त दुःखदायी बाधा थी, परन्तु सौभाग्यवश अब यह दूर हो चुकी है। आर्थिक विचार सर्वथा असंगत नही हैं, किन्तु आजकल यह बात स्वीकार की जाती है कि कोई भी सार्वजनिक खर्च, जो राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री या मानव-हित की उन्नति करने के लिए किया जाता है, वह न्यायपूर्ण है, और उसे 'लाभकर' समझा जा सकता है।

समयानुसार शासन को परिस्थितिवश अधिक से अधिक कार्य अपने हाथ में लेने पड़े। इस प्रकार राज्य-गतिविधि का क्षेत्र दिन पर दिन बढ़ता गया और विभिन्न प्रकार का होता गया। संसार-व्यापी प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१८) ने 'यथेच्छाचारिता' नीति पर एक कठोर प्रहार किया। संसार-व्यापी और अभूतपूर्व आर्थिक मंदी ने संसार के शासनों को वृहद् आर्थिक नीतियों का आविर्भाव करने पर मजबूर किया। अमेरिका की नई नीति (New Deal) ने आर्थिक जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश किया। दूसरा महायुद्ध राज्य को आर्थिक जीवन के प्रबन्धक या संचालक के रूप में हमारे समक्ष लाया। राज्य नियन्त्रण और नियमन अब बढ़ा दिये गये हैं और वे आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का संचालन करते हैं। इनमें हमारा सम्बन्ध केवल नागरिक की हैसियत से ही नहीं है, बल्कि उत्पादक और उपभोक्ता की हैसियत से भी है। अब पीछे हटा नहीं जा सकता। चेस (Chase) का कहना है कि "समूहवाद हमें चारों तरफ से घेरे हुए है, घुड़सवार, पैदल और तोपखाने के साथ।"[1] उनके मतानुसार इस समय योरोप के ७० प्रतिशत निवासी राज्य-नियन्त्रित व्यवसाय की छाया में रहते हैं और अब प्रश्न यह है कि क्या व्यापारी लोग शासक बनेंगे या शासक व्यापारी ?

आधुनिक अर्थशास्त्री राज्य की आर्थिक गतिविधि की कोई सीमा नहीं मानता। आजकल समाज के साधनों के मितव्ययी वितरण और सम्पत्ति के विभिन्न रीतियों से वितरण के लिए शासन का यंत्र स्वतन्त्रतापूर्वक काम में लाया जाता है। शासन इस कार्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निजी उद्यम पर दृढ़ नियंत्रण रखकर करता है।

हम आधुनिक विचारधारा को इन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं "ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि राज्य का कर्तव्य सेना, जल सेना और पुलिस की व्यवस्था के अतिरिक्त और भी कुछ है और एक दूसरी प्रकार की सुरक्षा का प्रबंध भी आवश्यक है। पूर्ण समाज को संगठित होना चाहिए और "बर्बर-शक्ति" के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा करनी चाहिये, जिनसे आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्तियों से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा हो सके जिससे कि धनी लोग गरीबों का शोषण न कर सकें और जिससे कि गरीबी और बीमारी की बुराइयों के साथ, जिनका सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पर नष्टकारी प्रभाव होता है, लड़ाई लड़ी जा सके।"[2]

३ आधुनिक राज्य के कार्य (Functions of a Modern State)—विभिन्न लेखकों ने राज्य के कार्यों का भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है। एडम स्मिथ ने इसके तीन वर्ग बनाये (क) "समाज की दूसरी स्वतन्त्र समाजों के आक्रमण और शक्ति

---

1 Chase, S —Government in Business 1935, p 5

2 Thomas, S E —Elements of Economics, 1936, p 599

प्रयोग से रक्षा करना ', (ख) "जहाँ तक सम्भव हो समाज के हरेक व्यक्ति की रक्षा करना", (ग) और "ऐसी जन-संस्थाओ और सार्वजनिक उद्योगो का निर्माण करना और उनके अस्तित्व को बनाये रखना, जो कि समाज के लिए एक वृहद् मात्रा मे लाभकारी हो, चाहे भले ही वे इस रूप के हो जो किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के खर्चो को भी पूरा न कर सकते हो।"

जे० एस० मिल ने राज्य के कार्यों को दो वर्गों मे विभाजित किया है (क) आवश्यक कार्य, जो न्याय और सुरक्षा का प्रबन्ध करे, और (ख) दूसरे वैकल्पिक, जिसमे अन्य सब कार्य सम्मिलित हो। एडम स्मिथ ने अपनी १७७६ की प्रकाशित 'वेल्थ आफ नेशन्स' में शासक के तीन कर्तव्यो का उल्लेख किया है

(१) समाज की, अन्य स्वाधीन समाजो के अन्याय तथा हिंसा से रक्षा करना,

(२) नागरिको के बीच आतरिक न्याय का प्रबन्ध,

(३) जनता की उन सस्थाओ का बनवाना तथा बनाए रखना जो चाहे बडे समाज के लिए अत्यन्त लाभदायक हो परन्तु एक व्यक्ति को कभी व्यय न अदा कर सकें।"

आधुनिक राज्य के मुख्य कार्यों का नीचे दिया हुआ वर्गीकरण उचित माना जा सकता है--

(i) **सरक्षण तथा रक्षा के कार्य** (Protective Functions)---बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना और देश में शाति स्थापित रखना, इन कार्यो में शामिल है। राज्य का यह पहला काम है। कुछ लेखक इन कार्यों को अनुत्पादक कार्य कहते हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नही है। इसमे कोई शक नही कि सकुचित आर्थिक दृष्टि से देखते हुए इस प्रकार के कार्यो का कोई भौतिक या प्रत्यक्ष फल नही होता, तिस पर भी विस्तृत दृष्टि से और अप्रत्यक्षत , रक्षाविषयक कार्य उत्पादक कहा जा सकता है। जब तक कोई देश बाहरी आक्रमण से सुरक्षित नही रखा जाता, उस समय तक वहाँ कोई उत्पादन-कार्य नही किया जा सकता।

(ii) **प्रशासनीय कार्य** (Administrative Functions)—सेना और पुलिस रखने के अतिरिक्त, जिन्हें देश की प्रतिरक्षा के लिए रखा जाता है, हर एक सरकार बहुत से ऐसे प्रशासन कर्मचारियो और सस्थाओ का प्रबन्ध करती है, जिनका काम शासन के विभिन्न विभागो का प्रबन्ध करना होता है। प्रशासन-कार्यों का सबध सरकार के नित्य-प्रति के कार्यो के करने से है।

(iii) **सामाजिक कार्य** (Social Functions)—इसी वर्ग में आम तौर पर वे कार्य है जैसे गरीबो, रोगियो और बेकारो की सहायता का प्रबन्ध, सामाजिक बीमा, जिसमे कि आरोग्य और बेकारी का बीमा शामिल है, और वृद्धावस्था की पेशने, वर्तमान काल मे सभी सभ्य सरकारो के आवश्यक कार्य समझे जाते हैं। ससार के उन्नतिशील देशो मे आजकल ऐसी बडी-बडी और ऊची योजनाए बनाई जा रही हैं, जिनका लक्ष्य जनता से अभाव और भय को एक दम हटा देना है। इन सब बातो के अतिरिक्त आजकल की सरकारे अजायबघर, सार्वजनिक उद्यान, पुस्तकालय,

शिक्षा, चिकित्सा और मकानो का भी प्रवन्ध करती है और इनको अपना कर्तव्य समझती हैं। सकुचित दृष्टि से इन कार्यो से कोई आर्थिक लाभ नही होता, परन्तु विस्तृत दृष्टि से ये कार्य अति लाभदायक समझे जाते हैं। इनमे राष्ट्र के प्राकृतिक और मानवीय साधनो का उत्थान होता है।

(iv) आर्थिक और वाणिज्यिक कृत्य (Economic and Commercial Functions)—अर्थशास्त्र मे हमारा ऐसे कार्यो से ही अधिक सम्बन्ध है। ये सरकार के सभी व्यापारिक और औद्योगिक कार्यो से सम्बन्धित हैं। इनमे "व्यापार को सुविधाए देना, उत्साहित करना और उस पर नियत्रण करना" शामिल है।[1]

अब हमे यह अध्ययन करना चाहिए कि राज्य का हस्तक्षेप कब उचित है, और वह किस रूप मे सामने आना चाहिए।

४ राज्य द्वारा हस्तक्षेप (State Intervention)—आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप निम्नलिखित दशाओ मे उचित है[2]—

(i) जब व्यापार एकाधिकार-प्रकृति का हो (When the Business is of Monopolistic Nature)—एकाधिकार के होने पर उपभोक्ताओ के एकाधिकारी द्वारा शोषण किये जाने की सभावना और भी बढ जाती है। उस समय राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग को रोके और शोषण को बन्द करे। ऐसे समय में शासन के लिए एकाधिकारी के कार्य पर नियत्रण करना आवश्यक हो सकता है, यहा तक कि शासन को एकाधिकार वस्तु की कीमत को भी निश्चित करना आवश्यक हो जाता है।

(ii) जब निजी उद्यम का कोई आकर्षण नही होगा (When Private Enterprise would not be Attracted)—यह अधिकतर उस समय होता है, जबकि विनियोजन पर लाभ की कोई आशा नही होती, जैसे स्कूल, अस्पताल और सडकें। इस प्रकार के उद्योगो मे अधिक लाभाश नही मिल सकता, इसलिए उनको चलाने के लिए समाज को मिलकर काम करना पडता है। सरकार को उस अवस्था में भी दखल देना चाहिए, जब व्यक्तिगत उद्योग आगे न बढता हो, क्योकि उसको वर्तमान पीढी मे लाभ नजर नही आता। उदाहरणार्थ, जगलो के लगाने की योजनाए, भूमि कटाव बन्द करने की योजनाए आदि।

(iii) जबकि आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियो को रक्षा की आवश्यकता हो (Where the Economically Weak Require Protection)—कारखानो के मजदूर बहुत ही शोचनीय दशा मे है और उनको शक्तिशाली सरकारो ने सुरक्षित रखना ही चाहिए। ऐसी दशा खासतौर पर पसीने की कमाई या पसीने के धधो में पाई जाती है।

(iv) सामाजिक एकाधिकार या सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाए (Social

1. Thomas, S E—Elements of Economics, 1936, p 616
2 Ibid, p 605

Monopolies or Public Utility Services)—साधारणत रेलवे, डाक तथा तार, जल, विद्युत या गैस वितरण आदि लोकोपयोगिता के वर्ग में आते है। ऐसी अवस्थाओ में यह स्पष्ट है कि प्रतियोगी सस्थाओ का सेवाओ की पूर्ति करना अमित-व्ययी तथा अवाछनीय है। लगातार और सस्ती सेवाओ के बनाए रखने के लिए नगरपालिका या शासन का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इसलिए यह शासन के हस्त-क्षेप करने का उचित क्षेत्र है।

(v) **जहा उपभोक्ताओं के हितो की जरूरत हो** (Where the Consumers' Interests need Protection)—साधारण उपभोक्ता से किसी वस्तु की क्वालिटी या शुद्धता के बारे में ठीक निर्णय पर पहुँचने की आशा नही की जानी चाहिए। इस प्रकार वह इस दशा में नही होता कि वह अपने हितो की रक्षा कर सके। सरकार को उसकी सहायता के लिए आगे बढना चाहिये। इसलिये हम देखते है कि सब देशो में मिलावट के विरुद्ध नियम बनाये गए है। उत्पादकों के दुर्व्यवहार से उपभोक्ताओ की रक्षा करने के लिए सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाता है।

(vi) **जहा कि राज्य-प्रबन्ध और नियत्रण के लिए राजनीतिक या सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से आज्ञा दी जाती है** (Where State Management and Control are Dictated by Political or Social as well as Economic Considerations)—इसके उदाहरण स्पष्ट है मुद्राचलन की पूर्ति तथा अस्त्रो का उत्पादन। अब यह माना जाता है कि कागजी मुद्रा का निजी सस्थाओ द्वारा निकाला जाना सपूर्ण समाज के लिये बहुत खतरनाक हो सकता है। आर्थिक यत्र को अव्यवस्थित न होने देने के लिये मुद्रा-चलन का राज्य द्वारा नियत्रण और नियमन बहुत ही आवश्यक है। इस प्रकार शस्त्रो का निर्माण और विक्रय निजी उद्यम को नही सौंपा जा सकता, क्योंकि उस दशा में शान्ति भग होने का भय रहेगा। अणु-शक्ति के अन्वेषण को राज्य के एक बहुत बडे रहस्य की तरह सुरक्षित रखा जाता है।

५ व्यवसाय मे राज्य-हस्तक्षेप के रूप (Forms of State Intervention in Business)—अब हमे यह देखना चाहिए कि राज्य की गतिविधि किस प्रकार से देश में व्यापार और व्यवसाय को सहायता पहुचाती है। विस्तृत रूप से हम व्यापार और व्यवसाय का सहायता पहुचाने वाले राज्य-कार्यों को निम्नलिखित भागो में विभाजित कर सकते है—

(i) **व्यापार को सुविधाए देना** (Facilitating Business)—सरकार व्यापारियों को अनेक प्रकार की सुविधाए देती है, जिनके बगैर उनको लगभग अपना काम चलाना मुश्किल हो जाय। उनमें से खास ये है—मुद्रा-चलन की व्यवस्था करना, सचार और परिवहन के साधनो की व्यवस्था करना, नाप और तोल को निर्धा-रित करना, व्यापारिक कानूनो का बनाना आदि। इन तरह की सब सुगमताओ के कारण व्यापार और व्यवसाय का चलना आसान हो जाता है। भारत में हम इस दिशा में उचित रूप में सम्पन्न नही है। देश के क्षेत्र और विस्तार को देखते हुए आने-जाने

और परिवहन के साधन बहुत ही अपर्याप्त हैं। बैंकिंग और साख भी भली प्रकार विकसित नहीं हैं। यह त्रुटियाँ देश के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण हैं।

(ii) **व्यवसाय को प्रोत्साहन देना** (Encouraging Business)—आधुनिक समय में ऊपर बतलायी हुई सुविधाए मुश्किल से पर्याप्त समझी जाती हैं। राज्य के इस प्रकार के उपेक्षित व्यवहार से देश को उतनी मात्रा मे उन्नति होने की आशा नही की जा सकती जितनी कि वह कर सकता है। इसलिये ऐसा अनुभव किया जाता है कि सरकार को अवश्य ही देश में औद्योगिक और आर्थिक कार्यों को तीव्रता से प्रोत्साहन देना चाहिए। वह प्रोत्साहन अनेक रूपो में हो सकता है। एक उचित मुद्रा-नीति देश को बहुत कुछ व्यावसायिक दृष्टि से समृद्धिशाली बना सकती है। घरेलू व्यवसाय विदेशी प्रतियोगिता से आयात-कर लगाकर रक्षित किये जा सकते हैं या विदेशी आयात कोटा-प्रणाली द्वारा, जिससे विदेशी प्रतियोगिता सीमित हो, नियमित किया जा सकता है। किसी उद्योग को सरकारी सहायता या आर्थिक सहायता देकर सरकार उसको प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे सकती है। द्विमुखी या बहुमुखी व्यापार सम्बन्धी करार देश के वाणिज्य के हितो के लिए किए जा सकते हैं।

उद्योगो के लिए और भी ऐसी सुविधाए हैं, जो राज्य देते हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगिक शिक्षा और अन्वेषण की व्यवस्था करना, औद्योगिक जानकारी तथा आँकडो की आर्थिक सहायता, कर्ज या शेयर पूजी के चन्दे द्वारा, ऋण-पत्र के क्रय द्वारा या पूजी पर न्यूनतम-प्रत्याय की प्रत्याभूति द्वारा। सरकार अपनी नीति निर्धारित कर सकती है और सब वस्तुओ का क्रय अपने देश के उत्पादको से कर सकती है। औद्योगिक कारखानो के लिए उचित स्थान रियायती दर पर दिलाने मे राज्य सहायता कर सकता है। ये ऐसे तरीके हैं जिन पर सरकार व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन दे सकती है। यह कहना बेकार है कि राज्य की एक प्रोत्साहन देने वाली सचेष्ट नीति एक पीढ़ी मे औद्योगिक क्रांति ला सकती है।

(iii) **व्यापार का नियमन करना** (Regulating Business)—देश में व्यापारिक क्रियाशीलता का नियमन करने के लिए और उद्यमी की आवश्यक और असामाजिक प्रवृत्तियो को नष्ट करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप और भी आवश्यक है। भूतकाल मे अनियमित और अनियंत्रित प्रतियोगिता से ऐसी सामाजिक बुराइया पैदा हुई, जो सामाजिक चेतना पर गहरा आघात करने के लिए पर्याप्त थी। औद्योगिक क्रांति की आदि अवस्था में कारखानो के मालिको के लालच और स्वार्थ-साधन के परिणामस्वरूप श्रमजीवियो पर बहुत अत्याचार हुआ। व्यक्तियो की आर्थिक क्रियाओ पर राज्य-नियमन रखने की आवश्यकता को देख राजनीतिज्ञ जैसे जाग उठे। कारखानो के लिए नियम बनाने गये। कानून मे रेलो और जहाजो के मजदूरो की सुरक्षा के लिए व्यवस्था है। दुर्घटना होने पर मुआवजा दिया जाता है और सभी उन्नत देशो में सामाजिक बीमे की योजनाएँ कार्य कर रही है। न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी गई है। जन-हित सेवाओं का दृढ़ता से नियमन करके उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा की गई है।

(iv) नियन्त्रण (Control)—कुछ क्षेत्रो में राज्यो को केवल व्यापार को सुविधाएँ देने से, प्रोत्साहन देने से और उनके नियमन करने से ही सन्तोष नही होता। वह आगे बढते है और देशवासियो पर एक नियन्त्रण रखने लगते है। शान्ति के समय इटली और जर्मनी जैसे फासिस्ट देशो में राज्य-नियन्त्रण एक दूर सीमा तक पहुच गया था। उस समय वहा पर उत्पादन और उपभोग, दोनो पर सेना-क्रम था। जन-साधारण अब आर्थिक नियन्त्रणो की कार्य-प्रणाली से भली भाति परिचित हो गया है। यद्यपि युद्ध का अन्त हो गया है तथापि नियन्त्रण का अस्तित्व जारी है। विनिमय पर नियन्त्रण है, आयात और निर्यात पर नियन्त्रण है, कीमतो तथा पूजी व व्यय पर नियन्त्रण है आदि। जब राष्ट्र सकट-काल से निकल रहा हो तो ऐसे नियन्त्रण आवश्यक हो जाते है।

(v) राज्य स्वामित्व (State Ownership)—हस्तक्षेप का अधिकतम उग्र रूप, जो कि राज्य धारण करता है, वह है उद्योग के निजी स्वामित्व का अन्त करना। इगलैंड के बैक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है, भारत में रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैक ऑफ इडिया का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। कुछ स्थितियो मे ऐसा समझा जाता है कि राष्ट्र के सम्पूर्ण हितो की सबसे अच्छी रक्षा उस समय हो सकती है, जब निजी व्यवसायो को हटा दिया जाय। समाज लाभ को कुछ आर्थिक कार्यों से इस प्रकार सम्बन्धित करना चाहता है कि वह व्यक्ति-विशेष को धनी न बनाकर इस प्रकार से किया जाय कि उससे साधारण समाज का हित हो। आजकल समूहवाद या राष्ट्रीयकरण की ओर तीव्र झुकाव है। निजी उद्यम के किले के मध्य मे ही निरकुश पूजीवाद की इमारत टुकडे-टुकडे होकर गिरती हुई दिखलाई देती है।

निर्देश पुस्तकें

Kinley—Government Control of Economic Life
Chase, S—Government in Business
Dalton, H—Public Finance
Pigou, A C—Public Control of Industry
Findlay Shirras—Public Finance

अध्याय ४४

सार्वजनिक वित्त

(PUBLIC FINANCE)

१ सार्वजनिक वित्त तथा उसका महत्त्व (Public Finance and its Importance)—"द्रव्य से ही गाडी चलती है", यह बहुत साधारण कहावत है। प्रत्येक व्यक्ति उन सब कार्यों मे, जिन्हें वह करता है, द्रव्य की आवश्यकता को अनुभव करता है। यदि व्यक्ति के लिए द्रव्य का महत्त्व बडा है तो सरकार के लिए द्रव्य का महत्त्व तो और भी बडा है। पिछले अध्याय में हम उन अनेक कार्यों का अध्ययन कर चुके है जिनसे हम आशा करते है कि आधुनिक सरकार को सम्पन्न होना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति का सूचक उसका आयव्ययक (budget) होता है। राष्ट्र के कार्यों की सीमा तथा उसकी कार्यक्षमता मुख्यत उसके कोष की शक्ति पर निर्भर करती है।

हम प्राय यह शिकायत किया करते है कि शिक्षा की दृष्टि से भारत बहुत पिछडा हुआ है, चिकित्सा सम्बन्धी सहायता की व्यवस्था पूर्णत असन्तोषजनक है तथा भारत में कृषि व उद्योग सर्वाधिक प्रारम्भिक ढग पर सचालित होते है। ऐसा क्यो है ? इसका केवल एक ही उत्तर है—धन का अभाव। भारत में जनहित-सम्बन्धी सेवाओं पर जितना धन व्यय होता है वह अत्यधिक न्यून है और सभ्य स्तर के बराबर नही है। राष्ट्रनिर्माणकारी विभागो के हाथ में न्यून साधन होने से कोई विशेष प्रगति की आशा नही की जा सकती। ऐसा कहा जाता है कि "राजस्व ही राज्य है।" हर चीज इसी पर निर्भर करती है। भारतीय अर्थशास्त्रियो में सबसे प्राचीन कौटिल्य ने २००० वर्ष से अधिक समय पूर्व लिखते हुए कहा है कि "प्रत्येक उपक्रम का आरम्भ वित्त है।"[1]

किसी देश के सार्वजनिक वित्त का प्रभाव पूरे आर्थिक क्षेत्र पर पडता है। अब उसे केवल राजस्व की वृद्धि करने का साधारण साधन मात्र नही माना जाता। काल्बर्ट के शब्दो में अब यह केवल "ऐसी चुटकी काटो कि रोए नही" मात्र कला नही मानते। दूसरी ओर सार्वजनिक वित्त सामाजिक न्याय का एक शक्तिशाली अस्त्र माना जाता है। आधुनिक सरकारो द्वारा धनी और गरीब के बीच की खाई को जहा तक हो सके पाटने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। वित्त की निष्पक्ष प्रणाली धनवान लोगो पर कर लगायेगी और जो आय होगी उसे ऐसी सेवाओ पर व्यय करेगी जिनसे मुख्यत गरीबो का हित हो। कर लगाने की शक्ति वास्तव में आर्थिक क्रिया की व्यवस्था करने की शक्ति है, यह उसमें रुकावट डाल सकती है या उसको उत्तेजित कर सकती

---

1 Shirras, Findlay—Science of Public Finance, 1939, vol I, p 2

है। कर का प्रभाव केवल राजस्व प्राप्त करने में ही नही होता, परन्तु उस समय भी होता है जब उसका व्यय होता है। "किसी विशिष्ट कर-नीति से केवल द्रव्य-सम्बन्धी भार अथवा लाभ ही नही होते किन्तु मानसिक भार व लाभ भी होते हैं जिनका प्रभाव कर देने वालो तथा समुदाय की भावनाओ, विवेक तथा आर्थिक व्यवहार पर भी पडता है।"[1] इस प्रकार आधुनिक काल मे कर लगाने का दोहरा उद्देश्य है—(क) राज्य के लिए धन इकट्ठा करना, (ख) सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यो को प्राप्त करना। सार्वजनिक वित्त के इन उद्देश्यो का आजकल अधिक महत्त्व हो गया है।

डाल्टन के अनुसार राजकीय अर्थ-व्यवस्था का सबसे अधिक मौलिक सिद्धात वह है, जिसे, उन्होने "अधिकतम सामाजिक सुविधा का सिद्धात" कहा है।[2] सार्वजनिक वित्त की क्रियाओ का प्रभाव क्रय-शक्ति हस्तातरण क्रम पर पडता है। कर सरकार की क्रय-शक्ति का हस्तातरण करता है, जो बाद मे व्यक्तियो के पास पहुच जाती है। सरकार उसी का भुगतान ठेकेदारो या कर्मचारियो को कर देती है। इन सभी हस्तातरणो का उद्देश्य "अधिकतम सामाजिक सुविधा" की प्राप्ति है। डाल्टन के अनुसार 'सामाजिक सुविधा' की कसौटी समाज के सरक्षण से तथा उपभोग व उत्पादन दोनो के सुधार से बनती है।

एक अर्थशास्त्री के लिए, जो मुख्यत मानव-कल्याण की उन्नति से सम्बन्धित है; वास्तव मे सार्वजनिक वित्त के अध्ययन का महत्त्व बहुत बडा है।

सार्वजनिक वित्त के विज्ञान का सही अर्थ हम क्या समझते है तथा इसका क्षेत्र और विषय क्या है? इसके अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते है कि सरकार राजस्व कैसे प्राप्त करती है और वह उसको किस प्रकार खर्च करती है? आर्मिटेज स्मिथ के शब्दो में "राजकीय व्यय और आय के स्वभाव व सिद्धातो की जाच को सार्वजनिक वित्त कहा जाता है।"[3]

किन्तु सार्वजनिक वित्त का विज्ञान, जैसा कि आजकल समझा जाता है, केवल राजकीय व्यय व राजकीय आय से ही सबन्धित नही है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमे आर्थिक प्रशासन भी सम्मिलित है।

बेस्टेबल (Bastable) के शब्दो मे, "सार्वजनिक वित्त राष्ट्र के राजकीय अधिकारियो के आय-व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा आर्थिक प्रशासन व नियत्रण से सम्बन्ध रखता है।"

अस्तु, व्यापक दृष्टि से राजकीय अर्थ-व्यवस्था विज्ञान के अध्ययन को निम्नलिखित मुख्य भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण तथा उसके सिद्धात,

(ख) सार्वजनिक राजस्व प्राप्त करने की प्रणालिया तथा कर लगाने के सिद्धात,

---

1 Alfred G Buehler—Article on "Taxation and the Economy" in National Tax Journal, July 1950

2 Dalton, Hugh Principles of Public Finance, 1943 pp 10-11

3 Armitage Smith Principles and Methods of Taxation, 1935, p 14

(ग) वैत्तिक प्रशासन—जिसमे बजट का प्रस्तुत करना, स्वीकृति, जाच आदि शामिल है, और

(घ) लोक ऋण—लोक ऋण लेने के साधनो व सिद्धातो का अध्ययन

२ सार्वजनिक एवं निजी वित्त का अन्तर (Distinction between Public Finance and Private Finance)[1]—सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करने के पूर्व इसका अध्ययन कर लेना उचित होगा कि सरकारी वित्त एव वैयक्तिक वित्त में क्या अन्तर है। इससे हमको यह समझने मे आसानी होगी कि सरकार तथा व्यक्ति के पास पहुँच करने की रीति और उद्देश्यो मे क्या अन्तर है।

(i) आय-व्यय का समायोजन (Adjustment of Income and Expenditure)—यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि "उतना पैर पसारिये जितनी चादर होय।" लोगो को प्राय यही उपदेश दिया जाता है, किन्तु सरकार पहले चादर की लम्बाई-चौडाई निश्चित करती है और उसके बाद उसके लिए आवश्यक कपडे का प्रबन्ध करती है। दूसरे शब्दो मे एक व्यक्ति को अपनी आय की सीमा के अन्दर रहना अर्थात् आय के अनुसार व्यय करना आवश्यक होता है। किन्तु सरकार पहले व्यय का अनुमान लगाती है, उसके पश्चात् उतना धन प्राप्त करने के उपाय एव मार्ग निकालती है।

परन्तु ऐसा सदैव सत्य नही होता। कभी-कभी व्यक्ति भी यह निश्चित करता है कि उसे कितना देना या व्यय करना है तथा उसके बाद उतना धन कमाने का प्रयास करता है। कभी-कभी सरकार भी अपनी आय के अनुसार व्यय का समन्वय करने में व्यक्ति के समान कार्य करती है। जब सरकार आधिक्य आय का अनुभव करती है, तब वह कुछ इच्छित दिशाओ में व्यय मे वृद्धि करने का निर्णय कर सकती है। दूसरी ओर जबकि सार्वजनिक राजस्व में कमी होती है तब सरकारे छँटनी की नीति के द्वारा अपने व्यय में उतनी ही कमी करती है। परन्तु इस पर भी हम यह कह सकते हैं कि सरकार और व्यक्ति के वित्त-व्यवस्था के तरीको में वास्तविक अन्तर होता है। साधारणत व्यक्ति अपनी आय जानता है और तदनुसार अपने व्यय की योजनाए बनाना उसके लिए आवश्यक होता है। इसके विपरीत सरकार प्रथमत. विभिन्न विभागो से व्यय का अनुमान मागती है, कुल व्यय निश्चित करती है और उसके बाद तदनुसार कर लगाती है।

(ii) समय की अवधि (Period of Time)—लोक-अधिकारियो के लिए, आय-व्ययक के लिए समय की अवधि एक वर्ष होती है। परन्तु व्यक्ति उस अवधि को कोई विशेष महत्त्व नही देता जिसमें सूर्य के चारो ओर पृथ्वी एक चक्र लगाती है। उसे किसी निश्चित तारीख को या निश्चित अवधि के अन्दर अपना आय-व्ययक सन्तुलित करने की आवश्यकता नही होती।

(iii) व्यक्ति कोई आन्तरिक ऋण नहीं ले सकता (No Internal Bor-

---

1. For a fuller discussion see Findlay Shirras Principles of Public Finance, 1936, Vol 1, Ch IV

rowing for an Individual)—सरकार तथा व्यक्ति के अपने साधनो में भी अन्तर होता है। जब कठिनाई उपस्थित होती है तो सरकार देश व विदेशो से ऋण ले सकती है अर्थात् वह आन्तरिक या वाह्य ऋण ले सकती है, लेकिन व्यक्ति केवल बाह्य ऋण ही ले सकता है, आन्तरिक नही।

(iv) **सरकार के लिए मुद्रा-प्रसार—एक विशेष सुविधा** (Inflation, a Peculiar Privilege of the Government)—सरकार के लिए आय का एक दूसरा स्रोत भी खुला रहता है। वह मुद्रण-यन्त्र का आश्रय ले सकती है। युद्ध मे लिप्त सभी सरकारो ने, कम या अधिक, युद्ध के भारी व्यय की पूर्ति के लिए नोट छापे थे। सन् १९१४-१९१८ के युद्ध मे जर्मनी ने तो नोटो के अत्यधिक प्रसार से अपने को नष्ट ही कर लिया। जब सरकारे यह अनुभव करती है कि राष्ट्र की कर लगाने की सामर्थ्य पर अधिक भार हो गया है और जनता का विश्वास समाप्त हो रहा है तब वे इस "गुप्त-शक्ति" का प्रयोग कर सकती है और इस जादू के डडे को चलाकर रुपया बना सकती है। क्या व्यक्ति भी ऐसा कर सकता है। कदापि नही। हा, जेल जाने को तैयार हो जाने पर ही वह ऐसा कर सकता है।

(v) **सीमान्त उपयोगिताओ का समीकरण** (Equalising Marginal Utilities)—हम यह देख चुके है कि सम-सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यय को ऐसा व्यवस्थित करना चाहता है कि वह धन की प्रत्येक इकाई से वही सीमान्त उपयोगिता पाता है, जैसा कि वह खर्च करता है। इस उद्देश्य से वह सतर्कतापूर्वक विभिन्न वस्तुओ के खरीदने की उपयोगिताओ पर विचार कर लेता है। किन्तु जब सरकार धन को व्यय करती है तो उसके लिए इस प्रकार सतर्कतापूर्वक विचार करना सम्भव नही है, क्योकि उपयोगिता निराकार है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सार्वजनिक व्यय अविवेकपूर्ण होता है।

(vi) **सार्वजनिक वित्त में सोच-विचार कर भारी परिवर्तन करना आसान है** (Deliberate and Big Changes in Public Finance are Easier)—किसी व्यक्ति के लिये आय अथवा व्यय मे बडे परिवर्तन लाना आसान नही होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को बढाना या दुगुना करना चाहता है। लेकिन ऐसा कितने लोग कर सकते है ? इसी प्रकार व्यक्ति रहन-सहन के एक निश्चित स्तर का आदी हो जाता है जिसमें आसानी से परिवर्तन व समायोजन नही हो पाता। लेकिन सरकार सार्वजनिक आय व व्यय की योजना में अच्छी तरह बडे व मौलिक परिवर्तन कर सकने में समर्थ है। यदि एक समाजवादी दल के हाथ मे सत्ता आ जाए तो वह निश्चित ही सार्वजनिक आय व व्यय दोनो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकता है। निजी अर्थ-प्रबन्ध में इस लोच का अभाव है।

(vii) **भविष्य के लिये व्यवस्था** (Provision for the Future)—भविष्य के लिये व्यवस्था करने के मामले मे सरकार बहुत अधिक उदार और दूरदर्शी होती है। राजनीतिज्ञ भावी पीढियो के लिये एक ट्रस्टी होता है। जगलात सम्बन्धी, निर्माण-कार्य व सामाजिक सुरक्षा आदि से सबधित योजनाओ पर सरकार

भारी रकमे खर्च करती है, जिनके बदले मे उसको कुछ धन का लाभ नही होता, यदि होता भी है तो पीढ़ियों बाद। इसके विपरीत व्यक्ति शीघ्र लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। मानव-जीवन इतना अनिश्चित होता है कि कुछ व्यक्ति भविष्य की विशेष चिन्ता नही करते। परन्तु समाज व्यक्तियो के आवागमन के बाद भी जीवित है। वह हमेशा स्थायी रहता है। इसलिये राज्य भविष्य के लिये ठोस व्यवस्था करने को बाध्य होते हैं।

(viii) **आधिक्य आय-व्यय व्यक्ति के लिए एक गुण है परन्तु राज्य के लिए नहीं (Surplus Budgeting is a Virtue for an Individual but not for the State)**—मितव्ययी व्यक्ति को अपनी आय मे कम व्यय करना ही चाहिए। उसका आधिक्य आय-व्ययक होना चाहिए। व्यक्ति के लिये यह स्वाभाविक है, किन्तु राज्य के लिये नही। घाटे के बजट निस्सन्देह बुरे और अस्थिर वित्त-व्यवस्था का सकेत करते है। परन्तु कुछ भी हो, आधिक्य आय-व्ययक होना वास्तव मे कोई गुण नही है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि करो का स्तर अनावश्यक रूप से ऊंचा रखा जाय और राजकीय व्यय अनुचित रूप से नीचा रखा जाये। कल्याण-सम्बन्धी या राष्ट्र-निर्माण-सम्बन्धी जैसे कुछ विभागो को पोषण रहित रहना पड़ सकता है। आधिक्य आय-व्ययक को साधारण बना देना अच्छी वित्त-व्यवस्था नही है। हमे आधिक्य आय को देवता नही बना देना चाहिए। यदि प्रतिवर्ष बड़ी तादाद मे आधिक्य आय हो तो कर-दाताओ को कुछ छूट देना या सामाजिक व्यय के स्तर में वृद्धि करना अधिक उत्तम होगा।

(ix) **व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध रहस्य में छिपा है (Individual Finance is Shrouded in Mystery)**—व्यक्तिगत अर्थप्रबन्ध गुप्त होता है। प्रत्येक धनवान व्यक्ति दूसरो की बुरी नजर बचाता है। व्यक्तिगत साख इस बात पर आश्रित नही होती कि उसके पास कितना धन है वरन् वह साख इस पर निर्भर रहती है कि उसे कितना धनवान माना जाता है। वह लोगो को अनुमान लगाने देता है। वह अपनी आर्थिक स्थिति के विषय मे लोगो के सामने अस्पष्ट तथा बढ़ा हुआ चित्र रखने का प्रयत्न करता है। किन्तु इसके विपरीत सार्वजनिक वित्त का सार प्रचार है। आय-व्ययक प्रकाशित होते है और इसका अधिकतम प्रचार किया जाता है। प्रचार सार्वजनिक साख को कमजोर नही बल्कि शक्तिशाली बनाता है।

यही वे तथ्य है, जिनके द्वारा सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत वित्त-प्रबन्ध के बीच का अन्तर जाना जाता है और जो व्यक्तिगत वित्त-प्रबन्ध से राजकीय वित्त-प्रबन्ध को भिन्न रखते हैं।

सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)—सार्वजनिक वित्त के सार्वजनिक आय व सार्वजनिक व्यय नामक जो दो अग है, उनमे से पहले हम सार्वजनिक व्यय का अध्ययन करेगे। १९वीं शताब्दी में सार्वजनिक वित्त के लेखको द्वारा सार्वजनिक वित्त के इस विभाग पर कम ध्यान दिया गया। केवल सार्वजनिक आय पर ही अधिकाधिक ध्यान दिया गया। केवल वर्तमान शताब्दी मे ही यह अनुभव किया गया कि सार्वजनिक

व्यय जनहित म उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सभवत पहले सार्वजनिक व्यय की उपेक्षा किये जाने का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय सावजनिक व्यय की रकम बहुत थोडी थी, क्योकि सरकारी कार्य के क्षेत्र सीमित थे। किन्तु अब सरकारी कार्य के क्षेत्र बहुत बढ गए है

(1) **क्षेत्र व जनसख्या मे वृद्धि** (Increase in Area and Population)—सर्वप्रथम सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि का कारण यह है कि राष्ट्रो की सीमा में व्यापक प्रसार हो गया है। "अराजक क्षेत्रो" मे भी सगठित शासन होने लगा है। साथ-साथ जहा क्षेत्र मे वृद्धि नही हुई, वहा जनसख्या काफी मात्रा मे बढ गई। इसलिये सरकारो को उन जगहो के करोडो अतिरिक्त लोगो की आवश्यकताओ का प्रबन्ध करना पडता है जो कि विस्तृत क्षेत्रो में फैले हुए हैं।

(ii) **उच्च कीमत-स्तर** (The High Price Level)—सार्वजनिक व्यय के अधिकाधिक बढते जाने का दूसरा कारण उच्चतर कीमत-स्तर है। जिन्होंने भारत के पुराने 'अच्छे दिन' देखे है या उनके विषय में सुना है, उनका कथन है कि एक समय वह था, जब घी रुपये का चार सेर बिकता था, जबकि आज उसका भाव रुपये मे चार छटाँक भी नही है। अन्य वस्तुओ की कीमतो में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई है। अत व्यक्ति के समान सरकारो का भी इन वस्तुओ और सेवाओ की खरीद के लिए अधिक धन का प्रबन्ध करना पडा।

(iii) **राष्ट्रीय धन व रहन-सहन के उच्चतर स्तर में वृद्धि** (Increase in National Wealth & the Higher Standard of Living)—हर देश में कृषि, व्यापार व उद्योग में निरन्तर विकास हुआ है, यद्यपि भारत जसे कुछ देशो में इसकी गति दुखद रूप से धीमी रही है। प्रति व्यक्ति की आय मे काफी वृद्धि हुई है और उसके फलस्वरूप जीवन-स्तर में सुधार हुआ है। साथ-साथ सार्वजनिक राजस्व (public revenue) तथा सार्वजनिक व्यय (public expenditure) में भी विकास हुआ है।

(iv) **युद्ध व युद्ध-निवारण** (War and Prevention of War)—हम हानि उठाकर यह जान चुके हैं कि आधुनिक युद्ध कितना खर्चीला है। गत युद्ध में इगलैंड १५० लाख पौंड दैनिक खर्च कर रहा था। आज, जबकि युद्ध चल भी नहीं रहा है, तब भी उसकी तैयारी या उसे रोकने के उपायो पर भारी रकम खर्च की जा रही है। सार्वजनिक व्यय को बढाने के लिये जिम्मेदार कारणो मे से युद्ध मुख्य रहा है।

(v) **दोषपूर्ण वित्त-व्यवस्था व नागरिक-प्रशासन** (Defective Financial and Civil Administration)—नागरिक प्रशासन के कारण सार्वजनिक व्यय में कोई कम वृद्धि नही हुई। सरकारी सस्थाओ का दोहराव तथा उनका अनावश्यक गुणक हो जाना साधारण बात है। साधनो एव कार्यों के दोषपूर्ण निर्धारण से भी अधिक व्यय होता है। सार्वजनिक व्यय पर ढीला नियन्त्रण होने से भी व्यय के अक अनावश्यक रूप मे ऊचे हो जाते हैं।

(vi) प्रजातन्त्र का भार (Incidence of Democracy)—प्रजातन्त्र राज्य में कई राजनीतिक दल होते हैं और उनमें से प्रत्येक जनता का समर्थन प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। इन दलों के समर्थक सार्वजनिक निधि से लाभ व सुविधाओं के लिये निरन्तर जोर देते रहते हैं। देश के हर कोने तथा हर वर्ग की ओर से अधिकाधिक सुविधा, शिक्षा, चिकित्सा-सहायता, सड़क आदि के लिये आवाज उठाई जाती है। मन्त्रियों से जनता के लिए जिले-जिले में कालेज आदि खोलने की माग की जाती है। अस्तु, प्रजातन्त्री शक्तियों के द्वारा सरकारों पर कार्यों का बोझ बढ़ता जाता है। "सार्वजनिक कार्यों में वृद्धि" के वैगनर के सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक कार्यों में गहन व विस्तृत दोनों रूपों में वृद्धि हुई है। पुराने कार्यों को और अच्छे ढग से सम्पादित किया जा रहा है तथा अनेक नये कार्य हाथ में लिये जा रहे हैं।

अल्फ्रेड बुहुलर (Alfred Buehler) अपने ग्रंथ 'पब्लिक फिनांस' में कहते हैं, "कुछ लोगों को सार्वजनिक व्यय में सम्बंधित वृद्धि एक संकट के समान प्रतीत होती है। कुछ लोग इससे प्रभावित ही नहीं होते। राष्ट्रीय आय के किसी भी निश्चित प्रतिशत को सरकार के खर्च की सीमा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी सीमा सम्बन्धित परिस्थितियों पर निर्भर होती है। उचित व्यय समाज की आवश्यकताओं व इच्छाओं, सरकारी व्यय व उसके लिए आगम के प्रभावों, कर-भार सहन करने की जनता की इच्छा, कर के वर्तमान बोझ, जनसख्या व समुदाय के साधन व आय के वितरण, आर्थिक विकास के स्तर तथा आय विभिन्न बातों पर निर्भर करता है। वास्तविक प्रश्न है विशिष्ट समय पर किसी विशिष्ट सरकार का विशिष्ट व्यय।"

४. सार्वजनिक व्यय के नियम (Principles of Public Expenditure)—जिस प्रकार कर लगाने के सुविदित नियम हैं, ठीक उसी प्रकार कुछ ऐसे नियमों को बना लेना सम्भव है जिनके अनुकूल मितव्ययी सार्वजनिक व्यय हो। ये निम्नलिखित हैं—

(i) अधिकतम सामाजिक हित (The Maximum Social Benefit)—सार्वजनिक व्यय के लिए "अधिकतम सामाजिक सुविधा" के मूल आधार की पूर्ति करना आवश्यक है। सरकार द्वारा खर्च किए गए हर रुपये का उद्देश्य समाज को अधिकतम सुविधा पहुँचाना होना चाहिए। इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि सार्वजनिक निधि का प्रयोग समाज के किसी गुट या विशेष वर्ग के हित में न हो। हमारा ध्येय समाज का सामान्य कल्याण है। सरकार जनता की भलाई के लिये होती है। इसलिये पूरे समाज के हित में सार्वजनिक व्यय होना न्यायपूर्ण है।

(ii) मितव्ययिता (Economy)—यद्यपि सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना है तथापि इससे सरकार के अपने व्यय में अधिकतम मितव्ययिता करने में रुकावट नहीं आती। मितव्ययिता का अर्थ कृपणता नहीं है। इसका अर्थ केवल अपव्यय और क्षय को रोकना है। सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक हित के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह हानिकारक भी हो सकता है। कोलरिज के शब्दों में "सूर्य बगीचों, चरागाह तथा खेत से पानी बरसाने के लिए, नदी,

दलदल और समुद्र से नमी को सोख सकता है, परन्तु इसी प्रकार वह सड़े हुए तालाब, कीचड़ तथा बेकार बालू में नमी पहुचाने के लिए उसे खेतो से खीच सकता है।"[1] इसी प्रकार यदि करदाताओं से संग्रहीत राजस्व का व्यय लापरवाही मे किया जाता है तो यह अमितव्ययितापूर्ण होगा।

किफायत करने के लिए यह जरूरी है कि अधिकारी दोहरे खर्च से बचने का पूरा-पूरा यत्न करे। सार्वजनिक व्यय का बचत पर विपरीत प्रभाव नही पड़ना चाहिए। यदि सरकारी कार्यविधि व्यक्ति की बचत करने की इच्छा या शक्ति को नष्ट करती है, तो यह मितव्ययिता नियम के विपरीत होगा।

(iii) **स्वीकृति नियम** (The Canon of Sanction)—सार्वजनिक व्यय का एक अन्य मुख्य सिद्धान्त यह है कि वास्तविक रूप मे इस व्यय को करने के पूर्व इसको ठीक अधिकारी द्वारा स्वीकृत हो जाना चाहिए। अस्वीकृत खर्च करने से अपव्यय व अतिव्यय होगा। इसका अर्थ यह भी है कि किसी भी रकम को उसी उद्देश्य से खर्च किया जाना चाहिए जिसके लिए यह स्वीकृत हुई हो। स्वीकृति नियम से सम्बन्धित एक दूसरा नियम लेखा-परीक्षण का है। सार्वजनिक व्यय के लिए उसकी पूर्व स्वीकृति ही अनिवार्य नही है बल्कि व्यय के बाद उसकी परीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है। सभी सार्वजनिक खातो के विषय में प्रतिवर्ष इस बात की जाँच होनी चाहिए कि रकमो का अनुचित ढग से तो खर्च नही किया गया।

(iv) **आधिक्य नियम** (The Canon of Surplus)—वैयक्तिक वित्त व्यवस्था के समान ही सार्वजनिक वित्त की यह सुदृढ प्रणाली है कि बजट को सतुलित रखने व आय-व्यय में सामजस्य लाने का प्रयास करते रहना चाहिये। प्रतिवर्ष बडे परिमाण मे आधिक्य प्राप्त करना आवश्यक नही है। ऐसा भी आय-व्ययक अच्छा नही होगा। परन्तु निरन्तर घाटे से बचने की जरूरत है। यदि किसी देश को अपनी अर्थ-साख रहना है और स्थायित्व को नष्ट नही होने देना है, तो उसको अपने आय-व्ययक मे उचित सतुलन रखना ही चाहिए।

(v) **लोच नियम** (The Canon of Elasticity)—सार्वजनिक व्यय का एक और सिद्धात यह भी है कि इसको उचित रूप में लोचदार होना चाहिए। सार्वजनिक अधिकारियो के लिए आवश्यकता व परिस्थितियो के अनुसार व्यय में भिन्नता लाना सम्भव होना चाहिए। व्यय का कठोर स्तर आपत्तिकाल मे कष्टदायक हो सकता है। ऊपर की दिशा में परिवर्तन करना कठिन नही है। व्यय के स्तर मे वृद्धि कर देना आसान है। किंतु लचीलेपन की आवश्यकता व्यय को घटाने की दिशा में सबसे अधिक होती है। मितव्ययिता की कुल्हाड़ी का प्रयोग करना वेदनाप्रद तरीका है। व्यापक स्तर मे छंटनी से गम्भीर सामाजिक असतोष उत्पन्न होता है। इसलिए यदि सार्वजनिक व्यय को बढाना है तो उसे धीरे-धीरे बढाना बहुत आवश्यक है। थोड़े समय के लिए यदि समृद्धि आ जाय तो इसके साथ ही दीर्घकालीन व्यय निर्धारण न हो जाना चाहिए।

---

1 Macgregor—Public Aspects of Finance, 1939, p 67

आगम में जब गिरावट आ रही हो तब यदि आर्थिक पतन से बचना है तो उचित मात्रा में लचीलापन होना अत्यन्त आवश्यक है।

(vi) **उत्पादन व वितरण पर बुरा प्रभाव न हो** (No Adverse Influence on Production or Distribution)—इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि धन के उत्पादन व वितरण पर सार्वजनिक व्यय का अच्छा प्रभाव बना रहे। उसे उत्पादन-सम्बन्धी कार्य को इतना प्रोत्साहन देना चाहिये कि देश का उत्पादन-स्तर बढ़ जाय और इससे जनता के जीवन के स्तर को ऊंचा करना भी सम्भव हो सकता है। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति केवल तभी सम्भव है, जबकि धन का समान वितरण हो। यदि नव-उत्पादित धन केवल उनके ही पास जाता है, जिनके पास पहले से ही धन है तो इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। सार्वजनिक व्यय का लक्ष्य धन के वितरण की असमानता को कम करना होना चाहिए।

५ राजकीय व्यय का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)[1]—ऐसे कई आधार हैं जिन पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण हो सकता है। हम आगे कुछ प्रसिद्ध वर्गीकरण दे रहे हैं—

सार्वजनिक अधिकारियों के प्रादेशिक कार्यों के आधार पर हम एक वर्गीकरण कर सकते हैं। इस आधार पर सार्वजनिक व्यय के निम्नलिखित वर्ग किये जा सकते हैं—

(i) **केन्द्रीय सरकार से सम्बन्धित केन्द्रीय या राष्ट्रीय व्यय** (Central or National Expenditure)—जैसे भारत सरकार का व्यय।

(ii) **स्थानीय व्यय** (Local Expenditure)—स्थानीय संस्थाओं के व्यय जैसे कारपोरेशन, नगरपालिकाएं तथा जिला बोर्ड समितियां और

(iii) **अर्धराष्ट्रीय व्यय** (Semi-National Expenditure)—इस वर्ग में भारत तथा अमरीका की राज्य सरकारों का व्यय आयेगा।

एडम्स ने सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार विभाजित किया है—

(i) **संरक्षण व्यय** (Protective Expenditure)—जैसे सेना, पुलिस आदि पर होने वाला व्यय।

(ii) **व्यावसायिक व्यय** (Commercial Expenditure)—व्यवसाय के नियन्त्रण, नियमन, प्रोत्साहन तथा सुविधा आदि देने तथा प्रत्यक्ष राज्य द्वारा व्यावसायिक उद्यम पर किया जाने वाला व्यय।

(iii) **विकास-सम्बन्धी व्यय** (Development Expenditure)—शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, निर्माण कार्य, अंक संकलन आदि सम्बन्धी व्यय।

६ उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के प्रभाव (Effects of Public Expenditure on Production)—एक दूसरे प्रकार का सार्वजनिक व्यय भी है, जो कुछ लोगों के अनुसार अनुत्पादक है। यह व्यय युद्ध की तैयारी या उनके

---

1 For a fuller discussion see Findlay Shirras, Principles of Public Finance, 1936, Vol 1, Ch V.

सचालन में होता है। यह विश्वास पूर्ण रूप मे सही नही है। सैनिक व्यय, यदि अधिक न किया जाय, तो वह समाज में व्यवस्थित आर्थिक जीवन बनाकर उत्पादन में अप्रत्यक्ष सहायक होता है। वस्तुत वह अधिक होता है और उसके एक बडे भाग को अनुत्पादक कहा जा सकता है। साथ ही हमे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि अल्पकालीन और सफल युद्ध कुछ आर्थिक सुविधाओ को पाकर राष्ट्र का बहुत आर्थिक लाभ कर सकता है। इसी प्रकार आक्रमण को रोककर सशस्त्र सेना देश को आर्थिक हानि से बचा सकती है। इसलिये सैनिक व्यय को अप्रत्यक्ष या व्यापक रूप में उत्पादक माना जा सकता है।

सार्वजनिक व्यय का अधिकाश, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, उत्पादक होता है। प्रत्येक देश में सरकारें व्यापारिक उद्योगो का सचालन करती हैं, जो प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक है। भारत सरकार ने नहरो और रेलो के रूप में ठोस और उत्पादक सपत्ति बना ली है। राज्यो के उद्योग उत्पादन में प्रत्यक्ष योगदान देते हैं। इसी प्रकार भूमि का सुधार करके उसे कृषि-योग्य बनाने व जगल उगाने की योजनाएँ भी प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक हैं।

कुछ भी हो, सार्वजनिक व्यय का बडा भाग केवल परोक्ष रूप में उत्पादक होता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावो के विषय में विचार किया जा सकता है —

(क) कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति,

(ख) कार्य करने और बचत करने की इच्छा, और

(ग) स्रोतो को भिन्न-भिन्न जगहो और नियोजनो में लगाना।

कार्य करने व बचत करने की शक्ति (Power to Work and Save)—जहा तक इसका सम्बन्ध है, यह ध्यान में रखने की बात है कि आधुनिक सरकारों द्वारा किया जाने वाला सामाजिक दृष्टि से वाछनीय व्यय नि सन्देह समाज की उत्पादन-शक्ति को बढाता है और इसके परिणामस्वरूप बचत करने की शक्ति को भी बढाता है। इस प्रकार के व्यय में सूचना, सचार व परिवहन के साधनो की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक एव औद्योगिक गवेषणा, मनुष्य, पशु व पौधो के रोगो पर नियत्रण, सामाजिक बीमा (स्वास्थ्य बीमा, बेकारी बीमा, वृद्धावस्था में पेन्शन) आदि सम्बन्धित व्यय सम्मिलित है।

कार्य करने व बचत करने की इच्छा (Will to Work and Save)—यह अधिकतर सार्वजनिक व्यय व उसको सचालित करने वाली नीति पर निर्भर करती है। यदि जनता को सार्वजनिक व्यय से भविष्य में होने वाले लाभ की आशा दिलाई जाय तो इससे जनता की काम करने व बचत करने की इच्छा नष्ट हो सकती है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धावस्था में पेंशन देने, बेकारी व अस्वस्थता का बीमा और शिक्षा की व्यवस्था करने मे जनता मे भविष्य के प्रति उदासीनता आ जायगी और वह बचत करने की उपेक्षा करेगी। वर्तमान दशा में इसका विपरीत प्रभाव होगा। लोग कम काम करेंगे। किन्तु यदि इस प्रकार के व्ययो को उचित सीमा मे रखा जाय और यदि यह वास्तव में

असहायो की सहायता करे, तो काम करने व बचत करने मे जो बाधा पडेगी, वह उपेक्षणीय रहेगी।

स्रोतो का भिन्न-भिन्न जगहो व नियोजनो में लगाना—व्यय का उत्पादन पर लाभदायक प्रभाव हो सकता है। सहायता व अनुदानो द्वारा सरकार अपने साधनो का ऐसी मदो मे प्रयोग कर सकती है, जो अब तक उपेक्षित रहे हो। इस प्रकार वह नए उद्योगो की स्थापना कर सकती है। इसी प्रकार पिछडे हुए क्षेत्रो पर रुपये खर्च करके सरकार देश के कुल उत्पादन को बढा सकती है। बुद्धिमानी से सचालित सार्वजनिक ऋण लेने की रीति से उन वर्गों को पूजी लगाने व बचत करने की प्रेरणा मिल सकती है, जो कि उत्पादन के लिए निश्चित रूप मे लाभदायक है। साथ ही सरकार अपने साधनो का ऐसे मदो मे प्रयोग कर सकती है, जिसमे राष्ट्रीय धन की पर्याप्त वृद्धि हो सकती है।

अन्तत, हम इन परिणाम पर पहुँचते है कि बुद्धिमानी से होने वाले सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर बहुत बडा प्रभाव पडता है। काम करने व बचत करने की इच्छा बढाकर यह परोक्ष रूप में उत्पादन मे सहायता करता है। यह राज्य द्वारा उद्यमो के प्रत्यक्ष उत्पादन के अलावा होता है।

७ सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव (Effects of Public Expenditure on Distribution)—समाज मे धन के वितरण पर सार्वजनिक व्यय का बहुत अच्छा और बडा प्रभाव पडता है। यहाँ तक कि यह आय की असमानताओ को भी दूर कर सकता है। इस बात को सब जानते है कि राज्य-सस्थाओ द्वारा गरीबो को अमीरो से अधिक लाभ पहुचता है। धनी व्यक्ति अपना सरक्षण स्वय कर सकता है। वह अपनी शिक्षा तथा चिकित्सादि की व्यवस्था स्वय कर सकता है। परन्तु एक निर्धन मनुष्य असहाय होता है। अस्तु, सार्वजनिक कार्यों से निर्धन ही अधिक लाभ प्राप्त करता है। सार्वजनिक व्यय इस सीमा तक धनी तथा निर्धन की खाई को पाटने का प्रबन्ध करता है और यही उसका लक्ष्य भी होता है।

कुछ निश्चित व्यय ऐसे है जिनमे गरीब का मुख्यत हित होता है, जैसे गरीबो की सहायता, वृद्धावस्था में पेंशन, बेकारी व अस्वस्थता की सहायता आदि। इन रीतियो से गरीबो को जो लाभ होता है, उसे उनकी आय मे योग कहा जा सकता है। जब कि हम यह जानते है कि धनियो पर कर लगाकर राजस्व प्राप्त किया जाता है, तब हमे इसी परिणाम पर पहुचना होगा कि कुछ सीमा तक धन-वितरण की असमानताओ को कम कर दिया गया है।

किन्तु फिर भी सार्वजनिक व्यय व उसको सचालित करने वाली नीति पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जिस प्रकार आनुपातिक, प्रगतिशील व प्रतिगामी कर होते है, ठीक उसी प्रकार सार्वजनिक अनुदान भी आनुपातिक, प्रगतिशील व प्रतिगामी हो सकते है। यदि वास्तव में सार्वजनिक व्यय द्वारा धन के वितरण को अधिक न्यायपूर्वक बनाना है तो उसे प्रगतिशील होना ही पडेगा। इसे (कर के रूप में भुगतान की क्षमता के अनुरूप ही) प्राप्ति की क्षमता के अनुकूल रहना ही होगा। कर में न्यूनतम त्याग के सिद्धात के अनुकूल सार्वजनिक व्यय मे अधिकतम लाभ का सिद्धात है। सार्वजनिक व्यय को इस

प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिये कि उससे पूरे समाज को अधिकतम लाभ हो। यह मार्गदर्शक सिद्धात है। इस दृष्टि से हम यह देखते हैं कि ऋण-सम्बन्धी सेवाओ पर किया जाने वाला व्यय प्रतिगामी होता है क्योकि इससे धनी लोगो को अधिक आय होती है। वृद्धावस्था में सहायता (पेंशन) तथा सामाजिक बीमा आदि के लाभो का अनुदान प्रगतिशील है। यदि सरकार गरीबो द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओ के उत्पादन में सहायता देती है तो वह प्रगतिशील है अन्यथा प्रतिगामी।

हमें यहा वैयक्तिक आय पर सार्वजनिक व्यय की प्रतिक्रिया पर भी विचार कर लेना चाहिये। यदि सार्वजनिक अनुदान कार्य करने व बचत करने की इच्छा को कम करता है, तो इससे लाभ पाने वालो की आय में कमी हो सकती है। यदि ऐसा है तो धन के वितरण की असमानताए कम नही की गई।

साराश यह है कि आधुनिक युग मे सार्वजनिक व्यय समाज में धन के वितरण में अधिकतर समता लाता है।

अध्याय ४५

सार्वजनिक वित्त (क्रमशः)

सार्वजनिक राजस्व (PUBLIC REVENUE)

१. सार्वजनिक राजस्व का वर्गीकरण (Classification of Public Revenue)—पिछले अध्याय में सार्वजनिक व्यय के बारे में चर्चा की थी, अब हम सार्वजनिक राजस्व पर विचार करेंगे। पहले इसके वर्गीकरण को लेंगे। सार्वजनिक राजस्व का वर्गीकरण इस प्रकार है। एडम स्मिथ ने सार्वजनिक राजस्व को दो भागो में विभक्त किया है (i) सम्पूर्ण प्रभु की सपत्ति से प्राप्त तथा (ii) लोगो की आय और सपत्ति से प्राप्त। स्पष्टतया यह वर्गीकरण समयानुकूल नही है, क्योकि सम्पूर्ण प्रभु (sovereign) और राज्य (state) के बीच पूर्ण अलगाव किया गया है। सम्पूर्ण प्रभु को सिविल लिस्ट की उदार सूची से सन्तुष्ट होना पडता है। आधुनिक राज्य अपनी अधिकाश आय करो द्वारा प्राप्त करता है।

एडम स्मिथ ने राजकीय आय का निम्न भाति वर्णन किया है—

(i) प्रत्यक्ष आय (Direct Revenue)—राज्य की निजी आय अर्थात् सार्वजनिक कार्यो, सार्वजनिक उद्योग, ग्रेच्युटी, उपहार, जब्ती और हर्जानो से प्राप्त किया जाता है।

(ii) व्युत्पादित आय (Derivative Revenue)—यह आय लोगो की आय से प्राप्त की जाती है। इसे आयकर, फीस, असेसमेंट, जुर्माना और दडो से प्राप्त किया जाता है।

(iii) प्रत्याशित आय (Anticipatory Revenue)—इसमें भावी आय का अनुमान किया जाता है, जैसे ऋण तथा ट्रेजरी बिलो से प्राप्त आगम।

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋणो से प्राप्त आय सामान्यतः सार्वजनिक राजस्व का अग नही मानी जाती। जैसा कि साधारणतया विदित है, सार्वजनिक राजस्व म राज्य की आय सम्मिलित है, जो राज-भूमि-अधिकार, उद्योग और करो आदि से प्राप्त होती है।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि वर्गीकरण के प्रयत्नो मे केवल सैद्धान्तिक महत्व होता है, व्यावहारिक महत्व बहुत थोडा या बिल्कुल नही होता। भारत में राजस्व के साधनो का वर्गीकरण केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय किया गया है। केन्द्रीय साधनो मे आय कर, चुगी, केन्द्रीय आबकारी कर, अफीम, नमक, डाक-तार, रेलवे और कारपोरेशन कर सम्मिलित है। राज्य साधनो में है लगान, जगलात, रजिस्ट्रेशन टिकट, आबकारी, आमोद-प्रमोद कर, बिक्री कर तथा आय-कर का भाग सम्मिलित है तथा स्थानीय सूत्रो मे राज्य-पालिकाओ के लिए चुगी कर, गाड़ियो, व्यापारो, व्यवसायो पर कर, पानी कर, मकान कर, आदि तथा जिला बोर्डो के लिए प्रान्तीय दरें और अनुदान सम्मिलित है।

२ कर, फीस, दर आदि (Tax, Fees, Rates etc)—हमने देखा है कि सार्वजनिक राजस्व का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत कर है। किन्तु करो द्वारा राजस्व के बहुत से रूप होते है। उनमे कर, फीस, कीमते, विशेष निर्धारण, दरे आदि सम्मिलित है। अब हम इन सब के भेदो पर विचार करेंगे।

कर (Tax)—प्लेह्न (Plehn) ने कर की परिभाषा इस प्रकार की है "कर धन के रूप में दिये गए सामान्य अनिवार्य अशदान है जो राज्य के निवासियो पर **सामान्य लाभ** पहुचाने के लिए, किये गये व्यय को पूरा करने के लिए, लोगो से लिये जाते है।"[1] इस परिभाषा से कर का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कर की विशेषता यह है (क) कुछ दशाओ के अन्तर्गत यह अनिवार्य आरोपण (levy) है और (ख) यह राज्य के **सामान्य** अभिप्राय के लिए लिया जाता है। व्यक्ति यह आशा नही कर सकता कि उसके द्वारा दिये गये कर के बदले राज्य को उसकी विशेष सेवा करनी चाहिए। यदि मै आयकर अदा करता हू तो मै बदले में यह दावा नही कर सकता कि राज्य मेरी सपत्ति की रक्षा के लिए जो मरी आय का स्रोत है मेरे फाटक पर पुलिस बिठा दे। इसका अर्थ यह नही है कि लोगो से आय प्राप्त कर के बदले में राज्य को कुछ भी नही करना चाहिए। राज्य सामान्य प्रशासन को चलाता है और लोगो को बहुत से लाभ पहुचाता है। किन्तु वे **मिले-जुले** लाभ है, जो सबके लिए होते है, किसी **विशेष** करदाता के लिए नही। कोई प्रत्यक्ष "तत्-प्रति-तत्" (quid pro quo) नही है। सरकार द्वारा सभी के हित के लिए किये गये **सामान्य व्यय** को पूरा करने के उद्देश्य से कर लगाये जाते है। टासिग के शब्दो मे, "**सरकार द्वारा लिये गये अन्य प्रभार** (charges) के अतिरिक्त कर का सार करदाता तथा सार्वजनिक अधिकारी के अन्तर्गत किसी प्रत्यक्ष "तत्-प्रति-तत्" का न होना है।"[2]

शुल्क या फीस (Fee)—यह भी अनिवार्य अदायगी है, जो उन लोगो द्वारा दी जाती है जो बदले मे निश्चित सेवा करते है। फीस की गई सेवा की लागत के एक अश को सामान्यत पूरा करने के लिए ली जाती है। यह सेवा की लागत से अधिक नही होती। की गई सेवा मे किसी सार्वजनिक अभिप्राय का दृष्टिकोण रहता है। स्पष्ट उदाहरण शैक्षिक फीस का है। प्लेह्न के शब्दो मे, "फीस व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक शक्ति के अधिकार के अतर्गत धन के रूप में दिया गया चन्दा है, जो सरकार द्वारा किये गए ऐसे कार्य की कुल लागत अथवा उसके एक भाग को पूरा करने के लिए ली जाती है, जो साझे के लाभ प्रदान करने के साथ-साथ विशेष लाभ की भी व्यवस्था करता है अथवा जो मध्यस्थतापूर्वक माना जाता है।" सक्षेप मे फीस विशेष सेवा के लिए ली जाती है, जो सार्वजनिक हित के लिए की जाती है। लाइसेंस की फीस सेवा की लागत से बहुत अधिक होती है और बदले में विशिष्ट सेवा नही की जाती।

कीमत (Price)—राज्य द्वारा की गई विशिष्ट सेवाओ के लिए कीमते भी दी जाती है। किन्तु फीस और कीमत में अन्तर यह है कि फीस मे सार्वजनिक हित

1 Plehn Introduction to Public Finance, 1921 p 59
2 Taussig Principles of Economics, Ch LXVI, I

प्रमुख होते है, जब कि कीमत व्यापारिक ढग की सेवा के लिए अदायगी है, जैसे कि राज्य की रेलों द्वारा यात्रा करने की लागत। आप सेवा को क्रय न करके कीमत देने से बच सकते हैं। कीमतें कर मे भी भिन्न होती हैं। कर साझे लाभ के लिए दिये जाते हैं जबकि फीस और कीमत दोनो ही विशेष लाभो के लिए दिये जाते हैं। जब सार्वजनिक अधिकारी किसी वस्तु को बेचता है अथवा सेवा करता है, तो उपभोक्ता से जो सेवा का उपयोग करता है, ली गई अदायगी कीमत कहलाती है।

विशेष निर्धारण (Special Assessment)—प्रोफेसर सेलिगमैन ने विशेष कर-निर्धारण की परिभाषा इस प्रकार की है, "विशेष लाभ के अनुपात से लिया गया एक अनिवार्य अंशदान है, जो सार्वजनिक हित के लिए ली गई सपत्ति के विशेष सुधार की लागत को चुकाने के लिए लिया जाता है।" कल्पना कीजिए कि सरकार सडक का निर्माण करती है अथवा नालियो की उचित व्यवस्था करती है, तो पडौस की सारी सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि हो जायेगी। सरकार को अधिकार है कि वह इस अनर्जित वृद्धि का एक भाग उपयोग मे लाये। इस सम्बन्ध में सार्वजनिक अधिकारी द्वारा किये गये निर्धारण विशेष व्यय के एक भाग को पूरा करने के लिए किये जाते हैं। वे पहुँचाये गये लाभ के अनुपात से संपत्ति पर लगाये जाते हैं। सेलिगमैन ने विशेष कर-निर्धारण के सार का विश्लेषण इस प्रकार किया है (क) उनमे विशेष अभिप्राय का तत्व रहता है, (ख) विशेष लाभ को नापा जा सकता है, (ग) ये निर्धारण प्रगतिशील नही वरन् प्राप्त लाभ के समानानुपाती हैं, (घ) वे विशेष स्थानीय सुधार के लिए होते हैं और (ङ) वे समुदाय को बढाने और सुधार करने के लिए लगाये जाते हैं। विशेष निर्धारण में दवाव का तत्त्व रहता है, जो फीस मे नही होता।

दर (Rates)—वे स्थानीय अभिप्रायो से नगरपालिकाओ और जिला बोर्डों द्वारा लगाये जाते है। वे सामान्यता निवासियों की अचल संपत्ति पर लगाये जाते है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि ये किसी विशेष सुधार अथवा लाभ के लिये लगाये जाते हैं। दरें स्थान-स्थान पर भिन्न होती हैं।

३. करो का वर्गीकरण (Classification of Taxes)—करो का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ वर्गीकरण नीचे दिये जा रहे है—

(1) कर अनुपाती, क्रमवर्धमान, प्रतिगामी तथा अधोगामी हो सकते हैं।

अनुपाती कर (Proportional Tax)—आनुपातिक कर उसे कहते है जिनमें आय का चाहे जो भी आकार हो, वही दर अथवा वही प्रतिशत लिया जाता है। यदि सभी करदाताओ को अपनी आय का १ प्रतिशत अथवा रुपये में ६ पाई कर के रूप म ना पडे तो यह आनुपातिक कहलाता है।

क्रमवर्धमान कर (Progressive Tax)—इसके विपरीत यदि कर की दर म आय की वृद्धि के साथ बढती है, जिस पर कर लगाया जाय, तो इस कर को क्रमवर्धमान कर कहते हैं। क्रमवर्धमान कर का सिद्धान्त यह है कि जितनी अधिक आय उतना ही अधिक कर होता है।

यह ध्यान देने की बात है कि आनुपातिक करके अन्तर्गत भी धनी व्यक्ति अधि—

अदा करता है। उदाहरणार्थ, यदि मासिक वेतन पर दर १ प्रतिशत है, तो जो व्यक्ति २०० रुपये प्रति मास पाता है, वह वर्ष में २४ रु० अदा करता है और जो व्यक्ति महीने में ५०० रु० पाता है, वह वर्ष में ६० रुपया अदा करेगा। इस प्रकार अधिक आयवाला व्यक्ति आनुपातिक कर के अन्तर्गत भी अधिक अदा करता है किन्तु क्रम-वर्धमान कर-निर्धारण के अतर्गत वह अपेक्षाकृत अधिक अदा करेगा, क्योकि जैसे-जैसे आय बढती है, कर की दर भी बढती है। ५०० रु० मासिक आय वाले व्यक्ति को १ प्रतिशत के बजाय २ प्रतिशत अदा करना पड सकता है। अतएव वह वर्ष मे ६० रु० के बजाय १२० रु० अदा करेगा। प्रत्येक देश ने कर-निर्धारण की क्रम-वर्धमान प्रथा को अपनाया है, क्योकि उसे अधिक समता-योग्य समझा जाता है। यह इस कारण है कि आनुपातिक कर-निर्धारण में योजित त्याग जितना होना चाहिए, उससे कम होता है। क्रम-वर्धमान कर-निर्धारण की अच्छाई-बुराई पर हम आगे विचार करेंगे।

प्रतिगामी कर या (क्रमश घटता हुआ) (Regressive Tax)—जब कर का भार अमीरो की अपेक्षा गरीबो पर अधिक पडता है, तो उसे प्रतिगामी कर कहते है। वह क्रमवर्धमान कर का उल्टा है। कोई भी सभ्य सरकार ऐसा कर नही लगाती जिसमें आय के बढने के साथ कर घटता जाता हो। वह अनुचित होगा। किन्तु वस्तुओ पर लगे ऐसे बहुत से कर होते है, जिनका बोझा मुख्यत गरीबो पर ही पडता है। भारतीय नमक कानून अप्रगतिशील माना जाता था, क्योकि उसका भार अमीरो की अपेक्षा गरीबो पर बहुत था। साफ बात तो यह है कि अमीर लोगो को यह कर महसूस ही नही होता।

अधोगामी कर (Degressive Tax)—उस कर को अधोगामी कर कहते है, जो अधिक आय उचित त्याग नही करती अथवा जब कर का भार अपेक्षाकृत कम होता है। ऐसा उस दशा में होता है जब कर अर्द्ध-प्रगतिशील होता है अर्थात् जब प्रगतिशीलता की गति काफी ढालू नही होती। कोई भी कर एक सीमा तक प्रगतिशील हो सकता है, जिसके आगे वही दर ली जाती है। ऐसी दशा में कम आय की अपेक्षा अधिक आय को, कम त्याग करना पड सकता है।

(ii) करो का एक अन्य वर्गीकरण **प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों** (Direct or Indirect Taxes) में किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कर में जो व्यक्ति उसे अदा करता है, वही उसे बरदाश्त भी करता है। किन्तु अप्रत्यक्ष कर का भार अन्य व्यक्तियों पर चला जाता है। यदि मै आयकर देता हूँ तो मुझे ही उसे बरदाश्त करना पडता है। मै उसे किसी अन्य व्यक्ति के माथे बरदाश्त करने के लिए नही मढ़ सकता। यह प्रत्यक्ष कर है। किन्तु यदि शक्कर पर कर लगाया जाता है तो शक्कर का व्यापारी जो उस कर को देता है वह उसकी अदायगी दूसरे क्रेता से करा लेता है। अन्त में यहा तक कि उसे शक्कर के उपभोक्ता द्वारा बरदाश्त करना पडता है। कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बरदाश्त करने के लिए हट जाता है। इसे अप्रत्यक्ष कर कहते है।

(अगले अध्याय में हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो के गुण-दोषो पर विचार करेंगे।)

(iii) **विशिष्ट तथा यथामूल्य कर** (Specific and 'ad valorem'

Taxes)—विशिष्ट कर वस्तु के भार के अनुसार लगाया जाता है। यथामूल्य वस्तु के मूल्य के अनुसार होता है। यदि उसे मोटी और सस्ती वस्तुओ पर लगा दिया जाय तो उसे प्रतिगामी समझा जाता है। किन्तु ऐसे करो का प्रशासन करना आसान होता है। यथामूल्य करो के प्रशासन के लिए समुचित प्रशासकीय व्यवस्था की आवश्यकता होती है। बीजक की जाच की जाती है और वस्तुओ का मूल्याकन करने के लिए जाचने वाले की आवश्यकता पडती है।

४ कर नीति के सिद्धात (Canons of Taxation)—अर्थशास्त्र सिद्धात के इस अग के प्रति एडम स्मिथ का योगदान अब भी प्रतिष्ठित माना जाता है। कर निर्धारण-नियम सम्बन्धी एडम स्मिथ का कथन स्पष्टता और सरलता से आगे निकल गया है। उसके नियम अब भी कर-निर्धारण सिद्धातो पर होने वाली बातचीत का आधार ग्रहण करते है।

(i) समानता का सिद्धात (The Canon of Equality)—"प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी क्षमतानुसार सरकार के सहयोग के लिए योगदान देना चाहिए अर्थात् उस आमदनी के समानुपात से जो राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अन्तर्गत उसे प्राप्त होती है।"

इस नीति में समानता का न्याय या सिद्धात निहित है। यह कर-निर्धारण का अत्यत महत्वपूर्ण सिद्धात है। इसी से कर-प्रथा की नैतिक नीव पडती है। समानता के नियम का यह अर्थ नही है कि प्रत्येक करदाता को उतना ही धन अदा करना चाहिए। ऐसा अनुचित होगा। न इसका यही अर्थ है कि उन्हें उसी दर मे अदा करना चाहिए, जिसका अर्थ होता है समानुपातिक कर-निर्धारण और समानुपातिक-कर भी उचित कर नही होता। इस रीति का अर्थ है **त्याग की समानता**। कर की मात्रा करदाता की क्षमता के अनुसार होनी चाहिए। इससे साफ साफ क्रम-वर्धमान कर का सकेत मिलता है। एडम स्मिथ ने अपनी **"वेल्थ आफ नेशन्स"** नामक पुस्तक में लिखा है—"अमीरो द्वारा न केवल आमदनी के समानुपात मे बल्कि उनसे अधिक सार्वजनिक व्यय में योगदान देना बहुत अधिक अनुचित नही होगा।"[1] तभी कर अदा करने की क्षमता के समानुपात होगा।

(ii) निश्चितता का सिद्धात (Canon of Certainty)—"वह कर जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अदा करना पडता है, वह निश्चित होना चाहिए, ऐच्छिक नही। अदायगी का समय, अदायगी का ढग, अदायगी की मात्रा, अदा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट होनी चाहिए। जहा ऐसी बात नही है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति, जिसे कर अदा करना होता है, कर-वसूलकर्ता के अधिकार के अन्तर्गत कम या ज्यादा आ जाता है। वसूलकर्ता या तो कर न देने वाले व्यक्ति के ऊपर यह कर और अधिक बढा सकता है अथवा बढावे का डर दिखाकर अपने लिए कुछ भेंट या रिश्वत वसूल कर सकता है।"

---

1 The Wealth of Nations, Book V. Vol II, p 327

एडम स्मिथ के अनुसार कर निर्धारण में अनिश्चितता से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। वह इस नियम को बहुत ही आवश्यक मानता है, क्योंकि उसके विचार से "असमानता की अधिकता बहुत बड़ी बुराई नहीं है ... जितनी कि थोड़ी-सी अनिश्चितता बुराई है।" हैडले भी इसी महत्त्वपूर्ण नियम को मानता है, क्योंकि उसके विचार से समानता के सारे प्रयत्न करों के निश्चित होने के बिना भ्रमात्मक सिद्ध होंगे। निश्चितता के नियम की मांग यह है कि कर में स्वेच्छाचारिता की गुंजाइश न हो। यह आय-कर विभाग की इच्छा पर छोड़ दिया जाने वाला न हो। करदाता को स्वयं ही देखना चाहिए कि उसे विशेष धन देने के लिए क्यों कहा जाता है। इसी कारण बजट प्रस्तावों और उन पर होने वाली बहस का अत्यधिक प्रचार किया जाता है। बजट का पास होना निश्चितता की गारंटी करना है।

'पुराना कर कोई कर नहीं' यह एक सिद्धांत है, जो निश्चितता के इस सिद्धांत में से निकलता है। पुराने कर को सभी जानते हैं और उसके प्रति होने वाली प्रतिक्रिया भी निश्चित है और लोगों के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान कर लिया जाता है कि वे आवश्यक समन्वय कर लेते हैं और कर महसूस नहीं होता। करदाता की आर्थिक व्यवस्था में उससे कोई गड़बड़ी पैदा नहीं होती।

न केवल करदाता के दृष्टिकोण से निश्चितता आवश्यक है वरन् राज्य के दृष्टिकोण से भी उसकी आवश्यकता है। लगाये जाने वाले प्रस्तावित करों का मोटे तौर से सरकार में अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिए, और उसे उस समय का भी अनुमान लगाने की योग्यता होनी चाहिए जब कि वे आने लगेंगे तभी सरकार अपने वित्तीय कार्यक्रम पर चल सकती है।

(iii) **सुविधा का सिद्धांत** (The Canon of Convenience)—प्रत्येक कर को ऐसे समय और इस ढंग से लगाना चाहिये, जिससे कि करदाता को अधिक से अधिक सुविधा का अनुभव हो।

निश्चितता का नियम बताता है कि अदायगी का समय और ढंग निश्चित होना चाहिये, किन्तु सुविधा का नियम बताता है कि अदायगी का समय और ढंग सुविधाजनक होना चाहिये। यदि भूमि अथवा मकान पर किराया ऐसे समय में लिया जाता है जब कि किराया अदा किये जाने की आशा है, तो इससे सुविधा की रीति को संतोष हो जाता है। यदि कर चेक द्वारा अदा किया जा सकता है तो यह ढंग सुविधाजनक है, किन्तु इतना नहीं कि जितना कर अधिकारी को व्यक्तिगत रूप में अदा करने से हो जाता है। बाद वाले मामले में बहुत अधिक असुविधा और परेशानी होगी। उपभोक्ताओं पर लगाये जाने वाले कर सुविधाजनक होते हैं। उपभोक्ता उन करों को उस समय अदा करता है, जब कि वह क्रय करता है और उस समय जबकि वह अदा कर सकता है क्योंकि क्रेता अपने क्रय का समय स्वयं तय करता है। ढंग भी बहुत ही सुविधाजनक होता है, क्योंकि कर अदा करने के लिये उसे कोई विशेष व्यवस्था नहीं करनी होती। वह उसे उस समय अदा करता है जब कि कोई वस्तु क्रय करता है। कर वस्तु की कीमत में लिपट जाता है।

भारतीय लगान सुविधा के नियम के अनुसार है, क्योंकि वह किश्तों में और फसल

कटने के बाद अदा किया जाता है। इसके विपरीत आय-कर सुविधा की रीति का उल्लघन करता है। करदाता को अपनी हिसाब-किताब की बहियो को आय-कर अधिकारी के पास उसे सतुष्ट करने के लिये ले जाना पडता है। इसके फलस्वरूप बहुत-सी व्यक्तिगत मुलाकातें करनी पडती है और इससे बहुत-सा समय बरबाद होता है। इसमे बहुत परेशानी भी होती है। अच्छे प्रशासन और उत्पादन के आधार पर सुविधा की रीति उचित है।

(iv) **मितव्ययिता का सिद्धांत** (The Canon of Economy)—प्रत्येक कर को इस प्रकार लगाना चाहिये कि लोगो की जेबो से जितना लिया जाता है, और जितना सरकार के पास पहुँचता है, इन दोनो मे कम से कम अन्तर हो।

मितव्ययिता की रीति का एक कार्य-रूप बहुत ही स्पष्ट है। वह कर मितव्ययी है जिस पर वसूली की लागत बहुत कम होती है। इसके विपरीत यदि कर वसूली करने वाले अधिकारियो के वेतन में कर से प्राप्त आय का बहुत बडा भाग निकल जाता है, तो यह कर निश्चय ही अमितव्ययी होगा। जहा तक सभव हो, राज्य के कोष मे उतना आना चाहिये, जितना कि लोगो की जेबो से लिया जाय। मार्ग मे कोई ऐसी चीज न होनी चाहिये कि वह कम पड जाय। यदि आय-कर कार्यालय मे बहुधा आने मे अथवा कर अधिकारी की जाच में भ्रष्टाचार अथवा दबाव निहित है तो मितव्ययिता का नियम पूरा नही होगा।

किन्तु कर दूसरे अर्थों में कदाचित् विस्तृत अर्थो में मितव्ययितापूर्ण होना चाहिए। उससे मितव्ययिता के नियम का उल्लघन होगा यदि उससे व्यापार और उद्योग के विकास मे किसी प्रकार की अडचन पडती है। यदि आय पर भारी कर लिया जाता है तो पूजी जमा नही होगी और समाज की उत्पादन-क्षमता पर गम्भीर आघात पडेगा। बचत को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। यह स्पष्टतया अमितव्ययितापूर्ण होगा। वह कर मितव्ययी कहा जाता है यदि उससे देश की समृद्धि मे किसी भी प्रकार से अडचन नही पडती। मितव्ययिता की रीति के नियम के अनुसार ही १९४६-४७ का केन्द्रीय सरकार के बजट मे वैज्ञानिक अनुसधान, निर्मित इमारतो और खडी की गई मशीनो पर खर्च की रियायत देना स्वीकार किया गया था। समय आने पर उनमे निश्चय ही राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होगी।

हानिकारक दवाइयो तथा नशीले पदार्थों पर लगाये गये कर मितव्ययितापूर्ण माने जाते है क्योकि उनमे न केवल राज्य को आमदनी होती है वरन् अनुत्पादक व्यय को भी प्रोत्साहन नही मिलता। किन्तु कच्चे माल पर लगाये गये कर मितव्ययितापूर्ण नही होते, क्योकि उनसे तैयार वस्तुओ के दाम बढ जाते है और उद्योग की प्रतियोगिता क्षमता निर्बल हो जाती है। साथ ही यह भी कि प्रत्येक बिचवैया उस कर में कुछ न कुछ जोडता जाता है जो वह अदा कर चुका होता है।

एडम स्मिथ का पहला नियम नैतिक है और अन्य तीन प्रशासनीय प्रकृति के है।

अन्य सिद्धात (Other Canons)—जब से एडम स्मिथ ने लिखा है, तब से सार्वजनिक वित्त ने बराबर प्रगति की है। बाद के लेखको ने उनकी चार रीतियो में अपनी रीतिया जोड दी है।

(v) **राजकोषीय औचित्य अथवा उत्पादकता** (Fiscal Adequacy or Productiveness)—कर द्वारा लोगो से प्राप्त राजस्व पर ही राज्य को रहना चाहिए। सरकार को आर्थिक कठिनाइयो से मुक्त रहना चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि कर से प्राप्त आय उचित होनी चाहिए और सरकार को घाटा नही होना चाहिए। किन्तु सरकार को ज्यादती की गलती भी नही करनी चाहिए। अधिक राजस्व बढाने के उत्साह में उसे समाज की उत्पादन-क्षमता को किसी भी प्रकार से कम अथवा देश के आर्थिक साधनो को नुकसान नही पहुचाना चाहिए।

उत्पादकता की रीति से यह सकेत मिलता है कि एक कर जिससे अधिक आय होती है, वह उन बहुत से करो से अच्छा है, जिनमे से प्रत्येक से बहुत थोडी आय होती है। करो की सख्या को रोकना चाहिये, क्योकि प्रत्येक कर से नागरिको को परेशानी हो सकती है। किन्तु यहा पर हमें चेतावनी देनी चाहिये कि सकेन्द्रण (concentration) के नियम को अधिक ज्यादती की ओर नही ले जाना चाहिये अन्यथा वह या तो अमितव्ययितापूर्ण अथवा अनुचित बन जायेगा।

(vi) **लोच का सिद्धात** (The Canon of Elasticity)—लोच की रीति राजकोषीय औचित्य के निकट है। जैसे-जैसे राज्य की जरूरियात बढती है, वैसे वैसे राज्य की आय भी बढनी चाहिए अन्यथा वे समान नही रह पायेंगे। सकट अथवा परेशानी की अवधि का सामना करने के लिये राज्य को इस स्थिति में होना चाहिए कि वह अपने आर्थिक साधनो को बडा सके। कुछ कर ऐसे होने चाहिये कि यदि आवश्यकता आ पडे तो उनसे अधिक आय हो सके। आय-कर लोचपूर्ण कर का एक अच्छा उदाहरण है। कर को थोडा बढा देने अथवा उपरिकर (surcharge) लगा कर आय को काफी बढाया जा सकता है। जब यह शुरू हुआ था तो प्रथम आर्थिक उपाय, जो काम मे लाया गया, वह यह था कि आयकर में उपरिकर लगा दिया गया। रेलवे और डाक दरें भी बहुत ही लोचपूर्ण है।

(vii) **लचक** (Flexibility)—लचक की रीति लोच की रीति जैसी लगती है किन्तु दोनो के बीच का अन्तर बहुत ही स्पष्ट है। लचक का अर्थ यह है जा कर प्रथा में कोई कठोरता न होनी चाहिए जिससे कि उसका नई दशाओ के अनुसार आसानी के साथ समन्वय किया जा सके। लोच का अर्थ यह है कि आय बढाई जा सकती है। जब तक प्रथा लचकदार नही है, आय बढाई नही जा सकती, क्योकि परिवर्तन सम्भव नही होगा। इस प्रकार लचक का होना लोच की एक शर्त है। यदि कर प्रथा को बिना क्राति के बदलना सभव नही है तो उसमे कोमलता नही होती। बगाल का स्थायी बन्दोबस्त (१७९३) कठोरता का अथवा कर में लचक के अभाव का एक उदाहरण है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार ने अपने को भूमि-मालिको से एक ही राशि सदैव वसूल करने के लिए बाँध लिया था। लचक का यह अभाव बगाल में आर्थिक सकटो का कारण है।

(viii) **सरलता** (Simplicity)—आरमीटेज स्मिथ (Armitage Smith) के शब्दो में "कर-प्रथा सादी, सीधी और सर्वसाधारण की समझ में आने

योग्य होनी चाहिये।" भ्रष्टाचार और दबाव को रोकने के लिए यह नियम आवश्यक है। यदि कोई कर जटिल है कि करदाता यह समझ नही पाता कि उसे कितना अदा करना चाहिए, और क्यो अदा करना चाहिए, तो कर एकत्र करने वालो के हाथ में बहुत अधिकार चले जावेंगे। भ्रष्टाचार और दबाव के लिए दरवाजा खुल जायेगा।

(ix) अनेकरूपता (Diversity)—अन्य महत्त्वपूर्ण रीति विभिन्नता की है। अकेले एक कर से अथवा थोडे करो से काम नही चलेगा। करो मे बहुत सी किस्में होनी चाहिये, जिससे कि सभी नागरिक जो राज्य की आय मे देने की क्षमता रखते हो, दे सकें। उनके पास विभिन्न तरीको से पहुचना चाहिए। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो का बुद्धिमत्तापूर्ण मिश्रण होना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक औचित्य व समानता दोनो को सतोषप्रद ढग से उपयोग किया जा सकता है। किन्तु अत्यधिक सख्या वृद्धि अनुचित और अमितव्ययी होगी।

(x) आधुनिक काल में करारोपण के कार्यो पर विचार करते हुए एक नए सिद्धात का जन्म हुआ है, अर्थात् किसी समुदाय मे कर का प्रभाव वहा के आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यो के तथा उन सस्थाओ तथा विधियो के अनुरूप होना चाहिये जो इन्हे पूरा करने मे सहायक हो। तटस्थता का सिद्धात अथवा "वे-जैसे हो उन्हे रहने दो" सिद्धात आज इस कसौटी पर पूरा नही उतरता। करारोपण नीति अधिक निश्चित होनी चाहिए। इसका उद्देश्य अधिकाधिक आर्थिक स्थिरता तथा विकास के अलावा राजनैतिक तथा सामाजिक लक्ष्य पूरे करना है। आर्थिक नियत्रण तथा धन विषयक उपायो के साथ करारोपण का काम आर्थिक अस्थिरता तथा रुकावट को "प्रतिकरात्मक प्रबन्ध राजकोषीय प्रोग्राम" द्वारा अन्त करना है। जर्मन अर्थशास्त्री, एडोल्फ वेगनर ने अपनी १८८० में प्रकाशित "Finanzwissent Chaft" नामक पुस्तक मे असमानताओ को दूर करने के लिए "सामाजिक प्रतिकरात्मक अथवा करारोपण के सामाजिक एव राजनैतिक सिद्धात" का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धात को १९३० की महामदी के दिनो में लागू किया गया, तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद जब करारोपण मुद्रास्फीति से बचने के लिए हथियार के रूप मे काम आया।

अन्य कई विचार सामने आए। उदाहरण के लिए, यह सिफारिश की गई कि, कर पूजी पर न पड कर राजस्व पर पडना चाहिए। इससे टैक्स देने वाले के न्यूनतम गुजर-बसर पर आघात नही होना चाहिए आदि।

श्रीमती हिक्स ने करारोपण[1] के तीन सिद्धातो पर जोर दिया है। पहला, करारोपण का प्रथम उद्देश्य लोक-सेवाओ के लिए वित्त-पोषण करना है। दूसरा, नागरिको पर कर इस तरह लगाया जाय कि वह उनकी अदा करने की क्षमता तथा पारिवारिक हालात के मुताबिक हो। यह सिद्धात सामाजिक न्याय से सम्बन्धित है। तीसरा, कर व्यापक होना चाहिए अर्थात् एक-सी हैसियत के नागरिको मे कोई फर्क नही किया जाना चाहिए। यह सिद्धात कानूनी समानता पर आधारित है।

---

1 Ursula, K Hicks—Public Finance, 1948, pp 131-33

यहा यह बताना जरूरी है कि किसी भी देश में कोई भी कर इन सभी सिद्धातो को पूरा नही करता। हमें इस टैक्स व्याख्या को व्यापक रूप मे देखना है न कि व्यक्तिगत कर को। कुछ टैक्स तो इन सिद्धातो में बाधक होगे ही। किन्तु व्यापक रूप से टैक्स प्रणाली को इन सिद्धातो के पूरा करना चाहिए।

५ उत्तम कर-प्रथा की विशेषताए (Characteristics of a Good Tax System)--उत्तम कर-प्रथा मे ऐसे कर शामिल होने चाहिये जो उपर्युक्त कर-निर्धारणो के नियमो के अनुकूल हो। समूची कर-प्रथा समान होनी चाहिये। उसका भार विस्तृत कधो पर पडना चाहिये। उसे किफायती होना चाहिये जिससे कि एकत्र करने का काम जितना ही सस्ते ढग मे हो सके, उतना ही अच्छा है। उससे व्यापार और उद्योग के विकास मे बाधा नही पडनी चाहिये। इसके विपरीत उसे देश के आर्थिक विकास में सहायता करनी चाहिये। सरकार को अपनी आमदनी के सम्बन्ध में निश्चय होना चाहिये। कर-प्रथा सम्पूर्ण और वर्तमान आकडो सम्बन्धी जानकारी पर आधारित होनी चाहिये, जिससे कि सही भविष्यवाणी सभव हो सके। कर-प्रथा अधेरे में एक उछालमात्र नही होनी चाहिये। उसके प्रभावो का सही-सही हिसाब लगाया जा सकना चाहिये। समूचे कर सुविधाजनक होने चाहियें अर्थात् उनको जितना भी सभव हो, उतना कम महसूस किया जा सके।

कर-प्रथा सरल, वित्तीय रूप से उचित और लोचपूर्ण होनी चाहिये जिसमे कि उसमे नई आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। वह हमारे लगान की भाति जटिल नही होनी चाहिये जो ३० या ४० वर्षों के लिये निर्धारित कर दिया जाता है। पजाब में लगान की सरकने वाले स्तर की प्रणाली (sliding scale system) के उपयोग से यह खराबी कुछ सीमा तक दूर हो जाती है।

सरलता के आदर्श से हम एकल (single) कर प्रणाली के समर्थक हो सकते है। किन्तु एकल कर-प्रथा अन्य गम्भीर आपत्तियो को खोल देगी। अतएव, यह माना जाता है कि कर-प्रथा का जितना सभव हो, उतना ही विस्तृत आधार होना चाहिये। कर-प्रथा में विभिन्नता होनी चाहिये। किन्तु हम करो की बहुत अधिक सख्या नही चाहते। अतएव, हम आर्थर यग के इस कथन से सहमत नही है कि "यदि उसे उत्तम कर-प्रथा की परिभाषा करनी पडे तो वह बिन्दुओ की अनिश्चित सख्या हल्का प्रभाव डालने वाली और भारी दबाव डालने वाली, किन्तु किसी पर नही होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त प्रशासन के दृष्टिकोण से कर-प्रथा योग्य होनी चाहिये। वह प्रशासन के लिये सरल होनी चाहिये। बकाया के दबा जाने अथवा जमा हो जाने की गुजाइश नही होनी चाहिये। उस पर मूर्खो का कोई असर नही पडना चाहिये और न दगाबाजो का कोई असर होना चाहिये। भ्रष्टाचार की गुजाइश कम होनी चाहिये।

उत्तम कर-प्रथा की एक अन्य विशेषता यह है कि वह पूरी तरह से सद्भावनापूर्ण होनी चाहिये। वह वास्तविक एक प्रथा होनी चाहिये न कि अलग करो की वसूली मात्र।

प्रत्येक कर समूची प्रथा मे ठीक-ठीक जम जाना चाहिये जिसमे कि वह मिले-जुले सम्पूर्ण का एक अग हो जाय। आर्थिक ढाचे में प्रत्येक कर को एक निश्चित और उचित स्थान प्राप्त होना चाहिये। वे विभिन्न दिशाओ मे खीचातानी करने वाले नही होने चाहिये। उदाहरणार्थ, सरक्षणात्मक शुल्क (protective duty) तथा उत्पादन शुल्क (excise duty) साथ-साथ भली भाति नही चल सकते।

६. भारतीय कर-प्रथा (The Indian Tax System)—प्रशासन के दृष्टिकोण से भारतीय कर प्रथा बहुत ही सुन्दर है। चोरी से वस्तुए लाने और ले जाने का काम नही हो पाता और न उसमे बहुत-सी खामिया ही है। कर देने से बचना साधारण बात नही। कर वसूली की लागत भी असमानुपातिक रूप से अधिक नही है। वह बहुत ही सादी है। राज-कर औचित्य और पर्याप्तता के आधार पर कठिनता से कोई आपत्ति की जा सकती है। कर-प्रथा नितान्त उत्पादक है। वह बिल्कुल विस्तार के साथ आधारित है। यहा तक कि देश का गरीब से गरीब व्यक्ति भी कुछ न कुछ अदा करता है, अर्थात् लगान। यह अनेक रूपो वाली प्रथा है। अन्य देशो की अपेक्षा भारतीय कर-प्रथा विशेषतया असुविधाजनक भी नही है। लगान किश्तो मे अदा किया जाता है और फसल कटने के बाद दिया जाता है। वस्तुओ पर करो का महत्वपूर्ण स्थान है। लचक अथवा लोच के आधार पर हमें शिकायत का कोई कारण नही है। हमारी कर-प्रथा ने खर्चीले युद्ध के प्रभावो का शानदार ढग से सामना किया है।

किन्तु हम यह नही कह सकते कि हमारी कर-प्रथा आदर्श कर-प्रथा है। भारत मे भारतीय व्यापार और उद्योग की आवश्यकता के महत्व को समझे बिना कर लगाये गये है। चुगी-कर आमदनी के उद्देश्य से लगाये गये है। टैरिफ अनुसूची से भारतीय उद्योगो के विकास मे बहुधा बाधा उपस्थित हुई, घिसाई-खर्च के लिए कम राशि मजूर की गई। अतएव, उद्योग के यत्रो को नया करने अथवा उनके स्थान पर दूसरे यत्र लगाने में वास्तविक कठिनाई अनुभव हुई। यद्यपि हाल के बजटो मे इस बुराई को कुछ सीमा तक दूर किया गया है। फिर भी हमारी कर-प्रथा किफायत नियम के पूरी तरह अनुकूल नही है।

सबसे अधिक उल्लघन समानता के नियम का है।[1] भारतीय कर-प्रथा अमीरो के विरुद्ध गरीबो के प्रति भेद-भाव रखती है। आय-कर वह कर है, जो अमीरो द्वारा अदा किया जाता है, किन्तु प्रगति उतनी ढालू नही है जितनी कि होनी चाहिये। लगान, चुंगी, आबकारी और यहा तक कि रेलवे किराया कुल मिला कर गरीबो द्वारा अमीरो की अपेक्षा अधिक अदा किया जाता है। उत्तराधिकार की अनुपस्थिति अथवा मृत्यु-कर हमारी कर-प्रथा की प्रतिगामी प्रवृत्ति को बढा देता है। प्रोफेसर के टी शाह के शब्दो मे, "अमीर वर्ग अपेक्षाकृत थोडे भार के साथ बच जाते है, यद्यपि इस भार को टाल देने अथवा सहन की उनकी क्षमता अधिक होती है, जब कि गरीब वर्ग, जो इस प्रकार के भार मे बच नही सकते, उन्हे सिंह-सी शक्ति के इस भारी बोझ को वहन करना पडता है जब कि उसे वहन करने की उनकी क्षमता मेमने जैसी होती है।"

---

1 See Indian Economics by Dewett and Singh

भारतीय आय-कर-प्रथा आश्रितो की सख्या के लिये कोई भत्ते की व्यवस्था नही करती। अतएव वह अदायगी की क्षमता के अनुकूल नही है।

अनिश्चितता का तत्त्व भी इसमें निहित है। मानमून एक घबडाहट पैदा करने वाला कारण है। भारतीय बजट मानसून में एक जुआ माना गया है।

भारतीय कर-प्रथा में अन्य बहुत से दोष हैं। वह बहुत ही उल्टी-मीधी है, और उसकी योजना वैज्ञानिक ढग से नही तैयार की गई। वह समय की आवश्यकताओ के अनुकूल तोडी-मोडी गई है। विशेष आवश्यकता बजट में मनुलन बनाने की रही है। करो के प्रभावो तथा उत्पादन और वितरण पर उनके प्रभावो के प्रति बहुत कम ध्यान दिया गया है। वह वास्तव मे कोई प्रथा नही रही। सर वाल्टर लेटन ने भारतीय बजट को "कसा हुआ"[1] बताया है। जिसमे अप्रत्याशित और अनजाने व्ययो की बिल्कुल ही व्यवस्था नही है।

कर-प्रथा बहुत ही अनुदार भी है। वर्तमान रूप मे आबकारी आय और लगान भी जारी है, यद्यपि उनकी व्यापक रूप से निन्दा की गई है।

अन्य उन्नत देशो के विपरीत भारत में प्रत्यक्ष कर गौण कार्य करते है, यद्यपि युद्ध-काल (१९३९-४५) में अपनाये गये आर्थिक साधनो के फलस्वरूप यह प्रथा इस दशा में सुधारी गई है। १९३८-३९ में सम्पूर्ण राजस्व में आय पर लगाये करो का अनुपात २२ ६ प्रतिशत था, किन्तु १९४५-४६ में वह ६२ ३ प्रतिशत था।

अभी हाल तक हमारी कर-प्रणाली ने अर्जित और अनर्जित आय में कोई भेद नही किया और इम प्रकार वास्तविक श्रमिक और निष्क्रिय अमीर के साथ एक-सा व्यवहार किया। १९४५-४६ में १० प्रतिशत अर्जित सहायता स्वीकार की गई थी।

केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय वित्त के बीच वितरण की रीति भी दोषपूर्ण है। चूकि आय-कर प्रत्यक्ष कर है, अतएव वह सम्पूर्णतया प्रान्तीय होना चाहिये और बहुत से प्रान्तीय कर, जैसे मनोरजन-कर और बिक्री-कर स्थानीय सस्थाओ के होने चाहियें। भूमि-कर का एक भाग भी स्थानीय बोर्डों को मिलना चाहिये।

अतएव, हम यह नही कह सकते कि भारतीय कर-प्रणाली पूर्णत सतोषजनक है। सुधार की बहुत ही गुजायश है।

७ कराधान मे न्याय की समस्या (The Problem of Justice in Taxation)—हमने कर-निर्धारण के विभिन्न नियमो पर विचार किया है और इनमे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नियम समानता का नियम जान पडता है। अतएव कर-निर्धारण की अत्यधिक आधारभूत समस्या न्याय की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति वित्त मत्री से आशा करता है कि वह अपने कर-निर्धारण प्रस्तावो को इस प्रकार तैयार करें कि जिससे इस बात का विश्वास पैदा हो जाय कि कर-निर्धारण का भार उन पर पडता है, जो उसे पूरी तरह से वहन कर सकते हैं। यह उचित है कि एक ही आर्थिक स्थिति के लोगो के साथ कर-निर्धारण के अभिप्राय से एक प्रकार से

1 "Tight fit"

व्यवहार किया जाय, किन्तु आर्थिक स्थिति की नाप क्या होनी चाहिये ?

कर-निर्धारण मे न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए समय-समय पर अनेक सिद्धात सामने रखे गए है । हम नीचे उनमे से कुछ सिद्धातो की जाच करेगे—

(i) **सेवा की लागत का सिद्धात** (The Cost of Service Principle)—चाहे कितना ही सेवा लागत सिद्धात उचित जान पडे, उसे वास्तविक व्यवहार मे लागू नही किया जा सकता । करो से प्राप्त आय द्वारा की जाने वाली सेवाओ जैसे सशस्त्र सेनाए, पुलिस आदि का लागत खर्च ठीक-ठीक निश्चित नही किया जा सकता । हमें हिसाव लगाना पडता है कि किसी विशेप करदाता की सेवा में क्या लागत लगेगी । हम जानते हैं कि करो के मामले मे करदाता के लिए कोई प्रत्यक्ष तत्-प्रति-तत् व्यवहार नही है। इसलिए किसी कारदाता के लिए व्यक्तिगत रूप से सेवा के मूल्य के आकने का प्रश्न ही नही उठता । केवल उन्ही मामलो मे, जिनमें सेवाएं कीमतो के वदले मे की जाती है, जैसे विजली की पूर्ति, रेलवे या डाक सेवा आदि, वहा सेवा के मूल्य के अनुसार कुछ निकटता तक कीमत वसूल की जा सकती है । यहा तक कि यहा भी ठीक-ठीक कीमत नही आकी जा सकती और कीमत को निर्धारित करने के लिए हमे इस सिद्धात पर आना पडता है कि सेवा की जो लागत हो वही वसूल किया जाय । अतएव, सेवा के कीमत-सिद्धान्त को अव्यावहारिक होने के कारण अस्वीकार कर देना चाहिए।

(ii) **लाभ अथवा "तत्-प्रति-तत्" सिद्धांत** (Benefit or 'Quid Pro Quo' Theory)—जिन कारणो का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन्ही के फलस्वरूप लाभ सिद्धान्त भी उस समय असफल हो जाता है, जब उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जाता है । वहुत-सा सार्वजनिक व्यय साझे अथवा अविभाज्य लाभो के लिए किया जाता है। यह हिसाव लगाना कठिन है कि एक विशेप कार्य के लिए कितना लाभ किसी समय में वढकर होता है । वहुत थोडे ऐसे मामले है, जहा व्यक्ति के लाभ का हिसाव लगाया जा सकता है, जैसे वृद्धावस्था की पेशन । इस मामले पर लागू करने से सिद्धात स्वय ही पेशन की वापसी की मांग करेगा, क्योंकि वह लाभ की ठीक-ठीक नाप है । कोई भी इस प्रस्ताव को गम्भीरता के साथ नही रखेगा । अतएव लोगो से यह कहना असम्भव है कि वे अपने द्वारा प्राप्त लाभ के अनुसार धन अदा करें। लाभ सिद्धात के विरुद्ध अन्य वहुत-सी आपत्तिया उठाई जा सकती है । कर राज्य के सामान्य अभिप्रायो के लिए दिया जाता है न कि किसी विशिष्ट सेवा का वदला चुकाने के लिए । लाभ सिद्धान्त का अर्थ उसी दशा में हो सकता है, जव कि हम सारे समाज के लाभ की वात सोचे, किन्तु व्यक्ति पर कर लगाने के अभिप्राय से यह स्पष्टतया व्यर्थ है । यदि आप कुछ मामलो में ऐसा करना भी चाहेंगे, तो कठिनाई मे पड जायेंगे । आप किस आधार पर ऐसा करेंगे ?

इसके अतिरिक्त ऐसा सामान्यत विश्वास किया जाता है कि राज्य के सगठन से गरीवो को अमीरो की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। यदि ऐसा ही है तो लाभ सिद्धात को लागू करने का अर्थ होगा उन लोगो से अदायगी कराना जो अदा

करने की क्षमता नही रखते और उन लोगो को छोड देना जो कर सकते है, और जिन्हें करना चाहिये। यह एक भद्दी बात होगी।

प्लेह्न (Plehn) के शब्दो मे, "शांतिपूर्ण जीवन-यापन, स्वतन्त्रता और सपत्ति साझे के लाभ है।" जहाँ तक जीवन और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है, सभी के लिए वही सुरक्षा राज्य की ओर से प्राप्त होती है। यह समान कर के लिए सकेत करता है अर्थात् पॉल टैक्स (poll tax)। किन्तु पॉल टैक्स को बहुत पहले ही त्याग दिया जा चुका है, क्योकि उसमे अपेक्षाकृत कम प्राप्ति होती है और लागत अधिक लगती है तथा वसूली में बडा झझट भी होता है। यदि हम आधार के रूप में सम्पत्ति की सुरक्षा को ले तो वह समानुपातिक कर होगा, पूजी के मूल्य की समानुपातिक अथवा सम्पत्ति की आय कराने वाली क्षमता। किन्तु आधुनिक समय में समानुपातिक कर-निर्धारण भी अस्वीकार कर दिया गया है। क्योकि वह न्यायपूर्ण नही है, अतएव हम लाभ को न्याय का स्तर नही मान सकते।

फिर भी, सभी आधुनिक कर-प्रणालियो में लाभ सिद्धात को स्थान है। फीस, लाइसेंस, विशेष निर्धारणो तथा स्थानीय करो में लाभ का सिद्धान लागू होता है।

(iii) **अदा करने की योग्यता अथवा क्षमता का सिद्धात** (Ability to Pay or Faculty Theory)—अत्यधिक लोकप्रिय तथा न्याय का विश्वसनीय सिद्धान यह है कि प्रत्येक करदाता को अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार कर देना पडे। उसे उसकी कर दे सकने की क्षमता पर आधारित होना चाहिए। इससे अधिक और कुछ न्यायपूर्ण नही हो सकता। किन्तु इस सिद्धात को स्वीकार करने का अर्थ हमारी कठिनाइयो का अन्त नही, बल्कि यही से कठिनाइया शुरू होती है। जो प्रश्न हमारे सामने है वह यह है कि मनुष्य की योग्यता की नाप किस प्रकार की जाय। किसी व्यक्ति की कर अदा करने की क्षमता जानने के उचित आधार की खोज करने के लिए हमें दो दिशाओ पर चलना चाहिए—एक तो भीतरी और दूसरा बाहरी। यदि हम किसी करदाता की कर देने की क्षमता की उसके परोक्ष रुप में जाच करना चाहें तो उसमें निहित असुविधा और त्याग पर विचार करना होगा। इस बात पर तीन स्पष्ट दृष्टि-कोण सामने रखे गये है —(क) समान त्याग का सिद्धात, (ख) समानुपातिक त्याग का सिद्धात, और (ग) न्यूनतम त्याग का सिद्धात।

जे० एस० मिल के शब्दो में, "राजनीति के सिद्धान के रूप में कर-निर्धारण की समानता का अर्थ है त्याग की समानता। इसका अर्थ है सरकार के कामो की मद में प्रत्येक व्यक्ति के भाग को इस प्रकार से निश्चित करना कि जिससे वह अपनी अदायगी के भाग से ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा, जो अपने भाग से असुविधा अनुभव करता है, न कम और न अधिक अनुभव करे।"[1] इस सिद्धात के अनुसार कर-निर्धारण का धन भार इस प्रकार वितरित किया जाता है कि व्यक्तिगत करदाता के ऊपर समान वास्तविक बोझ रहे। इसका अर्थ होगा समानुपातिक कर-निर्धारण।

1 Mill, J S Principles of Political Economy, Bool V, 112

समानुपातिक त्याग (Proportional Sacrifice) के सिद्धात के अनुसार व्यक्तिगत करदाताओ के ऊपर वास्तविक बोझ समान नही वरन् या तो उनकी आय या आर्थिक कल्याण, जो वे प्राप्त करते है, उसके समानुपातिक होगा। जो अधिक त्याग कर सकते है, उन्हें ऐसा करने के लिए कहना चाहिए। इसका अर्थ है क्रमवर्धमान कराधान।

न्यूनतम त्याग का सिद्धात (Minimum Sacrifice Principle)—करदाताओ का विचार सम्पूर्ण रूप से करना है, न कि व्यक्तिगत रूप से। इस सिद्धात के अनुसार समुदाय पर कुल बोझा इतना कम होना चाहिये, जितना कि सम्भव हो। न्यूनतम सम्पूर्ण त्याग सिद्धात के प्रमुख प्रतिनिधि एजवर्थ के शब्दो में, "न्यूनतम त्याग कर-निर्धारण का श्रेष्ठतम सिद्धात है।" इस सिद्धात मे "न्यूनतम शक्ति का एक ऊचा धरातल होगा और जैसे-जैसे आय बढती है, बहुत ही ढालू क्रम (steep progression) निहित होगा। जितना ही सम्पूर्ण त्याग कम होगा, उतना ही समुदाय पर कर-भार का अच्छा वितरण होगा। राज्य मानव-कल्याण को बढाने के लिए होना है। ऐसा वह निहित त्यागो को कम करके कर सकता है।

त्याग के सिद्धानो का केवल सैद्धातिक महत्त्व है। इसका बहुत ही कम व्यावहारिक महत्व है। त्याग एक परोक्ष की वस्तु है। वह करदाता की आतरिक वस्तु है और हमारे पास उसके नापने के कोई साधन नही होने। शराब पर लगे कर का अर्थ है शराब के उपभोक्ता के लिए बहुत बडी असुविधा, किन्तु उसके लिए कम हानि। क्षमता की परीक्षा के रूप में त्याग को अवश्य ही छोड देना चाहिये।

अतएव व्यक्ति की क्षमता को मापने के लिये हमे दूसरी विधि से काम लेना चाहिये। यहा हमारा आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित है। किन्तु यहा पर फिर हम देखते है कि बहुत-सी विधिया बताई गई है। व्यक्ति की कर देने की क्षमता को (क) उपभोग, (ख) सपत्ति, अथवा (ग) आय के अनुसार मापना चाहिए। उपभोग निश्चित विधि नही है क्योकि गरीब द्वारा राज्य की सेवाओ का उपभोग अथवा उपयोग उनके साधनो के सम्पूर्ण समानुपात से बाहर माना जाता है। अतएव उसे कर-निर्धारण का व्यावहारिक सिद्धात नही माना जा सकता। सम्पत्ति भी कर-निर्धारण का उचित आधार नही माना जा सकता, क्योकि उसी आकार और उसी प्रकार की सम्पत्ति से वही आय नही प्राप्त हो सकती। कुछ लोगो के पास दिखाने के लिये कोई सम्पत्ति न हो, किन्तु हो सकता है कि वे अधिक आय प्राप्त करते हो, जबकि सपत्ति वाले व्यक्तियो को, हो सकता है, छोटी आय होती हो। संपत्ति के आधार पर क्षमता के अनुसार कर नही होगा। फिर भी मनुष्य की देने की क्षमता के लिए आय सबसे अच्छा परीक्षण है। किन्तु आय के मामले में भी कर क्षमता के अनुसार तभी होगा जबकि उचित निर्वाह के लिए न्यूनतम छूट दी जाती है, बशर्ते कि आश्रितो की सख्या के लिए भत्ते की व्यवस्था कर दी जाती है, और अत मे यदि धनी व्यक्ति पर ऊची दर पर कर लगाकर प्रगतिशीलता के सिद्धात को लागू किया जाता है।

इसके अतिरिक्त न केवल हमें व्यक्तिगत कर-दाता की वरन् सम्पूर्ण समुदाय की अदायगी की क्षमता पर विचार करना है। इस अवस्था मे यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण

कर-प्रणाली दवावपूर्ण न हो अर्थात् वह बचत को हतोत्साह न करती हो और न ही पूंजी के निर्माण में शिथिलता लाती हो, और न देश के व्यापार एवं उद्योग के विकास में अड़चन डालकर समुदाय की उत्पादन-क्षमता को कम करती हो।

कर-निर्धारण (कराधान) में न्याय की समस्या का यही हल है। न्याय के उद्देश्य से सेवा के मूल्य सिद्धान्त को लागू करने अथवा लाभ के अनुसार कर लगाने से पूरे नहीं होते, वरन् वे अदा करने की क्षमता और योग्यता के अनुसार पूरे होते हैं। अदा करने की क्षमता निहित त्याग की मात्रा के द्वारा परोक्ष ढंग से नहीं आंकी जा सकती, वरन् मनुष्य की आय के अनुसार परोक्ष ढंग से, और उसके उपभोग अथवा सम्पत्ति के अनुसार नहीं। न्याय प्राप्त करने का प्रत्येक प्रस्ताव कर-निर्धारण में प्रगतिशीलता के एक ढंग की ओर ले जाता है। आवश्यकता है कि **सम्पूर्ण** कर-प्रणाली उचित हो। प्रत्येक व्यक्तिगत कर बिल्कुल ही उचित नहीं भी हो सकता। एक कर की बुराई दूसरे कर की अच्छाई से तटस्थ बन सकती है। "अलग भागों में असमानता हो सकती है किन्तु सम्पूर्ण में औचित्य होगा।"

समानता के विषय में अलग-अलग राय हो सकती है। कभी-कभी कुछ लोग सोचते हैं कि कोई एक कर समता योग्य है। समता की सामान्य-स्वीकृत कोई व्याख्या तो है नहीं। डाल्टन के शब्दों में, "यह एक छलना के समान है, जिसका अनुसरण, शायद एक दार्शनिक के लिए उत्साहपूर्वक हो और राजनीतिज्ञ के लिए सावधानी से केवल देखना ही भर हो।"

८ कराधान के कुछ अन्य सिद्धान्त (Some Other Theories of Taxation)—सार्वजनिक वित्त पर कुछ लेखकों द्वारा प्रस्तुत कुछ अन्य सिद्धान्तों अथवा विधियों का हम यहां पर केवल संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

"जैसा उन्हें पाया वैसा छोड़ दो" सिद्धांत ('Leave-as-you-found them' Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान धन-वितरण से छेड़-छाड़ नहीं की जाती। धन-वितरण की असमानतायें न तो बढ़ाई जाती हैं और न घटाई जाती हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक वर्तमान धन-वितरण के प्रश्न की आलोचना न करने का रुख अपनाना चाहते हैं। इसके अनुसार "करों को इस प्रकार लगाना चाहिए कि जब सभी उन्हें अदा कर दें, प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियों जैसी स्थिति में रह जाय जैसा कि वह अदायगी से पहले था।" इस सिद्धांत को आधुनिक काल में नहीं माना जाता। राज्य को धन-वितरण की असमानता को कम करना चाहिए और जैसे वे हैं, वैसे ही उन्हें नहीं छोड़ देना चाहिए।

राजनीति अथवा नीति सिद्धांत—इसका सम्बन्ध कर-निर्धारण में समानता, औचित्य अथवा न्याय से है। इस सिद्धान्त पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। यदि करदाता की परिस्थितियां और आर्थिक दशा वही रही तो न्याय प्राप्त करना एक साधारण क्रम होगा। किन्तु व्यक्तिगत करदाता की विभिन्न परिस्थितियों में न्याय प्राप्त करने का प्रयत्न वित्तमन्त्री को कुछ सिर-दर्द पैदा कर सकता है। अनेक तरीकों के सुझाव किये हैं जिनकी पहले ही जांच की जा चुकी है।

वित्तीय सिद्धांत (The Financial Principle)—काल्बर्ट ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—"ऐसी चुटकी काटो कि रोए नही।"[1] इस सिद्धात के अनुसार कर वसूल करने वाले के लिए एकमात्र पथ-प्रदर्शन यह है कि कम से कम विरोध के साथ अधिक से अधिक आय हो। उसके मस्तिष्क में न्याय का कोई विचार नही आना चाहिए। उसे कम से कम विरोध का मार्ग अपनाना चाहिए। वास्तव मे वित्तमन्त्री इस प्रकार के मार्ग को अपनाते है, यद्यपि वे इसे स्वीकार नही करेंगे। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वित्तमन्त्री प्रत्यक्ष कर-निर्धारण की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर-निर्धारण की ओर अधिक झुके होते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार औचित्य की अपेक्षा उत्पादन और अविलम्बन अधिक महत्त्वपूर्ण है।

समाजवादी अथवा क्षतिपूरक सिद्धात (Socialist or Compensatory Theory)—कर-निर्धारण के इस सिद्धान्त के समर्थको के अनुसार यह राज्य का काम है कि वह समुदाय मे धन-वितरण मे समानता लाए। यह प्रगतिशील कर-निर्धारण द्वारा किया जा सकता है। उद्देश्य गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटने का है। यदि यह उद्देश्य पूरी तरह से प्राप्त हो जाता है तो उसने अमीरो पर इस सीमा तक कर लगाने की आवश्यकता पडेगी कि बचत को प्रोत्साहन न मिले और पूजी को बाहर खदेड दे, जिससे इसमें सन्देह नही कि समुदाय की उत्पादन-शक्ति को पगु बना देगी। धन वितरण की असमानतायें केवल कर लगाने से ही नही वरन् बुद्धिमता से सार्वजनिक व्यय कम किये जा सकते है।

प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अदा करना चाहिए (Every one Ought to Pay Something)—विचार यह है कि राज्य के मामलो मे प्रत्येक नागरिक मे जिम्मेदारी की भावना पैदा हो जिससे कि वह नागरिक जीवन मे अधिक सक्रिय और बुद्धि-सम्पन्न दिलचस्पी ले सके। इससे नागरिक को अपनी स्थिति का आभास और राज्य में अपने महत्त्व का आभास होगा। किन्तु गरीब लोगो के लिए यह नागरिक आभास बहुत ही महगा पडेगा। यदि गरीबो को कर के भार से बिल्कुल मुक्त कर दिया जाय, तो यह अधिक उचित होगा।

६ आनुपातिक बनाम क्रमवर्धमान कराधान (Proportional Vs. Progressive Taxation)—कर-भार के उचित वितरण के विभिन्न सिद्धान्तो पर विचार करते समय हम इस नतीजे पर पहुचे है कि जहा कही सम्भव हो कर में प्रगतिशीलता की कुछ मात्रा होनी चाहिये। क्रमवर्धमान के सिद्धान्तो को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। किन्तु ऐसा सदैव नही।

आनुपातिक कर-निर्धारण के बहुत से समर्थक हुए है। मैक्कुलो (Mc Culloch) का प्रसिद्ध कथन १९वी शताब्दी की मनोवृत्ति को स्पष्ट करता है। उन्होंने लिखा है—"जब आप सरल सिद्धान्त (समानुपात) को छोड देते है तो आप अपने को बिना पतवार तथा कम्पास के समुद्र मे पाते है और अनौचित्य की कोई सीमा

1. "Pluck the goose without its squealing"

नही जिसे आप पार कर सकते हैं।" जे० एस० मिल इससे भी अधिक जोरदार शब्दो में कहते हैं—"क्रमवद्ध परिवर्तित होने वाले आय-कर का निर्धारण का तरीका सम्पूर्णतः अनुचित है। वास्तव में वह एक क्रमवद्ध परिवर्तित होने वाली डकैती है।" उसके अनुसार क्रमवर्धमान करारोपण छीन लेने की दिशा मे एक कदम है।

त्याग की समानता के सिद्धान्त के अनुसार आनुपातिक करारोपण केवल इस अनुमान पर उचित हो सकता है कि आय के वढने के साथ धीरे-धीरे आय की उपयोगिता कम हो। यदि हम समानुपातिक त्याग के सिद्धान्त को दृष्टिकोण मे रखें तो समानुपातिक कर केवल इस अनुमान पर उचित हो सकता है कि जैसे-जैसे आय बढती है, वैसे-वैसे आय की उपयोगिता बिल्कुल ही कम नही होगी। यह अनुमान गलत है, क्योकि जब आय बढती है तो उसकी उपयोगिता अवश्य गिरनी चाहिए। इसलिए आनुपातिक करारोपण न तो त्याग की समानता के सिद्धान्त पर और न आनुपातिक त्याग के ही सिद्धान्त पर उचित है। आनुपातिक करारोपण मे समान त्याग निहित होगा जबकि स्वय त्याग कर-दाता की क्षमता के अनुपात मे होना चाहिये। अतएव समानुपातिक करारोपण उचित नही है। वह पर्याप्त उत्पादक भी नही है और यहा तक कि आनुपातिक करारोपण मे भी स्वेच्छा का तत्व बिल्कुल ही अनुपस्थित नही रहता। अतएव समानुपातिक करारोपण के सिद्धान्त को, जहा तक प्रत्यक्ष करारोपण का सम्बन्ध है, बिल्कुल ही त्याग दिया गया है। दूसरे शब्दो में, जहाँ सम्भव है, क्रमवर्धमान करारोपण का सिद्धान्त अपनाया गया है।

क्रमवर्धमान करारोपण का सिद्धात कुछ अनुमानो पर उचित है। अनुमान किया जाता है कि जैसे-जैसे आय वढती है, आय में होने वाली प्रत्येक वृद्धि की उपयोगिता कम होती है। आगे और अनुमान किया जाता है कि आय के वढने के साथ विलास की सामग्रियो पर व्यय वढता है। जवकि आर्थिक लाभ के विचार से विलास की सामग्रियो की अपेक्षा आवश्यकतायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव इससे यह होता है कि धनवानो पर अधिक कर लगा कर हम उन्हें विलास की सामग्रियो मे कमी करने के लिए वाध्य करते हैं। इसमें जो त्याग निहित है, वह उन गरीबो को होने वाले लाभ की भाति ही महान् है कि जिन पर कर से प्राप्त धन खर्च किया जा सकता है।

क्रमवर्धमान करारोपण से अधिक आय होती है और इस कारण वह अधिक उत्पादक है। यह देखना वडा कठिन है कि क्रमवर्धमान सिद्धात की अनुपस्थिति में आधुनिक सरकार आज अपने वजट को किस प्रकार सतुलित करती है।

क्रमवर्धमान करारोपण अधिक मितव्ययितापूर्ण है। जव दर वढती है तो करों के उगाहने की लागत नही वढती। क्रमवर्धमान करारोपण के सम्वन्ध में कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती। वह करदाता से समानुपातिक त्याग की माग करता है। वह चौडी पीठ पर सबसे भारी वोझा रखता है।

क्रमवर्धमान प्रणाली कर-प्रणाली को अति आवश्यक समानता प्रदान करती है। जव आवश्यकता पडती है तो दरो मे थोडी वृद्धि कर देने से स्थिति का सामना करने के लिए पर्याप्त हो जाती है।

क्रमवर्धमान सिद्धात के विरोधियो ने इस प्रणाली के विरुद्ध बहुत-सी आपत्तिया उठाई है । हम नीचे इन आपत्तियो की जाच करेगे ।

(i) कहा जाता है कि यह बिल्कुल ही अस्वेच्छाचारितापूर्ण है । क्रमवर्धमान प्रणाली की मात्रा वित्तमत्री द्वारा बिना किसी निश्चित और वैज्ञानिक आधार के तय की जाती है। यह विशुद्धत व्यक्तिगत राय होती है । स्पष्ट है कि यह आपत्ति सिद्धात पर नही वरन् क्रमवर्धमान प्रणाली की मात्रा पर है। यद्यपि उसे वैज्ञानिक ढग से निर्धारित नही किया जा सकता, फिर भी व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए छोटे अतरो का कोई महत्त्व नही । वित्तमत्री की बुराइयो को ठीक करने के लिए विधान सभा के सदस्य तो होते ही है ।

(ii) कहा जाता है कि क्रमवर्धमान प्रणाली के सिद्धात का समर्थन हित-वृद्धि करने के आधार पर नही किया जा सकता, क्योकि हित परोक्ष होता है और उसे मापा नही जा सकता । ऐसा कोई वैज्ञानिक यन्त्र नही जिसमे यह परीक्षण किया जा सके कि आय में असमानता की कमी होने के फलस्वरूप हितवृद्धि हुई है या नही । कदाचित् गरीबो को आराम पहुचने की अपेक्षा गरीबो को परेशानी अधिक होती है ।

हम इस आपत्ति की शक्ति को स्वीकार कर सकते है । हम सुख अथवा कल्याण को माप नही सकते । किन्तु कोई भी इस बात से इन्कार नही करेगा कि सामाजिक रूप से यह उचित है कि धनवानो को अधिक कर देना चाहिये, क्योकि वे ऐसा कर सकते है ।

(iii) क्रमवर्धमान प्रणाली बचत को हतोत्साहित करेगी, पूजी को बाहर खीचेगी और इस प्रकार व्यापार तथा उद्योग में बाधा उपस्थित करेगी । सक्षेप मे वह मितव्ययिता-पूर्ण नही होगी ।

किन्तु ऐसे बुरे परिणाम उसी दशा मे होंगे, जब क्रमवर्धमान प्रणाली औचित्य और अविलम्बन की सीमा पार कर जायगी । ऐसा बहुत कम हुआ है । पूजी इतनी चेतनशील नही है जैसा कि समझा जाता है ।

(iv) क्रमवर्धमान प्रणाली वैज्ञानिक आधार पर टूट जाती है । उनका यह आधार-भूत अनुमान कि वही आय उसी सन्तोष को नापती है, उचित नही है। फिर घटती हुई प्राप्ति के नियम की उपयोगिता धन के मामले में ठीक भी नही उतर सकती । उनका कथन है, "धन एक अच्छाई का प्रतिनिधित्व नही करता वरन् सामान्यत अच्छाइयो का प्रतिनिधित्व करता है । चूकि मानव की आवश्यकताएँ असीम है, इसलिए यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या धनी व्यक्ति को अतिरिक्त धन की आवश्यकता कम होती है। यह भी हो सकता है कि जैसे-जैसे आय बडे वैसे-वैसे उसकी अतिरिक्त आय की इच्छा भी बढे। ऐसा उस दशा मे हो सकता है जब आय मे वृद्धि उसके रखने वालो को उच्चतर सामाजिक क्षेत्र मे आने-जाने के लिए प्रेरित करे और इस प्रकार उसकी आवश्यकताओ में वृद्धि हो ।"[1] चूकि गरीब की अपेक्षा अमीर के लिए आय की सीमान्त

---

1 Thomas, S. E - Elements of Economics, 1936, p 332.

उपयोगिता कम होती है, इसलिए अमीरो पर क्रमवर्धमान करारोपण होना चाहिए।

किन्तु इस क्षेत्र मे राबिन्स घटती हुई उपयोगिता सिद्धान्त को पूरे तौर पर अवैध और अवैज्ञानिक ठहराते है।[1] चूकि सीमान्त उपयोगिता आत्मपरक है इसलिए दृष्टि-गोचर नही होती। राबिन्स के अनुसार व्यक्तियो की परस्पर भावनाओ का मापना असम्भव है। क्रमवर्धमान करारोपण के अन्तर्गत हम यह धारणा करते है कि समान आय वालो को उससे समान सतुष्टि प्राप्त होनी है। किन्तु हम यह नही कह सकते कि यह धारणा निश्चित तथ्यो पर आधारित है, चूकि इसकी माप नही की जा सकती। राबिन्स कहते है, "यदि हम अपनी बात की पुष्टि के लिए यह बहाना बनाए कि यह किसी भी रूप मे वैज्ञानिक है ही, तो सचमुच यह बडी मूर्खता होगी।"

वैज्ञानिक धरातल पर तो इस तर्क का कोई उत्तर ही नही है। क्रमवर्धमान करा-रोपण का जोरदार समर्थन समान रूप से नीति तथा राजनैतिक आधार पर किया जा सकता है।

वैज्ञानिक आधार पर इस दलील का जवाब नही दिया जा सकता किन्तु धार्मिक और राजनैतिक आधार पर क्रमवर्धमान प्रणाली का समर्थन जोरो के साथ किया जा सकता है।

(v) कहा जाता है कि क्रमवर्धमान से कर देने से बच जाने की भावना बढ सकती है। किन्तु समानुपातिक कर-निर्धारण में भी कर देने से बच रहने की सम्भावना कम नही है। यह सामाजिक चेतना पर निर्भर करता है।

इस प्रकार क्रमवर्धमान करारोपण चाहे वैज्ञानिक ढग से उचित हो अथवा नही, धार्मिक रूप से ठीक है सामाजिक रूप से उचित है और मितव्ययिता, उत्पादन तथा नम्रता के नियम के अनुरूप है।

१० कर देने की शक्ति (Taxable Capacity)—कर देने की क्षमता के विचार ने बहुत से अर्थशास्त्रियो और प्रसारको के मस्तिष्को को परेशान किया है। डाल्टन उसे एक "धुधला अस्त-व्यस्त विचार" कहते है। वह कहते है कि "कर देने की क्षमता एक ऐसी पौराणिक कहानी है, जिसे सार्वजनिक वित्त पर होने वाले गम्भीर विचार के समय बिल्कुल ही त्याग देना चाहिए।" इस प्रश्न पर कि क्या कर देने की क्षमता नापी जा सकती है, उनका विचार है कि कैनन (Cannan) का यह उत्तर कि "नही कैसे?", सब से अच्छा है। फिन्डले शिराज कहते है कि "सरकार के लिये मोटे तौर से भी यह जानना बुद्धिमानी होगी और साथ ही उपयोगी भी, कि साधारण और असाधारण दोनो ही परिस्थितियो में करो के द्वारा देश किस सीमा तक अदायगी कर सकता है।" उनका आगे यह कहना है कि "युद्धोत्तरकालीन वित्त की आवश्यकता ने, विशेषकर सार्वजनिक ऋण से लदे बजटो के सन्तुलन की आवश्यकता ने कर अदा कर सकने की क्षमता को वास्तविक और कर-निर्धारण को एक स्थिर समस्या बना दिया।"[2]

---

1 Robbins, L—The Nature and Significance of Economic Science, 1931, Ch VI

2 Findlay Shirras Science of Public Finance, 1936 p 227

कर अदा कर सकने की क्षमता क्या है ? (What is Taxable Capacity ?)—कर अदा कर सकने की क्षमता दो अर्थो मे प्रयुक्त हो सकती है (1) निरकुश (निरपेक्ष) (11) तुलनात्मक (सापेक्ष)। निरकुश कर अदा कर सकने की क्षमता की परिभाषा भिन्न तरीको से की गई है। इसका अर्थ है कि एक विशेष समुदाय करो के रूप मे कोई अशोभनीय प्रभाव डाले विना कितना अदा कर सकता है। इसके विपरीत तुलनात्मक अदा कर सकने की क्षमता का अर्थ है—साझे खर्च मे अर्थात् केन्द्रीय खर्च के प्रातीय योगदान में दो समुदायो को अलग-अलग कितना देना चाहिए। डाल्टन का कहना है कि पहला एक कल्पना है, और दूसरा वास्तविकता। सापेक्ष सीमा पर निरकुश सीमा के विना जाया जा सकता है अर्थात् हम उस सीमा तक पहुच सकते है कि एक विशेष समुदाय को कितना अदा करना चाहिये। ऐसा हम उस सीमा तक पहुचे विना कर सकते है कि जिसके आगे सम्भवत वह समुदाय अदा नही कर सकेगा।

निरकुश कर अदा कर सकने की क्षमता के दो अलग-अलग दृष्टिकोण है—(क) विना पीडा के अदा करने की क्षमता, (ख) पीडा की परवाह किये विना अदा कर सकने की क्षमता। पहले अर्थ मे अदा कर सकने की क्षमता वस्तुत कुछ भी नही है, क्योकि प्रत्येक कर मे कुछ पीडा निहित होती ही है। दूसरे अर्थ मे अदा कर सकने की क्षमता की कोई सीमा नही है। सिवा इसके कि जो समुदाय के साधनो के विचार से निश्चित की जाय।

सर जोसिया स्टाम्प ने कर अदा कर सकने की क्षमता की परिभाषा इस प्रकार की है "कुल खर्च पर कुल उत्पादन का सीमान्त या जनसख्या को एक जीवनोपार्जन के स्तर पर रखने के लिए आवश्यक धन" इसका अर्थ यह है—"अधिक से अधिक जो कि समुदाय अदा कर सके और इस अदायगी मे दु खी और पददलित जीवन न रहे और न सगठन मे बहुत अधिक गडबडी हो।" फिन्डले शिराज ने निरकुश कर अदा कर सकने की परिभाषा इस प्रकार की है—"किसी असहनीय कष्ट का अनुभव किये विना देश के नागरिको द्वारा सार्वजनिक खर्च के लिए दिया गया अधिक से अधिक धन"। सक्षेप में, कर दे सकने की क्षमता दवाव की सीमा है। "वह राष्ट्र की कर दे सकने की क्षमता है, कर से वसूल किया गया और समुदाय की आर्थिक भलाई के लिए खर्च किया गया अधिक से अधिक धन।"

इन परिभाषाओ मे वैज्ञानिक औचित्य की कमी है और साथ ही वह अस्पष्ट भी है। स्टाम्प का "जीविकोपार्जन का धरातल" और[1] "दु खद पददलित जीवन" और शिराज का "असहनीय दु ख" और "अधिक से अधिक आर्थिक कल्याण" की वैज्ञानिक परिभाषा नही की जा सकती और न उनको ठोस शब्दो में व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु इससे कर दे सकने की क्षमता के विचार की उपयोगिता तथा व्यावहारिक महत्त्व कम नही होता। ऊपर की परिभाषाओ में जो अर्थ है, वह बहुत ही स्पष्ट है। यद्यपि हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि कर दे सकने की क्षमता को मापने के लिए

---

1. Quoted by Dalton—Principles of Public Finance. 1943, p 136

कोई भी प्रयत्न निश्चित रूप से असफल होगा । कैनन का "नहीं कैसे" वास्तव में सही उत्तर है।

कर दे सकने की क्षमता की सीमा कब पार होती है ? (When is the Limit of Taxable Capacity Exceeded)—इस सम्बन्ध में भी दृष्टिकोणों में अन्तर है कि कर दे सकने की क्षमता के पार हो जाने की पहचान क्या है। स्टाम्प कर दे सकने की क्षमता के लिए दो सीमाओं का उल्लेख करते हैं (अ) कुल उत्पादन पर अंकुश व (ब) कुल आय पर अंकुश। किन्तु अत्यधिक कर-निर्धारण के अतिरिक्त अंकुश के और भी कारण हो सकते हैं। कर-निर्धारण ही एक ऐसी वस्तु नहीं जो उत्पादन पर प्रभाव डालती है। एलिन्गर (Ellinger) समझते हैं कि "सीमाओं तक उस समय पहुँचा जायेगा जब कि करदाता की जेब से इतना लिया जाय कि उत्पादन के लिए किए गए प्रयत्नों में कमी हो जाय और जब कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक पूँजी की व्यवस्था करने के लिए तथा बढ़ी हुई जनसंख्या में नये श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए अपर्याप्त शेष रह जाता है।" वह उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के लाभप्रद प्रभाव को स्पष्टतया ध्यान में नहीं रखते । तथ्य यह है कि कर दे सकने की क्षमता को जटिलता के साथ निर्धारित नहीं किया जाता। वह एक गतिशील बिन्दु है। वह ऐसे बहुत से कारणों से सम्बन्धित है जिसमें होने वाला कोई भी परिवर्तन राष्ट्र की कर दे सकने की क्षमता के सम्बन्ध में किए गए हमारे अनुभवों को बदल देगा।

फिंडले शिराज ने निम्न तत्त्व बताये हैं जो राष्ट्र की कर दे सकने की क्षमता को निश्चित करते हैं[1] —

(१) निवासियों की संख्या (The Number of Inhabitants)—यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जितनी ही अधिक जनसंख्या होगी उतना ही अधिक सरकारी खर्च में समुदाय द्वारा कर दे सकने की क्षमता होगी । इस दृष्टिकोण से भारत का स्थान अच्छा है। उसकी कर दे सकने की क्षमता उस समय निश्चित रूप से बढ़ेगी, जब कि देश का उचित आर्थिक विकास किया जायगा ।

(२) देश में धन का वितरण (The Distribution of Wealth in the Country)—यदि धन को अधिक समानता के साथ वितरित किया जायगा तो उसी हिसाब से कर दे सकने की क्षमता भी कम होगी। किन्तु यदि कुछ हाथों में धन का अधिक जमाव है, तो सरकार अमीरों पर कर लगाकर अधिक धन एकत्र कर सकती है ।

(३) करारोपण का तरीका (The Method of Taxation)—वैज्ञानिक ढंग से निर्मित कर-प्रणाली, जिसमें करों के विभिन्न प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीकों का बुद्धिमानी के साथ समन्वय किया गया हो, निश्चित रूप से अधिक प्राप्ति करेगी। हमारी कर-प्रणाली इतनी विभिन्नरूपी नहीं है। कृषि की लम्बी आय तथा उत्तरा-

---

1　Findlay Shirras —Science of Public Finance, 1936, p 234

विकार पर हमारे यहा कर नही लगाये जाते । इससे निश्चय ही कर दे सकने की क्षमता मे कमी होती है।

(४) कराधान का उद्देश्य (The Purpose of Taxation)—यदि करारोपण का उद्देश्य लोगो की भलाई करने का है, तो अपने ऊपर कर लगाने के लिए वह अपेक्षाकृत अधिक इच्छुक होगे । एक लोकप्रिय उद्देश्य के लिए लोग अपनी क्षमता को अधिकाधिक विस्तृत करने के लिए इच्छुक होगे। यदि सरकार अकाल और बीमारी का सामना करने के लिए और शिक्षा-प्रसार के लिये धन वसूल करना चाहती है तो करो की प्राप्ति में आश्चर्यजनक विस्तार होगा। किन्तु यदि अधिकाश सार्वजनिक धन को विदेशी सशस्त्र सेनाओ के रखने और ऐसे खर्चीले सरकारी कर्मचारियो पर, जिनमे विदेशियो की भरमार है, खर्च किया जाता है, जैसा कि भारत मे था, तो कर देने की क्षमता बहुत अधिक कम हो जायगी ।

(५) करदाता की मनोवैज्ञानिक स्थिति (The Psychology of the Tax Payer)—सरकार के प्रति लोगो के रुख पर अधिक निर्भर करती है । लोकप्रिय सरकार लोगो के उत्साह को बढा सकती है और उन्हे बडे त्याग के लिए तैयार कर सकती है। इसी से युद्ध ऋण को सफलता मिलती है। लोगो का मनोविज्ञान एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है और जब तक उचित ढग से उनके पास पहुचा न जाय, वे अपने ऊपर कर लगाने के लिए तैयार नही हो सकते ।

(६) आय की स्थिरता (Stability of Income)—यदि नागरिको की आय गभीर रूप से कम है तो अधिक कर-निर्धारण के लिये गुजाइश नही रह सकती । अनिश्चित मानसून भारत मे कम कर दे सकने की क्षमता का कारण है। केवल स्थिर आय पर ही दीर्घकालीन आर्थिक व्यवस्थाए आधारित हो सकती है ।

(७) मुद्रा स्फीति (Inflation)—इससे लोगो की क्रय-शक्ति कम हो जाती है । कर देने की शक्ति पर इसका बुरा प्रभाव पडता है ।

राष्ट्र को कर दे सकने की क्षमता की जानकारी के लिये हमे इन सब बातो पर ध्यान देना चाहिये। ऐसा भी हो सकता है कि कर दे सकने की क्षमता पर प्रभाव डालने वाले अनेकानेक कारणो के फलस्वरूप हम इस क्षमता की माप न कर सके । महत्त्व मात्रा मे निहित है, न कि लक्ष्य मे। शिराज के शब्दो मे "किसी महत्त्वपूर्ण केन्द्र को जाने वाली सडक पर बहुधा चौराहे होते है जो दिशा सकेत है, जो खतरा सूचक चिह्न (Danger Signal) होते है किन्तु इनसे सतर्क यात्री के लिए यात्रा का मूल्य कम नहीं होता"।[1]

११. एकल कर प्रथा का स्वप्न (Dream of a Single Tax)—इस की सादगी से आकर्षित होकर बहुत से लेखको ने केवल एक कर लगाने का समर्थन किया है। इसके पीछे एक लम्बा इतिहास है। साथ ही इसका समर्थन भी विभिन्न रूपों में किया गया है ।

1, Findlay Shirras Science of Public Finance, 1936, p 31.

क्वेसने (Quesnay) और टरगाट (Turgot) जैसे फिजियोक्रेट्स ने भूमि में एकल कर का समर्थन किया है। उनके अनुसार भूमि ही धन का एक-मात्र साधन है। भूमि ही से अकेले विशुद्ध आय की प्राप्ति होती है। उन्होने इस विशुद्ध प्राप्ति पर इकहरे कर की व्यवस्था की है।

सानफ्रासिस्को के हेनरी जार्ज ने भूमि के मूल्य मे अनर्जित वृद्धि पर एकल कर का समर्थन किया है। वह समाजवादी ढग की विचारधारा रखते थे और उनका कहना था कि भूमि पर कुछ लोगो का एकाधिकार जनता की गरीबी का कारण है। उन्होने राज्य द्वारा करारोपण के माध्यम से समूचे लगान पर अधिकार करने का समर्थन किया है। उन्होने कहा कि इसके बाद किसी भी कर की आवश्यकता नही होगी।

उनके सिद्धान्त को स्वीकार नही किया गया और उनके प्रस्तावो के विरुद्ध निम्न आधारो पर आपत्ति उठाई गई है—

(क) कहा जाता है कि कर से प्राप्त आय आधुनिक सरकार के लम्बे खर्च को सहन करने के लिए काफी नही होगी।

(ख) उससे एक ढग की आय के व्यक्तियो को दड सहना पडेगा और दूसरे लोग बिल्कुल अछूते बच जायेंगे। यह न केवल अनुचित है, वरन् उससे कर देने से बचे रहने का मार्ग खुलेगा, क्योकि जमीदार उसके बजाय दूसरे ढग की जायदाद प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और उससे कर के बोझ का उचित वितरण नही होगा।

(ग) यह हिसाब लगाना आसान नही है कि ठीक-ठीक कितना अनर्जित किया गया है और व्यक्तिगत प्रयत्न अथवा भूमिस्वामी के सुधारो के फलस्वरूप कितनी वृद्धि हुई है।

(घ) जहा भूमि का मूल्य कम हो जाता है, वहा राज्य द्वारा मुआवजा देना पडेगा। अनावश्यक रूप से सरकार भूमि मूल्य के उतार-चढाव में फस जायगी।

(ङ) बहुत-सी प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइया होगी।

समाजवादी आय पर एकल कर का समर्थन करते है। प्रत्येक आय पर कर लगाना चाहिए। कहा जाता है कि इससे भूमि पर एकल कर के समक्ष उपस्थित दो प्रमुख कठिनाइया आसानी के साथ हल की जा सकती है। सभी आयो और ऊँची आयो पर कर लगाने से उचित कोष तैयार किया जा सकता है। वर्गीकरण और अन्तरीकरण (graduation and differentiation) के द्वारा भी कर का बोझ उचित ढग से वितरित किया जा सकता है। किन्तु यह भी प्रस्ताव आपत्तियो से मुक्त नही है—

(क) यह कष्टप्रद होगा, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति को कर देने की असुविधा उठानी पडेगी।

(ख) अनेकानेक छोटी-छोटी आयो से कर वसूल करने का खर्च लगभग निषेधात्मक होगा। फिर भी शासन-सम्बन्धी सुधारो से इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(ग) जब केवल एक ही कर होगा तो कर से बच रहना अपेआकृत एक गम्भीर मामला होगा। शिथिलताओ को ठीक करने के प्रयत्न से कर-प्रणाली और भी दुरूह हो जायगी।

(घ) प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ होंगी।

(ङ) धन के उत्तराधिकारी बचे रहेंगे, यदि केवल आय पर कर लगाया जायगा। इस पर केवल इसी प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है कि उत्तराधिकार को कर लगाई जाने वाली आय समझा जाय।

(च) इससे बचत पर रोक रहेगी और इसलिए पूंजी जमा होगी और फिर इस से व्यापार और उद्योग के विकास मे वाधा पहुँचेगी। इस आपत्ति को बचत पर छूट देकर दूर किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ व्यक्तिगत आय पर कर लगाना न होगा वरन् व्यक्तिगत खर्च पर कर लगाना होगा। इससे प्रशासकीय कठिनाइया उपस्थित होगी और बहुत सी शिथिलताएँ रह जायगी।

आय पर एक कर व्यावहारिक भी नही है। इकहरे कर की दूसरी किस्म सपत्ति की पूजीगत कीमत पर कर लगाना है। किन्तु हम पहले ही कह चुके है कि आय पर कर-निर्धारण जायदाद की अपेक्षा मनुष्य की अदा कर सकने की क्षमता का अधिक अच्छा सकेत है।

एकल कर के विशेष रूपो के विरुद्ध आपत्तियो के अलावा एकल कर के सभी रूपों के लिए सामान्य ढग की दो दलीले दी जा सकती है—

(क) इससे व्यक्तियो के बीच असमानता पैदा होगी और इन्हे केवल बहुरूपी कर-प्रणाली द्वारा ही सुधारा जा सकता है।

(ख) एकल कर में कर देने से बचे रहना आसान है जबकि गुणक (multiple) प्रणाली में रुकावटें हैं।

एकल कर सिद्धान्तवादियो का स्वप्न है। व्यावहारिक राजनीतिज्ञो में उसके बहुत कम समर्थक हैं। इस वाद-विवाद का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है, क्योंकि एकल कर व्यावहारिक वित्त से परे की चीज है। प्रत्येक देश ने कर-निर्धारण की मिश्रित अथवा गुणक कर प्रणाली अपनायी है।

१२ स्थानीय कर (Local Taxation)[1]—चूंकि स्थानीय अधिकारी ही नागरिक के घनिष्ठ सम्पर्क मे आते है, इसलिये स्थानीय कर-व्यवस्था का अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

स्थानीय वित्त की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या केन्द्रीय और स्थानीय वित्त सम्बन्धो का समन्वय है। यह एक टेढी समस्या है। प्रजातन्त्रवाद और कार्य-क्षमता कुछ अश तक एक दूसरे के विरोधी हैं। प्रजातन्त्रवाद के सिद्धान्तो की पूर्ति के लिए स्थानीय बोर्ड या कमेटी को बहुत अधिकार या छूट देनी पड़ती है। लेकिन स्थानीय बोर्ड सुचारु रूप से उच्च कोटि की सेवाए नही कर सकता। फलस्वरूप कार्य-क्षमता गिरेगी। लेकिन यदि कार्य-क्षमता बढाने के लिये केन्द्रीय सरकार, स्थानीय सेवाओ को अपने हाथों में लेती है तो स्थानीय बोर्ड की स्वतन्त्रता और अधिकार छिन जायेगे। स्थानीय सुप्रबन्ध के लिये उस स्थान की जानकारी आवश्यक है। लेकिन स्थानीय सम्पत्ति और स्थानीय,

---

1 See Hicks, U K—Public Finance, 1948 Ch XV

आवश्यकताओ के बीच बहुत कम अन्तर होता है। अधिकतर स्थानीय सम्पत्ति आवश्यकताओ की दृष्टि से बहुत कम होती है। जितना ही कोई स्थान निर्धन होता है, उतनी ही अधिक वहा की आवश्यकताए होती है। इस कमी को दूर करने के लिए स्थानीय करो और केन्द्रीय अनुदानो की उचित व्यवस्था आवश्यक है।

जिस प्रकार केन्द्रीय कर-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त है उसी प्रकार स्थानीय करो के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तो की स्थापना की जा सकती है। एक अच्छी स्थानीय कर-प्रणाली के लिये क्या-क्या बाते आवश्यक है ? अन्य करो की तरह, स्थानीय करो को भी समानता, निश्चितता, बचत तथा सुविधा के सिद्धातो को पूरा करना चाहिए। इनके अलावा अच्छे स्थानीय करो की कुछ और भी विशेषताए है क्योकि स्थानीय वित्त-व्यवस्था केन्द्रीय वित्त-व्यवस्था से कई आधारभूत बातो में भिन्न है।

(१) अच्छे स्थानीय करो की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनसे प्राप्त आय स्थायी होनी चाहिए। व्यापार के उतार-चढाव का उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडना चाहिये। स्थानीय सरकार के लिये यह बात अपेक्षाकृत बहुत आवश्यक है। स्थानीय सरकार की ऋण लेने की शक्ति सीमित होती है जबकि केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में वस्तुत कोई सीमा नही होती। अस्तु, यह आवश्यक है कि स्थानीय सरकार की आय जहा तक हो सके स्थायी हो और व्यापार आदि की दशा पर निर्भर न हो। अन्यथा मन्दी के दिनो में स्थानीय सेवाओ का काम बन्द हो जायगा। सन् १९३० में अमरीका के साथ ऐसा ही हुआ।

(२) आधार का केन्द्रीकरण कर-प्रणाली का दूसरा चिन्ह है। जब तक कि कर का आधार कुछ सीमाओ के भीतर केन्द्रित न होगा, बजट पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण सम्भव न होगा। लेकिन इसमें एक खतरा भी है। छोटे क्षेत्रो में वित्त-सम्बन्धी अवसर तो कम होते है लेकिन बाहर जाने के अवसर अपेक्षाकृत अधिक होते है। बम्बई में ऊचे स्थानीय करो के कारण सूती मिल उद्योग वहा से हटकर हैदराबाद, अहमदाबाद आदि की ओर चला गया। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि जहा तक सम्भव हो, स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में तीव्र प्रगतिशील करो को दूर रखना चाहिए। स्थानीय करो को आनुपातिक और थोडा-सा घटता हुआ होना चाहिए।

(३) "स्थानीय उपयोग के लिए स्थानीय कर" एक तीसरी विशेषता है। राष्ट्रीय और स्थानीय सरकारो के बीच कर लगाने के अधिकारो का उचित बँटवारा होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर दुबारा व तिबारा कर लगने का डर रहेगा जिससे वित-रण-क्षेत्र मे बडी असुविधा होगी। साथ ही केन्द्रीय सरकार को अपनी कर-व्यवस्था को क्रमवर्धमान बनाने में अडचन होगी।

इन तमाम बातो को ध्यान में रखते हुए भूमि और मकान पर कर स्थानीय उद्देश्यो के लिए अति उत्तम प्रतीत होते है। इन करो से आय स्थायी होती है और इनका आधार निश्चित रूप मे केन्द्रित होता है। स्थायी होने का कारण यह है कि अन्य माल की तुलना में इनके चलन का वेग धीमा होता है और फलस्वरूप इनके मूल्य में कम उतार-चढाव होता है। भूमि कर में एक और अच्छाई है। प्रत्येक नागरिक के आर्थिक

जीवन मे उनका इतना महत्त्व होता है कि कर के थोड़े-से भार से भी काफी आय हो सकती है। "इस प्रकार अधीनस्थ सरकार इस तरह से स्वतन्त्र रूप मे काफी राजस्व प्राप्त कर सकती है, और उन्हे अपनी मदो को अधिकतम करने की जरूरत भी नही है।"[1] केन्द्रीय सरकार द्वारा इन करो पर अधिकार प्राप्त करने का भी डर नही रहता। सामान्य रूप से केन्द्रीय सरकार की दशा ठीक रहती है किन्तु आपातकाल मे इन मदो से अतिरिक्त राजस्व प्राप्त नही कर सकती, चूंकि ये पूर्णतया स्थायी होते है।

फिर भी भूमि आदि पर कर लगाने में एक कमजोरी नजर आती है। मूल्यांकन के लिए स्थानीय सरकार विशेषज्ञो को नियुक्त नही कर सकती। एक दूसरी मुसीबत छूट के गुणन मे आती है। फल यह होता है कि जिनको छूट नही मिल पाती, उन्हे कर का अधिक भार सहन करना पड़ता है। सिद्धांतत भूमि-कर के खिलाफ यह बात कही जाती है कि स्थानीय सरकार की दृष्टि से यह लोच-रहित है और कर-दाता की दृष्टि से प्रतिगामी। लेकिन यह हम पहले ही कह चुके है कि स्थिरता और प्रतिगामिता स्थानीय कर-प्रणाली के गुण है, दोष नही।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्थानीय सरकार के लिए निम्न प्रकार के कर अति उत्तम है—मनोरंजन कर, सवारी कर, मोटर कर, चुंगी, व्यवसाय-कर, साइकिल कर, पशु-कर आदि।

---

1. Hicks, U K —Public Finance, 1948, p 274

अध्याय ४६

कर का भार

(INCIDENCE OF TAXATION)

१ कर का भार और उसका महत्त्व (Incidence and its Importance)—वास्तव मे कर कोन देता है ?—यही कर के भार की समस्या है। कर सदैव उन्ही व्यक्तियो पर नही पडता जो उसको प्रारम्भ में देते हैं। कभी-कभी वह अन्य व्यक्तियो पर टाला जा सकता है। उसके भार का अभिप्राय कर के अन्तिम स्थान पर स्थिर होने से है। वह भार उस मनुष्य के कधो पर पडता है, जो अन्त मे उस कर का द्रव्य-भार सहन करता है।

हम **दबाव** (impact) और **भार** (incidence) में भेद कर सकते हैं। कर का दबाव उस व्यक्ति पर होता है जो प्रारभ में उसे देता है। और भार उस व्यक्ति पर होता है जो अन्त में उसे सहन करता है। यदि चीनी पर उत्पादन-कर लगा दिया जाता है, तो प्रारम्भ में उसका भुगतान चीनी का व्यवसायी करता है, तथा उसका दबाव उसी पर ही पडता है। परन्तु वह कर चीनी की बिक्री के समय मूल्य में जोड दिया जायगा जो कि तबादलो द्वारा अन्त में चीनी के उपभोक्ता पर पडेगा। अतएव, उसका भार अन्त में उपभोक्ता पर पडता है।

कर का भार, विवर्तक नहीं होता (Incidence is not Shifting)—कर विवर्तन का अर्थ है हस्तातरण की विधि अर्थात एक कर का उस व्यक्ति से, जो सबसे पहले भुगतान करता है, आगे उस व्यक्ति तक बढना, जो अन्त में सहता है। यह कर विवर्तन या चलन की विधि के द्वारा ही है कि कर का भार अन्त में कही न कही पड ही जाता है। कर विवर्तन की क्रिया धीमी हो सकती है अथवा कुछ ही अश तक प्रभावक हो सकती है, जिसके कारण एक कर का बोझा उस व्यक्ति पर नही भी पड सकता, जिस पर कि पडना चाहिए था। कर विवर्तन को **प्रतिघात** (repercussion) भी कहते है।

कर-विवर्तन अपवचन से सर्वथा पृथक् है (Shifting is Quite Different from Evasion)–अपवचन का अर्थ कर देने से मुह चुराना है। मे कर लगी हुई वस्तु का उपभोग छोड सकता हू और इस प्रकार कर को टाल सकता हू। ऐसा अपवचन बिल्कुल कानूनी है। अपवचन में किसी दूसरे पर कर विवर्तन का कोई प्रश्न नही उठता, कर तो बिल्कुल दिया ही नही जाता।

कर के 'भार' और प्रभाव या परिणाम में भेद करना चाहिये। कर के प्रभावो से उसके आनुषगिक परिणाम प्रतीत होते है। एक कर के लगाने से ऐसे बहुत से परिणाम होते हैं जो कि कर-भार की समस्या से सर्वथा पृथक् होते हैं। जैसा कि हम देख चुके

है, यदि चीनी पर उत्पादन-कर लगाया जाता है तो वह अन्त मे चीनी के उपभोक्ता पर विवर्तन किया जा सकता है। उपभोक्ता पर उसका भार पडता है परन्तु ऐसे उत्पादन-कर के प्रभाव गहरे भी हो सकते है, भारी उत्पादन-कर किसी उद्योग को कुचल सकता है। उस व्यवसायी का लाभ कम हो सकता है । मजदूरी घट सकती है। श्रमिको तथा पूजीपतियो को उद्योग छोडना पड सकता है। हजारो बिचौलियो की, जो कि चीनी के वितरण मे लगे हुए है, आय घट सकती है। उनके पारिवारिक आय-व्ययको (बजटो) में उथल-पुथल होने के कारण कुछ अन्य वस्तुओ की माग पर भी प्रभाव पड सकता है । चीनी का उपभोग कम हो सकता है और उसकी स्थानापन्न वस्तुओ का बढ सकता है। यह सब कर के ही प्रभाव है। यह एक बडी विस्तृत समस्या है, जो कि कर भार की समस्या से पृथक् है। कर के भार मे एक सीमित तथा विशेष समस्या का अध्ययन करते हैं, जिससे कि हम इस बात की खोज करते है कि किस पर मुद्रा-भार पडता है।

हम कर के द्रव्य-दबाव तथा वास्तविक दबाव में भेद कर सकते है। कर का मुद्रा-दबाव, कोष में जो कुल द्रव्य आता है उसके बराबर होता है। यदि एक उपभोक्ता को ५ रुपये प्रति मास चीनी पर इसलिये व्यय करने पडे, क्योकि चीनी का कर लगा हो, तो उसको मुद्रा-दबाव सहना ही होगा । परन्तु वह चीनी के उपभोग को कम कर सकता है जिससे उसके आर्थिक क्षेम में कमी हो जायेगी। उसको अन्य वस्तुओ के उपभोग को कम करना होगा। यह प्रेरणा, असुविधा, त्याग अथवा सक्षेप मे आर्थिक कल्याण की क्षीणता है जो कि एक कर का वास्तविक दबाव कहा जा सकता है। कर के भार में हम मुद्रा-दबाव को ही देखते है, न कि वास्तविक दबाव को।

कर के भार का अध्ययन बडा जरूरी है। कर-प्रणाली का ध्येय केवल एक निश्चित राजस्व प्राप्त करने का ही नहीं है, परन्तु जनता की उन श्रेणियो पर कर लगाने का है जो कर को आसानी से सह सकती है। सक्षेप मे, ध्येय यह है कि कर-भार का एक उचित वितरण हो। यह स्पष्ट है कि ऐसा करना असम्भव है जब कि प्रत्येक कर के भार की, जो कि सरकार लगाये, पूरी तौर से खोज न कर ली जाय। यह जानने के लिये कि किसी व्यक्ति से एक कर देने के लिये कहना उचित है या नही अथवा उस पर उसका दबाव कर-दाता की योग्यता के अनुकूल है या नहीं, हम को यह जानना आवश्यक है कि अन्त में कर किसको देना पडेगा। यदि हमें एक कर-प्रणाली को एडम स्मिथ की प्रथम रीति अर्थात् समानता रीति के अनुसार बनाना है, तो हमको प्रत्येक कर की प्रतिक्रियाओं और प्रतिघातो का सावधानी से अध्ययन करना और उनके अन्तिम विश्राम का स्थान पता चलाना आवश्यक हो जाता है।

कुछ कर ऐसे भी है जिनको हम प्रत्यक्ष कर कह सकते है और जिनको उन्ही व्यक्तियो को भुगतान करना पडता है जो उसको सब से पहले देते है। इनमें कर का भार स्पष्ट है। परन्तु एक देश की कर-प्रणाली केवल प्रत्यक्ष करों से ही नहीं बनती। उसमें परोक्ष कर भी होते है जिनकी प्रतिक्रियाएं जटिल होती है। ऐसे करो को विवर्तक बनाने के अभिप्राय से लगाया जाता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में आर्थिक

समर्थ होने के कारण करों का विवर्तन हो सकता है, बिल्कुल न हो अथवा अपूर्ण रूप से हो, अथवा उन व्यक्तियों पर हो, जिन पर बोझा डालने की इच्छा ही नहीं थी।

यदि सार्वजनिक वित्त को सामाजिक न्याय का एक यन्त्र या साधन बनाना है तो कर के भार की समस्या का महत्त्व एकाएक बहुत बढ़ जाता है। धनी पुरुषों पर कर लगाना ही है और उनकी आय से दरिद्र पुरुषों का उपकार करना ही होगा। यदि आप धनी पुरुषों पर कर लगाना चाहते हैं तो उनका भार उन्हीं पुरुषों पर पड़ना चाहिये वरना हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा। अतएव, हमको चाहिए कि हम प्रत्येक कर का अनुकरण करें और यह निश्चय करें कि उस कर को विश्राम करने के लिए एक धनी पुरुष का स्थान मिले।

२ प्रत्यक्ष और परोक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—हम पहले यह बता चुके हैं कि कर के भार की समस्या, जहाँ तक कि एक प्रत्यक्ष कर का सम्बन्ध है, बहुत सीधी है, क्योंकि एक ही व्यक्ति पर कराघात और कर-भार पड़ते हैं परन्तु एक परोक्ष कर का एक व्यक्ति पर तो दबाव पड़ता है और दूसरे पर भार। एक प्रत्यक्ष कर को विवर्तक बनाने की इच्छा से नहीं लगाया जाता, जबकि एक परोक्ष कर को इसी इच्छा से लगाया जाता है। वास्तव में कर के भार की समस्या, परोक्ष कर के सम्बन्ध में ही खड़ी होती है। इससे पहले कि हम एक कर के भार की खोज करें, हमको चाहिये कि प्रत्यक्ष और परोक्ष करों में अधिक स्पष्ट रूप से भेद करें और उनके सापेक्ष गुण-अवगुण का अध्ययन करें।

वस्तुओं पर कर, साधारणतः परोक्ष कर कहलाते हैं, क्योंकि वे पूर्ण रूप से अथवा अपूर्ण रूप से उपभोक्ताओं पर टाल दिये जाते हैं, यद्यपि वे विक्रेता या उत्पादकों से पहले वसूल किये जाते हैं। परन्तु हमको यह याद रखना चाहिए कि केवल एक वस्तु पर कर का लगाना ही उसको परोक्ष कर नहीं बना देता। कर को परोक्ष कहने से पूर्व हमको यह निश्चित करना चाहिए कि उसका दबाव विवर्तक हो। यह भी बहुत सम्भव है कि किसी वस्तु पर कर लगाया जाय, तो भी उसकी कीमत पर कोई प्रभाव न पड़े। इस अवस्था में उपभोक्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और कर प्रत्यक्ष होगा न कि परोक्ष।

किसी एकाधिकारी पर, जो एकमुश्त अथवा एकाधिकार शुद्ध राजस्व, प्रतिशत कर लगाया जाता है, विवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत, एकाधिकार पर ऐसा कर जो पैदावार के अनुपात में हो, विवर्तक हो जाता है। पहली अवस्था में वह एक प्रत्यक्ष कर होगा जब कि दूसरी अवस्था में वह परोक्ष कर होगा। उत्तराधिकार कर साधारणतः एक प्रत्यक्ष कर कहा जाता है। यह उत्तराधिकारी पर पड़ता है और वहीं रुक जाता है। परन्तु पूर्वाधिकारी ने जब कि वह जीवित था, कोई जीवन-बीमा करा लिया हो जिससे कि उसके कर की राशि का आवरण हो जाता हो। ऐसी अवस्था में यह उस पर परोक्ष-रूप दबाव डालेगा। आय-कर भी एक प्रत्यक्ष कर है परन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में उसका कोई अंश विवर्तक हो सकता है। उस सीमा तक यह परोक्ष कर हो जायगा। हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि हम कोई स्पष्ट रेखा

प्रत्यक्ष और परोक्ष करो के बीच नही खीच सकते। इन दो प्रकार की अवस्थाओ में केवल इतना ही भेद कर सकते है कि एक कर विवर्तक हो सकता है अथवा नही। यदि कोई कर विवर्तक है तो वह परोक्ष है अन्यथा प्रत्यक्ष।

३ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर के सापेक्ष गुण और अवगुण (Relative Merits and Demerits of Direct and Indirect Taxes)—हम इन दो प्रकार के करो की इसलिए तुलना नही करते कि हम यह निश्चय करना चाहते है कि इनमे से एक रखें अथवा दूसरा। कोई भी देश केवल एक प्रकार के कर पर निर्भर नही रह सकता। दोनो प्रत्यक्ष और परोक्ष करो की एक सामान्य तथा पर्याप्त पद्धति बनाने के लिए आवश्यकता होती है। ग्रेट स्काटमैन के कथनानुसार, मै "प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के सम्बन्ध में और कुछ सोच नही सकता सिवा इसके कि मै उनको दो आकर्षक वहनो के सदृश मानूँ जो कि लन्दन के सुन्दर वातावरण में आई है। दोनो ही भाग्यशालिनी है, दोनो के एक ही माँ-बाप है—मेरा विश्वास है कि दोनो के माता-पिता 'आवश्यकता' और 'आविष्कार' है—उनमे अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि जितना दो वहनों मे है · ।"[1] कुछ भी सही, किसी सूरत में प्रत्यक्ष कर अधिक उत्तम है और किसी में परोक्ष कर ।

हम प्रत्यक्ष करो के पक्ष में यह कह सकते है : (In favour of direct taxes we can say)—(क) वे अधिक निष्पक्ष है, क्योंकि उनमें क्रमवर्धमान सिद्धात लागू होता है। कर की दर को वदला जा सकता है ताकि कर देने की योग्यता के अनुसार हो।

(ख) वे मितव्ययी होते है, क्योंकि उनके संग्रह पर वहुत थोडा व्यय होता है और क्योंकि कर-दाता और राज्य के वीच में कोई मध्य-जन नही होते, इसलिए मार्ग में कर का कोई अश लोप नही हो जाता ।

(ग) उनकी प्राप्ति की गणना वहुत कुछ पूर्ण रूप से की जा सकती है। कर-दाता को भी अपनी निश्चित राशि का जो उसको देनी है, ज्ञान होता है।

(घ) उनमें अत्यधिक मात्रा में लोच होती है। आय-कर ने युद्ध में राज्य की अत्यधिक वढी हुई आवश्यकताओ की काफी पूर्ति की।

(ङ) वे कर-दाताओ में एक नागरिक कर्त्तव्य का भाव उत्पन्न करते है। एक मनुष्य जो कि प्रत्यक्ष कर देता है, या वह अनुभव करता है कि वह राज्य के व्यय के प्रति रुपये दे रहा है तो उससे यह आशा की जाती है कि वह नागरिक मामलो में अधिक तीव्र अभिरुचि रखेगा।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष करो में कुछ अवगुण भी होते है (On the other hand, direct taxes have some drawbacks too)—(क) उनके भुगतान करने में वहुत असुविधा होती है। प्रत्येक कर-दाता को उनको देते समय कष्ट होता है। इसलिए वे लोकप्रिय नही है। कर को एक इकट्ठी राशि मे देना पडता है,

---

1. Quoted by Findlay Shirras in Science of Public Finance, 1936, p 279

विक्रय वही का अनुवर्तन एक जटिल काम है और बहुत क्लेश सहना पडता है।

(ख) उनको आसानी से टाला जा सकता है और राज्य की यथोचित आय में धोखे से कमी हो जाती है। एक तरह से प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर लगाये गये कर के समान होता है।

परोक्ष कर के गुण निम्नलिखित हैं (The Merits of Indirect Taxation are as under) :—

(क) ये सुविधाजनक हैं। हम जब कोई वस्तु खरीदते हैं तो कर देते हैं और वह उस समय जब वह सुविधा से दिया जा सकता है। वह थोडा-थोडा करके दिया जाता है, न कि एकमुश्त। 'बहुत-से व्यक्ति कर के मामले में अधकार में रहना पसन्द करते हैं।' करदाता यह अनुभव नही करता कि वह कर दे रहा है। कर तो उस वस्तु के मूल्य में मिश्रित रहता है जिसको वह खरीदता है।

(ख) परोक्ष कर को टालना अत्यन्त दुष्कर है।

(ग) यदि उन वस्तुओं पर कर लगाया जाय जो कि प्राय धनी पुरुष ही उपभोग करते है, तो परोक्ष करो को भी अधिक समान बनाया जा सकता है। विलास-सामग्री पर साधारणत कर अधिक दर से लगाया जाता है।

(घ) जबकि परोक्ष कर जीवन की अनिवार्यताओ पर लगाया जाता है अथवा उन वस्तुओ पर जिनकी माग लोचपूर्ण हो, तो वह कर बहुत अश तक लोचपूर्ण हो जाता है।

(ङ) उनका एक लाभदायक सामाजिक प्रभाव पडता है, क्योकि ऐसे करो द्वारा हानिकारक पदार्थों तथा मादक वस्तुओ के उपयोग को कम किया जा सकता है।

परोक्ष करो मे निम्नलिखित अवगुण होते हैं (The demerits of indirect taxes are as follows).—

(क) वे अनिश्चित होते है। किसी कर के, जो कि एक वस्तु पर लगाया गया हो, अनेक प्रभावो के सम्बन्ध मे पूर्व धारणा करना सर्वथा सम्भव नही है। वित्त-मन्त्री ठीक-ठीक यह अनुमान नही कर सकता कि एक कर से कितनी आय प्राप्त हो सकेगी।

(ख) वे प्रतिगामी होते हैं। एक कर लगाई हुई वस्तु का प्रत्येक उपभोक्ता, चाहे वह धनवान हो अथवा गरीब, एक ही दर से कर देता है। अतएव, वास्तविक भार गरीब पर धनवान की अपेक्षा अधिक पडेगा। यदि कर जीवन की अनिवार्यताओ पर लगाया जाय, तो इनके प्रतिगामी स्वभाव पर दबाव पड जाता है। एन्जिल के 'उपभोक्ता के नियम' के अनुसार एक गरीब आदमी की अधिकतर आय जीवन की अनिवार्यताओ पर व्यय होती है। अतएव गरीब प्राय अपनी कुल आय पर कर देता है। जबकि धनिक अपनी उस आय के छोटे-से अश पर कर देता है, जिसको वह जीवन की अनिवार्यताओ पर व्यय करता है।

(ग) वे कर दाता में किसी नागरिक चेतना का विकास नही करते।

(घ) यद्यपि दुकानदार को अवैतनिक कर इकट्ठा करने वाला समझा जाता है, तो भी यह विचार किया जाता है कि कुछ निश्चित परोक्ष करो को वसूल करने में लागत अत्यधिक लग जाती है। सीमा शुल्क के वसूल करने के लिये एक उच्च आगम

कर्मचारी वर्ग को, चोरी से भीतर से माल लाने को रोकने के लिए छापा मारने वाले समूह का अभियोजन करना पडता है। ये कर एक दूसरी दृष्टि से भी अलाभकर है। कर-आरोपित वस्तु अनेक मध्य-जनो के बीच से निकलती है और हर एक उस पर कुछ कर जोड़ देता है। इस प्रकार अन्तिम ग्राहक को, राज्य को जो कुछ मिलता है, उससे कही अधिक भुगतान करता है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर का अन्तर व्यावहारिक रूप से अधिक महत्त्व का नही है। हम यह नही मान सकते कि प्रत्यक्ष कर का सारा वोझ धनी लोगो पर और परोक्ष कर का गरीवो पर पडता है। परोक्ष कर, जैसे विलासिता की वस्तुओ के कर, धनिको पर पडते हैं, न कि गरीवो पर। फिर भी, यह साधारणतया सच है कि प्रत्येक कर जैसे कि उत्तराधिकार कर, आय-कर और सुपर टैक्स केवल धनिको पर ही पडते हैं। एक उत्तम कर-प्रणाली के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष करो में एक उचित अनुपात होना चाहिए। वे एक दूसरे को ठीक करते है। परोक्ष करारोपण धनियो पर पडने वाले दवाव को कम करता है और कर-प्रणाली को विस्तृत आधारयुक्त वनाता है।

४ कर का सम्मिश्रण सिद्धान्त (Diffusion Theory of Taxation)—कर के सम्मिश्रण के सिद्धान्त को मानने वाले यह कहते है कि कर समुदाय म अपने आप विस्तारपूर्वक मिल जाता है, जिसमे कि हर एक कर-दाता कर के वोझ का केवल एक छोटा अनुपात ही अपने ऊपर लेता है। वह एक ऐसा अनुपात है जिसे वह सह सकता है और सहना भी चाहिए। वास्तविकता यह है कि कर का वोझ अपने आप समाज के विभिन्न वर्गों के ऊपर वरावर से फैल जाता है। इसलिए कर के भार के विषय में चिन्तित होना वेकार है तथा इस जटिल विनिमय के ससार में कर-विवर्तन की, जोकि अन्तिम भार के प्रश्न को हल करता है, देखभाल करते रहना असम्भव है। दूसरे शब्दो में कर-प्राधिकारी यह विश्वास करके, कि कर-नीति विल्कुल ठीक है, शान्ति से रह सकता है। और यदि एक कर मे पहले से अन्याय का कोई अग आ गया है, तो उसका समयोजन अवश्य ही हो जायगा और अन्याय या तो हटा दिया जायगा या उसका विलकुल अनुभव न होगा। अठारहवी शताब्दी के अन्त के लगभग लार्ड मैंस फील्ड ने कहा था, "मैं यह सच मानता हू कि किसी स्थान में लगाया हुआ कर किसी झील में गिरने हुए पत्थर के समान है कि जो उसमे वृत्त वनाना है, जिससे कि एक वृत्त दूसरे वृत्त की उत्पत्ति करता है तथा उसको आगे वढाता है और केन्द्र से लगाकर समस्त परिधि में हलचल मच जाती है।"[1] इस प्रकार कर सारे समुदाय में मिल जाता है या फैल जाता है।

विनिमय की विधि के द्वारा प्रसार होता है। यदि किसी वस्तु पर कर लगा दिया गया है तो वह वस्तु की कीमत में छिपकर धीरे-धीरे उपभोक्ताओ पर आ जाता है। लाभ पर लगाया हुआ कर वस्तु की लागत में आ जायगा। कर उत्पादन-व्यय का एक भाग होता है या किसी सेवा-कार्य के व्यय का भाग और इस प्रकार यह एक व्यक्ति से

---

1. Quoted by Findlay Shirras in Science of Public Finance, 1936, p. 336.

दूसरे व्यक्ति के पास वस्तु के साथ जाता है और शात हो जाता है जब कि उसे होना ही चाहिए। यह समुदाय के किसी विशेष भाग को हानि नही पहुचाता। केनार्ड ने करारोपण की तुलना रक्त चूसने वाले यन्त्र की क्रिया से की है। उन्होने कहा है "धमनी का रक्त निकालने के पश्चात् शरीर में रक्त-सचार के कारण, वह दूसरी धमनियो की अपेक्षा अधिक रक्तहीन नही रहती।"[1]

यह इन्कार नही किया जा सकता कि करारोपण का कुछ प्रसार या सम्मिश्रण तो होता ही है, परन्तु यह कहना कि कर-प्रसार के कारण करारोपण का बोझ अपने आप कर-दाता की सहनशक्ति के अनुसार समावर्तित हो जाता है, प्रमाणित करने का अत्यधिक प्रयत्न होगा। यदि यह इतना स्वयगामी होता तो वित्त-मन्त्रियो को किसी कर के सम्भावित प्रभाव का पता लगाने और उसकी गहरी खोज करने की आवश्यकता न पडती। यदि कर किसी अज्ञात नियम के अनुसार प्रसारित हुआ करते, तो वे किसी विशेष वर्ग के लोगो के लिए करारोपण के मार्ग न ढूढते। कोई भी यह गम्भीरतापूर्वक विश्वास नही करता कि कर समस्त समुदाय के ऊपर अपने आप न्यायोचित ढग से फैले हुए है वरना जब भी कर लगाया जाता है, उस समय के कोलाहल की व्याख्या हम किस प्रकार कर सकते है। कर वास्तव में कुछ व्यक्तियो से चिपट जाते है। यह रक्त चूसने के यन्त्र की क्रिया की तरह नही है बल्कि किसी वृक्ष की डाल या शरीर के किसी अग काटने की भाति है।

कुछ ऐसे कर है जैसे पोल टैक्स, उत्तराधिकार-कर या आय-कर जिनमें कि विवर्तन बिल्कुल नही होता, विस्तार भी बिल्कुल नही होता। इस सिद्धान्त का प्रयोग केवल सीमित है। यह परोक्ष करो के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है और उनसे सम्बन्धित होते हुए भी समस्त समुदाय में थोडा भी प्रसार नही होता।

सम्मिश्रण या प्रसार-सिद्धान्त स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता को मान लेता है, जिसका अस्तित्व नही होता। आर्थिक सघर्ष अधिक मात्रा में रहता है जो कि कर के विवर्तन के मार्ग को रोकता है।

प्रसार सिद्धान्त रीति की दृष्टि से दोषपूर्ण है, वास्तविक अनुभव तथा विश्वास के प्रतिकूल है तथा यह केवल एक सीमित प्रयोग के ही अन्तर्गत है।

इसकी केवल यही विशेषता है कि यह इस बात पर जोर देता है कि कर जहा पहले लागू किये जाते है, वहीं नही बने रहते। किन्तु समाज में उचित रूप से पूर्णत कर के बोझ को वितरित करने के लिए हम ऐसे सिद्धान्त पर विश्वास नही कर सकते।

हम अब कुछ महत्वपूर्ण करो के भार पर विचार करेंगे।

५ वस्तु-कर (Commodity Tax)–किसी वस्तु पर कर विवर्तन की प्रवृत्ति उत्पादक से उपभोक्ता की ओर, और फिर उपभोक्ता से उत्पादक की ओर विवर्तन करती रहती है। किसी वस्तु के उत्पादन पर कर की प्रवृत्ति उसकी कीमत को बढाने की ओर रहती है और इसलिए उसको साधारणत उपभोक्ता सहन करेगा। किन्तु उपभोग

1 Ibid, p 347

पर कर लगाने से उपभोग पर रोक लगने की सभावना रहती है और उसकी प्रवृत्ति फिर पीछे उत्पादक तक के विवर्तन की ओर रहती है। किन्तु किस सीमा तक वास्तव में कर का विवर्तन किया जायगा, यह माग और उसकी पूर्ति वक्रो पर आधारित है। यदि माग लोचहीन है, जैसा कि जीवन की आवश्यकताओ के सम्वन्ध मे है, तो लोग उस वस्तु को अवश्य खरीदेंगे। उत्पादक की स्थिति दृढ रहेगी और कर के पूरे वोझ को उपभोक्ता पर विर्वातित किया जायगा। परन्तु यदि माग लोचदार हुई तो लोग कम खरीदेगे। इस स्थिति मे कर की पूरी रकम के अनुसार कीमत नही वढेगी इसलिए कुछ अश में विक्रेता व कुछ अश में खरीदार कर का वोझ सहन करेगे। ठीक-ठीक कितना? यह लोच की मात्रा पर निर्भर करेगा। इसी प्रकार यदि पूर्ति लोचहीन होती है, जैसा कि खराव हो जाने योग्य वस्तु के सम्वन्ध में होता है, विक्रेता पूर्ति को वापस नही ले सकता। उसकी स्थिति कमजोर होती है। कर उसी पर पडेगा और जमा रहेगा। यदि पूर्ति लोचदार हुई तो वह उपभोक्ता पर वोझ को विर्वातित कर सकता है। "वास्तव में जव पूर्ति से माँग अधिक लोचदार होती है, तो वह कर का छोटा अश सहन करता है।"

यह सभव है कि कीमतो में विल्कुल वृद्धि न हो। यह तव होता है जव कि उपभोक्ता उस वस्तु की ऐसी पूर्ति ढूढ निकालता है, जिस पर कर नही लगा हो या उसने कोई दूसरी ऐसी वस्तु निकाली हो जो उसी की स्थानापन्न हो और जिस पर कर न लागू हो। ऐसी स्थिति के कर का पूरा वोझ उत्पादक तथा विक्रेता पर पडेगा।

पूर्ति की ओर से प्राप्ति के नियम अपने प्रभाव का प्रयोग करेगे। किसी वस्तु पर कर लगाने से उसकी माग पर रोक लगती है, जिसके वदले मे उत्पादन भी रुक जायेगा। यदि किसी उद्योग पर वढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है तो ऊँची लागत पर कम उत्पादन होगा, किन्तु यदि घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है तो कम लागत पर अधिक उत्पादन। इस स्थिति से पहले वताई गई स्थिति में कीमतें ऊँची होगी, फलत. उपभोक्ता पर वोझ आएगा।

वहुत कुछ कर की रकम और प्रणाली पर भी निर्भर करता है। छोटे कर की कोई चिन्ता नही करता। थोडी-सी रकम के लिये कोई उत्पादक अपने ग्राहक को परेशान करना पसन्द नही करेगा। वह स्वयं प्रसन्नता के साथ उसे सहन कर लेगा। केवल जव यह भारी होगी तभी उसका विवर्तन होगा। सीमान्त पैदावार पर कर कीमत को वढ़ा देगा परन्तु आधिक्य पैदावार पर नही।

वस्तु की किस्म से भी अन्तर पडेगा। शक्कर जैसी वस्तु पर लगे कर का विवर्तन शीघ्रता से हो जायगा। किन्तु इतनी जल्दी एक मकान पर लगे कर का विवर्तन नही हो सकता, क्योकि एक निश्चित अवधि के लिये किराया निश्चित होता है और जव तक पट्टा चालू है, उस अवधि मे कुछ भी नही किया जा सकता।

वस्तु-कर के विवर्तन की क्रिया को जो प्रभावित करते हैं, वे यह हैं प्रतियोगिता पूर्ण है या नही, श्रम और पूजी स्वतन्त्र रूप से गतिशील है या नही। केवल स्वतन्त्र और वधनरहित प्रतियोगिता के द्वारा ही कर को उपभोक्ता तक पहुँचाया जा सकता है।

अन्यथा यह उत्पादक पर ही स्थिर रहेगा। यदि श्रम तथा पूजी स्वतन्त्र रूप में गतिशील हैं, तो इससे उत्पादक की उपभोक्ता पर वोझ डालने की क्षमता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, यदि किसी उद्योग में पूजी वडे परिमाण में एकत्रित और ताले में बन्द पडी है, तो उत्पादक की उतनी ही स्थिति कमजोर रहेगी। सम्भावना इस वात की रहेगी कि उसी को कर का वोझ सहन करना पडेगा। वह अपनी पूजी को वापिस नही ले सकता। कुछ समय गवाते हुए भी उसे मैदान में रहना ही होगा।

इस प्रकार 'भार' वहुत जटिल प्रश्न है। यह कीमत की निर्धारण की वडी समस्या का एक भाग है। कीमत पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं। हम कहते हैं कि वस्तु पर कर की प्रवृत्ति उपभोक्ता द्वारा सहन किये जाने की होती है। किन्तु इस पवृत्ति को वास्तविक रूप में अनुभव किया जा सकता है अथवा नही भी किया जा सकता। जव तक कीमत पर प्रभाव नही पडता उपभोक्ता अछूता रहता है और उसका स्पर्श केवल उसी सीमा तक होता है जव करारोपण के साथ ही कीमत वढा दी जाती है।

६ एकाधिकार पर कर (Tax on Monopoly)—हम यह वता चुके हैं कि भार का प्रश्न कीमत सम्बन्धी सिद्धान्त के वडे प्रश्न का एक भाग है। जिस प्रकार एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण प्रतियोगिता की स्थिति में होने वाले कीमत-निर्धारण मे भिन्न होता है, उमी प्रकार एकाधिकार पर कर का भार भी भिन्न रूप में कार्य करता है।

एकाधिकार कर (क) एकाधिकृत उत्पादित वस्तु की उपस्थिति से स्वतन्त्र हो सकता है (ख) तथा वह पैदावार से भिन्न रूप का हो सकता है अर्थात् पैदावार के साथ वृद्धि या कमी।

जव कर उत्पादित वस्तु के परिमाण से स्वतन्त्र होता है, तव यह एकाधिकारी पर एकमुश्त रकम, कर, या एकाधिकारी की विशुद्ध राजस्व (लाभ) का एक प्रतिशत हो सकता है। इन दोनो स्थितियो मे यह एकाधिकारी पर पडेगा। यह इसका विवर्तन उपभोक्ता पर नही कर सकता। ऐसा कीमत वढाकर किया जा सकता है। किन्तु ऐसा माना जाता है कि वह पहले ही कीमत निश्चित कर चुका है, जिससे उसको एकाधिकार की अधिकतम विशुद्ध आय हुई है। इसमे ऊँचे या नीचे मूल्य (कीमत) का अर्थ होगा कम एकाधिकार का लाभ। यदि उसके लिए अपना लाभ अधिकतम करने की नीति के अनुरूप कीमत वढाना सम्भव होता है, तो उसने इसे पहले ही कर लिया होता है। इस प्रकार लाभ पर ही कीमत में कोई परिवर्तन होगा। ऐसा होने के कारण उसको अब अपने लाभ में से ही कर का भुगतान करना होगा। विक्रय-कीमत को अपरिवर्तित रख कर और उपभोक्ता को विना प्रभावित किए हुए वह कर का भुगतान करने के बाद अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा।

यह सम्भव है कि वह बजाय यह खोज करने के कि कर देने के वाद लाभ को कैसे अधिकतम किया जायगा वह कीमत वढाकर उपभोक्ता पर कर का वोझ डाल दे। लेकिन ऐसा करना लाभ को कम करना होगा।

यदि अधिकतम लाभ पाने की अपेक्षा वह उपभोक्ता के हित का ध्यान रखते हुए

कम लाभ लेता है तो जब कर लगेगा, वह धीरे से उसे प्राप्त कर लेगा और इस सीमा तक कर के बोझ को उपभोक्ताओ पर विवर्तित कर दिया जायगा।

आइये, हम अब यह अध्ययन करें कि जब कर प्रत्यक्ष रूप में या उल्टे रूप में उत्पादित वस्तु के परिमाण से भिन्न होता है, तब क्या होता है। ऐसी स्थिति में जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है, माग और पूर्ति की लोच तथा उत्पादन के नियमो के प्रभाव पर विचार करना चाहिये। कर उत्पादन की लागत में शामिल हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उत्पादित इकाई के व्यय में योग हो जायगा। अस्तु, वस्तुओ पर कर लगाने से कीमत बढती है जो माग को कम कर देगी। यदि माग लोचदार नही है, तो इसे काफी घटाया नही जा सकता और कर उपभोक्ता पर अतरित कर दिया जायगा। यदि माग लोचदार है, तो उपभोक्ता कम खरीदेगा। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी अशत कर का भार सहन करेगा। माग की कमी का सामना करने के बदले यह कीमत घटा सकता है तथा स्वयं कर का भार सहन करने का निश्चय कर सकता है। यदि पूर्ति और अधिक लोचदार है तो उत्पादक की स्थिति मजबूत रहती है। इसी प्रकार यदि माग पूर्ति से अधिक लोचदार है तो उपभोक्ता पर कर का भार कम पडेगा और यदि पूर्ति माग से अधिक लोचदार है तो उत्पादक पर कर का कम भार पडेगा।

यदि वस्तु का उत्पादन बढती हुई प्राप्ति के नियम को मानता है, तो कर लगाने के फलस्वरूप उत्पादन में होने वाली कमी घटती हुई प्राप्ति के नियम से भी अधिक कीमत बढा देगी। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति में उपभोक्ता पर अधिक भार आयेगा। जब सीमान्त लागत स्थिर है तथा एकाधिकारी के सामने माग वक्र एक सीधी रेखा की तरह है, तो एकाधिकार कीमत के सिद्धान्त[1] के अनुसार कर लगाई गई वस्तु की कीमत कर की आधी मात्रा के बराबर बढ जायगी; जबकि प्रतियोगिता की स्थिति में कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ जाती। यदि माँग वक्र नतोदर (Concave) है तो कीमत में वृद्धि इससे अधिक होगी। जहाँ माग वक्र इस प्रकार नतोदर है कि सीमान्त आय वक्र प्रासगिक फैलाव पर माग वक्र के समानान्तर है तो कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ़ जायेगी। तो भी यदि माग वक्र केवल नतोदर नहीं है परन्तु स्थिर लोच प्रकट करता है, तो सीमान्त लागत और कीमत के बीच अनुपात स्थिर रहेगा। सीमान्त आमदनी की कीमत से कम होने के कारण सीमान्त आमदनी वक्र की ढाल माग वक्र की ढाल से कम होगी, अत कीमत कर से अधिक बढ जायेगी।[2]

यदि उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए कर की दर उत्पादन के विपरीत रूप में भिन्न होती है, तब एकाधिकारी को अधिक उत्पादन करने तथा कीमत को नीचा रखने को प्रलोभन मिलेगा। कर का भार पूर्णतः एकाधिकारी पर होगा जो वास्तव में अपने एकाधिकार-लाभ का एक अश उपभोक्ताओ को देता रहेगा।

---

1 See Mrs J. Robinson—The Economics of Imperfect Competition.

2 Mrs U K Hicks—Public Finance, 1948, pp 173 74.

७ आयात तथा निर्यात पर कर (Taxes on Imports and Exports)—सामान्यत तथा लगभग विशिष्टत स्वदेश के उपभोक्ता को ही आयात करो को सहन करना पडता है। आयातकर्ता जो कर देता है, वह उस कीमत में जोड दिया जाता है जिसे वह दूसरे खरीदार से लेता है और यही क्रम चलता रहता है। अन्तिम रूप से कर उपभोक्ता तक ही पहुँचता है। ऐसे थोडे से ही आयात होते हैं जिनमें करो का भार विदेशी उत्पादको पर छोडा जा सकता है। यदि आयात वस्तु के लिए हमारी माग लोचदार है ताकि हम उसे खरीदें या न खरीदें, और पूर्ति लोचदार नही है, और विदेशी उत्पादक के लिए कोई दूसरा बाजार नही है, तब ऐसी स्थिति में कर का भार विदेशी उत्पादक पर डाला जा सकता है। किन्तु ऐसी स्थितिया बहुत कम रहती हैं तथा स्वदेश के उपभोक्ता ही को कर का भार सहन करना पडता है।

इसी प्रकार निर्यात कर माल भेजने वाले को देना पडता है। जहा तक उसका सम्बन्ध है, विश्व के बाजारो में कीमत निश्चित है। कोई भी व्यक्तिगत निर्यातक विश्व की कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नही है। किन्तु हम यहा भी उस स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें अपवादस्वरूप निर्यातक मजबूत स्थिति में है, ताकि कर विदेशी खरीदार पर डाला जा सके। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु की पूर्ति के हम एकाधिकारी हो सकते हैं और हमारे उत्पादनो के लिए विदेशियो की मांग लोचहीन हो सकती है, क्योंकि अनेक दूसरे बाजार उनके लिये खुले हो सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में हम कर की पूरी रकम के अनुरूप वस्तु की कीमत बढाकर निश्चित रूप में विदेशियो से निर्यात कर दिला सकते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति मुश्किल से आती है। जब तक यह स्थिति उपस्थित न हो, निर्यातक को ही निर्यात कर देना पडता है। डाल्टन ने यह नियम स्थिर किया है—"आयात और निर्यात पर करो को विनिमय की बाधा माना जा सकता है और पिछले सिद्धान्त के अनुसार ऐसी किसी बाधा के मुद्रा-सम्बन्धी भार को विनिमय के दो पक्षो के बीच में अपनी क्रमिक मागो की लोच के विपरीत अनुपात में विभाजित किया जा सकता है। दूसरे शब्दो में विभाजन उनकी क्रमिक आवश्यकताओं की तात्कालिकता के प्रत्यक्ष अनुपात में होता है जिनकी तृप्ति विनिमय के द्वारा होती है।" [1]

८ भूमि पर कर (Taxation of Land)—भूमि का मूल्य दो प्रकार के तत्त्वों पर निर्भर करता है —(क) भूमि की उर्वरता, जैसे प्राकृतिक तत्त्व, भूमि की स्थिति तथा कुछ अन्य प्राकृतिक दशायें तथा (ख) नालियो सम्बन्धी योजनाओ पर पूंजी का लगाना, भूमिक्षय विरोधी उपाय, सिंचाई-सम्बन्धी सुविधाए तथा उत्पादित शक्ति को कायम रखने और उनमे वृद्धि करने के लिए आवश्यक अन्य उपाय। प्रथम प्रकार के तत्त्व पर आश्रित रहने वाला कर आर्थिक लगान पर कर है और वह मालिक पर जाता है। वह इसे किरायेदार पर नहीं लगा सकता। कारण, आर्थिक लगान भूमि पर से स्वतन्त्र मानवों द्वारा निश्चित किया जाता है। सीमान्त भूमि से अपनी भूमि की

1 Dalton Principles of Public Finance, 1943, p 57

श्रेष्ठता के अनुरूप मालिक पहले से ही पूरा किराया लेता रहता है, यह अनुमान लगाया गया है। किन्तु यदि अज्ञानता या आलस्यवश वह पूरा आर्थिक किराया नही ले रहा है, तो जब कर लगेगा तब वह चारो ओर शीघ्र ही अपनी दृष्टि डालेगा और धीरे से उसे प्राप्त कर लेगा। इस सीमा पर कर का वोझ किरायेदार पर आ जाता है।

इस प्रकार के कर अर्थात् आर्थिक लगान पर कर का वोझ उपभोक्ता पर नही टाला जा सकता क्योंकि केवल कीमत के द्वारा ही उपभोक्ता तक पहुँचा जा सकता है। हम जानते हैं कि लगान कीमत में नही शामिल होता। लगान को कम या अधिक करने का प्रभाव कीमत पर नही पडता। भूमि पर रहने वालो के द्वारा लगान का भुगतान होता है, यह बात कोई अन्तर नही उपस्थित करती। यदि वह कर का भुगतान करता है तो वह मालिक को लगान का भुगतान करने के समय उसे उसमें से काट सकता है।

इस प्रकार भूमि के मालिक द्वारा आर्थिक लगान सहन किया जाता है न कि किरायेदार या उपभोक्ता के द्वारा।

किन्तु जहाँ मालिक भूमि में अपने विनियोग को वदल सकता है, वहाँ जब कर लागू होगा, वह अपने विनियोग को कम कर देगा। इसका प्रभाव उपज पर और इसलिए वस्तु की कीमत पर पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे अर्थात् उन्नति की स्थिति में कर उपभोक्ता पर पहुँच जाता है।

भवन के स्थानो पर लगने वाला कर इन स्थानो के मालिको पर ही, जो अपनी भूमि की अधिक अच्छी स्थिति होने के कारण अतिरिक्त आय प्राप्त करते हैं, पड़ता है।

क्या भूमि-कर भूमि के भावी खरीदार पर डाला जा सकता है ? नही, इसे वर्तमान मालिक ही सहन करेगा। खरीदार को भूमि खरीदने के समय इस वात को ध्यान में रखना चाहिए कि उसे कर का भुगतान करना पडेगा। फलस्वरूप, वह कम कीमत प्रस्तावित करेगा। इस प्रकार कर मूलधन वना दिया जाता है या भूमि की निम्नतर कीमत में लगा दिया जाता है। यह इस सीमा तक होता है कि कर के भावी भुगतानो के सम्बन्ध से ठीक भविष्यवाणी की जा सकती है। किन्तु एक तटस्थता की धारणा भी है। भूमि की कीमत के सम्बन्ध में भविष्य में सम्भावित वृद्धि की आशा की जा सकती है और अधिकतम कीमत आकी जा सकती है।

९. मकान पर कर (Tax on Buildings)—जहाँ तक गृह-निर्माण का सम्वन्ध है, दो पक्षो का तत्काल पारस्परिक सम्पर्क होता है। ये पक्ष हैं मालिक और किरायेदार। यदि मालिक पर कर लगाया जाता है तो वह मकान का किराया वढाने का प्रयास करेगा और इस प्रकार वह कर के वोझ को किरायेदार पर या रहने वाले पर पहुँचा देगा। किन्तु जब तक पट्टा चालू है उस अवधि के वीच वह कुछ नही कर सकता। किराये पर नियन्त्रण रखने और मालिको को किराया बढाने से रोकने के लिए किराया कानून भी हो सकते हैं। यदि वह किराया वढा भी सकता है तो किरायेदार कम निवास स्थान का अधिक ऊंचा किराया समझ कर दूसरे मकान में चला जा सकता है। अतः ऐसे मामलो में, किसी भी दर पर, कुछ समय के लिए भार जमीदार पर रहेगा। किन्तु

परिणाम यह होगा कि हो सकता है कि किराए पर उठाने के लिये भवन-निर्माण लाभ-प्रद साध्य न रहे। भारी कर भवन-निर्माण की क्रिया में रुकावट हो जायगा तथा सम्भव है कि इस कार्य में लगे लोगो व निर्माणकर्ता की मजदूरी का स्तर गिर जाय। भवनो के लिये स्थानो की माग कम हो सकती है। यदि वे उसे बेचने की चेष्टा करेंगे तो नया खरीदार कर को ध्यान में रखेगा और उसके अनुरूप कम कीमत आकेगा। किन्तु कुछ समय में मकानो की पूर्ति कम हो सकती है, तब किराए में अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार कुछ सीमा तक कर का बोझ किरायदारो पर आ जायेगा। इस प्रकार कर का बोझ अशत मालिक, अशत भवन-निर्माण-कर्त्ता और अशत रहने वाले पर पडता है।

इसके विपरीत यदि रहने वाले पर कर लगाया जाता है तो वह उस पर लगा ही रहेगा। न तो नया मकान पाना सरल होता है और न घर बदलना इतना सुविधाजनक होता है। मनुष्य जहा है वही रहना पसन्द करता है। मकान की माग लोचहीन होती है। अत जमीदार (मकान मालिक) की स्थिति मजबूत होती है। इस प्रकार कर वही रहेगा जहा वह पहले लागू होता है। किन्तु यदि रहने वाला दूकानदार है, तो जो वस्तुए वह बेचता है, उनकी कीमत को थोडा-सा बढाकर कर का बोझ अपने पडोसी ग्राहको पर डाल सकता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि सचार तथा परिवहन के साधनो का विकास यात्री विक्रेता को हमारे दरवाजे पर ले आता है और इससे आस-पास की दूकानो को कमजोर बना देता है।

इस प्रकार अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँच सकते है कि सामान्यत मकान पर लागू कर का बोझ रहने वाले पर आता है। परन्तु कुछ परिस्थितियो में इसे मालिक निर्माण कर्त्ता या ग्राहक पर डाला जा सकता है।

१० जायदाद कर (Property Tax)—वास्तविकता में यह आयकर है और यह शेषपूर्ति के अभिप्राय से लगाया जाता है। जब किसी भी प्रकार की जायदाद पर कर लगाया जाता है तो उसकी कीमत में वृद्धि होती है। यह माग को कम करेगी तथा इसके पश्चात् पूर्ति व्यवस्थित हो जायगी जिससे इसके उत्पादक साधन दूसरे व्यवसायो में प्रयोग में लाये जायेंगे। इसके विपरीत कर के हटाये जाने अथवा कम करने से उत्पादक साधन इस ओर आकर्षित होंगे। स्थायी वस्तुओ में जिनके उत्पादन में काफी समय लगता है, पूर्ति केवल क्रम से प्रभावित होगी। यह मकानो में लागू होता है। उत्पादक वस्तुओ के विषय मे क्या होगा ? उत्पादक साधनो का, जो कर लगाई गई वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयोग मे लाये जाते है, मूल्य कम हो जायगा। परन्तु वह किस सीमा तक गिरेगा यह माग की प्रकृति, यत्र के जीवन, तथा कब तक उनका प्रयोग असामान्य है, पर निर्भर होगा। परन्तु जब उत्पादक वस्तुओ पर प्रत्यक्ष रूप में कर लगाया जाता है, उनके मूल्य तुरन्त प्रभावित होते है। जितना ही वस्तु स्थायी होगी और जितने ही समय तक कर लगने की सम्भावना होगी, उतना ही अधिक उत्पादन मूल्यो पर प्रभाव पडेगा जबकि कम स्थायी वस्तुओ पर थोडे समय के लिए कर लगने से प्रभाव कम पडेगा।

११ दरो का भार (Incidence of Rates)—सम्पत्ति के पूजीकृत

मूल्य या वार्षिक मूल्य के अनुपात से अचल सम्पत्ति पर स्थानिक संस्थाओं द्वारा दर लागू किये जाते है। उनका भार ठीक भवन-निर्माण करो के भार जैसा होता है। इसको भी मालिक, रहने वाले या ग्राहक (यदि व्यावसायिक उद्देश्य में सम्पत्ति का प्रयोग होता है) सहन करेंगे तथा हर एक पडने वाला क्रमिक बोझ आर्थिक सघर्ष तथा सभी पक्षो की सम्वन्वित सौदा करने की शक्ति या उस सम्पत्ति के लिए माँग और पूर्ति की लोचो पर निर्भर करेगा।

यह सामान्य नियम है कि स्थान के मूल्य पर कर उसके मालिक पर पड़ेगा और भवन का कर अथवा निर्माण दर उसके रहने वाले या उद्योग के ग्राहक पर पडेगा। रहने वाले की दूसरा मकान वदलने की इच्छा तथा योग्यता पर वहुत कुछ निर्भर करेगा। जितना ही अधिक वह स्थान वदलने के लिए इच्छुक तथा योग्य होगा, उतना ही अधिक दर का भार मालिक पर पडेगा। अल्पावधि में सग्रह की रीति भी महत्त्वपूर्ण है। चाहे मालिक अथवा रहने वाले, जिस पर भी इसका आघात होता है, अल्पावधि मे इसकी प्रवृत्ति वही पर जमे रहने की रहेगी।

१३. मृत्यु कर (Death Duty)—लगभग सभी विकसित देशो में कर-व्यवस्था का मृत्यु-कर प्रमुख अंग है। मृत्यु-कर के दो रूप होते है — सम्पदा कर तथा उत्तराधिकार कर। उत्तराधिकारी के सम्वन्ध से पृथक् मृत व्यक्ति द्वारा छोडी हुई चल-अचल समस्त सम्पत्ति के कुल मूल्य पर भू-सम्पत्ति-कर लगाया जाता है। सम्पत्ति के कुल मूल्य के अनुसार इसमें वृद्धि हो जाती है। उत्तराधिकार-कर में मृतक के साथ माफीदार (beneficiary) के सम्वन्ध के अनुरूप रूपान्तर होता है। इसको उस अलभ्य तत्त्व के आधार पर विभाजित किया जाता है, जो सम्वन्ध की दूरी को वढाता है। यह उत्तराधिकारी के वैयक्तिक हिस्सो पर विचार करता है न कि कुल मूल्य पर, जैसा कि भू-सम्पत्ति-कर के सम्वन्ध में होता है।

इग्लैण्ड में मृत्यु-कर, भू-सम्पत्ति-कर तथा उत्तराधिकार-कर का सम्मिश्रण है। जर्मनी में इस कर में माफीदार की पहले की भी सम्पत्ति शामिल होती है। अन्य वातों में समानता होते हुए भी यदि माफीदार के पास पहले की वडी सम्पत्ति है तो इस कर का दर उच्चतर होगा। भारतीय ससद् (१९४८) में भी सम्पदा शुल्क विधेयक प्रस्तुत किया गया है और सामान्यत इस विधेयक के कर खडो में संयुक्त राज्य ब्रिटेन जैसी ही व्यवस्था है।

मृत्यु-करो का भार कहा पर पडता है? क्या यह भार मृतक या माफीदार अर्थात् उत्तराधिकारी पर होता है? यदि मालिक मर चुका है तो ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु समस्त ऋण का भुगतान करती है। उससे अव और अधिक कर नही लिया जा सकता। उस पर आगे कोई और वोझ नही डाला जा सकता। यदि इस प्रकार का कर देने के लिए उसका वीमा हुआ होता, तव वह निश्चित रूप मे इसे सहन करता जवकि उसने प्रीमियम का भुगतान किया है। क्योकि जायदाद के मालिक को, जवकि वह जीवित था, ऐसी कोई सम्भावना नही थी, इसलिए अव उस कर का भार स्पष्टत माफीदार पर पडेगा, क्योकि वह उसकी उतनी कम सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है। मृतक की सम्पत्ति

पर लगाये गये कर के द्वारा वह और गरीब होता है।

करदाता के दृष्टिकोण से भारी वार्षिक आय-कर तथा मृत्यु-कर में कौनसा कर अच्छा है ? यह इस बात पर निर्भर है कि वह किस दर से मृत्यु-कर के अपने दायित्व को पूर्वप्रापण करता है। क्योकि वर्तमान स्वामी को न तो अपनी आय देनी पडती है और न अपनी पूजी। इसलिए वह मृत्यु-कर के दायित्व को ऊची दर से अपहार करता है। अतएव, मृत्यु-कर का अर्थ उसके थोडे त्याग से है। अत सरकार आय-कर के लगाने के बजाय मृत्यु-कर लगाकर अपनी आमदनी बढा सकती है तथा इससे करदाता की सन्तुष्टि मे कमी होगी।

जहा तक मृत्युकर के आर्थिक प्रभाव का प्रश्न है, वे वार्षिक आय-कर की भाति है। इसमे सन्देह नही कि मृत्यु का भुगतान भू-सम्पत्ति अथवा पूजी से किया जाता है परन्तु इस दायित्व को भुगतान करने मे बेची जाने वाली सम्पत्ति समुदाय की सामान्य वार्षिक बचत द्वारा सरलता से खरीदी जा सकती है। अत मृत्यु-कर का भुगतान पूजी की अपेक्षा आय से समझना चाहिये।

समुदाय मे मृत्युकर धन के वितरण में अधिक समानता लाता है और इस सामाजिक न्याय के आदर्श के पूर्णतया अनुरूप है। यह उपयोग में स्थिरता प्रोत्साहित करता है।

यह बहुधा कहा जाता है कि मृत्यु-कर छोटे व्यवसायियो को विस्तार के लिए पूजी इकट्ठा करने से रोकता है। परन्तु इसके लिये केवल मृत्यु-कर पर पूरा दोष न लगाना चाहिये। आजकल छोटी व्यावसायिक सस्थाओ की पूजी के बाजार में अधिक साख नही है। अतिरिक्त कर भी विनियोजन के लिये पर्याप्त निजी धन में कमी कर देता है। तो भी मृत्यु-कर कृषि पूजी को विरुद्धता से प्रभावित कर सकता है। वास्तविक भू-सम्पत्ति का बाजार सीमित होता है और जब मृत्यु-कर के दायित्व को भुगतान करने के लिये उन्हें बेचना होता है तो उसके उत्पादक मूल्य में भारी कमी हो सकती है।

१३. आय पर करो का भार (Incidence of Taxes on Income)—आय-कर, अतिरिक्त कर तथा आधिक्य लाभ-कर ये सभी प्रत्यक्ष कर हैं और इनको वे लोग सहन करते है जो पहले इनका भुगतान करते है। उनको साधारणतया स्थानान्तरित नही किया जा सकता। किन्तु एक व्यवसायी, जिससे उसका सम्पर्क होता है, उनसे ज्यादा मजबूत हालत मे होता है, अपने कर के एक भाग को अपने ग्राहको पर टाल सकता है। हो सकता है कि वह बहुत ही लोकप्रिय व्यापारी हो, हो सकता है कि वह ऐसा चिकित्सक हो जिसमें उसके रोगियो का पूर्ण विश्वास हो। ऐसी स्थिति में ग्राहक कुछ अधिक भुगतान करने को तैयार हो सकते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम होती है और आय-कर दाताओं को ही कर का बोझ सहन करना पडता है। अल्पावधि में यह निश्चित है कि व्यवसायी पर कर की कीमत जो माग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होती है, कोई प्रभाव नही रखती। लाभ कीमत पर निर्भर करता है परन्तु इसके विपरीत सही नही है। अत लाभ पर कर कीमत में वृद्धि करके उपभोक्ता पर नही डाला

जा सकना। दीर्घकाल में भारी कर पूर्व धारण किये हुए लाभो को घटाकर उद्यम मे बाधा डाल सकता है। परन्तु यह पूजी लगाना प्राप्य वैकल्पिक स्रोतो तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगा। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि दीर्घकाल मे क्या होगा। उदार कर की अवाछित प्रतिक्रिया न होने की सभावना है।

यदि आय-कर अत्यधिक भारी है, तो यह बचत को हतोत्साह कर सकता है, पूजी के इकट्ठा होने को रोक सकता है, या उसे बाहर निकाल सकता है। ऐसे भारी कर की व्यापक प्रतिक्रिया होगी तथा समाज की उत्पादक क्षमता का ह्रास होगा। किन्तु मुश्किल से ही कर इतने भारी होते हैं। अस्तु, साधारणत ये कर उन्ही पर निर्भर करते हैं, जिन पर इन्हें लागू किया जाता है।

भारी आय-कर प्रवर्तक तथा साहस को हताश कर सकता है। फिर भी यह इस बात पर निर्भर होगा कि कर औसत आय पर पडता है या सीमान्त आय पर पडता है। पहली अवस्था में करदाता कम आय की श्रेणी में हस्तातरित हो जाता है तथा उसको अपने प्रचलित रहन का स्तर बनाये रखने के लिए अधिक परिश्रम करना पडेगा। यदि कर की वृद्धि पूर्णतया सीमान्त आय पर पडती है तो इसका अर्थ आय को पूरा करने के लिए उत्साह भग करने के कार्य से होगा। वास्तव में उद्यम कितना प्रभावित होगा यह करदाता की आय तथा उसके अपने प्रयत्न को परिवर्तित करके, दायित्व को परिवर्तित कर सकने की शक्ति पर निर्भर होगा। साधारणतया अपने प्रयत्नो को परिवर्तित करके आय के परिवर्तित कर सकने की शक्ति कुछ ही श्रमिको में होती है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि अतिरिक्त समय में काम करने की माँग अधिक है।

१४. व्याज पर कर (Tax on Interest)—आय के स्रोत के रूप में साधारणत आय-कर के अन्तर्गत व्याज पर कर लिया जाता है। किन्तु व्याज से होने वाली आय पर जुदा कर लगाया जाता है। साधारणत इस प्रकार के कर पूजीपति द्वारा सहन किये जायेंगे। विशेषतया तब, जब कि पूजी की पूर्ति बहुत अधिक हो और पूजी के लिए माँग कम हो, परन्तु यदि माँग अधिकतर तात्कालिक है और पूजी की पूर्ति बहुत थोड़ी है, जैसा कि भारत के ग्राम्य क्षेत्रों में होता है, तो व्याज पर लगने वाले कर को ऋण वाले पर पहुंचा दिया जायगा। बहुत कुछ पूजी की गतिशीलता की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि पूजी को लागत के कुछ अन्य स्रोतो में ले जाया जा सकता है, तो उधार देने के लिए पूजी की पूर्ति सकुचित हो जायगी जिससे व्याज की दर बढ जायगी। इसका अर्थ यह है कि इसका भार ऋण लेने वाले पर होगा। वास्तव में मुश्किल से ही पूजी इतनी गतिशील होती है तथा कर का एक अंश कम से कम पूजी के स्वामियो द्वारा सहन किया जाता है। यदि कर बहुत भारी है तो यह पूजी के एकत्रित होने को हतोत्साहित करेगा, जिससे देश के व्यवसाय तथा उद्योग की क्षति होगी। ऐसी स्थिति में उपभोक्ताओ में भार व्यापक रूप में फैल जायगा।

१५. लाभ पर कर (Tax on Profits)—लाभ पर कर के भार की समस्या इस बात के कारण जटिल है कि लाभों तथा जिन तत्त्वो से यह बनते है, उनकी व्याख्या पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। प्रोफेसर वॉकर जैसे अर्थशास्त्री लाभ को

के सदृश मानते हैं। इस अर्थ में लाभ उद्यमी द्वारा अर्जित आधिक्य है, जो सीमात उद्यमी से श्रेष्ठकर है। सीमात उत्पादक द्वारा वाजार में कीमत निश्चित है इसलिए लगान के समान लाभ भी कीमत में नही शामिल होता। अत इसे उपभोक्ता पर नही डाला जा सकता। इसे वही व्यापारी सहन करेगा जो इसका भुगतान करता है। किन्तु हम इस विचारधारा को नही मानते। सीमात उद्यमी भी दीर्घावधि में थोडा लाभ प्राप्त कर सकता है। अत: साधारण लाभ आधिक्य नहीं वरन् आवश्यक लागत का एक भाग है। इससे हम इस परिणाम पर नही पहुचते कि जब तक उद्यमी कीमत को प्रभावित नही कर सकता, जिस को वह मुश्किल से कर सकता है, तो लाभ पर लगाया कर उपभोक्ता पर डाल दिया जायगा। किसी उद्यमी के लिए बाजार की कीमत निश्चित है। ऐसा होने के कारण उसकी जेब में से उसके लाभो पर लगे हुए कर को अवश्य बाहर निकालना चाहिए। जब तक कीमतें तेजी से न चढ रही हो और उपभोक्ता खरीदने के लिए उतने चिन्तित न हो तब तक लाभो पर लगने वाला कर, जैसा कि नियम है, स्थानातरित नही किया जा सकता। ऐसा मगर बहुत कम होता है।

परन्तु यदि कर किसी विशेष व्यापार तथा उद्योग से हुए लाभ पर है, तो उद्यमियो मे इन उद्योगो से हट जाने की प्रवृत्ति फैल जायगी। यदि ऐसा होता है तो यह कर भार वस्तु के उपभोक्ताओ पर, तथा ऐसे सेवा करने वालो पर जिन्हें इन उद्यमियो ने नियुक्त किया, अतत डाला जायगा। बहुत कुछ माग की लोच तथा पूजी की गतिशीलता पर निर्भर करता है।

लाभो पर लगने वाला कर लाइसेंस कर का रूप धारण कर सकता है। इस स्थिति में भी उत्पादक ही इसको सहन करेगा। अपने को सतुलित करने के लिए वह अपने उत्पादन को बढा सकता है। उपभोक्ता को सामान्यत: लाभ होता है लेकिन लाइसेंस कर का भार उत्पादक पर पडेगा। यह सामान्यत इतना छोटा होता है कि उत्पादक इसका विवर्तन करने की चेष्टा करता है।

यद्यपि लाभ को पूरी छूट देना वाछनीय नही है, तो भी अधिक करारोपण अवाछनीय है। इससे आविष्कार तथा उद्यम पर कुठाराघात होगा। राजस्व खत्म हो जाएँगे और साथ ही मशीनो का आधुनिक कार्य चौपट हो जायगा। श्रीमती हिक्स के शब्दो में, "प्रत्याशित लाभ प्राप्ति के वक्र पर अतिरिक्त कर से वक्र बाए को मुड जायगा, किन्तु इस से इसकी आकृति में अन्तर न आएगा तथा नुकसान का अवसर न होगा। इस प्रकार पहले ऊँचे लाभ के अवसर जो जोखिम वाले बडे नुकसान के नियोजक वक्रो के कारण सतुलित होते थे खत्म हो जाते हैं, और परिणामस्वरूप तुला इसके विरुद्ध हो जाती है, इसके विपरीत सुरक्षित नियोजन, जो अपेक्षाकृत प्रभाव-रहित रहता है, अधिक आकर्षक रहेगा। अधिक लाभो पर कर के विरुद्ध 'उपक्रम पूजी' (venture capital) में भेद करना किसी देश के लिए गहन हो सकता है, अर्थात् आधुनिक विकास के साथ जुडे रहना, यह विशेष रूप मे औद्योगिक देश के लिए गहन है, जहा कई किस्म का औद्योगिक सामान मिलता है और जहाँ, नए उद्यम को होशियार रहने की जरूरत है। इस टैक्स में महत्वपूर्ण चक्र गति है मदी में, प्रत्याशित प्राप्ति के वक्र सीधे हो

के सदृश मानते है । इस अर्थ में लाभ उद्यमी द्वारा अर्जित आधिक्य है, जो सीमात उद्यमी से श्रेष्ठकर है। सीमात उत्पादक द्वारा बाजार में कीमत निश्चित है इसलिए लगान के समान लाभ भी कीमत मे नही शामिल होता। अत इसे उपभोक्ता पर नही डाला जा सकता। इसे वही व्यापारी सहन करेगा जो इसका भुगतान करता है । किन्तु हम इस विचारधारा को नही मानते। सीमात उद्यमी भी दीर्घावधि में थोडा लाभ प्राप्त कर सकता है। अत साधारण लाभ आधिक्य नही वरन् आवश्यक लागत का एक भाग है। इससे हम इस परिणाम पर नही पहुचते कि जब तक उद्यमी कीमत को प्रभावित नही कर सकता, जिस को वह मुश्किल से कर सकता है, तो लाभ पर लगाया कर उपभोक्ता पर डाल दिया जायगा। किसी उद्यमी के लिए बाजार की कीमत निश्चित है। ऐसा होने के कारण उसकी जेब में से उसके लाभो पर लगे हुए कर को अवश्य बाहर निकालना चाहिए। जब तक कीमतें तेजी से न चढ रही हो और उपभोक्ता खरीदने के लिए उतने चिन्तित न हो तब तक लाभो पर लगने वाला कर, जैसा कि नियम है, स्थानातरित नही किया जा सकता। ऐसा मगर बहुत कम होता है।

परन्तु यदि कर किसी विशेष व्यापार तथा उद्योग से हुए लाभ पर है, तो उद्यमियो मे इन उद्योगो से हट जाने की प्रवृत्ति फैल जायगी। यदि ऐसा होता है तो यह कर भार वस्तु के उपभोक्ताओ पर, तथा ऐसे सेवा करने वालो पर जिन्हें इन उद्यमियो ने नियुक्त किया, अतत डाला जायगा । बहुत कुछ माग की लोच तथा पूजी की गतिशीलता पर निर्भर करता है ।

लाभो पर लगने वाला कर लाइसेंस कर का रूप धारण कर सकता है। इस स्थिति में भी उत्पादक ही इसको सहन करेगा। अपने को सतुलित करने के लिए वह अपने उत्पादन को बढा सकता है। उपभोक्ता को सामान्यत लाभ होता है लेकिन लाइसेंस कर का भार उत्पादक पर पडेगा। यह सामान्यत इतना छोटा होता है कि उत्पादक इसका विवर्तन करने की चेष्टा करता है।

यद्यपि लाभ को पूरी छूट देना वाछनीय नही है, तो भी अधिक करारोपण अवाछनीय है। इससे आविष्कार तथा उद्यम पर कुठाराघात होगा। राजस्व खत्म हो जाएँगे और साथ ही मशीनो का आधुनिक कार्य चौपट हो जायगा। श्रीमती हिक्स के शब्दो में, "प्रत्याशित लाभ प्राप्ति के वक्र पर अतिरिक्त कर से वक्र बाए को मुड जायगा, किन्तु इस से इसकी आकृति में अन्तर न आएगा तथा नुकसान का अवसर न होगा। इस प्रकार पहले ऊँचे लाभ के अवसर जो जोखिम वाले बडे नुकसान के नियोजक वक्रो के कारण सतुलित होते थे खत्म हो जाते है, और परिणामस्वरूप तुला इसके विरुद्ध हो जाती है, इसके विपरीत सुरक्षित नियोजन, जो अपेक्षाकृत प्रभाव-रहित रहता है, अधिक आकर्षक रहेगा। अधिक लाभो पर कर के विरुद्ध 'उपक्रम पूजी' (venture capital) में भेद करना किसी देश के लिए गहन हो सकता है, अर्थात् आधुनिक विकास के साथ जुडे रहना, यह विशेष रूप से औद्योगिक देश के लिए गहन है, जहा कई किस्म का औद्योगिक सामान मिलता है और जहां, नए उद्यम को होशियार रहने की जरूरत है। व्यापार चक्र में महत्वपूर्ण चक्र सगति है मदी में, प्रत्याशित प्राप्ति के वक्र सीधे हो

सावारण लाभ में कटौती करता है तो इससे उद्यमी हतोत्साहित होगा, उत्पादन में कमी हो सकती है और कर मजदूरो या उपभोक्ताओ पर विवर्तित हो जायगा। यदि न्यूनतम मजदूरी पर कर लगता है तो या तो यह श्रमिक की योग्यता को घटा देगा या उसकी पूर्ति को घटा देगा। इसका अर्थ उपभोक्ता या मालिक पर कर का विवर्तन होगा। आवश्यक लागतो पर कर लगाने का अर्थ सम्बन्धित साधनो को हटाना होगा। इस प्रकार यह कहा जाता है कि सभी करो की प्रवृत्ति आधिक्य, अर्थात् किसी साधन को नियमित रखने के लिए न्यूनतम आवश्यकता से अधिक आय की ओर होती है। केवल एकाधिकारी ही आधिक्य का आनन्द लेता है। वह स्वय ही कर का बोझ सभालेगा। यदि जीवन की आवश्यकता के उत्पादन से आधिक्य आता है तब माग के लोचहीन होने के कारण कर का बोझ पूर्णत उपभोक्ताओ पर चला जायगा। यदि यह वस्तु विलासिता की है तो इस भार को अशत. उत्पादक, अशतः मध्यम वर्ग और अशत उपभोक्ता सहन करेंगे।

२०. बिक्री कर का भार (Incidence of Sales Tax)—यह कर विक्रय राशि पर लगता है, चाहे लाभ हो या न हो। इसका भार एक जटिल समस्या है। क्योकि इसमें विस्तृत रूप में विभिन्न किस्म की वस्तुएँ आ जाती हैं। यदि किसी वस्तु के लिए माग लोचहीन है तो उसकी कीमत बढायी जा सकती है और बाद में उसी सीमा तक उपभोक्ताओ पर कर को विवर्तित कर दिया जायाग। किन्तु यदि माग लोचदार है तो अशतः विक्रेता और अशत उपभोक्ता इसे सहन करेंगे। विक्रय कर लाभो पर ऐसा आघात पहुँचा सकता है जिससे व्यवस्था-विभाग व कर्मचारियो की छटनी हो सकती है, कुछ व्यावसायिक स्थान खाली रह सकते हैं। इस प्रकार इसके भार कर्मचारियो, व्यवस्था-विभाग व जमीदारो पर पड सकते हैं। वास्तव में विक्रय कर विभिन्न प्रकार की बढी सख्या में जनता पर चोट करता है।

२१ व्यवसाय कर या हैसियत कर (Profession Tax or Haisiyat Tax)—यह कर व्यवसाय या सेवा पर लगता है। इसके भार आय-कर के समान होते हैं। यह वही पडा रहता है, जहा इसे लागू कर दिया जाता है और विवर्तन नही करता बशर्ते कि यह सामान्य कर है। यदि यह कुछ निश्चित व्यवसायो पर कर है और भारी है तब यह उन व्यवसायो में दूसरे के प्रवेश को हतोत्साहित करता है। जो लोग ऐसे लोगो की सेवा का प्रयोग करते है, उन्हें अधिक भुगतान करना होगा और अधिक भार सहन करना होगा।

२२. करो की विभिन्नता (Tax Differentiation)—जब कोई कर लगाया जाता है तो उससे कुछ लोग निश्चय ही प्रभावित होगे। कुछ के पक्ष और कुछ के विपक्ष में इसका प्रभाव पडेगा। किसी स्थान के लोगो के पक्ष में यह प्रभाव कर सकता है और किसी दूसरे स्थान के लोगो को यही दडित कर सकता है। कुछ लोगो की हानि करके यह प्रभाव कुछ व्यापारियो को लाभ पहुँचा सकता है। दूसरे शब्दो मे करो में कुछ लोगो के पक्ष व कुछ के विपक्ष में भिन्नता होती है। यही कर-भिन्नता है । बेनहम के शब्दो में "कर कुछ करने की आन्तरिक प्रेरणा को परिवर्तित कर देते है, कुछ क्रियाओ मे इनसे भिन्नता होती है।"

कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट कर देंगे । आय-कर, जो अर्जित आय पर छूट देता है, विनियोग-आय के विरुद्ध और वैयक्तिक परिश्रम के पक्ष में अधिक भिन्नता करता है। उत्तराधिकार कर का भी इसके सदृश प्रभाव होता है। जो उत्तराधिकार से सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा यह उनका साथ देता है, जो स्वय सम्पत्ति बनाते है। बम्बई में स्थानिक करो के भार ने सूती वस्त्रोद्योग को बम्बई से निकालकर अहमदाबाद, शोलापुर व हैदराबाद भगा दिया। प्रति व्यक्ति कर किसी देश के निवासियों में ही भिन्नता करता है। कुछ पेशो पर लगे हुए करो से ऐसे लोगो को लाभ होता है जो बिना कर के व्यवसाय में हैं और जो ऐसे व्यवसाय के है, जिसमें कर नही लगा है तो उनके प्रति भिन्नता होती है। चाय पर लागू कर काफी के प्रति भिन्नता पैदा करता है। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। भिन्नता का अर्थ पूर्णत स्पष्ट है। समाज के कुछ वर्गों पर इसका क्या अनुचित प्रभाव है या इसके विपरीत क्या प्रभाव होगा, इसका पता लगाना ही इसका अर्थ है।

सामाजिक न्याय के साधन के रूप में सरकार को सार्वजनिक वित्त का प्रयोग करना है। इस उद्देश्य के लिए यह कुछ को क्षति करके कुछ को लाभ पहुचाता है। इसको कुछ उद्योगो को प्रोत्साहित करना है, या उन्हें कुछ क्षेत्रो में विकसित करना है। इन सब उद्देश्यो के लिए करो के भेद का अध्ययन अति आवश्यक है।

अध्याय ४७

लोक ऋण

(PUBLIC DEBT)

१ प्रस्तावना—सरकार द्वारा ऋण लेने की प्रणाली हाल ही में प्रारम्भ हुई है। १८वी शताब्दी तक इसे कोई नही जानता था। जब भी कोई आकस्मिक घटना, जैसे लडाई आदि छिडती थी, तो राजा अपने सचित धन का आश्रय लेता था अथवा अपनी निजी साख पर ऋण लेता था। इतिहास में बहुत से ऐसे उदाहरण पाये जाते है, जिनमें राजाओ के खजानो अथवा मन्दिरो और गिरजाघरो मे सचित धन की लूटमार का वर्णन किया गया है। परन्तु वित्त-प्रबन्ध की यह रीति आधुनिक काल के लिए उचित नही है। यह पर्याप्त तथा मितव्ययी नही होगी। १९वी शताब्दी में ऋण का स्थान लोक ऋण ने ले लिया है। एक साधारण नागरिक आजकल अधिक सुरक्षा तथा विश्वास के कारण उधार देने के अधिक योग्य और तत्पर है। ये सब लोक ऋण की प्रणाली के मुख्य आधार है।

लोक ऋण की इस प्रणाली के फलस्वरूप जिससे ऋण लेने में सुविधा हो गई है, आधुनिक राज्यो में भी ऋणग्रस्तता की अधिक वृद्धि हो गई है। २७ देशो का लोक ऋण सन् १९०० में ६ अरब, ७ करोड ९० लाख पौंड था। १९१३ में यह ऋण ८ अरब ५६ करोड ६० लाख पौंड हो गया तथा १९३३ में २२ अरब पौंड हो गया। इस घटनावश वृद्धि का मुख्य कारण था युद्ध। १९१४-१८ के युद्ध की वास्तविक लागत ४,२०० करोड पौंड थी,[1] १९३९-४५ के युद्ध की लागत तो इससे भी कही अधिक होगी।

युद्ध के अतिरिक्त अन्य दूसरे कारण भी है जिनकी वजह से लोक ऋण मे वृद्धि हुई है। पहला कारण बजट में बहुधा घाटा है। इन घाटो का कारण पूर्ण आर्थिक क्रिया के प्रतिपादन की आवश्यकता उन अर्थ-व्यवस्थाओ मे है जो कि विस्तृत होने से रुक गई है। लोक ऋण में वृद्धि का दूसरा कारण दीर्घकालीन औद्योगिक विनियोग तथा कल्याण-योजनाओ का चलाना है। तीसरे सार्वजनिक उपयोगिताओं में जहा लाभ पर कोई अनुकूल रुकावट नही है, लागतो पर कोई नियन्त्रण नही रखा जा सकता और इसलिए लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। इनसे भी लोक ऋण में वृद्धि हुई है।

२. लोक ऋण के लाभ व हानि—इससे उत्पादन का विकास होता है, और इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि होती है। धीरे-धीरे इससे जीवन-स्तर भी ऊचा हो जाता है। लोक-ऋण के बिना राज्य के बड़े-बडे कार्य, जैसे, सडको, नहरो आदि का कार्य असम्भव था। लोक-ऋण ही प्राकृतिक दुर्घटना, जैसे बाढ, भूकम्प, अकाल आदि के समय

---

1 Findlay Shirras : Science of Public Finance, 1936 p. 779.

देश की सावारण स्थिति वनाये रखने का एकमात्र उपाय है। इस प्रकार की दुर्घटनाओं का सामना सामान्य राजस्व नही कर सकता। आधुनिक युद्ध भी लोक-ऋण के बिना नहीं लडे जा सकते। जिस राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सकुचित हो जाती है, वह आत्म-समर्पण के लिए वाध्य हो जाता है। अत लोक-ऋण ही राज्य की सुरक्षा और स्व-तन्त्रता का अस्तित्व वनाये रखता है। जनता द्वारा दिये गये लोक-ऋण से ही पिछडे देश अपने प्राकृतिक साधनो का विकास करके, अपनी शक्ति और प्राकृतिक सम्पत्ति वढा सकते हैं। उधार देने वाले राष्ट्रो को भी लोक ऋण अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है। उधार देने वाले राष्ट्रो के नागरिको के लिए सुरक्षित और लाभजनक धन लगाने के साधन मिल जाते है। अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यापारिक सन्तुलन में एक अनुकूल प्रतिक्रिया है और वैदेशिक विनिमय को भी सतुलित रखता है।

अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवस्था के कुछ आर्थिक लाभ भी हैं, जैसे उधार देने वाले देश ऋणी देश के भौतिक उत्थान में रुचि रखने लगते हैं। यह उस देश के नाग-रिको के दृष्टिकोण को विकसित करता है। इस तरह विभिन्न देशो का पारस्परिक सम्वन्ध एक दूसरे को समझने में सहायक होता है और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शाति को वनाये रखने में समर्थ होता है।

लोक ऋण के लाभो के साथ-साथ कुछ हानिया भी होती हैं, जो निम्न प्रकार है—

लोक ऋण का सबसे वडा भय इस वात से उत्पन्न होता है, कि सरकार वहुत आसानी से उधार ले सकती है। यह ऋण लेना लोगो की कर देने की क्षमता की सीमा पार कर जाता है। नये और पिछडे देशो का लापरवाही से उधार लेना उनको अमितव्ययी वना देता है। अधिक व्यय वाली योजनाए होने वाले लाभ का माप किये विना ही प्रारम्भ की जाती हे और इस ओर ध्यान ही नही दिया जाता कि योजनाए देश की सहन-शक्ति की सामर्थ्य की है भी या नहीं। यह आने वाली पीढी पर व्याज का भार और अधिक वढा देती है, जवकि इन योजनाओ से कोई विशेष लाभ नही होता। इसके कारण वहुत से देशो ने अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता खो दी। मिस्र उनमें से एक है। देश के राजस्व कभी-कभी विदेशी वाण्ड रखने वालो के यहा धरोहर के रूप में रख दिये जाते है। उनके हित सुरक्षित रखने के लिये विदेशी सरकार हस्तक्षेप करती है। विदेशी ऋण देश के धन को निरन्तर देश के वाहर ले जाते हैं। अगर रुपया अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है, तो व्याज का देना आने वाली पीढी पर व्यर्थ का भार होगा। लोक ऋण अन्त-र्राष्ट्रीय उलझनें वढाता है और शान्ति को वढाने के वजाय उसको खतरे में डाल देता है। इससे निजी स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। लोक ऋण उधार देने व लेने वाले देशो में निरन्तर फूट का कारण वन जाते है।

साराश यह कि लोक ऋण के लाभ उसकी हानियो से अधिक है। ऋण के भी निराशापूर्ण पक्ष हैं परन्तु उसके आशापूर्ण पक्ष अधिक हैं, और वह अधिक प्रत्यक्ष हैं। इसने सम्वन्धित उधार देने व लेने वाले देशो पर अनेक और सदैव रहने वाले लाभ प्रदान किये हैं।

३ आपात काल में सरकार किस प्रकार कोष वढाती है (How the Govt Raises Funds For Emergencies)—सरकार के सकटापन्न स्थिति में धन जुटाने के निम्नाकित साधन हैं—

(i) संचित धन का उपयोग।

(ii) सरकारी सम्पत्ति का विक्रय।

(iii) नये करो का लागू करना और पुराने करो की दर में वृद्धि करना।

(iv) अस्थायी ऋणो का लेना।

(v) स्थायी ऋण का लेना।

(vi) अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का चलन।

सचित संपत्ति कुछ ही आधुनिक सरकारो के पास होती है। जवाहरात और संचित सपत्ति शासको की अपनी निजी सपत्ति है। दूसरा साधन 'सरका ी सम्पत्ति का विक्रय' है, जो कि पुराने देशो में जहा राज्य की भूमि पहले से ही विकी हुई मान ली जाती है, महत्त्वपूर्ण नही है। एक आधुनिक सरकार पूर्वत सपत्ति को वेचने की अपेक्षा अधिक सपत्ति प्राप्त करना चाहेगी।

जव कभी लडाई जैसी सकटापन्न स्थिति उपस्थित हो जाती है तो राजकीय कोष वढाने के लिये सवसे पहला साधन आता है, नये करो की वृद्धि के साथ पुराने करो, जैसे आयकर, उत्पादन कर, रेलवे और डाक की दरो मे वृद्धि करना। नये उत्पादन करो के वसूल करने और आयात-निर्यात कर की सूची वढा दी जाती है। लेकिन इसकी भी एक सीमा होती है। इसके वाहर सरकार को इस दशा में अप्रिय कर वढाना सुरक्षित नही है। एक सीमा के वाहर लोग कर देने मे असमर्थ या अपने आपको परेशान पाते हैं या कर न देने की इच्छा करते हैं। यदि कर अधिक लगाये जाते हैं तो इससे राष्ट्र के उत्पादन-सामर्थ्य को क्षति होती है। इसके अलावा देश के नागरिको की देश-भक्ति पर अत्यधिक दवाव पडता है। इसलिये सरकार कम-से-कम विरोध की नीति को अपनाती है और अपनी कर-प्रणाली को अधिक नही वढाती।

४. अस्थायी बनाम स्थायी ऋण (Temporary Vs. Permanent Loans)—अस्थायी ऋण वहुधा सरकारी हुडियो के वेचने से वढाया जाता है अथवा केन्द्रीय वैंक के अर्थोपाय-पेशगियो (ways and means advances) द्वारा। नियम के अनुसार यह देश के अन्दर ही वढाये जाते हैं। नीचे कुछ "अल्प-अवधि-ऋण" लेने के विषय में आवश्यक विवेचनाए दी जाती हैं—

(क) जव मुद्रा के वाजार में व्याज की दर साधारण से कुछ अधिक हो तो यह वुद्धिमत्ता नही होगी कि सरकार अधिक व्याज के वोझ को सहन करे। जव व्याज की दर कम हो तव रुपया उधार लेना वुद्धिमत्ता होगी। मुख्यत स्थायी ऋण के लिए यह अच्छा अवसर है।

(ख) जव सरकार को अस्थायी कठिनाइयो पर विजय पानी होती है तव स्थायी ऋण लेना अनावश्यक होगा, जैसे वजट की कमी को पूरा करना या तात्कालिक व्यय और आशान्वित आय के वीच की खाई को पूरा करना। जून और जुलाई में नये करो

की आय का आना प्रारम्भ नही हो सकता और अप्रैल और मई में धन कोष का अभाव हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में स्थायी ऋण-व्यवस्था ही केवल एकमात्र उपाय है। अगर लक्ष्य अस्थायी है तो ऋण का स्थायी होना आवश्यक नही।

(ग) अस्थायी ऋण की यह विशेषता है कि वह सरकार को अपने कामो को अविरोध और वेरोक टोक करने की क्षमता प्रदान करता है और स्थायी ऋण वढाने की कठिनाइयो से वचाता है।

(घ) मुद्रा के वाजार में अस्थायी ऋण के निकालने का स्वागत होता है। सरकारी हुडिया सवसे अधिक सुरक्षित और वैंको के लिए सब से अधिक लाभप्रद विनियोग है और वे वैंको के लिए एक आदर्श विनियोग वनाती हैं।

दूसरी ओर अस्थायी ऋण की कुछ वुराइया भी हैं—

(क) जव सरकार मुद्रा वाजार में अस्थायी ऋण वढाने के लिए प्रवेश करती है तो वैंको का रुपया व्यापार और उद्योग से हटाकर सरकारी हुडियो में परिवर्तित कर दिया जाता है। फलस्वरूप वे नष्ट हो जाते हैं। यहा तक कि वैंक जमा में भी कमी आ जाती है। सरकार की ओर से भी ऐसी स्थिति के कारण आर्थिक चेष्टा को आघात पहुचता है।

(ख) अल्पकालीन ऋण का होना सरकार के लिए एक परेशानी का कारण वन सकता है। इससे सरकार की आर्थिक स्थिरता में अविश्वास उत्पन्न हो सकता है और इसके परिणाम अच्छे नही हो सकते। जव एक वडा अस्थायी ऋण पूरा हो लेता है तो यह सरकारी अर्थ-प्रवन्ध के लिए कठिन और भार-स्वरूप प्रतीत होता है।

(ग) यह वहुधा देखा जाता है कि जव एक अस्थायी ऋण पूरा प्राप्त होता है तो उसके भुगतान के लिए दूसरे ऋण निकाले जाते हैं। इस तरह से यह अस्थायी ऋण एक स्थायी ऋण का रूप धारण कर लेता है। मुद्रा वाजार का धन निश्चित काल के लिए एक जगह वन्द कर दिया जाता है जिससे व्यापार और उद्योग को क्षति पहुचती है।

(घ) अल्पकालीन ऋण का होना, भविष्य में एक भयानक रूप धारण कर लेता है जवकि वास्तविक सकट उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिये जव युद्ध छिड जाता है तो सरकार को शीघ्र ही अधिक धन की आवश्यकता होगी, लेकिन पहले से ऋणी होने के कारण और ऋण लेने के कम अवसर प्राप्त होगे।

(ड) अल्पकालीन ऋण से दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि वह मुद्रा-प्रसार को जन्म देता है। जव ऋण लोटाने का समय आता है तो चुकाने के लिए सरकार पत्र-मुद्रा छाप सकती है और मुद्रा-प्रसार की कठिनाइयो से तो हम भली भाति परिचित ही हैं।

(च) अल्पकालीन ऋण पर वैधानिक नियन्त्रण नहीं रहता और उसका प्रचार भी अधिक नहीं होता। यह नितान्त प्रवन्ध-कृत्य द्वारा होता है। ऋण लेना वास्तव में एक वडी कठिनाई है। अत्यधिक ऋण लेना अमितव्ययिता को जन्म देता है।

स्थायी ऋण के भी हानि और लाभ हैं। स्थायी ऋण के पक्ष में हम निम्न वातें पढ़ मानते हैं—

(क) यह उस समय लाभप्रद होगा जवकि व्याज की दर कम हो। इन परि-

स्थितियो में जन-कल्याण की योजनाए कार्यान्वित करना अच्छा होगा क्योकि धन के लिए अधिक व्याज नही देना पडेगा।

(ख) स्थायी ऋण सरकार के लिये कठिनाई स्वरूप नही होते। इनके भुनतान के लिए सामयिक प्रवन्ध किये जा सकते है।

(ग) सरकारी वाड वास्तव में अच्छा विनियोग है। वे ट्रस्ट फड वैंक और वीमा कम्पनियो के लिये लाभप्रद प्रतीत होते है। नि सन्देह इसके द्वारा धन की वचत वढती है और देश अधिक पूजी का सचय कर सकता है।

(घ) यह हमारी न्याय की भावना को भी सतुष्ट करता है जिससे रेलो, नहरो का निर्माण आने वाली सन्तान को लाभप्रद होता है। युद्ध के द्वारा हुई वर्वादी के लिए भी लाभप्रद हो सकता है। यह सव तभी हो सकता है जवकि अधिक समय के लिए ऋण लिया जाय।

(घ) आधुनिक युद्ध को सफल वनाने और उसके द्वारा हुई वर्वादी के सुधार के लिये स्थायी ऋण का होना नितान्त आवश्यक है। क्षतिग्रस्त स्थानो की मरम्मत और पूर्ववत् दशा में लाने के लिए भी अधिक कोप चाहिए, जो अधिक करो के वढाने से होगा। ऋण का इतना वडा भार कुछ ही वर्षों द्वारा प्राप्त धन पर नही लादा जा सकता। इसे सहने योग्य वनाने के लिए इसकी अवधि अधिक लम्वी होना चाहिये। यह केवल स्थायी ऋण के द्वारा ही सभव है।

(च) उत्पादक-कार्यों के लिए लिये गये ऋण राष्ट्रीय धन की रचना करते है, जिससे मूलधन और व्याज, दोनो पूर्ण किए जा सकते है। स्थायी ऋण की सहायता से धन वढाने वाले साधन उत्पन्न होते है—जैसे नहरें, रेलें आदि सदैव रहती है और भविष्य मे राष्ट्रीय धन को वढाती है। अत. स्थायी ऋण अधिक लाभकारी है।

(छ) अन्त में स्थायी ऋण नागरिको को राज्य में स्थायी व्याज देते है। यह उनमें नागरिक भावनाए तथा देशभक्ति को वढाते है और सरकार का जनता द्वारा ऋण लेने से दोनो के वीच एक निकट सपर्क स्थापित हो जाता है।

दीर्घकालीन अथवा स्थायी ऋण में भी कुछ वुराइया है—

(क) स्थायी ऋण व्याज की दर ऊची होने की दशा में लेना उचित नही होता। ऐसे समय में दीर्घकालीन ऋण का निकालना जनता की राय में अनुचित होगा।

(ख) यह भी उचित नही है कि हमारी भूलो को आने वाली सन्तान भुगते। हिट-लर द्वारा की जाने वाली भूलो के लिए जर्मनी की आने वाली सन्तान को क्यो दण्ड दिया जाय? इसी ढग से गलत जन-कल्याण की योजनाऐं भी आने वाली सन्तान के लिए अहितकर भार-स्वरूप होती है।

(ग) करो की तुलना में ऋण लेना आसान है। कर लोकप्रिय नही होते लेकिन सरकार ऋण लेकर एक अप्रिय कार्य को उन्नति दे सकती है या एक शंकित उद्देश्य को चला सकती है। सरकार के हाथ में यह एक भयकर शस्त्र है और यह प्रजातन्त्र के विपरीत है। यदि युद्धो की अकेले करो द्वारा ही अर्थ-व्यवस्था होती है तो वह समाप्त हो जायेंगे।

(घ) भारी लोक ऋण उद्योग और व्यवसाय पर रोक लगाने का काम करते है। सरकार को अधिक ब्याज का भुगतान करने के लिए (ऊचे) भारी करो का लगाना आवश्यक हो जाता है और अधिक कर आर्थिक उन्नति पर चोट करते हैं। इस तरह उद्योग पर इसका भारी दवाव पडेगा।

इन आपत्तियो के होते हुए भी ऋण लेने से छुटकारा नही दीख पडता। प्रत्येक सरकार ऋण लेती है और लेना ही चाहिए। इसकी राजनीतिक आवश्यकता भी है। दीर्घावधि ऋण आन्तरिक और वाह्य दोनो हो सकते हैं। वह देश की जनता से या विदेशी सरकार से लिये जा सकते हैं। विदेशी ऋण की दशा में ब्याज का धन दूसरे देशो में जाता है। इसमे ऋणी देश अपनी राजनीतिक स्वाधीनता भी खो सकता है। इसका अर्थ आने वाली सन्तान पर यह ऋण भार-स्वरूप होगा जब कि इस धन को उत्पादित कार्यों में न लगाकर युद्ध आदि मे लगाया जाता है।

५ राष्ट्रीय ऋण की सीमा (Limit to National Borrowing)—आखिरकार ऋण चुकाना ही होता है। इसलिए कोई भी राज्य लौटाने की सामर्थ्य के वाहर उधार नही ले सकता। राज्य विभिन्न रूपो में ऋण ले सकता है, लेकिन इनकी भी सीमा है और अपनी सुरक्षा के वाहर वह नही जा सकता। आइए, हम ऋण के विभिन्न रूपों और हरएक की सीमा पर विचार करें।

(क) कागजी मुद्रा का निकालना (Issue of Paper Money)—यह अस्वाभाविक या विवश-ऋण कहलाता है। अव यह मान लिया गया है कि मुद्रा-प्रसार एक वहुत भयानक शस्त्र है। हम शीघ्र ही वढी हुई पेचीदी कीमतो में जकड जाते है। अगर कागजी मुद्राप्रसार सीमा के वाहर वढ जाता है, तो यह सारहीन हो जाता है और देश को नष्ट कर देता है। १९१४-१८ के युद्ध के वाद में जर्मनी मे यही तो हुआ था।

(ख) वाह्य ऋण (External Loan)—इस विषय में ऋण लेना देश की आर्थिक स्थिरता और साख पर निर्भर करता है। कुछ ही देशो की असीमित राष्ट्रीय साख होती है। प्रत्येक देश का वजट उस सीमा को वतलाता है जिसके वाद विदेश से ऋण लेने की आशा नही की जा सकती। विदेशी सरकार उधार लेने वाले देश के नागरिकों की कर-सहन शक्ति और देश के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय के अनुसार कार्य करेगी। कोई भी विदेशी सरकार एक सीमा के वाहर उधार नही दे सकती।

(ग) आन्तरिक ऋण (Internal Borrowing)—यहा फिर से इसे दुहराना पडेगा कि उधार लेने की भी एक सीमा है। उसके वाहर उधार लेना असम्भव है। भौतिक सम्भावित वचत के द्वारा ही उधार लेने की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाती है। सिद्धान्तत यह कहा जा सकता है कि सरकार वह सब उधार ले सकती है जो कि नागरिक वचत करते है। निःसन्देह जब तक सरकार सघर्ष काल से न गुजर रही हो तब तक ऐसा कम ही होता है। परन्तु यदि सरकार उस सब को, जो कि नागरिक वचाते है, ले लेती है, तो व्यापार और उद्योगो को चलाने के लिए कुछ भी नही वचता। नई पूजी का निरन्तर वहाव वर्तमान पूजी को न केवल पूर्ववत् वनाये रखने

के लिए है वरन् और नई पूजी बनाने के लिए आवश्यक है, साथ ही उद्योगो को न केवल सुचारु रूप से चलाने के लिए ही बल्कि उनके उत्थान के लिए भी आवश्यक है। अगर सरकार इस बहाव को रोक देती है या बूद-बूद करके आने देती है, तो नि.संदेह व्यापार और उद्योग-धन्धो को हानि पहुचेगी। इसीलिए हम कह सकते हैं कि साधारणतया सरकार अतिरिक्त बचत ही उधार ले सकती है। उदाहरणत वह धन जो उद्योग-धन्धो और व्यापारो की आवश्यकता के बाद बचे रहते हैं।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चाहे सरकार विदेश से उधार ले या दश के भीतर से, या केवल कागजी मुद्रा छाप कर, प्रत्येक दशा में इन सब की एक सीमा होगी। इस सीमा को या तो देश की सुरक्षा को खतरे में डाले बिना या देश की उत्पादन-शक्ति को हानि पहुचाये बिना पार नही किया जा सकता।

६. लोक ऋण बढाने का मुद्रा-प्रसार एक साधन (Inflation as a Means of Raising Public Funds)—आधुनिक युद्ध इतने महगे हो गये हैं कि किसी देश का युद्ध में प्रवृत्त होना पत्र-मुद्रा निकाले बिना असम्भव हो गया है। ऋण और कर इस काम के लिए ठीक सिद्ध नही होते। १९१४-१८ के युद्ध के अन्त में, जर्मनी को करीब-करीब पूर्ण रूप से इसी का आश्रय लेना पडा और यह अच्छा भी सिद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध से सम्बन्धित सभी देशो ने कम या अधिक रूप में इस साधन को अपनाया। इग्लैंड और अमेरिका जैसे देशो में भी प्रचुर मात्रा में कागजी मुद्रा छापी गई। भारत में इसने बहुत बडे रूप में खतरे का आह्वान किया, जिसका अर्थशास्त्रियो ने विरोध किया। सितम्बर १९३९ से मार्च १९४३ तक भारत में पत्रमुद्रा में ८० प्रतिशत बढ़ती हुई।

इस प्रकार आकस्मिक घटनाओ के लिए धन बढाने में पत्र-मुद्रा निकालने के साधन ने राज्य ऋण में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। लेकिन यह मानना होगा कि यह एक गलत और चिन्तायुक्त भय का साधन है। यहा हम पत्र-मुद्रा-प्रसार के विपरीत आर्थिक कारणो पर विचार नही करेगे। किन्तु हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि पत्र-मुद्रा-प्रसार या उसके अत्यधिक निकालने का आन्तरिक व्यापार पर अस्थिर प्रभाव होता है; यह विदेशी विनिमय को उद्विग्न करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अशात कर देता है। यह इसमें न मुलझाने वाले सट्टे को जन्म देता है और व्यापारिक सम्बन्धो में अविश्वास की भावना उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह व्यापार की जड काटता है जिस पर भविष्य की उन्नति निर्भर होती है। डाल्टन के शब्दो में "कृत्रिम समृद्धि के नशे में चूर व्यापारी लोग पहले खूब प्रसन्न होते हैं, उसके बाद विक्षिप्त बुद्धि से भविष्य को गलत आँकते हैं, अपने साधनो का गलत निर्देशन करते हैं और ऐसे उद्यमो को आरम्भ करते हैं जो आर्थिक दृष्टि से दोषपूर्ण होते हैं। ये व्यापारी लोग उत्पादन-शक्ति के जिस बड़े भाग को नियन्त्रित करते है, उसकी भ्रान्ति को दूर करने के लिए, व्यापारिक विश्वास को नष्ट करने के लिए, माग की पूर्व आशा को निराश करने के लिए, और उसे क्रियाहीन करने, और कभी-कभी तो एक पर्याप्त अवधि तक के लिए, किसी प्रकार के निश्चित सकुचन के बिना मुद्रा-प्रसार की दर में कभी-कभी केवल क्षीणता लाने मात्र से ही,

अवरोध पर्याप्त होता है।"

मुद्रा-चलन के तीव्र विस्तार के कारणो से कीमतो में जो कष्टकर वृद्धि होती है, उससे समाज के कुछ सदस्यो को अनत कष्ट उठाने पडते हैं। इससे निर्धन उपभोक्ता, परिमित आय वाले और मजदूरी पाने वालो को सबसे अधिक कष्ट होता है। ऋण लेने और देने वालो के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड जाते हैं। मुद्रा-प्रसार का विशुद्ध परिणाम कुछ को अनुचित लाभ और अनेको को अकारण हानिया होती हैं। "यह सटोरियो तथा अनुचित लाभ उठाने वालो के लिए स्वर्ग है और यह अशत मजदूरी उपार्जन करने वालो (क्योकि कीमतें तो उछलकर बढती हैं, किन्तु मजदूरी एक-एक सीढी चढकर बढती है), और उससे भी अधिक नियत आय वालो की कीमत पर अपने निजी यत्न के बिना ही सम्पन्न हो जाते हैं।"[1]

राज्य की स्थिरता में लोगो का विश्वास विक्षिप्त हो जाता है। मुद्रा-चलन में भगदड होती है। सरकार एक दुश्चक्र मे फँस जाती है, जिसमें से निकलना आसान नही होता। नोटो का निकालना कीमतो को बढाता है, इसलिए, सरकार को अपने क्रय के लिए अधिक धन प्राप्त करना ही पडता है। इसके फलस्वरूप पत्र-मुद्रा और अधिक निकाली जाती है, और इसी प्रकार क्रम जारी रहता है। यह बहुत ही फिसलन का मार्ग है, और अपने मुद्रा-चलन का विस्तार करने वाली सरकार आर्थिक और राजनीतिक विनाश की दिशा में बढ रही होती है।

किन्तु मुद्रा-प्रसार की इन भीषण प्रतिक्रियाओ को छोडकर, अर्थशास्त्र के पडितो ने इसकी कडी निन्दा की है, क्योकि यह अर्थ-व्यवस्था की सुदृढ नीतियो की विरोधी है। इसे अस्वाभाविक या विवश ऋण कहा जाता है और साथ ही व्याज से भी मुक्त है। सरकार पत्र-मुद्रा के निकालने से अपनी क्रय-शक्ति को सम्पन्न करती है, किन्तु उसके साथ ही लोगो की क्रय-शक्ति घटाती है। यदि मेरे पास एक सौ रु० का नोट है, और सरकार नोटो की सख्या दोगुना कर देती है, तो कीमतें, द्रव्य के परिमाण सिद्धात के अनुसार दोगुना हो जायेंगी और मेरा १०० का नोट केवल पचास रुपये लागत की वस्तुओ का क्रय करने योग्य होगा। इसका सरल अर्थ यह है कि लोगो को विवश होकर उन वस्तुओ और सेवाओ को सरकार की इच्छा पर छोडना पडता है जिन्हें वह क्रय कर सकते थे, और यह भी उनके अनजानेपन में ही हो जाता है। यह केवल एक विवश-ऋण नहीं, परन्तु गुप्त ऋण है। प्रो० सी० एन० वकील इसे उकैती कहते हैं।

द्रव्य के इस प्रकार के रूप के प्रति आधारमूलक आपत्ति यह है कि यह न्याय अथवा समानता की रीति को भग करता है। जब कीमतें बढती हैं, तो धनी और निर्धन, सब ऊची कीमतें देते हैं, और वह सब एक ही कीमत पर क्रय करते हैं। यदि खाद की कीमत ८ आने प्रति सेर से १ रु० प्रति सेर हो जाती है, तो निर्धन धनी के साथ-साथ दुगुनी कीमत देता है। किन्तु धनी तो सशक्त है और निर्धन दे नही सकता। मुद्रा-

---

1 Thomas, S E Elements of Economics, 1936, p 671

प्रसार की आनुपातिक टैक्स-निर्धारण से तुलना हो सकती है। यह सहन करने की शक्ति का विचार नही रखती। इसलिए, अपने प्रभाव की दृष्टि से यह प्रतिगामी है। समाज का निर्धन वर्ग राज्य के अर्थ-कोष मे अधिक अशदान के लिए विवश किया जाता है और वही ऐसे लोग है जो देने की शक्ति ही नही रखते। यह सर्वथा अन्याय है। सम्पत्ति का पुनर्वितरण उन्ही के पक्ष में होता है जो पूर्वत धनी हैं।

इस प्रकार मुद्रा-प्रसार राजनीतिक दृष्टि से भयानक, आर्थिक दृष्टि से विनाशकारी और नैतिकता की दृष्टि से बुरा है। सरकारो के लिए कभी-कभी अत्यावश्यकता के समय, यदि यह सकट-पूर्ति के लिए न होता, तो कोषो की रचना का यह उपाय, सम्भवत कदापि न अपनाया जाता। यह सम्पत्ति वितरण की असमानताओ मे वृद्धि करता है, यह सम्पत्ति उत्पादन के यत्र को हिला देता है, और यहा तक कि आगम का स्रोत होने के रूप मे यह शीघ्र ही सूख जाता है।

७. ऋण को कम करना या चुकाना (Debt Redemption or Repayment)—आधुनिक सरकार अपना ऋण चुकाना एक सम्मानपूर्ण कार्य समझती है। ऋण चुकाना उनकी साख और शक्ति को बनाये रखता है। जब कभी राष्ट्र पर सकट आता है, तो बाद मे कोष बढाना सरल हो जाता है। ऋण चुका देने से व्यापार और उद्योग के लिए धन मुक्त हो जाता है।

ऋण चुकाने के निम्नाकित कुछ उपाय हैं—

(१) **आधिक्य राजस्व का उपभोग** (The Utilization of Surplus Revenue)—यह एक प्राचीन उपाय है, लेकिन आधुनिक परिस्थितियो में पूर्ण रूप से विपरीत है। बजट का आधिक्य साधारणत सम्भव नही है और यदि बजट में आधिक्य भी हो तो वह इतना महत्त्व-हीन होगा कि वह ऋण को कम करने में उपयोगी नही हो सकता।

(२) **बाजार में सरकारी स्टाक का खरीदना** (Purchasing of Govt. Stock in the Market)—सम्भव है, सरकार बाजार मे अपने निजी स्टाक को क्रय कर ले और इस प्रकार उस सीमा तक अपने दायित्व का अन्त कर दे। यह कार्य राजस्व के आधिक्य या कम ब्याज पर अनुकूल परिस्थिति में लिये हुए ऋण से किया जा सकता है।

(३) **सावधि-वार्षिकी** (Terminal Annuities)—जब यह पूर्ण निश्चय कर लिया जाता है कि सरकार को अपने स्थायी ऋणो का भुगतान करना है तो वह प्रतिवर्ष कुछ निश्चित धन वार्षिकी के रूप में ऋणदाताओ को उधार चुकाने के लिए बांध देती है। इसी भुगतान को वार्षिकी कहते है। यह प्रकट होगा कि जिस काल मे यह वार्षिकी दी जा रही होगी, उसमे केवल ब्याज देने के काल की अपेक्षा सरकारी वित्त पर कही अधिक दबाव पडा होगा।

(४) **रूपान्तरकरण** (Conversion)—ऋण का भार घटाने का यह एक अच्छा उपाय है। जब सरकार ने ऊची दर के समय ऋण लिया हो और अब अगर ब्याज की दर कम हो गई हो तो सरकार ऊचे ब्याज की दर वाले ऋण को कम ब्याज की दर में

परिवर्तित कर सकती है। ऐसे समय में सरकार उधार देने वालो को सूचना देती है या तो अपने ब्याज की दर को कम करें या अपना रुपया वापिस ले ले। यदि बाड होल्डर ब्याज की दर को कम करना स्वीकार नही करते तो सरकार कम ब्याज पर दूसरा धन उधार लेकर उस धन से पिछले ऋण को चुका देती है। इस प्रकार ऊचे ब्याज की दर को कम ब्याज की दर में परिवर्तित करने से सरकार का आर्थिक बोझ कम हो जाता है।

(५) निक्षेप निधि राजस्व (Sinking Fund)—यह उपाय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रतिवर्ष राजस्व मे से एक निश्चित धन ऋण चुकाने के लिए निकाल लिया जाता है। यह इस हिसाब से निकाला जाता है कि एक निश्चित समय के अन्दर ऋण को ब्याज सहित चुकाने में आसानी हो।

ऋण चुकाने के इन साधारण उपायो के अतिरिक्त कुछ और भी नवीन क्रातिकारी योजनाए है। उनमें से ये मुख्य हैं—

(क) ऋण निषेध (Debt Repudiation)—जब कोई नई क्रातिकारी सरकार बनती है तो वह पहली सरकार द्वारा लिये गए ऋण को चुकाने से इन्कार कर सकती है। यह तभी होता है, जब नई सरकार का निर्माण क्राति द्वारा हुआ हो लेकिन विद्वान् राजनीतिज्ञ इन प्रस्तावो का स्वागत नही करते। सरकार के लिए यह एक चलन है कि वह अपने पूर्वाधिकारियो के वचनो का सम्मान करे।

(ख) ब्याज में अनिवार्य कमी (Compulsory Reduction of Interest)—यदि परिस्थिति के बदल जाने से ऊची ब्याज की दर सरकार को कष्टदायक हो गई हो तो सरकार का ब्याज की दर में कमी कराना कम अप्रिय दिखता है, लेकिन एक सभ्य सरकार के लिए वचन भग करना उचित नही है।

(ग) ऊची आय पर उच्च करारोपण (Steep Taxation of Higher Income)—हम पहले कह आये है कि करो की अधिकता से उद्योग-व्यवसायो पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। यह नये धन या बचत को नष्ट कर देता है। नई औद्योगिक योजनाए निष्फल और व्यर्थ हो जाती है, क्योकि उन्हें ठीक तरह से चलाने के लिए सामयिक सुधार और हस्तातरण आवश्यक हो जाते है। इसलिये व्यापारी वर्ग के हितो में यह आवश्यक है कि कोई ऐसा आर्थिक कदम न उठाया जाय, जिससे उद्योग व्यापार की पूजी में कमी आये, और व्यापार की क्षति हो। वास्तव मे जब कि पुराने कर अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच गए हो उस समय करो का लगाना उद्योग व्यापार के लिए अहितकर होगा।

(घ) इसके अलावा पूजी आरोपण का भी बडा महत्त्व है इसलिये इसे एक अलग विभाग में दिखाया गया है।

८ पूजी पर कर लगाना (Capital Levy)—इसके समर्थको का कथन है कि युद्ध-काल में लिये गए ऋणो को चुकाने के लिए पूजी पर एक प्रकार का कर लगाना चाहिए, जिसे पूजी पर कर लगाना कहते है। एक ऐसा कानून बनाया जाय, जिसके अनुसार "एक निश्चित मात्रा की सम्पत्ति वाला प्रत्येक व्यक्ति मरा हुआ मान लिया जायगा और दूसरे दिन वह फिर अपनी सम्पत्ति पर कर देने के बाद उस सम्पत्ति

के उत्तराधिकारी के रूप में जीवित हो जायगा।" यह प्रस्ताव प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय बहुत ठीक और उसके अनुकूल था, क्योंकि उस समय मनोवैज्ञानिक परिस्थितिया इसके अनुकूल थी। लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद इसके समर्थकों का उत्साह कम हो गया। प्रशासन की दृष्टि से कर लगाना बिल्कुल व्यावहारिक है लेकिन यह साधारणतया बिना पूर्व स्वीकृति के नही चलाया जा सकता। १९२३ में राज्य ऋण और करो के लिए स्थापित कॉलविन कमेटी (Colwyn Committee) ने यह परिणाम निकाला था कि "पूजी पर कर लगाने से ऋण चुकाने में काफी सहायता मिल सकती है, लेकिन यह कष्टकर, अपूर्ण और बडे प्रयोगो के योग्य नही है।"[1]

पूजी पर कर आरोपण के प्रस्ताव के विपक्ष में भी कई तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं।

सबसे पहले तो यह कि इससे पूजी तथा साख दोनो को हानि पहुँचेगी। इससे उद्योग और व्यापार को क्षति पहुँचेगी। इस प्रकार के अपहरण से जनता का विश्वास उठ जाता है और व्यापार में धन का बहाव रुक जाता है।

दूसरे, यह मितव्ययिता के प्रति एक दण्ड स्वरूप है। जो लोग अधिक खर्च करते हैं सरकार उनसे कुछ नही ले सकती। वह अपना मस्त जीवन बिताएगे। पूजी पर करारोपण की परछाई से ही पूजी भाग खडी होगी और बचत निरुत्साहित होगी।

तीसरे, पूजी पर कर-आरोपण से व्यापार पर दबाव पडता है। कीमतो और मजदूरी मे कमी आ जाती है तथा व्यापारी वर्ग की उधार देने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

चौथे, यह कि पूजी पर करारोपण से यह डर रहता है कि वह उपभोग के काम में न आ जाए और इस तरह समाज की उत्पादक क्षमता को नष्ट कर दे। इससे समाज के वर्तमान उपबन्ध की तुलना मे भविष्य का उपबन्ध समाप्त हो जायगा।

अन्त में इसके द्वारा प्रशासन में भी कठिनाई आएगी।

पूजी पर करारोपण निम्नाकित आधारो पर न्यायसगत है—(क) सरकारी खजाने को ऋण के भारी भार से मुक्त करके उसे सार्वजनिक (समाज-सेवा) कार्यों में लगाया जाय। अधिक-से-अधिक मनुष्यो की हालत सुधारी जाय। अब यह सम्भव नही है कि आगम का अधिक-से-अधिक भाग बाड रखने वालो को दिया जाय।

(ख) यह युद्ध-काल में गरीबो और अमीरो के त्याग में समानता लायेगा। कहा जाता है कि युद्ध-काल में धनी वर्ग तो घर पर रहा और कीमतो के बढ जाने से अधिक धन कमाते रहे, जबकि गरीबो ने सेना में भर्ती होकर युद्ध-क्षेत्र मे अपनी जान गँवाई।

(ग) यह करारोपण के समानता के सिद्धान्त का पालन करता है। जो लोग कर देने की क्षमता रखते हैं, उन्हें कर देना ही पडेगा। पूजी का मालिक उससे प्राप्त आय के अतिरिक्त कुछ आर्थिक लाभ भी उठाता है। पूजीपति के इस आधिक्य पर कर लगाना उचित है।

---

1. Quoted by Findlay Shirras: Science of Public Finance, 1936, p. 866.

(घ) यातना को एक ही वार सह लेना कही अच्छा है, और दो सौ वरस तक चुकाने की सरदर्दी की अपेक्षा एक ही धक्के में ऋण चुका देना चाहिए।

(ङ) ऊँचे करो की अपेक्षा पूजी पर कर लगाना अधिक न्याय-सगत है हालाकि दोनो एक ही से हैं। दोनो ही नैतिक दृष्टि से वहिष्कृत किये जाते हैं, लेकिन उगाही में व्यक्तिगत रूप से कोई अनैतिकता नही। नैतिकता तो केवल सापेक्ष पदावलि है।

(च) यह धन-वितरण की असमानताओ को कम करेगा।

(छ) अत्यधिक आय-कर उद्दीपक तथा उद्यम को मिटाता है। परन्तु पूजी कर में यह दोप नहीं होते क्योकि इसका सम्वन्ध पिछले कार्यों से है न कि वर्तमान प्रयास से।

(ज) पूजी-कर का समर्थन युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए किया जाता है क्योकि इसका प्रसार अपस्फीतिकारी होता है। यह इसलिए है क्योकि इससे पूजी का पूर्ण रूप मे हस्तातरण हो जाता है ताकि करदाताओ के पास कर-भुगतान के लिए तरल निधि हो सके। तो भी वास्तव में इसका उल्टा असर हो सकता है, क्योकि कर का भुगतान करने के लिए उनको ऋण लेने की सुगमता दी जाती है। इस नये ऋण का स्फीतिकारी प्रभाव पडता है।

इस प्रकार विरोधी तर्कों के समक्ष कोई अपना मत उपस्थित करना सरल नही है। इस पर एक राय होना असम्भव है। फिर भी हमारा मत है कि पूजी पर करारोपण आर्थिक सहायता की दृष्टि से व्यावहारिक नही है और न इससे ऋण के चुकाने में ही कमी आती है। वास्तव में इस पूजी-कर के पक्ष में दो मुख्य तर्क हैं—(१) ऋण का पूजी-मूल्य अत्यधिक है, और (२) ऋण की वार्षिक लागत भी अधिक है। यह आवश्यक रूप से उचित नही है कि राज्य ऋण की मात्रा घटा दी जाय। राष्ट्रीय ऋण की वापसी पर देश की आर्थिक तथा वित्तीय स्थिति का ध्यान रखना चाहिये। पूजी पर कर लगाने से जो सम्पत्ति का बडे पैमाने में नाश होता है उससे व्यापार के कार्यक्रम तथा पूजी वाजार में विघ्न पडता है। तो भी वार्षिक ऋण व्यय को कम करने के वहुत से सारपूर्ण कारण हैं। पर यह पूजी कर के ढाचे पर निर्भर है अर्थात् उसकी छूट की सीमा की ऊचाई तथा उसकी वृद्धि के ढालआपन पर। ऋण पर व्याज की दर कहा तक यह कर-रहित है, ऋण की मात्रा आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए। वहुत कम देशो में पूजी पर कर लगाने की अनुकूल स्थिति होगी। हम श्रीमती हिक्स के शब्दो में समाप्त कर सकते हैं, "पूजी पर कर लगाना राजनीति के शरीर पर आपरेशन करना है, इससे या तो मौत हो जायगी या विल्कुल ठीक ही हो जायगा और इसका प्रभाव सामान्य करके ढाचे की लगातार खुराको से भिन्न होगा।"[1]

९ राज्य-ऋण का वोझ (Burden of Public Debt)—ऋण चुकाने के वोझ को उतारने के लिए हमें उसके रूप और कारण की विवेचना करनी पडेगी। यदि ऋण उत्पादक या जन-कल्याण के कार्यों के लिए लिया गया है, जैसे सिंचाई, रेलवे आदि तो यह वोझ नहीं होगा, वरन् अगर योजना सफलतापूर्वक चलाई गई है, तो

1 Mrs U K Hicks—Public Finance, 1948, p. 238

लाभ ही पहुँचायेगी। लेकिन यदि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है तो यह दोनो रूपो मे, आर्थिक और समाज पर बोझा होगा, भले ही वह आन्तरिक ऋण हो या विदेशी।

आन्तरिक ऋण मे धन देश में ही हस्तान्तरित होता है, जैसे अगर सरकार ने किसी से ऋण लिया तो उधार देने वाले का धन हस्तान्तरित होकर सरकार के पास आ जाता है और सरकार फिर उस धन को देश के दूसरे लोगो, जैसे सरकारी नौकरो, ठेकेदारो आदि को देती है। इस तरह देश का धन एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे जाता है। इसे हमें सरकार के ऊपर बोझ नही समझना चाहिये या यह ऋण बोझ के रूप में नही है। लेकिन देने वाले वर्ग पर यह एक प्रत्यक्ष बोझ होगा, परन्तु यदि धन का हस्तान्तरण उपयुक्त रूप से होता है, जैसे अगर धन धनी-वर्ग से गरीब लोगो के पास जाता है, तो राज्य-ऋण बोझ की अपेक्षा लाभदायक ही सिद्ध होगा, लेकिन यदि लोक-ऋण इसके विपरीत होता है, तो नि सन्देह एक बोझ हो जायगा।

अस्तु, हमें 'हस्तान्तरण' के रूप की पूर्ण विवेचना करनी चाहिए। ऋण और ब्याज के भुगतान के लिए सरकार को कर लगाना आवश्यक है, लेकिन जो कुछ करो के लगाने से मिलता है, वह बाड रखने वाले ले लेते है। ऐसे पत्र रखने वाले तो नि सन्देह ही धनी होते है, लेकिन करो का बोझ केवल अमीरो पर ही नही, बल्कि गरीबो पर भी पडता है। अधिकतर करो का बोझ गरीबो पर ही पडता है, इसलिए धन के हस्तान्तरण से अधिकतर धन गरीबो के पास से अमीरो के पास जाता है। इसका अर्थ यही है कि आर्थिक हितो की वास्तविक क्षति होती है।

इस तथ्य से यह बोझ और भी बढ जाता है कि युवको से वृद्ध, (बाड वाले, जो सरकार के ऋणदाता होते है) सामान्यत बडी आयु वाले होते है और समाज के सक्रिय सदस्यो से निष्क्रिय सदस्यो को यह हस्तान्तरण होता है। डाल्टन का कथन है, 'राजस्व के क्षेत्र मे, अन्यत्र नही, समानता अथवा न्याय की ऊँची एव स्पष्ट ध्वनि घोषित होती है। उत्पादन के आधार पर (वितरण के आधार को छोडकर) यह सामान्य धारणा भी है कि निष्क्रिय सक्रिय के बल पर अधिकाधिक धनी होते है जिनके द्वारा सचित सम्पत्ति के लाभ के लिए कार्य और उत्पादक जोखिम लेना दण्डनीय हो जाता है।"[1] इस प्रकार आतरिक ऋण का सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण दोनो पर ही विपरीत प्रतिघात होता है। यह इसका प्रत्यक्ष वास्तविक बोझ है।

इसका वास्तविक भार अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन की रोक पर लगता है। यदि कार्य करने तथा बचाने की योग्यता और इच्छा को कम कर दिया जाता है तो निश्चय ही उत्पादन पर रोक लगेगी। यदि ऋण चुकाने के लिए भारी करो को लगाया जाता है तो अवश्य ही कार्य करने की योग्यता और धन बचत करने की इच्छा में कमी हो जाती है।

अब विदेशी ऋण-भार के विषय मे क्या होता है? विदेशी ऋण भी हस्तान्तरण को

---

1 Dalton Principles of Public Finance, 1943, P 244.

जन्म देता है, लेकिन धन का यह हस्तातरण उसी देश में नही होता। विदेशी धन का हस्तान्तरण इससे भिन्न होता है। जब ऋण बढाया जाता है तो धन उधार देने वाले देश से उधार लेने वाले देश को दिया जाता है परन्तु जब भुगतान होता है तो इसमे विपरीत दिशा में होता है। जो धन उधार लेने वाला देश देता है, उसमें उसे मूल-धन के बोझ के साथ ही साथ ब्याज का भार भी देना होता है। लेकिन यदि हम वास्तविक भार को जानना चाहते है तो हमें इस बात पर विचार करना पडेगा कि इस उधार को चुकाने में गरीबो और अमीरो ने किस अनुपात में अशदान दिया, क्योकि सरकार यह धन करो द्वारा प्राप्त करेगी। यदि यह कर प्रत्यक्ष रूप से धनी वर्ग से लिये जाते है, तो वास्तविक ऋण का सीधा भार अधिकतर गरीबो से लिये गय करो की अपेक्षा कम होगा। जो भुगतान हम बाहरी देशो या साहूकारो को करते है, तो उसमें हमारा माल और सेवा भी आ जाते है। हमारा धन उनके उपयोग का नही होता। वे हमारी सेवाओ और वस्तुओ को लेते है, धन नही लेते। वे उस धन से हमारे देश का सामान मोल लेते है, इसलिए विदेशी ऋण से हमारा माल भी बाहर चला जाता है। ऋणी न होने पर यह माल देश के अन्दर ही हम लोगो द्वारा उपयोग किया जाता। इसका अर्थ है हमारे आर्थिक सुखो का हनन और फलत एक प्रत्यक्ष तथा वास्तविक बोझ।

अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी ऋण का भार देश के धन-उत्पादन पर रोक लगाता है। ऋण चुकाने के लिए करो के लगने से कार्य करने की क्षमता और बचत करने की इच्छा में कमी हो सकती है। सरकार द्वारा ऋण चुकाने से सार्वजनिक व्यय की उन दिशाओ में कमी होगी जिसने उत्पादन में वृद्धि होती। फलत उत्पादन घट सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का भुगतान केवल वस्तुओ के निर्यात से हो सकता है। इस कारण उधार लेने वाले देश को उसका भुगतान करने के लिये अधिक उत्पादन बढाना पडता है। इससे उत्पादन को सहायता मिलती है लेकिन उत्पादन एक निश्चित दिशा में होता है। साधारणत उत्पादन और नियोजन में सामान्य वृद्धि नही होती। इसमे उत्पादन के साधन सीमित रहते है, क्योकि ऋण देने वाला देश जिन वस्तुओ को चाहता है, ऋणी देश को उसी का उत्पादन बढाना पडता है या दूसरो से लेना पडता है या अपने कारखानो को उसी वस्तु के उत्पादन में लगाना पडता है। इस तरह पहली वस्तु के उत्पादन में कमी होगी। इसका एक ही उपाय है कि साधनो का परिवर्तन किया जाय और उत्पादन और नियोजन में वास्तविक वृद्धि न की जाय।

१० युद्धकालीन वित्त-व्यवस्था[1] (War Finance)—युद्ध की किस तरह अर्थ-व्यवस्था की जाय? इस प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष या सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। युद्ध का कुल व्यय, युद्ध-प्रारम्भ काल, मुद्रा बाजार की परिस्थितियाँ और इन सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो पर इस प्रश्न का उत्तर निर्भर है। एक परिस्थिति के अन्तर्गत किया हुआ न्याय दूसरी परिस्थिति के अन्दर भिन्न हो सकता है।

---

1 See Keynes, J M—How to pay for the war, 1940

हम यहाँ एक पुराने विवादग्रस्त विषय को ले सकते है कि **"क्या युद्ध को करो और ऋणो से सहायता पहुँचानी चाहिये ?"**

कुछ अर्थशास्त्रियो ने पूर्ण कर-प्रणाली तथा कुछ ने **पूर्ण ऋण-प्रणाली** का समर्थन किया है । रिकार्डो **पूर्णकर-रीति** का पक्का विरोधी था, और युद्ध के लिए ऋण लेने का वह विरोध किया करता था, क्योकि इससे घाटा होता है और पूजी कम हो जाती है । साथ ही युद्ध के लिये लगाये गए कर उस समय की सन्तान के मस्तिष्क मे युद्ध की-सी धारणा उत्पन्न कर देते हैं । ग्लैडस्टन का मत है कि "युद्ध के व्यय नैतिक अवरोध है, जिन्हे परमात्मा ने विजयी की कामना और तृष्णा पर लागू किया है और वह अनेक राष्ट्रो में स्वाभाविक है ।"[1]

करो के पक्ष में यही मत दिया जाता है कि कर युद्ध-व्यय को कम से कम सतह तक बनाये रखते है और युद्ध-काल को भी कम से कम करते है । दूसरे, कर युद्ध के द्वारा उत्पन्न होने वाले मुद्रा-प्रसार को रोकते हैं, युद्ध के द्वारा जिनका होना अनिवार्य है, जैसा कि पिछले युद्ध के परिणामस्वरूप कितनी ही प्रकार की परेशानियाँ मुद्रा-प्रसार के कारण झेलनी पडी । करो से अधिक व्यय और अनावश्यक उपभोग कम हो जायगा ।

लेकिन इन मतो के विरोध मे भी कुछ कहा जा सकता है कि कोई भी कर-प्रणाली आधुनिक युद्ध के भयानक बोझ को सहन नही कर सकती है ।

अधिक करो से जनता की आय कम होगी और इससे उत्पादन को क्षति पहुँचेगी । भारी कर लगाने से उच्च वर्ग की जनता में से सरकार के प्रति विश्वास उठ जायगा और यह सरकार के विपक्ष में गुप्तचर कार्यों को बढावा देगे । गृह-युद्ध भडक उठेगे और सामाजिक सगठन मे दरार पड जायगी ।

ऋण नीति धन को प्राप्त करने का अच्छा और सरल ढग है । करो की अपेक्षा ऋण लेने से सरकार की लोकप्रियता नही घटती । ऋण देने वाले यह जानते है कि वे ब्याज से जो धन प्राप्त करेंगे वह उस कर से अधिक होगा जो कि उनको ब्याज भुगतान करने के लिए देना पडेगा । इसलिए अपनी आवश्यकताओ को कम करके लोग युद्ध-काल में बडे-बडे बाड खरीद कर लाभ उठाते है और इस प्रकार युद्ध को भी सहायता मिलती है । कर उद्योग व्यापार में भी बाधा डालते है लेकिन ऋण उत्पादन का सहायक होता है । ऋण देने वाले अपनी आवश्यकताओ से बचे हुए धन को ही देते है । इस प्रकार उद्योग-धधो को हानि नही पहुचती । सरकार भी लिये हुए ऋण का उपयोग वस्तुओं को खरीदने और सेवाओ के लिए करती है । अत इससे व्यापार को सहारा मिलता है ।

इस प्रकार युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के दो रूप हैं—(१) केवल ऋण लेकर, और (२) अकेले करो से । लेकिन यह दोनो ही अन्त में अपने-अपने पक्ष मे एकतरफा है । दोनो के मिश्रित उपयोग द्वारा ही आय प्राप्त करना सबसे अच्छा है । एडम स्मिथ का कथन है कि "शान्ति के दिनो में खर्च करने से बचाया हुआ धन युद्ध-काल में देना

---

1. Quoted by Findlay Shirras Science of Public, Finance, 1936, p 690.

आवश्यक हो जाता है।" लेकिन हमारे मतानुसार शान्ति काल की बचत ही पूर्ण रूप से आधुनिक युद्ध अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण नही कर सकती। ऋण लेना आवश्यक है। लेकिन ऋण लेना उस समय अति आवश्यक हो जाता है जब युद्ध छिड जाता है और सरकार को शीघ्र ही उसके लिए कोष की आवश्यकता होती है। ऐसे समय मे कर आगम शीघ्र नही किये जा सकते। इसलिए सरकार के लिए ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। लेकिन युद्ध के लिए पैसा उगाहने का सबसे अच्छा यह ढग है कि सरकार "देश में से पाई-पाई ऋण ले डाले।"

युद्ध आय का तीसरा तरीका है कागजी मुद्रा का छापना। यह बहुत ही भयानक उपाय है। सदा युद्ध मे लगे रहने वाले राष्ट्रो मे इसका उपयोग होता है लेकिन इस का उपयोग बडी ही सावधानी से करना चाहिए। हम इस विषय पर ७वें विभाग में कह आये है। इस प्रकार युद्ध की अर्थ-व्यवस्था हम तीन तरह से कर सकते है —

(१) ऋण से, (२) करो से, (३) पत्र-मुद्रा निकालने से।

युद्धकालीन भार (The Cost of War ?)—युद्ध की लागत का अर्थ **द्रव्य लागत** से या **वास्तविक लागत** से हो सकता है। युद्ध की द्रव्य लागत का आशय उन तमाम खर्चों से है जो युद्ध में करने पडते है। इसका भार उन लोगो पर पडता है जो युद्ध-व्यय के लिए योगदान करते है, जैसे कर देने वाले, ऋण देने वाले और भविष्य मे आने वाली सन्तान, जिसको इसके लिए कर तथा ब्याज देना पडेगा। युद्ध की वास्तविक लागत है—आतक, चिन्ता, गोपनीयता, परेशानिया, घृणा और नैतिक पतन। यह स्पष्टत वर्तमान पीढी मे दिखाई देता है।

युद्ध का भार युद्धकालीन जनता पर है या कि आने वाली सन्तान पर, यह युद्ध के लिए प्राप्त आय और उनकी आर्थिक परिस्थितियो की नीति पर निर्भर है। जहा तक युद्ध आय पत्र-मुद्रा छापने मे प्राप्त की जाती है उसका भार अधिकतर उस काल की जनता पर ही होता है। मुद्रा-प्रसार के सभी कुपरिणामो को उस समय की जनता को ही उठाना पडता है, भविष्य के लिए इसका कोई भी कुपरिणाम शेष नही रह जाता। साधारणत यह कहा जाता है कि करो द्वारा युद्ध के लिए प्राप्त आय का भार उस समय की जनता पर पडता है और ऋण द्वारा प्राप्त आय का भार आने वाली सन्तान पर। लेकिन यह आवश्यक नही है।

ऐसा विश्वास करने के कुछ कारण हैं कि करो का अधिक आघात वर्तमान पीढी को भी सहना पडता है। कर देनदारो को अपने उपभोग को कम करना पडता है। अधिक करों का तो उपभोग व्यापार पर ऐसा उल्टा प्रभाव पडता है कि आवश्यक वस्तुओं की भारी कमी हो जाती है। लेकिन यह निश्चय है कि क्या यह उत्पादन का कुप्रभाव आने वाली सन्तान पर न हो जायगा ? कल-कारखानो की उत्पादन की क्षमता के नष्ट होने से भविष्य में भी उत्पादन कम हो जायगा। भारी कर लगाने से कल-कारखानो के बदलने तथा उनको पूर्व अवस्था में करने के लिए कुछ भी स्थायी कोष नहीं बचता और यन्त्र आदि पुराने तथा अयोग्य हो जाते है। भारी कर लगाने से पूजी का सचय रुक जाता है तथा भविष्य में उत्पादन को हानि पहुँचती है। इसलिए यह

कहना कि भारी करो का भार केवल उस समय की पीढी को ही सहना पडता है पूर्णतया सत्य नही है।

इसी प्रकार यह कहना कि ऋण केवल अपना बोझ आने वाली सन्तान पर ही डालता है, आवश्यक नही है। जबकि युद्ध के समय मनुष्य रुपया उधार देते है तो उन्हें भी उस समय अपने उपभोगो की बलि चढानी पडती है। युद्ध मे उद्योग-व्यापार से भी धन ले लिया जाता है। इस प्रकार उस काल के उद्योग-व्यापार को भी कष्ट उठाना पडता है, क्योंकि उत्पादन-क्षमता की कमी से उस समय की जनता को भी कष्ट उठाना पडता है। इसलिए यह सत्य है कि ऋण का भार भी उस समय की जनता को सहन करना पडता है।

नि सन्देह ऋण देने वालो को अधिक करो के बोझ से कुछ छुटकारा मिल जाता है।

यह जानने के लिए कि किस सीमा तक आने वाली सन्तान पर ऋण का भार होता है, हमें यह सोचना पडता है कि क्या यह अल्प-अवधि ऋण है या स्थायी ऋण है, और साथ ही यह भी देखना होगा कि वह आन्तरिक ऋण है या बाह्य ऋण।

यदि ऋण की अवधि २०-३० वर्ष है, तब तो वर्तमान पीढी मे ही वह समाप्त हो जायगा, और भावी पीढी पर उसका कोई प्रभाव नही होगा, केवल दीर्घकालीन ऋण की दशा में ही भावी सन्तति पर व्याज चुकाने का बोझा पड सकता है।

आन्तरिक ऋण के बारे मे यह शकापूर्ण है कि क्या ऋण का सम्पूर्ण भार आने वाली सन्तान पर पडता है। नि सन्देह व्याज और मूलधन भविष्य मे चुकाये जायेंगे, और उनके लिए लोगो पर कर लगाये जायेंगे। इसलिए भविष्य मे कर देने वालो को उसका भार सहन करना पडेगा। किन्तु व्याज का भुगतान कौन प्राप्त करता है ? वर्तमान स्टाक होल्डरो की सन्तान पर। इसके यह अर्थ हुए कि सम्पत्ति का भावी पीढी के कुछ वर्गों में से (अर्थात् कर-दाताओ) भावी पीढ़ी के अन्य वर्गों मे (अर्थात् बाड रखने वालो में) हस्तान्तरण हुआ। इसलिए यदि आने वाली सन्तान को कुछ देना पडता है तो आने वाली सन्तान कुछ लेती भी है। इसलिए हम कैसे कह सकते है कि भविष्य की सन्तान को ऋण का भार सहन करना पडता है। हाँ यदि ऋण आन्तरिक नही है तो ऐसा नही होता।

लेकिन यदि ऋण बाहरी है तो भविष्य की सन्तान को व्याज तथा मूलधन का भुगतान करना पडता है। इसमे उधार लेने वाले देश का उधार देने वाले देश में हस्तान्तरण होता है। इस तरह से एक देश का धन दूसरे देश मे जाने लगता है। युद्ध-काल मे या युद्ध के बाद ही जब व्यापार पूरे जोर पर तथा कीमतें बढी हुई और बेकारी नही होती है, तब ऋण का बोझ कम होता है। लेकिन जब परिस्थितियाँ इसके प्रतिकूल होती है, तब यह बोझ बहुत बढ जाता है।

इन सब का सार निकालकर अगर हम यह कहें कि युद्ध की वित्त-व्यवस्था पत्र-मुद्रा से हो तो बहुत हद तक उस काल की सन्तान को ही उसका बोझ उठाना पड़ता है लेकिन जहा तक युद्ध-आय की पूर्ति कर द्वारा होती है उस काल की सन्तान को ही मुख्यत उस स बोझ को उठाना पडता है। फिर भी भविष्य की सन्तान भारी करो के

कुप्रभाव से बची नही रह सकती। इसी प्रकार हालाकि ऋणो का यह स्वभाव है कि वह भविष्य की सन्तान पर अपना बोझ टालते है, लेकिन लोक ऋण से उस काल की जनता पर प्रभाव पडता है। यदि वह अल्पकालीन ऋण है तो आने वाली सन्तान बची रहती है लेकिन आतरिक स्थायी ऋण में भी आने वाली सन्तान पूर्ण भार नही उठाती, क्योकि वह भविष्य की सन्तान, भविष्य की सन्तान को ही दे देती है। केवल बाहरी ऋण मे ही युद्ध-कर बोझ पूर्णत आने वाली सन्तान पर पडता है। केवल इसी तरह हम युद्ध-कर को आने वाली सन्तान के ऋण में डाल देते हैं।

निर्देश पुस्तकें

Dalton, H— PublicFinance
Pigou, A C —Public Finance
U Hicks—Public Finance
Macgregor—Public Aspects of Finance
Armitage Smith—Principles and Methods of Taxation.
Lutz, Harley Leist—Public Finance
Robinson—Public Finance
Adams—The Science of Finance
Silverman—Taxation
Shirras—Science of Public Finance
Plehn—Introduction to Public Finance
Bastable—Public Finance
Keynes, J M —How to Pay for the War, 1940
De Vebi De Marco—Principles of Public Finance
Alfred G Buehler on "Taxation and Economy" in National Tax Journal, June, 1950, pp 121-33,

अध्याय ४८

घाटे की वित्त-व्यवस्था

(DEFICIT FINANCING)

१ प्रस्तावना—निजी खर्चें, कुल खर्चे अथवा अर्थ-व्यवस्था में जरूरी माग के स्तर मे जो पूर्ण नियोजित पैदावार को चालू कीमत स्तर पर खरीदने के लिए जरूरी है गिरावट आने से, घाटे का वित्त व्यवस्था को लागू करना, १९३० की मदी में एक महत्त्वपूर्ण खोज थी। आज तो सरकार इसका मुख्य अस्त्र के रूप मे प्रयोग करती है। विशेष रूप से उन देशो में जहा उन्नत निजी उद्यम की व्यवस्था है, जिससे निजी खर्चे में मदी की प्रवृत्ति दिखाई देने पर भी विशेष रूप से निजी कुल घरेलू नियोजन में, आर्थिक चेष्टाओं का उच्च स्तर सुनिश्चित रहे। काफी समय से, अविकसित देशो ने इसकी बढती हुई सम्भावनाओ को अनुभव किया है, जिससे विकास के लिए उपलब्ध स्रोतो मे वृद्धि की जा सके। भारत में प्रथम पचवर्षीय योजना के समय, विकास कामो के लिए ५०० करोड रुपये की वित्त की व्यवस्था इसी तरह की गई। दूसरी पच-वर्षीय योजना के दौरान में, इस तरह १,२०० करोड रुपये की व्यवस्था करने की प्रस्तावना है। वास्तव मे घाटे की वित्त-व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण उत्तोलक (lever) के रूप में उपयोग की जा रही है जिससे उन्नत देशो में उच्च स्तर कायम रहे तथा कम उन्नत देशो ने आर्थिक विकास को गति मिले।

२ घाटे की वित्त व्यवस्था क्या है ? (What is Deficit Financing ?) घाटे की वित्त व्यवस्था वाक्याश का अर्थ बनाए हुए अथवा नवीन गतिशील द्रव्य (activised money) से है, जिससे खर्चे की व्यवस्था सम्भव हो सके। जब सार्वजनिक खर्चा, चालू तथा पूजीगत, मिलाकर, सरकार द्वारा प्राप्त करो, फीसो जुर्मानो, समाज सुरक्षा निधि में दिए जाने वाले निजी अशदान, सरकारी उद्यमो के आधिक्य, विदेशो से अनुदान तथा ऋण, तथा पब्लिक से ऋण आदि से अधिक हो जाता है तो सरकार इस खाई को पाटने के लिए या तो सेन्ट्रल बैंक के पास जमा नकदी शेष को कम करती है अथवा उससे उधार लेती है। इस खाई को पाटने के लिए काम मे लाये गए ये दोनो उपाय घाटे की वित्त-व्यवस्था के दो रूप है। यह तो स्पष्ट ही है कि सरकार द्वारा नई निर्मित अथवा गतिशील द्रव्य के कारण लोगो में द्रव्य-पूर्ति बढने लगती है। चालू वित्तीय वर्ष मे (अर्थात् १९५५-५६ मे) भारत सरकार द्वारा २२२ करोड रुपये की वित्त-व्यवस्था का अनुमान है। अगले वर्ष ३५६ करोड रुपये की वित्त-व्यवस्था की आशा है।[1]

---

1 Budget Speech by Shri C D Deshmukh (Finance Minister, Govt. of India)

घाटे की वित्त-व्यवस्था गैर-सरकारी क्षेत्र में भी अपनायी जा सकती है। चूकि सार्वजनिक खर्चे की भाति, गैर-सरकारी खर्चे का एक भाग भी नए निर्मित द्रव्य से, अर्थात् वाणिज्यिक बेंक में साख बढाने से पूरा किया जा सकता है। इसलिए, अर्थ-व्यवस्था पर होने वाला कुल प्रभाव इस बात पर आधारित है कि सामूहिक रूप से कुल अर्थ-व्यवस्था मे घाटे के वित्त की मात्रा कितनी रही।

३ घाटे की वित्त-व्यवस्था का मुद्रास्फीति सम्भाव्य (Inflationary Potential of Deficit Financing)—चूकि घाटे की वित्त-व्यवस्था के अन्तर्गत नई निर्मित मुद्रा द्वारा खर्चे का वित्त पोषण होता है इसलिए यह जरूरी है कि लोगो में मुद्रा पूर्ति मे विस्तार हो। यही घाटे की वित्त-व्यवस्था के मुद्रास्फीति सम्भाव्य का कारग है। **घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण मुद्रा-स्फीति दबाव कुल द्रव्य आय अथवा खर्चे के विस्तार की सीमा तक बढ़ जाता है, जो बढे हुए लेन-देन के लिए द्रव्य की माग को नई मुद्रा द्वारा पूरा करता है।** जिस सीमा तक इस नई सीमित मुद्रा को कुल आय अथवा खर्चे में बिना मुद्रा स्फीति विस्तार ग्रहण कर लिया जायगा, घाटे की वित्त-व्यवस्था से मुद्रास्फीति का प्रश्न ही नही उठेगा।

नीचे कुछ ऐसे non-inflationary उपायो का वर्णन किया जाता है जिनसे सरकार द्वारा, घाटे को पूरा करने के लिए, अतिरिक्त द्रव्य-पूर्ति करने के उपरान्त भी यह द्रव्य लोगो मे खप जाता है।

(क) किसी देश के विदेशीय विनिमय रिजर्व के आधार पर आधिक्य आयात द्वारा कम करना—दूसरी पचवर्षीय योजना के दौरान में भारत की स्टर्लिंग राशि में से २०० करोड रुपये कम करने की प्रस्तावना है। इसलिए, इस सीमा तक सरकार द्वारा घाटे की वित्त-व्यवस्था होने पर भी लोगो में द्रव्य सप्लाई की शुद्ध अतिरिक्त पूर्ति नही होगी। चूकि जो पैसा इस व्यवस्था के लिए जारी किया जायगा वह इस तरह आयात किए गए माल में खप जायगा।

(ख) गैर-सरकारी क्षेत्र की ओर से नकारात्मक घाटे के वित्त की व्यवस्था करके कम करना—यदि निजी घरेलू बचत तथा विदेशीय निधि के आदान-प्रदान की दर निजी घरेलू विनियोजन की निजी निधि तथा सरकार के शुद्ध ऋण से बढ जाती है तो इस बैलेन्स (शेष) को बैंकिंग प्रणाली में हो रही निजी ऋणग्रस्तता को कम करने में उपयोग किया जा सकता है। वाणिज्यिक बैंक साख के सिकुडने से इतनी ही मुद्रा कम हो जाएगी। गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा इस प्रकार की घाटे की नकारात्मक वित्त-व्यवस्था नीति से लोगो में पैदा हुई द्रव्य सप्लाई का प्रभाव कम हो जाता है।

(ग) द्रव्य की सौदा माग में वृद्धि द्वारा (गैर मुद्रास्फीति नीति से) खपाना—पैदावार के अधिक मात्रा में बाजार में आने से इस प्रकार की सौदा-माग मे वृद्धि होगी। वाणिज्यिक पैदावार में इस प्रकार की वृद्धि, अर्थ-व्यवस्था में बढे हुए द्रव्य तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था के लिए जुटाए गए विनियोजन के फलीभूत होने के कारण तथा निजी घरेलू बचत, विदेशीय उधार और अनुदान द्वारा पूरी होती है। इस प्रकार की गैर मुद्रास्फीति सौदा माग से द्रव्य में वृद्धि द्रव्य आय के सौदो की अनुपात मात्रा के परिणाम-

स्वरूप हो सकती है, (जैसा कि आजकल प्राय व्यवहार में नहीं आता) अर्थात् आर्थिक चेष्टा के खडे एकीकरण (vertical integration) से परे हटने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप।

(घ) **द्रव्य की आस्ति मांग में गैरमुद्रास्फीति वृद्धि द्वारा खपत**—दूसरी आस्तियो (assets) की तुलना मे द्रव्य को इस प्रकार मे आस्ति के रूप में रखने की माग मे वृद्धि, गैरसरकारी द्रव्य को बढाने से हो सकती है। और ऐसी स्थिति सयुक्त परिवार जैसी व्यवस्था तथा ढाचे में दरार पडने तथा नागरिकता को बढावा देने से पैदा होती है। ऐसी स्थिति उस समय भी होती है जब कीमते गिरने की आशा हो अथवा अधिक माल उपलब्ध होने की। तरल अधिमानो के विस्तार के फलस्वरूप भी ऐसा ही होता है (अर्थात् तरल अधिमान अनुसूची में नीचे की ओर गति होने से)। उपर्युक्त स्थिति व्याज की दर में गिरावट होने तथा सरकार की घाटे की वित्त-व्यवस्था के लिए द्रव्य की पूर्ति मे विस्तार के कारण उत्पन्न होती है।

जिस सीमा तक सरकार द्वारा घाटे की वित्त-व्यवस्था के लिए लाई गई अतिरिक्त द्रव्य-पूर्ति उपर्युक्त उपायो द्वारा खप जाती है मुद्रास्फीति दबाव में वृद्धि नही होती। किन्तु इस सीमा के आग, जो ज्यादा द्रव्य जारी किया जाता है वह सिर्फ द्रव्य की सौदा माग में वृद्धि द्वारा ही खप सकता है, घाटे की वित्त-व्यवस्था के खर्चे पूरे करने के गुणक प्रभावो के कारण इस प्रकार की द्रव्य आय में मुद्रास्फीति वृद्धि होती है।

४. मुद्रास्फीति की सीमा और विस्तार (Scope and Limitations of Deficit Financing)—उपर्युक्त बातें घाटे की वित्त-व्यवस्था की सीमा और विस्तार के बारे में कही गई है। जिस सीमा तक गैरमुद्रा-स्फीति के उपाय अपनाए जाते है (उपर्युक्त वर्णित) उस सीमा तक मुद्रास्फीति दबाव में वृद्धि नही होती। इस सीमा तक घाटे की वित्त-व्यवस्था आसानी से की जा सकती है। वास्तव मे, आर्थिक स्थिरता को द्रव्य की माँग के लिए गैरमुद्रास्फीति उपायो को काम में लाकर द्रव्य पूर्ति बढा कर, सुनिश्चित करने के लिए ऐसा करना ही चाहिए। किन्तु इस सीमा के बाद, घाटे की वित्त-व्यवस्था से मुद्रास्फीति दबाव बढ जाता है। इसलिए, घाटे की वित्त-व्यवस्था की सीमा इस बात पर आधारित है। मुद्रास्फीति दबावो को मुद्रास्फीति स्थिति पर भौतिक नियत्रणो द्वारा (कीमत नियत्रण तथा राशनिंग व्यवस्था द्वारा) किसी सीमा तक रोका जा सकता है। इसके अलावा घाटे की वित-व्यवस्था तथा दूसरे विनियोगो के कारण पैदावार में वृद्धि करके और द्रव्य में सौदा माग मे बढोतरी आदि से इन दबावो को कम किया जा सकता है।

अध्याय ४९

आर्थिक व्यवस्था

(ECONOMIC ORDER)

१ पूंजीवाद क्या है ? (What is Capitalism?)—आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के विषय में विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम विद्यमान आर्थिक पद्धति की क्रिया तथा उसमें निहित विषयो को भली भाति समझ लें। इस पद्धति को पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था, पूजीवाद या पूजीवादी पद्धति कहते है।

इस पद्धति के अन्तर्गत समस्त खेत, कारखाने तथा उत्पादन के अन्य साधन व्यक्तियो तथा फर्मो की निजी सम्पत्ति मानी जाती है, तथा अपने लाभ के लिए उनका उपयोग करने अथवा न करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अपनी सम्पत्ति का किसी प्रकार आदान-प्रदान करते समय लाभ प्राप्त करना सम्पत्ति के स्वामियो का एक-मात्र उद्देश्य होता है। हर व्यक्ति उत्पादन का कोई भी मार्ग ग्रहण कर सकता है, तथा अपने लाभ के लिए अन्य नागरिको से सविदा अथवा ठेका करने के लिए स्वतन्त्र है। यद्यपि जन-कल्याण के लिए समस्त आधुनिक राज्य कुछ प्रतिबन्ध लगाते है, तथापि इन प्रतिबन्धो के होते हुए सम्पत्तिवान वर्गो को अपनी सम्पति का जैसे चाहें वैसे प्रयोग करने की, अपने लिए लाभदायक कोई भी कारोबार चालू करने की, तथा अपने हितो को आगे बढाने के लिए किसी प्रकार के सविदा करने की बहुत गुजायश रहती है। पूजीवाद की वेब्स द्वारा की गई परिभाषा से इस पद्धति मे निहित विषय स्पष्ट हो जाते है। यह परिभाषा इस प्रकार है—"पूजीवाद या पूजीवादी पद्धति या पूजीवादी सभ्यता का अर्थ है उद्योग के विकास तथा वैधानिक सगठन मे वह स्थिति, जिसमें कि श्रमिको का समुदाय उत्पादन के यन्त्रो के स्वामित्व से इस प्रकार परे हो जाता है कि वह ऐसे मजदूरो में परिणत हो जाता है कि उनका निर्वाह तथा निजी स्वातन्त्र्य राष्ट्र के थोडे से व्यक्तियो की, अर्थात् उन व्यक्तियो की जो भूमि, यन्त्रादि तथा श्रम-शक्ति के स्वामी है, तथा अपने कानूनी स्वामित्व के द्वारा उनके प्रबन्ध का नियन्त्रण रखते है तथा अपने लिए व्यक्तिगत तथा निजी लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐसा करते है, इच्छा पर निर्भर प्रतीत होता है।"

२ पूजीवाद के प्रमुख लक्षण (Outstanding Features of Capitalism)—पूजीवाद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस पद्धति के कई प्रमुख लक्षण हैं। इनमें से प्रमुख ये है—(1) निजी सम्पत्ति का अस्तित्व तथा उत्तराधिकार की प्रणाली सबसे प्रधान है। हरेक व्यक्ति को निजी सम्पत्ति प्राप्त करने का, उसे रखने का तथा अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने उत्तराधिकारियो को देने का अधिकार होता है। इस पद्धति का फल यह होता है कि धन के वितरण मे विषमता फैलने

लगती है। धनवान लोग अधिक धनवान होते जाते हैं तथा निर्धन लोग अधिकाधिक निर्धन।

(ii) इसी से सम्बन्धित दूसरा लक्षण यह है कि उत्पादन के यन्त्र व्यक्तियों के हाथ मे रहते हैं और वे उनका प्रबन्ध एक मात्र अपने लाभ के लिये करते हैं। इस प्रकार ये व्यक्ति खेतो तथा कारखानो के स्वामी होते है तथा कृषि, व्यवसाय और उद्योग के रूप में अपने निजी लाभ के लिये कारोबार करते हैं, समाज के लाभ के लिये नहीं। फलस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश का बहुत बडा भाग शक्तिशाली पूंजीपतियो तथा धनवान स्वामियो के पास चला जाता है। जनता का शोषण होता है और उसे अपने श्रम का उचित प्रतिफल नही मिलता।

(iii) इसी से वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक और लक्षण प्रकट होता है। वह है वर्ग-सघर्ष। समाज दो वर्गों में बट गया है। एक वे जो 'भरे' (सम्पन्न) हैं, दूसरे वे जो 'खाली' है। दोनो वर्गों में निरन्तर सघर्ष चला करता है। समस्त पूंजीवादी देशो में श्रम तथा पूजी का सघर्ष चल रहा है और इस समस्या का कोई हल हाल मे निकलता नही दिखलाई देता। एक वर्ग दूसरे को अपना प्राकृतिक शत्रु समझता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्ग-सघर्ष पूजीवाद में स्वाभाविक है।

(iv) पूजीवादी व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण आर्थिक स्वातन्त्र्य है जिसमे तीन बातें निहित है—(क) उद्यम स्वातन्त्र्य, (ख) सविदा या ठेके (Contract) का स्वातन्त्र्य, (ग) अपनी सम्पत्ति का बेरोक-टोक उपयोग। हर व्यक्ति को जो उद्योग वह चाहे करने की स्वतन्त्रता होती है तथा अन्य नागरिको से अपने लिये सबसे अधिक लाभदायक ढग से सविदा या ठेका करने की स्वतन्त्रता को निरपेक्ष नही कहा जा सकता क्योकि सर्व-साधारण के कल्याण की दृष्टि से समस्त राज्यो में व्यक्तिगत अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगाए गए है। अपना काम स्वय चुनने की स्वतन्त्रता नाम-मात्र की ही है। पारिवारिक प्रभाव, व्यक्ति-विशेष के साधन, प्रतिकूल प्रवृत्तिया तथा अन्य सामाजिक बन्धन अपना कार्य स्वय चुनने वाले हरेक व्यक्ति के मार्ग मे बाधक होते है। फलस्वरूप, निर्धन व्यक्तियो के लिये केवल उन्ही उद्यमो का द्वार खुला रहता है जिनमें आमदनी बहुत कम है।

(v) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक विशेष लक्षण उसकी विषमता है। आर्थिक क्रियाओ का कोई विचारयुक्त नियमन या केन्द्रीय सचालन नही होता। सब कुछ अपने आप होता हुआ-सा प्रतीत होता है। अनेक एकाकी साहसिक उपक्रमों के करने वालों और उनके निश्चयो के फलस्वरूप उत्पादन जारी रहता है। इस उत्पादन पर उपभोक्ताओ की एक ऐसी विशाल जनसख्या का प्रभाव पडता है जिसके सदस्य बिना एक दूसरे से परामर्श किये निश्चय कर लेते है। उन उपभोक्ताओ की रुचि और अरुचि के आधार पर ही यह अन्तिम निर्णय अवलम्बित है कि क्या उत्पादित किया जाय और क्या उत्पादित न किया जाय। यह उपभोक्ता-मात्र की तथा उत्पादको की अव्यवस्थित क्रियाओ की पूर्ति किसी प्रकार एक दूसरे को सतुलित कर लेती है। कीमतें सकेत-चिह्न का काम करती है। कीमतो का प्रभाव उपभोक्ताओ तथा

उत्पादकों दोनों पर पड़ता है।

(vi) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक मुख्य लक्षण साहसी व्यवसायी का महत्त्व-पूर्ण कार्य है। सारे देश की समस्त उत्पादक यन्त्रावलि उसी के निर्देशानुसार चलती है। वही अन्य उत्पादक शक्तियों को किराये पर लेकर उनके कार्य के बदले में कीमत देने का आश्वासन देता है। उत्पादन के मामले में समाज का वह एकमात्र अभिकर्ता या प्रतिनिधि है। यह नहीं समझ में आता कि उद्यमी के विना वर्तमान प्रणाली का सचालन क्योंकर हो सकता है। हर बात उसी से सम्बद्ध है।

(vii) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक और लक्षण यह है कि कारोबार का नियन्त्रण तथा जोखिम सहगामी है। इसे पूजीवाद का स्वर्ण नियम कहते हैं। जो अपने रुपये को जोखिम में डाले, वह कारोबार का नियन्त्रण अवश्य करेगा, जो पूजी लगायेगा वह अपने मन के अनुसार कार्य चाहेगा। यदि पूजी तो किसी और की है और नियन्त्रण ऐसे व्यक्तियों के हाथ में है, जिन्होंने कारोबार में बिल्कुल पूजी नहीं लगाई है तो ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि किये जाने वाले निश्चय बहुधा बेढंगे होंगे।

(viii) हम इस बात पर भी ध्यान रखें कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था न केवल प्रतियोगिता पर अवलम्बित है वरन् साथ-साथ विभिन्न हितों के सगठन पर भी अवलम्बित है। क्रेताओं का क्रेताओं से, विक्रेताओं का विक्रेताओं से तथा श्रमजीवियों में आपस में नौकरी प्राप्त करने के लिए होड़ लगी रहती है। परन्तु श्रमजीवी पूजीपतियों से लड़ने के लिए श्रमिक सघ बनाते हैं। इस प्रकार नियोजक न केवल आपस में प्रतियोगिता करते हैं वरन् अपनी सगठन सस्थायें बनाकर अपने हितों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में प्रतियोगिता और सगठन साथ-साथ चलते हैं।

३. पूजीवाद की सफलताएं (Achievements of Capitalism)—पूजीवाद की अनेक सफलताए हैं —

पूजीवाद के समर्थक हमारा ध्यान सामान तथा सेवाओं की विभिन्नता तथा बाहुल्य की ओर आकर्षित करते हैं। लाभ की तृष्णा के वशीभूत उद्यमी जोखिम उठाने तथा उत्पादन के नवीन क्षेत्रों को हस्तगत करने का प्रयत्न करने के लिए बाध्य हो जाता है। रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो गया है। जीवन के वैभव में वृद्धि हुई है, तथा जीवन अधिकाधिक परिपूर्ण तथा सम्पन्न होता जाता है।

दूसरे, समाज के सीमित साधन अधिकतम मितव्ययिता से तथा न्यूनतम नष्ट होते हुए, प्रयुक्त होते हैं। जिस व्यक्ति पर विनाश का दायित्व होता है, उसे हानि तथा दिवाले के रूप में अपनी गलती का फल मिल जाता है।

तीसरे, पूजीवाद में सबसे अधिक योग्य, साहसी तथा दूरदर्शी उद्यमी को ही सबसे अधिक लाभ होता है, जो आगे बढ़कर असाधारण चातुर्य और जीवट से काम करता है वही ऊंचे से ऊंचे लाभ का भागी होता है। इससे अधिक उचित और कुछ दिखलाई नहीं पड़ता कि योग्यता के अनुसार पारितोषिक मिले।

चौथे, उपभोक्ताओं का नियन्त्रण बना रहने के कारण इस पद्धति पर जनतन्त्र की भावना का थोड़ा-बहुत रग चढ़ जाता है।

पाँचवें, पूजीवाद मे जोखिम और नियन्त्रण साथ-साथ चलते है, अत आर्थिक विषयो पर सदा विचारपूर्वक निश्चय किये जाते हैं।

यदि 'जीवन-सम्पन्न ही जीवित रह पाता है' के सिद्धात को किसी पद्धति की श्रेष्ठता का आधार मान लिया जाय तो पूजीवाद निस्सन्देह ठोस सिद्धात कहा जायेगा। इस पद्धति ने अनेको विषम परिस्थितियो का सामना किया है, परन्तु अत मे यही पद्धति अंग-भग हो जाने पर भी, विजयी सिद्ध हुई है। इसी पद्धति ने आश्चर्यजनक ढग से अपने आपको परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल बनाया है। इस पद्धति की सुदृढता और अवसर के अनुकूल बन जाने की योग्यता का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है कि इस पद्धति ने खर्चीले युद्धो के भार को भली भाति वहन किया है।

४ पूजीवाद की आलोचना (Criticism of Capitalism)—परन्तु अब पूजीवाद चारो ओर से आक्रात हो रहा है। सर्वप्रथम, प्रतियोगिता, जो कि पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख लक्षण है, एक विनाश-मात्र है। विज्ञापन तथा विक्रय-पटुता मे बहुत बडी धन-राशियाँ केवल प्रतिद्वन्द्वी को मात देने के लिए व्यय की जाती है। इस दौड में हारने वालो द्वारा प्रयुक्त साधनो को विनाश ही कहा जायेगा। भीषण प्रतियोगिता से कोई विशेष सामाजिक लाभ नही होता।

दूसरे, आर्थिक व्यवस्था में गडबडी को दूर करने के लिए आवश्यक शक्तियो का आवास-प्रवास प्रतियोगिता के क्रियाशील होने पर ही निर्भर है। परन्तु कानूनी, सामाजिक और आर्थिक सघर्ष के फलस्वरूप खुली प्रतियोगिता नही हो पाती तथा उत्पादन-शक्तिया अधिकतर व्यर्थ पडी रहती है।

तीसरे, उपभोक्ताओ अर्थात् समाज तथा उत्पादको के हितो में माना हुआ सामजस्य वास्तविक नही होता। खुली प्रतियोगिता न हो सकने के कारण नैतिकताहीन उत्पादको द्वारा जान-बूझकर चले जाने के कारण तथा व्यक्तिगत रूप से उपभोक्ता के अज्ञानी और साहसहीन होने के कारण, यह उपभोक्ता राजा से रक हो जाता है और शोषण का शिकार हो जाता है।

चौथे, अत्यधिक प्रतियोगिता तथा अत्यधिक बचत के कारण व्यापारिक घट-बढ की पुनरावृत्तियो को जिनके फलस्वरूप अत्यधिक उत्पादन होता है, हम पूजीवाद का सबसे कडुवा फल कह सकते है। जबकि एक ओर उत्पादन योजना-हीन होकर पूजी के निरन्तर बढते हुए एकत्रीकरण के कारण जोर पकडता है, तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओ मे से अधिकतर चूसे जाते है, तब उत्पादन और खपत में सतुलन बना रहे, तो यह अवश्य आश्चर्य का विषय होगा।

पाचवे, हमारे राष्ट्र का बहुत बडा अग श्रमजीवी है और वे हर समय नौकरी से हटा दिए जाने के भय से ग्रस्त रहते है। स्थिरता की कोई भावना उनमे नही है।

छठे, पूजीवाद मानवीय अधिकारो के विरुद्ध सम्पत्ति के अधिकारो पर अनुचित जोर देता है। ईश्वर का अश, मानव, एक वस्तु-मात्र समझा जाता है।

सातवे, श्रम तथा पूजी नामक दो प्रतिद्वन्द्वियो में समाज को बाँटकर पूजीवाद ने चिर-सामाजिक असतोष का बीज बोया है। यह दोनो प्रतिद्वन्द्वी एक-दूसरे को घूर-

घूर कर देखते हैं और लडने का अवसर ढूंढा करते हैं।

आठवे, पूंजीवाद का सबसे विषम फल धन के वितरण की वह अत्यधिक असमानता है, जो समय के साथ-साथ बढ रही है। जैसा जी० डी० एच० कोल ने लिखा है, "उद्योग के मन्दिर में सुख के नाम पर पुजारी और दासो में जमीन-आसमान का अन्तर है।"[1]

अन्त में पूंजीवाद घातक विरोधाभासो से परिपूर्ण है। कुछ तो मनमाने वैभव में मस्त है, किन्तु अधिकतर आधे-पेट भोजन करके जीवित हैं। एक ओर फसलें सड रही हैं तो दूसरी ओर मनुष्य भूखा मर रहा है। कारखानो के अन्दर मशीनें खाली पडी हैं और बाहर बेकारी नग्न नृत्य कर रही है।

इन थोडी-सी बातो मे वर्तमान पूंजीवादी पद्धति की पर्याप्त आलोचना हो जाती है। स्त्रियो और बच्चो के कठोरतापूर्वक शोषण, वृद्ध, रुग्ण और बेकारो की निर्मम उपेक्षा, तथा समस्त मानव सम्बन्धो पर आर्थिक विषमताओ के प्रभुत्व ने समाज की आत्मा को छेद दिया है तथा लोग अन्य किसी मार्ग की खोज में भटक रहे हैं। पूंजीवाद के अन्तर्गत पाई जाने वाली असह्य परिस्थितियो से बचाव के निम्नलिखित साधन बतलाये जाते हैं —

आयोजित पूंजीवाद (planned capitalism), समाजवाद जिसमें साम्यवाद भी सम्मिलित है। हम इनमें से प्रत्येक पर विचार करेंगे।

४ आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy)—महान् मदी के उन दिनो के पश्चात्, जब कि ससार में बाहुल्य होते हुए भुखमरी का विचित्र तथा असाधारण दृश्य उपस्थित हुआ, ससार की प्रवृत्ति योजनाधीन रहने की ओर अग्रसर होती जा रही है। अब आर्थिक व्यवस्था का माग और पूर्ति के आधार पर अपने आप कार्य करते रहने देना अच्छा नही समझा जाता। वर्तमान प्रणाली में वैषम्य के असाध्य हो जाने का खतरा मूलत विद्यमान है। अब बहुत कम लोगो को यह आशा रह गई है कि यदि आर्थिक शक्तियो को निरकुश छोड दिया जाय तो देश के आर्थिक साधनो का आशातीत वितरण हो सकेगा। सर विलियम बेवेरिज का कथन है कि, "यह कदापि आशा नही की जा सकती कि बहुत से छोटे-छोटे कारोबारो की व्यक्तिगत उन्नति से किसी ऐसे उद्योग का जन्म हो सकता है, जो अधिकतम तथा सर्वांगीण कार्य-क्षमता के आधार पर निर्मित हो। ठीक उसी प्रकार जैसे कि छोटे-छोटे अनेको धनवानो तथा निर्माताओ की अव्यवस्थित तथा निरकुश क्रियाए एक ऐसा आयोजित नगर नही बसा सकती, जिसमें अनावश्यक मोडो, दोहरी सडको अथवा आवागमन की असुविधायें न हो।" विपन्नताओ की उन पुनरावृत्तियो को रोकने के लिये, जिसके कारण वर्तमान आर्थिक प्रणाली में एक व्यापार-चक्र चलने लगता है, योजनाओ के बनाने की विशेष आवश्यकता पर जोर दिया जाता है।

किन्तु योजना बनाने का क्या तात्पर्य है? (But What is Planning?)—इस विषय पर विचारो में बहुत मतभेद है। राबिन्स का कथन है, "सच

1 Cole, G D H —Principles of Economic Planning, 1935, p 3

तो यह है कि आर्थिक जीवन मे हर जगह योजना बनाने की आवश्यकता पडती है। योजना बनाने का अर्थ है कि किसी अभिप्राय को लेकर कार्य किया जाय तथा चयन किया जाय। यही चयन आर्थिक क्रियाओ का मूल तत्व है।"[1] परन्तु सामान्यतया योजना बनाने का यह अर्थ नही लगाया जाता और न योजना बनाने का यह अर्थ है कि उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो अथवा कृषि की पुन व्यवस्था हो। भारत मे केन्द्रीय तथा राज्यो की सरकारो के विभिन्न विभागो ने युद्ध के पश्चात् विकास की योजनायें बनाई है। एक प्रकार से इसे भी भविष्य के लिये योजना बनाना कह सकते है। परन्तु ऐसी योजनाओ का आर्थिक योजना बनाने का मूल तत्व समझ में नही आता। योजना बनाने का अर्थवेत्ता जो अर्थ लगाते है, वह यह है कि राष्ट्रीय साधनो को निश्चित उद्देश्य के आधार पर रेखाकित किया जाय तथा केन्द्रीय नियन्त्रण मे रक्खा जाय, जिसमें समस्त आर्थिक विषयो का निश्चित रूप मे एकत्रीकरण हो जाय तथा उनमे सामजस्य स्थापित हो जाय तथा इस प्रकार व्यर्थ की प्रतियोगिता तथा व्यर्थ का दोहराव हो ही न पावे। लूइस लारविन ने योजनाधीन अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या इस प्रकार की है, "आर्थिक प्रबन्ध की ऐसी योजना समस्त प्राप्य साधनो को उपयोगी बनाने के अभिप्राय से व्यक्तिगत तथा विभिन्न यत्रादि, उद्यम तथा उद्योगो को एक ही प्रणाली की एक साथ चलने वाली इकाइया माना जाता है जिससे निश्चित समय के अन्दर लोगो की आवश्यकताओ की अधिकतम तुष्टि हो सके।"[2] अथवा जैसा कि डिकेन्सन कहता है, "आर्थिक योजना बनाने का तात्पर्य बडे-बडे आर्थिक निश्चय करना है—क्या और कितना उत्पादन किया जाय, तथा एक सुनिश्चित अधिकारी के विचारयुक्त निश्चयानुसार सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था के विस्तृत निरीक्षण के आधार पर, वह किसको बाटा जाय।"[3]

इस आधार को लेकर योजना बनाने के लिए निम्नलिखित आवश्यकताए स्पष्ट हो जाती है —

(क) योजना बनाना विचारयुक्त, जानबूझ कर तथा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर हो।

(ख) एक ही ऐसा अविभक्त अधिकारी हो, जो विभिन्न आर्थिक क्रियाओ को आयोजित करने और उनका एकीकरण करने के लिए जिम्मेदार हो। कृत्यो का भार दूसरो पर भी डाला जा सकता है।

(ग) सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र आयोजित किया जाना परमावश्यक है। टुकडे-टुकडे करके योजना न बनाई जाय।

(घ) समस्त प्राप्य साधनो का एकमात्र सर्वसाधारण के कल्याण के उद्देश्य से वैज्ञानिक वितरण किया जाय।

योजना बनाना अब केवल सैद्धान्तिक वादविवाद का विषय नही रह गया है अपितु

---

1 Robbins, Lionel—Economic Planning and International Order, 1937, p. 4
2 Quoted by George Frederick in his "Readings in Economic Planning", p 153
3 Dickenson, H D Economics of Socialists, 1939, p 41.

व्यावहारिक नीति का एक आवश्यक अंग हो गया है। जून सन् १९३३ के नेशनल इंडस्ट्रियल रिकवरी एक्ट (राष्ट्रीय औद्योगिक पुनर्जीवन अधिनियम) द्वारा अमरीका की सरकार को उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में चारों ओर से नियन्त्रण का अधिकार दिया गया। इस प्रयोग के सफल होने में किसी को सन्देह नहीं है। रूस में तो आयोजन द्वारा और भी अधिक शानदार सफलता प्राप्त हुई है, जिससे कि रूस को औद्योगिक उत्पादन में योरोप में प्रथम तथा संसार में द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। जर्मनी में भी, जहां पूंजी पर राज्य का स्वामित्व नहीं था, आयोजन के फलस्वरूप बेकारी दूर हुई, वेतन बढ़े तथा कृषि का विकास हुआ। आयोजन के बिना जर्मनी इतना आश्चर्यजनक पुनर्निर्माण न कर पाता।

योजनाधीन अर्थ-व्यवस्था किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ चल सकती है। पूंजीवाद में भी योजना बनाना संभव है। पूंजीवाद के समस्त अनुगामी अंग अर्थात् निजी संपत्ति, व्यक्तिगत उद्यम बने रह सकते हैं। परन्तु राज्य की ओर से बहुत अधिक नियंत्रण आवश्यक होगा। समस्त उद्यमी व्यक्तियों को योजना के अन्तर्गत कार्य करना पड़ेगा। यह स्वाभाविक है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत योजना बनाने में सीमित सफलता प्राप्त हो। यह भी संभव है कि बिना किसी पूर्व-निश्चित तथा विचारयुक्त योजना के समाजवादी अर्थ-व्यवस्था बनी रहे। आर्थिक नीति एक प्रवाह के समान हो। परन्तु यदि योजना बनाने का अधिकार निश्चित और सुदृढ़ होता है, तो वह किसी न किसी रूप में समाजवाद अवश्य होगा।

योजना के आलोचकों का कहना है कि इससे आर्थिक स्वतंत्रता खत्म हो जाएगी। उनका कहना है कि उपभोक्ता की स्वतंत्रता तथा उत्पादक का उद्यम नष्ट हो जाएगा। किन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। योजना तो आर्थिक स्वतंत्रता की पूर्णतया पोषक है। श्रीमती वूटन का कथन है "आर्थिक प्राथमिकताओं के सचेत रूप में योजना बनाने में ऐसा कोई भी तत्व नहीं पाया जाता जो स्वतंत्रता का वैरी हो। ऐसी स्वतंत्रता जिसे अमरीकी और अंग्रेज सामयिक काल में मानते हैं।"[1] उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों को अपनी पसन्द से व्यय करने तथा बनाने की पूरी आजादी होगी।

६ समाजवाद (Socialism)—समाजवाद पूंजीवाद का एक विकल्प है। इसका सबसे अधिक विस्तृत प्रभाव है। स्वीडन के एक राजा ने अपने एक मंत्री से कहा था, "यदि कोई पच्चीस वर्ष की आयु तक समाजवादी नहीं होता है तो इससे यह प्रकट होता है कि उसके हृदय नहीं है। परन्तु यदि पच्चीस वर्ष की आयु के पश्चात् वह समाजवादी बना रहता है तो उसके मस्तिष्क नहीं है।" समाजवाद ने सारे संसार के नौजवानों की कल्पना को जकड़ रखा है।

परन्तु इस विषय पर विद्वानों में परिपूर्ण एकमत नहीं है कि समाजवाद वास्तव में है क्या ? ऐसा प्रतीत होता है कि जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार के समाजवादी मत भी हैं। समाजवाद को उस हैट के समान कहा गया है जिसका हर किसी के पहन

1 Wootton, B—Freedom Under Planning, 1945.

लेने के कारण, कोई रूप ही नही रह गया है। समाजवादियो की योजना-सम्बन्धी मुख्य बातें समझने के लिए उनकी विभिन्न विचारधाराओं की जानकारी लाभदायक सिद्ध होगी। यह कथन ठीक ही है कि समाजवाद के अन्तर्गत बहुत सी बाते शामिल है और बहुत-सी बातो को मिलाकर समाजवाद का नाम दिया जाता है। इस बहुरंगी स्थिति का विवरण शेडवेल ने दिया है "यह समान रूप से भावपरक तथा ठोस, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, आदर्शवादी तथा भौतिक, प्राचीनतम तथा आधुनिकतम है। यह भावना मात्र से लेकर निश्चित कार्यक्रम तक चलता है। इसके पोषक इसे जीवन दर्शन मानते हैं, अर्थात् एक प्रकार का धर्म, नीतिशास्त्र, आर्थिक प्रणाली, ऐतिहासिक सत्य, न्यायिक सिद्धान्त आदि। यह लोकप्रिय आन्दोलन है तथा वैज्ञानिक विश्लेषण भी। भूतकाल का विवेचन और भविष्य का स्वप्न, युद्ध की विभीषिका तथा युद्ध का नकार; हिंसात्मक क्रांति, सहज क्रांति। प्रेम का उपदेश तथा परोपकार, घृणा और लोभ का मूलमत्र। मानवमात्र की आशा तथा सभ्यता का अन्त, स्वर्णिम युग का उषा काल तथा भयकर विनाश।"[1] समाजवाद की विभिन्न धारणाओ को समझने से उसके तत्व का स्पष्ट पता चल सकता है।

७ मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद (Marxian Socialism or Scientific Socialism)—कार्ल मार्क्स ने सन् १८६७ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास कैपिटल' लिखी, जो समाजवाद की गीता समझी जाती है। कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। उसके सिद्धान्तो के प्रधान अंग निम्नलिखित है —

(१) **इतिहास की भौतिक धारणा** (Materialistic Conception of History)—उसने इतिहास की प्रत्येक घटना के आर्थिक आधार को लेकर समझाने का प्रयत्न किया है। उसने इतिहास का आर्थिक विश्लेषण किया है। समस्त युद्धो, दगो तथा राजनैतिक आन्दोलनो के मूल मे ऐतिहासिक कारण होते हैं। हर एक आर्थिक स्थिति का समकालीन कोई न कोई उपयुक्त राजनैतिक सगठन होता है। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ऐसी शासन-प्रणाली का विकास करती है जो सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारो का समर्थन तथा अनुगमन करती है। वह आगे यह समझाता है कि किस प्रकार पूँजीवाद से ऐसी परिस्थितियो का प्रादुर्भाव होगा, जिनमे समाजवाद पूँजीवाद का स्थान ग्रहण कर लेगा। पूँजीपति समय बीतते-बीतते अधिकाधिक धनवान होते जायेंगे परन्तु उनकी सख्या कम होती जायेगी। बडी मछली छोटी मछलियो को लीलती जायेगी। एकाधिकार उत्पन्न हो जायेंगे। उत्पादन बढेगा तथा विदेशी बाजारो मे माल की खपत के लिये भडभडाहट होगी। साम्राज्यवादी युद्ध होगा जब तक कि इस सघर्ष मे पूँजीवाद समाप्त हो जायेगा तथा मजदूर वर्ग के हाथ मे बागडोर आ जायेगी।

(२) **मूल्याधिक्य का सिद्धात** (Theory of Surplus Value)—कार्ल मार्क्स का कथन है कि उत्पादन अपनी बनाई हुई वस्तु के मूल्य के रूप मे श्रम तथा अन्य

---

1 The Quarterly Review, July, 1924, p 2

लागत में लगे हुए धन से अधिक धन प्राप्त कर लेता है। बाजार मूल्य का वह भाग जो लागत से अधिक होता है, मूल्याधिक्य कहलाता है। यह मूल्याधिक्य श्रमिक की ही सृष्टि है। इसकी उत्पत्ति होने का कारण यह है कि श्रमिक को, जो मिलना चाहिये उससे बहुत कम मिलता है। पूजीपति द्वारा इस मूल्याधिक्य को खतम करना कार्ल मार्क्स की दृष्टि में लूट तथा शोषण है। उसके अनुसार हर वस्तु श्रम का निखरा हुआ अथवा सिमटा हुआ रूपान्तर मात्र है।

८ सामूहिकवाद अथवा राजकीय समाजवाद (Collectivism or State Socialism)—सामूहिकवादी अथवा राजकीय समाजवादी ससदीय जनतन्त्र में तथा उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण मे विश्वास करते हैं। वे राजनीतिक शक्तियों को हस्तगत तथा सुदृढ करके उनको समाजवादी उद्देश्यो तथा आदर्शों की प्राप्ति में प्रयुक्त करना चाहते हैं। बलवान राजकीय शक्ति का प्रयोग धनोपार्जन तथा उसके समवितरण में करना चाहते हैं। राज्य ही सब कुछ है, तथा समाजवादियो को राज्य-शक्ति प्राप्त होते ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। राज्य सब कुछ करेगा। व्यक्तिगत उद्यम समाप्त कर दिये जायेंगे तथा समस्त उत्पादन राज्य के वैतनिक अधिकारियो द्वारा सम्पन्न होकर लाभ सार्वजनिक कोष में एकत्रित होगा और उसका प्रयोग जनता की उन्नति के लिए किया जायेगा। पूजीवाद और राजकीय समाजवाद में केवल इतना ही अन्तर है कि राजकीय समाजवाद में उत्पादन के साधनो का स्वामित्व और प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप में उद्यमी के हाथ में न रहकर राज्य के हाथ में रहता है। पूजीवाद के अन्य विनिमय-साधन, जैसे मूल्याकन विक्रय आदि बने रहते हैं।

समाजवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत ये शामिल हैं (क) उत्पादक स्रोतो पर राज्य का नियत्रण, (ख) राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण, (ग) आर्थिक योजना, तथा (घ) आर्थिक पद्धति में शान्तिपूर्वक तथा दूसरे उपायो से (प्रजातत्र) क्राति लाना।

९ कारीगर या श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)—यह समाजवादी राज्य पर अविश्वास करते है, सामूहिकवादियो के समान, कारीगर समाजवादी राज्य को उत्पादक यत्रादि के सफल सचालन के योग्य नही समझते। इन समाजवादियो के अनुसार पूजीवादियो को हटा देना होता है। परन्तु फर्मों, कारखानो तथा उत्पादन के अन्य यत्रादि को कारीगरो की उस श्रेणी को सौप देना होता है, जो उत्पादन को कुशलतापूर्वक व्यवस्थित तथा सगठित कर सकें अर्थात् उद्योगो में स्वशासन होना चाहिये। राज्य तो केवल देख-रेख करे, कीमत निश्चित करने के लिये तथा उत्पादित माल की कोटि का ध्यान रखने के लिये सामान्य उपभोक्ताओ की ओर से प्रतिनिधित्व करे।

मूल सिद्धात यह है कि उत्पादन के साधनो का स्वामित्व राज्य के हाथ में अवश्य हो, परन्तु वास्तविक क्रियान्विति कारीगर के हाथो मे होनी चाहिए। राज्य का कार्य तो केवल यह देखते रहना है कि उपभोक्ता को धोखा तो नही दिया जा रहा है या उनके साथ छल तो नही किया जा रहा है। अत्यधिक केन्द्रीकरण की बुराइयो को तथा सरकार में नौकरशाही की अयोग्यता को दूर करना इन समाजवादियो का उद्देश्य है। इनका यह दावा है कि इनकी पद्धति के अनुसार विकेन्द्रीकरण होने पर वास्तविक जनतन्त्र तथा कार्यक्षमता अवश्य आ जायेगी।

१०. श्रमिक सघवाद (Syndicalism)—श्रेणी समाजवादियो के समान, समाजवादी आदर्शों की प्राप्ति के लिए भी राज्य शक्ति को उपयुक्त नही समझते। राजकीय अधिकारी मे, वह चाहे जिस श्रेणी का भले ही क्यो न हो, एक विशेष प्रकार की नौकरशाही प्रवृत्ति अवश्य होती है। वह कभी समझ ही नही सकता कि श्रमिक क्या चाहता है? दूसरो पर रौब जमाने की उसकी आदत होती है। अत इन समाजवादियो के विचारो के अनुसार राज्य को शक्तिमान बना देने पर बहुत से छोटे-छोटे अत्याचारी शासक उत्पन्न हो जायेंगे। अत सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक ढाचे को, ट्रेड यूनियनो का एक जाल-सा बिछा कर, ये समाजवादी बनाना चाहते हैं।

वैधानिक मार्गों से ये अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं—इसमें भी इनका विश्वास नही है। राजकीय अधिकारी बहुत शक्तिमान होते हैं। अत इनका विश्वास सीधी तथा हिंसात्मक कार्यवाही में है। हडताल इनका प्रधान अस्त्र है। इनका विश्वास है कि यदि हडताल असफल भी हो तो भी उससे आर्थिक युद्ध का अनुभव कामकरो को प्राप्त हो जाता है। हडतालो से कामकर सुसगठित होते हैं और पूजीपतियो के प्रति उनकी घृणा बढती है। इस घृणा को कम न होने देना चाहिए। इनका मत है कि हडताल पर हडताल जारी रहे तथा अन्त में एक लम्बी आम हडताल होकर राजनीतिक प्रक्रिया को व्यर्थ कर दिया जाय और शक्ति को हस्तगत कर लिया जाय। ये समाजवादी विद्यमान ढाचें को नष्ट करने पर बहुत जोर देते हैं और क्रान्ति के पश्चात् समाज के उस ढाचे पर जिसे ये जन्म देना चाहते हैं, जानबूझकर प्रकाश नही डालते।

११. साम्यवाद (Communism)—आजकल का साम्यवाद, जैसा कि सन् १८४५ के साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto of 1845) से स्पष्ट है, साम्यवादी उद्देश्यो की प्राप्ति के सिद्धान्तो को अधिक स्पष्ट करता है, किन्तु जैसे समाज को ये जन्म देना चाहते हैं उसको स्पष्ट नही करता। साम्यवादी इस बात पर जोर देते हैं कि सारे देश मे ही नही, वरन् समस्त ससार में साम्यवादी सगठनो का जाल बिछा दिया जाय, तथा अन्य सगठनो के केन्द्रीय पदो को हस्तगत करके शान्तिपूर्वक अपने अनुयायियो की सख्या बढा दी जाय। जब पार्टी सुदृढ हो जाय, तब वह पूजीपतियो का तख्ता पलट कर शासन-सूत्र अपने हाथ मे ले सकती है और मजदूर राज्य स्थापित कर सकती है। राज्य-शक्ति का उपयोग समस्त विरोध को दबाने तथा पूजीपतियो को समाप्त करने मे किया जाय। इनका उद्देश्य है—वर्ग-विहीन समाज की स्थापना, जिसमें कोई ऊचा-नीचा, धनी या निर्धन न हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के पश्चात् राज्य की आवश्यकता ही नही रह जायेगी। राज्य अपने आप विलीन हो जायगा। साम्यवादी जिस प्रकार का समाज चाहते हैं, उसका कुछ अनुमान प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Republic) तथा वेल की 'न्यू वर्ल्ड फार ओल्ड' (New World For Old)—इन पुस्तको से लग सकता है। साम्यवादी न केवल उत्पादन के साधनो पर सब प्रकार की निजी सम्पत्ति को समाप्त कर देना चाहते हैं, वरन् उपभोग वस्तुओ मे भी निजी सम्पत्ति के प्रश्न को समाप्त कर देना चाहते हैं।

लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करे और अपनी आवश्यकतानुसार फल प्राप्त करें। हर एक व्यक्ति को निश्चित कार्य दे दिया जाय। वह स्वयं अपना उद्यम न चुन सकेगा। किसी के निजी मकान अथवा बैंक में हिसाब नही होगा। हर व्यक्ति सरकारी कर्मचारी समझा जायगा। उसे नकद रुपया नही मिलेगा वरन् राजकीय क्वार्टरो में निवास तथा राजकीय भोजनालयो से भोजन मिलेगा। उसे वही वस्तुए तथा सेवा कार्य करने को दिए जायेंगे, जो राज्य द्वारा तत्कालीन उत्पादन के आधार पर निश्चित किये जायेंगे। बच्चो का पालन-पोषण, उनकी शिक्षा दीक्षा आदि सब राज्य का काम होगा। मूल्यांकन की प्रणाली ही समाप्त हो जायगी। लाभ की नीयत के बिना राज्य उत्पादन को नियंत्रित करेगा, काम देगा, तथा कार्य का प्रतिफल तथा वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमत निश्चित करेगा। कैसा सुहावना स्वप्न है!

साम्यवादी समाज में न तो व्यापारिक उथल-पुथल हो सकती है, न बेकारी रह सकती है, न धनवान तथा निर्धन का भेद-भाव रह सकता है, और न पूंजी तथा श्रम में संघर्ष ही रह सकता है। विचार निस्सन्देह नैसर्गिक हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओ में रूसियो ने इन विचारो को कार्य-रूप मे परिणत करने का प्रयास किया। उन्होने द्रव्य तथा विनिमय समाप्त कर दिया। परन्तु सफलता नही मिली। द्रव्य सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था की पुन स्थापना करनी पडी। कार्य-कुशलता को प्रोत्साहन तथा फलीभूत करने के लिए विभिन्न वेतन देने पडे।

१२ अराजकतावाद (Anarchism)—साम्यवादियों का अन्तिम उद्देश्य यही है कि समाज का ऐसा ढाचा बना लिया जाय कि राजकीय शासन का अस्तित्व समाप्त हो जाय। 'राज्य विलीन हो जायगा।' सामान्य बोलचाल मे अराजकता का अर्थ अव्यवस्था, कुप्रबन्ध आदि से होता है। परन्तु समाजवादी शब्दावली के अनुसार इसका अर्थ है 'राज्यहीनता' जब कि शासन अनावश्यक हो चुका हो। साम्यवादियो को आशा है कि जब संसार से पूजीवाद उठ जायगा तब लोभ, स्वार्थ, छल, अत्याचार आदि पाप नष्ट हो जायेंगे तथा उनके स्थान पर त्याग, समाज-सेवा, सद्भावना आदि गुणो का प्रादुर्भाव होगा, तथा लोगो में हडपने की प्रवृत्ति के स्थान पर त्याग की भावना प्रबल होगी। मानव इतना ऊँचा उठ जायेगा कि पुलिस की आवश्यकता नही होगी। न्यायालय बन्द हो जायेंगे। क्या यह चकित करने वाली बाते हैं? प्राचीन भारत के सम्बन्ध में फाहियान हमें बतलाता है कि चोरियाँ तथा डकैतियाँ नही होती थीं और लोग घरों मे ताले नहीं डालते थे। संभव है, अराजकतावादियो के स्वप्न कभी सजीव हो जायें।

सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को स्वशासित संस्थाओ द्वारा सुसगठित किया जायगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के अधिकारो का आदर करेगा, अत कोई कठिनाई नही होगी। सरकार तो आवागमन पर रोक-थाम रखने वाले चौराहे के सिपाही के समान होगी। जब कुछ घंटो के लिए सिपाही चला जाता है तब भी आवागमन चलता रहता है, और इसी प्रकार समाज की क्रियाये चला करेंगी। यह और भी अधिक सुखद स्वप्न है। प्रिन्स क्रोपाटकिन से हमें इनकी रूप-रेखा प्राप्त हुई है। अराजकतावादियो

का कथन है कि पूजीवादियो के अन्यायपूर्वक प्राप्त किये गये लाभो तथा लूट अथवा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए ही राज्य की आवश्यकता है। जब यह सब चला जायगा तो राज्य-शासन भी उसका अनुगामी होगा।

१३. फेवियन समाजवादी (Fabian Socialists)—बर्नार्ड शॉ के समान ये समाजवादी साहित्यिक हैं। इग्लैड मे और भी बहुत से ऐसे विद्वान हैं, जिन्हे यह विश्वास है कि समाजवाद का सम्बन्ध धारणा से है। यदि लोगो को समाजवाद से उत्पन्न विशेषताओ का विश्वास दिलाया जा सके तो समाजवाद के स्थापित होने को रोका नही जा सकता। ये समाजवादी, साहित्य—विशेषतया उपन्यास, नाटको तथा कहानियो द्वारा पूजीवाद के विरुद्ध अविराम प्रचार करते रहते हैं, तथा समाजवाद की आवश्यकता तथा उससे लाभ का दिग्दर्शन कराते हैं। उनका यह विश्वास है कि वह समय आयेगा जब कि ससार को समाजवाद में विश्वास हो जायगा तथा समाजवाद चारो ओर फैल जायगा। यह विश्वास सही हो सकता है।

१४. समाजवादी योजना के आवश्यक अग (Essentials of a Socialist Scheme)—हमने समाजवादियो के मतो के विभिन्न झुकावो का सिंहावलोकन कर लिया है। इन झुकावो मे अन्तर होते हुए भी, जो किसी-किसी विषय पर अत्यन्त तीव्र विरोध का रूप धारण किये हुए है, एक ऐसी योजना समझ में आ सकती है, जिस पर अधिकाश समाजवादियो का मतैक्य हो। उत्पादन के साधनो का व्यक्तिगत स्वामित्व हटाये जाने के पक्ष मे सभी समाजवादी है। भूमि, कारखाने, रेलें, खानें तथा उत्पादन के अन्य समस्त साधनो का राष्ट्रीयकरण अवश्यमेव किया जाय। उनका स्वामित्व तथा नियन्त्रण राज्य के हाथ मे हो, जिसमें राज्य हर एक व्यक्ति को काम दे सके। कोई निजी उद्यम नही होगा। उत्पादन में राज्य ही हाथ डालेगा, तथा राज्य ही उत्पादन का सचालन करके, वेतन तथा अन्य व्यय करेगा, और लाभ राज्य को प्राप्त होगा। पूजीपतियो तथा जमीदारो को व्याज तथा किराये आदि की अदायगी समाप्त हो जायगी, क्योकि राज्य ही पूजीपति, जमीदार तथा उपक्रमी माना जायगा। साम्यवादियो को छोडकर समस्त समाजवादी मकान, फर्नीचर, घरेलू सामान तथा अन्य उपभोग सामग्री के रूप मे निजी सम्पत्ति रहने दे सकते हैं।

विना कमाई के खाना हतोत्साहित किया जायगा। कार्य का प्रतिफल कार्य की कोटि के अनुरूप होगा तथा बिल्कुल समान नही होगा। योग्यता के अनुसार इसमें विभिन्नता होगी। माग तथा पूर्ति के नियम की सीमित रूप में क्रियान्विति को मान्य समझा गया है। यह विश्वास निराधार है कि समाजवाद के अन्तर्गत सब लोग आर्थिक दृष्टि मे समान होगे। आर्थिक समानता की कोई गारटी नही की जा सकती। श्रेणी-विहीन आधार पर सभी के लिये अवसर की समानता अवश्य प्राप्त होगी। राज्य व्यक्ति को अपना उद्यम चुनने मे तथा उसे उस उद्यम के योग्य बनाने मे सहायता करेगा।

राज्य ही उत्पादन तथा वितरण दोनो का दायित्व-भार लेने वाला अधिकारी होगा। समाज के उत्पादन साधनो का वितरण तथा उपयोग केन्द्रीय प्राधिकारी के निर्देशानुसार निश्चित किया जायगा। उत्पादन के लाभ कुछ थोडे से व्यक्तियो की जेबो में

जाने के स्थान पर राजकीय खजानो में जायेगे तथा उनका व्यय सामान्य व्यक्ति को, उसके परिवार तथा बच्चो को पर्याप्त चिकित्सा, परिपूर्ण तथा निशुल्क शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के यथेष्ट साधन प्रदान करके, उसके भाग्य में परिवर्तन लाने के लिए किया जायगा, आवश्यकताओ की पूर्ति अवश्य ही होगी तथा अरक्षा से उत्पन्न भय के लिए कोई स्थान न रहेगा। हर एक व्यक्ति को अपना उद्यम चुनने में स्वतन्त्रता होगी तथा अपनी आय को वह जैसे चाहे, व्यय कर सकेगा, सक्षेप मे यही समाजवादी योजना है।

बहुत दिनो तक वैब्स द्वारा की गई समाजवाद की परिभाषा को अधिकाश समाजवादी स्वीकार करते रहे। वह परिभाषा यह है "समाजवादी सिद्धातो पर अवलम्बित उद्योग वह है जिसमे उत्पादन के राष्ट्रीय साधन सार्वजनिक प्राधिकार अथवा स्वेच्छापूर्वक किए गए सस्थापन के स्वामित्व में हो तथा अन्य व्यक्तियो को किए गए विक्रय से लाभ प्राप्ति की दृष्टि से सचालित न हो वरन् उन लोगो की सीधी सेवा के रूप में हो—जिनका वह प्राधिकारी या सस्था का प्रतिनिधित्व करती है।" यह परिभाषा समाजवाद की वर्तमान धारणा से नही मिलती, क्योकि इसमे योजना बनाने का विचार निहित नही है। अत डिकेन्सन द्वारा की गई परिभाषा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। डिकेन्सन के अनुसार समाजवाद समाज का वह आर्थिक सगठन है, जिसमें उत्पादन के भौतिक साधन सम्पूर्ण समाज के स्वामित्व मे होते है तथा ऐसे अगो द्वारा चलाये जाते है, जो एक सामान्य योजना के अनुसार समाज का प्रतिनिधित्व करते हो तथा समाज के प्रति उत्तरदायी हो, और समाज के समस्त सदस्यो को ऐसे समाजवादी आयोजित उत्पादन के फलो से प्राप्त लाभ समान अधिकारो के आधार पर प्राप्त करने का हक हो।[1] दूसरी परिभाषा के अनुसार समाजवाद की जटिलता का स्पष्टीकरण है। "समाजवाद ऐसा आन्दोलन है जिसके अन्तर्गत सारे समाज को निहित करने का लक्ष्य है, व्यक्ति मात्र को नही, प्रकृति-निर्मित तथा व्यक्ति-निर्मित्त सभी प्रकार के माल का नियन्त्रण। इन सबका उद्देश्य राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना है, जिसके उचित वितरण से व्यक्ति का भौतिक प्रयोजन तथा स्वतन्त्रता जिसके द्वारा वह धधो में (उत्पादक) लगा है तथा उपभोग करता है, नष्ट न हो।"[2]

१७ समाजवाद की आलोचना (Case Against Socialism)—समाजवाद के आलोचको ने समाजवादी बनावट में बहुत से छिद्र बतलाए है। कुछ आपत्तिया तो विचारहीन है, जैसे समाजवाद धर्म को नष्ट कर देगा, विवाह तथा पारिवारिक बन्धनो को समाप्त कर देगा, आदि भोले तथा मूढ व्यक्तियो को भडकाने के ऐसे प्रयत्नो के अतिरिक्त समाजवाद को समझ कर उसकी वास्तविक कहानिया तथा खतरे बतलाने का भी प्रयत्न किया गया है।

समाजवाद के विरुद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण तर्कों का समूह आर्थिक व्यवस्था के नौकर

1 Dickenson H, D—Economics of Socialism, 1939, p. 11
2 Loucks and Weldon Hoot—Comparative Economic Systems, 1948

शाही द्वारा सचालन होने के विरुद्ध है। नौकरशाही को कारोबार चलाने में कार्यकुशल नही समझा जाता। राज्य-कर्मचारी कारोबार में उतना तीव्र स्वार्थ नही महसूस करता जितना कि किसी निजी सस्था का कर्मचारी, जिसकी स्थिति उतनी सुदृढ नही होती। राजकर्मचारी जानता है कि नियमानुसार अधिक दिन काम करन के साथ-साथ उसकी उन्नति होती जायगी। वह चाहे जितना उत्साहपूर्वक अधिक काम करे, परन्तु क्रम-बद्ध सूची में वह आगे नही बढ पायगा। उसका प्रधान ध्येय यही रहता है कि किसी प्रकार काम चलता रहे। वह केवल जनता की आलोचना से बचना चाहता है। अत वह कोई साहसयुक्त जोखिम नही उठायगा तथा सामान्य सफलता मे सन्तुष्ट हो जायगा। अपने आप नये साधनो की खोज होने की बहुत कम आशा है। व्यावसायिक नीति दबी हुई तथा उद्यम रहित होगी। घिसघिस तथा "लाल फीते" का बोलबाला होता है, जिसमें साधारण आदमी के लिए तो सुरक्षित स्थान होगा, परन्तु असाधारण मेधावान व्यक्ति के लिए कोई स्थान न होगा। साधारण श्रेणी के आदमी कभी उच्च श्रेणी का कार्य नही कर सकते।

कोई भी सरकारी विभाग कारोबार में सफलता का दावा नही कर सकता, क्योंकि तात्कालिक निश्चय करने पडते है तथा साहसयुक्त नीति की आवश्यकता होती है। सरकारी कर्मचारी मण्डल नये क्षेत्रो को हस्तगत करने के योग्य नही होता। सरकारी विभागो में योग्य व्यक्ति अवश्य आते है परन्तु राज-सेवाओ का वातावरण असाधारण योग्यता प्रदर्शित करने के लिये उपयुक्त नही होता। प्राप्त होने वाला फल किये गये परिश्रम के अनुरूप नही समझा जाता। इस से अधिक नौकरशाही का अर्थ होगा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की समाप्ति तथा अह का बोलबाला।

यह भी कहा जाता है कि सरकार समस्त उद्योग तथा व्यापार की उन्नति तथा सफल सचालन के लिये बहुत बडी आवश्यक पूजी का प्रबन्ध नहीं कर सकती।

समाजवाद के अन्तर्गत समाज के साधनो का सबसे अधिक मितव्ययितापूर्वक उद्योगो के बीच वितरण करने के लिये कोई स्वचालित यत्र नही होगा। पूजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ताओं की पसन्द एक ऐसी बात है, जो कीमतो को अपने आप उतार-चढाकर इन साधनो का आशातीत वितरण करती रहती है। अत समाजवाद मे हमें अधेरे में टटोलना पडेगा। कुछ वस्तुए अधिक उत्पादित होगी और खराब जायेंगी जब कि अन्य वस्तुओ की कमी होगी और माग पूरी नही होगी। भय है कि माग और पूर्ति मे असाध्य वैषम्य उत्पन्न हो जाय। कोई भी एक प्राधिकारी इतने बडे कार्य को नही कर सकता कि उत्पादन का प्रबन्ध करे। भूमि के प्रत्येक एकड़ को उचित प्रयोग के लिये बाटे, प्रत्येक कामकर को सही काम दे तथा प्रत्येक रुपये को अधिकतम कार्यक्षमता की दृष्टि से लगावे।

पूजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता का प्रभुत्व होता है। यह तो सही है कि यह प्रभुत्व उनकी आय, एकाधिकार के अस्तित्व आदि द्वारा सीमित होता है, फिर भी उसके लिये पसन्द और चुनाव का बहुत विस्तृत क्षेत्र है। परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत तो उसका प्रभुत्व जाता रहेगा। उपभोग को उत्पादन के अनुकूल बनाना होगा। उपभोक्ता

के लिये यह हानि बहुत वास्तविक है। वह अपने आपको यथेष्ट रूप से सन्तुष्ट नही कर सकेगा। अत समाजवाद का अर्थ है कि उपभोक्ता को मुसीबत और तगी झेलनी पडे तथा त्याग करना पडे। राज्य द्वारा कीमत अवश्य निश्चित हो जायेंगी परन्तु सब स्वेच्छाचारयुक्त होगी। कीमत निर्धारण कठोर होगा और बाजार के अनुसार अपने आप को व्यवस्थित नही कर सकेगा जब कि बाजार इतना नाजुक हुआ करता है कि उपभोक्ताओ की पसन्दो मे तनिक अन्तर से भी प्रभावित होता है।

यह भी भय है कि जब निजी लाभ या व्यक्तिगत हित का प्रश्न ही न रहेगा तो कठिन परिश्रम तथा आत्मोन्नति की प्रेरणा भी नही रहेगी। लोग लगन से कोई कार्य नही करेंगे। आविष्कार, उद्यम और आगे बढने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती जायगी तथा सृजन कार्य असभव हो जायगा। कहा गया है कि "शेक्सपियर के ग्रथो का अच्छा सस्करण सरकार अवश्य निकाल सकती है, परन्तु उन ग्रथो को लिखवा नही सकती।"[1]

समाजवाद के विरुद्ध एक अन्य आपत्ति यह है कि जब उद्यम का स्वातन्त्र्य नही रहेगा तो उद्यम का स्वतन्त्र चुनाव भी नही होगा। श्रमिको को निश्चित काम दे दिया जायगा और वे योजना बनाने वाले अधिकारी की अनुमति के बिना उसे बदल न सकेंगे, क्योकि बदलने से योजना में गडबडी उत्पन्न हो जायगी। सभव है कि स्वतन्त्रता का इस प्रकार नष्ट होना अत्यन्त खेदजनक हो जाय।

कुछ लोग समाजवाद से इस कारण हतोत्साहित हो गये हैं कि रूस मे, जहा समाजवाद की क्रियान्विति हुई, वहा आर्थिक समानता स्थापित न हो सकी। वहा अब भी धनवान और निर्धन का भेद-भाव है। वर्ग-विहीन समाज का स्वप्न अब भी बहुत दूर है। पूजीवादी व्यवस्था में, जैसे अमरीका या इग्लैंड मे, श्रमिको की अवस्था इतनी शोचनीय नही है। उनके जीवन का स्तर कुछ अधिक ऊचा है। लोग यह मानने को तैयार नही है कि पूजीवाद के अन्तर्गत निर्धन व्यक्ति और भी अधिक निर्धन होते जाते हैं। धनवानो के पास नि सदेह धन बढता जाता है, परन्तु साथ-साथ निर्धन का भाग्य भी चमकता जाता है। इस प्रकार समाजवाद को समस्त सामाजिक दोषो के लिये रामबाण के रूप में समझने वाले कुछ समाजवादियो को नैराश्य हुआ है तथा उनका उत्साह ठडा पड गया है।

यह मानना पडता है कि समाजवाद के अन्तर्गत बेकारी नही होगी। परन्तु समाजवाद के आलोचको का कहना है कि जेल में भी तो बेकारी नही होती। समाजवादी राज्य को एक बहुत बडी जेल समझा जाता है तथा इन आलोचको का कहना है कि रोजगार से लगाये जाने को स्वातन्त्र्य-विनाश का सही बदला नही माना जा सकता।

अन्त में यह भी बतलाया जा सकता है कि मार्क्स के समाजवाद को वास्तव में पूर्ण रूप से वैज्ञानिक नही है। समस्त मूल्य का एकमात्र आधार श्रम नही है और न समस्त मूल्य को श्रम द्वारा ही ले लिया जाना अविकृत माना जा सकता है। इतिहास के भौतिक विधान को, जो मार्क्स की मान्यता है, बहुत कम लोग मानते हैं। यद्यपि आर्थिक

1 Pigou Capitalism and Socialism, p 80

विषय सबसे अधिक बलवान होते है, परन्तु वही मनुष्यमात्र के कार्यों को प्रभावित करने वाले एकमात्र विषय नहीं कहे जा सकते ।

१६ आलोचकों को समाजवाद की ओर से दिया गया उत्तर (Answer to Critics of Socialism)—समाजवाद के विरुद्ध तर्कों की एक बलवान पल्टन सी दिखलाई देती है, परन्तु वह ऐसी बलवान नहीं है जैसी कि प्रतीत होती है । समाजवाद की सुदृढ़ता पूंजीवाद की बुराइयों से प्रकट है, जो सिद्ध हो चुकी है । समय-समय पर ससार मे इतनी मन्दी आ जाती है कि अव्यवस्था, बेकारी तथा मुसीबत बहुत बढ जाती है, पूंजीवाद द्वारा आर्थिक परिस्थितियों का स्थायित्व प्राप्त नहीं हो सकता । राष्ट्रीय साधनों को व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयुक्त किया गया है । मानव, विशेषतया स्त्री बच्चो को पूंजीपतियो का धन बढाने के लिए मशीनो के रूप मे प्रयोग किया गया है । बच्चो की पुकार को कौन नहीं सुनेगा ?

How long, O cruel nation,
Will you stand, to move the world, on a child's heart,—
Stifle down with a mailed heel its palpitation
And tread onward to your throne amid the mart,
Our blood splashes upward, O gold heaper,
And your purple shows your path !

—(Elizabeth Barret Browning).

जिस समय एक निर्धन परिवार को कठोर से कठोर परिश्रम करने पर जब कभी-कभी दोनो समय भोजन नहीं मिलता, चीथडो मे लिपटे हुए कबूतरखानो के निवासी होकर, जब बच्चे बिना चिकित्सा और दूध के मरते हैं, तब समाज की आत्मा तडप उठती है । इसके विपरीत धनवान विलास मे लुढकते रहते है । उनके घोडे और कुत्ते उनके सहयोगी मानवो से उत्तम भोजन और निवास के भागी होते हैं । वे धनिक सम्भवत यह समझते है कि निर्धन में मनुष्यत्व है ही नहीं । वह तो किसी अन्य कोटि का प्राणी है । जिस पद्धति से ऐसी असमानता उत्पन्न हो वह अपने-आप कलङ्कित मानी जायगी ।

इसके विरुद्ध समाजवाद की ओर देखिये । समाजवाद में व्यापारिक मंदी नहीं हो सकती और बेकारी, जो श्रमिकों के सर पर नगी तलवार के रूप मे लटका करती है, दूर भाग जाती है । यह एक बहुत बडी समस्या है जिसको समाजवाद दूर करता है । उद्योग की स्वतन्त्रता पूंजीवादी व्यवस्था मे विडम्बना-मात्र होती है । अपना उद्योग कौन चुन पाता है । चुनाव तो उसके माता-पिता के साधनों तथा प्रभाव पर निर्भर होता है । कभी-कभी मनुष्य जो भी काम मिल जाय, वही करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है । परन्तु काम नहीं मिलता । पूंजीवाद ऐसे व्यक्ति को कूडा समझता है । कोई भी लाचारी में काम करते रहने को बेकारी और भुखमरी से अच्छा समझेगा । समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी सामर्थ्य तथा झुकाव के अनुकूल स्थायी तथा पेन्शन सहित काम मिलता है ।

समाजवादी राज्य मे समाज साधनों को एकमात्र सामाजिक स्थिरता तथा कल्याण के आधार पर बाटा जा सकता है । उपभोक्ताओ की इच्छा के स्थान पर उच्च कोटि की

सामाजिक भावनाओ को स्थान दिया जाता है। यह सम्भव है कि किसी स्थिति में किसी प्रकार की उपभोग्य सामग्री की कमी हो जाय। परन्तु ऐसा समाज के वास्तविक कल्याण के लिए जान-बूझ कर किया जाता है। इसमे कोई सन्देह नही है कि हम कुछ दिनो के लिए त्याग करे, जिससे हमारे बच्चे आगे चलकर जीवन अच्छे स्तर पर व्यतीत कर सके। देश की शक्ति और उन्नति के लिए केवल समाजवादी व्यवस्था ही सुदृढ नींव डाल सकती है। पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे दृष्टिकोण सकीर्ण तथा नीति अदूरदर्शी होती है, जिससे एकमात्र उद्यमी के लाभ की ओर ध्यान दिया जाता है।

समाजवाद मे सब प्रकार की शिक्षा के प्रसार के लिए बहुत कुछ व्यय किया जा सकता है, समुचित चिकित्सा-प्रबन्ध, उद्योगो को वैज्ञानिक आविष्कारो से सज्जित किया जाना, कृषि का पुनस्सगठन हो सकता है। फलस्वरूप राष्ट्र के भौतिक तथा मानव-साधन बहुत उन्नति कर जाते हैं। समाजवादी राज्य में निर्धनो की सहायतार्थ बहुत बडी धन राशि प्राप्त हो सकती है क्योकि जो पूजीवादी व्यवस्था मे धनवानो का धन बढाता है, वह समाजवादी व्यवस्था मे राजकीय कोष में एकत्रित हो जाता है। स्वास्थ्य तथा कार्यक्षमता के लिए उपयोगी वस्तुए नि शुल्क अथवा बहुत कम मूल्य में दी जा सकती है। इसमे तो कोई सदेह नही है कि कुछ मार्गो मे उपभोग की कमी हो जाती है परन्तु इससे कोई मुसीबत नही पडती, क्योकि वही खपत अन्य उपयुक्त मार्गों में बढाई जाती है। समाजवादी राज्य में बच्चो को नि शुल्क दूध प्राप्त हो सकता है, उनका नि शुल्क भरण-पोषण, शिक्षा तथा चिकित्सा-प्रबन्ध हो सकता है, कामकरो को नि शुल्क सिनेमा, खेलकूद, आमोद-प्रमोद, साप्ताहिक अवकाश के लिए रेलवे पास, तथा कारखानों के अन्दर नि शुल्क जलपान प्राप्त हो सकता है। पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यह सम्भव नही है क्योकि वहा तो सबमे बडा रुपया होता है। पूजीपति का ध्यान केवल अपनी थैली पर होता है।

समाजवादी राज्य सब प्रकार के उत्पादन में तत्काल वृद्धि कर सकता है। ऐसे लोग जो कुछ दिन पूर्व ही अपढ, अज्ञानी, पिछडे हुए, रूढिपरायण दीन किसान थे, वे समाज के अन्तर्गत क्या कर सकते है, इसका जीता-जागता उदाहरण रूसी पचवर्षीय योजना है। हमारे ही समान रूस भी छोटे-छोटे किसानो का एक देश था, जो सब अपढ थे। अब लगभग शत-प्रतिशत लोग पढे हुए हैं और उत्पादनो में रूस ने लगभग उन सब योरोपियन देशो को पछाड दिया है, जिन्होने लगभग एक शताब्दी पूर्व औद्योगिक दौड प्रारम्भ की थी। इसका कारण यह है कि समाजवादी राज्य म ही योजना बनाना वास्तव मे प्रभाव-युक्त हो सकता है। हमने देखा कि युद्ध के दिनो में बेकारी बिल्कुल नहीं थी तथा उत्पादन के आकडे इतने ऊचे हो गए कि जिनको देखकर कुछ वर्ष पूर्व हर व्यक्ति चकित हो जाता। इसका कारण यह था कि आर्थिक जीवन का प्रत्येक पहलू केन्द्रीय सरकारी नियन्त्रण में था। शान्तिकाल में भी समाजवादी राज्य ऐसा ही करता है, अर्थात् समाज के समस्त साधनो को अधिक से अधिक प्रभाव-युक्त ढग से व्यवस्थित करता है।

समाजवाद के प्रबन्ध से उत्पन्न खतरो को बढा-चढाकर वर्णित किया गया है।

कम्पनियो के प्रबन्ध मे भी, पूजीवादी पद्धति के अन्तर्गत "लालफीते" की बहुत प्रधानता होती है। समाजवादी राज्य भी लेन-देन तथा बैको के कार्य का ऐसा प्रबन्ध कर सकता है कि किसी प्रकार की असमता का नाम न रहे।

जहा तक कठिन परिश्रम का प्रश्न है, समाजवादी राज्य मे लगातार प्रचार द्वारा तथा शिक्षा द्वारा जनता की मनोवृत्ति को बदला जा सकता है तथा नई भावनाओ को जमा दिया जा सकता है। उत्पादन-विषयक अतिरिक्त लाभाश द्वारा श्रमिको को अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। गंदा तथा नीच सेवा-कार्य कौन करेगा ? समाजवादियो का कहना है कि अधिकतर तो वह मशीन से किया जायगा। मशीन का प्रयोग ऐसे कार्यों मे आजकल इसी कारण नही हो रहा है कि मनुष्य मशीनो से सस्ता है। पूजीवाद के अन्तर्गत ऐसे कार्यों को करने के लिए बहुत कम पैसा लेकर सहस्रो क्षुधा-पीडित लोग प्रस्तुत हो जाते है। क्योकि पू जीवाद ने जनता को इतना गिरा दिया है। परन्तु समाजवादी राज्य में, जिसमे राज्य लाभ की दृष्टि से कार्य नही करेगा, मनुष्य को समस्त गदे, खतरनाक तथा हीन कार्यों मे लगाया जाने से बचाया जाना सभव होगा।

समाजवाद हर एक को आर्थिक समानता भले ही न प्रदान कर सके, लेकिन यह समाजवादी राज्य की प्रबन्धकारिणी शक्ति की कमी के कारण नही वरन् मनुष्यो में जन्मजात असमानता के कारण ही होगा। प्रकृति सब को समान नही बनाती। प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न शक्ति तथा कार्य-सामर्थ्य है। राज्य इसके लिए क्या करे। विधान द्वारा इसे नही सभाला जा सकता। परन्तु समाजवादी राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और झुकाव जानकर शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा उसे समुन्नत किया जा सकता है, जिनमे हर एक नागरिक राज्य के कल्याण के लिए अपना सर्वश्रेष्ठ भाग प्रदान कर सके। निर्धनता के कारण वास्तविक योग्यता को दबने या नीचे नही गिरने दिया जायगा। समाजवादी राज्य में नीच से नीच परिवार में से प्रतिभाशाली व्यक्ति को निकाल कर उसे पूरी सुविधाए तथा अवसर दिये जा सकते है। अत यदि आर्थिक समानता की प्राप्ति सम्भव नही दिखलाई पडती, तो कम से कम अवसर की समानता का हर व्यक्ति को आश्वासन दिया जा सकता है और इतना हो जाना ही कोई छोटा काम न कहलाएगा। जनता को बहुत कुछ समान स्तर पर भी लाया जा सकता है।

अस्तु, समाजवाद का पलडा बहुत भारी जान पडता है।

१७. समाजवाद की प्रगति (Progress of Socialism)—पीगू ने कहा था, "यदि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियो को जैसी कुछ वे अपने देश मे आज कल है, हम पू जीवाद का प्रतिनिधि मान लें, तथा समाजवाद को अस्पष्ट रूप में छोड दें, तो पू जीवाद का पलडा ऊँचा उठकर समाजवाद के बराबर आने लगेगा, क्योकि ऐसा करते समय हम वास्तव मे पू जीवाद की नग्न मूर्ति को, जिसके समस्त दोष स्पष्ट है, समाजवाद की ऐसी मूर्ति के सामने रखेंगे जिसपर पर्दा पडा हुआ है।"[1] अब समाजवाद की मूर्ति परदे के अन्दर नही है। एक समय था जब समाजवाद प्लेटो की 'रिपब्लिक'

---

1 Pigou Capitalism and Socialism

अथवा मूर की 'यूटोपिया' सरीखी पुस्तको मे ही पाया जाता था अथवा रावर्ट ओवन सरीखे आदर्शवादी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते थे। छोटी-छोटी साम्यवादी जातिया, जैसे एकता समाज (हारमनी), भ्रातृभाव समाज (ओनेडिया) आदि स्थापित हुई, परन्तु सस्थापको को बुरी तरह निराश होना पडा। यह तो केवल प्रतियोगितापूर्ण विस्तृत पूजीवादी मरुस्थल मे समाजवादी भाई-चारे के जल स्थानो के समान थे। इनका अस्तित्व इन पूजीवादी राज्यो के अन्तर्गत था, जिनके हाथ मे न्याय तथा व्यवस्था थी। आधुनिक समाजवादी पूरे देश को समाजवाद से ओत-प्रोत चाहता है, समाजवाद के बिखरे हुए टुकडे नही।

समाजवाद अब काल्पनिक अपरिपक्व अवस्था से निकल आया है। यह अब आर्थिक-सिद्धात-मात्र नहीं रह गया है वरन् वास्तविक राजनीति में खडा हो गया है। सन् १८४८ के कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र ने समस्त ससार के मजदूरो से एक होने की पुकार करके सनसनी फैला दी। यह क्राति की पुकार थी और उसमें कहा गया था कि मजदूरो के बन्धन टूटने के अतिरिक्त उनका और कुछ नही बिगडता है तथा समस्त ससार विजय किये जाने के लिये सामने है।

तब से समाजवाद के अनुयायी ससार में बढते जा रहे हैं। जर्मनी से भाग कर यहूदियो ने साइप्रस में समाजवादी आधार पर कई समाज स्थापित किये। लेकिन हाल ही में समाजवाद का फैलाव देखने योग्य हुआ है। सन् १९१९ में जर्मन चुनावो में समाजवादियो को लगभग पचास प्रतिशत वोट मिले। सन् १९२४ में एक-तिहाई ब्रिटिश जनता ने मजदूर दल को वोट दिया, १९३५ मे यह सख्या चालीस प्रतिशत हो गई तथा १९४५ मे मजदूर दल को ठोस बहुमत से चुन लिया गया। फ्रास में १९३६ मे एक-तिहाई से अधिक सहायक अधिकारी समाजवादी विचारो के थे। स्पेन में समाजवादी सरकार थी जिसको जनरल फ्रैंको ने हिटलर और मुसोलिनी से अनुचित गठ बन्धन करके उलट दिया। रूसी अस्त्र-शस्त्रो ने पिछले महायुद्ध में जो शानदार सफलता पाई तथा हिटलर के प्रवाह को ऐसा पलटा जैसा कि अन्य कोई राष्ट्र न कर सका तथा इस प्रकार समस्त ससार की सराहना का भागी बना। स्वाभाविक फल यह हुआ है कि लगभग सब योरोपीय देश लाल हो रहे हैं। इटली, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, फ्रास, आस्ट्रिया और पोलैंड सब समाजवाद की ओर झुक रहे है।

पूर्व मे कम्युनिस्टो ने पृथ्वी के एक अच्छे खासे भाग, चीन को हस्तगत कर लिया है। चीन की कम्युनिस्ट जीत मानव-इतिहास की सबसे प्रभाव-युक्त घटना सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में समाजवाद का मन्त्र जपा जा रहा है।

भारतीय मस्तिष्क, युवक-हृदय तथा प० जवाहरलाल नेहरू सरीखे नेता किसी न किसी रूप मे समाजवाद पर विश्वास करते है। इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने देश में समाजवादी राज्य स्थापित करने का व्रत लिया है। भय का कोई विषय नही है। आन्दोलन को आतकपूर्ण क्रान्ति का रूप ग्रहण कराना अनावश्यक है। परिवर्तन शान्ति मार्ग द्वारा धीरे-धीरे किया जा सकता है। समस्त समाजवादी क्रान्तिकारी परिवर्तन मे विश्वास करने वाले नही है। बहुत अरसे से सब स्थानो के विचारशील लोग उत्पादन के प्रधान साधनो

के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में रहे हैं। समस्त एकाधिकारों का बिना क्षोभ या विरोध उत्पन्न किये राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है। जब कोई उद्योग पटरी पर चलने लगता है तथा उसकी कार्यशैली बंध जाती है, तब निजी उद्यम का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में उस उद्योग को सरकार द्वारा ले लिया जाना चाहिये, जिसमें लाभ आम जनता के लिये सुरक्षित किया जा सके। व्यक्तिगत उद्यम के लिये नये उद्योगों में ही क्षेत्र रह जाता है, क्योंकि उनमें साहसिक कदम उठाने की आवश्यकता होती है।

समाजवाद के लिए उत्साह उत्पन्न करने का श्रेय रूस को है। यदि हम रूसी प्रयोग के विषय में कुछ तथ्यों को सकलित करें तो ऐसा करना अवसर के अनुकूल होगा।

१८ रूस का प्रयोग (The Russian Experiment)—बोल्शेविक नेता लेनिन के नेतृत्व में रूसी मजदूर वर्ग ने किसानों की सहायता से ७ नवम्बर, १९१७ को प्रौलीतेरियत समाजवादी क्रान्ति को पूरा किया। इसके फलस्वरूप एक नये राज्य का निर्माण हुआ जिसमें मजदूर वर्ग को सशक्त राजनैतिक शक्ति प्राप्त हुई। क्रान्ति के नेताओं को मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली थी जिससे उन्होंने क्रांति कार्यक्रम आरम्भ किया। मूल उद्योगों तथा भूमि का राष्ट्रीयकरण बिना मुआवजा दिये किया गया। ऐसा करने का विचार इसलिए उत्पन्न हुआ कि समस्त निजी उद्योग तथा व्यापार को धीरे-धीरे सार्वजनिक स्वामित्व में बदल दिया जाय, तथा खेती को समाजवादी आधार पर पुनर्गठित किया जाय। किन्तु १९१८-२० का गृह-युद्ध, कई विदेश शक्तियों के हस्तक्षेप के कारण तथा घरेलू प्रति-क्रान्तीय तत्वों के कारण, समाजवादी समाज का ढांचा बनाने में असफल रहा। गृह-युद्ध के कारण उत्पन्न हुई शोचनीय दशा को ऐसे ही उपायों द्वारा सुधारा जा सकता था। इन उपायों को "युद्ध साम्यवाद"[1] का नाम दिया जाता है। इसके मुख्य उद्देश्य यह थे (क) उत्पादन का केन्द्रीकरण तथा मूल उत्पादन और सेवाओं का वितरण और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बीच के तथा लघु-स्तर के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना, साथ ही किसानों से कृषि उत्पादित अधिक माल लेकर उसका राष्ट्रीयकरण करना, (ख) मजदूरी को माल के रूप में देना चूंकि उस समय द्रव्य का मूल्य मुद्रा-स्फीति के कारण बिल्कुल खत्म हो गया था, तथा (ग) युद्ध की-सी स्थिति का मुकाबला करने के लिए श्रम-सेवा को व्यापक रूप देना।

गृह-युद्ध के समाप्त होने से यह सम्भव हो सका कि अधिकाधिक सामान्य उपाय काम में लाए जाय। इनकी जरूरत इसलिए नहीं पड़ी कि अर्थ-व्यवस्था को फिर से ठीक किया जाय जो कि युद्ध के कारण खत्म हो गई थी, इसलिए १९२१ में नयी आर्थिक नीति शुरू की गई। इस नीति की मुख्य बात यह है कि राज्य के अन्तर्गत अर्थ-सम्बन्धी सभी जरूरी बातें आती थीं, किन्तु एक सीमित मात्रा में निजी उद्योग को भी स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। खेती द्वारा तैयार अधिक माल को सरकारी कब्जे में लेने के बजाय एक प्रकार का टैक्स लगाया गया जो माल के रूप में था, जिनमें किसानों को अधिक

1 "War Communism"

पैदा करने की प्रेरणा मिले। कुछ निजी उद्योगो तथा व्यापार को खुला छोड दिया गया जिससे औद्योगिक उत्पादन तथा वस्तुओ का आदान-प्रदान बना रहे। इसके बाद मजदूरी द्रव्य में दी जाने लगी है।

बोल्शेविस्ट युग के प्रारम्भिक काल में ३ वर्ष तक चलने वाले गृह-युद्ध के कारण दीनता तथा दुख का राज्य था। उत्पादन युद्ध के पूर्वकाल के आकडो का अंश मात्र रह गया था, तथा रहन-सहन का स्तर बहुत कुछ गिर गया था। परन्तु पुनर्वास का कार्य जारी रहा तथा सन् १९२७ में युद्ध-काल के पूर्व की स्थिति को प्राप्त कर लिया गया। १९२८ में पचवर्षीय योजना के प्रथम भाग का श्रीगणेश हुआ, जिसमे कृषि-विषयक तथा बडे उद्योगो के उत्पादन की लक्षित सीमा निर्धारित की गई थी। एकत्रीकरण की नीति पूरे जोर से काम में लाई गई। बडे-बडे फार्म बनाए गए, ऋण तथा मशीनें दी गईं। कृषि के उत्पादन मे बाढ-सी आ गई। सन् १९३३-३४ में एकत्रीकरण की चाल धीमी कर दी गई तथा व्यक्तिगत लाभ को कुछ सीमा तक स्थान दिया गया। स्टालिन ने बडी वास्तविकतायुक्त नीति ग्रहण की। उसने उस मानव-मनोविज्ञान का पूर्ण-रूपेण लाभ उठाया जो शक्ति, प्रभाव, यश, और प्रतिफल चाहता है। औद्योगिक नेताओ को सम्मान-सूचक पदक प्रदान किये गये। अधिक कार्य-कुशलता के लिए लाभांश तथा पारितोषिक दिए गए। प्रतिस्पर्द्धा की भावना को विभिन्न औद्योगिक समूहो के बीच फैला दिया गया तथा समस्त वातावरण को खिलाडियो के ऐसे खेल के समान कर दिया गया जिसमें दोनो पक्ष सम्मान के लिए परिश्रम करते हैं। उत्पादन की गति बढी तथा योजना बनाने वाले आयोग के निर्देशानुसार लक्ष्य प्राप्त किया गया। जब वे अर्ध-सभ्य अपढ किसान, जिन्होंने कभी सामूहिक कार्य करना नही जाना था, नई प्रणालियो में काम पर लगाए गए, तब सभ्य संसार ने रूस को तिरछी निगाहों से देखा परन्तु जब प्रथम योजना ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ली, तब संसार चकित रह गया। ट्रैक्टर, मशीन बनाने के कल-पुर्जे, मोटरें तथा अन्य भारी मशीनें कारखानो से तांता बांध कर निकलने लगीं।

दूसरी योजना में उपभोग्य माल के उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। १९३८ मे जिसके अन्तर्गत १९३८-४२ का समय जाता है, तीसरी पचवर्षीय योजना शुरू की गई। १९४० मे सोवियत संघ एक औद्योगिक देश बन चुका था। कच्चे लोहे की पैदावार १५० लाख टन, इस्पात १८३ लाख टन, कोयला १६६० लाख टन, तेल ३१० लाख टन, तथा बिजली ४८० करोड किलोवाट। सन् १९२८ मे यह आकडे इस प्रकार थे —कच्चा लोहा ३३ लाख टन, इस्पात ४३ लाख टन, कोयला ३५५ लाख टन, तेल ११७ लाख टन तथा बिजली ५० करोड किलोवाट। इसके बाद नाजी हमले के कारण आर्थिक विकास में बाधा पडी जिससे सोवियत अर्थ-व्यवस्था फिर से बिगड गई। सोवियत यूनियन में युद्ध-पूर्व की स्थिति का स्तर १९४८ मे प्राप्त हुआ। इस तरह युद्ध-काल में आठ वर्ष तक बाधा पडती रही। किन्तु तब से यह उन्नति बहुत अधिक हुई है। १९५० में चौथी पचवर्षीय-योजना तथा १९५५ मे पांचवी पचवर्षीय योजना बनाई गई। १९५५-५६ में छठी पचवर्षीय योजना शुरू की गई है।

इसके अन्तर्गत काफी वडे लक्ष्य रखें गए हैं। १९६० मे सोवियत यूनियन मे कच्चा लोहा ५३० लाख टन, इस्पात ६८३ लाख टन, कोयला ५९३० लाख टन, तेल १३५० लाख टन तथा विजली ३२०० करोड किलोवाट होगी। इसके अलावा ५५० लाख टन सीमेंट और १८०० लाख टन अनाज उत्पन्न होगा। यह पैदावार आज के ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी तथा फ्रांस की कुल पैदावार से वहुत ज्यादा है। अमरीकी पैदावार की तुलना में यह कम है किन्तु सोवियत यूनियन को इस वात का पूरा भरोसा है कि वे इस सीमा को पार कर जायेंगे और जहा तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है वह ससार में पहले दर्जे का देश होगा। इस विश्वास की झलक सोवियत यूनियन की छठी योजना में दिखाई देती है जिसके पास सारा जरूरी सामान मौजूद है। यह योजना थोडे अरसे में पूरी होगी तथा स्थिति शातिपूर्ण आर्थिक प्रतियोगिता की रहेगी। इसका मुख्य आर्थिक सिद्धात है, पूजीवादी देशो की सर्वाधिक प्रति व्यक्ति उत्पादन की सीमा को लाघना।

१६. समाजवादी राज्य मे आर्थिक समस्याए (Economic Problems in a Socialist State)—रूस ने अपनी विभिन्न आर्थिक समस्याओ का कैसे सामना किया, यह जानना रुचिकर होगा।

निजी सम्पत्ति (Private Property)—मकान, मोटर, कुछ जानवर तथा अन्य उपभोग सामग्री के रूप में निजी सम्पत्ति रखना कानून के खिलाफ नही है। सरकारी वॉड तथा प्रतिभूतिया खरीदी भी जा सकती है तथा वैक में हिसाव रखा जा सकता है। पचास सहस्र रूवल तक की सम्पत्ति उत्तराधिकार में दी जा सकती है, परन्तु विना कमाई की आय पर निर्भर रहना वहुत हतोत्साहित किया जाता है और ऐसी आय पर भारी कर लगाया जाता है।

मूल्याकन प्रणाली (Pricing System)—स्वतन्त्र व्यक्तिगत पद्धति में मूल्यांकन प्रणाली द्वारा प्रमुख आर्थिक समस्याए अपने आप हल हो जाती है। कुछ अर्थ-वेत्ताओ, विशेपतया श्रीमती हेयक तथा रॉविन्स का कथन है कि समाजवादी पद्धति के अन्तर्गत विचारयुक्त हिसाव-किताव रखना असम्भव है तथा अधेरे मे टटोलना पडता है। परन्तु पीगू सरीखे अन्य अर्थ-वेत्ता कहते है कि ऐसा हिसाव-किताव रखने में कोई कठिनाई नही होती। डिकेन्सन का भी कथन है कि मूल्याकन तथा विक्रय-विपयक पूजीवादी यन्त्र का समाजवाद में प्रयोग किया जा सकता है। रूसियो ने उत्पादित माल के मूल्य निर्धारित किये है। कच्चे माल, मजदूरी, आवागमन तथा अन्य लागत मे कुछ थोडा-सा लाभ जोड दिया जाता है। इसमें कुछ स्वेच्छाचारिता अवश्य है। मूल्यो मे उपभोक्ताओ की माग का कोई पता नही लगता, फिर भी किसी वस्तु की विशेप कमी पर ध्यान रखा जाता है।

श्रम की पूर्ति तथा मजदूरी (Supply of Labour and Wages)—अव वहा धधो को छाटने की स्वतन्त्रता है। कभी-कभी श्रमिको को अनिवार्य रूप से भरती होना पड़ा। परन्तु अव टेक्नीकल शिक्षा की वहुत सुविधाये है। शिक्षा का व्यय सरकार इस शर्त पर सहन करने को तैयार है कि शिक्षा के पश्चात् निश्चित अवधि तक

(शर्त के अनुसार) वे सरकारी कारखानो में काम करे। कार्य का प्रतिफल (मजदूरी) द्रव्य या रुपये के रूप मे दिया जाता है और योग्यता, कार्यपटुता तथा काम के आधार पर मजदूरी मे अन्तर होता है। कार्य में कितना श्रम और कितना समय लगता है (motion study and time study आदि की जाच करके), इसका पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन करने के पश्चात् मजदूरी का प्रमाप निर्धारित किया जाता है। जिन श्रमिको को कम समय लगता है, उन्हें कार्यपटुता के आधार पर अतिरिक्त पारिश्रमिक दिया जाता है। यदि किसी विशेष कोटि के श्रम की कमी है, तो ऊचे वेतन का प्रलोभन देना पड़ता है, जिससे अच्छा और सही श्रम प्राप्त हो सके। कामकरो को निश्चित कार्य सौपा जाता है। श्रमिको को सरकारी कर्मचारियो के समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। सरकार माग के अनुसार पूर्ति का प्रबन्ध करने की व्यवस्था करती है।

वित्त (Finance)—रूसियो ने विदेशी ऋणो को खत्म कर दिया था। अत. विदेशी ऋण मिलने की तो आशा ही नहीं थी। रुपया बनाना पडा। नोट बडी सख्या मे निकाले गये। मुद्रा-स्फीति तथा उसके समस्त परिणाम झेलने पडे—बढे-चढे मूल्य और बडा महगा जीवन-निर्वाह। जनता से भी ऋण लिया गया। तत्पश्चात् उद्योगो से आय होने लगी और योजना के आगे बढाने में वित्त प्राप्ति होने लगी।

लगान (Rent)—समाजवादी राज्य में भी लगान के विचार को हटाया नही जा सकता। पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था को समाजवादी रूप देने से सीमित भूमि, असीमित नही बन जायगी। उत्पादन-शक्ति के सूचक के रूप मे लगान भूमि को विभिन्न प्रयोगो में वितरण करने मे सहायक होगा। समाजवादी राज्य को भी भूमि को एक उपयोग से हटाकर दूसरे उपयोग में लगाना होगा जिससे उसकी सीमान्त उत्पादन-शक्ति सब उपयोगो मे समान हो जाय। लगान द्वारा सीमात उत्पादन-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसा कि सेम्युलसन का कथन है "जमीन की कीमत अथवा लगान इसलिए बढता है कि सर्वोत्तम उपयोग मे इसकी पूर्ति बट सके।"[1] समाजवादी राज्य मे भी भूमि को एक काम से हटा कर दूसरे में लगाना होगा, जिससे सब उद्योगो मे इसका सीमात उत्पादन समान रहे। मूल्यवान मानवीय अथवा अमानवीय स्रोतो के उचित बटन सुनिश्चित करने का यही मार्ग है।

ब्याज (Interest)—ब्याज को समाप्त नही किया गया है। राजकीय ऋण पर ब्याज मिलता है। इससे यह प्रकट होता है कि पूजी की माग और पूजी की प्राप्ति का सन्तुलन पर लाने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्तिगत खातो पर बैंक भी ब्याज देता है। निजी पूजी के समाप्त हो जाने के कारण पूजीपतियो को प्रयोगहीन धन के जमा रखने के ब्याज के रूप मे प्रतिफल नहीं मिल पाता। राज्य ऋण लेता है, ब्याज देता है, और उद्योगो का लाभ स्वय रख लेता है।

समाजवादी व्यवस्था में ब्याज का क्या कार्य होता है? जैसा कि हम जानते हैं,

---

1　Economics, 1948, p 598

पूजीवादी व्यवस्था मे व्याज निम्नलिखित कार्य करता है। (१) वाट तथा आस्तियो आदि से यह लोगो की आय निर्धारित करता है। (२) लोगो को पूजी प्रदान करने के लिए प्रोत्साहन देने मे यह आवश्यक है। (३) यह भावी और वर्तमान आर्थिक मूल्यो को समन्वित करता है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रथम दो वातो का कोई स्थान नही होता। इसका कारण यह है कि पूजी निजी सम्पत्ति नही होती। लेकिन व्यवस्था के प्रत्येक रूप में व्याज को तीसरा कार्य तो करना ही होगा। पूजी सीमित होती है लेकिन इसके प्रयोग के स्थान असीमित है। व्याज की दर यह निर्धारित करती है कि पूजी किन दिशाओ में प्रयोग की जाय। निस्सन्देह वे व्यवसाय जहा १२ प्रतिशत व्याज मिलने की सम्भावना है, उन व्यवसायो से अधिक आकर्षक होगे जहा केवल १० प्रतिशत आय की सभावना है "दुर्लभ पूजी पूर्ति के वटन के लिए व्याज का उपयोग होना चाहिए तथा इस वात के लिए जिससे वैकल्पिक प्रोजेक्ट्स को प्राथमिक रूप में रखा जा सके।"

मजदूरी (Wages)—अन्य उत्पादन-साधनो के विपरीत, श्रम के सम्वन्ध में लेखा-कीमत की पद्धति उपयुक्त न होगी क्योकि श्रम की मात्रा वधी नही हुई है। लोग कार्यों को अपनी पसन्द के हिसाव से चुन सकते है और यह भी तय कर सकते है कि अधिक काम करें या कम। इसलिये यह आवश्यक है कि वास्तविक वाजार-मजदूरी की दरें निश्चित की जाये। ये दरे विभिन्न वातो पर निर्भर होगी, जैसे काम की पसन्दगी, सहायक धधो के मिलने के अवसर, श्रमिको की उत्पादन शक्ति आदि। सीमान्त उत्पादन से मजदूरी निर्धारित होगी। अस्तु, समाजवादी राज्य में कोई एक वधी हुई मजदूरी की दर नही होगी।

उत्पादन के साधनों की वाट (Allocation of Factors of Production)—राज्य की योजना वनाने वाला अधिकारी किसी उद्योग से सम्वन्धित उन साधनो को आकता है, जो उस उद्योग के अधिकतम उत्पादन के सम्वन्ध मे आवश्यक होते है। पहले यह निश्चित कर लिया जाता है कि कौन-से उद्योगो को विकसित करना है और किस सीमा तक। उक्त साधनो को उपभोक्ताओ की पसन्द के आधार पर नही, वरन् राज्य के अधिकारियो के निश्चयानुसार प्रवाहित किया जाता है। उदाहरणार्थ, उन्होने पहले भारी उद्योगो की ओर साधनो को केन्द्रित किया। फलस्वरूप, उपभोग सामग्री का मूल्य अपने आप वहुत वढ गया। पूजीपद्धति के अन्तर्गत इस कमी को दूर करने के लिए उत्पादक दौड पडेगे। परन्तु समाजवादी राज्य मे प्रवाह इस प्रकार नही वदला जाता। कमी वनी रहेगी। राशनिग और मूल्य नियन्त्रण जारी किया जायगा। रूस में राज्य-प्रणाली द्वारा सामान्य मूल्य-प्रणाली को, जो उपभोक्ताओ के मूल्याकन के आधार पर साधनो का वितरण करती है, निष्क्रिय कर दिया जाता है। अतः साधनो की वाट, उपभोक्ताओ के मूल्याकन के आधार पर अवलम्वित रहती है। राष्ट्र के जीवन मे अमुक अवधि के लिए सव से उपयोगी क्या है, इसका निर्णय राज्य करता है। उपभोक्ताओ को अपनी माग राजकीय परिस्थितियो तथा उत्पादन के अनुसार व्यवस्थित करनी पडती है।

अध्याय ५०

नियोजन-सिद्धान्त

(THEORY OF EMPLOYMENT)

१ कुल पैदावार और नियोजन (Aggregate Output and Employment)—पिछले अध्यायो में हमने मुख्यत उत्पादक साधनो की कीमत निश्चित करने वाले सिद्धातो तथा उनके विभिन्न उपयोगो के वितरण का अध्ययन किया है। मूल्य और नियोजन का सिद्धात मुख्यत इन सिद्धातो के साथ सम्बन्धित है। यद्यपि कीमतो का काफी महत्त्व है किन्तु अर्थव्यवस्था में कार्यवाही की मात्रा (तथा नियोजन) का भी वडा महत्त्व है। जिन साधनो पर नियोजन आधारित है उन पर विचार करना वहुत आवश्यक है । अव हम एक नवीन एव अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। अव हमारा ध्यान अर्थ-व्यवस्था के खडित भागो से सपूर्ण रूप की अर्थ-व्यवस्था की ओर जाता है। अब हम वस्तुओ और सेवाओ को उत्पन्न करने वाले उत्पादक साधनो के कुल नियोजन का अध्ययन करेंगे। जिस समस्या की हमें जाच करनी है, वह यह है कुल उत्पत्ति और नियोजन के स्तर का, और एक से दूसरे वर्ष के इस स्तर में घटा-वढी का कैसे निश्चय होता है ? इस प्रकार प्रस्तुत समस्या के दो रूप हैं—(१) कुल पैदावार और नियोजन का निश्चय, (२) व्यापार और उद्योग मे परिवर्तनो के कारण इस स्तर में घटा-वढी। द्वितीय रूप औद्योगिक उतार-चढाव के उस सिद्धात का द्योतक है, जो साधारणतया व्यापार-चक्र कहलाता है। (इसका अध्ययन पहले किया जा चुका है।)

२ से का वाजार-सम्वन्धी नियम (Say's Law of Markets)—निम्सन्देह, कुल पैदावार और नियोजन की इस समस्या पर प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने भी ध्यान दिया था । अनेको की इस अशुद्ध धारणा के विपरीत, नियोजन के प्राचीन सिद्धान का अस्तित्व है। इस सिद्धात का न्यूनाधिक स्पष्ट शब्दो में प्रसार करने वाला सर्वप्रथम अर्थशास्त्री जीन वैप्टिस्ट से था। से भौतिकवादी मत (Physiocratic School) का फ्रासीसी अर्थशास्त्री एव एडम स्मिथ का प्रवल अनुयायी था। से ने यह प्रमाणित करने की चेप्टा की कि समस्त रूप में अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन-आधिक्य हो ही नहीं सकता। पूर्ति स्वत अपनी माग उत्पन्न करती है और फलत किसी समुदाय के अन्तर्गत वस्तुओ और सेवाओ का कुल वहाव, वशर्ते कि वह आवश्यक है, शीघ्र अथवा देरी में अपने उपभोक्ताओ को पा लेगा। यदि माग और पूर्ति में असमता जान पडेगी तो वह उस समय तक अन्यायी होगी जव तक निजी निर्माता अथवा राज्य द्वारा एकाधिकारी नियत्रण नहीं किया जाता। यह मान कर कि विभिन्न वाजारो में हस्तगत अशो के स्वतन्त्र समन्वय के लिए पर्याप्त क्षेत्र और समय है, और जो लोग उन्हें हस्तगत

करते है, उनमें न्यूनाधिक पूर्ण दूरदर्शिता है, वाजार का उत्पादन-आधिक्य किन्ही अन्य वाजारो के न्यून-उत्पादन द्वारा प्रति-सतुलित हो जायगा। इस प्रकार, सभी वाजारो मे एक ही समय पर उत्पादन-आधिक्य नही हो सकता। इसी प्रकार, सम्मिलित रूप मे सभी वाजारो मे न्यून उपभोग नही हो सकता। से और उसके अनुयायियो ने उन उपायो द्वारा वेकारी की व्याख्या करनी चाही कि जिन्हें वे निर्माण अथवा सघर्ष-सम्वन्धी वाधाए कहते थे। ऐसी एक वाधा उच्च मजदूरी के प्रत्युत्तर में श्रमिको के एक काम से दूसरे काम में अथवा एक से दूसरे स्थान में जाने की अनिच्छा थी। एक अन्य वाधा निर्माताओ की इस अनिच्छा के कारण थी कि वे अपने निजी उद्योग से वाहर के लाभ-सीमातो का उपयोग करने को तैयार नही थे। तिस पर भी एक अन्य, वस्तुओ की पूर्त्ति पर एकाधिकारियो के नियत्रण की थी। प्राचीन अर्थशास्त्री इन सव वाधाओ को अनुचित मानते थे। जव तक इन सव का अत नही होगा, अनियोजन या वेकारी का उपचार नही हो सकता। इस वात का समर्थन किया जाता था कि राज्य को चाहिए कि वह अपनी पूरी शक्ति के साथ इन्हें नष्ट करे जिससे कि अर्थ-व्यवस्था में स्वतत्र और पूर्ण प्रतियोगिता हो सके।

प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने वेकारी पर विजय पाने के लिए यह विशिष्ट उपचार निर्धारित किया था कि श्रमिको को उस मजदूरी की कटौती स्वीकार कर लेनी चाहिए जव उनके समक्ष गिरती कीमतो तथा अल्प वृत्तियो की समस्या उपस्थित हो। चूकि मन्दी में कीमतें सामान्य स्तर से भी नीचे गिर जाती है, इसलिए मजदूरी की कटौती, वशर्ते कि वह कीमतो की न्यूनता के समान नही है, श्रमिको को आघात नही पहुचा सकती। उनकी वास्तविक मजदूरी उस समय तक न्यून नही होगी जव तक कीमते प्रवलता के साथ न्यून नही होती। कहने का तात्पर्य यह कि वस्तुओ और सेवाओ की टोकरी, जिसमे वह सव-कुछ है जिसका वे सामान्यतया उपभोग करते है—उनके जीवन-यापन के स्तर का ठोस चिह्न—उनकी मजदूरी में कटौती के वावजूद भी छोटी नही होगी। प्राचीन अर्थशास्त्रियो का मत है कि मदी के काल मे भी यदि श्रमिक सघ कम मजदूरी को स्वीकार करने से इन्कार करते है तो वे मूर्ख है, और इसके फलरूप मदी का पूर्ण उपचार नही किया जा सकेगा। इस सम्वन्ध में हम आगे अधिक अध्ययन करेंगे।

३ से के नियम की कमजोरिया (Weaknesses of Say's Law)—यहा तक कि से के जीवन-काल मे भी उसके वाजार-सम्वन्धी नियम की कड़ी आलोचना हुई थी। यद्यपि नियोजन के प्रभुत्वकारी सिद्धान्त के रूप में समूची उन्नीसवी सदी और प्रस्तुत सदी की लगभग तीन दशाव्दियों में इस नियम का प्रभाव रहा तथापि यह आलोचना भी निरन्तर वनी रही। सर्वाधिक प्राचीन आलोचक टी आर मालथस था, जो जनसख्या के सिद्धान्त का प्रणेता है। मालथस का मत था कि सम्पूर्ण माग और सम्पूर्ण पूर्त्ति, अर्थात् परिवद्ध अर्थ-व्यवस्था (closed economy) में कुल उत्पादन और कुल उपभोग के वीच किसी प्रकार की अनिवार्य दीर्घकालिक समता नही है। यह न केवल सम्भव है प्रत्युत वहुधा सम्भव भी है कि दोनो असमान रहें, जिसके कारण वस्तुओ

और सेवाओ की बार-बार बहुलता और दुर्लभता हो। इस बात के बावजूद भी प्रख्यात प्राचीन अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने से के नियम का पक्ष लिया, पर माल्थस अपनी धारणा के प्रति दृढ रहा। से का एक अन्य आलोचक कार्लमार्क्स था। उसने भी इस बात को अस्वीकार किया कि सामाजिक माग और पूर्ति के बीच सदैव और अनिवार्यतः समता होनी ही चाहिये।

इतने समय के अन्तर मे हम से के नियम के पूर्ण अर्थों को भली प्रकार ग्रहण कर सकते है। यदि माग और पूर्ति के स्वतन्त्र और पूर्ण समन्वय पर किसी प्रकार के अवरोध नहीं, यदि विनियोजन के चरण सदा नयी वस्तुओ और सेवाओ की माग के समान रहते है, यदि लोग स्वेच्छापूर्वक बचत का नित नया विनियोजन करते है, केवल तभी से का नियम स्थिर रहेगा और सामान्य उत्पादन-आधिक्य असभव बन जायगा। किन्तु वास्तविक जगत् में इन निरोधात्मक धारणाओ की उपलब्धि नितात कोरी और अवास्तविक है। इस प्रकार सैद्धान्तिक आधारो पर सामान्य उत्पादन-आधिक्य असभव है, और फलस्वरूप अनियोजन भी। से के अनुसार अर्थ-व्यवस्था का एक ऐसा चित्र था, जिसमें वस्तुओ और सेवाओ की प्रभावकारी माग सदा एक स्तर पर रहती है, जहा काम की खोज करने वालो को काम मिल सकता है और जहा अनियोजन, जो स्वेच्छया नही है, विद्यमान नही। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था की दशा को पूर्ण नियोजन कहा जाता है। ज्यो-ज्यो हम आगे अध्ययन करेंगे, इसके अर्थ स्पष्ट होते जायेंगे।

४ नियोजन का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of Employment)—समूची उन्नीसवी सदी में अनेको तेजी मदी हुई और प्रस्तुत सदी के प्रारम्भिक भाग तक ये बनी भी रही, किन्तु सन् तीस की महान् मदी इन सबमें महान् थी। इस प्रकार की तेजी मदी का बारम्बार होना बेरोजगार के प्राचीन सिद्धान्त के लिए गभीर चुनौती थी, और तिस पर यह तेजी मदी ऐसी थी कि प्राचीन सिद्धान्त उनका समुचित स्पष्टीकरण भी नही कर सका। क्योकि प्राचीन सिद्धान्त ऐसी दुनिया पर लागू होता था, जहा स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता हो, जहा किसी प्रकार के सघर्ष न हो, जिसमे श्रमिक सदा विवेकपूर्ण आचरण करते हो और जिसमे दीर्घकालिक प्रवृत्तियो में सदा सफलता प्राप्त होती हो।

किन्तु अब १९३० की महान् मदी के कारण सब अर्थशास्त्रियो को प्रारम्भिक मूल-तत्त्वों से लेकर नियोजन-सिद्धान्त पर विचार करना पडा। और फलस्वरूप एक नवीन सिद्धा त का जन्म हुआ जो प्राचीन की अपेक्षा पूर्णतया भिन्न था। इसका सर्वप्रथम निर्माण जान मेनार्ड कीन्स ने किया था जो असदिग्ध रूप मे आधुनिककाल के महान् अर्थशास्त्री है। १९३६ में उनका "General Theory of Employment, Interest and Money" (नियोजन, ब्याज और द्रव्य का सामान्य सिद्धात) नामक विख्यात ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कीन्स ने क्रान्तिकारी उग्रता के साथ अपने विचारो को उपस्थित करने की चेष्टा की और ऐसा करते हुए उन्होने, अपने मतानुसार नवीन का निर्माण करने से पूर्व जो कुछ भी पुराना था, उस सारे को नष्ट करने की चेष्टा की। इससे उन लोगो की ओर से अनावश्यक विरोध उत्पन्न हुआ जो प्राचीन

विचारो पर स्थिर थे। फलस्वरूप प्राचीन और कीन्सवादी विचारधाराओ मे बडा भारी विवाद उत्पन्न हो गया, और अभी हाल ही मे इसकी इति हुई है। अब तो इसका बहुत बडा अश अर्थहीन भी हो गया है और हम समझते हैं कि उससे हमारा कोई सम्बन्ध भी नही। इससे आगे हम आय-पैदावार और नियोजन के स्वीकृत मूल तत्त्वो को उपस्थित करने की चेष्टा करेंगे।

५ सामाजिक आय और पैदावार (Social Income and Output)—किसी अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण दृष्टिकोण को जानने के लिए कुछ आधारमूलक धारणाओ के साथ आगे बढना आवश्यक है। सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय या उत्पादन है, जो सामाजिक आय जैसी ही वस्तु है। यह वस्तुओ और सेवाओ के बहाव का द्रव्य-सम्बन्धी मूल्य है, जो अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत समय की एक इकाई, जैसे कि एक वर्ष में, उत्पन्न किया जाता है। इस तरह नापी गई वार्षिक राष्ट्रीय आय सकल रूप में मानी जा सकती है, अर्थात् मूल्य ह्रास और नकारा करने (depreciation and obsolescence) यानी टैक्नीकल ज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप पूजीगत यन्त्रो की घिसाई और टूट-फूट के लिए किसी प्रकार की छूट दिये बिना। यह कुल राष्ट्रीय आय है। कोई राष्ट्रीय आय के विषय में मूल्य ह्रास और घिसाई के लिए छूट देकर उसके विशुद्ध रूप पर भी विचार कर सकता है। तब यह विशुद्ध राष्ट्रीय आय होगी। विशुद्ध राष्ट्रीय आय में निम्न दो मुख्य साधन सहायक हैं प्रथम, निजी आय, और दूसरी सरकारी आय। प्रथम सहायक व्यक्तिगत, और द्वितीय सम्मिलित आय द्वारा निर्मित होता है। इसके विपरीत, सरकारी आय स्थानीय प्रान्तीय (एकात्मक) और केन्द्रीय अधिकारियो की आय के मेल से बनती है। यह विशुद्ध राष्ट्रीय आय सदा विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन के बराबर होती है जो विशुद्ध राष्ट्रीय व्यय के भी बराबर होती है, क्योकि एक अवधि मे उपार्जित सारी आय खर्च की गई आय के समान होती है। विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन सदा उपभोग वस्तुओ, वस्तुओ के विनियोग और खण्ड लागत पर अकित मूल्य की सब प्रकार की सेवाओ के कुलयोग से बनता है। अब यह पैदावार सदैव उत्पादन के साधन को किये गये भुगतान के बराबर होगी। इसमें लाभ पारितोषिक-मात्र ही होगा। इससे परिणाम यह निकला कि राष्ट्रीय व्यय राष्ट्रीय उत्पादन के मूल्य के बराबर हो जाता है। राष्ट्रीय आय का व्यय करने के दो मार्ग है। एक तो इसके उपभोग का है, और दूसरा बचत का। बचत उपभोग नही है, क्योकि इसमें उपभोग से परे रहने का निर्णय निहित है। इसके विपरीत, राष्ट्रीय उत्पादन उपभोक्ता वस्तुओ के मूल्य और पूजीगत वस्तुओ के मूल्य के समान होता है। इस प्रकार हमें निम्न एकात्म्य प्राप्त होता है।

प्रत्येक नियत काल अवधि मे

राष्ट्रीय आय = प्रचलित उपभोग + प्रचलित बचत

राष्ट्रीय व्यय = प्रचलित उपभोग + प्रचलित विनियोग

चूकि राष्ट्रीय आय राष्ट्रीय पैदावार के समान है और उपभोग वस्तुओ का मूल्य भी राष्ट्रीय उपभोग के ही समान है, तो इससे परिणाम यह निकला कि बचत वस्तुओ के विनियोग मूल्य या प्रचलित विनियोग के समान होती है। नि सदेह हम दोनो शब्दा-

वलियो को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है—वचत और विनियोग जिससे कि उन्हें तदात्मक वनाने की वजाय उन्हे एक दूसरे से भिन्न किया जा सके।

६ वचत और विनियोग (Saving and Investment)—अब हम वचत और विनियोग के वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयत्न करेंगे। जब एक व्यक्ति वचत करता है, तो वह उपभोग स्थगित करने का निर्णय करता है और वैसा करने पर उसे उस आय को भविष्य में व्यय करने का स्वत्व हो जाता है। सभव है उसकी वचत विभिन्न रूप ग्रहण करे। वह कुछ नकदी भविष्य के उपभोग के लिए रख सकता है, वह अपने द्रव्य को वैंक के चालू या सावधि खाते में जमा करा सकता है, वह सरकार को ऋण दे सकता है और प्रतिभूतिया खरीद सकता है, अथवा किसी कम्पनी को ऋण दे सकता है और औद्योगिक या व्यापारिक हिस्से क्रय कर सकता है; अथवा उन्हे छोड कर, वह एक मकान या किसी प्रकार की अन्य पूजीगत वस्तुओ का निर्माण कर सकता है। जो भी हो, वचत के ये सव रूप व्यक्तिगत है, क्योकि यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति की वचत करने की क्रिया समाज की बचत की क्रिया पर भी लागू हो। वस्तुत, ऐसा तो हो सकता है कि एक व्यक्ति ऐसे ढग से वचत करे कि उसमे एक अन्य व्यक्ति की वचत की अयोग्यता का समावेश हो। यदि कोई व्यक्ति श्रेष्ठि चत्वर (स्टाक एक्सचेंज) मे किसी अन्य वाजार से शेयर क्रय करता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि पहले ने तो वचत की है जवकि दूसरे ने वचत की अयोग्यता। यदि कोई व्यक्ति एक अन्य से एक मकान क्रय करता है, तब भी यही वात होगी। ऐसी अवस्थाओ मे एक व्यक्ति की वचत अन्य व्यक्ति की वचत करने की अयोग्यता के कारण शून्य हो जायगी और किसी प्रकार की सामाजिक वचत भी नही होगी। जव समाज वचत करता है, अर्थात उपभोग को स्थगित करता है, तो उसकी वचत के फल का विभिन्न रूप उपभोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सरकार नये ऋण जारी कर सकती है, और उनसे नयी सडकें और भवन वना सकती है। एक नवीन औद्योगिक कम्पनी जारी की जा सकती है और वाजार में नये शेयर उपस्थित किये जा सकते है, जिनसे नयी वस्तुओ का निर्माण हो सकता है, नये मकान वनाये जा सकते है, अथवा इनके अलावा सरकार या निजी उद्योग या व्यापार अपनी कार्यकारी पूजी में कच्चे पदार्थों, अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ या पूर्ण-निर्मित वस्तुओ के स्टॉक के रूप में वृद्धि कर सकते है। जब इस तरह की सामाजिक वचत होती है तो इससे पूजी के स्टॉक में विशुद्ध वृद्धि, अर्थात् नव-पूजी निर्माण हो जाता है। यह विनियोग का दूसरा नाम है। उपरात, हम प्रतिदिन के प्रयोग में अपनी आय को तव "विनियोजित" कह सकते है जव हम स्वत भावी आय का कोई स्वत्व क्रय करते है। किंतु निजी विनियोग का यह रूप व्यक्तिगत विनियोग की अयोग्यता के साथ-साथ भी चल सकता है और दोनो क्रियाए एक दूसरे को काट भी सकती हैं। सामाजिक विनियोग निश्चयात्मक होता है और अनिवार्यत व्यक्तिगत विनियोग मे प्रकट नहीं होता।

७ आय कैसे उत्पन्न की जाती है? (How Income is Generated)—अब हमें देखना है कि सामाजिक या राष्ट्रीय आय कैसे उत्पन्न की जाती है।

हम सवको ज्ञान है कि हम तव तक कोई आय उपार्जन नही कर सकते जव तक कि हमारी विक्रय की वस्तु को कोई लेने के लिए तय्यार न हो। यह हमारी निर्मित वस्तुएं भी हो सकती है अथवा अन्य ऐसा कार्य हो सकता है जिसे हम मजदूरी या वेतन के लिए करना चाहते है। तो यह कार्य या वस्तुए उनके विक्रय की सम्भावनाओ के अनुकूल उत्पन्न करनी होगी। समाज में वस्तुओ के स्टाक मे किसी प्रकार की वृद्धि के लिए पूजी निर्माण या विनियोग आवश्यक होगा। अन्य शब्दो में, हम तव तक किसी प्रकार की आय का उपार्जन नही कर सकते जव तक हम सामाजिक उत्पादन के स्टाक मे वृद्धि नही करते। यह, वस्तुत इस प्रश्न का आधार है कि आय कैसे पैदा की जाती है, क्योंकि वह सामाजिक उत्पादन की मात्रा में वृद्धि कर रहा होता है, और क्योंकि वह उत्पादन के विभिन्न अगो का भुगतान कर रहा होता है। जव इस प्रकार की वृद्धि होती है, तो आय का स्रोत उत्पन्न हो जाता है। यह आय का स्रोत उत्पादन के साधनो को किये भुगतान के वरावर होता है। यह इस कथन का केवल दूसरा रूप है कि सामाजिक उत्पादन मे किसी प्रकार की वृद्धि के साथ-साथ साधन-लागतो या साधन-भुगतानो में भी समान वृद्धि होगी। अव ये साधन-भुगतान वही स्थिर नही रहते जहा भुगतान किए गये थे। एक श्रमिक को उपार्जन के वाद तत्काल ही अपनी मजदूरी सम्वन्धी आय का व्यय करना होता है। उसे अपने लिए भोजन, वस्त्र, अन्य आवश्यकताएँ और सुविधायें क्रय करनी होती है, और ऐसा करते हुए वह अपनी उपार्जित आय को उन दूकानदारो के हाथो में दे देता है जिनसे वह अपने लिए सामान खरीदता है। तो, आय के हस्तातरण का यह चक्र एक से दूसरे तक निरन्तर चलता रहता है। किन्तु प्रत्येक चक्र पूर्व की अपेक्षा छोटा होता है। क्योंकि जव एक व्यक्ति अपनी आय प्राप्त करता है तो वह सारी की सारी खर्च नही करता, प्रत्युत उसके एक भाग को भावी उपयोग के लिए अपनी वचत के रूप में रोक लेता है। जिन चक्रो मे यह विधि चलती है, इसे निम्न रूप में अकित किया जा सकता है.

मान लो एक व्यक्ति सौ रुपया उपार्जन करता है। पहली तारीख को वह अपनी वचत के रूप में १/१० रख लेता है और शेष खर्च डालता है। उसका लेखा इस प्रकार होगा · आय १०० रु०=९० रु० उपभोग+१० रु० वचन। ९० रु० की जिस राशि को वह खर्च करता है, वह किसी दूकानदार के हाथो में चली जाती है। अव अपनी वारी के रूप मे दुकानदार को यह आय खर्च करनी है। मान लीजिये कि वह १/१० की वचत करता है और शेप खर्च कर डालता है। उसका लेखा इस प्रकार होगा : आय ९० रु०=उपभोग ८१ रु०+९ रु० वचत। इस दूकानदार का ८१ रु० का व्यय समाज की अन्य परतो में घूमता है। मान लीजिए कि वह थोक के दुकानदार के हाथो में जाता है और वह भी १/१० की वचत करता है और शेप खर्च कर डालता है। अव हमारी ८१ रु० की आय=७२·९ उपभोग + ८·१ वचत के है। थोक दुकानदार अपनी आय का ९/१० श्रमिको, ठेकेदारो आदि पर खर्च करता है। जव ये लोग अपनी आय उपार्जन करेंगे तो वे भी, अपने तौर पर, १/१० की वचत कर सकते है और शेष खर्च, जिससे ७२·९ रु० का व्यय ६४·६१ उपभोग+७·२९ वचत के समान हो जायगा।

व्यय के ये चक्र निरन्तर चलते जायगे और इस रूप में अल्प होते जायगे कि इसका प्रत्येक अनुवर्ती सदस्य पूर्व की अपेक्षा लघु होगा। चूकि ये क्रम अल्प हो रहे हैं इसलिए उन्हें सहज ही सयुक्त किया जा सकता है। सपूर्ण क्रमो, अर्थात् व्यय के सब चक्रो की राशि १०० रु० के मूल-व्यय से दस गुना होगी। अन्य शब्दो में, १०० रु० का मूल-व्यय १,१०० रु० के सम्पूर्ण व्यय को जन्म देगा। अब नव-निर्मित आय और मूल आय का सबन्ध बचत और आय के अनुपातानुसार एक निश्चित सम्बन्ध का होगा। यदि यह अनुपात $\frac{1}{10}$ है, तो उत्पादित आय मूल व्यय से दस गुना बडी होगी। यदि अनुपात $\frac{1}{9}$ है, तो उत्पादित आय मूल व्यय से नौ गुना होगी, और इसी प्रकार अन्य भी। सो इस तरह जितनी बार मूल पूजी व्यय फैलता है, उसे विनियोग गुणक कहते हैं। हमने ऊपर जो उदाहरण दिया है, उसमें गुणक १० रु० है। यह किसी नये विनियोग के फलरूप उत्पादित नयी आय की राशि को नापने का उपयोगी साधन है। हम आगे देखेंगे कि इस साधन की सहायता से हम अधिक प्रभाव के साथ अनेक समस्याओ का निराकरण कर सकेंगे।

८ नियोजन के निर्णायक (Determinants of Employment)—अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि नियोजन का आकार कैसे निश्चित होता है? किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप के अभाव में और बाजार सम्बन्धी स्वतत्र अर्थ-व्यवस्था मे, निजी व्यापारियो और व्यवसायो के नए व्यापार और उद्योग में विनियोग के निर्णय पर श्रम और पूजी का नियोजन निर्भर करता है। यही वह विनि-योग के निर्णय है, जो इस समस्या के निराकरण की मूल कुजी है। तो अब यह देखना है कि विनियोग सबधी ये निर्णय किस आधार पर किये जाते है? प्राचीन अर्थशास्त्रियो का विश्वास है कि ये व्याज की दर पर अर्थात्, नयी पूजी की पूर्ति-कीमत, अथवा विनियोजन योग्य राशियो पर निर्भर करते है। प्राचीन सिद्धात के अनुसार, व्याज दर की न्यूनता निजी पूजीपतियो को अधिक धन ऋण लेने और उसे नए व्यापार और उद्योग मे लगाने की प्रेरणा करती है, जिसके कारण नियोजन के आधार में वृद्धि होती है। फलस्वरूप, यह निष्कर्ष निकाला गया कि यदि किसी प्रकार का अनियोजन हो और यदि निजी पूजीपतियो को इसके उपचार के लिए प्रभावित करना हो तो व्याज की दर को कम करना होगा। लेकिन यह प्राचीन दृष्टिकोण वास्तविक मदी में कभी सफल नही हुआ। उदाहरणार्थ, विगत महान् मदी के समय इगलैड में बैक दर कम की गई थी, द्रव्य सस्ता किया गया था। किन्तु इतने पर भी निजी विनियोग असफल रहा। प्राचीन दृष्टिकोण मे मुख्य दोष यह है कि वह विनियोग और नियोजन के निर्णायक रूप में व्याज दर को अत्यधिक महत्त्व देता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम होगा कि व्यवसायी और व्यापारी भविष्य में लाभ बनाने की आशा में विनियोग के लिए ऋण लेने को प्रेरित है। तात्पर्य यह कि जब वे सोच लेते है कि उनके विनियोग की योजनाए परिपक्व हो सकती है और पूजीगत योजनाओ से लाभ होना शुरू हो गया है। किसी भी व्यापार के लिए योजनाएँ बनाने और पूर्ण करने के बीच पर्याप्त समयातर होता है। यह समय ६ मास से एक वर्ष और

डेढ़ वर्ष अथवा अधिक भी हो सकता है। इस प्रकार, लाभ प्राप्त करने की आशा पूँजीपतियों के विनियोग-सम्बन्धी निर्णयों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि अधिक लाभों की आशा है तो वह महँगी दरों पर भी ऋण लेने के लिए प्रेरित होंगे और यदि लाभों की कम आशा होगी तो भले ही कितनी भी सस्ती दरें क्यों न हों, वे ऋण लेने को तय्यार नहीं होंगे। साम्यावस्था में व्याज-दर के कारण ऋण की लागत को उसके मूल्य के ऊपर विनियोग के (भावी) प्रत्याय की सीमांत दर, अर्थात् भावी लाभ की सीमांत दर के बराबर करना होगा। नियोजन तब तक उन्नत नहीं हो सकता जब तक कि लाभ की आशा उज्ज्वल नहीं होगी। इस प्रकार की आशा के अभाव में, साख को चाहे जितना सस्ता किया जाय, विनियोग के आकार में प्रभावपूर्ण वृद्धि नहीं हो सकती।

जब व्यापार और उद्योग मंदे हों और पूँजीपतियों का भविष्य संबंधी दृष्टिकोण निराशावादी हो, तो मंदी हो जाती है और बेकारी उत्पन्न हो जाती है। यही वह समय होता है जब सरकार इस क्षेत्र में उतरकर और विनियोग का कार्य स्वतः अपने ऊपर लेकर परिस्थिति की रक्षा कर सकती है। सरकार सड़कें, मकान, पुल और ऐसी अनेक सार्वजनिक उपयोग की वस्तुएँ बना सकती है, जिससे अर्थ-व्यवस्था के भिन्न भागों में बेकार साधनों का उपयोग हो सके। इन साधनों के एक बार नियोजित होने पर निजी लाभ की आशा पर प्रभाव होता है और निजी पूँजीपति उन्हें ग्रहण करते हैं। हम पूर्वतः देख चुके हैं कि प्रारम्भिक विनियोग किस प्रकार विनियोग की लहरों अथवा अनुप्रेरित विनियोग को उन्नत करता है। सरकारी विनियोग के गुणक प्रभावों को शीघ्र ही तब अनुभव किया जाने लगता है जब सरकार सार्वजनिक व्यय का कार्यक्रम उपस्थित करती है। इस प्रकार की सरकारी कार्यवाही को अंग्रेजी में पम्प-प्रिमिंग (pump priming) कहते हैं।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार सर्वथा उदासीन दृष्टिकोण (राम-भरोसे पर आधारित) नहीं अपना सकती। उसे क्रियाशील रहना होगा और जब व्यापार तथा उद्योग शिथिल हों तो उसे विनियोजन और नियोजन के क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिए। स्वतन्त्र बाजार-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था के पूर्ण एवं स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने के लिए यह वस्तुतः आवश्यक है कि उसे इस सक्रिय रूप को पूर्ण करना चाहिये तथा नियोजन का उच्च एवं सुदृढ़ स्तर स्थिर रखना चाहिए। मंदी काल में सरकार को अपने उपार्जनों की अपेक्षा अधिक खर्च करना चाहिए, तात्पर्य यह कि, उसे घाटे के बजट बनाने चाहिए, किन्तु, यदि तेजी हो तो उसे अपने उपार्जनों की अपेक्षा कम खर्च करना चाहिए, और इस प्रकार बचत के बजट बनाने चाहिए। इस भाँति सरकार अपने बजटों को प्रतिवर्ष नहीं प्रत्युत कुछ वर्षों में सन्तुलित करने की चेष्टा करती है, जिससे आर्थिक कार्य-कलाप और नियोजन उच्च एवं सुदृढ़ स्तर पर स्थिर रखे जा सकें।

९ पूर्ण-नियोजन का विचार (The Concept of Full Employment)—उक्त विचार-विनिमय के आधार पर हम पूर्ण नियोजन के विचार पर पहुँच जाते हैं। नियोजन तब पूर्ण कहा जाता है जब किसी को काम की आवश्यकता

हो तो उसे वह मिल सके। नि सन्देह, पूर्ण नियोजन का आशय अनियोजन का सर्वथा अभाव न तो समझना चाहिए और न ही समझा जा सकता है। क्योंकि, किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे अनियोजन की कोई सीमा तो होगी ही। कुछ लोग ऐसे होते है, जो किसी कारणवश बेकार रहना पसन्द करते है, और उन्हें थोडे ही समय के लिए, चाहे जितना भी प्रलोभन क्यो न हो, कार्य करने की प्रेरणा नही की जा सकती। दूसरे, कुछ लोग ऐसे है, जो एक कार्य को छोडकर दूसरे की खोज करते है, और उन्हें एक कार्य को छोडकर दूसरे तक पहुचने के मध्यकाल तक बेकार रहना पडता है। इसके बाद, कुछ लोग ऐसे है, जिन्होने अपने पुराने कार्य को छोड दिया होता है, और उन्हें नया काम सीखने मे कुछ समय लगाना पडता है। उस सीखने के काल में वे अस्थायी होते है और उन्हे पारिश्रमिक नही मिलता अथवा मिलता भी हो तो नाममात्र का भत्ता मिलता हो। बेकारो में ऐसे सब लोगो की सख्या ३ से ५ प्रतिशत अथवा अधिक भी आकी जा सकती है। इन सीमा को छोड कर, शेष प्रभावी मनुष्य-शक्ति नियोजन के लिए उपलब्ध होती है। नियोजन तब पूर्ण कहा जाता है जब यह श्रम-शक्ति, जो सम्पूर्ण मनुष्य-शक्ति की ९५ से ९७ प्रतिशत है, पूर्ण रूप से नियोजित हो। नियोजन का ऐसा उच्च स्तर व्यापक युद्ध के समय ही पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है। किन्तु समस्या तो इसे शान्ति-काल मे प्राप्त करने की है। वस्तुत प्रत्येक स्वतन्त्र बाजार-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था की यह सबसे जटिल समस्या है।

हमारे उक्त विचार विनिमय के आधार पर पूर्ण नियोजन प्राप्त करने तथा स्थिर रखने सम्बन्धी सामान्य मूल तत्त्वो को सहज ही ग्रहण किया जा सकता है। प्रथमावस्था में सरकार को चाहिए कि वह सार्वजनिक विनियोग की समुचित नीति द्वारा बारम्बार होने वाली मदियो की प्रतिक्रिया करे। इसके विपरीत, उसे उस काल मे सार्वजनिक विनियोग में कटौती करनी चाहिए और द्रव्य को महँगा बनाना चाहिए जब कि व्यापार उद्योग मे तेजी हो और विनाशकारी सट्ट सम्बन्धी कार्य-कलाप हो। दूसरे, उसे इस ढग से योजना करनी चाहिए, और उद्योग स्थापना के विषय में भौगोलिक दृष्टिकोण को समक्ष रखना चाहिए कि बेरोजगार पुरुषो और स्त्रियो के समूह मदी वाले क्षेत्रो मे, जहा वे रहते हो काय प्राप्त कर सके। यह कार्य को श्रमिको तक ले जाने की नीति है। तीसरे, उसे समुचित व्यापार नीति द्वारा अपनी निर्यात और घरेलू उद्योगो की सहायता करनी चाहिए। नियोजन के उच्च एव सुदृढ स्तर को रखने के लिए ऐसी तथा अन्य विधिया आवश्यक है।

१० अर्द्ध-विकसित देशो की विशिष्ट समस्याएँ (The Special Problems of Under-Developed Countries)—अर्द्ध-विकसित देशो में पूर्ण नियोजन से सम्बन्धित समस्याओ का गभीरतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। नि सन्देह, हमारे लिए तो इस देश में इनका विशेष महत्त्व है। जब किसी देश के साधनो का पूर्ण विकास नहीं होता, तो वह इन बातो के कारण पीडित होता है। बडी श्रम शक्ति और वह भी अधिकाशत अकुशल और कृषक, अत्यधिक छोटी पूजी और छोटे कारखाने, जो अधिकाशत उपभोग वस्तुओ का ही निर्माण करते है। इस प्रकार के देशो

को सर्वप्रथम अपने सामरिक साधनो, अर्थात्, भारी उद्योगो या आधारमूलक उद्योगो— इस्पात, लोहा, कोयला, सीमेंट, रासायनिक आदि—का विकास करना चाहिए। यदि इन साधनो का शीघ्रतापूर्वक विकास करना होगा तो यह अत्यावश्यक है कि सरकार इस दिशा में सक्रिय कदम उठाए। यह कार्य, विनिमय नियत्रण और भौतिक कोटो के द्वारा घरेलू बाजार की विदेशी प्रतिद्वन्द्विता से रक्षा करने से किया जा सकता है। इससे अधिक वह सार्वजनिक विनियोग की धारा को भारी रचनात्मक उद्योगो की दिशा मे निर्दिष्ट कर सकती है, और साथ ही वह निजी विनियोगो को इन उद्योगो की दिशाओ में प्रवृत्त करने की प्रेरणा भी कर सकती है। जो भी हो, इस प्रकार के अर्द्ध-विकसित देशो में इस बात की विशेष आवश्यकता है कि उनकी उपलब्ध श्रम-शक्ति का यथासभव पूर्ण उपयोग किया जाय। वस्तुत, यदि इन देशो के आर्थिक साधनो का शीघ्रतापूर्वक विकास करना है तो यह आवश्यक है कि श्रम का उपयोग परिपूर्णता के साथ हो किन्तु पूजी का उपयोग थोडा हो। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार को ऐसे उद्योगो को प्रोत्साहन देना चाहिए, जिनमे पूजी की अपेक्षा श्रम का अधिकाधिक उपयोग हो। ऐसा करने से अर्थ-व्यवस्था सरलता एव गतिपूर्वक प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकेगी।

निर्देश पुस्तके

Samuelson, P A —Economics, An Introductory Analysis, 1951, Chs 12-14

Tarshis, L —Elements of Economics, 1947.

Boulding K E.—Economic Analysis, Part II, 1948

परिशिष्ट

GUIDE TO THE STUDY OF ECONOMIC THEORY

For Beginners

Lehfeldt—*Descriptive Economics*
Dane—*Economics for Boys and Girls*
Dewett, Varma and Singh—*Introductory Economics (Theory)*, (Part I)
Scott, Mrs Groome—*Approach to Economics*
Jathar and Beri—*Elementary Principles of Economics*
Thomas—*Teach Yourself Economics*
Hicks—*Social Frame work*

For Degree Students

Pigou—*Income*
Briggs and Jordon—*Text book of Economics*
Erich roll—*Elements of Economic Theory*
Benham—*Economics*
Albert Meyers—*Elements of Modern Economics*
Bye—*Principles of Economics*
Hansen—*Economics for Students*
Samuelson, Paul A —*Economics*
Cairncross—*Introduction to Economics*
Odhams Press—*Economics, Man and His Material Resources*
Stonier and Hague—*A Text book of Economic Theory*

For Advanced Students

Traditional Economics

Marshall, A —*Principles of Economics*
Henderson—*Supply and Demand*
Wicksteed—*Commonsense of Political Economy*
Wicksell—*Lectures on Political Economy*
Todd, J A —*Science of Prices*
—*Mechanism of Exchange*
Wieser, A —*Natural Value*
Pigou—*Economics of Welfare*
Meade—*Economic Analysis and Policy*

ट्रेडीशनल अर्थशास्त्र से सम्बन्धित पुस्तकों का मुख्य विश्लेपण मार्केट प्रणाली से है जो स्थिर तथा आत्मपरक और काल्पनिक है । इसके अन्तर्गत उपभोग का सिद्धान्त, उत्पादन का सिद्धान्त तथा वितरण का सिद्धान्त शामिल है । इसके प्रत्येक अंग में कुछ सैद्धान्तिक धारणाओं के अन्तर्गत जिनका सम्बन्ध प्रतियोगिता तथा दोनों की स्थिति

आदि से साम्यावस्था की स्थिति ढूडना है । इन भागो में आन्तरिक शक्तियो के कारण माग, पूर्ति तथा कीमत के परस्पर सम्बन्धो से मूल्य के सिद्धान्त का उदय होता है। कीमत प्रणाली किस प्रकार कार्य करे जिससे अधिकतम आर्थिक कल्याण हो, इस बात का विवेचन उपर्युक्त सूची की अन्तिम दो पुस्तको में दिया गया है ।

नवीन अर्थशास्त्र—इसका दूसरा नाम कीस अर्थशास्त्र भी है । इसके अन्तर्गत ट्रैडीशनल अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो की मूल मान्यताओ पर आपत्ति की गई है, और इसके स्थान पर एक नए दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है। इसमें भावपरक जगत् की बात छोडकर वास्तविक जगत् की समस्याओ पर विचार किया गया है। कीस की पुस्तक 'Genei al Theory of Economics, Interest and Money' में इस नए विश्लेषण को दिया गया है। कीसियन अर्थशास्त्र को शुरू करने वाले इन पुस्तको ने आरम्भ कर सकते हैं जोन राबिन्सन "Introduction to the Theory of Employment", आक्सफोर्ड की साख्यिकी सस्था की पुस्तक "Economics of Full Employment", मीड की 'Economic Analysis and Policy" and "Planning" and "Price Mechanism" तथा मॉर्शल की "Conquest of Unemployment" कीस विचारधारा के विभिन्न पहलुओ पर हैरिस द्वारा सम्पादित "New Economics" में प्रकाश डाला गया है ।

ट्रैडीशनल अर्थशास्त्र के विरुद्ध विद्रोह के साथ-साथ प्राचीन विचारधारा के अन्तर्गत अर्थशास्त्र के स्वरूप तथा क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी गहन विचार किया गया है। इसके लिए राबिन्स की "Nature and Significance" तथा वूटन की "Lament for Economics" पुस्तकें पढिए ।

आर्थिक सिद्धान्त के एडवान्स्ड विचारो के लिए जिनका हाल ही मे विकास हुआ है निम्नलिखित पुस्तकें पढिए —

Tarshis, L—*Elements of Economics*
Hess and Others—*Outside Readings in Economics.*
Robinson, E.A G—*Monopoly*
Joan Robinson—*Economics of Imperfect Competition*
Chamberlin—*Theory of Monopolistic Competition*
Hicks—*Value and Capital*
Hayek—*The Pure Theory of Capital*
Stigler—*Production and Distribution Theories*
—*Theory of Price*
Tugwell—*Trend of Economics*
Meade—*An Introduction to Economic Analysis and Policy*
Boulding—*Economic Analysis.*
Keynes—*The General Theory of Employment, Interest and Money.*
Joan Robinson—*Introduction to the Theory of Employment*
Harris—*New Economics*

Fraser, L M —*Economic Thought and Language*

The Oxford Institute of Statistics and Economics—*Economics of Full Employment*

For excursions beyond the Keynesian field, with the same fundamental approach nevertheless, the following books may be suggested

Joan Robinson—*Essay in the Theory of Employment*
—*Essay on Marxian Economics*

M Kalecki—*Studies in Economic Dynamics*

The student of advanced economic theory will find important contributions in periodical literature In this connection we may recommend

1 *The Economic Journal* (Royal Economic Society, London)
2 *Economica* (London School of Economics)
3 *Review of Economic Studies*, Cambridge
4 *Oxford Economic Papers*, New Series
5 *Manchester School of Economics* (Department of Economics, University of Manchester),
6 *Quarterly Journal of Economics* (Department of Economics, Harvard University)
7 *Review of Economics and Statistics* (Do)
8 *Journal of Political Economy* (Department of Economics, University of Chicago)
9 *American Economic Review* (American Economics Association)
10 *Econometrica* (Econometric Society, Chicago)

कुछ प्रश्न

TYPICAL QUESTIONS

[Answers to most of these questions can be found in *Refresher Course in Economic Theory* by the same author]

प्रस्तावना (Introductory)

1 Economics has been defined as a science of wealth Is this definition adequate or appropriate? Give reasons

2 Is it correct to describe Economics as a 'dismal' science? Give reasons (P U 1949)

3 "Economics is a study of man's actions in the ordinary business of life" Discuss (C U. 1934, 1940; Bom 1942, All 1943)

4 "Economics is the science which studies human behaviour as relationship between ends and scarce means which have alternative uses." (Robbins) Discuss.

5 "Whatever Economics is concerned with, it is not concerned with the causes of material welfare" (Robbins) Discuss (Delhi Univ B H 1951)

6 "Economics deals with means, the study of ends lies outside its scope" Give reasons (P U 1939)

7 "The role of the Economist is more conceived of as the of the expert who can say what consequences are likely to follow certain actions, but who cannot judge, as an Economist, the desirability of these actions." Discuss (P U 1941)

8 "The function of the Economiest is, therefore, to explore and to explain, not to uphold or to condemn" Comment

9 "The study of Economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy, it is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind, a technique of thinking, which helps its possessor to draw correct conclusions." Comment

10 Examine the nature and scope of Economics.
(C U B Com 1931, Agra 1928, 1933, 1939 Bom 1940)

11 "Emphasis has now shifted from economy to what may appropriately be called political economy" Discuss

12 "Economics cannot be a science because the economists disagree" Comment (C U 1933, Agra 1935, P.U 1931)

13 What is an Economic Law? Examine in this connection the statement that "the laws of Economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation"
(P U 1930, Agra 1939, C U 1926, Delhi 1934, Madras 1936, Patna 1945)

14 Explain briefly the method most suited to economic investigations
(P U 1937, Agra 1937, C U 1935)

15 Describe the End and Method of the Science of Economics. (P U 1950)

16 What is Economics? Consider its relation to other social sciences
(C U 1917, 1939, P U 1940)

17 Estimate the utility of Economics as an aid to good citizenship in a democratic State (P U 1942)

18 Define Wealth and discuss the relation between Wealth and Welfare

19 What is economic welfare? To what extent can the study of economics help in the advancement of economic welfare? (Delhi 1952)

उपभोग (Consumption)

1 Reconcile the following statements —
(i) Consumption is the end of all economic activity
(ii) Human wants are the starting point of all economic activity

2 Explain the Law of Stability of Want Yet how are wants insatiable? (P U 1949)

3 Discuss the relation between wants and utility
(All 1936, Pun 1936, Agra 1921, 1931)

4 Discuss the characteristics of consumer's demand Can any laws be formulated ? Explain (P U 1948)

5 Define the Law of Diminishing Utility, and explain carefully the relation it bears to the principles of taxation (P U 1933)

Or,

Estimate its importance in shaping the theory and practice of modern taxation (P U 1939)

6 What is utility ? Show that the total utility is maximum when marginal utility is zero

7 Explain the principle of maximum satisfaction and show how it determines our scheme of expenditure (P U 1942, C U 1923)

8 What is meant by the principle of Equi Marginal Returns ? Explain its importance in Economics (P U 1944)

9 Examine the principle of Substitution as applied to industry (P U 1949)

10 Write a note on marginal rate of substitution (P U 1952)

11 Write a critical note on consumer's surplus and discuss its importance in economic theory (P U 1943, 45, C U 1922, 1926, 1945)

12 Explain the conception of consumer's surplus What are the effects which a change in the conditions of supply is likely to exert on it ? (P U 1933)

13 What are the assumptions underlying the concept of consumer's surplus? Discuss the uses of the concept in Welfare Economics. (Delhi, B H 1951)

14 What is consumer's surplus ? Show how it is related to individual demand price and market price (C U 1951)

15 Discuss the utility of the concept of consumer's surplus both as an explanation of economic phenomenon and as a guide to economic policy (C U B A Hons. 1946)

16 State the Law of Demand Discuss the relationship between the Law of Diminishing Utility and the Law of Demand (C U 1934, Agra 1952, All 1937 1939, 1940, Nag 1935, Pat 1940, 1945, Pun 1945)

17 Enumerate the factors which lead to the increase of demand for a commodity Show how an increase of demand may be represented diagrammatically (P U 1951 Suppl)

18 Why does a consumer buy only a definite amount of a commodity at a given market price and neither more or less (C U 1950)

19 What is the nature of the demand curve for the product of an individual firm under full and free competition ? (P U 1952)

20 Write a note on the nature of demand for a factor of production (P U 1951 Suppl)

21 How would you explain the demand of a consumer in terms of his preferences ? Is this explanation an improvement upon that in terms of utilities ? (C U B A Hons 1951)

22 Explain Elasticity of Demand Carefully indicate qualifying assumptions (P U 1950)

23 Consider the effect of elasticity of demand on (*a*) Taxation, and (*b*) monopoly profits (C U 1936)

24 Explain the concept of 'elasticity of demand' What is its use in the theory of value ? (P U 1934, 1938, 1942)

25 How can elasticity be measured ? (P U 1938, 1940, C U 1936, 1942, 1946) State the circumstances in which a demand curve throughout its length represents unit elasticity (P U 1952)

26 Define elasticity of demand and give a few instances of the use of the concept in economic analysis (P U 1951)

27 Point out the importance of elasticity of demand and of supply in the determination of international value (P U 1951 Suppl.)

28 Show that (*a*) the law of demand states a (qualitative) relation between the prices prevailing in a market and the amount demanded at each price, and (*b*) The elasticity of demand expresses a (quantitative) relation between the change in price and the corresponding *change* in the amount of demand (C U 1952)

29 Explain the concept of elasticity of demand and give a technique of measuring the elasticity

Take a falling straight line demand curve Demonstrate how the elasticity of demand at a lower point on the curve is less than the elasticity of demand at a higher point (Delhi, 1951)

30 Enunciate the law of Diminishing Utility bringing out the distinction between total utility and Marginal Utility Also explain how the law is related to (a) The Law of Demand, (b) Elasticity of Demand, (c) The Law of Equi Marginal Utility Explain the relation between Elasticity of Demand and Consumer's Surplus

31 Write short notes on any *three* of the following —

(a) Joint Demand (b) Standard of Living (c) Engel's Law (d) Consumer's indifference

32 Explain the concept and properties of indifferent curves (P U 1952 Suppl)

Give examples showing the use of such curves (Delhi, 1951)

33 What do you understand by Consumer's sovereignty? How far is it real and what are its functions?

उत्पादन (Production)

सामान्य (General)

1 "Production is the creation of utilities" Comment

2 What is production? What influences govern its volume? Discuss the significance of the volume of production.

3 How can the volume of production be measured?

4 Indicate the criticism to which the traditional classification of the factors is subjected

भूमि (Land)

1 In economic discussion land is usually distinguished from capital How far, in your opinion, is the distinction valid? (P U 1951 Suppl))

2 Explain the Law of Diminishing Returns both with special reference to agriculture and as a general law applicable to all industries (P U 1937)

3 State the Law of Diminishing Returns with its limitations (C U 1926, 1937 , Agra 1937 , All 1934 , Delhi 1936 , Mad 1937 , Nag 1941 , Pun 1937)

4 Examine the significance of the Law of Diminishing Returns and indicate its bearing on (i) the Malthusian Theory of Population, and (ii) the Theory of Rent

5 Does the Law of Diminishing Returns apply also to factors other than land ? Explain fully

6 Explain the Law of Diminishing Returns and how it is a statement relating to the limitation of substitution of one factor of production for another? (P U 1951)

श्रम (Labour)

1 Define Labour Distinguish between productive and unproductive labour

2 What are the peculiarities of labour as a factor of production?

3 What was Malthus's Theory of Population? Discuss the present position concerning this problem (P U 1940, Agra 1944, Nag 1942)

4 Write a note on the Optimum Theory of Population? (P U 1935)

Define over population and under-population in the light of the Optimum Theory (Banaras 1938 , Dacca 1942, 1943)

5 "The problem of population is not one of mere size in relation to food supply but of efficient production and equitable distribution" Discuss

6 What are the factors that affect the efficiency of labour and what method do you consider best to measure it? (P U 1938, C U 1939, Agra 1940, Nag 1942)

7 Examine the conditions that promote efficiency of Labour (P U 1945)

8 What is meant by Division of Labour? Briefly discuss its advantages and disadvantages (P U 1939 C U 1930, All 1939)

9 "Division of Labour is limited by the extent of the market" Discuss (P.U. 1943)

10 "Of all sorts of luggage man is the most difficult to be transported" Discuss with special reference to India Discuss the factors which in recent years have increased the mobility of labour

11 Discuss the causes that hinder the mobility of labour Would there be difference in wages if there were prefect mobility of labour ? (C U, B A. Hons 1946)

पूंजी (Capital)

1 Define capital and briefly discuss the functions it performs in production. (C U 1924, 26)

2 Write short notes on Fixed Capital and Circulating Capital, and mention the factors that determine the ratio between the two in an industry

3 'Land is capital' Discuss

4 'In the short run Labour and capital are competitive, in the long run they are complementary" Discuss the statement (C U 1932)

5 What do you understand by capitalistic production? What are its advantages ? Is capitalistic production associated with capitalism only ? (Delhi 1952)

6 Review the factors that are essential to capital formation in a country (P U 1949, 1950, Delhi 1951)

Account for slow growth of capital in India

7 Discuss the economic effects of the introduction of machinery Does machinery create unemployment ? Give reasons

8 What is meant by mobility of capital ? How far can capital be said to be mobile in India ?

संगठन (Organisation)

1 Analyse the functions of the entrepreneur and show what light this analysis throws on the nature of profit (C U, B.A Hons. 1946)

2 How far have the functions of the entrepreneur been delegated in modern times ?

3 What is the nature of the services performed by the entrepreneur and how is he rewarded ? (C U 1943)

4 Indicate the characteristic features of a joint stock company and compare it with partnership

5 Account for emergence of combinations in industry Do they make for industrial stability ? (C U, B.A. Hons. 1951)

6 Consider the difficulties in the way of the maintenance of industrial combinations

7 Discuss the various forms of combinations among producers. Are such combinations necessarily injurious to society ? (C U 1927)

8 What are Trusts and Cartels? Examine their merits and demerits (C U 1945)

9 Explain with illustrations what is meant by (*a*) Vertical combination, (*b*) Horizontal combination.

10 What is a holding Company ? Discuss its merits and demerits

11 Discuss the contention that monopoly retards rather than promotes efficiency Give reasons for your views (P U 1949)

12 What do you understand by monopoly ? What difficulties are encountered in its formation ?

13. Compare a joint stock concern and a co-operative store as types of business organisation

14 Discuss the fundamental principles underlying co operation and show how it avoids the drawbacks of both capitalism and socialism.

15 Account for the increasing scope of State undertakings and indicate their advantages and drawbacks

16 How far it is desirable to extend State ownership of industries as a means of securing additional public revenues ? (C U, B A Hons. 1946)

17 Explain the origin of rationalisation and indicate its main features

18 Give the main features of modern industrial organisation.

19 What do you understand by the Scale of Production ? Indicate the factors that lead to variations in the scale of production (P U 1930, 1938)

Or,

Indicate the factors that determine the size of industrial unit in a community. (P U 1938)

20 Explain what is by internal and external economics, and consider the part played by them in bringing about increasing returns. (P U 1941)

21 "The growth of a firm must be considered biologically and not mechanically What is the optimum and what is sub optimum depends on the industrial environment"

Explain the statement and consider its implications for the policy of nationalisation. (C U, B A Hons 1951)

22 Why are modern industries organised on a large scale? Indicate the limitations of large scale production and explain in this connection the concept of the optimum firm

23 Describe the forces which perpetuate the existence of small-scale business Illustrate your answer by reference to Indian conditions (P U 1952 Suppl)

24 Explain the economics of cottage industry Mention the factors that can promote its efficiency (P U 1950)

25 Explain the Law of Diminishing Costs In what sense can its operation be checked? (P U 1949)

26 "The part played by Nature conforms to Diminishing Returns while the part which Man plays conforms to Increasing Returns" Discuss

27 Is it proper to regard the laws of increasing and decreasing returns as in some way parallel to one another? (C U, B A Hons 1951)

28 Account for the operation of the Law of Diminishing Returns in Indian agriculture, and say how it can be countracted

29 "The Law of Diminishing Returns is the only one phase of the universal law of variable proportions." Explain

(C U, B Com. 1942, Nag 1943, Dacca 1943)

30 "Labour and capital cannot be withdrawn from a part of the land and certralised on the rest without causing a reduction in social income" Bring out the significance of this statement (C U 1944)

31 Enunciate the Law of Constant Returns and indicate the cases where it operates

32 Distinguish between Optimum Firm and Representative Firm. What causes determine the size of optimum firm?

33 Discuss the causes of localisation of industries, and account for the present-day tendency towards decentralisation (P U 1939)

34 Why does an industry once started in a particular place tend to remain there]?

35 On what principles are the factors of production combined by an entrepreneur?

36 Amplify the statement that there is a continual movement towards equality of advantages in different fields of industry, and note the circumstances under which the tendency may become inoperative (P U 1939)

37. How are the factors of production allocated among the various uses?

38 How far is the modern economic system adaptable?

विनिमय (Exchange)

विनिमय, मार्केट तथा कीमत (Exchange, Markets and Price Formation)

1. Distinguish between perfect and imperfect competition. Bring out the implications of perfect competition

2 Analyse the essential features of free and full competition. (P U 1951)

3 Discuss the merits and demerits of perfect competition.

4 Enumerate the factors which hinder the operation of free competition in a market (P U. 1952)

5 Define a market and discuss the factors which determine its size for different commodities (P U 1940, C U 1920)

What would you expect to be the size of the market in bricks, vegetables and precious metals?

6 How would you distinguish between a perfect market and an imperfect one? What are the conditions of a perfect market?

7 What is meant by organised marketing? In what respect and why is such marketing lacking in India?

8 What are the functions of a Stock Exchange? How does it facilitate the financing of industries? (P U 1934, C U 1930)

9 Describe the working of either stock exchange or produce exchange with which you may be familiar (P U 1943)

10 Write short notes on any three of the following —(a) Contango (b) Futures, (c) Produce Exchange (d) Rigging, (e) Opportunity Costs, (f) Imperfect competition, and (g) Hedging

11 Distinguish between legitimate and illegitimate speculation Explain the economic consequences of the latter (P U 1933, 1937)

How would you suppress illegitimate speculation? (P U 1937)

12 What is the economic role of speculation? What are its abuses, and how would you deal with them?

13 Distinguish between the market price and the normal price Point out the dominant influences that determine them (C U 1951)

14 Explain the meaning of supply in the context of analysis of (a) market value, (b) normal value (P U 1952 Suppl)

15 "If prices fall, demand increases, but if demand increases prices rise, I cannot see how it is that prices ever change" Comment and criticize (P U 1934)

16 What is meant by equilibrium price? How is it determined under competitive conditions? (C U 1929, 1933, 1939)

17 Discuss briefly the problem of competitive price under conditions of decreasing return (C U 1946)

18 Show how in perfectly competitive equilibrium the price of a commodity is equal to its marginal and average cost of production Illustrate your answer diagrammatically (Delhi 1952)

19 What is Normal Price? How is it determined? (P U 1940, C U 1917, 1923)

Under what conditions can normal value change? (P U 1951 Suppl)

20 Classify the problem of value from the point of view of time, noting carefully the interpretation which you put on 'demand' and 'supply' in each case (C U, B A Hons. 1946)

21 A rise in demand may lead to fall in price How do you explain the paradox?

22 Discuss the effects of increased consumption of (a) Wheat, (b) Steel manufactures on the value of these commodities. (C U 1931, 1934)

23 Briefly explain the theory of short period normal value, and indicate how the problem of quasi rent arises in the analysis of short period normal value

24 "Ricardo and his followers maintain that the value of a commodity is fixed by its cost of production while Jevons and those who agree with him contend that value is determined by its marginal utility" Which of these two views is correct? (C U 1935)

25 'Cost of production eagerness of demand, margin of production and price of the produce mutually govern one another" Explain

26 What do you understand by the term 'cost of production'? Distinguish between Prime Costs and Supplementary Costs and examine the bearing of this distinction on the theory of value (Pun 1945, All 1935, Delhi 1936)

27 Show the cost curve of a firm under competition (Delhi 1951)

28 Distinguish between Prime Costs, Supplementary Costs and Total Cost Is the distinction valid for the long period? (C U 1930)

29 Fully explain the significance of the distinction? (P U 1951 Suppl)

30 "Marginal uses do not govern value, but are governed together with value by the conditions of demand in relation to supply" Elucidate (All 1933, Ban 1939)

31 The normal price of a commodity cannot be permanently either above the cost of production or below it Why?

32 "Water is more useful than gold, and yet gold has greater value" How do you explain the paradox? (C U 1932, 1937, Pat 1940)

33 Explain the concept of 'Opportunity Cost' and discuss its bearing on the problem of relative values

34 Explain the marginal theory of value and show why it is necessary to study behaviour of demand and supply at the margin

35 In every market some possible buyers are willing to bid very high and some possible sellers to sell very low Why then, do lower bids and higher offers not become effective ? (P U 1935)

36 "There is a balancing mechanism brought about through price which is at the very foundation of the economic life and is the final deciding factor of the way in which man's efforts are distributed in alternative walks of life " Discuss (C U , B A Hons 1946)

37 Indicate how the problem of value is influenced by short and long-term considerations. Illustrate (P U 1949)

38 Distinguish between a 'Marginal Firm' and a 'Representative Firm Which of these do you think, and why, is more important in price determination in practical life ? (P U 1938)

39 Explain Marshall's concept of Representative Firm and discuss its use in the determination of value (Delhi, B H 1951)

40 Distinguish between monopoly prices and competitive price How are monopoly prices determined ? (P U 1935, 1939)

41 Explain the factors which determine price under simple monopoly Use a diagram to illustrate your answer (Delhi 1951)

42 Indicate the methods and objects of Price Discrimination under monopoly (P.U. 1939)

43 Enumerate the conditions which are necessary in order to enable a monopolist to practice price discrimination successfully (C U , B.A Hons 1951)

Examine the effect of such discrimination on consumer's surplus

Distinguish between simple monopoly price and discriminating monopoly price How is the former determined ? (Delhi 1952)

44 "Monopoly price is influenced by cost of production in a different way from competitive price " Discuss (P U 1946)

45 Both the monopolist and the competitive producer aim at maximising their net gain Show how they achieve their objective (P U 1952)

46 Show how monopoly price is affected by (i) elasticity of demand, (ii) substitutes, (iii) potential competition, (iv) regard for future demand, and (v) risk of legal interference

47 How far is monopoly detrimental to the consumer? Indicate the restraining influences to which a monopolist is subject

48 Discuss the applicability of the principle of joint cost to the case of railway rates. (C U B A Hons 1952)

49 How is value determined under imperfect competition ? How will the rise in price of wool affect the price of mutton? (C U 1940)

50 Explain how prices are fixed under oligopoly (C U , B A Hons. 1952)

51 Distinguish between 'joint demand' and 'composite demand' Explain the difficulties of price determination under conditions of joint demand

52 What is joint supply? How is value determined under joint supply ?

53 Gas and coke are jointly produced A duty of 10% is imposed on gas. How will it affect the price of coke ? (C U 1932)

54 "Cost of production is coming more and more to mean joint cost The price of a given product may bear only a remote relation to its individual cost of production " Elucidate (C U 1927)

55 How is the value of goods in joint demand determined? State the conditions under which a factor of production can permanently raise its remuneration (C U 1934, P U 1945, All 1942)

56 Briefly explain the meaning of the following proposition.—

"The tyranny which one factor of production of a commodity might in some cases exercise over the other factors through the law of derived demand is tempered by the law of substitution " (P U 1952 Suppl)

57 What do you understand by joint demand ? Briefly explain the theory of normal price in the case of joint demand (Delhi 1951)

58 What do you understand by 'composite demand' and 'composite supply' ? Explain how value is determined in such cases

59 State briefly (a) the relation between the prices of competing goods, (b) the relation between the prices of complementary goods, (c) the relation between the prices of joint cost goods (C U 1952)

वितरण (Distribution)

सामान्य (General)

1 "National Dividend is at once the aggregate net product of and the sole source of payment for, all the agents of production within the country" Discuss (C U 1935, Mad 1939, Agra 1942)

2 Explain the term 'National Dividend' Briefly discuss the principle which governs its distribution among various agents of production (C U 1935, Agra 1942, Pat 1944 and Mad. 1939)

3 Why does the marginal productivity of a factor of production diminish as more of it is employed? In this connection show that a change in the supply of one factor reacts on the earning of other factors. (C U, B A Hons 1951)

4 How far is the general theory of value applicable to the distribution of National Dividend?

5 Carefully explain how the National Income of a country can be estimated (C U, B A Hons 1952)

6 Analyse carefully the effect of an increase of population on rent, interest and wages (C U, B A Hons 1946)

लगान (Rent)

1 What do you understand by economic rent? Distinguish it from contract rent

2 Is there any fundamental difference between Land and Capital? Consider the bearing of this question on the theory of rent (C U B A. Hons 1952)

3 'Rent is paid for the original and indestructible powers of the soil Explain (C U 1935, 54, Agra 1941, All 1935, Ban. 1938, Pun 1938, Nag 1943)

4 Attempt a statement of the Ricardian Theory of Rent (P U 1935)

5 Examine the concept of Rent in relation to agricultural land and building sites in cities (P U 1950)

6 Explain the Marshallian restatement of the theory of rent (C U 1935, Agra 1936, Nag 1939, Mad 1936)

7 Give some modifications made by modern economists in the theory of rent

8 Explain Opportunity Cost What effect, if any, does it exert on rent? (P U 1949)

9 Discuss the relation between agricultural rent and agricultural price

10 Tradesmen often say that they have to charge high prices because they have to pay high rent Do you agree?

11 Explain, giving reasons, the effect on rent of (a) Improvement in the means of communication and transport, (b) Increase in population, (c) Improvement in methods of cultivation, (d) Economic progress in general

12 "The rent of the land is not a thing by itself, but the leading species of a larger genus" What does Marshall mean by this statement? (P U 1933)

13 Write short notes on any three of the following —

(a) Producer's Surplus, (b) Quasi Rent, (c) Transfer Earnings, (d) Margin of cultivation, and (e) No-rent land

14 Distinguish between Rent and Quasi Rent Show how the two are related to transfer earnings. (P U 1951)

15 Would there be rent (a) if all lands were equally fertile? (C U 1945 1929), (b) if there were no tendency to diminishing returns, (c) if the Government owned all lands, (d) if the lands were cultivated by the owners, (e) if the supply of better lands were practically unlimited, and (f) if land revenue were abolished? Give reasons in each case

16 Analyse the nature of rent and indicate the position it is likely to hold under a socialistic regime (P U 1938)

मजदूरी तथा श्रम समस्याएं (Wages and other Labour Problems)

1 What are the peculiarities of labour in relation to demand and supply? (P U 1935)

2 Distinguish between real and normal wages. What factors would you take into consideration in determining real wages? (C U 1925, Agra 1941, All 1942, Mad 1937)

At present, in India, nominal wages are high, but real wages are low Why ?

3 Briefly examine the various theories of wages (C U 1924, Agra 1942, Delhi 1940, Pun 1935)

4 Briefly describe the most acceptable theory of wages of labour (P U 1934)

State and examine the marginal productivity theory of wages Is it correct to say that wages under pure competition are equal both to the marginal and average product of labour ? (Delhi 1951, P U 1951)

5 How far is it true to say that the theory of wages is an application of the general theory of value? (C U 1931, Agra 1939, P U 1935)

6 How are wages determined ? Do wages in India always attain the same level ? Give reasons

7 How is marginal analysis applied in the determination of wages ?

8 "The rate of wages is determined by the discounted marginal product of labour" Explain

9 Explain the connection between changes in the manner of living and the rate of earnings with reference to Indian conditions (P U. 1937)

10 How do you explain the fact that labour in different occupations earns strikingly different rates of wages ? (C U 1930)

11 Why do wages differ (i) from occupation to occupation, and (ii) from country to country ?

12 The average woman earns considerably less than the average man Why ? (P U 1944, C U 1918)

13 Discuss the functions and utility of Trade Unions (P U 1940)

14 Trace the influence of Trade Unions on the wages rate Consider limitations (P U 1940, 1948, C U 1936, 1938)

15 How far is it possible by trade-union action to raise wages permanently (i) in any given occupation, and (ii) in all occupations ?

16 It is sometimes said that labourers could increase their wages by first increasing their standard of living, that is, by demanding more and better goods for consumption. Is this statement correct ? Explain how wages are determined and how best labourers can succeed in increasing their wages (P U 1934)

17 What do you mean by the 'minimum wage'? What considerations should enter in its determination ? (P U 1937)

18 Examine the basis for the determination of minimum wages rate Consider the limiting factors (P U 1949)

19 Discuss the desirability and feasibility of (a) national minimum wage and (b) minimum wage for selected occupations

20 Examine the merits and demerits of the (a) Labour co-partnership, (b) Profit-sharing and (c) Sliding scale of wages as means of settling differences between labour and capital (C U 1944, 1947)

21 Analyse the causes of, and suggest remedies for, unemployment

22 "Unemployment may be regarded as a shadow side of modern progress" Discuss

23 What is Social Insurance ? How far has India gone in providing social insurance to the factory workers ?

24 What are the principal labour problems of today ? How would you attempt to solve them in India ? (P U 1933)

25 What is meant by economy of high wages ? Explain the statement that dear labour is really cheap labour (C U 1944)

ब्याज (Interest)

1 Distinguish between Gross Interest and Net Interest and analyse Gross Interest into its various constituents

2 Why does a village money-lender charge 18% interest, whereas a bank charges only 6% ?

3 What do you understand by Interest? How does it arise ?

Indicate the factors that determine the general rate of interest (P U 1939)

4 Why is interest paid ? Do you think that the complete abolition of interest payment would cause all savings to cease ? (P U 1942)

5 Write short notes on

(a) Liquidity Preference, (b) Forced savings.

6 Explain the concept of "liquidity preference" What part does liquidity preference play in the determination of the rate of interest ? (P U 1952)

7 Distinguish between money rate of interest and real rate of interest How is the former a necessary price for overcoming the preference for liquidity ? (Delhi 1952)

8 Account for differences in rates of interest on loans of different kinds, with special reference to long term and short term rates (C U , B A Hons. 1951)

9 Enumerate the causes that give rise to interest payment Does the net rate of interest tend towards equality ? (P U 1945)

10 "Interest is the measure of marginal productivity or marginal forbearance." Explain and comment

11 "Interest is the price of time" Discuss

12 State Keynes' Theory of Interest and explain how it differs from the classical theory (Delhi, B.A , 1951)

13 Interest balances the supply of capital savings and capital investments Discuss. (P U 1951 Suppl)

14 Why is there a tendency to equality in interest rates and not in wage rates?

15 What do you understand by 'mobility' in the economics of Distribution? Indicate its relationship to the rates of interest (P U 1936)

16 Examine the effect of economic progress on interest Will the rate of interest ever fall to zero ?

17 Compare Rent and Interest

18 Discuss the socialist criticism of interest

19 What would be the position of interest in a socialist state ? Is there any justification for controlling rates of interest by legislation ?

लाभ (Profits)

1 Distinguish between Gross Profits and Net Profits What are the constituents of gross profits ?

2 Who is to be regarded as the risk taker in modern economic organisation ? Is he paid for it and, if so, on what principles ?

3 Give briefly the important theories of profits

4 Discuss the importance of the distinction between the Static and Dynamic state for the theory of value and for the theory of profits (C U , B A Hons 1952)

5 Write short notes on
(a) Net profits. (b) Normal Profits

6 "Profits are like rent and do not enter price" Do you agree ?

7 Explain "Profits are a constituent part of normal supply price" (P U 1942)

8 Distinguish between *normal* profits and *actual* profits Show how expected profits influence production (C U 1952)

9 Explain the causes of differences in normal profits

10 Examine the validity of the following propositions —
(a) Profits tend to equality,
(b) Profits tend to a minimum.

11 Is there any social or economic justification for profits ? Do you consider that profits are excessive under the present capitalistic system ?

12 Critically examine the socialistic view of profits as a share in distribution (C U 1922)

13 Indicate the nature of profits and indicate the position they are likely to hold under a socialistic regime (P U 1943)

द्रव्य (Money)

सामान्य (General)

1 "Money is what money does" Explain this statement and briefly define money

2 If all money suddenly disappeared from the country, what difficulties would be encountered in ordinary business ?

3 Write short notes on —(a) Bimetallism, (b) Reflation, (c) Seigniorage, (d) Fiduciary money (e) Standard money (f) Token money, (g) Gold Bullion Standard (h) Monometallism, and (i) Legal Tender

4 Explain Gresham's Law Indicate the essentials of a sound monetary system.

5 "The Indian rupee is a curious mixture of token and standard coin" Discuss

6 What are the prospects of the managed paper currency standard ?

7 Elucidate the merits and drawbacks of a paper currency system. Indicate methods of control (P U 1949)

8 Account for the adoption of gold as a money material Why has it been discarded in recent times ?

9 Distinguish between (*a*) free coinage and gratuitous coinage, (*b*) mint price and market price of gold

10 Define money and briefly discuss its various functions How are these functions performed by the different forms of money that we use ?

द्रव्य प्रणाली (Monetary Systems)

1 What do you mean by the term 'System of Money' ? What are the essential features that a monetary system should have before it can be looked upon as satisfactory ? (P U 1936)

2 What do you understand by bi-metallism? Briefly discuss its merits and demerits

3 Discuss the strong and weak points of the gold standard and indicate its future

4 State the grounds on which the decision to restore Gold Standard in Great Britain in 1925 was criticised in the ensuing years Indicate also the cause that led to the suspension of the gold standard in 1931 (C U, B A Hons 1946)

5 Explain the principal features of the Gold Bullion Standard and compare it with Gold Exchange Standard

6 How far can Gold Standard ensure stability of the price level ?

7 Show that a country may have a Gold Standard though it has no gold in circulation and no great stock of gold

8 What is Gold Exchange Standard ? Under what conditions is it likely to be a failure? (P U 1936)

9 The case for the gold standard is the case for a strict *de jure* gold standard, with each country following "the rules" so that no gold standard currency becomes distrusted Explain and illustrate (P U 1941)

द्रव्य का मूल्य (Value of Money)

1 In what sense is the phrase 'value of money' used ? What do you understand when it is said that money is cheap or money is dear ?

2 What is the Quantity Theory of Money ? Does this theory give adequate explanation of the forces governing the value of money ? (P U 1951 Suppl)

3 Why does the value of money fluctuate from time to time ?

4 Explain clearly the relation between the quantity of money in circulation and general price level in the country (C U 1942, 1938, Agra 1942, Delhi 1939)

5 "The value of money depends on its quantity." Do you agree ?

6 What are the considerations determining an individual's demand for money, and what are the principal influences which cause variation in this demand ?

7 What, acording to the Quantity Theory of Money, would be the effect on the general level of prices of the following (other things being supposed to remain the same)—

(*a*) Improvement in the means of communication, (*b*) The growth of trade and population (*c*) The development of deposit banking ? (P U 1932)

8 Give reasons for the view that the Savings and Investment theory marks an improvement on the older formulation of the Quantity Theory in explaining price changes (C.U, B A Hons 1946)

9 "Elasticity of demand for money is unity" Discuss

10 "The value of money, like the value of anything else, is mainly a question of demand and supply" Elucidate

11 What do you mean by changes in the value of money How can you measure these ? Do you notice any change in the value of Indian money these days? If so, account for these (P U 1947)

12 "Since everyone is both a creditor and a debtor, changes in the value of money do not matter" Comment and criticise (P U 1935)

13 Indicate briefly the influence that the volume of credit exercises on the price level How do you measure the latter ? (P U 1937)

14 What are weighted index numbers and what purposes do they serve ?

15 What are index numbers ? How are they prepared ? Briefly discuss the utility of index numbers

16 Describe the construction of Cost of Living Index Numbers. Illustrate their utility in the settlement of wages disputes (P U 1950)

17 Explain how real wages index number is prepared Indicate its uses in labour disputes.

18 "Inflation is unjust and inequitable and deflation is inexpedient" (Keynes) Discuss

19 What are the evils of currency inflation ? What are the special war time factors contributing to it ? (Bom. 1942)

20 What is inflation ? Discuss its effects upon production, price level and distribution (C U 1951)

21 Briefly mention the evils associated with inflation What measures can you suggest to counteract these evils ?

22 "Stable prices are as harmful and iniquitous as rapidly rising or rapidly falling prices." Discuss

23 Indicate the factors that determine the price level of a country (C U 1944)

24 "Thus money which is a source of so many blessings to mankind becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion" Elucidate

25 Explain the terms 'inflation', 'deflation' and 'reflation' Discuss the influence of an unbalanced budget on prices (C U 1936)

साख और बैंकिंग (Credit and Banking)

1 Explain the economic advantages of a sound system of credit

2 "Like all useful and delicate instruments, credit is dangerous when absued" Why ? (P U 1935)

3 'Credit is capital' Criticise Trace the effect of credit on prices

4 What do you mean by "Money Market"? Indicate the constituents of the money market and the nature of the transactions which take place therein. (Delhi 1952)

5 What is an exchange bank ? Indicate its place in the economic organisation of the country (P U 1937)

6 Explain the following —

(a) 'Every bank loan creates a deposit'

(b) 'A good bank manager knows the difference between a bill and a mortgage'

7 What functions does a commercial bank perform ? What economic advantages does it confer on the community ?

8 Explain how a bank deposit arises, and consider the limitations on banks to create credit

9 Show why banks should maintain adequate cash reserves What help can legislation offer in his matter ?

10 What considerations influence a banker in determining the character, composition and the amount of his reserves?

11 In what sense is it true to say that the main function of a bank is to exchange its own credit for its customer's credit ? What limits, if any, are there to the bank's power of creating credit ? (C U 1932, All 1940, Agra 1928)

12 Discuss the role of bank credit in national economy and the importance of controlling such credit (Delhi 1951)

13 Prepare an imaginary balance sheet of a bank

14 What are the main functions of the Central Bank ? How far has the Reserve Bank of India succeeded in discharging these functions ? (P U 1941)

15 What are the principal methods of regulating note issue ? (P U 1940)

16 Consider the need for controlling monetary supply Briefly enumerate the more important methods which the central bank of a country may adopt in order to control such supply (P U 1951)

17 Discuss the aims and objects of Bank Rate, Manipulations and Open Market Operations by central banking authorities (P U 1939)

18 Explain the significance of bank rate

How does it influence the general level of production and prices, business activity and employment ? (Delhi 1952)

19 Examine the effects produced by bank rate charges with special reference to internal economic activity

20 "Bank rate as an instrument of credit control has become obsolete" Discuss

21 Enumerate the main difficulties in the way of and limitations to the central bank's power of controlling credit

22 Indicate the importance of the Clearing House System in modern banking. (C U 1951)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade)

1 "In fact, foreign trade is nothing more than a highly organised system of barter" Explain

2 "Foreign trade is merely an extension of the principle of division of labour." Explain

3 In what respects does international trade differ from home trade ?

4 Why is it necessary to formulate a theory of international trade distinct from that of domestic trade?

5 Write short notes on any three of the following—(*a*) Law of comparative costs, (*b*) Invisible exports, (*c*) Dumping, (*d*) Discriminating Protection, (*e*) Protective Tariff, (*f*) Free Trade, (*g*) Imperial Preference, (*h*) Import duties *vs* import quotas, (*i*) Terms of Trade

6 Examine the principle of comparative cost as an explanation of international trade (C U 1950)

7 Explain, with examples, why certain countries export more than they import, while others import more than they export (C U 1940)

8 Explain.—

(*a*) Why does a country import a commodity that it can produce more cheaply?

(*b*) Why does a country produce a commodity which it also imports ?

9 Review the chief arguments in favour of free trade and show why it has been almost universally abandoned

10 Discuss the case for protection in the light of modern economic conditions. (P. U 1951)

11 In what circumstances and how long should protection be given to an industry? Give reasons for your answer (C U 1952)

12 Indicate the dangers of a policy of protection How would you prevent or minimise them ?

13 Distinguish between protective tariff and revenue tariff.

14 In what manner, and to what degree, is the infant industry argument compatible with the principle of multi-lateralism in international trade? Expound. (P U 1949)

15 Discuss on what grounds it may be considered desirable to impose restrictions on the freedom of international trade (C U 1942, Mad 1937)

16 Compare import duties and quota system as a means of protecting home industry

17 Indicate the forms in which international trade has been restricted in recent times.

18 If a country to which other countries owe large sums of money puts almost prohibitive duties upon all imports, what will happen ? (P U 1941)

19 Distinguish between Balance of Trade and Balance of Account. What steps can be taken to correct an adverse balance of account ?

20. State and explain the various items in the balance of account of a country's foreign trade (P U. 1952 Suppl.)

21 Weigh the effects of Devaluation on the economy of a given country that may happen to adopt it (P U 1950)

22 What do you understand by a favourable balance of trade ? Is it necessarily advantageous to a country ? Discuss with reference to Indian conditions.

23 Briefly mention the advantages and disadvantages of foreign trade

24 Analyse the dictum that 'Exports pay for Imports' How should this notion effect tariff policy ? (P U 1949)

विदेशी विनिमय (Foreign Exchanges)

1 Explain how foreign exchange rates are determined (C U 1947)

2 Show how the rate of foreign exchange is determined under a system of inconvertible paper currencies. (C U 1951)

3 What are specie points ? On what do these points depend ? Can exchange go beyond these points ? If so, when and how ?

4 "The purchasing power parity does not provide a ready made measure of the true value of exchange" Discuss

5 Enumerate the influences that bring about fluctuations in the rates of exchange (P U 1936)

6 Estimate the effect of a depreciated currency on foreign trade and inland trade

7 Discuss the limits of the fluctuations of the rate of foreign exchange under paper standard (C U 1944)

8 What methods are adopted to correct adverse exchange rates ?

9 "The distribution of metallic money is in a large measure the result of international forces." Explain the statement What are the factors which cause gold movements nowadays ?

10 Write a brief explanatory note on the object and working of exchange control in any country with which you may be familiar (P U 1942)

11 Write short notes on any three of the following —

(a) Cross Rate (b) Purchasing Power Parity (c) Exchange Equalization Fund, (d) Exchange Control, (e) Blocked Accounts, (f) Clearing Agreements, (g) Specie Points, (h) Mint Par

12 Describe the origin and character of Exchange Clearing Agreements and discuss their influence on foreign trade (C U B A Hons. 1946)

व्यापार चक्र (Trade Cycles)

1 What is a trade cycle ? Discuss some of its characteristics

2 Clearly indicate the main phases of a trade cycle

3 State the fundamental causes of the trade cycle and briefly point out the weapons with which to combat it (P U 1951 Suppl)

4 What do you understand by a trade cycle ? How are the cyclical fluctuations in trade and industry caused ? Suggest remedies

5 What is a crisis, and how is it brought about ? (P U 1938)

6 Comment on the following dicta issued by a firm of manufactures —

When some one stops buying some one stops selling
When some one stops selling, some one stops making
When some one stops making some one stops earning
When some stops earning some one stops buying (P U 1934)

7 Discuss the various measures which should be adopted to fight business fluctuations

8 What is, in your judgment the most satisfactory explanation of trade cycles Give reasons for your answer (P U 1952)

सार्वजनिक अर्थव्यवस्था (Public Economics)

1 Write a critical note on the desirability of efficient State regulation of industry with reference to existing conditions in India (P U 1935)

2 Every State intervenes or interferes to some extent but some States go much further than others. What, in your opinion, should be the limits of State intervention in economic matters ?

3 Enumerate the economic functions of a modern State

सार्वजनिक वित्त (Public Finance)

1 What is Public Finance ? Distinguish between Private and Public Finance

2 Write a short note on the doctrine of maximum social advantage as the aim of public finance. (Agra 1942, Mad 1934)

3 Give the principal sources of income and the main items of expenditure of the Government of India What change, if any, would you wish to effect? State your reasons clearly in either case (P U 1932)

4 Examine the principles which should govern public expenditure and bring out their implications (Delhi 1951)

5 *Distinguish between recurring and non recurring expenditure* How would you proceed to raise to meet them? (P U 1937)

6 Discuss whether (*a*) wars and (*b*) public utility projects would be financed by taxes or loans (P U 1950)

7 Discuss the effects of public expenditure on production and distribution

8 Under what circumstances is unproductive expenditure justified? Discuss the question with special reference to irrigation and famine relief in India

9 What are the dangers attendant on excessive public expenditure?

10 What are the main functions of taxation?

11 Discuss how far taxation may be used for reducing inequalities in the distribution of wealth and economic welfare Explain in this connection the relative merits of productional and progressive taxes (Delhi 1951)

12 What do you mean by a Progressive Tax? With what ends in view is this kind of taxation usually adopted? (P U 1938)

13. Enunciate the fundamental principles of taxation (P U 1952 Suppl)

14 Discuss the Canon of Equity in taxation (P U. 1948 and 1949)

15 Mention the taxes which (*a*) violate and (*b*) observe the principle "The rich should pay more in taxes than the poor"

16 Explain the doctrine of equality of sacrifice in a system of taxation (P U 1949, 1949)

17 Examine and compare the merits of the different interpretations placed upon the principle of justice in taxation

18 Discuss the main considerations which usually underlie the system of taxation in a country (C U 1947)

19. How far is equality in taxation attained by income tax and a tax on expenditure

20 Critically examine the following principles of taxation and point out the difficulties in their practical application:—

(*a*) The principle of equality of sacrifice

(*b*) The principle of ability to pay

21 Explain the Diffusion Theory in relation to taxation

22 Write short notes on —

(*a*) Canon of Taxation; (*b*) Progressive Taxation, (*c*) Treasury Bills.

23 "From the point of view of its effects on production, an inheritance tax has certain advantage over an income tax" Elucidate this statement (C U B.A Hons 1946)

24 What do you mean by the incidence of tax? Trace the incidence of (1) customs duty paid in Bombay on long cloth imported from Lancashire by a wholesale merchant in Delhi, who sold it to a retailer in Gurdaspur who sold it to a local resident, and income-tax paid by the retail dealer in Gurdaspur (P U 1936)

25. Discuss the practical importance of the study of the incidence of taxation How would you determine the incidence of a tax on a consumable commodity? (P U 1939)

26 Distinguish between impact and incidence of a tax Give illustrations Trace the incidence of a tax on (*a*) economic rent, (*b*) monopoly, (*c*) building, (*d*) import duties, and (*e*) sales tax

27 What is meant by 'differentiation' in taxation? Give illustrations

28 Examine the merits and demerits of direct and indirect taxes

29 Examine the limitations of rising revenue by indirect taxes (C U 1952)

30 What is meant by taxable capacity? What factors determine it?

31. Examine the purposes for which public debt is generally incurred (C U 1946)

32 What are Public Debts? Discuss the ways in which their burden can be diminished (C U. 1951)

33 Discuss the uses and dangers of external loans

34 What are the uses of public loans in peace and war? Should a war be financed by taxes or loans or both?

35 How is war financed? Can the burden of a war be shifted to posterity? If so, how?

36 Discuss inflation as a means of financing war

37 Some writers have urged that there should be only one tax—a tax on land value Do you agree or disagree with the view? Give reasons for your answer (P U 1941)

38 Consider the view that an unbalanced budget necessarily leads to inflation (C U, B A Hons 1946)

आर्थिक व्यवस्था (Economic Order)

1 The present organization of industry is often described as capitalistic Give an explanation of the meanings of this term pointing out the distinguishing feature of capitalism (P U 1949, 1942)

2 Discuss the economic consequences of the institution of private property (P U 1951, Suppl)

3 Analyse the problem of inequality of incomes in modern society and suggest remedies (Delhi 1952)

4 The modern economic system has been called "a Government by price" Do you agree? Give reasons

5 "The present is frequently described as the age of Economic Freedom" Discuss

6 Critically examine the thesis that maximum satisfaction is attained under the capitalist *laissez faire* economy (P U 1951)

7 What is wrong with capitalism? How would you propose to remove its defects? (C U 1951)

8 Do you agree with the view that capitalism should be allowed to function unhampered in India for some time? Give reasons.

9 Critically examine the main tenets of socialism. (P U 1948)

10 Write a note on socialist programmes (C U 1946)

11 Weigh whether individual initiative is furthered or frustrated under socialism. (P U 1949)

12 How does socialism maintain the principle of the right to work, and in what way does it achieve it? Exemplify (P U 1949)

13 Enumerate the distinguishing features of socialism. Would you recommend a socialist economy for India? (P U 1952)

14 Analyse the essentials of Planned Economy (P U 1950)

15 Trace the effects of social institutions on the economic life of a country (P U 1944)

16 Write short notes on —
(a) *Laissez faire* (b) Socialism (c) Planned Economy

GLOSSARY

पारिभाषिक शब्दावली

नोट—निम्न सूची ऐसे पारिभाषिक शब्दो की है जिनका प्रयोग 'अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धांत' तथा हमारे अन्य अर्थशास्त्र संबंधी प्रकाशनो मे हुआ है । ये कोश विद्यार्थियो के लाभ के लिए है तथा इनकी प्रामाणिकता के विषय में हमारी कोई जिम्मेवारी नही है ।

English Term	*Hindi Equivalent*
Abandonment	परित्याग
Ability	योग्यता
Abnormal	असामान्य
Abolish	अन्त करना, उत्सादन करना, उन्मूलन करना
Abolition (of zamindari, of jurisdiction, of untouchability)	उन्मूलन, उत्सादन, अन्त करना
Above mentioned	उपर्युक्त, पूर्वोक्त, उपरिलिखित
Abridge	न्यून करना, न्यूनन
Absolut	परम, पूर्ण, निरपेक्ष
Abstract	भावपरक
Abstract Estimates	संक्षिप्त प्राक्कलन
Abundance	बाहुल्य, प्रचुरता
Academic	विद्या संबंधी सैद्धांतिक, शास्त्रीय
Academy	अकादेमी
Accept	स्वीकार करना
Acceleration	गतिवर्धन
Access	प्रवेश
Accessories	उपसाधन
Accommodation	आवास, स्थान
Accountant	लेखपाल
Accountant General	महालेखपाल
Accounts	लेखा
Accounts Officer	लेखाधिकारी
Activity	क्रिया, कार्यवाही, चेष्टा, गतिविधि
Additional	अपर, अतिरिक्त
functions	अतिरिक्त कृत्य
Additions and alterations	परिवर्धन तथा परिवर्तन
Adjust	समायोजन करना
Adjustment	समायोजन, व्यवस्थापन
Administered	प्रशासित
Administration	प्रशासन
Administrative	प्रशासनीय, प्रशासी

Administrator	प्रशासक
Adopt	अंगीकार करना, गोद लेना, दत्तक लेना, स्वीकार करना, अपनाना
Adult	वयस्क, प्रौढ़
Adulteration	अपमिश्रण
Ad Valorem	यथामूल्य
Advance	अग्रिम धन, पेशगी
Adverse	विपरीत, प्रतिकूल, विरोधी
Adverse balance of trade	प्रतिकूल व्यापार अंतर
Advertisement	विज्ञापन
Advisory Council	मन्त्रणा परिषद्
Advisory Land Settlement Committee	भूमि बंदोबस्त मन्त्रणा समिति
Affinity	आत्मीयता, आकर्षण
Affirm	पुष्टि करना, समर्थन करना, निश्चय करना
After sight	दर्शनोत्तर
Age groups	वयस् वर्ग
Agency	अभिकरण, एजेंसी, आढ़त
Agent (one delegated to transact business for another)	गुमाश्ता, प्रतिनिधि, एजेंट, अभिकर्ता, आढ़ती
Agony	यातना
Agrarian reform	भूमि संबंधी सुधार
Agreement	करार
Agricultural	कृषि संबंधी, कृष्य
Agricultural credit	कृषि उधार
Agricultural debt	कृषि ऋण
Agricultural economics	कृषि-अर्थशास्त्र
Agricultural income	कृषि आय
Agricultural labour	खेतिहर मजदूर, कृषि श्रम
Agricultural Labour (Implementation of Minimum Wages) Act	कृषि-श्रमिक (न्यूनतम मजदूरी परिपालन) अधिनियम
Agricultural land	कृषि-भूमि
Agricultural Meteorological Division	कृषि-ऋतुविज्ञान विभाग
Agricultural meteorology	कृषि-ऋतुविज्ञान
Agriculture	कृषि, खेती
Agriculturist	कृषक, किसान
Agro-Economic Research	कृषि-अर्थशास्त्र गवेषणा
Aid	सहायता
Aim	ध्येय
Alert	दक्ष

Alive	जागरूक, सजग
Alkaline land	क्षारीय भूमि
All India Handicrafts Board	अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड
All India Handloom and Village Industries Board	अखिल भारतीय हथकरघा तथा ग्रामोद्योग बोर्ड
Allocate	नियत करना
Allocated	नियत
Allocation	बंटवारा
Alluvial clay	कछारी मिट्टी
Alternative 1. *n*	विकल्प
2 *Adj*	वैकल्पिक
Amendment	सशोधन
Amount	राशि
Analyser	विश्लेषक
Analysis	विश्लेषण
Analytic	विश्लेषणात्मक
Analytical	विश्लेषण सम्बंधी
Ancillary	सहायक
Anonymous	गुमनाम
Announcement	घोषणा
Anti-	विरोधी, प्रति-
Anticipate	पूर्वावधारण करना, पूर्वानुमान करना, प्रत्याशा करना, पूर्वाशा करना
Anti-social elements	समाज-विरोधी तत्व
Anxiety	चिंता
Appreciate	सराहना करना, प्रशंसा करना, समझना
Apprentice	शिक्षार्थी, शिशिक्षु
Apprenticeship	शिशिक्षा
Approach	दृष्टिकोण, तरीका, ढंग, पहुंच
Appropriate *adj*, *v*	समुचित, उचित; विनियोग करना
Appropriate government	समुचित शासन
Appropriation	विनियोग
Approve	अनुमोदन करना
Apriori	कारण से कार्य का तर्क
Arbitration	मध्यस्थ निर्णय, विवाचन
Area	क्षेत्र
Argument	युक्ति, दलील, प्रतर्क
Artesian well (a well in which water rises in a bore hole by hydrostatic pressure)	पाताल तोड़ कुआ
Artificial insemination	कृत्रिम गर्भाधान
Artisan	कारीगर, शिल्पी

Artistic	कलात्मक
Ascending	चढ़ती हुई, बढ़ते हुए
Assess (to fix value, tax etc)	निर्धारण करना
Assessed	परिगणित
Assessee	निर्धार्य
Assessing	परिगणन
Assessment	परिगणन, निर्धारण (शुल्क के लिये) (कर निर्धारण
Assessor	निर्धारक, असेसर
Assets	आस्तिया
Assets and liabilities	आस्तिया तथा दायित्व
Assets, floating or circulating	चल आस्तिया
Assign (to)	सौंपना
Assignment	सौंपा जाना
Assimilate	आत्मसात् करना
Assistant Trade Commissioner	सहायक व्यापारायुक्त
Associated Chamber of Commerce	सयुक्त वाणिज्य मडल
Association (a society of persons)	सस्था, सघ
Assumption	पूर्वानुमान, अभिधारण, हाथ में लेना, हस्तातरण
At a premium	अधिमूल्य
At par	समतल पर
At sight	दर्शनी
Attach	कुर्की
Attest a document	दस्तावेज प्रमाणित करना
Attitude	मनोवृत्ति, रवैया, दृष्टिकोण
Auction	नीलाम, क्रोश-विक्रय (कौटिल्य)
Audit	लेखापरीक्षा
Authorisation of Capital Issue	पूजी निर्गम का प्राधिकरण
Authorised Capital	प्राधिकृत पूजी
Automatic	स्वयगतिक, स्वयगामी, स्वचालित, आत्मगतिक
Automobile Industry	मोटरगाड़ी उद्योग
Average	औसतन
Avocation	रोजगार
Award	पचाट, दिया जाना, पुरस्कार
Background	पृष्ठभूमि
Balance 1 (the remainder)	शेष, बकाया, अन्तर
2 (equilibrium)	सतुलन
'Balance held abroad,	विदेशी बैंकों में जमा रकम
Balance of payment	भुगतान शेष, भुगतान-अतर
Balance of payment position	भुगतान शेष स्थिति
Balance of power	शक्ति सतुलन

Balance of Trade	व्यापार अंतर
Balance-sheet	सतुलन-पत्र
Ban	रोक, प्रतिबंध (लगाना)
Bank	बैंक
Bank draft	बैंक की हुण्डी
Bank, indigenous	देसी बेक
Bank, land mortgage	भूमि-बंधक बैंक।
Banker	महाजन, साहूकार।
Banking	महाजनी, साहूकारा।
Banking Companies (Amendment) Bill	बेंकिंग समवाय (सशोधन) विधेयक
Banking Enquiry Committee	बैंकिग जाच समिति
Banking, Rural	ग्राम्य महाजनी
Bankrupt	दिवालिया
Bankruptcy	दिवाला
Bank's Guarantee	बैंक को प्रत्याभूति
Bargain	सौदा
Barrage	बाध
Barter	वस्तु विनिनय
Base (that on which a thing rests)	आधार
Based	आधारित
Base price	आधार मूल्य
Basic	आधारभूत, आधारिक
Basic index price	आधारभूत सूचक मूल्य
Basic plan conference	मूल योजना सम्मेनन
Basic wage	मूल मजूरी
Basic	आधार
Betterment charges and Acreage rates	सुधार शुल्क तथा प्रति एकड़ दर
Bid (act of making bids)	बोली देना
(command)	आज्ञा
Bilateral	उभयपक्षीय
Bill (proposed law, of exchange, of payment)	विधेयक, विपत्र, हुण्डी, देयक।

Bill

Agricultural Produce (Grading and Marketing) Amendment Bill	कृषि-उपज (क्रमस्थापन तथा विपणन) सशोधन विधेयक।
Banking Companies (Amendment) Bill	बैंकिंग समवाय (सशोधन) विधेयक।
Collection of Statistics Bill	आकडा सग्रह विधेयक
Companies Bill	समवाय विधेयक
Control of Export and Standardisation of Handloom Cloth Bill	हथकरघा वस्त्र निर्यात-नियन्त्रण प्रमापीकरण विधेयक

Employees' Provident Funds (Amendment) Bill	कर्मचारी भविष्य निधि (संशोधन) विधेयक
Essential Goods (Declaration and Regulation of Tax on Sale or Purchases) Bill	अत्यावश्यक वस्तुएं (क्रय अथवा विक्रय पर कर की घोषणा तथा विनियमन) विधेयक
Essential Supplies (Temporary Powers) Amendment Bill	अत्यावश्यक प्रदाय (अस्थायी शक्तियां) संशोधन विधेयक
Forward Contracts (Regulation) Bill	वायदे के सौदे (विनियमन) विधेयक
Handloom Industry (Improvement and Protection) Bill	हथकरघा उद्योग (सुधार तथा संरक्षण) विधेयक
Import and Export (Control) Amendment Bill	आयात तथा निर्यात (नियंत्रण) संशोधन विधेयक
Indian Finance Corporation (Amendment) Bill	भारतीय वित्त निगम (संशोधन) विधेयक
Indian Income tax (Amendment) Bill	भारतीय आयकर (संशोधन) विधेयक
Indian Merchant Shipping (Amendment) Bill	भारतीय व्यापार नौवहन (संशोधन) विधेयक
Indian Tariff (Amendment) Bill	भारतीय प्रशुल्क (संशोधन) विधेयक
Indian Trade Unions (Amendment) Bill	भारतीय कार्मिक संघ (संशोधन) विधेयक
Industrial Disputes (Amendment) Bill	औद्योगिक विवाद (संशोधन) विधेयक
Industrial Disputes (Banking Companies) Commencement of Decision Bill	औद्योगिक विवाद (बैंकिंग समवाय) विनिश्चय का प्रारम्भ विधेयक
Industrial Finance Corporation (Amendment) Bill	औद्योगिक वित्त निगम (संशोधन) विधेयक
Industries (Development and Regulation) Amendment Bill	उद्योग (विकास तथा विनियमन) संशोधन विधेयक
Khadi and other Handloom Industries Development (Additional Excise Duty on Cloth) Bill	खादी तथा अन्य हथकरघा उद्योग विकास (कपड़े पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क) विधेयक
Khadi and other Handloom Industries (Development) Cess Bill	खादी तथा अन्य हथकरघा उद्योग (विकास) उपकर विधेयक
Mines and Minerals (Regulation and Development) Bill	खान तथा खनिज (विनियमन तथा विकास) विधेयक
Minimum Wages (Amendment) Bill	न्यूनतम मजूरी (संशोधन) विधेयक
Public Financed Industries Control Board Bill	लोक वित्तपोषित उद्योग नियंत्रण बोर्ड विधेयक
Reserve Bank of India (Amendment and Miscellaneous Provisions) Bill	भारत का रक्षित बैंक (संशोधन तथा विविध उपबन्ध) विधेयक

Stock Exchange Regulation Bill	श्रेष्ठि-चत्वर विनियमन विधेयक
Unemployment Relief Bill	बेकारी सहायक विधेयक
Bill of lading	वहन पत्र
Bimetallism	दो प्रणाली धातु
Birth rate	जन्म दर
Blockade	नाकेबन्दी
Blocked	अवरुद्ध
Blocked accounts	अवरुद्ध लेखे
Board (Association)	पार्षद्, संस्था, मंडली, बोर्ड, मंडल
Board (Arbitrary, conciliation)	विवाचन मंडल, सुलह मंडल
Board of directors	संचालक मंडल
Body politics (an organized society)	समाज
Bonus	बोनस
Book (*v*) (to record in a book)	अंकित करना, बुक करना
Book credit	खाता साख
Book value	पुस्तक मूल्य
Border posts	सीमांत चौकियां
Borrowing, power	उधार लेना, उधार लेने की शक्ति
Bounty	सहायता
Brain worker	बुद्धि जीवी
British Industries Fair	ब्रिटिश उद्योग मेला
Broker	दलाल, मध्यस्थ
Brokerage	दलाली
Budget (balanced, deficit, revised surplus)	आयव्ययक, बजट (संतुलित, घाटे का, पुनरीक्षित, बचत का)
Budgeted sum	आयव्ययक वाली राशि
Bullion	बुलियन
Bureau	ब्यूरो, कार्यालय, विभाग
Bureau, labour	कामगार कार्यालय, मजदूर दफ्तर
Bureaucratic regime	नौकरशाही शासन व्यवस्था
Business	कारबार
Buy	खरीदना
Buyer	खरीदार
By-product	उपोत्पादन, गौण उत्पादन
Calendering	कपड़े को चिकना करना
Calculate	गणना करना
Calculated	आयोजित
Calculation	गणना
Call rate	द्रव्य देने की अल्पकालीन दर
Cancel	रद्द करना
Cancellation	रद्द

Cancellation of debt	ऋण विलोपन
Cancelled	प्रतिसहृत
Capacity	सामर्थ्य, हैसियत
Capital	पूंजी
Capital Assets	पूंजी आस्तिया
Capital at charge	खाता पूंजी
Capital, blocked	अवरुद्ध पूंजी
Capital called up	मागी गई पूंजी
Capital charges	पूंजी व्यय, पूंजी भार
Capital expenditure	पंजी व्यय
Capital formation	पूंजी निर्माण
Capital goods	पूंजी वस्तुयें, मशीन आदि
Capitalisation	पूंजीकरण
Capitalised value	पूंजीकृत मूल्य
Capitalism	पूंजीवाद
Capital Outlay	पूंजी व्यय
Capital Outlay of the Ministry of Commerce and Industry	वाणिज्य तथा उद्योग मन्त्रालय का पूंजी व्यय
Capital Outlay of the Ministry of Labour	श्रम मन्त्रालय का पूंजी व्यय
Capital Outlay on Currency	मुद्रा (चलार्थ) पर पूंजी व्यय
Capital Outlay on Mint	टकसाल पर पूंजी व्यय
Capital Outlay on Multipurpose River Projects	बहुप्रयोजनीय नदी परियोजनाओं पर पूंजी व्यय
Capital, paid up	चुकती पूंजी।
Capital, subscribed	स्वीकृत पूंजी
Capital, working	कार्यवहन पूंजी
Capital punishment	प्राणदण्ड
Capital repatriation	पूंजी प्रत्यावर्तन
Capital value	मूल मूल्य
Capitation Tax	प्रतिव्यक्ति कर
Cardinal	आधारभूत
Cargo ship	मालवाही जहाज
Carriage	परिवहन, वाहन
Carrier	वाहक
Carrying trade	वहन व्यापार
Carry over	मवहित, अग्रेनयन, आगे ले जाना
Carry over stocks	मवहित स्कन्ध
Carry over trade	मवहित व्यापार
Carte Blanche	अबाध अधिकार
Cartel	निमाता मघ
Cash	नकद धन, नकदी

Cash assessment	नकदी कर निर्धारण
Cash Balances	रोकड़ बाकी
Cash crop	व्यापारिक फसलें
Castration	बधिया करना, अण्डाकर्षण
Casual	आकस्मिक
Casual labour	नैमित्तिक श्रमिक
Casualty	हताहत, आहत व्यक्ति
Category	वर्ग
Ceiling (upper limit)	अधिकतम
Ceiling price	अधिक से अधिक मूल्य, अधिकतम मूल्य, उपरि-सीमा मूल्य।
Census	जनगणना
Census of land holdings	जोतों की गणना
Central Co-operative Marketing Development Board	केन्द्रीय सहकारी विक्रय विकास बोर्ड
Central Excise Deptt	केन्द्रीय उत्पादन शुल्क विभाग
Central Food Technological Research Institute	केन्द्रीय खाद्य टेक्नोलोजी गवेषणा संस्था
Central Handloom Marketing Organisation	केन्द्रीय-हथकरघा-वस्त्र विक्रय संगठन
Central Marketing Directorate	केन्द्रीय विक्रय निर्देशालय
Central Statistical Organisation	केन्द्रीय सांख्यकीय संस्था
Central Tractor Organisation	केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन
Centrifugal pump	केन्द्रप्रसारी पम्प
Ceramics	कुम्भकारी
Certainty	निश्चय
Cess	उपकर
Ceteris paribus	यदि अन्य बातें समान रहें
Challenge	चुनौती, आपत्ति करना
Characteristic (*n.*)	लक्षण
(*adj*)	लाक्षणिक
Chargeable	आदेय
Charges	दाम, मूल्य, आरोप
Charity	पूर्त
Chartered	राजाधिकार प्राप्त, अधिकृत, भाड़े पर लिया गया, चार्टर्ड, राज्य सनद प्राप्त।
Chartered Accountant	अधिकृत लेखपाल
Check	प्रतिबन्ध, रोक, परिरोध, रोकना, पड़ताल करना
Checks (positive, preventive)	प्राकृतिक निरोध, कृत्रिम निरोध
Chemical	रासायनिक, रसायन
Cheque	चैक
Choice	वरण

c i f price	लागत-बीमा-भाड़ा सहित मूल्य
Circulation	परिचालन
Circumstances	परिस्थितिया
Cite	उदाहरण देना, उल्लेख करना
Citizenship	नागरिकता
City	नगर
Class	प्रकार, वर्ग
Classified	वर्गीकृत
Classify	वर्गीकृत करना
Clay	चिकनी मिट्टी
Closing balance (figures of closing balance of Central Revenues)	अन्तिम शेष (केन्द्रीय राजस्व के अन्तिम शेष के आकड़े)
Coal, metallurgical	धातुकार्मिक कोयला
Coinage	टकण, टक
Coined	बनाया हुआ, गढ़ा हुआ
Collaboration	सहकारिता
Collect	एकत्रित करना, जमा करना, सग्रह करना
Collection	सग्रहण
Collection of Statistics Bill	आकड़ा सग्रह विधेयक
Combines	गुट
Comfort	सुख
Comfort, article of	सुख की वस्तु
Comment	टीका करना, टिप्पणी करना
Commerce	वाणिज्य
Commercial	वाणिज्यिक
Commercial Intelligence and Statistics	वाणिज्यिक सूचना तथा आकड़े
Commercial Intelligence Department	वाणिज्यिक सूचना विभाग
Commercial Secretary	वाणिज्यिक सचिव
Commission	आयोग
Commission agent	आढ़तिया, आढ़ती, कमीशन एजेन्ट, दलाल, वर्तन अभिकर्ता
Commission—Planning	योजना आयोग
Commissions of Inquiry Bill	जाच आयोग विधेयक
Commodity	पण्य, वस्तु
Commonwealth	राष्ट्रमडल
Communication	सचार
Community	समुदाय
Community Development Blocks	सामुदायिक विकास खड
Community Project Administrator	सामुदायिक परियोजना प्रशासक
Community Project Blocks	सामुदायिक परियोजना खण्ड

Community Project Officer	सामुदायिक परियोजना अधिकारी
Compact	सघन, ठोस, [illegible]
Company	कम्पनी, समवाय
Company, holding	नियन्त्रक कम्पनी
Company-promoter	समवाय प्रवर्तक
Comparative	तुलनात्मक
Compatible	अनुरूप
Competent	क्षमताशाली, सक्षम
Complacence	आत्मतुष्टि
Complacency	सतुष्टि
Complex	जटिल
Components	पुर्जे
Composite	सामासिक
Composite coaches	मिश्रित रेल डिब्बे
Compost manure scheme	कम्पोस्ट खाद योजना
Comprehensive	व्यापक, विशद, विस्तृत
Comprehensive measure	व्यापक उपाय, व्यापक विधान
Compromise	समझौता, मध्यमार्ग
Comptroller and Auditor-General	नियन्त्रक महालेखापरीक्षक
Computation	सगणना
Compute	सगणना करना, गणना करना
Computer	सगणक
Concentration	केन्द्रण
Concentration of capital	पूंजी का सकेन्द्रण
Concept	विचार, धारणा
Confirmation	पुष्टि
Conflict	विरोध, सघर्ष
Conformity	के अनुसार, अनुसारिता
Conforms	के अनुसार है
Confusion	सभ्रम, भ्रान्ति, गड़बड़ी, अस्त व्यस्तता
Consecutive	निरन्तर, लगातार
Conservation	परिरक्षण, सरक्षण, अभिरक्षण
Consign	सौंपना, भेजना
Consols, consolidated annuities	सचित वार्षिकी
Consolidation	समेकन, एकीकरण
Consolidation of holdings	चकबन्दी
Constant	सतत
Constitute	गठित करना
Construe	अर्थ करना, व्याख्या करना
Consul	वाणिज्यदूत
Consulate	वाणिज्य दूतावास
Consume	उपभोग करना, खपत करना

Consumer	उपभोक्ता
Consumer's surplus	उपभोक्ता की बचत
Consumption	उपभोग, खपत
Consumption of cloth	कपड़े की खपत
Contemplated	अवेक्षित
Contemplation	विचार, ध्यान, अनुध्यान, चिन्तन, अवेक्षण
Contingencies	आकस्मिकतायें
Contract	ठेका, संविदा
Contract-'marrying' a,	'संविदा'का संतुलन
Contribution	अंशदान
Control	नियन्त्रण, कन्ट्रोल
Controversial	विवादग्रस्त, विवादास्पद
Co efficients	गुणक
Co-operative Credit Society	सहकारी उधार समिति
Co-operative endeavour	सहकारी प्रयत्न
Co operative Farming	सहकारी खेती
Co operative Society	सहकारी समिति
Co operative Weavers Production and Sale Society	बुनकरों की सहकारी उत्पादन तथा विक्रय समिति
Co ordination	एकसूत्रता, समन्वय, सहयोजन
Corporation	निगम
Corporation tax	निगम कर
Cost	खर्च, परिव्यय, लागत, मूल्य
Cost Account	लागत लेखा
Cost of living	निर्वाह व्यय
Cost of living index figures	निर्वाह-व्यय देशनांक के आंकड़े
Cost of maintenance (of the Directorate)	(निर्देशनालय का) संधारण व्यय
Cottage Industry	कुटीर उद्योग
Cotton seed	बिनौले
Cotton waste	छीजन, गूदड़, रद्दी रुई
Count	गिनना
Counter-balance	प्रतिसंतुलन
Covered Workers	सरक्षित श्रमिक
Credit	प्रत्यय, साख, जमा करना, समाकलन
Creditor	ऋणदाता
Credit worthiness	विश्वासनीयता, साख
Crop financing	फसलों के लिये वित्त व्यवस्था
Cross elasticity	मिश्रित लोच
Cultivator	काश्तकार, कृषक, किसान
Culturable waste	खेतीयोग्य बंजर भूमि
Culturable waste land	कृषि योग्य बेकार पड़ी भूमि

Cumulative preference shares	संचयी पूर्वाधिकार अंश (शेयर)
Cumulative shares	सचयी अंश, सचयी शेयर
Currency	मुद्रा, चलार्थ
Current	चालू
Custom duty	सीमा शुल्क, बहि शुल्क
Customs	सीमा शुल्क
Cut-throat competition	गला-घोंटू प्रतियोगिता
Damage	हरजाना
Data (facts given from which others are inferred)	न्यास, सामग्री
Days of grace	रियायती दिन
Debentures	ऋण-पत्र
	विकलन, नामे
Debt	ऋण
Debt charges	ऋणभार
Debt due	देय ऋण
Debt Settlement Agreements	ऋण के निपटारे के करार
Decent standard of life	शिष्ट-जीवन-स्तर
Deduction	कमी, काट, निगमन, कटौती
Deductive	निगमन
Deferred	आस्थगित
Deficiency	न्यूनता, कमी।
Deficit	कमी, न्यूनता, घाटा
Deficit areas	कमी प्रधान क्षेत्र
Deficit Financing	नोट छाप कर वित्त की व्यवस्था करना, घाटे की अर्थ व्यवस्था, घाटे की वित्त व्यवस्था
Defrayable	व्यय किये जाने वाले
Degressive	अधोगामी
Deliver	भुगतान करना, देना, सुनाना।
Demand	माग
Demand (alternative, composite, constant, curve, potential)	माग [विकल्पी, सामासिक (समूहित), एकली, वक्र, सम्भावनीय]
Department	विभाग
Deposit	निक्षेप, जमा करना
Deposited	रख दिया गया, निक्षिप्त।
Depositor	रुपया जमा करने वाला, निक्षेपक
Depreciation	अवमूल्यन, अवक्षयण, मूल्य ह्रास,
d allowance	घिसाई की छूट, अवक्षयण छूट
d fund	अवक्षयण निधि
d. of currency	मुद्रा अवमूल्यन
d. Reserve Fund	अवक्षयण रक्षित निधि
Depression	मंदी

Descent	उद्भव, उत्पत्ति
Desire	इच्छा
Detail	ब्योरा
Devaluation	न्यून मूल्यन, अवमूल्यन
Development	विकास, उत्पत्ति, वृद्धि
Development Blocks	विकास खण्ड
Development Suspense Account	विकास उचन्ती खाता
Dexterity	निपुणता, दक्षता
'Differential Cost' Subsidy	'भिन्नक लागत' वित्तीय सहायता
Diminution	ह्रास करना, घटोतरी
Discount	बट्टा, अपहार
Discount (a bill of exchange), to	(हुण्डी) भुनाना
Discretion	स्वविवेक
Distribution	वितरण
District	जिला
Diversion line	विकर्षण लाइन
Divide	बाटना
Dividend	लाभांश
Dividend—limitation of	लाभांश का परिसीमन
Dividend payable to General Revenues	साधारण राजस्व में देय लाभांश
Division	श्रेणी, भाग, विभाग, प्रदेश, मडल, डिवीजन, भाग (गणित में), विभाजन, खण्ड
Doles	दानरूप में दी गई वस्तु
Donee	देयी, दान ग्रहीता
Dose	अंश
Double taxation	दुहरा कराधान, दुहरा करारोपण
Draft	मसौदा, हुण्डी
Due (Debt) 1 (owed, that ought to be paid)	देय (ऋण), देहांश, प्राप्य
2 (proper) *adj*	उचित, यथा नियम, सम्यक
Dumping	राशिपातन
Duopoly	द्याधिकार
E C A F E	एशिया तथा सुदूर पूर्व के लिये आर्थिक आयोग
Economic Adviser	आर्थिक मंत्रणाकार
Economic and Social Council	आर्थिक एव सामाजिक परिषद्
Economic Civil Service	आर्थिक असैनिक सेवा
Economic cost	उचित लागत
Economic incentive	आर्थिक प्रेरणा
Economic Missions	आर्थिक शिष्ट मडल
Economic necessity	आर्थिक आवश्यकता
Economic policy	अर्थ-नीति

Economic system — आर्थिक व्यवस्था
Economics, theoretical—applied — सैद्धान्तिक, फलित अर्थशास्त्र
Economiser (a part of Boiler) — इकोनोमाइजर
Economy — मितव्ययता, अर्थव्यवस्था, किफायत
Economy (mixed, planned and unplanned) — मिली-जुली अर्थव्यवस्था, योजनाबद्ध तथा योजना रहित
Edible — खाद्य, खाने के योग्य
Efficiency — कर्मदक्षता, दक्षता, कार्य-कुशलता, कार्यपटुता
Efficiency of production — उत्पादन क्षमता
Elasticity — लोच
Element — तत्व
Embankment — बन्ध
Employed — सेवायुक्त, नियोजित
Employee — नौकर, कर्मचारी, नियोज्य
Employees' Provident Fund (Amendment) Bill — कर्मचारी भविष्यनिधि (संशोधन) विधेयक
Employees' State Insurance Corporation — कर्मचारी राज्य बीमा निगम
Employer — नियोजक, मालिक
Employment — नौकरी
Employment Bureau — सेवा योजनालय
Employment Exchange — काम दिलाऊ दफ्तर
Employment Exchanges and Resettlement — काम दिलाऊ दफ्तर तथा पुनर्स्थापन
Employment full — पूर्ण रोजगार
Endorse — अंकन, पृष्ठांकन
Endorsed — अंकित, पृष्ठांकित
Endowment — धर्मस्व
Engineer — इंजीनियर
Enquiry — जांच, पूछताछ करना
Enquiry Committee — जांच समिति
Enterprise — उपक्रम, उद्यम
Entrepreneur — उपक्रमी, उद्यमी
Equipment — उपकरण
Equitable — समन्याय्य
Equity — समन्याय्य
Equilibrium — साम्यावस्था
Erosion — मिट्टी का कटाव, भूमि क्षय।
Estimate *v* — कूतना, मूल्यांकन करना, अनुमान करना, प्राक्कलन करना
Evasion — वंचना, अपवंचन
Evasion of tax — कर अपवंचन

Evolution	विकास
Exceptional grant	विशेष अनुदान
Excess profit	अतिरिक्त लाभ
Exchange	विनिमय, आदान प्रदान
Exchange control restrictions	मुद्रा विनिमय नियन्त्रण प्रतिबन्ध
Exchange Rate	विनिमय दर
Exchange Ratio	विनिमय अनुपात
Exchequer	राजकोष
Excise Duty	उत्पादन शुल्क
Exchange, produce, stock	मंडी, स्टाक बाजार
Expansion	प्रसार
Expenditure	व्यय
Expense	व्यय
Experimental	प्रयोगात्मक, परीक्षात्मक
Expiration	समाप्ति
Exploitation	उपयोग करना, शोषण करना, लाभ उठाना, शोषण
Export	निर्यात
Export Duty	निर्यात शुल्क
Export general manifest	सामान्य निर्यात माल सूची
Export Promotion Council for Textiles	वस्त्र निर्यात संवर्धन परिषदें
Export Promotion Councils	निर्यात संवर्धन परिषदें
Export visible, invisible	दृश्य, अदृश्य निर्यात
Extension	विस्तार
Extensively	विस्तारपूर्वक
External economies	बाहरी किफायतें
Extractive	निष्कर्षक
Extreme	चरम
Extremity	चरम सीमा
Face value	अंकित मूल्य
Facility	सुकरता, सुविधा
Factor	साधन, कारक
Factory	फैक्टरी, कारखाना
Fair price shop	उचित मूल्य वाली दुकान
Fair Retention Price of Steel	इस्पात का उचित धारण मूल्य
Fair wages	उचित मजूरी
Family Planning	परिवार आयोजन
Family Survey	परिवार सर्वेक्षण
Famine	दुर्भिक्ष, अकाल
Famine Code	(दुर्भिक्ष) अकाल संहिता
Fare	किराया, भाटक, भाड़ा
Farmer	खेतिहर, कृषक

Fatigue	क्लाति
Fertiliser	उर्वरक
Field	मैदान, खेत
Field-work	क्षेत्र कार्य
Finance	वित्त, वित्त व्यवस्था करना
Finance Bill	वित्त विधेयक
Finance Commission	वित्तायोग
Financed	वित्तपोषित
Finances	वित्त
Financial	वित्तीय
Financial Bill	वित्तीय विधेयक
Financial implications (of agreement)	(समझौते के) वित्तीय परिणाम
Financial matter	वित्तीय विषय
Financial obligation	वित्तीय आभार, वित्तीय दायित्व
Financial stability	वित्तीय स्थायित्व
Financiers	पूंजी लगाने वाले
Firm (a business house)	सार्थ, फर्म
Fiscal	राजकोषीय
Fix	नियत करना, स्थिर करना
Fixed deposit	सावधि निक्षेप
Flexibility	लचीलापन
Floating Capital	चलपूंजी, प्लवमान
Floating debt	अल्पकालीन ऋण
Floor price	निम्नतम मूल्य
Fluctuating	घटती बढ़ती
Food-stuffs	खाद्य पदार्थ
Food Technological Institute	खाद्य प्रोद्योगिक संस्था
Forbidden	निषिद्ध
Forced labour	बेगार
Foregoing	पूर्ववर्ती, पूर्वगामी
Foreign	विदेशी
Foreign affairs	विदेशी कार्य
Foreign Agent	विदेशी आसन
Foreign country	विदेश
Foreigner	विदेशीय
Foreign Exchange	विदेशी मुद्रा, विदेशी विनिमय
Foreign Exchange Regulation Act	विदेशी विनिमय विनियमन अधिनियम
Forest	वन
Forfeit	जब्त करना
Formal	यथारीति, यथानियम, यथारूप, यथाचार, विहिताचार, उपरिक, वाह्यरूपिक, औपचारिक

Former and latter	पूर्वोक्त तथा उपर्युक्त
Formula	सूत्र
Forward Markets Commission	वायदा बाजार आयोग
Forward Trading	वायदा व्यापार
Fraction	भिन्न
Free Commerce	अबाध वाणिज्य
Freedom	स्वातन्त्र्य, छूट
Freehold (land)	निष्कर (भूमि), जागीर
Free import	निर्बाध आयात
Freely	अबाध
Freely, (move)	अबाध (संचरण)
Free of tax	कर-मुक्त
Free trade	अबाध व्यापार
Freight	भाड़ा, किराया, वस्तुभाड़ा
Fundamental	मूलभूत, मूल
Fundamentals	मूलसिद्धान्त
Future Market	वायदा बाजार
Gambling	जुआ
G A T T (General Agreement on Trade and Tariff)	व्यापार तथा प्रशुल्क सम्बन्धी सामान्य समझौता
Gazette	सूचना-पत्र
General Budget	सामान्य आयव्ययक
Geographical proximity	भौगोलिक समीपता (निकटता)
Geographical society	भौगोलिक समिति
Geographical (territorial) division of labour	भौगोलिक श्रम विभाजन
Geological survey	भूतत्वीय परिमाप भूतत्त्वीय सर्वेक्षण
Geologist	भूतत्वज्ञ, भूतत्ववेत्ता
Geometric	गुणोत्तर
Godown	गोदाम, कोष्ठागार कोठार
Goods	माल, वस्तु, पदार्थ, सामग्री
Goods, (economic, exported, imported, free, material, non-material, transferable, non-transferable)	[माल अथवा पदार्थ—आर्थिक, निर्यात, आयात, नैसर्गिक, भौतिक, अभौतिक, हस्तान्तरणीय, अहस्तान्तरणीय
Goodwill Mission	सद्भावना मंडल
Government	शासन, सरकार
Governmental	सरकारी, शासकीय
Government of a State	राज्य की सरकार
Government of India	भारत सरकार
Governor	राज्यपाल
Grading	श्रेणीबद्ध करना, अनुपातन

Grant	अनुदान
Graph	ग्राफ, लेखाचित्र
Gratuity	उपदान
Gross	सकल
Gross income	सकल आय
Ground	भूमि, जमीन, स्थल, आधार, कारण
Ground Survey	भूमि सर्वेक्षण
Group	वर्ग, समूह
G R T (Gross Registered Tonnage) of shipping	कुल पंजीबद्ध टनभार
Guarantee	प्रत्याभूति, गारंटी
Guidance	मार्ग दर्शन, पथ-प्रदर्शन
Gynaecology	स्त्री-रोग विद्या, सतति विद्या
Gypsum	जिप्सम
Gypsy	यायावर, खानाबदोश
Handicap	बाधा, कठिनाई
Handicraft	हस्तशिल्प, दस्तकारी
Handicraftsman	हस्तशिल्पी, दस्तकार
Handloom Cess Fund	हथकरघा उपकर निधि
Handloom Industries Development Rules	हथकरघा उद्योग (विकास सम्बन्धी नियम)
Handloom Industry (Improvement and Protection) Bill	हथकरघा उद्योग (सुधार तथा संरक्षण) विधेयक
Hard board	मोटा गत्ता
Hard coke	पक्का कोक, हार्ड कोक
Hard currency	दुर्लभ मुद्रा
Headman	मुखिया
Heavy chemicals	भारी रसायन, भारी रासायनिक पदार्थ
Heavy chemicals (Acids and Fertilisers)	भारी रसायन (अम्ल तथा उर्वरक)
Hedge planting of tea	चाय की झाड़ियों का कतार में लगाना
Heredity	वंश परम्परा
High-level experts	उच्च कोटि के विशेषज्ञ
Highways (National)	(राष्ट्रीय) राजपथ
High-yielding clones	अधिक पैदावार वाली कलमें
Hire-purchase	क्रयावक्रय
Hoard	संचय करना, साठेबाजी करना
Hoarding	संचय, अपसंचय, साठेबाजी
Hold	गोदाम, अधिकार, प्रभाव, धारण करना, रखना
Horizontal	क्षैतिज
Horizontal and Vertical development	क्षैतिज तथा उदग्र विकास

Horizontal basis (of rates)	(दरों का) एक समान आधार
Horticulture Committee	उद्यान विद्या समिति
Human consumption	मानव-उपभोग
Humane	मानवोचित
Hybridisation	प्रसंकरण
Hydro electric	पन-बिजली, जलविद्युत
Hydrographic survey	पानी सम्बन्धी पड़ताल
Hydrological data	जल विज्ञान सम्बन्धी आंकड़े (तथ्य)
Hypothesis	वाद-कल्प, कल्पना
IJMA	भारतीय पटसन मिल संघ
Immigrant	आप्रवासी
Imminent	सन्निकट
Immoral	अनैतिक
Impact	आघात
Implement	परिपालन करना, कार्यान्वित करना, क्रियान्वित करना, अभिपूर्ति
Implicit	अन्तर्हित, अन्तर्निहित
Import	आयात
Impose (a duty, a restitution, a service, a tax)	(निर्बन्धन) आरोपित करना, कर्त्तव्य आरोपित करना, कर्त्तव्य सौंपना, सेवा लागू करना
Imposition (of a tax)	करारोपण
Inception	उपक्रम, प्रारम्भ
Incidence	आपात
Incident	घटना
Incidental	संयोगवश, प्रासंगिक
Incidental charges	प्रासंगिक व्यय
Income tax	आय-कर
Income tax Appellate Tribunal	आय-कर अपीलीय न्यायाधिकरण
Income-tax Clearing Certificate	आय-कर भुगतान प्रमाणपत्र, आय-कर शोधन प्रमाणपत्र
Incompatible	विसंगत, असंगत
Incompetency	अक्षमता
Incongruous	अननुरूप
Inconsistent	असंगत
Incorporated	समाविष्ट, सम्थापित, निगमित
Increase	वर्धन, वृद्धि
Indebted	ऋणग्रस्त
Indebtedness	ऋणिता
Indemnity	तारण देना, क्षतिपूर्ति
Indent	वस्तु सूची, व्यादेश
Index numbers	देशनांक, सूचक अंक
Indian Companies	भारतीय समवाय

Indian Cotton Cess	भारतीय रुई उपकर
Indian hemp	भंग, भांग
Indian Merchant Shipping	भारतीय वाणिज्यिक नौवहन
Indian Shipping Companies	भारतीय नौवहन समवाय
Indian Statistical Institute	भारतीय सांख्यिकी संस्था
Indian Supply Department	भारतीय संभरण विभाग
Indian Supply Mission	भारतीय संभरण मिशन
Indian Tea Market Expansion Board	भारतीय चाय विक्रय विस्तार बोर्ड
Indian Trade Unions	भारतीय कार्मिक संघ
Indigenous	देशीय
Inductive	आगमन
Industrial Administration and Business Management	औद्योगिक प्रशासन तथा कारबारी प्रबन्ध
Industrial Employment Standing Orders Act	औद्योगिक नियोजन स्थायी आदेश अधिनियम
Industrial Finance Corporation	औद्योगिक वित्त निगम
Industrial Hygiene Survey	औद्योगिक स्वास्थ्य व्यवस्था सर्वेक्षण
Industrialisation	औद्योगिकरण
Industrial Mineral Laboratory	औद्योगिक खनिज प्रयोगशाला
Industrial or Business undertakings	औद्योगिक वाणिज्यिक उपक्रम
Industrial Truce Resolution	औद्योगिक संधि संकल्प
Industrial Workers Housing Scheme	औद्योगिक श्रमिक गृहव्यवस्था योजना
Industry	उद्योग
Inelastic	लचकहीनता
Inequality of wealth	धन की असमता
Infant industries	प्रारम्भिक उद्योग
Infectious	संक्रामक
Inference	अनुमान
Inflammable	ज्वालाग्राही, ज्वलनशील
Ingredient	अंश
Inheritance	दायभाग, दाय
Inland	अन्तर्देशीय
In point of time	समय क्रम
In rotation	बारी से
Insecticides and fumigants	कृमिनाशक तथा धूमक
Inquiry	जांच
Insolence	औद्धत्य, उद्दण्डता
Insolvency	शोधाक्षमता, दिवालियापन
Insolvency Law	शोधाक्षमता विधि

Insolvent	दिवालिया
Installation	सस्थापना, अधिष्ठापना
Installed capacity	सस्थापित क्षमता, अधिष्ठापित क्षमता
Institute	सस्था, सस्थापन, प्रारम्भ करना, जारी करना
Institution	सस्था, प्रतिष्ठान
Insurance	बीमा
Intense	तीव्र, उग्र, प्रकृष्ट
Intensive	प्रकृष्ट, गहन
Intensive cultivation	घनी खेती, गहन कृषि
Intensive Evaluation of Community Projects	सामुदायिक परियोजनाओं की प्रगति की गहन पड़ताल
Intensive Evaluation Organisation (Community Projects)	गहन मूल्याकन सगठन
Interchange	अदला-बदली
Intercourse	समागम
Interest	स्वार्थ, स्वत्व, अभिरुचि, हित, अश, ब्याज
Internal (economies)	आन्तरिक, आभ्यन्तरिक, भीतरी किफायतें
International	अन्तराष्ट्रीय
International Bank for Reconstruction and Development	पुनर्निर्माण तथा विकास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
International Farm Youth Programme	अन्तर्राष्ट्रीय किसान युवक कार्यक्रम
International Monetary Fund	अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि
International Trade Fair	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेला
Intervening period	अन्तःकाल
Intestacy	वसीयत हीनता, इच्छापत्रहीनता
Intestate	वसीयत रहित, इच्छापत्रहीन, निर्वसीयत
Intrinsic value	आन्तरिक मूल्य
Invalidity pension	असमर्थता-निवृत्तिवेतन
Invest	विनियोग करना, विनियोजन करना, पूंजी लगाना, युक्त करना, देना
Invested	विनियोजित
Investigate	जाच करना, अनुसन्धान करना
Investigation	जाच, अनुसन्धान
Investigator	जाच करने वाला, अनुसन्धानकर्त्ता
Investment	विनियोग, विनियोजन
Investor	विनियोजक
Invoice	बीजक
Iron and Steel Companies Amalgamation Bill	लोहा तथा इस्पात समवाय एकीकरण विधेयक
Iron scrap	लोहे का कबाड़
Irrigation	सिंचाई

Irrigation charges	सिंचाई शुल्क, आबयाना
Irrigation (including working expenses), Navigation, Embankment and Drainage Works (met from Revenue)	सिंचाई (कार्यवहन-व्यय सहित), नौपरिवहन, बन्ध तथा जल निस्सारण योजनाएं (राजस्व से देय)
Issued	निर्गमित, जारी किया गया
Issued capital	निर्गमित पूंजी
Issue of money	धन की निकासी करना
Issue process	आदेशिका निकालना
Job analysis	कार्य विश्लेषण
Job work	फुटकर काम
Joint family	अविभक्त परिवार
Joint Stock Companies	संयुक्त स्कन्ध समवाय, संयुक्त पूंजी समवाय
Judiciary	न्यायपालिका
Junior and senior	कनिष्ठ और ज्येष्ठ
Key Farms	मूल फार्म
Kind (or cash)	जिन्स (अथवा नकदी)
King seam	खड़ी तह
Labour	श्रम, श्रमिक
Labour Appellate Tribunal	श्रम अपीलीय न्यायाधिकरण
Labour copartnership	श्रम सहभागिता
Labour Force	श्रमिक वर्ग
Labour Welfare Committee	श्रमिक कल्याण समिति
Labour Welfare Officer	श्रमिक कल्याण अधिकारी
Labour Woman	मजदूरिन
Lacquerid articles	लाख के रंग की पच्चीकारी वस्तुएं
Land	भूमि, जमीन
Land Acquisition Act	भू-अवाप्ति अधिनियम
Land Acquisition Officer	भू-अवाप्ति अधिकारी
Land Customs Office	भू-सीमाशुल्क कार्यालय
Landed Cost	तटागत मूल्य
Landlord	भूस्वामी
Land Mortgage Banks	भू-बन्धक बैंक
Land records	भू-अभिलेख
Land reform	भूमि सुधार
Land Reforms Committee	भूमि सुधार समिति
Law	विधि, विधान, कानून, नियम
Law (of equi-marginal utility)	[समसीमान्त उपयोगिता का] नियम
Law (of substitution)	[प्रतिस्थापन का] नियम
Law of inheritance	उत्तराधिकार विधि
Ledger	बही खाता, लेजर
Legal documents	कानूनी कागजपत्र

Legal right	वैध अधिकार
Legal tender	विधिमान्य मुद्रा
Legislative	विधायिनी, वैधानिक
Legislature	विधान मंडल
Lend Lease Account	उधार पट्टे का लेखा
Lessees	पट्टेदार
Letters patent	एकस्वपत्र
Level	तल, स्तर
Level of nutrition	आहारपुष्टिस्तर
Levy	आरोपण
Licence	अनुज्ञप्ति, लाइसेंस
Limitation of dividends	लाभांशों का परिसीमन
Linear or non linear	सकुचित अथवा असकुचित
Line of communication	सचार की लीक
Liquidate	परिसमापित कर देना
Liquidated	परिसमापित
Liquidation	परिसमापन
Liquidator	परिसमापक पदाधिकारी
Liquidity preference	तरल अधिमान
Liquids	तरल
Livelihood	जीविका
Live stock	पशुधन
Live-Stock Importation	पशुधन आयात (संशोधन) विधेयक
Living conditions	रहन-सहन की हालत
Living wage	निर्वाह मजूरी
Load	भार
Loan	उधार, ऋण
Loans and Advances by Central Government	केन्द्रीय सरकार द्वारा देय ऋण तथा अग्रिम धन
Local body	स्थानीय निकाय
Locked Assets	अवरुद्ध आस्तियां
Lock out	तालाबन्दी
Log Book	रोजनामचा
Long and Medium term loans	दीर्घ तथा मध्यमकालीन ऋण
Long term Market	दीर्घकालीन बाजार
Loss	हानि, घाटा, टोटा, अलाभ
Lottery	भाग्यदा, लाटरी
Low cost	सस्ता
Low grade coal	घटिया कोयला
Low grade manganese ore	घटिया मैंगनीज अयस्क
L[illegible]	विलास वस्तुएं
	विलास वस्तुएँ

Machinery	मशीनरी, कार्य व्यवस्था, प्रबन्ध, यन्त्र
Machine Tool Prototype Factory	मूलरूप मशीनी औजार निर्माण कारखाना
Machine tools	मशीनी औजार
Machinist	मशीन चालक
Maintenance allowance	भरण-पोषण भत्ता, निर्वाह भत्ता
Male line	पितृ-परम्परा
Malnutrition	कुपोषण, अपर्याप्त पोषण
Ma-practice	कदाचार, दुराचार
Management	प्रबन्ध, व्यवस्थापन
Managing agency system	प्रबन्ध अभिकरण पद्धति
Managing Agents	प्रबन्ध अभिकर्ता
Managing Director	प्रबन्ध सचालक
Man-day loss	जनदिनों की हानि
Man-days	जन-दिवस, जन-दिन
Manganese Ore	मैंगनीज अयस्क, लोहक अयस्क
Manganese processing plant	मैंगनीज साफ करने का यन्त्र
Man power	जन-शक्ति
Manufacture	निर्माण
Manufactured	निर्मित
Manufacture of earthenware and porcelainware	मिट्टी के तथा चीनी मिट्टी के बर्तनों का निर्माण
Manure	खाद
Marginal fallow land	सीमान्त परती भूमि
Marginal yield	सीमान्त पैदावार
Mark	चिह्न
Marked	चिह्नित
Market	मंडी, हाट, बाजार
Marketable	बिक्री योग्य
Market fluctuations	भावों का उतार चढ़ाव
Master workman	उस्ताद कारीगर
Material advantages	भौतिक लाभ, विशेष लाभ
Material resources	भौतिक समाधन
Maternity Centre	प्रसूति केन्द्र
Maternity welfare	प्रसूति कल्याण
Matured and unmatured policies	परिपक्व तथा अपरिपक्व बीमा-पत्र
Maximum	अधिकतम, भूयिष्ठ
Means	साधन
Means of Communication	संचार-साधन
Measure	नाप, माप, मान, उपाय, विधान
Mechanical contraceptives	गर्भ निरोधक उपकरण
Mechanical Engineering Research Institute	यान्त्रिक इंजीनियरी गवेषणा संस्था

Mechanically propelled	यन्त्र-चालित
Mechanisation	यन्त्रीकरण
Medium	माध्यम
Menufi	एक किस्म की मिस्री रूई (मेनुफी)
Mercantile agent	वणिज्य-अभिकर्ता
Mercantile Marine	वणिक-पोत
Merchandise	पण्य, व्यापार-वस्तुयें
Merchandise marks	पण्य चिह्न, व्यापार चिह्न
Merchant Vessel	वणिक् पोत
Messenger	संदेशवाहक, हरकारा, संदेशहर
Mesta	एक किस्म की मिस्री रूई (मेस्ता)
Metallic ore	धात्विक खनिज
Metallurgical	धातु विज्ञान सम्बन्धी, धातुकधार्मिक, धातुशोधन सम्बन्धी
Metric system	दशमिक प्रणाली
Miconite	माइकोनाइट
Middle men	बिचौलिये, मध्यजन
Migration	प्रव्रजन
Milch	दुधारू
Milo	लाल जुआर
Mineral	खनिज
Mineral development	खनिजों का विकास
Mineral oil resources	खनिज तेल समाधन, खनिज तैल सम्पत्
Mineral resources	खनिज-सम्पत्
Mines and Minerals	खान तथा खनिज
Minimum	न्यूनतम
Minimum Wages	न्यूनतम मजूरी
Mining lease	खनन पट्टा
Mining Method	खनन रीति
Mining settlement	खनि-बसति, खनिक बस्ती
Minister	मन्त्री
Ministry of Commerce and Industry	वाणिज्य तथा उद्योग मन्त्रालय
Ministry of Communications	सञ्चार मन्त्रालय
Ministry of Finance	वित्त मन्त्रालय
Minor Irrigation Projects	छोटी सिंचाई परियोजनायें
Minority	अवयस्कता, नाबालगी, अल्पसंख्यक वर्ग
Mixed economy	मिश्रित अर्थ-व्यवस्था
Mobility	गतिशीलता
Mobility (horizontal, vertical, occupational)	गतिशीलता [समस्तर (क्षैतिज), उदग्र, व्यावसायिक]
Model	आद्य रूप, नमूना, आदर्श, प्रतिरूप

Modernisation	आधुनिकीकरण
Moisture	नमी
Monetary	धन विषयक
Monetary Bill	धन विधेयक
Monetary Fund, International	अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष
Money	धन
Money Bill	धन विधेयक
Money lender	साहूकार
Money lending	साहूकारी
Money motive	द्रव्य हेतु
Monopoly	एकाधिपत्य, एकाधिकार
Monopsomy	क्रयाधिकार
Mopping up (savings)	इकट्ठा करना
Mortgage	बन्धक, रेहन
Mortgage decrees	बन्धक आज्ञप्तियां
Mortgage deed	बन्धक-पत्र, रहन नामा
Mortgagee	बन्धकधारी
Mortgager	बन्धककर्ता
Motive	प्रेरणा, हेतु, प्रयोजन
Motive (business, financial, income speculation, transaction)	हेतु—व्यापार, वित्तीय, आय, सट्टा, सौदा
Motor seeds	मूल बीज
Multilateral convertibility	बहुपक्षीय मुद्राविनिमय
Multilateral system	बहुपक्षीय पद्धति
Multiple	गुणित, गुणक
Multiple-Unit-Stock	बहु-एकक-माल
Multi-point-taxation	बहुसूत्री करारोपण
Multipurpose River Schemes	बहुप्रयोजनीय नदी परियोजनायें
Mutual benefit	पारस्परिक हित
Mutual transfer	पारस्परिक स्थानान्तरण
Natality	जन्म संख्या
National Physical Laboratory	राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला
National Productivity Centre	राष्ट्रीय उत्पादन केन्द्र
National Prosperity	राष्ट्रीय समृद्धि
National Sample Survey	राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण
National Savings Certificate	राष्ट्रीय बचत पत्र, राष्ट्रीय संचय प्रमाण-पत्र
Naval Ratings	मल्लाही
Necessary (ies), (conventional, absolute)	आवश्यक, आवश्यक वस्तुएं [रूढ़ आवश्यकताएं, अनिवार्यताएं]
Necessity	आवश्यकता
Negative	नकारात्मक
Negotiate	बातचीत करना

Nepotism — भाई-भतीजावाद
Net income — शुद्ध आय
Net proceeds — शुद्ध आगम
Non cereal food — निरन्न आहार
Non credit — ऋणेत्तर
Non-ferrous — अलौह
Non-ferrous metals industry — अलौह धातु उद्योग
Non par value share (a share in the form of fraction of the whole capital) — असम मूल्य पर
Non perennial canal — मौसमी नहर
Non preferential — प्राथमिकता रहित
Non recurring — अनावर्तक अनावर्ती
Non Scheduled Banks — अन-अनुसूचित बैंक, अनुसूचित बैंक
Normality — सामान्यता
Number — संख्या, क्रमांक
Nutrition — पोषण, पौष्टिक पदार्थ, आहार पुष्टि
Nutritional — पोषाहारी
Nutritional diseases — कुपोषण रोग
Nutrition Committee — आहार पोषण समिति
Nutrition Research Laboratory — पोषण गवेषणा प्रयोगशाला
Nutritive — पोषक
Objects and Reasons — उद्देश्य तथा कारण
Occidental — पाश्चात्य
Occupancy — अधिभोग
Occupancy right — भोग अधिकार
Occupancy tenant — भोक्ता कृषक
Occupant — अधिभोक्ता
Occupation — उपजीविका, दखल
O E E C (Organisation of European Economic Cooperation) — यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन
Office of profit — लाभ-पद
Oilcake — खली
Oil refineries — तेल शोधक कारखाने
Oil resources — तेल-सम्पत
Oil seeds — तिलहन
Oil survey — तेल सर्वेक्षण
Oligo-polistic — स्वल्पाधिकार (गं) [अल्पाधिकार]
Open Line Works—Development Fund — चालू लाइनों सम्बन्धी कार्य—विकास निधि
Open Line Works (Revenue)—Labour Welfare — चालू लाइनों सम्बन्धी कार्य (राजस्व) —श्रम कल्याण
Open Line Works—Replacements — चालू लाइनों सम्बन्धी कार्य—प्रतिस्थापन

Open market	खुला बाजार
Operational costs	संचालन व्यय
Operative	क्रियाकारी
Opportunity	अवसर
Optimum	जुल्म, अत्याचार
Ordinance	अध्यादेश
Ore	अयस्क, खनिज
Organised industry	संगठित उद्योग
Orient	प्राच्य
Other Capital Outlay of Ministry of Finance	वित्त मंत्रालय का अन्य पूंजी व्यय
Outlay	व्यय
Outstanding business	बचा हुआ कार्य
Outstanding claims	दावे जो चुकाये नहीं गये
Over-all planning	समूचा आयोजन
Over-estimation	अत्यागणन, अध्यागणन
Overhead charges	उपरि व्यय, ऊपर का खर्च
Overhead costs	उपरि व्यय, ऊपर की लागत, बंधी लागत
Overlap	अतिछादी होना
Overtime allowance	अधिक समय तक काम करने का भत्ता
Over-valuation	उपरि-मूल्यन, अतिमूल्यन
Owner	स्वामी होना
Ownership	स्वामित्व, मालिकी
Paid employment	वैतनिक नौकरी
Paid up capital	प्रदत्त पूंजी
Parliament	संसद
Partial Financial Aid Scheme	आंशिक वित्तीय सहायता योजना
Partition	विभाजन
Partnership	भागिता
Pay	भुगतान करना
Payable	देय
Payment	भुगतान, शोधन, देनगी
Pay scales	वेतन श्रेणी, वेतन क्रम
Peak level	चरम स्तर
Pecuniary	आर्थिक
Pegging exchange	उद्बंधन विनिमय
Penultimate	उपांत उत्पादन
Per annum	प्रतिवर्ष
Per capita income	प्रति व्यक्ति आय
Per cent	प्रतिशत
Perennial and non-perennial canals	बारहमासी तथा मौसमी नहरें
Performance Bonds on Contracts	संविदाओं सम्बन्धी कार्यपूर्ति बन्ध

Per mensem	प्रतिमास
Pertinent	तत्सगत
Physical	भौतिक
Piecemeal	खण्डश
Piece work	खण्ड कार्य
Pilot Development Projects	अग्रिम विकास परियोजनायें
Pilot Project	अग्रिम परियोजना
Pilot Quarrying Project	अग्रिम खनन परियोजना
Pilot Scheme	अग्रिम योजना
Pisciculture	मछली-पालन
Planned economy	आयोजित अर्थ यवस्था
Planning	योजना
Planning Commission	योजना आयोग
Plant	सयत्र, उद्भिद्
Plantation labour	बागानों के मजदूर
Politician	राजनीतिज्ञ
Polytechnised education	विविध टेकनिकल विषयों की शिक्षा
Pool	सग्रह
Pool price	सग्रह मूल्य
Population	जन-समुदाय, जन सख्या
Port	पत्तन, बन्दरगाह
Porter	कुली, हमाल
Positive approach or negative approach	क्रियात्मक (सकारात्मक) दृष्टिकोण या अक्रियात्मक (नकारात्मक) दृष्टिकोण
Post war Reconstruction Fund	युद्धोत्तर पुनर्निर्माण निधि
Potential	सम्भाव्य
Potential capacity	उत्पादन क्षमता
Power house	बिजली घर
Power looms	शक्ति चालित करघे
Practical Training	व्यावहारिक प्रशिक्षण
Precedence	पूर्ववादिता, पूर्ववर्तिता
Precedent	पूर्व दृष्टान्त
Precision	सूक्ष्मता
Pre fabricated Housing Factory	पूर्वनिर्मित गृहनिर्माण कारखाना
Preference	अधिमान, वरीयता
Preference share	पूर्वाधिकार अंश
Prejudice	प्रतिकूल प्रभाव, विपरीत प्रभाव, पूर्वाग्रह
Premium	अधिमूल्य, प्रव्याजि
Premium bonus system	लाभांश वितरण योजना
Premium insurance	बीमे की किस्त
Preserved food	परिरक्षित खाद्य पदार्थ
Price	कीमत, मूल्य

Price (control penetration, skimming)	मूल्य-नियन्त्रण, मूल्य-छेदन, मूल्य-मथन
Prince	नरेश, राजकुमार
Principal value	मूल मूल्य
Private Sector	गैर सरकारी क्षेत्र
Private Sector in Industry	गैर सरकारी उद्योग
Privy purse	निजी थैली
Produce (*v*)	पेश करना, उत्पादन करना, पैदा-उपज
Producer	उत्पादक
Product	उत्पाद उत्पादन
Production	उत्पादन
Productive	उत्पादनशील
Profit	लाभ
Profit and loss	लाभालाभ, लाभ हानि
Progression in taxation	करारोपण में उत्तरोत्तर वृद्धि
Project Implementation Committee	परियोजना अभिपूर्ति समिति
Prospecting (for minerals)	(खनिजों को) खोजना
Prospecting of oil	तेल को खोजना
Prospecting work	खोजने का कार्य
Prosperity	समृद्धि
Protective Duty	संरक्षणात्मक शुल्क
Provide	व्यवस्था करना, प्रावधान करना, उपबन्धित करना
Provident Fund	भविष्य निधि
Public Accounts Committee	लोक लेखा समिति
Public borrowings	सार्वजनिक ऋण
Public debt	लोक ऋण
Public economics	सार्वजनिक अर्थशास्त्र
Public Financed Industries Control Board	लोक वित्तपोषित उद्योग नियन्त्रण बो:
Public limited company	सार्वजनिक सीमित समवाय
Public money	लोक धन
Purchase	क्रय करना, खरीदना, क्रय
Qualitative and Quantitative	गुण सम्बन्धी तथा परिमाण सम्बन्धी
Quantity	मात्रा
Quasi-rent	अर्द्ध-लगान
Quid pro quo	तत् प्रति-तत्
Quota	अभ्यंश, कोटा
Quotation	उद्धरण, मूल्य-कथन
Railway	रेल पथ
Railway Rolling Stock	रेल के डिब्बे, इंजिन आदि
Railway stores	रेलवे का सामान
Random sampling	अनियत न्यादर्श

Rated capacity — (निर्धारित) धारिता, क्षमता सामर्थ्य
Ratification of instrument — लिखत का अनुसमर्थन
Ratio — अनुपात, समानुपात
Rationalisation — अभिनवीकरण, वैज्ञानिकन
Rationalisation of factories — कारखानों का वैज्ञानिकन
Realised value — प्राप्त मूल्य
Receipt (Paper) — प्राप्ति
Reciprocal — परस्पर, पारस्परिक, अन्योन्य
Reclaim — कृष्यकरण करना, कृषि-योग्य बनाना
Reclaimed — कृष्य, कृष्ट
Reclamation — कृष्यकरण, कृषि योग्य बनाना
Reclamation targets — कृष्यकरण लक्ष्य
Recommendation — अभिस्ताव, सिफारिश, प्रस्तावना, सिफारिश
Reconnaissance — पूर्व-परीक्षण
Record — अभिलेख, अभिलेख रखना, रिकार्ड
Recover — लौटाना, बरामद करना, वसूल करना
Recovery — प्राप्ति, वसूली
Recurring — आवर्ती, आवर्तक
Recurring and non-recurring expenditure — आवर्तक तथा अनावर्तक व्यय
Red rot disease of sugarcane — गन्ने में लाल कीड़ा लगने की बीमारी
Reference — निर्देश, पृच्छा
Refinery — परिष्करिणी, शोधनशाला
Reflation — सस्फीति
Refractory clay — ऊष्मसह मिट्टी
Regional (Territorial) — प्रादेशिक प्रादेशिक
Regional fund — प्रादेशिक निधि
Registrar — रजिस्ट्रार
Regressive — प्रतिगामी
Rehabilitation Finance Administration — पुनर्वास वित्त प्रशासन
Reimburse — पूर्ति के लिए (देना), परिशोध करना
Relative — सापेक्ष
Relief cum-Employment Works — सहायता एवं रोजगार सम्बन्धी कार्य-केन्द्र
Reminiscence — सस्मरण
Remittance — भेजा गया धन, विप्रेषण
Remuneration — पारिश्रमिक
Renaissance — नवजागृति
Rent — भाटक, भाड़ा, किराया
Rent (of a land) — भाटक
Reparation — युद्ध क्षतिपूर्ति, हानिपूरण
Repatriation of capital — पूँजी का प्रत्यादान

Report	रिपोर्ट, प्रतिवेदन, समाचार
Representative	प्रतिनिधि
Requisition	अधिग्रहण
Requisitioned land	अधिगृहीत भूमि
Research	अनुसन्धान, खोज, अन्वेषण, गवेषणा
Reserve Bank of India	भारत का रक्षित बैंक, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया
Reserved Capital	रक्षित पूंजी
Reserved forest	रक्षित वन
Residuary Powers	अवशिष्ट शक्तियां
Resources	सम्पत्ति, स्रोत, संसाधन
Resources (material)	(भौतिक सम्पत्ति)
Respective	क्रमश, क्रमिक, तत्सम्बन्धी
Result	परिणाम
Retail	फुटकर, खुदरा
Retention price	प्रतिधारण मूल्य
Retirement	निवृत्ति
Retrench	छटनी करना
Retrograde step	प्रतिगामी कार्यवाही
Retting tank	(जूट आदि) भिगोने के हौज
Return	विवरणी, लौटाना, प्रतिफल, प्राप्ति
Revaluation	पुनर्मूल्यन
Revenue	राजस्व
Revenue Court	राजस्व न्यायालय
Revenue Maps	खसरा आदि के नक्शे
Revenue Stamps	रसीदी टिकट
Review	पुनर्विलोकन, पुनरीक्षण, प्रत्यालोचन
Revise	परिवर्तन करना, पुनरावर्तन करना, पुनरीक्षण करना
Revised Estimates	पुनरीक्षित प्राक्कलन
Revolution	क्रान्ति, विप्लव
Risk	जोखिम
River valley	नदी दून, नदी घाटी
Rubble Coal	रवल कोयला
Rule of law	विधि का शासन
Ruling	विधि निर्णय
Rural	ग्रामीण, ग्राम्य
Rural Banking Enquiry Committee	ग्रामीण महाजनी जांच समिति
Rural credit	ग्रामीण उधार
Rural Credit Survey	देहात में ऋण सम्बन्धी सर्वेक्षण
Rural Economics	ग्राम-अर्थव्यवस्था
Rural Post Offices	देहाती डाक घर

Rural Programme (of All India Radio)	देहाती प्रोग्राम
Rythmic method	मदनतरग प्रणाली (रीति)
Sacrilege	भ्रष्ट करना
Sacrosanct	पवित्र, अनुल्लघनीय
Salary	वेतन
Sale	विक्रय, बिकना
Sales depots	विक्रय केन्द्र
Saline Soil	लोनी मिट्टी
Salt	नमक
Salt refineries	नमक शोधक कारखाने
Sample survey	नमूना परिमाप
Sample test	नमूना परीक्षण
Sampling	नमूने लेना
Satiability	तृप्यता
Satisfaction	सन्तोष, समाधान, तुष्टि, पूर्ति
Savings bank	बचत बैंक
Savings Bank Account	बचत बैंक लेखा
Savings Bank Deposits	बचत बैंक निक्षेप
Scale	मापमान
Scarce	दुर्लभ
Scarcity	दुर्लभता
Schedule	अनुसूची
Scheduled Bank	अनुसूचित बैंक
Scheme	योजना
Science	विज्ञान
Scientific Research	वैज्ञानिक गवेषणा
Scope	गुंजाइश, विस्तार, क्षेत्र, व्यापकता
Scope of economics	अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र
Screening Committee	परीक्षण समिति
Sea salt	समुद्री नमक
Seasonal agricultural operations	मौसमी कृषि कार्य
Secondary	गौण
Section	विभाग
Sector	वृत्तखंड
Secular State	धर्मनिरपेक्ष राज्य
Securities	प्रतिभूतियां
Security deposit	प्रतिभूति निक्षेप
Seismic Survey	भूकम्पीय सर्वेक्षण
Select	प्रवरण करना, चुनना
Senior	ज्येष्ठ, वरिष्ठ
Seniority	वरिष्ठता, अग्रता

Sentiment — भावना, भाव
Sequestration — पृथक्करण, कुर्की
Seriatim — क्रमवार
Service Stamps — राजकीय मुद्रांक
Servicing — देखभाल, मरम्मत
Settlement — निबटारा
Settlement Act — बन्दोबस्त अधिनियम
Sewage system — नाली व्यवस्था
Sewer lines — गन्दे नाले
Sex — लिंग
Shares — अंश, शेयर
Shares (non-cumulative, ordinary, preference, redeemable, transfer, warrant) — शेयर, असचयी अधिमान, साधारण, अधिमान, प्रतिदेय, हस्तातरण, अधिपत्र
Shift Production — पारी पारी उत्पादन
Shipping — नौवहन
Short-landings of food-grains — जहाज से कम अनाज उतरना
Silk Board, Central — केन्द्रीय रेशम बोर्ड
Silo-*cum*-Elevators — अनाज और चारे के लिए गोदाम और माल रखने-निकालने का यंत्र
Sinking fund — निक्षेप निधि
Skilled worker — प्रवीण श्रमिक, कुशल कारीगर
Slab System — खण्ड पद्धति
Sliding scale — सरकने वाला
Sluice-gate — पानी के निकास का फाटक
Slump — मन्दी
Slums — दरिद्र बस्ती
Small scale industries (Large scale industries) — छोटे पैमाने के उद्योग, लघु उद्योग [बड़े पैमाने के उद्योग, विशाल उद्योग]
Smuggling — चोरी छिपे माल लाना, ले जाना, तस्कर व्यापार
Social — सामाजिक
Social customs — सामाजिक रूढ़िया
Social opportunity — सामाजिक अवसर
Social order — सामाजिक व्यवस्था
Social patterns — सामाजिक ढाचे
Social tension — सामाजिक तनाव
Social welfare — सामाजिक कल्याण
Social Welfare Board — सामाजिक कल्याण बोर्ड
Societies — समितिया
Soil — धरती, मिट्टी
Soil conservation — मिट्टी का सधारण
Soil resistivity surveys — मिट्टी रोधित्व सर्वेक्षण
Solemnly — दृढ़संकल्प होकर

Sound Finances	सुस्थित वित्त
Sources	स्रोत
Sources of power	शक्ति के मूल साधन
Spay	अण्डाशयाकर्षण
Special Industrial Tribunal	विशेष औद्योगिक न्यायाधिकरण
Specifications of Khadi	खादी सम्बन्धी ब्यौरा
Specified	उल्लिखित
Speculation	सट्टा, परिकल्पना
Speculative tendencies	सट्टेबाजी की प्रवृत्ति
Spirituous	मद्यसारिक
Split duty	विभक्त कार्य-काल
Spontaneous	स्वाभाविक, स्वत , स्फूर्त, अपने आप
Stabilisation	स्थायीकरण
Stabilised oil	जमाई हुई मिट्टी
Stage (hunting, pastoral, agricultural, industrial)	दशा, अवस्था, आखेट, पशुपालन, कृषि अवस्था, उद्योग अवस्था
Stages of economic development	आर्थिक विकास की अवस्थाएँ
Standard 1	माप-दण्ड, मानदण्ड, प्रमाप, मान, प्रतिमान
2 (as in the standard of living)	स्तर
Standard acre	प्रतिमान एकड़
Standardisation	प्रमापीकरण
Standard of life	जीवन स्तर
Standard of living	जीवन स्तर
Standard of living index	जीवन-स्तर देशनांक
Standard rent	नियमोचित किराया, प्रामाणिक किराया
Standstill Agreement	यथापूर्व-स्थिति समझौता
Staple food	मुख्य भोजन
Staple length of cotton	रुई के रेशे की लम्बाई
State enterprises	सरकारी उद्यम, सरकारी उपक्रम
State Finance Corporation Bill	राज्य वित्त निगम विधेयक
State fund	राज्य निधि
State Trading	राज्य व्यापार
Statistical	सांख्यिक, सांख्यिकीय
Statistician	सांख्यिक
Statistics	समक आकड़े, सांख्यिकी
Statistics Bill, Collection of	आकड़ा, सग्रह विधेयक
Statute	सविधि, परिनियम, प्रनियम
Statutory rules	सविहित नियम
Step system	क्रम पद्धति
Sterilize	बांझ करना, वन्ध्यीकरण
Sterling Balances	पौंड पावना
Stipulated period	निर्धारित अवधि
Stock Exchange	श्रेष्ठि-चत्वर, स्टाक एक्सचेंज
Stock exchange transaction	शेयर बाजार के सौदे

Stocks	स्कन्ध, स्टाक
Storage	संग्रह करना
Store	स्टोर, विक्रयागार, संग्रहागार संग्रह
Store-keepers	भण्डारी
Store Purchase Screening Committee	क्रय किये जाने वाले माल के सम्बन्ध में जाच करने वाली समिति
Study Group	अध्ययन मण्डल
Subscribed capital	प्रार्थित पूंजी
Subsidiary	सहायक
Subsidy	अनुसहाय्य, राजकीय सहायता, वित्तीय सहायता
Subsistence	निर्वाह
Subsistence allowance	निर्वाह भत्ता
Sub-soil	अधोभूमि
Sub soil water	अधोभूमि जल, भूमिगत जल
Substitute	प्रतिस्थापित करना, आदिष्ट करना, स्थानापन्न करना
Subversive activities	विध्वंसक कार्यवाहियां
Succession to property	सम्पत्ति का उत्तराधिकार
Sugarcane breeding	अच्छी किस्म का गन्ना पैदा करना
Sugar refinery	चीनी शोधक कारखाना
Sunk capital	निमग्न, उपयोजित पूंजी
Suo moto	स्वप्रेरणा से, अपने आप
Super tax	अधिभार, अधिकर
Supply	संभरण, प्रदाय, रसद
Supply and Demand	माग तथा पूर्ति
Surcharge	अधिभार, अतिरिक्त कर
Surplus	अतिरिक्त, फालतू, आधिक्य, अतिरेक
Survey	सर्वेक्षण, भूमापन, पर्यालोकन, परिमाप, भू-परिमाप
Survey—General Village	सामान्य ग्राम सर्वेक्षण
Survey of India	भारतीय भूपरिमाप
Survey of power, potential	विद्युत शक्ति की सम्भाव्यता का सर्वेक्षण
Survey of unemployment	बेकारी का सर्वेक्षण
Sweated trades	मेहनत वाले काम
Synchronisation	समलयकरण
Syndicate	सिंडीकेट
Synthetic	संश्लेपिक, संश्लेपित
System	पद्धति, संस्था, व्यवस्था
Table	सारणी
Tabulate	सारणीबद्ध करना
Tabulation	सारणीकरण
Tanning (the art or act of tanning or converting skins and leather into leather)	चमड़ा कमाना

Tariff 1 (a schedule of duties imposed by Government on goods imported or exported)	प्रशुल्क-सूची
2 (a duty imposed on goods)	प्रशुल्क
Tariff Board	प्रशुल्क बोर्ड
Tariff Commission	प्रशुल्क आयोग
Tariff wall	प्रशुल्क भित्ति
Tax	कर
Tax (proportional, progressive, regressive, degressive)	कर [अनुपाती, क्रमवर्धमान, प्रतिगामी, अधोगामी]
Taxable	कर योग्य
Taxable property	कर योग्य सम्पत्ति
Taxation	करारोपण, कराधान
Taxation Inquiry Commission	कर जाच आयोग
Taxation Structure	करों का ढाचा
Tax dodgers	कर बचाने वाले
Taxed	करारोपित
Taxes on income including Corporation Tax	आयकर, निगम कर समेत
Tax evasion	कर-अपवचन
Tax multi-point	बहुस्थान कर
Tax on trades	व्यापार-कर
Tax payer	करदाता
Tax-progressive	आरोही कर
Tax-proposal	कर के प्रस्ताव
Tax, Terminal	सीमा कर
Tea Estates	चाय बागान
Tea planters	चाय बाग के स्वामी
Technical	प्रविधिक, पारिभाषिक, शिल्प सम्बन्धी, टेकनीकल, शिल्पी, शिल्पिक
Technical Training	प्रविधिक प्रशिक्षण
Technician	प्रविधिज्ञ, शिल्पिक, यंत्र विशेषज्ञ
Technique	प्रविधि, तकनीक
Telecommunications	दूरसचार
Telescopic rates	अधिक दूरी के लिये कम दरें
Tenancy	किरायेदारी, पट्टेदारी
Tenancy Act	काश्तकारी अधिनियम
Tenant	किरायेदार, किसान, भाटकी
Tenant-at-will	इच्छाधीन कृषक
Tenements	मकान
Tenure, land	भूधारण, भूधृति, भूधारणाधिकार
Term	निबन्धन, अवधि
Term of Bill	हुंडी की मियाद
Terrestrial Survey	भौम सर्वेक्षण

Territory	राज्य क्षेत्र
Test works	परीक्षण कार्यकेंद्र
Textile Export Promotion Organisation	कपड़ा निर्यात सवर्द्धन सस्था
Theory	सिद्धात, वाद
Thermal Environment Health Consultant	ऊष्मीय वातावरण सम्बन्धी स्वास्थ्य परामर्शदाता
Thermal Plant	ताप विद्युत् कारखाना
Thorium	थोरियम
Tidal waters	ज्वार-जल
Tillers	जोतने वाले, जोता
Time lag	एक धधा छोड़कर दूसरे में जाने तक का समय
Time-scale	समय-क्रम, वेतन-क्रम
Time work	समय कार्य
Titular ownership	नाम मात्र का स्वामित्व
Token Grant	प्रतीक अनुदान
Tonnage	टन भार, भारक्षमता, नौभार
Total *v.*	समस्त
Total Income	सकलन, सकलित करना
Totalitarianism	सर्वाधिकारवाद
Tourist traffic	पर्यटक यातायात
Township	नगरी, बस्ती
Tract	भू-भाग
Trade	व्यापार
Trade, adverse balance of	निर्यात-आयात व्यापार प्रतिकूल अन्तर
Trade balance	व्यापार संतुलन
Trade cycle	व्यापार चक्र
Trade mark	व्यापार चिह्न
Trade post	व्यापार चौकी
Trade Union	कार्मिक सघ
Trade Unionism	कार्मिक संघवाद
Trade Unionist	कार्मिक सघवादी
Trading and Employment	व्यापार तथा रोजगार
Traffic	यातायात
Training	प्रशिक्षण
Training and Employment Services Organisation Committee	प्रशिक्षण तथा नियोजन सेवा सगठन समिति
Training of River Yamuna	यमुना नदी के बहाव पर नियंत्रण
Training, Technical	शिल्प प्रशिक्षण
Training, Theoretical and Practical	सैद्धातिक तथा व्यावहारिक प्रशिक्षण
Transaction	सौदा
Transferee	हस्तानरिती
Transformation	रूपातर

Transitional	अतर्कालीन, सक्रमणकालीन
Transparent	पारदर्शी
Transport	परिवहन
Treasure	कोष
Treasure Trove	निखात निधि
Treasury	कोषागार, खजाना
Treasury Bills	राज हुंडिया
Treasury Officer	कोषाधिकारी
Treated and reinforced timber	दवाकर तैयार की गई इमारती लकड़ी
Tremor	कम्प
Tribal Development Fund	आदिम जाति विकास निधि
Tripartite Advisory Board	त्रिपदीय सलाहकार बोर्ड
Tropics	अयन वृत्त
Tube wells	नलकूप
Ultimate	चरम, अन्त्य
Under developed	अल्पविकसित
Under Employment	न्यून काम
Under invoicing	बीजक में कम दिखाना
Under nourishment	अल्पपोषण
Under-valuation	अधोमूल्यन
Under-writer	हामीदार
Undivided family	अविभाजित परिवार
Un economic holdings	टोटे की जोतें
Unemployment	बेकारी
Unemployment Insurance	बेकारी बीमा
Unemployment Relief	बेकारी सहायता
Unfit	अयोग्य
Unilateral	एकपक्षीय
Union Excise Duties	संघ उत्पादन शुल्क
Unitary type	एकीय प्रकार
Units	एकक, इकाई
Universal standard	सर्वमान्य प्रमाप
Unproductive	अनुत्पादक, अनुत्पादी
Unrealised book debts	अप्राप्त पुस्त ऋण
Unspent Balances	खर्च न हुई राशिया
Unsuited	अननुकूल
Unwrought	बिना गढ़ी
Usage	प्रथा
Use	उपयोग
Usurer	सूदखोर, कुसीद
Utility	उपयोगिता
Utility (diminishing, increasing, equi marginal, marginal, positive, negative, dis , total)	उपयोगिता, घटती हुई, बढ़ती हुई, सममीमान्त, सीमान्त, सकारात्मक, नकारात्मक, अनुपयोगिता, कुल, सकल]

Valid	मान्य
Value	मूल्य, अर्हा, उपयोगिता
Various	विभिन्न, विविध
Vegetable Seed Breeding Station	सब्जी के बीजों की किस्मों में सुधार करने सम्बन्धी केन्द्र
Velocity	वेग
Veracity	सत्यता, सचाई
Verdict	निर्णय, फैसला, सुनिश्चय
Veterinary training	शालिहोत्री परिशिक्षण, शालिहोत्री प्रशिक्षण
Veto	वीटो
Vexatious	उद्वेगकारी, तंग करने वाली
Viable State	अस्तित्व योग्य राज्य
Vice-Consul	उप-वाणिज्य दूत
Vice Gonsulate of India	भारत का उपवाणिज्य दौत्य
Vicinity	समीपता, सामीप्य
Village Community Projects	ग्राम-सामुदायिक-योजना
Village council	ग्राम-परिषद्
Village level workers	ग्राम-सेवक
Village Uplift Committee	ग्रामोद्धार समिति
Violence	हिंसा
Virgin	अक्षता, कुमारी
Visas	दृष्टांक
Visual Education	दृश्य शिक्षा
Vital	जीवन सम्बन्धी, अत्यावश्यक
Vital statistics	जीवन सम्बन्धी सांख्यकी
Vocation	व्यवसाय, वृत्ति
Voluntarily	स्वेच्छापूर्वक, स्वेच्छा से
Votes of credit	प्रत्ययानुदान
Votes on account	लेखानुदान
Wage	मजूरी
Wage Boards	मजूरी बोर्ड
Wage Fund	मजूरी निधि
Wage, piece	उजरत
Wage, real	असल मजूरी
Wage, time	अमानी
Waive the duty	शुल्क न लेना
Want (s)	अभाव, आवश्यकताएं
Wanting	अभाव युक्त
Warehouse	भाण्डागार, भंडार, गोदाम
Warehousing	गोदाम में माल रखने का काम
Warp	ताना
War Surplus Stores	युद्ध का फालतू सामान
Waste	अपव्यय, क्षति, छीज
Water Power	जल-शक्ति

Water storage	जल-संग्रह
Ways and means advances	अर्थोपाय-पेशगियां
Wealth	धन सम्पत्ति
Wealth (collective, hoarded, international, national, personal)	धन [सामूहिक, साठेबाजी से संचित हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, निजी]
Wear and tear	टूट-फूट
Weavers' Co operative Societies	बुनकर सहकारी समितियां
Weightage formula	गुरुभार सूत्र
Welfare	कल्याण
Welfare of the people	लोक-कल्याण
Welfare State	मंगल राज्य, कल्याणकारी राज्य
Well-being	कल्याण, हित
Wet Cultivation	जलाधिक्य कृषि
Wheat bran	गेहूं का चोकर
Wholesale	थोक
Wholesome principles	हितकर सिद्धांत
Will	वसीयत
Windfall	अप्रत्याशित आय
Window dressing	अभिविन्यास
Wind-power	पवन-शक्ति
Winnowing	फटकना (गेहूं आदि)
Withdraw (money)	(धन) निकालना
Withdrawal of money	धन निकालना
Withhold Sanction	मंजूरी रोकना
Wont	अभ्यास, अभ्यस्त
Woof	बाना
Work charged employees	काम के लिए स्थायी रूप से रखे गए कर्मचारी
Worker	श्रमिक, कार्यकर्ता
Working expenses	कार्यवहन व्यय
Working-man	कामगार, कार्मिक
Workman	कर्मकार, कामगार
Workmanship	कारीगरी
Works	कर्मशाला
Works Council	कर्मशाला परिषद्
Workshop	वर्कशाप, मिस्त्रीखाना, कारखाना
Works Manager (Factories)	कर्मशाला प्रबन्धक
World Bank	विश्व बैंक
Write off	बट्टे खाते में डालना, अपलेखन
Year, Financial	वित्त-वर्ष
Yield	उपज
Youth	किशोरावस्था
Zamindar	जमींदार
Zamindari	जमींदारी
Zone	प्रदेश कटिबन्ध